प्राप्ति—स्थान

श्रीरामानन्द पुस्तकालय
सुदामाकुटी, वृन्दावन (मथुरा)

राधेश्याम गुप्ता, बुकसेलर
व्रजवासी पुस्तकालय
पुराना शहर, वृन्दावन (मथुरा)

श्रीहरिनाम प्रेस
वागवुन्देला, वृन्दावन (मथुरा)

प्रकाशक: श्रीरामानन्द पुस्तकालय
सुदामाकुटी, वृन्दावन

संस्करण: प्रथम — १०००

तिथि: श्रीनाभा-जयन्ती
वसन्त पञ्चमी सं २०३३

मूल्य: चौवीस रुपये

मुद्रक: श्रीश्यामलाल हकीम
श्रीहरिनाम प्रेस, वाग वुन्देला
वृन्दावन (मथुरा)

श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः

भूमिका

[लेखक—स्वामी श्रीजयरामदेवजी महाराज]

समस्त साधन समुच्चयोमे 'भक्ति' भगवान को सर्वाधिक प्रिय है। भक्तिमती शवरी से स्वयं भगवान श्रीरामजी कहते हैं कि मैं जीवको केवल भक्ति सम्वन्धसे स्वीकार करता हू। यथा—'कह रघुपति सुनु भामिनि वाता। मानउँ एक भक्ति कर नाता।।' भक्तिमान् अत्यन्त नीच प्राणी भी भगवान को प्राणोसे भी अधिक प्रिय है। परन्तु भक्ति हीन व्रह्मा भी भगवान के लिये वैसे ही है जैसे सामान्य जीव। यथा—'भक्तिवन्त अति नीचउप्रानी। मोहि प्राण प्रिय असि मम बानी।। भक्ति हीन विरचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहिं सोई।।' श्रीभक्तिकी इस महिमा के सम्वन्ध में सभी शास्त्रों एवं सदाचार्यो का मतैक्य है। वैसे तो भक्ति के इस महत्व का प्रतिपादन करने वाले वेद पुराणादि प्राचीन एवं श्रीराम चरित मानसादि अर्वाचीन अनेक ग्रन्थ हैं, परन्तु श्रीभक्तमाल सर्वोपरि है, यह निर्भ्रान्ति सत्य है। इस अद्वितीय भक्ति ग्रन्थ के प्रणेता परम भागवत श्रीनाभाजी ने अपनें सद्गुरु श्रीअग्रदेवाचार्य जी की आज्ञासे भक्तो के परम पवित्र चरित्रके माध्यमसें अनिर्वचनीया प्रेम लक्षणा भक्तिके स्वरूपका वडा ही मनोहारी चित्रण किया है। मगलाचरणमें 'भक्त भक्ति भगवन्तगुरु, चतुंरनाम वपु एक।' कहकर संत सद्गुरु, भक्ति और भगवान का तात्विक ऐक्य निरुपण, 'जय जय मीन वराह कमठ नरहरि वलिबावन।' आदि के द्वारा समस्त अवतारों का तात्विक अभेद वर्णन, सभी सम्प्रदायाचार्यो एवं सव सम्प्रदाय के सतोका समान भावसें श्रद्धा पूर्वक संस्मरण-श्रीभक्तमाल की सवसे वड़ी विशेषता है। इससे श्रीनाभाजीकी परम दार्शनिकता, परम रसिकता एवं परम उदारता का परिचय मिलता है। श्रीनाभाजी के आदेशसे लिखी गई श्रीभक्तमाल के ऊपर वैष्णवरत्न श्रीप्रियादासजी की 'भक्तिरस वोधिनी' टीका सोने में सुगन्ध सदृश है। इससे श्रीनाभाजी के हार्दिक अभिप्रायों को समझने मे वड़ी सहायता मिलती है। यही कारण है कि यह टीका भी वैष्णव समाज मे मूलवत् ही परम आदर को प्राप्त हुई।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु के गुण, स्वरूप, स्वभाव और प्रभावादि का विशद विवेचन किया गया है। ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में परात्पर प्रभुके चौवीस अवतारो एवं श्रीरामभद्रजू के श्रीचरण चिह्न वर्णनके साथ-साथ सतयुग, त्रेता और द्वापरके भक्तों की पुनीत चर्चा की गई है तथा उत्तरार्द्ध कलियुगके भक्तो की पवित्र गाथासे परिपूर्ण है। भक्तोका चरित्र वर्णन करते हुए ग्रन्थकार श्रीनाभाजी एवं टीकाकार श्रीप्रियादास जी ने नवधा, दशधा, प्रेमा, परा आदि भक्तिके विविध स्वरूपों, ज्ञान, वैराग्य, तप, त्याग, शील, सदाचार, सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, समानता, अमानता आदि सदगुणों, भक्तों की रहनी, भक्तोके भगवानके प्रति दिव्य-भव्य, भाव उनकी सन्निष्ठा तथा भगवान की भक्त वत्सलता, भक्त प्रियता, सौलभ्य सौशील्य, कृपालुता, दयालुता आदि दिव्य गुणोंका वड़ा हृदय-स्पर्शी वर्णन किया है।

'श्रीभक्तमाल' भक्तों का सर्वस्व है। इसमें वर्णित श्रीलक्ष्मीजी, हनूमानजी, अम्वरीपजी आदि की भगवत्सेवा निष्ठा, श्रीसदाव्रतीजी, हरिपालजी, त्रिलोचनजी आदि की साधुसेवा निष्ठा, श्रीपरीक्षित जी की श्रवणनिष्ठा, श्रीशुकदेवजी, जयदेवजी, तुलसीदासजी, सूरदासजी आदि की कीर्तन निष्ठा, श्रीध्रुव प्रह्लादजी की स्मरण निष्ठा, श्रीपृथुजीकी पूजा निष्ठा, श्रीअक्रूर आदि की वन्दन निष्ठा, श्रीअर्जुनजी, विप्र सुदामा, मधुमंगल सुवलादि ग्वाल वाल, गोविन्द स्वामी आदिकी सख्य निष्ठा, श्रीवलिजी विभीषण जी आदि का आत्म निवेदन, श्रीनन्द-यशोदा, विट्ठलनाथजी, कर्मावाई आदि की वात्सल्य निष्ठा, श्रीहनुमानजी, अम्वरीषजी, आदि की दास्यनिष्ठा, श्रीगोपिका वृन्द, मीरावाई, श्रीस्वामी हरिदासजी,

श्रीहरिवंशजी, श्रीअग्रदेवजी आदि की मधुर भावमयी शृङ्गार निष्ठा, श्रीकबीरदासजी, अन्तर्निष्ठराजा आदि की नाम निष्ठा, श्वेतद्वीप वासी भक्त वृन्द, श्रीरत्नावती बाई आदि की रूप निष्ठा, श्रीमाधवदास जी आदि की लीला निष्ठा, श्री श्रीभट्टजी आदिकी धाम निष्ठा श्रीलालाचार्यजी, मधुकर शाहजी की भेष निष्ठा, श्रीहरिव्यासजी, पुरीके राजा आदि की प्रसाद निष्ठा, श्रीरूप-सनातन-रघुनाथदास गोस्वामी आदि का अदभुत त्याग-वैराग्य और अनुराग. द्वादश महाभागवताचार्यों एवं चतुस्सम्प्रदायाचार्यों की भक्ति निष्ठा, श्रीचैतन्य महाप्रभु जी का लोकोत्तर प्रेमोन्माद आदि परमार्थ पथ के पथिकों के लिये परम आदर्श एवं अनुकरणीय है। भक्त-चरित्रों का श्रवण एवं स्वाध्य.य करने से इन सबका एक साथ सम्यक् वोध हो जाता है। इसी से श्रीभक्तमाल भक्तों को अत्यन्त प्रिय है।

महत्व की वात यह है कि यह श्रीभक्तमाल भक्तों को अत्यन्त प्रिय होने के साथ-साथ भगवान को भी परमप्रिय है। यथा—'धारी उर प्यारी किहूं करत न न्यारी।' 'हरिको निज जस ते अधिक भक्तन जस पर प्यार। ताते यह माला रची, करि ध्रुव कण्ठ सिगार।।' भगवान अपने नित्य धाममें श्रीभक्त माल का सदा स्वाध्याय करते है। श्रीभक्तमाल के प्रधान श्रोता भगवान ही हैं। जैसे भक्तों को भगवान का चरित्र परम प्रिय है, वैसे ही भगवान को भक्तोंका चरित्र परम प्रिय है। सत्य तो यह है कि भगवान अपने से भी अधिक भक्तों को आदर देते हैं। यथा—मोते सन्त अधिक करि लेखा।' और भावुक भक्तों का भी यह अनुभव है। यथा—'मोरे मन प्रभु अस विश्वासा। रामते अधिक रामकर दासा।।'

ऐसे महा-महिमामय ग्रन्थ श्रीभक्तमालके भावोंको हृदयङ्गम करानेके लिये सुधी संतों के द्वारा आज तक इस ग्रन्थ पर बहुत से तिलक एवं टिप्पणियां लिखी गई है और सबका अपना निजी महत्व है। परन्तु प्रस्तुत संस्करण निश्चय ही पूर्व प्रकाशित समस्त टीका टिप्पणियों की अपेक्षा विशेष महत्वपूर्ण है। श्रीगणेशदास जी महाराज श्रीलक्ष्मण मन्दिर गोवर्धन ने इसकी भाषा टीका लिखी है, जो अत्यन्त ही सरल एवं सुवोध है। जिसे पढ़कर सर्व साधारण जन भी मूल के भावोंको सम्यक्तया समझ सकते है तथा रामायणी श्रीरामेश्वर दास जी (चित्रकूटी) ने इसकी व्याख्या लिखी है। श्रीभक्तमाल की इतनी विस्तृत, विशद और भावपूर्ण व्याख्या आज तक नहीं प्रकाशित हुई थी। श्रीप्रियादासजी के भावों का सम्यक् दिग्दर्शन कराने वाली, विविध पौराणिक एवं संत समाज में प्रचलित कथाओं, प्रमाण रूप श्लोक कवित्त आदि विविध छन्दों, प्रसङ्गका सम्यक् बोध कराने वाले सुन्दर दृष्टान्तों से समलङ्कृत यह व्याख्या अवश्य ही अभूतपूर्व एवं अद्वितीय है। इन दोनों ही महानुभावों ने बड़े ही अध्ययन, एवं अध्यवसाय पूर्वक इस ग्रन्थ की भाषा टीका एवं व्याख्या प्रस्तुत करके वैष्णव जगत् को एक अमूल्य निधि प्रदानकी है। भाषा टीका एवं व्याख्याकी सरलता, सरसता एवं गम्भीरता का अनुभव आप स्वयं इसका अध्ययन करके प्राप्त करेंगे। ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध प्रथम खण्ड आपके हाथ में है। उत्तरार्द्ध का प्रकाशन प्रारम्भ है। उसे भी शीघ्र प्रकाशित हो जाने की आशा है। यह ग्रन्थ प्रेमी जनों का तो जीवन धन है ही, उन्हें तो भक्ति रसार्णव में सराबोर करने वाला है ही, विमुखों एवं नास्तिकों के हृदय को भी आस्तिक बनाने में परम समर्थ है। अतः जिसको अपना मानव जीवन सफल बनाना हो, और जो भगवान की भक्ति चाहते हैं उन्हें निरन्तर श्रीभक्तमालका श्रवण, मनन, स्वाध्याय करना चाहिए। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस भक्तमाल का अध्ययन करके समस्त जनता आह्लादित हो उठेगी।

श्रीगिरिधारी मन्दिर
श्री वृन्दावन

—जयरामदेव

व्याख्याकार
रामायणी श्री रामेश्वरदास जी
(चित्रकूटी)

श्रीराम: शरणं मम

नम्र निवेदन

भक्त भक्ति भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये, नाशै विघ्न अनेक॥

'विना भक्तमाल भक्तिरुप अति दूर है' श्रीप्रियादासजीके इस महावाक्यसे प्रेरित होकर मैं श्रीभक्तमालजीके स्वाध्यायके लिए श्रीचित्रकूटसे श्रीवृन्दावन आया। श्रीवंशीवट, यमुना तटपर स्थित श्रीसुदामाकुटी भारत प्रसिद्ध सन्त-सेवी स्थान है। भगवत्कृपासे मुझे यहाँ पर निवासके लिए सब सुख सुपास सहज ही सुलभ हो गया। भगवत्-भागवत सेवा परायण, परमार्थ निरत, परम उदार, सौशील्य मूर्ति, सन्त शिरोमणि श्रीसुदामादासजी महाराज यहाँ के महन्त हैं। आपका मेरे ऊपर अगाध स्नेह है। आपके वरदहस्तकी छत्रछायामे रहते हुए मैं वैसे ही निश्चिन्त हो गया जैसे मैया—वावा की गोदमें वालक। **महन्त श्रीसुदामादासजी महाराज की आज्ञासे** मैं यहाँ पर श्रीरामचरित मानसकी कथा कहते हुए **परम श्रद्धेय श्रीगिरिधारीदासजी महाराज 'भक्तमाली'** से श्रीभक्तमालजीका स्वाध्याय भी करने लगा। वीच-वीच मे विशेष उत्सवोके शुभ अवसरोंपर प्रातः स्मरणीय, परम पूज्य, अनुरागमूर्ति पण्डित **श्रीजगन्नाथ प्रसादजी 'भक्तमाली'** के श्रीमुखसे भी श्रीभक्तमालजीकी कथा सुननेका सौभाग्य मिला। प्रस्तुत संग्रह इन्ही महानुभावोका कृपा प्रसाद है। इसके लिए हम हृदय से इन गुरुजनोके कृतज्ञ हैं। प्रस्तुत ग्रन्थमें जो सौष्ठव है, वह इन कृपालु गुरुजनोका है और जो त्रुटियां है, वह मेरी हैं। कृपालु पाठक उन्हें क्षमा करते हुए सुधारकर पढें।

श्रीभक्तमालजीके मूल दोहे और छप्पयो तथा श्रीप्रियादासजीकी टीका कवित्तोमें आए हुए कठिन शब्दोंका अर्थ एवं भावार्थ श्रीभक्तमालजीके भक्तवल्लभाटिप्पणीकार, परमादरणीय सन्त शिरोमणि श्रीगणेशदासजी (लक्ष्मण मन्दिर, गोवर्धन) द्वारा लिखित है। व्याख्या में आए हुए श्लोकों, पदों एवं कथा प्रसङ्गोंका सङ्कलन जिन-जिन ग्रन्थोसे किया गया है, यथास्थान उनका सङ्केत कर दिया गया है और जहाँ सकेत नही है, वहा उनको सन्तोके द्वारा श्रौत-परम्परासे प्राप्त समझना चाहिए। व्याख्याके सम्बन्ध मे मुझ अवोध वालककी अल्प वुद्धि से जैसा कुछ वन पड़ा है वह आप सहृदय पाठकों के समक्ष उपस्थित है। आप लोगोके प्यारने मुझे ढीठ वना दिया है, इसीसे कुछ लिखने का साहस कर सका हूँ और वह भी इस वल एव विश्वाससे कि—

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं वाल वचन मन लाई॥
जो वालक कह तोतरि वाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥ (रामा०)

प्रकाशन सम्बन्धी समस्त कार्य—पाण्डुलिपि निरीक्षण, प्रूफ संशोधन आदि परम श्रद्धेय श्रीगणेशदासजी (गोवर्धन) के अथक प्रयास से सम्पन्न हुआ है। निश्चय ही यदि आपका सहयोग नही प्राप्त हुआ होता तो मेरे लिए ग्रन्थ-प्रकाशन कठिन ही नही सर्वथा असम्भव था। आपके इस अहेतुक अनुग्रहके लिए हम परम आभारी हैं।

लेखन कालमें पं० श्रीओंकारदत्त शर्मा श्रीहनुमानजीका मंदिर जवार (अलीगढ़) ने महाभारत आदि अनेक दुर्लभ ग्रन्थ दिये। भक्तमाली पण्डित श्रीजगन्नाथप्रसादजी महाराजसे अध्ययन करके श्रीराम

सेवकदासजी भक्तमाली ने यथा समय अर्थ—भावार्थका बोध कराया एवं श्रीपण्डितजीसे भक्तमाल श्रवण करके संस्मरण लिखने वाले श्रीदुर्गाप्रसादजी श्रीवास्तव द्वारा लिखित एक कापी पूज्यपाद श्रीगर्वीलीशरणजी भक्तमालीके सौजन्य से प्राप्त हुई इसके अतिरिक्त श्रीधाम वृन्दावनके अनेक सन्त महानुभावों द्वारा यथा समय भक्तमाल सम्वन्धी सामग्री प्राप्त हुई उससे तथा श्रीधाम अयोध्याके भक्तमाली श्रीरामशरणदासजी वैद्यके पुस्तकालयसे एक पुरानी टिप्पणी प्राप्त हुई, उससे पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई अतः हम उन सवके कृतज्ञ हैं।

आप भगवत् भागवत चरितामृत रसास्वादकुशल महानुभावोंके कर कमलोंमें यह श्रीरामानन्द पुस्तकालय (सुदामाकुटी वृन्दावन) प्रकाशन माला का द्वितीय पुष्प 'श्रीभक्तमाल पूर्वार्द्ध' समर्पित करते हुए मुझे महान हर्ष हो रहा है और आगे हम शीघ्रही श्रीप्रभुकृपासे उत्तरार्ध भी आपकी सेवामें प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। उसमें कलियुगमें हुए प्रेमी भक्तोंके चरित्र होंगे। उत्तरार्धमें बहुतसे ऐसे भी भक्त है जिनके नाममात्र छप्पयों में आये हैं उनके चरित्र उपलब्ध नहीं हैं। साथ ही भक्तों के ग्रन्थों की, वाणियोंकी प्रशंसा मिलती है, पर ग्रन्थ एवं वाणियाँ अप्राप्त हैं जैसे 'चालक की चरचरी चहूँ दिशि उदधि अन्त लौ अनुसरी,' 'गोप्यकेलि रघुनाथकी मानदास परगटकरी,' 'जकरी जन गोपालकी' आदि। ये तथा अन्य भक्तमाल सम्वन्धी ग्रन्थ, पद, चरित्र जिन सज्जनोके पास हों, मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे कृपया भक्तमाल सम्वन्धी सामग्री भेजें, प्राप्त करनेके पते बतायें, पत्र व्यवहार करें। अध्ययन के वाद प्रतियाँ वापस कर दी जावेगी।

प्रकाशनार्थ अर्थ संग्रहमें श्रीजानकीदासजी हरिनिकुञ्ज श्रीवृन्दावन, परम भागवती कलावती वाई सोमानी (रमणरेती वृन्दावन), श्रीतारा वहन अमृतलाल भट्ट वड़ौदा (गुजरात) और श्रीलक्ष्मणदास तीरथ दास जगवानी (वृन्दावन) का सहयोग परम सराहनीय है। इसके लिए इन्हे कोटि-कोटि धन्यवाद एवं आशीर्वाद है कि भक्त-भगवन्तमें प्रीति हो। इसके अतिरिक्त जिन-जिन सन्तों सद्गृहस्थों, माताओं एवं वहनों के द्वारा लेखन—प्रकाशन में किसी प्रकारका भी सहयोग प्राप्त हुआ है, हम उनके आभारी हैं। प्रेमी पाठक ऐसा शुभ-आशीर्वाद दें जिससे सर्वदा भक्त-भगवन्त के चरित्रोंके कथन-श्रवण एवं प्रकाशन में मन लगा ही रहे।

प्रार्थी

दासानुदास

रामेश्वरदास रामायणी (चित्रकूटी)

सुदामाकुटी, वृन्दावन

प्रकाशकीय प्राक्कथन

श्रीभक्तमाल ग्रन्थ भक्ति साहित्य का अनूठा एवं अनमोल रत्न है, इस बात को सम्पूर्ण भक्त जगत जानता एव मानता है। किसी भी ग्रन्थ की महिमा, मान्यता उसके रचयिता के व्यक्तित्व से सम्वन्धित होने के कारण ही होती है। श्रीमद् गोस्वामी नाभाजी जिनका गुरुप्रदत्त नाम नारायणदास है इनका जन्म कर्म दिव्य था। आपकी सवसे वडी विशेषता यह थी कि आपने जन्म लेकर अपने नेत्र वन्दही रक्खे, जगत को देखा ही नही। जव सन्त सद्‌गुरु देव की एव उनकी कृपा की प्राप्ति हो गई, तव आपने नेत्र खोले सर्व प्रथम गुरु गोविन्द के ही दर्शन किए। सच तो यह है कि आपके जीवन मे, आपकी दृष्टि मे सन्त भगवन्त के अतिरिक्त और कोई आया ही नही, आपने किसी को देखा ही नही। सन्तों की कृपा से इन्हे दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई जानकर गुरु वर्य आचार्य श्री अग्रदेवजी महाराज ने इन्हे भक्तमाल रचने की आज्ञा दी, (विशेप इसी ग्रन्थ के ९२ पृष्ठ मे इनका चरित्र पढ़िए) तभी ऐसे अनुपम, दिव्य ग्रन्थ की आपने रचना की, जिसका सभी आस्तिकों मे वहुत अधिक आदर हुआ। अनेक भाषाओ मे इसका अनुवाद हुआ। इसके पठन श्रवण से शुष्क हृदय सरस हो जाता है और सरस हृदय मे सदा के लिए भक्ति का ज्वार आ जाता है। यही कारण है कि श्रीमद् भागवत एवं श्रीरामायण आदि सभी ग्रन्थो के प्रवक्ता भक्तमाल के भक्तो के दृष्टान्त देकर भक्ति के सभी रसो को, अङ्गो को परिपुष्ट करते हैं।

श्रीनाभा जी का जन्म माघ सुदी ५ स० १५८७ वि० मे हुआ। भक्तमाल की रचना का समय लगभग १५६६ है। अपने साकेत धाम गमन के लगभग १०० वर्ष पश्चात आपने श्रीप्रियादास जी को दर्शन देकर भक्तमाल पर टीका करने की आज्ञा दी। क्योकि आपने यह अनुभव किया कि श्रीप्रियादास जी में भी मेरे समान ही सन्तो मे अपार स्नेह है उनके महत्व परत्व को भली भाति जानते है।

श्रीप्रियादासजी—

का संक्षिप्त परिचय देते हुए वावा श्रीकृष्णदास जी (कुसुम सरोवर गोवर्धन) ने 'प्रियादास ग्रन्थावली' की भूमिका में लिखा है कि इनका जन्म राजपुरा नामक ग्राम सूरत (गुजरात) मे हुआ। जन्म सम्वत के सम्वन्ध में अनुमान किया जाता है कि स०१७४० वि० के पूर्व ही आपका प्रादुर्भाव हुआ था। नवीन अवस्था मे ही आप श्रीधाम वृन्दावन आ गए और श्रीराधारमण जी के मन्दिर मे श्रीमनोहर-दासजी महाराज के शिष्य हुये। ये श्रीमद् गोपाल भट्ट जी के चरणाश्रित श्रीनिवासाचार्य प्रभु के शिष्य थे। श्रीगुरुदेव की आज्ञा से श्रीप्रियादास जी ने तीर्थाटन किया। प्रयाग, अयोध्या, चित्रकूट आदि धामों के दर्शनकर आप गलता गादी जयपुर पधारे और कुछ दिन तक वहां रहे। वही पर मानसी–सेवा के समय श्रीनाभा जी ने दर्शन देकर श्रीभक्तमाल की छन्दोवद्ध टीका लिखने की आज्ञा दी। तव आपने 'भक्तिरस वोधिनी' टीका लिखी जो यथानाम तथा गुण वाली है। इसके अतिरिक्त १—रसिक मोहिनी २—अनन्यमोदिनी, ३—चाहवेली, ४—भक्त सुमिरणी आदि आपकी रचनाएँ भी प्रसिद्ध हैं। टीका करने के वाद आप नित्य भक्तमाल की कथा कहने लगे। व्रज चौरासी कोश की परिक्रमा को गए। वहा महन्त लाल दास ने कथा कहवाई। उसी वीच ठाकुर चोरी चले गए फिर ठाकुर जी को वापस लाकर चोरो ने अपने स्वप्न की वात सुनाई जिससे प्रमाणित हुआ कि भक्तमाल की कथा भगवान को अति प्रिय है। (पूरा प्रसङ्ग भक्तमाल माहात्म्य मे पढिये)

इस भक्तमाल के पूर्वार्द्ध में मूल में ४ दोहे तथा २३ छप्पय हैं और इनकी टीका भक्ति रस बोधनी के १०५ कवित्त हैं अयोध्या वृन्दावन में श्रीभक्तमाल जी का अध्ययन—अध्यापन और प्रवचन सन्तों द्वारा विशेष रूप से सदा होता रहता है। भगवान की असीम अनुकम्पा से सं० २०२६ से रामायणी श्रीरामेश्वरदासजी महाराज सुदामा कुटी (वृन्दावन) में आकर विराजे हैं, तव से निरन्तर कथा सत्सङ्ग का लाभ यहां हो रहा है। पांच सालमें रामचरित मानस की दो आवृत्तियां पूरी हुईं। उसके पश्चात् श्रवण रसिक भक्त–भगवन्त की इच्छा से आपने भक्तमाल की कथा आरम्भ की जो लगभग दो साल में पूरी हुई। भक्त चरित्रों के श्रवण से प्रेमी भक्तों को अनिर्वचनीय परमानन्द का लाभ हुआ। उसी से प्रेरित होकर प्रेमियों ने विशेष इच्छा प्रकट की, कि भाषा टीका एवं विस्तृत व्याख्या समेत एक भक्तमाल ग्रन्थ प्रकाशित हो। वैसे बहुत पहले से ही सन्तों की यह माँग थी ही अतः सर्व समर्थ भक्त भगवन्त ने श्रीगणेशदास जी एवं श्रीरामायणी जी लेखक द्वय के द्वारा लेखन और रामानन्द पुस्तकालय सुदामा कुटी वृन्दावन द्वारा प्रकाशन करा लिया। आप सज्जन इसी प्रकार कृपा वनाये रक्खें जिससे उत्तरार्द्ध—भक्तमाल एवं अन्य भक्ति साहित्य हम प्रकाशित कर सकें।

विनीत—प्रकाशक

परमादरणीय, परमपूज्य, परम भागवत, अनुरागमूर्ति, श्रीभक्तमाल रस रसिक श्री श्री १००८ पण्डित श्री जगन्नाथदास जी महाराज का

शुभ आशीर्वाद

श्रीवृन्दावन विहारिणे नमः

प्रातः स्मरणीय श्री १०८ श्रीरामेश्वरदासजी महाराज रामायणी (श्रीसुदामा कुटी वृन्दावन) ने श्रीराघवेन्द्र सरकार की प्रेरणा से गोस्वामी श्रीनाभाजी कृत श्रीभक्तमाल तथा श्रीप्रियादासजी कृत टीकाकी विस्तारसे व्याख्या की है। उसमें अन्य वैष्णव ग्रन्थों से तत्तत् विषयक श्लोक, पद, कथा प्रसङ्ग एवं दृष्टान्त लेकर उनके द्वारा बहुत ही सुन्दर रीति से भाव प्रकाशित किया गया है। इसमें श्रीगोवर्धन निवासी श्री १०८ श्रीगणेश दास जी महाराज, जिन्होंने श्रीभक्तमालजी की अनुपम टिप्पणी रची है उन्होंने शब्दार्थ भावार्थ बड़ा ही सुन्दर लिखा है। इस प्रकार आप श्रीरामायणीजी के इस मंगलमय कार्य में परम सहायक भये हैं। आपका श्रीवैष्णवों के चरित्रों में अद्वितीय भाव है वह सराहना करने में नहीं आता है। मैं श्रीवृन्दावन विहारीजी से प्रार्थना करता हूं कि इनकी मति भक्त–भगवत यश कथनश्रवण में निरन्तर लगी रहे।

विश्वास है कि श्रीभागवत जन इस ग्रन्थ को पढ़कर आपके परिश्रम को सफल बनावेंगे तथा भागवतों के श्रीचरणों में प्रेम सम्बन्ध करेंगे।

आप भगवदीयजनों का कृपाकांक्षी—

जगन्नाथ दास 'भक्तमाली' श्रीवृन्दावन

भाषा–टीकाकार

श्री गणेशदास जी भक्तमाली

(गोवर्धन)

श्रीरामकृष्णौ विजयेतेतमाम्

काव्यवेदान्ततीर्थ घटिकाशतक महाकवि श्रीवनमालीदासजी शास्त्री को

शुभ-सम्मतिः

येनाऽकारि गुरोर्निजस्य चरितं काव्यं कविप्रीतिदं,
चक्रे 'सख्यसुधाकरं' य उ महाकाव्यं 'हरिप्रेष्ठकम्' ।
टीकां यश्च लिलेख भाववलितां गोपालचम्पूद्वये,
तेनेयं वनमालिदासकविना देदीयते सम्मतिः ॥१॥

जिन्होने कवियोको हर्ष देनेवाला एवं अपने गुरुदेव स्वामि श्री १०८ श्रीकृष्णानन्ददासजी महाराजके दिव्य चरित्रसे परिपूर्ण 'श्रीकृष्णानन्द महाकाव्य' वनाया, एवं उसके वाद आजसे ३४ वर्ष पहले सख्यरस-प्रतिपादक 'श्रीसख्यसुधाकर' नामक ग्रन्थ वनाया, एवं उसीके साथ-साथ भारत-सरकारसे पुरस्कृत 'श्रीहरिप्रेष्ठ-महाकाव्य' की रचना की थी, तथा 'श्रीराधारमण शतक,' 'श्रीवनमालिप्रार्थनाशतक', 'श्रीभक्तनाममालिका' आदिकी रचना की, और जिन्होने 'श्रीगोपालचम्पू', 'श्रीपद्यावली' आदि प्राचीन भक्तिग्रन्थोपर भावभरी सिद्धान्तमयी टीका लिखी, वे ही महाकवि वनमालिदास शास्त्री इस 'भक्तमाल' ग्रन्थपर अपनी शुभ सम्मतिको विशेषतापूर्वक दे रहे हैं ॥१॥

गणेशदासेन सुटीकितेऽस्मिन्, श्रीयुक्तरामेश्वरदास-भाष्ये ।
श्रीभक्तमालाऽऽह्वय-दिव्यग्रन्थे, मनोऽलिसङ्घो रमते समेषाम् ॥२॥

श्रीचित्रकूट चर्चिका आदि ग्रन्थों के रचयिता एवं श्रीभक्तमालपर 'भक्तवल्लभा' टिप्पणीके लेखक श्रीगणेशदासजी महाराज (गोवर्धन-निवासी) द्वारा की हुई सुन्दर भाषाटीकासे युक्त, एवं सुप्रसिद्ध सरस-रामायणी श्रीरामेश्वरदासजी महाराज (चित्रकूटी) द्वारा विरचित भाष्य से युक्त 'श्रीभक्तमाल' नामक इस दिव्य ग्रन्थमें सभी भक्तोंका मनरूपी मिलिन्दवृन्द रमता रहता है ॥२॥

कतिपय-टीकाग्रन्था, दृष्टाः श्रीभक्तमालायाः ।
ते नो सर्वाङ्गीणा, यथाऽयमास्ते सर्वाङ्गीणः ॥३॥

मैंने आजतक प्रकाशित हुए 'श्रीभक्तमाल' के कितने ही टीका ग्रन्थ देखे, किन्तु वे सब उस प्रकारसे साङ्गोपाङ्ग नही हैं कि, जिस प्रकारसे 'श्रीरामानन्दपुस्तकालय' सुदामाकुटी श्रीधाम वृन्दावनसे प्रकाशित होनेवाला यह 'श्रीभक्तमाल'-ग्रन्थ साङ्गोपाङ्ग मूलार्थबोधन समर्थ है ॥३॥

मधुनि लिल्युरशेषरसा यथा, तदवदत्र हि भक्तिरसाः समे ।
इति विचार्य विचारविचक्षणा, अपि पठन्तु मनोहर-पुस्तकम् ॥४॥

"देखो ! मधु (शहद) में जिस प्रकार सभी रसलीन रहते हैं, ठीक उसी प्रकार अब प्रकाशित होनेवाले इस 'श्रीभक्तमाल' ग्रन्थमें भी भक्तिके सभीरस साङ्गोपाङ्ग-सप्रमाण विद्यमान है" ऐसा विचार करके विचार में विचक्षण (चतुर) जनोंको भी यह मनोहर ग्रन्थ अवश्य ही पढना चाहिए ॥४॥

पूर्वं पूर्वमितस्तु, प्राकाशित-भक्तमाल-ग्रन्थानाम् ।
नैव प्रकाशन रीती, रमणीयाऽऽसीद् यथैतस्य ॥५॥

'श्रीरामानन्द पुस्तकालय' सुदामाकुटी से प्रकाशित होनेवाले इस 'श्रीभक्तमाल' ग्रन्थकी प्रकाशन रीति जिस प्रकार रमणीय है, उस प्रकार की प्रकाशन रीति तो इस से पहले-पहले सैकड़ो वर्षोंसे प्रकाशित 'श्रीभक्तमाल' के ग्रन्थोंकी भी कदापि नही थी ॥५॥

स जयति गणेशदासः, साधुः सौशील्य-सम्पूर्णः ।
यत्कृतटीकामध्ये, गूढो भावः सर्वोऽपि मूलस्य ॥६॥

सुशीलतासे परिपूर्ण साधुवर्य उन श्रीगणेशदासजी महाराजकी जय हो कि जिनके द्वारा की हुई इस 'श्रीभक्तमाल' की टीकामें मूलका सम्पूर्ण गूढ रहस्य स्पष्ट ही विद्यमान प्रतीत हो जाता है ॥६॥

श्रीरामेश्वरदासः स जयति व्याख्या-प्रवीणता-पूर्णः ।
यत्कृत व्याख्यां श्रुत्वा, चेतो नृत्यति समस्त श्रोतॄणाम् ॥७॥

शास्त्रोंकी व्याख्याकी प्रवीणता से परिपूर्ण साधुवर्य उन श्रीरामेश्वरदासजी महाराजकी जय हो कि, जिनके द्वारा की हुई व्याख्या को सुनकर, सभी श्रोताओं का मन नाचने लग जाता है ॥७॥

श्रीभक्तमाल-पठन-श्रवणानुमोदैः, शीघ्रं समेति हृदये भजतां मुरारिः ।
वृन्दाटवी वसति लब्धकवित्वशक्तिरित्याह भक्तकृपया वनमालिदासः ॥८॥

"श्रीभक्तमाल-ग्रन्थके पठन, श्रवण एवं अनुमोदन करने मात्रसे मुरारि भगवान् भजन करनेवाले भक्तोंके हृदयमें शीघ्र ही आ जाते हैं" इस बातको 'श्रीभक्तमाल' में विद्यमान भक्तोंकी कृपासे, वही 'वनमालिदास' कह रहा है कि, जिसको कविता शक्तिका लाभ श्रीवृन्दावनमें निवास करनेके अलौकिक प्रभावसे ही हुआ है ॥८॥

श्रीभक्तनाममालिका

(श्रीभक्तसहस्रनाम)

स्रग्धरावृत्तमेतत्

श्रीकृष्णं प्रापयन्ती सकलजनमनोदोहदं दापयन्ती
पापाद्रिं दारयन्ती गुरुभवजलधेरञ्जसा तारयन्ती।
कामादीन्नाशयंती निखिलरिपुगणान् वासनां शासयंती
भक्तानां नामगङ्गाऽवतु मम रसनाभूमिभागे पतन्ती।

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

लोपं विलोक्य भुवि सख्यरसस्य तस्य
सञ्चारणाय हरिणा कलकण्ठनामा।
सम्प्रेषितो य इह तं व्यतरज्जनेभ्य-
स्त श्रीगुरुं स्वकमहं शरणं व्रजामि॥

इतः श्लोकपञ्चके पञ्चचामरवृत्तं ज्ञेयम्।

हरिः प्रसन्नता तथा न याति नामकीर्तनैः
स्वकैर्यथा निसर्गतः स्वभक्तनामकीर्तनैः।
इतीव चिन्तयन्नहं करोमि भक्तमालिका-
क्रमेण कृष्णप्रीतयेतु भक्तनाममालिकाम्॥
नमामि भक्तमालिकागतानह पुरा सत-
स्ततस्तु प्रार्थये भृशं विनीतभावतः स्थितः।
यदि व्यतिक्रमः क्वचित्तु वृत्तभङ्गभीरुणा
मया कृतो भवेत्तदापि मर्षयन्तु सज्जनाः॥
विरिञ्चिनारदौ शिवः कुमारकर्दमात्मजौ
मनुः कयाधुनन्दनो विदेहजश्च भीष्मकः।
बलिः शुकश्च धर्मराडिमेऽत्रयन्ति द्वादश
सुधर्ममन्तरङ्गमन्तरङ्गता गता अतः॥
अजामिलस्ततो हरेरमी प्रधानपार्षदा.
सुषेणविश्वगर्वसेनको जयो विपूर्वक.।
जयो बलः प्रपूर्वको बल. सुनन्दनन्दको
सुभद्रभद्रको ततः प्रचण्डचण्डको मतौ॥
कुपूर्वको मुदः कुपूर्वको मुदाक्षकस्तत.
सुशीलशीलको मतौ कप्रत्ययोऽत्र स्वार्थिकः।
इमे हरिं सदैव प्रीणयन्ति सर्वभावतो
मनोगतिर्ममास्तु तत्र यत्र पार्षदा हरेः॥

इत. श्लोकपञ्चके शार्दूलविक्रीडितम्

श्रीलक्ष्मीर्गरुडः समीरतनयः श्रीजाम्ववानुद्धवः
सुग्रीवः शवरी विभीषणजटायू अम्बरीषो ध्रुवः।
अक्रूरो विदुरः सुदामगजराजग्राहभीमार्जुना
मैत्रेयो नकुलो युधिष्ठिरसदेवौ चन्द्रहास. कृती॥
कुन्ती द्रौपदिका सदा विजयते श्रीचित्रकेतुः कृती
अङ्गः श्रीश्रुतदेवकश्च मुचुकुन्दः श्रीपरीक्षित्पृथू।
शेषः शौनकमुख्यकाः प्रियव्रतः सूतः प्रचेतोगण
आकूतिश्च प्रसूतिरस्ति शतरूपा देवहूतिः सती॥
गोप्यो यज्ञसती सुनीतिरपरा मन्दालसा पार्वती
वाल्मीकिश्च भगीरथश्चसगरो वाल्मीकिरन्योऽपि च
श्रीसत्यव्रतताम्रकेतुसुरथाः प्राचीनबर्हि. शिविः
श्रीरुक्माङ्गदराडलर्कभरतौ नीलो मयूरध्वजः॥
श्रीविन्ध्यावलिजीरहूगणसुधन्वानो हरिश्चन्द्रक
इक्ष्वाकुश्च दधीचिरैल ऋभुगाधी श्रीरघुः श्रीगय
उत्तङ्कश्च रयोऽप्यमूर्तिनहुषौ वैवस्वतः श्रीमनु-
र्भूरिर्देवलरन्तिदेवशतधन्वानो ययातिर्यदुः॥
मान्धाता निमिपिप्पलायनभरद्वाजा दिलीपो गुहः
पूरुर्दक्षशमीकसञ्जयवरा उत्तानपादस्तथा।
मातङ्गः शरभङ्गको विजयते श्रीयाज्ञवल्क्यो मुनि-
रेतेषां चरणाब्जधूलिषुमनः स्नातु ममोत्कण्ठते॥

हरिणीवृत्तमेतत्

कविरथ हरिः पूज्यः श्रीपिप्पलः करभाजनो
द्रुमिलचमसावाविर्होत्रोऽन्तरिक्षप्रबुद्धकौ।
भजनचतुरा जायन्तेया इमे गदिता नव
निमिसदसि ते पूज्यन्ते कौ यथा च नवग्रहाः॥

पञ्चचामरवृत्तमेतत्

अगस्त्यसौभरी पुलस्त्यगर्गगौतमा भृगु-
र्वसिष्ठकर्दमात्रिलोमशा ऋचीककश्यपौ।
पराशरोऽङ्गिराश्च दूर्विकाशनश्च पर्वतो
विभाण्डकश्च व्यासशिष्य ऋष्यशृङ्गदाल्भ्यकौ॥

इत. श्लोकद्वये उपजातिः

अरिष्टनेमिः कवष. सुनीध्रो
मेधातिथीन्द्रप्रमदेध्मवाहाः।
उतथ्य और्वोऽप्यरुणः [illegible]
धौम्योऽप्ययोध्याधिप आर्ष्टिषेण॥

सरस्वती तुम्बुरुरुग्रसेनो व्याधो गणेशो नृगदारुकौ च। श्रीशूरसेनाद् वसुदेवनामा भार्याभवद् यस्य च देवकीति अरुन्धती गार्ग्यनसूयिकाचमैत्रेयिका वायक एव कुब्जा। पर्जन्यनाम्नोऽपि च गोपराजान्नन्दादयो वै नव संबभूवुः॥

इतः श्लोकाष्टके अनुष्टुब्वृत्तम्

कौशल्या च सुमित्रा च कैकेयी सरमा रुमा।
सुनयनाप्यञ्जनाहल्या तारा मन्दोदरी तथा॥
पिङ्गला च सुदामा च वैशम्पायन आरुणिः।
जैमिनिर्वरुणश्चैव कुबेरतनयौ तथा॥
वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः।
अथर्वा सुमतिः पैलः सुमन्तुर्द्रोण आसुरिः॥
विश्वामित्रोऽथ जावालिर्माण्डव्यश्च्यवनस्तथा।
मार्कण्डेयोऽथ पुलहो जमदग्निस्तथैव च॥
द्वैपायनः शतानन्दो वामदेवोऽसितोऽरुणिः।
द्वितस्त्रितश्चैकतश्च कण्वो रामश्च गालवः॥
रुक्मिणी सत्यभामा च सत्या जाम्बवती तथा।
मित्रविन्दा च कालिन्दी भद्रान्या लक्ष्मणा तथा॥
भौमगेहगताः कन्या सहस्राणि च षोडश।
कृष्णेन मोचिताः काराज्जरासन्धस्य भूभुजः॥
अष्टादशपुराणानि स्मृतयोऽष्टादशैव च।
एते च स्मृतिकर्तारो ज्ञेया निम्नाङ्किता बुधैः।

श्लोकद्वये वसन्ततिलकावृत्तम्

अत्रिर्मनुर्यमबृहस्पतियाज्ञवल्क्या
हारीतगौतमशनैश्चरदक्षशङ्खाः।
कात्यायनक्रतुवसिष्ठपराशराश्च
विष्णुः शतातपवराङ्गिरसौ संवर्तः॥
वृष्टिर्जयन्तविजयौ खलु धर्मपालः
श्रीराष्ट्रवर्धनसुराष्ट्रसुमन्त्रवर्याः।
निष्कोप एत इह राघवमन्त्रिवर्या
अष्टौ मया निगदिता हरिभक्तिप्राप्त्यै॥

तोटकवृत्तमेतत्

पनसोऽङ्गदगन्धमदद्विविदाः
कुमुदो नलनीलदरीदनाः।
शरभो दधितुण्डसुषेणमय-
न्दगवाक्षवराः सुभटो गवयः॥

इतः श्लोकद्वये इन्द्रवज्रावृत्तम्

श्रीदेवमीढस्य बभूवतुर्द्वे भार्ये हि विट्क्षत्रियवंशजाते।
पर्जन्यनामाजनिवैश्यपुत्र्या राजन्यपुत्र्यापि च शूरसेनः॥

पञ्झटिकावृत्तम्

उपनन्दो नन्दोऽप्यभिनन्दः कर्मानन्दो धर्मानन्दः।
धरानन्दध्रुवनन्द सुनन्दावल्लभनन्द इमे नव नन्दाः॥

शिखरिणीवृत्तमेतत्

यशोदारोहिण्यावपि च वृषभानुश्च जयति
सुकीर्तिः श्रीराधा पशुपयुवतीमण्डलगता।
कदम्बाद्या वृक्षा भ्रमरमृगवृन्दावनलता
रवेः पुत्री गोवर्धनगिरिरशान्यच्च सकलम्॥

इतः श्लोकद्वये अनुष्टुब्वृत्तम्

ललिता च विशाखा च रङ्गदेवी सुदेविका।
चित्रा च चम्पकलता तुङ्गविद्येन्दुलेखिका॥
श्रीराधिकासखीव्यूहे त्वष्टसख्य इमाः स्मृताः।
आसां पदरजश्चित्तं मूर्ध्ना वोढुं ममोत्सुकम्॥

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

सुबलकोकिलभृङ्गुरभारतीसुमधुमङ्गलबन्धवसन्तकाः
गृहलगन्धकडारसनन्दनार्जुनविदग्धकसांधिकहंसकाः

श्लोकद्वये स्वागतावृत्तम्

गोभटर्षभसुबाहुकभोजाः श्रीसुदामविजयौ कलविङ्कः।
देवप्रस्थवसुदामसुयक्षाः श्रीलदामवृषभेन्द्रभटाश्च॥
वीरभद्रबलभद्रसुभद्राः स्तोककृष्णमणिबन्धविटङ्काः।
भद्रसेनसुविशालकरण्डा दामकिङ्किणिवरूथपवेधाः॥

इतः श्लोकद्वये पञ्झटिकावृत्तम्

भद्रवर्धनशिवौ च सुकण्ठो मङ्गलांशुकपिलाः कलकण्ठः।
उज्ज्वलश्च सुमना ओजस्वी पल्लवश्च वकुलस्तेजस्वी॥
पुण्डरीककुलवीरमिलिन्दा महाभीमरणभीमकलिन्दाः।
सुरेशविलासिशरप्रभकुन्दाः पुष्पहासरणधीरमरन्दाः॥

उपजातिवृत्तमेतत्

इमे सखायो व्रजराजसूनोः सर्वप्रकारैःसुखयन्ति नित्यम्।
कुर्वन्तु दीने करुणां मयीमे यथा भवेयं सखिषु प्रविष्टः॥

श्लोकद्वये पञ्झटिकावृत्तम्

रक्तकबकुलौ प्रेमाकन्दः पत्रकमधुव्रतौ मकरन्दः।
पत्रिरसालविशालगारदाश्चन्द्रहासमधुकण्ठपयोदाः॥

सदानन्दरसवृद्धिप्रकाशा उक्ता कृष्णस्यैते दासाः।
गृहे वने सर्वत्र दिनान्ते हरिं यथासमयं सेवन्ते ॥

शार्दूलविक्रीडितमेतत्

सप्तद्वीपनिवासिनश्च नवखण्डान्तर्गता ये जनाः
श्वेतद्वीपनिवासिनश्च किल ते भक्तास्तु भूरा मम।
एलापल्लवशेपकम्बलमहापद्मास्तथा वासुकिः
शङ्कुस्तक्षक इत्यमी उरगराजोऽष्टौ सकर्कोटकाः ॥

पञ्चचामरमेतत्

कृतादिकत्रिकेऽभवन्निमे समेऽपि वैष्णवा
अनन्तकोटिवैष्णवेष्विमे प्रसिद्धिमागताः।
अतोऽङ्किता मया सहर्षमन्यवैष्णवानह
कथं लिखामि दिव्यदृष्टिरस्ति नाल्पमेधस ॥

उपजातिरेषा

एवं कृतादित्रिकजातभक्तनामावली हर्षभरेण गायन्।
प्रवर्तते श्रीकलिजातभक्तनामानिगातुं वनमालिदासः॥

इतः श्लोकाष्टके पज्झटिकावृत्तम्

कलिहतजीवानां तरणाय श्रीहरिपादाम्बुजवरणाय।
चत्वारश्चतुरैरतिललिता मार्गाः पूर्वाचार्यैः कलिता.॥
तेषा नामानीह लिखामः पूर्वं मूर्ध्ना तान् प्रणमामः।
श्रीरामानुजमध्वाचार्यौ श्रीलविष्णुनिम्बार्काचार्यौ ॥
श्रीशठकोपवोपदेवौ च नाथमुनिपुण्डरीकाक्षौ च।
राममिश्रजिपराङ्कुशवर्यौ श्रीयामुनमुनिपूर्णाचार्यौ ॥
कूरेशश्च धनुर्दासश्च श्रुतिप्रज्ञः श्रीश्रुतिदेवश्च।
श्रुतिधामा श्रीश्रुत्युदधिश्च लालाचार्यपादपद्मौ च ॥
देवाचार्यो हर्यानन्दः राघवानन्दो रामानन्दः।
श्रीलकवीरोऽनन्तानन्दः सुखानन्दसुरसुरानन्दकौ ॥
पद्मावती नृहर्यानन्दः श्रीपीपाः श्रीभावानन्दः।
गालवानन्दो योगानन्दो रैदासश्च धनाः कर्मचन्दः ॥
सेनोऽल्हः सुरसुरी गयेशः पयोव्रतः श्रीलकृष्णदासः।
राणाः सारी रामसुदासः श्रीरङ्गः श्रीनरहरिदास.॥
कुल्हुराजकील्हावग्रदासः केवलदासश्चरणसुदासः।
व्रते हठी नारायणदासः पृथुदासः पुरुषोत्तमदास.॥

इतः श्लोकद्वये इन्द्रवज्रावृत्तम

श्रीसूर्यदासस्त्रिपुरस्य दासो गोपालदासश्च हि पद्मनाभः।
श्रीटेकरामश्च गदाधरःश्रीटीलास्ततः श्रीयुतदेवपण्डाः।
कल्याणदास.खलुहेमदासोगङ्गा च रङ्गार्चहिविष्णुदासः।
श्रीचांदनःकान्हरदासवर्योगोविन्ददासश्च सवीरिवयं ॥

उपजातिवृत्तम्

सुमेरदेवश्च मानसिंहो नाभावरः श्रीयुतशङ्करार्यः।
पद्मार्यपृथ्वीवरकार्यवर्यौ श्रीतोटकाचार्यस्वरूपकार्यौ ॥

इन्द्रवज्रावृत्तम्

श्रीदामदेवश्च हि नामदेवः श्रीज्ञानदेवश्च त्रिलोचनश्च।
पद्मावती श्रीजयदेववर्यः श्रीश्रीधरो बिल्वसुमङ्गलश्च ॥

पज्झटिकावृत्तम्

चिन्तामणिलक्ष्मणभट्टौ च परमानन्दो वल्लभभट्टः।
विष्णुपुरीः कुलशेखरभक्तो रतिमन्ती लीलारतभक्त.।

उपजातिवृत्तमेतत्

प्रसादनिष्ठः पुरुषोत्तमे नृपः
सिल्पिल्लभक्तेऽलमुभे हि वालिके।
कर्मा च भक्तार्थविपप्रदे ह्युभे
स्वस्रीयभक्तश्च हि मातुलस्तथा ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

हंसाश्चैव सदाव्रती भुवनचौहानश्च कामध्वजो
ग्वालः श्रीहरिपालको जयमलः श्रीसाक्षिगोपालकः।
सस्त्रीकद्विजरामदासवरजः सुस्वामिवाराङ्गना
अन्तर्निष्ठसुवेपनिष्ठनृपती श्रीनन्ददासस्तथा ॥

इतः श्लोकद्वये पज्झटिकावृत्तम्

गुरुनिष्ठो लड्डूभक्तश्च पद्मनाभतत्वाजीवाश्च।
माधवदासविज्ञगोस्वामी श्रीरघुनाथदासगोस्वामी ॥
श्रीबलदेवकृष्णनामानौ यावधतीर्णौ भुवि भूमानौ।
नित्यानन्दकृष्णचैतन्यौ तावेव हि गदितौ नहि चान्यौ ॥

इत. श्लोकपञ्चके शार्दूलविक्रीडितम्

अद्वैतश्च सनातनश्च वररूपो माधवेन्द्रः पुरी
जीव. श्रीरघुनाथभट्ट इतरो गोपालभट्टस्तथा।
श्यामानन्दगदाधरावपि शची लक्ष्मीश्च विष्णुप्रिया
श्रीगोपालगुरुस्तथा नरहरिः श्रीमज्जगन्नाथक.॥
श्रीमत्केशवभारतीश्वरपुरीवर्यौ च विद्यानिधि.
श्रीनाथश्च मुकुन्दरामहरिदासाः श्रीनृसिंहस्तथा।
श्रीवासश्च हि सार्वभौमजगदानन्दौ प्रतापो नृपः
श्रीदामोदरशङ्करावपि मनोहारिप्रियादासकौ।
श्रीवक्रेश्वरचन्दनेश्वरमुरारिश्रीस्वरूपप्रबो-
धानन्दाश्च हि विश्वनाथबलदेवश्रीलगोविन्दकाः।
श्रीशुक्लाम्बरकृष्णदासकविराज श्रीशिवानन्दकाः
श्रीकान्तः कविकर्णपूर उदित. श्रीविश्वरूपस्तथा ॥

श्रीहाड़ाइरुवीरचन्द्रवसुधापद्मावतीजाह्नवा
गौरीदासनरोत्तमौ नकुलवर्णी श्रीनिवासस्तथा ।
भूगर्भश्च सनातनश्च वसुरामानन्दकः श्रीधरः
सीता भट्टगदाधरौ तपनमिश्रो माधवाचार्यकः ॥
श्रीनीलाम्बरको मुरारिरसिक श्रीवल्लभाचार्यकः
प्रद्युम्नश्च हि रामचन्द्रतुलसीमिश्रौ सुखानन्दकः ।
कृष्णानन्दपुरी नृसिंहसुपुरी श्रीलक्ष्मणाचार्यकः
श्रीवृन्दावनदासहर्षहृदयानन्दाश्च काशीश्वरः ॥

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

श्रीसूरदासमदनादिकमोहनश्च
श्रीचन्द्रशेखरहलायुधविष्णुदासाः ।
वंशीमुखश्च मधुराघवपण्डितौ च
श्रीवासुदेवनिधिलोचनठक्कुराश्च ॥

विद्युन्मालावृत्तमेतत्

गोपीनाथाचार्यो ब्रह्मानन्दः श्रीमत्काशीमिश्रः ।
गङ्गादासः श्रीमद्रामानन्दः श्रीमद्वाणीनाथः ॥

इतः श्लोकद्वये इन्द्रवज्रावृत्तम्

आचार्यरत्नः प्रभुवासुदेवा-
चार्यस्तथा श्रीपतिलोकनाथौ ।
चैतन्यभक्ताः खलु भक्तमाला-
कारैरनुक्ता अपि ते मयोक्ताः ॥
चैतन्यभक्ता अपि भक्तमाला-
मध्ये निरुक्ताश्च पृथक्तया ये ।
एकत्र संयोज्य मया निरुक्ता-
स्ते चापि सम्यक्परिशीलनाय ॥

इतः पज्झटिकावृत्तत्रयम्

सूरदासश्रीकेशवभट्टौ परमानन्ददासश्रीभट्टौ ।
श्रीहरिव्यासदिवाकरनाथौ त्रिपुरदासश्रीविट्ठलनाथौ ॥
गिरिधरगोविन्दगोकुलनाथावालकृष्णरघुनाथयदुनाथा ।
श्रीघनश्यामकृष्णदासौ च गंगलवर्धमानभक्तौ च ॥
भीष्मभट्टकमलाकरभट्टौ विट्ठलदासनारायणभट्टौ ।
हरिरामहठी क्षेमगोस्वामी वल्लभश्च हरिवंशस्वामी ॥

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

श्रीआशुधीरतनयो हरिदासवर्यः
श्रीव्यासकोऽलिभगवान् मधुगोपतिश्च ।
श्रीविट्ठलादिविपुलश्च घमण्डिरङ्गौ
श्रीकृष्णदासबुधवर्णिवरौ च सोभाः ॥

इतः पज्झटिकापञ्चकम्

जगन्नाथथानेश्वरवर्यः सीवाँ युगलकिशोरो वर्यः ।
आधारो हरिनामसुवर्यं आशाधरस्त्रिलोचनवर्यः ॥
हृषीकेशद्योराजनिवर्यौ श्रीसदनाकाशीश्वरवर्यौ ।
कृष्णकिङ्करः कटहरियाजिः सोभूराम उदारामाजिः ॥
पद्मो डूँगरपदारथौ च रामदासविमलानन्दौ च ।
रामरावलः श्यामः खोजिः श्रीसोहा दलहा पद्माजिः ॥
मनोरथो राँका बाँकाजिः द्योगुर्जाड़ा गुरुचाचाजिः ।
श्रीलसवाईचाँदानीपाः श्रीपुरुषोत्तमचतुरौ कीताः ॥
लक्ष्मणलड्डूत्यागीलफराः सूरजकुम्भनदासौ नफराः ।
खेमविरागिविमानिभावना विरहिभरतहरिकेशपावनाः ॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

श्रीचक्रपाणिहरिदासतिलोकवर्या
विज्जुस्तथा पुखरदीरपि सोमनाथः ।
सोमस्तथा वनचरान्वयजोद्धवश्च
श्रीभीमविक्कलमध्यानवरा विशाखाः ॥

इतः श्लोकत्रये अनुष्टुब्वृत्तम्

महदाश्च मुकुन्दश्च गणेशश्च त्रिविक्रमः ।
वाल्मीकिश्च रघुश्चैव जननो वृद्धव्यासकः ॥
भाँभूश्च विट्ठलाचार्यो हरिभूर्हरिदासकः ।
लाला वाहुवलो लाखा राघवाचार्यछीतरौ ॥
उद्धवश्च कपूरश्च घाटमो घुरिरेव च ।
देवानन्दमुकुन्दौ च नृहर्यानन्द एव च ।

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्

श्रीरङ्गछीतममहीपतिसन्तरामाः
श्रीनन्दविष्णुवजुमाधवखेमरामाः ।
दामोदरो नृहरिमण्डनवीदरूपाः
श्रीद्वारिकाशरणको भगवांश्च वालः ॥

इन्द्रवज्रावृत्तमेतत्

श्रीकान्हरः केशवकेशवौ च लोहंगनागूजप्रयागदासाः ।
गोपालखेताहरिनाथभीमागोविन्दवर्णीकिल वालकृष्णः ॥

पज्झटिकावृत्तम्

वड़भरतोऽच्युतमुकुन्दलालौ गुणनिधिरपया जसगोपालौ ।
विद्यापति गोपीनाथौ च ब्रह्मदासजिवहोरनकौ च ॥

इतः श्लोकद्वये अनुष्टुववृत्तम्
रामलालो विहारी च गोविन्दस्वामिकस्ततः।
भक्तभाईप्रियदयालौ गङ्गारामकस्ततः॥
श्रीमत्परशुरामश्च खाटीकः केशवस्तथा।
आशकरनपूरनभीष्मा जनदयालकः॥

इतः पञ्झटिकावृत्तद्वयम्
दासूस्वामी श्रीरघुनाथो गुञ्जामाली गोपीनाथः।
रामभद्रवीठलभक्तौ च चितउत्तममरहठभक्तौ च॥
गोविन्दयदुनन्दनरघुनाथा भगवत्केशवमुकुन्दनाथा।
मुरलीश्रोत्रियरामानन्दौ श्रीहरिदाममिश्रजिमुकुन्दौ॥

इतः श्लोकद्वये उपजातिः
चरित्रभक्तश्च चतुर्भुजश्च श्रीविष्णुदासोऽपि च वेनिभक्त.।
झालीचसीतासुमतिश्चशोभाउमाचगङ्गा प्रभुताकुमारी।
गोपाल्युवीठाच गणेशदेवी कला लखा चैव कृतङ्गढौजी।
श्रीसत्यभामा यमुनाच कोलीरामा मृगामानवतीचदेवा॥

इन्द्रवज्रावृत्तम्
कीकी च जेवाद्वयमेव हीरा श्रीदेवकी श्रीकमला च गौरी।
जापूस्तथा श्रीहरिचेरिका च धाराच रूपा नरवाहनश्च।

पञ्झटिकावृत्तमेतत्
मधुकरशाहवाहनवरीशौ जयमलवीदावतकावीशौ।
गम्भीरार्जुनकश्च जयन्तः श्रीगोविन्द उदा रावन्त.॥

उपजातिरेषा
जनार्दनश्चानुभवी चजीता दामोदरःसापिलको गदाश्च।
श्रीलेश्वरो हेमविदीतकश्च श्रीमन्मयानन्दगुढीलकौ च॥

इतः श्लोकचतुष्टये पञ्झटिकावृत्तम्
मोहनवारीतुलसीदासौ वनियाँरामगाँवरीदासौ।
दाऊरामजगदीशदासौ श्रीमल्लक्ष्मणभगवद्दासौ॥
श्रीगोपालो लाखाभक्तो गोपालश्च जोवनेरस्थ.।
नरसीभक्तश्रीदिवदासौ श्रीलयशोधरनन्दसुदामौ॥
खिन्नदास उ चतुर्भुजदासश्चेतस्वामी माधवदास.॥
चतुर्भुजोऽङ्गदजनगोपालौ मीरा पृथ्वीराड्जयमालौ॥
लघुजनरामचन्द्रनीवाश्च अभयरामभगवद्बिरमाश्च।
रायमलोऽक्षयराज ईश्वरोमधुकरशाह. श्रीलकान्हरः॥

उपजातिवृत्तमेतत्
खेमालरत्नश्च किशोरसिंहः स्वधर्मपत्नीयुतरामरेनः।
चतुर्भुजश्रीहरिदाससन्तदासास्तथा चालककृष्णदास॥

इन्द्रवज्रावृत्तमेतत्
कात्यायनीचैव मुरारिदासो गोस्वामिपूर्वस्तुलसीसुदास.।
श्रीमानदासोगिरिधारिलालोगोस्वामिश्रीगोकुलनाथवर्यः

इतः श्लोकपञ्चके शार्दूलविक्रीडितम्
चौडाचौमुखचण्डकोल्हकरमानन्दाल्हका माधव.
श्रीसाधुर्वनमालिदासदुदुवौ चौरासिको माण्डनः।
श्रीनारायणमिश्रवावनकजीवानन्दसोवास्तथा
सीवारावववदासको परशुरामो दासनारायणः॥
पृथ्वीराजजिप्रेमसिंहजुजुवाः कल्याणसिंहस्तथा
श्रीमन्माधवसिंहवोहिथवरौ राज्ञी च रत्नावती।
श्रीनारायणदासनर्तकमणिः श्रीरामदासस्तथा
गोविन्दश्च हि वर्धमान उ जगन्नाथादिपारीपकः॥
छीतस्वामिगदाधरौ च मथुरादासस्तथा मांडिलः
श्रीगोसूयशवन्तकन्हरवराः श्रीरामगोपालकः।
श्रीश्यामश्च कुमारवर्यहरिनाभामिश्रकौ नारदो
दीनादासकवत्सपालकवरौ श्रीरामदासस्तथा॥
श्रीगङ्गाभगवज्जनावलमनन्तानन्दकश्चोद्धवो
विश्रामश्च हि कृष्णजीवनवरो नारायणान्तो हरिः।
कुंडाकिङ्करब्रह्मदासपरसा रामा विहारी तथा
श्रीखेमाच्युतरामरेणुजयदेवश्यामदासास्तथा॥
गोपानन्ददयालराघववरा दामोदरो मोहनः
श्रीसोठाविदुरोद्धवांश्च परमानन्दः प्रवानस्तथा।
श्रीखोरा चतुरोनगानरघुनाथाः कृष्णदासस्तथा
श्रीखेमा भगवद्द्वयी च परमानन्दश्च गोमोद्भव.॥

वसन्ततिलकावृत्तमेतत्
श्रीश्यामदासजयतारणविट्ठलाश्च
गोपालचाँधडजिकेवलदासपीपा.।
जंगी च पूरनविनोदिप्रयागदासाः
श्रीमद्दिवाकरवरो वनमालिदासः॥

इतः श्लोकसप्तके अनुष्टुववृत्तम्
नृसिंहदासो भगवद्दासः किशोरदासश्च जगतदासः।
सल्लूघो जगन्नाथदासः श्रीखांची श्रीक्षेमादासः॥
टीला लघूद्धवो धर्मदास श्रीलीहाः परमानन्ददास.।
खेमदासकः खरतरदासो ध्यानदासकः केशवदासः॥
श्रीमत्थोला. श्रीहरिदासः श्रीवीटलसुतकान्हरदासः।
नीवास्तूवा भगवद्दासो जसवन्तो भीमो हरिदासः॥
विष्णुदासको गोपालश्च आसकरनराजपिदश्च।
रूपदासको भगवद्दासश्चतुरदासकछीतरदास.॥
रसिकरायमलदेवादासौ गोरदासजिरायमन्ददासौ।
लालदामोदरभक्तो च गोपालदासनाथभट्टो च॥

तूँवरदासगंगग्वालौ च परशुरामजा करमेती च।
शेखावतिराडपि तत्रस्थः श्रीमत्खड्गसेनकायस्थः॥
सोतीप्रेमनिधी लालदासो माधवग्वालः प्रयागदासः।
पद्मा राघवदासदुर्वलो हरिनारायण ऊधा अटलः॥

इतः श्लोकत्रये शार्दूलविक्रीडितम्

देयाखीचनिपूनिराश्च तुलसीदासश्च हीरामणि-
र्वीरा रामसुदासकश्च परमानन्दश्च रैदासिनी।
श्रीरामापि च गोमती च यमुना श्रीदेवकल्याणको
वीरा पर्वतजाद्वयी किल घना लाली च लक्ष्मीस्तथा।
श्रीजेत्रा हरिषा तथा जयसिनी गङ्गा च केशी तथा
श्रीमत्कान्हरदासकेगवलटेरौ वादरानी तथा।
कल्याणो हरिवंशकः कुमरिरायो भीमसिंहस्तथा
रङ्गः केवलराम आसकरनः श्रीधर्मदासस्तथा॥
लाखेवीठलदासको परशुरामः श्रीसदानन्दकः
कल्याणोऽपि च श्यामदासहरिदासौ वंशनारायणः।
श्रीमच्छङ्करकृष्णदासजगदेवा ग्वालगोपालकः
श्रीदामोदरतीर्थकः खड्गुकः श्रीचित्सुखानन्दकः॥

अनुष्टुब्वृत्तमेतत्

माधवानन्दकः श्रीलमधुसूदनसरस्वती।
नृसिंहारयण्कश्चैव रामभद्रसरस्वती॥

इतः पज्झटिकापञ्चकम्

जगदानन्दद्वारिकादासौ लक्ष्मणभट्टगदाधरदासौ।
पयोव्रतः श्रीयुतकृष्णदासः पूर्णः श्रीनारायणदासः॥
कल्याणसिंहो भगवद्दासः सन्तदासको माधवदासः।
आनन्दसिंहः कान्हरदासो जगतसिंहको गोविन्ददासः॥
दीपकुमारी वासोदेवी जयसिंहो गोपालीदेवी।
गिरिधरग्वालरामदासौ च रामरायश्रीभगवन्तौ च॥

उपजातिवृत्तमेतत्

श्रीरामदासश्च विलासदासः किशोरदासस्त्रय एव चैते।
व्यासात्मजा लालमतीचभक्तापीपाश्रितोभूपतिसूर्यसेनः॥

शार्दूलविक्रीडितमेतत्

इत्येषा गदिता मयाघदमनी श्रीभक्तनामावली
यां श्रुत्वा मुदितो भवत्यतितरां श्रीकृष्णचन्द्रः स्वयम्।
तस्माद् येऽभिलषन्ति लब्धुमचिरात्पादाम्बुजं श्रीहरे-
स्ते नित्यं प्रपठन्तु प्रीतिसहिता उद्दिश्य प्रीतिं हरेः॥

शिखरिणीवृत्तमेतत्

हरेर्भक्ता ये सन्त्यपि च भवितारः समभवन्
समस्तांस्तान्नत्वा लघुमतिरहं प्रार्थय इदम्।
अये भक्ता यूयं कुरुत रतिहीने मयि कृपां
ममाक्ष्णोः पन्थानं हरिरटतु रामेण सहितः॥

स्रग्धरावृत्तमेतत्

यस्याः पाठस्य मुख्यं फलमपि गदितं श्रीहरिप्राप्तिरेव
या दातुं तं समर्था परमपि पुरुषं भोग्यमन्तत्तु किन्नो।
तस्माद् भावानुसारं सकलजनमनोदोहदं पूरयन्ती
सानित्यं प्रादुरास्तांममरसनतरौचिन्मयीकाल्पवल्ली॥

एतां मालां श्रीहरिगले समर्पयति पञ्चचामरवृत्तेन—

विचित्रवृत्तगुच्छकैर्विचित्रभावगन्धकै—
विचित्रनामपुष्पकैर्विचित्रभक्तिसूत्रकैः।
हरे मुदा विनिर्मिता समर्पिता गले च ते
मुदं तनोतु भक्तनाममालिकेयमाशु ते॥

अधुना ग्रन्थसमाप्तिकालमभिधत्ते तूणकवृत्तेन—

पक्षशून्यशून्यपक्षकैमिते तु वत्सरे
विक्रमार्कभूपतेश्च मार्गशीर्षमासके।
शुक्लपक्षपञ्चमीतिथावियं समापिता
सूर्यजातटीकुटीरवासिना तु केनचित्।

अधुना स्वकृतज्ञताप्रकाशनाय यस्य दयया भक्तिभाग-भवं स इमां मम कृतिं दृष्ट्वा प्रसन्नो भवतु जीया-च्चेत्याह सनामनिर्देशमार्यावृत्तद्वयेन—

यस्य दयालववलतो वलहरिपदयोर्ममानुरागोऽभूत्।
स कृतिमिमां मम दृष्ट्वा तुष्टः प्रेष्ठो हरेर्भूयात्॥
श्रीलरामहरिदास इत्यपराख्यापि यस्य विख्याता।
शिक्षानिदेशिको मे यः शास्त्रज्ञः स संजीयात्॥

(माहात्म्यम्)

श्रीभक्तनामस्रगियं मनुजैः स्वकण्ठे
यैर्धास्यते प्रतिदिनं हरिसन्निधाने।
भुक्त्वा हरेः करुणया भुवि सर्वसौख्यं
सम्प्राप्स्यते सुखतया हरिसन्निविस्तैः॥

इति श्रीनिखिलशास्त्रपारावारपारदृश्वसख्यवताराष्टोत्तरशतश्रीस्वामिश्रीकृष्णानन्ददासजीमहाराजशिष्येण काव्यवेदान्ततीर्थेन घटिकाशतकेन महाकविना श्रीवनमालिदासशास्त्रिणा गुम्फिता भक्तसहस्रनामेत्युपनाम्नी श्रीभक्तनाममालिका सम्पूर्णा॥

श्रीहरिः

अथ श्रीवैष्णव दासजी कृत

श्री भक्तमाल माहात्म्य

दो० श्रीनारायणदासजू कृत भक्तन्ह की माल। पुनि ताकी टीका करी प्रियादास सुरसाल ॥
ताको साधुन्ह के कहे कहौं महातम बानि। लै ग्रन्थन मत आधुनिक परिचै रसको खानि ॥
भक्तन की महिमा कही कपिलदेव भगवान। नारायण आधीन हैं मैं कह कहौं बखान ॥
सब संसार सुआरसी जन महिमा प्रतिबिम्ब। रति दृग बिन सूझै नहीं अन्धेको वह बिम्ब ॥
वेद शास्त्रके श्रवणको अतिफल हरि निरधार। सो याके श्रोता अहैं महिमा अगम अपार ॥
भयो चहै हरि पाँति को सुनै सोइ हरषाय। तहाँ दोय इतिहास हैं सुनिये चित्त लगाय ॥

चौ०–प्रियादास जू के सुमित्रवर। श्री गोवर्धन नाथ नाम कर ॥
ते श्रीभक्तमाल रंग छाये। पढि सांभरि की रामति आये ॥
मगमें श्रीगोविन्द देव जो। तिनके दरशन को गमने सो ॥
तहं श्रीराधारमन पुजारी। हरि प्रिय रसिक अनन्य सुभारी ॥
तिन तिनकों राखो अटकाई। भक्तमाल सुनिवे के ताईं ॥
होन लगी तहं भक्त सुमाला। जहाँ विराजत गोविन्द लाला ॥
जयपुरवासी सुनिवे आवैं। प्रेम मुदित ह्वै अश्रु बहावैं ॥
कछु दिन बांचि बन्द करिदीनी। श्रोतन ते निश्चय यह कीनी ॥
सांभरि की रामति करि आऊँ। तब ही पूरी कथा सुनाऊँ ॥
रामति गए बगदि फिरि आए। कथा कहन को फिरि बैठाए ॥
कहँ तक भई सँभार सु नाहीं। श्रोता अरु वक्ता भ्रम माहीं ॥
श्रीगोविन्द देव विख्याता। कही पुजारी सों यह बाता ॥
श्री रैदास भक्त की गाथा। भई कहो आगे अब नाथा ॥

दो०–सुनि सु पुजारीके दृगन पानी बह्यौ अपार। याके श्रोता आर हैं यह कीनी निरधार ॥

चौ०–पुनि दूजो इतिहास सुनो अब। प्रियादास टीका कीनी जब ॥
तब व्रज परिकरमा महँ आए। फिरत फिरत होड़ल जा छाये ॥
लालदास तहं रहे महन्ता। जन सेवी अनन्य रसवन्ता ॥
सब समाज तिन रोकि सुलीनो। बांचौ भक्तमाल हठ कीनो ॥

भक्तमाल तहं होन सु लागी। सुनन लगे सब लोग सुभागी ॥
इक दिन निशि तहँ आएचोरा। सबै वस्तु लीनी टकटोरा ॥
ठाकुर हू को ते लै गए। हरि ही के ये कौतुक नए ॥
प्रात भये सबही दुख छाये। प्रियादास हू अति अकुलाये ॥
कही कथा न रसोई कीनी। महा दुक्ख में मति अति भीनी ॥
ठाकुर को ये चरित न प्यारे। ताते चोरन सङ्ग पधारे ॥
श्रीमहन्त बोले करजोरी। हम कहँ तजि ठाकुर गे चोरी ॥
तुमहू त्याग करोगे जो पै। मेरी कुगति होयगी तोपै ॥
ताते हरि इच्छा मन दीजे। कहिये कथा रसोई कीजे ॥
प्रियादास बोले यों सुनहू। अब मैं कथा न कहिहों कबहूँ ॥
श्रीनाभा यों वचन उचारे। हरि को जन चरित्र ये प्यारे ॥
सो झूठी अब भई यहांई। कथा त्यागि हरि गये पराई ॥

दो०—यों कहिकै भूखे रहे काहुहि परी न चैन। सुपने चोरन ते कहैं ठाकुर जू यों बैन ॥

चौ०—मोहि जहां को तहँ करि आओ। नातर तुम बहुतै दुख पाओ ॥
इक दुख भक्त रहे दुख माहीं। भक्तमाल पुनि सुनो सु नाहीं ॥
दुहरै दुक्ख परे है हम पर। चौहर दुख डारूँगो तुम पर ॥
सुनिकै चोर उठे अधराता। ठाकुर को लै हरषित गाता ॥
गावत बजवत नाचत आये। सङ्ग सकल सामग्री लाये ॥
प्रातः काल होन नहिं पायो। समाचार द्विज एक सुनायौ ॥
चोर तिहारे ठाकुर लावत। नाचत गावत बजवत आवत ॥
सुनि सब साधु निपट हरषाये। करत कीरतन सनमुख धाये ॥
सुधि बुधि गई प्रेम में छाये। जाय परस्पर लपटत भाये ॥
चोरहुकछु कहि सकै न बतियाँ। दृग भरि आवत फाटत छतियां ॥
आंसू पोछत गद गद बानी। सुपने की सब कथा बखानी ॥
सुनि सबने अति ही सुख पायो। प्रेम मगन मन दुक्ख नसायौ ॥
मन्दिर में प्रभु को पधरायौ। बहुमङ्गल उच्छव करवायौ ॥
भक्तमाल की कथा सुहाई। नाम कीरतन सहित कहाई ॥
याके श्रोता श्रीहरि अहहीं। पुनि पुनि साधु प्रेमवश कहहीं ॥

दो०–हाथ कंकनहिं आरसी कहा दिखाये माँहि। हरि श्रोता विन सवनके मनयों अटकतनाँहि ॥

चौ०–श्रोता वक्ता को फल जोई। कापै कहि आवत है सोई ॥
जो लिखाय राखै उर माहीं। अन्त समै हरि प्राप्ति कराहीं ॥
तहां एक सुनिये इतिहासा। क्वौ जन प्रियादास के पासा ॥
आय कही म्वंहि देहु लिखाई। भक्तमाल सुन्दर सुखदाई ॥
प्रियादास पूछी सुखराशा। कहन सुनन कछु है अभ्यासा ॥
तिन कह मैं कछु कहन न जानौं। सुनिवे हू की गति न पिछानौं ॥
आपु कही तव करिहौ काहा। वात सुनाय दिखाई चाहा ॥
महाराज मै जग व्यौहारी। गृह कामन में अटक्यौ भारी ॥
साधु संग को अवसर नाहीं। ताते मैं सोची मन माहीं ॥
मरती वार हिये पर धरिहौं। इतने साधुन संग उवरिहौं ॥
सुनि यह वात नेत्र भरि आये। वहुत वड़ाई करि सुख छाये ॥
ताको पोथी दई लिखाई। सो लै घर गवन्यौ सुखपाई ॥
घर कारज में अटक्यौ भारी। आई ताहि मीच भयकारी ॥
जम के दूतन आय दवायो। दई त्रास अरु कण्ठ रुकायो ॥
वेटा पोते ढिग विललाता। नैन सैन दै कही सुवाता ॥
भक्तमाल की पोथी लाई। मम छाती ते देहु लगाई ॥
ते उठाय पोथी लै आये। धरि छाती पर अचरज छाये ॥
धरतहिं यमके दूत भजे यों। सूरन के आगे कायर ज्यौं ॥
कण्ठ खुल्यौ नैननि जल डारचौ। हरे कृष्ण गोविन्द उचारचौ ॥
वहु भक्तन के दरशन पायौ। हिये मांझ आनन्द समायौ ॥
सुत हरपित सब पूछत वाता। कहा भयो सो कहिये ताता ॥
तिन कह यम दूतन दुख दीनौ। भक्तनि अव उवारि मैं लीनौ ॥
नाम देव रैदास कवीरा। सेन धना पीपा अति धीरा ॥
ठाढ़े सकल कहत हैं वाता। हमरे संग चलो अव ताता ॥
सो मैं अव इनके संग जैहौं। जम दूतन के मुख न चितैहौं ॥
यह कहि रामकृष्ण उच्चारत। नैन मूंदि हरिको उर धारत ॥
प्रान त्यागि हरि धाम सिधायौ। वेटन के उर अति सुख छायौ ॥
तव ते तिनने नेम करे हैं। अन्त समय उर ग्रन्थ धरे हैं ॥

तिनको कुटुम बर्नहि को आयौ। तिननि सबै यह चरित सुनायौ ॥
सो हम लिखन कियौ है सही। सब दिन भक्तनि महिमा रही ॥
शेष महेश जासु गुन गावै। तेऊ चरण रेणु मन लावै ॥
आपु ते अधिक दास को गावैं। जन की महिमा कहि नहि आवै ॥
प्रियादास अति ही सुखकारी। भक्तमाल टीका बिस्तारी ॥
तिनको पौत्र परम रंग भीनो। वैष्णवदास महातम कीनो ॥

दो०—भक्तमाल की गन्धको,लेत भक्त अलि आय।
भेक विमुख ढिग ही बसैं, रहे कीच लपटाय ॥

॥ इति श्रीभक्तमाल माहात्म्य सम्पूर्णम् ॥
मिती माह वदी ६ सम्बत् १८८६ वृन्दावन

भगवद्भक्तेभ्यो नमः

छन्द प्रमाणिका

नमामि भक्तमाल को

पढ़ै जो आदि अन्त लौं, बढ़ै सो पर्म तन्त लौं।
दहै अनन्त साल को, नमामि भक्तमाल को ॥१॥
कथा करै जो याहि की, व्यथा रहै न ताहि की।
मिलै सो रामलाल को, नमामि भक्तमाल को ॥२॥
प्रकार नौ कि भक्ति जो, सो अङ्ग होत शक्ति सो।
कहै गिरा रसाल को, नमामि भक्तमाल को ॥३॥
गहै अनन्य भाव है, लहै सुभक्ति भाव है।
यही प्रमाण भाल को, नमामि भक्तमाल को ॥४॥
अभक्त भक्तिको लहै, न भूलि मुक्ति को चहै।
गिनै सो तुच्छ काल को, नमामि भक्तमाल को ॥५॥
करै जो पाठ प्रात में, सरै सुकाज गात में।
हरै हि कर्मजाल को, नमामि भक्तमाल को ॥६॥
मिलाय दुग्ध तक्र ते, जु होत सर्प चक्र ते।
तथा सुबुद्धि वाल को, नमामि भक्तमाल को ॥७॥
वहूपमा कहौं कहा, कहे न पार को लहा।
वखान सूर्य ख्याल को, नमामि भक्तमाल को ॥८॥

समर्पण

ज्ञानगूदरिकारत्नं, वृन्दावन विहारिणम् ।
पण्डितं श्रीजगन्नाथदासं भक्तमालिनम् ॥१॥
भक्तानां भक्तिदातारं, निम्बादित्यानुगामिनम् ।
प्रसन्नवदनं वन्दे, वन्दनीयं विवेकिनम् ॥२॥

साम्प्रतं यत्कृपातो महादुर्लभो—
भक्तमालारसः सज्जनैः स्वाद्यते ॥
पण्डितः श्रीजगन्नाथदासः स वै,
दासदासानुदासं सदा स्वीकरोतु ॥३॥

श्रीहरिगुरु हरिदास चरण अरविन्द मधुपवर ।
भक्तमाल भागवत कथा अति कहत मनोहर ॥
दरसन परम पुनीत गिरा गम्भीर नीरधर ।
सबसों हित निष्काम श्याम श्यामा राजत उर ॥
नित मगन रहत रस सिन्धुमें, पुलकित तन गदगद वयन ।
श्रीजगन्नाथ के दास जनु, जगन्नाथ करुणा अयन ॥

श्रीवृन्दावन वास रसिक कुल कुमुद सुधाकर ।
महामोह तम-तोम नाशकर विमल विभाकर ॥
सौम्य सुशील उदार सरलता सीम दयाकर ।
सन्त जनन्ह सुखदेत सदा श्रीहरिगुण गाकर ॥
सुख विलसत युगल किशोर वर, नित्य जासु उर अमल में ।
यह ग्रन्थ समर्पित तिनहिं के, अति पुनीत करकमल में ॥

दासानुदास—गणेशदास, रामेश्वरदास

पूज्यपाद पं. श्री जगन्नाथ प्रसाद जी भक्तमाली
श्रीधाम वृन्दावन

सूची-पत्र

दृष्टान्त सूची-पत्र

श्रीप्रियादास कृत भक्तमाल बन्दना

नमो नमो श्रीभक्त सुमाल ।

जाके सुनत महातम नाशत, उर झलकत राधा नन्दलाल ॥

गदगद स्वर पुलकत अंग अङ्गन, लोचन बरसत अंसुवन जाल ।

उतरि जात अभिमान व्याल विष, लेत जिवाय सुरस तिहिंकाल ॥

होत प्रीति हरि भक्त जनन्ह सों, लेत शीघ्र हठि चरण प्रछाल ।

तजत कुसङ्ग लेत सत सङ्गति, भाग जगत कोउ अद्भुत भाल ॥

निशिवासर सोवत अरु जागत, रोम रोम ह्वै करत निहाल ।

श्रीअग्रनारायणदास प्रियाप्रिय, प्रगटी जीवन रसिक रसाल ॥

श्रीनाभा जी का दैन्य

बातन ही हौ पतित पावन ।

मो ते काम परे जानहुगे, बिन रन सूर कहावन ॥

सतयुग त्रेता द्वापर हूके, पतितन को गति आपी ।

उन्हैं हमैं बहुतै अन्तर है, हम कलियुग के पापी ॥

कोउ टांक द्वै टांक पौसेरा, बड़ी बड़ाई सेर ।

हौं पूरन पतिताई ऐसो, ज्यौं पाषानिनि मेर ॥

हौं दिनमनि खद्योत आन खल, अविद्या कोजु उजागर ।

गोपद पावन के न सरवरै, हौं दुरमति जल सागर ॥

पतितपावन है विरद तिहारो, सोइ करो परमान ।

पाहन नाव पार करो 'नाभा', कै हरि पकरौ कान ॥

अङ्गश्यामलिमच्छटाभिरभितो सन्दीकृतेन्दीवरं
जाड्यञ्जागुडरोचिषां विदधतं पट्टाम्वरस्य श्रिया ।
वृन्दारण्य–निवासिनं हृदि लसद्दामाभिरामोदरं
राधास्कन्ध-निवेशितोज्ज्वल-भुजं ध्यायेम दामोदरम् ॥

॥ श्रीजानकीवल्लभो विजयते ॥
॥ श्रीमद्भगवद्भक्तेभ्यो नमः ॥
॥ श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ॥

श्रीभक्तमाल

(पूर्वार्द्ध मात्र)

अथ मंगलाचरण

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च, कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो, वैष्णवेभ्यो नमो नमः ॥१॥
सीतानाथसमारम्भां, रामानन्दार्यमध्यमाम् ।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां, वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥२॥
भक्त भक्ति भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक ।
इनके पद वन्दन किये नाशैं विघ्न अनेक ॥३॥
बन्दउँ गुरु पद कंज, कृपासिन्धु नर रूप हरि ।
महा मोह तम पुंज, जासु वचन रविकर निकर ॥४॥
बार-बार वन्दन करौं, (श्री)नाभा आभा ऐन ।
काढ्यौ गाभा वेद को, (श्री)भक्तमाल रस दैन ॥५॥
(श्री)प्रियादास पद कमल पुनि, वन्दउँ बारम्बार ।
कीन्ह भक्तिरस बोधिनी, टीका अति सुखसार ॥६॥
चारि जुगन में भक्त जे, तिनके पद की धूरि ।
सर्वसु सिर धरि राखिहौं, मेरी जीवन मूरि ॥७॥

टीकाकार कृत मङ्गलाचरण एवं आज्ञा निरूपण—

टीका भक्तिरस बोधिनी

महाप्रभु कृष्णचैतन्य मनहरनजू के चरण कौ ध्यान मेरे नाम मुख गाइयै।
ताही समय नाभाजू ने आज्ञा दई लई धारि टीका विस्तारि भक्तमाल की सुनाइयै।।
कीजियै कवित्त बंद छन्द अति प्यारो लगै जगै जग माँहि कहि वाणी विरमाइयै।
जानों निजमति ऐ पै सुन्यौ भागवत शुक द्रुमनि प्रवेश कियो ऐसेई कहाइये।।१।।

शब्दार्थ—महाप्रभु=परम समर्थ, वैष्णवाचार्य। मनहरन=मन को हरने वाले, श्रीमनोहरदास जी (श्रीप्रियादास जी के गुरुदेव) बंदछन्द=छन्दोबद्ध, कवितामयी। जगै= प्रसिद्ध हो। प्रकाशित हो। जगमगाये। विरमाइये=विश्राम लिया, विश्राम दीजिये। विशेषरूप से रमण कराइये। वा विलमाइये= लगाइये। द्रुमनि= वृक्षों में।

भावार्थ—श्रीप्रियादासजी भक्तमाल की भक्ति रसबोधिनी टीका का मङ्गलाचरण एवं इस टीका के लिखे जाने का हेतु बताते हुए कहते है कि—एक बार मैं महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य एव गुरुदेव श्रीमनोहर-दासजी के श्रीचरणकमल का हृदय में ध्यान और मुख से नाम संकीर्तन कर रहा था उसी समय श्रीनाभा जी ने मुझे आज्ञा दी। जिसे मैंने शिरोधार्य कर लिया। वह आज्ञा यह थी कि श्रीभक्तमाल की विस्तार-पूर्वक टीका करके सुनाइये। टीका कवित्त छन्दों में कीजिये, जो कि अत्यन्त प्रिय लगे और संपूर्ण संसार में प्रकाशित हो, प्रसिद्ध हो, जगमगाये। वा ऐसी कवितामयी टीका कीजिए कि मेरा छप्पय छन्द भो अत्यन्त प्यारा लगने लगे तथा संसार में प्रसिद्ध हो। इस प्रकार भक्तों का चरित्र कहकर अपनी वाणी को विश्राम दीजिये, वा भक्तों का चरित्र कहने में वाणी को लगा दीजिए। ऐसा कहकर श्रीनाभा जी ने वाणी को विश्राम दिया। वा श्रीनाभाजी की वाणी ने विश्राम लिया। तब मैंने भावना मे ही निवेदन किया कि—मैं तो अपनी बुद्धि को जानता हूँ कि वह टीका करने में सर्वथा असमर्थ है। परन्तु मैंने श्रीमद्-भागवत में सुना है कि श्रीशुकदेव जी वृक्षो में प्रवेश करके स्वयं बोले थे वैसे ही आप भी मेरी जड़मति में प्रवेश करके कहला लेगे अर्थात् टीका रचना करा लेगे।

व्याख्या—'महाप्रभु'=कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः। यथा- **अम्भोधिः स्थलतां स्थलं जलधितां धूलीलवः शैलतां, शैलो मृत्कणतां तृणं कुलिशतां वज्रं तृणक्षीणतां। वह्निः शीतलतां हिमं दहनतामायाति यस्येच्छया, लीला दुर्ललिताद्भुतव्यसनिने कृष्णाय तस्मै नमः।।** (पद्यावली ६)

अर्थ—जिनकी इच्छा शक्तिसे समुद्र स्थल और स्थल समुद्र बन जाता है एवं धूलिकण पर्वत तथा पर्वत धूलिकण, तृण वज्र और वज्र तृण से भी बलहीन, अग्नि शीतल एवं परम शीतल हिम भी अग्नि भाव को प्राप्त हो जाता है अतएव जिनकी लीला शक्ति दुर्ज्ञेय है एवंभूत सर्वथा अद्भुत श्रीकृष्ण के लिये हमारा कोटिशः प्रणाम है। पुन.—तृण तै कुलिस कुलिस तृण करई। (रामचरितमानस) **मसकहिं करहिं विरंचि प्रभु अजहि मसकते हीन** (वही) जो **चेतन कहँ जड़ करहि, जड़हि करहि चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि भजहि जीव ते धन्य।।** (वह) महाप्रभु कृष्णचैतन्य—परमात्मा प्रभु है और श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु है। यह कैसे ?

दृष्टान्त—दो मित्र थे। आगे चलकर उनमें से एक तो राजा हुआ, दूसरा कुसंग से पड़कर हाथ मे हथकडी, पाँव में वेडी, गले में तौक, ऊपर से पहरे मे चौकीदार, इस प्रकार कैद मे पड़ गया। महाकष्ट में पड़ा वह मित्र अपनी मुक्ति के सम्बन्ध मे विचार करते-करते उसने मन मे निश्चय किया कि सकट में मित्र ही सहायक होते हैं, यथा—विपति कालकर सतगुन नेहा। (रामचरितमानस) सो मेरा मित्र राजा है, समर्थ है उसीसे अपनी स्थिति निवेदन करनी चाहिये। फिर तो उसने अपने राजा मित्र के पास अपना हाल कह पठाया। तव राजा ने कहा कि यदि वह मेरे पास आ जावे तो छुड़ा दूँ। कैसा मधुर जवाव है। न तो वह राजा के पास जा ही सकेगा, न बन्धन से छूट ही सकेगा। दार्ष्टान्त मे—जीवात्मा और परमात्मा दो मित्र है। यथा—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया (श्वेताश्वतरोपनिषद अ० ४, श्लोक ६) परमात्मा राजा है। जीवात्मा बन्धन मे पड़ा हुआ नाना कष्ट भोग रहा है। यथा—**जिव जवते हरि ते बिलगान्यो। तव ते देह गेह निज जान्यो॥ माया वस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुण दुःख पायो॥** (विनय पत्रिका १३६) तहाँ गृह बन्धन ही वेडी है। स्त्री पुत्रादिकों का स्नेह ही हथकडी है। धनादिको का मोह ही तौक है और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँचो विषय ही जबरदस्त चौकीदार हैं। इस प्रकार परवश, बन्धन मे पड़ा हुआ, स्वय छूटने में असमर्थ, क्योंकि—भगवान के श्रीमुख के वचन हैं—**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।** (गीता७।१४) ऐसा जीव परमात्मा से वारम्बार विनती करता है कि मुझे बन्धन से छुडाइये तव भगवान कहते है कि तुम मेरी शरण मे आ जावो तो बन्धन से छूट जावोगे। यथा—**सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः॥** (गीता १८।६६) कैसा टकासा जवाव है। जीव तो इतने बन्धनो से जकड़ा हुआ है, वह भला शरणमे आही कैसे सकता है अतः यद्यपि भगवान समर्थ हैं। परन्तु जीव तो जब सन्त,सद्गुरु, आचार्य कृपा करके कथा, वार्ता, सत्सग, उपदेशादि के द्वारा उसके विविध बन्धनो को छिन्न-भिन्न करते हैं, तभी भगवत शरणागत हो पाता है अत. सन्त, सद्गुरु आचार्य परम समर्थ कहे गये है। इसीलिये श्रीकृष्णचैतन्य जी को महाप्रभु कहा गया है। क्योंकि आपने भगवान का नाम सुना सुनाकर अनन्त जीवो को बन्धन से मुक्त किया है। यथा—**कृष्ण नाम दिया जीवे कराव चैतन्य। ता कारने नाम तार श्रीकृष्ण-चैतन्य।** (चै० च०) **"महाप्रभु कृष्ण चैतन्य मन हरन जू के चरण को ध्यान"**—इसका अर्थ कई प्रकार से होगा। यथा— १—महाप्रभु श्रीकृष्ण और श्रीचैतन्य और श्रीमनोहरदास जी के चरण का ध्यान। (इस अर्थ मे श्रीकृष्ण और चैतन्य दोनो शब्द पृथक्-पृथक् माने गये है। (महाप्रभु सबका विशेषण है।) २—मनहरन शब्द को केवल विशेषण मानने पर—मनहरन श्रीकृष्ण और चैतन्य का ध्यान। ३—श्रीकृष्ण चैतन्य और मनोहरदास जी के चरण का ध्यान। ४—मनहरन श्रीकृष्णचैतन्य जी के चरण का ध्यान। ५—श्रीचैतन्य मनहरन श्रीकृष्णजी के चरण का ध्यान। ६—श्रीकृष्णजी एव श्रीचैतन्यजी के मन को हरने वाले श्रीमनोहरदास जी के चरण का ध्यान। यथा—**जन मन हरि लाल मनोहरनाव पायो उन्हूँ तो मन हरि लीनो याते राय हैं।** (भक्तमाल कवित्त ६३०) महाप्रभु और मनोहर शब्द, कृष्ण, चैतन्य मनोहर-दास जी, चरन और नाम सवका विशेषण है।

नाम सुख गाइए—से जनाया कि मैं भगवनाम संकीर्तन कर रहा था। माध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदाय मे कीर्तन को प्रधानता है। यहाँ ध्यान और जप दोनों कहा गया है। यही उत्तम विधि भी है। यथा—**तज्जपस्तदर्थ भावनम्** (पातञ्जलयोगदर्शन १।२८) अर्थ—साधक को ईश्वर के नाम का [illegible] और उसके स्वरूप का स्मरण चिन्तन करना चाहिये। पुन.—**जपहि राम धरि ध्यान उर सुन्दर स्याम सरीर।** (रामचरितमानस) श्रीप्रियादास जी का ध्यान **'इन्द्रियाणां लयोध्यानं'** [illegible]

श्रीकील्हदास जी के चरित्र में आता है कि यवन वदशाह ने माथे में कील ठुकवाई, इन्हें भान ही नहीं हुआ। इन्होने तो अपने ध्यान और जप के अभ्यन्तर श्रीनाभा जी का दर्शन किया और आज्ञा भी सुनी। यह उत्तम ध्यान योग है। यह नहीं कि स्वांग तो करे जप का,ध्यानका और मन माया का चिन्तन करता रहे।

दृष्टांत सिद्ध साधक का—दो ढोंगी थे। उन्होंने सलाह किया कि कही एकान्त जंगल में बैठकर कुछ धन द्रव्यादि कमाना चाहिये। फिर तो एक सिद्ध बना, एक साधक। पुजापा में आधा-आधा दोनों का हिस्सा होता। घोर जंगल में जाकर के वैठ गये। सिद्ध समाधि लगाते साधक पंखा करता। यदि कोई उस मार्ग से निकलता तो उससे भूरि-भूरि सिद्ध जी की प्रशंसा करता। एक वार उधर से ही राजा की सवारी निकली। सिद्ध ने ध्यान का स्वांग किया था। राजा के पूछने पर साधक ने **'लागि समाधि अखण्ड अपारा'** कह कर गौरव बढाया। राजा ने प्रभावित होकर दो मुहरें भेट की और प्रणाम कर चलता बना। राजा के चले जाने पर साधक ने एक मुहर उठा ली। सिद्ध ने आँखें खोलीं और पूछा कि दूसरी मुहर कहाँ गई। साधक ने कहा—एक मुहर ही चढ़ाई थी। सिद्ध ने कहा—नही, दो मुहरे भेट की थी। दो-चार वार एक-दो की कहा—कही हुई। अन्त में साधक ने पूछा—आपके नेत्र तो बन्द थे आपको कैसे मालूम कि दो मुहरें भेटकी। सिद्धने कहा—भेंट करते समय मुहरे आपसमें खटकी थीं। एक होती तो खटकती नहीं। तव साधकने कहा कि मैं समझगया आपका ध्यानतो केवल मुहरोंके खटके में ही था, अरे थोड़ा वहुत तो परमात्मा का भी ध्यान करते। तात्पर्य ऐसा ध्यान नहीं करना चहिये। शंका-ध्यान और नामसंकीर्तन दोनों साथ-साथ कैसे सम्भव हैं ? समाधान-सिद्धावस्था में दोनों एक साथ सम्भव हो जाते है। जैसे—श्रीभरतजी महाराज ने मृग शरीर में भगवान का ध्यान करते हुए तथा वाणी से हरे कृष्णगोविंद नामका उच्चारण करते हुए वह मृग शरीर छोड़ा था। ऐसेही श्रीप्रियादासजी भी ध्यान और नाम गान दोनों ही कर रहे थे। इस कवित्त की प्रथम पक्ति में भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु, चारों का ही स्मरण किया गया है। श्रीकृष्ण भगवान, श्रीचैतन्य भक्त, मनहरन गुरु और चरण का ध्यान तथा नाम गान भक्ति। अथवा महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य का स्मरण करने से भक्त भक्ति, भगवन्त और गुरु का स्मरण हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ही श्रीचैतन्य रूप से प्रगट हैं अतः आपका स्मरण भगवान का स्मरण हुआ। आप अपने परिचय में अपने को'**गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः**'कहते हैं अतः भक्त भी हैं। हितोपदेष्टा, मन्त्र प्रदाता होने से गुरु भी हैं और जैसा कि भक्ति-स्वरूप वर्णन में श्रीप्रियादास जी ने लिखा है कि—'**भक्ति रसरूप को स्वरूप यहै छविसार चारु हरिनाम लेत अँसुवन झरी है।**' (श्रीभक्तमाल कवित्त ६) आपकी भी "**और एक न्यारी रीति आंसू पिचकारी मानो उभै लाल प्यारी भाव सागर समात है।**" (श्रीभक्तमाल कवित्त ३२८ अतः मूर्तिमान भक्ति स्वरूप भी है।

ताही समय—जव मन वाणी समाहित होकर इष्ट और गुरु के चरण चिन्तन और नाम संकीर्तन में तन्मय हो रहे थे। शरीर की दशा लोकवाह्य थी, उसी समय यह दिव्य सन्देश मिला।

नाभाजू ने आज्ञा दई—प्रश्न-श्रीनाभा जी का तो लगभग १०० वर्ष पूर्व परमधाम गमन हो चुका था। फिर आज्ञा कैसे दिये ? समाधान-नित्यधाम में भक्त सदा दिव्य भाव तनु से निवास करते है और भावानुसार भक्तो को दर्शन भी देते हैं। भगवान की तरह से भक्त भी नित्य और व्यापक होते हैं।"**न मे भक्तः प्रणश्यति**"(गीता ९।३१)। जैसे-श्रीहरिराम व्यासजीको श्रीकवीरदासजी श्रीयमुनाजी से प्रगट होकर दर्शन दिये, वार्तालाप किये। श्रीतुलसीदासजी से श्रीकवीरदासजो आकाश मार्ग से आकर मिले। दक्षिण देश के एक भक्त रूप रसिक जी को श्रीहरिव्यास देवाचार्य जी ने परमधाम से आकर

मन्त्रोपदेश किया। श्रीहित हरिवंश जी ने भी सेवक जी को नित्यधाम मे आकर मन्त्रोपदेश किया था। जैसे गोपाल भक्त तथा विष्णुदास जी को श्रीनामदेव जी तथा श्रीकबीरदास जी ने दर्शन दिया था। वैसे ही श्रीनाभा जी ने भी दर्शन देकर आज्ञा दी थी। पूर्व के वर्णित कथा प्रसंग आगे इनके छप्पय कवित्तों की व्याख्या मे वर्णन किये जायेंगे। प्रश्न—तत्कालीन किसी और सत को टीका विस्तार की आज्ञा न देकर श्रीप्रियादास जी को ही टीका विस्तार की आज्ञा क्यो? समाधान—वैसे तो किसी को भी आदेश देने पर यह शंका हो सकती है फिर भी १—इनका हृदय प्रेम लक्षणा भक्ति से परिपूर्ण था। २—सन्तों मे इनका वडा अनुराग था। ३—वडे गुरुनिष्ठ थे। ४—भगवत भागवत प्रीति भाजन थे। ५—कवि भी थे। ६—और सवसे वड़ी वात यह कि 'भक्त भक्ति ·········वपु एक' यही सिद्धांत इनका भी था। इस प्रकार सैद्धान्तिक एकता थी और साम्प्रदायिक पक्षपातशून्य थे। जिसका होना भक्तमाल टीकाकार के लिये परमावश्यक है। क्योकि श्रीभक्तमाल जी मे सभी सम्प्रदाय के सन्तो का वर्णन है। श्रीप्रियादास जी के सम्बन्ध मे रीवाँ नरेश श्रीरघुराजसिंह जी स्वकृत 'श्रीराम रसिकावली' भक्तमाल मे कहते हैं कि—**प्रियादास एक सन्त प्रधाना। शिष्य मनोहर दास सुजाना॥ तेहि किय साधु चरण अति प्रेना। साधु सेव तजि द्वितिय न नेमा॥** (रामरसिकावली पृष्ठ ५८०) इन समस्त आवश्यकीय सद्गुणो को श्रीप्रियादास जी मे वर्तमान देखकर श्रीनाभाजी ने इन्ही को आज्ञा दी।

'टीका विस्तार भक्तमाल की सुनाइये'—श्रीनाभा जी ने मूल भक्तमाल का छप्पय छन्दो मे सूत्ररूप से वर्णन किया है। परन्तु केवल मूल मात्रसे ही भक्त चरित का विस्तार न होता हुआ देखकर सर्वजन हिताय विस्तार करने की आज्ञा दी।

'कीजिये कवित्त वंद छंद'—साथही यहभी सकेत कर दिया कि वह टीका कवितामयी हो। क्योकि कविता के माध्यम से वर्णित चरित्र श्रोतावक्ता को विशेष श्रवण सुखद और मनोहारी होते हैं तथा कहने सुनने मे प्रमाण भी वन जाते हैं। तथा इसी में यह भी जना दिये कि कविता भी कवित्त छन्दो मे हो। प्रश्न—विविध छन्द भेद होते हुये भी कवित्त छन्द में ही रचना करने का इतना सुस्पष्ट सकेत क्यो? समाधान—छन्द अति प्यारो लगै। वात भी सत्य है। पढने सुनने मे जो रोचकता कवित्त छन्द मे है। रसो का जैसा प्रवाह कवित्त छन्द मे उमडता हुआ पाया जाता है वैसा अन्य छन्दो मे नही। यही कारण है कि पूर्व के प्रायः सभी राज दरबारी कवियो ने अपनी रचनायें विशेषकर इसी छन्द में रची है। बहुत से रस तो छन्द विशेप में ही निखरते है परन्तु कवित्त मे सभी रस साकार हो उठते है अत. कीजिये कवित्त॰ ऐसा कहा। छन्द अति प्यारो लगै का दूसरा अर्थ भावार्थ मे दिया गया है। जगै जग का भावार्थ के अतिरिक्त एक अर्थ यह भी है कि ऐसी टीका करिये कि जिसे पढ सुन कर संसार के लोग मोह निद्रा से जग जावें।

जानौं निजमति—यथा—**कवि न होउँ नहि वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्याहीनू। निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं।** ········" (श्रीरामचरितमानस) "सुन्यौ भागवत ········परमारथ"—प्रसग इस प्रकार से है—यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं, द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव। पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूत हृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥ (श्रीमद्भागवत १.२.२) अर्थ—जिस समय श्रीशुकदेव जी का यज्ञोपवीत संस्कार भी नही हुआ था। लौकिक वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का अवसर भी नहीं आया था। उन्हे अकेले ही सन्यास लेने के उद्देश्य से जाते देख कर उनके पिता व्यास जी विरह से कातर होकर पुकारने लगे—'बेटा! बेटा!' उस समय तन्मय होने के कारण श्रीशुकदेव जी की ओर से वृक्षों ने उत्तर

दिया। ऐसे सबके हृदय में विराजमान श्रीशुकदेव मुनि को मैं नमस्कार करता हूँ। श्रीशुकदेवजी योगीश्वर है, वृक्षो मे व्याप्त होकर पिताजी को समझाए। उसी प्रकार आप मुझमें प्रविष्ट होकर टीका कराइयेगा। महाप्रभु कृष्णचैतन्य और श्रीमनोहरदास के ध्यान से प्रियादास जी का माध्व गोड़ेश्वर सम्प्रदायानुयायी होना पाया गया। आपकी गुरु परम्परा इस प्रकार से है—श्रीगौराङ्ग महाप्रभु। श्रीगोपालभट्ट जी, श्री श्रीनिवासाचार्य जो, श्रीमनोहरदास जी, श्रीप्रियादास जी।

टीका का नाम स्वरूप वर्णन

रची कविताई सुखदाई लागै निपट सुहाई औ सचाई पुनरुक्ति लै मिटाई है।
अक्षर मधुरताई अनुप्रास जमकाई, अति छबि छाई मोद झरी-सी लगाई है॥
काव्य की बड़ाई निज मुख न भलाई होति नाभा जू कहाई, याते प्रौढ़िकै सुनाई है।
हृदै सरसाई जो पै सुनिये सदाई, यह 'भक्तिरस बोधिनी' सुनाम टीका गाई है॥२॥

शब्दार्थ—रची=रचना की, बनाई। कविताई= कविता, काव्य। निपट=अत्यन्त। सुहाई= सुन्दर। सचाई=सच्ची, सत्यता। पुनरुक्ति=कहे हुए को फिर कहना, जो एक दोप है (पुनः+उक्ति) अनुप्रास=एक अलंकार, जिसमें एक पद या अक्षर का वारम्वार प्रयोग किया जाता है। जमकाई= जमाया, प्रयोग किया, यमक=एक शब्दालंकार जिसमें एक ही शब्द का भिन्न अर्थों में कई वार प्रयोग किया जाता है। मोद=आनन्द, प्रसन्नता। झरी=लगातार वर्षा। प्रौढ़ि कै=निश्चय करके, बढा करके, धृष्टता—ढिठाई करके। सरसाई=रसमय होता है। सरसता। भक्तिरस बोधिनी=भक्ति के पाँचों रसों का अनुभव कराने वाली। सुनाम=सुन्दर नाम वाली।

भावार्थ—इस कवित्त में श्रीप्रियादास जी अपने काव्य की विशेपतायें एवं टीका का नाम वताते हुये कहते हैं कि—मैंने टीका काव्य की ऐसी रचना की है जो पाठकों और श्रोताओं को सुख देने वाली है और अत्यन्त सुहावनी लगती है। इसमें सचाई है अर्थात् सत्य-सत्य कहा गया है। पुनरवित दोष को मिटा दिया गया है अर्थात् आने ही नहीं दिया गया है। अक्षरों की मधुरता, अनुप्रास और यमक आदि अलङ्कारों से अत्यन्त सुशोभित होकर इस टीका काव्य ने आनन्द की झरी-सी लगा दी है। अपने काव्य की अपने मुख से प्रशंसा करना अच्छा नहीं होता, परन्तु इसे तो श्रीनाभा जी ने कहवाया है, इसीसे इसकी प्रशंसा निःशंक होकर दृढ़तापूर्वक सुनाई है। यदि नीरस हृदय व्यक्ति भी सदा श्रवण करे तो उसके हृदय में सरसता होगी और सरस हृदय वाले के लिये वारम्वार सुनने पर भी यह टीका उत्तरोत्तर सरस प्रतीत होगी। ऐसी यह 'भक्तिरस वोधिनी' सुन्दर नामवाली टीका गाई है, जो भक्ति के सभी रसों का वोध कराने वाली है॥२॥

व्याख्या—'रची कविताई'—रचनेका अर्थ रंगना भी होता है। जैसे मेहँदी रचाना। रची अर्थात् रंगीन कविताको, उसका स्वरूप—**थोरे अक्षर सरस हित अधिक चोज तिन माँहि। सोइ रंगीन कविता कही, और दूसरी नाँहि॥** भाव यह कि मैंने कविता में रंग ला दिया है। रंग लाने का भाव यह कि हृदय के भाव मूर्तिमान हो गये हैं साकार हो गये हैं। समझने मे प्रयत्न नहीं करना पड़ता है सुनते ही मन मुग्ध हो जाता है। यथा—**'पिय लखि सिय की माधुरी, तृण तोरन के चाइ। भोरें धनुष उठाइकै तौरचौ सहज सुभाइ॥** (पुरानी भक्तमाल टिप्पणी)। कैसी कविता रची? कहते हैं कि **'सुखदाई'**।

सर्व सुखदाई कविताही वास्तवमें कविता है । यथा —कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई । (श्रीरामचरितमानस) और ऐसी कविता का लक्षण है—सरल कवित कीरति विमल, गावहिं सुनहिं सुजान । सहज बैर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान ॥(श्रीरामचरितमानस)और ऐसी कविता भी बनती तब है, जब—हृदय सिन्धु मति सीप समाना । स्वाति सारदा कहहिं सुजाना । जौं बरसै बर बारि बिचारू । होहिं कवित मुक्ता मनि चारू ॥ (श्रीरामचरितमानस) और यह सम्भव है भगवत्कृपा से । यथा—शारद दारु नारि सम स्वामी । राम सूत्र धर अन्तर्यामी ॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी । कवि उर अजिर नचावहिं बानी ॥ कविता के सुखदाई होने का हेतु पूरे पद मे वर्णित है ।

'निपट सुहाई'—भक्त, भक्ति, भगवन्त गुरु के नित्य, निरवधिक, असंख्येय कल्याण गुण गणों से, उनके स्वरूप और स्वभाव-सौष्ठव से समलकृत होने से, एवं साथ-साथ काव्य गुण पूरित होने से निपट सुहाई कहा । काव्य गुण पूरित कविता सुहाई होती है । साथ-साथ भगवत भागवत यश समलंकृत होने से कविता निपट सुहाई हो जाती है । एक बात स्मरण रखने की है कि केवल काव्य गुण अलकार आदि ही काव्य की वास्तविक शोभा नही है । वास्तविक शोभा तो भगवत भागवत गुण वर्णन ही है । यथा—भनिति बिचित्र सुकवि कृत जोऊ । रामनाम बिनु सोह न सोऊ ॥ विधु बदनी सब भाँति सँवारी । सोह न बसन बिना बरनारी ॥ सब गुन रहित कुकविकृत बानी । राम नाम जस अंकित जानी ॥ सादर कहहिं सुनहिं बुधताही । मधुकर सरिस संत गुन ग्राही ॥(रामा०) पुनः—न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो, जगत् पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् । तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ॥ तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो, यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि । नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥ अर्थ—जिस वाणी से, चाहे वह रस-भाव-अलकारादि से युक्त ही क्यो न हो, जगत को पवित्र करने वाले भगवान श्रीकृष्ण के यश का कभी गान नही होता, वह तो कौओं के लिये उच्छिष्ट फेकने के स्थान के समान अपवित्र मानी जाती है । मानसरोवर के कमनीय कमलवन मे विहरने वाले हंसों की भाँति ब्रह्मधाममे विहार करने वाले भगवच्चरणारविन्दाश्रित परमहंस भक्त कभी उसमे रमण नही करते । इसके विपरीत जिसमें सुन्दर रचना भी नही है और जो दूषित शब्दों से युक्त भी है, परन्तु जिसका प्रत्येक श्लोक भगवान के सुयश सूचक नामों से युक्त है, वह वाणी लोगों के सारे पापों का नाश कर देती है, क्योंकि सत्पुरुष ऐसी ही वाणी का श्रवण गान और कीर्तन किया करते हैं । (श्रीमद्भागवत १।५।१०,११)

'सचाई'—का भाव यह कि टीका में वर्णित समस्त विषय परम सत्य है । क्योंकि—दिव्य दृष्टि हरिजनन कृपा ते श्रीनाभा ने पाई । पुनः अग्रने आयसु के संग आशिष दई सुहाई ॥ ध्यावत अपनो चरित रूप सब भक्त आय दिखरावैं । देखि सत्य गायो श्रीनाभा सो मोते कहवावैं ॥ (श्रीभक्तवल्लभा टिप्पणी) सचाई की दुहाई देने का हेतु यह है कि—संसारी जे बहु कुकवि, लोभ मोह वश जस कहैं । मिथ्यावादी अजस लहि, पुनि परत्रहू दुख लहैं ॥ यथा—कमले वसति ब्रह्मा, हरिश्शेते च वारिधौ । हरो हिमालये शेते, मन्ये मत्कुणशंकया ॥ (अज्ञात) अर्थ—ब्रह्मा कमल मे वसते हैं, हरि समुद्र में तथा हर हिमालय पर सोते हैं । क्यों ? मैं जान गया, खटमल के भय से । उक्त श्लोक छन्द दृष्टि से ठीक होने पर भी सत्यांश न होने से व्यर्थ है । ऐसी कविता के कथन श्रवण से क्या लाभ ?

पुनश्च—मांस ही की ग्रन्थि कुच कंचन कलश कहैं, मुख कहै चन्द सो जो कफ ही को घरु है ।
वे भुज कमल नाल नाभि कूप कहैं ताहि, हाड़ ही के खंभ ताहि कहैं रंभतरु है ॥

हाड़ के दसन ताहि कुन्द की कली सों कहैं, चाम के अधर ताहि कहै विम्बाफरु है।
ऐसी झूठी जुगुति बनावै औ कहावै कवि, ताहू पर कहै हमें शारदा को वरु है॥ (अज्ञात)

वस्तुत सरस्वती ऐसे कवियों को वर न देकर रुष्ट होकर शाप देती हैं। यथा—**भक्ति हेतु विधि भवन विहाई। सुमिरत शारद आवत धाई॥ रामचरित सर बिनु अन्हवाये। सो श्रम जाइ न कोटि उपाये॥ कीन्हे प्राकृतजन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगति पछिताना॥** ऐसी ही उक्तियो पर झुँझलाकर किसी नीतिकार ने लिखा है कि—**वायसाः किं न भक्षन्ति, किं न कुर्वन्ति योषितः। मद्यपाः किं न जल्पन्ति, कवयो न वदन्ति किम्॥** अर्थ—कौन-सी ऐसी अपवित्र वस्तु है जिसे कौवे नही खाते हैं,कौन-सा ऐसा दुष्कर कार्य है जिसे स्त्रियाँ नही कर डालती है, शरावी क्या-क्या नही वकते है और लौकिक कवि क्या नहीं कह डालते हैं?

'पुनरुक्ति'—एक ही शब्द या पद को दूसरी बार कहना ही पुनरुक्ति दोष है। परन्तु यदि अर्थ परिवर्तन हो जाय तो दोष नही होता है। यथा—"वारन को तारन करत, बार न लागी तोहिं। वारन कीजै नाथ हे वारन वारत मोहिं॥ अर्थात् गज को तारने में आपको देर नही लगी। अब मुझे वारण (वाधायें) वारत (जलाती) हैं उन्हे वारन (दूर) कोजिये। पुनश्च--**विना गोरसं को रसो भोजनानां, बिना गोरसं को रसो भूपतीनाम्। बिना गोरसं को रसो पण्डितानां, बिना गोरसं को रसः कामिनीनाम्॥** यहाँ गो के गाय, पृथ्वी, वाणी, इन्द्रिय आदि भिन्न अर्थ है। **"अक्षर मधुरताई"—मृदु अक्षर मृदु भावमय, मधुर छंद जो होय। तौ कोमल हिय इष्ट गुन, सुरति बढ़ावै सोय॥**

'अनुप्रास, यमकाई'—यथा—

सुन्दर सुजान पर मन्द मुसकान पर वांसुरी की तान पर ठौरनि ठगी रहै।
मूरति विशाल पर कंचन-सी माल पर हंसन सी चाल पर खोरन खगी रहै॥
भौंहें धनु मैन पर, लोने युग नैन पर शुद्ध रस बैन पर 'वाहिद' पगी रहै।
चंचल से तन पर सांवरे वदन पर नन्द के नन्दन पर लगन लगी रहै॥
तथा-**ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहनवारी, ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।**
कन्दमूल भोग करैं,कन्दमूल भोग करैं,तीनि बेर खातींते वे तीनि बेर खाती हैं॥
भूषन शिथिल अङ्ग भूखन शिथिल अङ्ग विजन डुलातीते वे बिजन डुलाती हैं।
'भूषण' भनत शिवराज वीर तेरे त्रास नगन जड़ाती ते वे नगन जड़ाती हैं॥

श्रीप्रियादास जी रचित इसी दूसरे कवित्त में ही प्रथम चरण में अनेक वार ई तथा स का, दूसरे में भी ई कार तथा र कार का, तीसरे में ईकार, ककार तथा नकार का, चौथे मे भी ईकार तथा स कार आदि अक्षरों के सुन्दर अनुप्रास हैं। इसी प्रकार पूरी टीका काव्योचित गुणों से परिपूर्ण, सत्य, मधुर, तथा दोष रहित है। **'अति छबि छाई'** काव्य गुणों से छवि छाई है। भक्ति से अति छवि छाई है यथा—**'भक्ति छबि भार'** (श्रीभक्तमाल कवित्त ५)

मोद झरीसी लगाई है—इसलिये कि श्रीप्रियादासजी के हृदय का उमड़ता हुआ आनन्द ही कविता रूप में प्रवाहित हो चला है। जैसा कि श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—**भयउ हृदय आनन्द उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू॥ चली सुभग कविता सरिता सो। राम विमल जस जल भरितासो॥** (श्रीरामचरितमानस) तथा जैसे श्रीशुकदेव जी से हृदय के आनन्द का भार नहीं

सहा गया, तब उसे उतारने के लिये घूमते-घूमते श्रीपरीक्षित जी की सभा में जाकर श्रीपरीक्षित जी को सुनाकर हलका किये। वैसे ही श्रीभक्तमाल जी की टीका कवित्तें श्रीप्रियादासजी के हृदय का आनन्द प्रवाह है। अतः 'मोद भरी सी लगाई, हैं।

काव्य की बड़ाई निज सुख न भलाई होति—यथा—परैः प्रोक्ता गुणा यस्य निर्गुणोऽपि गुणी भवेत्। इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः॥ (सु० र०भा० आत्मश्लाघा-निन्दा प्रसंगे) पुनश्च—अपने मुख तुम आपनि करनी। बार अनेक भांति बहु बरनी॥ नहिं सन्तोष त पुनि कछु कह हू। (श्रीलक्ष्मण जी की व्यंगोक्ति श्रीपरसुराम प्रति) लाजवन्त तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ॥ (श्रीअङ्गद जी की व्यङ्गोक्ति रावण प्रति) रामचरितमानस।

'नाभाजू कहाई याते प्रौढ़ि कै सुनाई है'—भाव यह कि यह बडाई वस्तुतः अपनी एव अपने काव्य की न होकर श्रीनाभा जी की बड़ाई है। ऐसा समझना चाहिये।

'हृदय सरसाई जो पै सुनिये सदाई'—इसका दो प्रकारसे अर्थ होगा। १. यदि सदा सुना जाय तो हृदय सरसहो जायगा। २ सदा सुनने पर भी यह हृदयको सरसही लगेगी। प्रथमकी अपेक्षा द्वितीय अर्थ विशेष भावपूर्ण है। 'सुनिये सदाई' से जनाया कि भगवत भागवत चरित्र सदा सुनना चाहिये। यथा—गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। भक्ति सदा सत्संग। (रामचरितमानस) पुनश्च—भवन स्वच्छता हित यथा, सदा सोहिनी देहु। मन निर्मलता कूं तथा, निज शुचि यश सुनि लेहु॥ रसका चसका ज्यहिं लगै, तापै रह्यौ न जाय। यश पराग हित सकल तजि, भौंरा इव मँडराय॥ (भ० व० टि०)

भक्तिरस बोधिनी सुनाम—मैया बावा का धरा हुआ नाम नाम, और श्रीगुरु देव एवं भगवान का धरा नाम सुनाम। यथा—'कर्मा सुनाम' (भक्तमाल कवित्त १९६)। इस पद में 'रची कविताई से लेकर मोद भरी सी लगाई है' तक काव्य की, कला पक्ष की प्रशसा है और 'हृदय सरसाई से लेकर गाई हैं तक भाव पक्ष की श्रेष्ठता कही गई है।

श्रीभक्ति देवी का शृङ्गार

श्रद्धाई फुलेल औ उबटनौ श्रवण कथा मैल अभिमान अङ्ग अङ्गनि छुड़ाइये।
मनन सुनीर अन्हवाइ अंगुछाइ दया नवनि वसन पन सोधो लै लगाइये॥
आभरन नाम हरि साधु सेवा कर्णफूल मानसी सुनथ संग अंजन बनाइये।
भक्ति महारानीकौ सिंगार चारु बीरी चाह रहै जो निहारि लहै लाल प्यारी गाइये॥३॥

शब्दार्थ—श्रद्धा=वेद, गुरु वाक्यो में विश्वास, आस्था, भक्ति, आदर। फुलेल=सुगन्धित तेल। उबटनौ=शरीर पर मलने का लेप, बुकवा, अङ्गराग। मैल=मल, दोष, विकार, जिसके लगने से तेज नष्ट हो जाता है। अभिमान=अहङ्कार, गर्व, मिथ्या ज्ञान। अङ्ग अङ्गनि=प्रत्येक अङ्ग मे। मनन=वारम्वार विचार या ध्यान करना, सोचना। सुनीर=सुन्दर, शीतल, पवित्र जल। अन्हवाइ=स्नान करा कर। अंगुछाई=पोछकर। दया=दूसरे के दु.ख को देखकर उसके निवारणार्थ उत्पन्न मन का भाव कृपा, करुणा। नवनि=नम्रता। पन=प्रतिज्ञा, प्रण, टेक। सोधो=सुगन्ध। आभरन=गहना, भूषण।

मानसी=मन की, मानसिक उपकरणों से की हुई सेवा। सुनय=सुन्दर नथ, नाक में पहनने की वाली। संग=सज्जनों का संग। अंजन=कज्जल। चारु=उत्तम, सुन्दर। चाह=चाव, इच्छा, आवश्यकता। लहै=पावै।

भावार्थ—चूंकि शृङ्गारित रूप विशेष आकर्षक होता है, अतः इष्टदेव को प्रसन्न करने के लिये टीकाकारने इस कवित्त में श्रीभक्तिदेवी के शृङ्गार का वर्णन एक रूपक के द्वारा किया हैं। भक्तिदेवी के श्रीविग्रह की निर्मलता के लिये कथा श्रवण उवटन है। जिससे अहङ्कार रूपी मैल को प्रत्येक अंग से छुड़ाइये। फिर श्रद्धारूपी फुलेल से शुष्कता दूर कर चिकनाई लाइये। फिर मनन के सुन्दर जल से स्नान करा कर दया के अंगोछे से पोंछिये। उसके बाद नम्रता के वस्त्र पहनाकर भक्ति में प्रतिज्ञारूपी सुगन्धित द्रव्य लगाइये। फिर नाम संकीर्तनरूप अनेक आभूषण, हरि और साधु सेवा के कर्णफूल तथा मानसी सेवा की सुन्दर नथ पहनाइये। फिर सत्संगरूपी अंजन लगाइये। जो भक्ति महारानी का इस प्रकार शृङ्गार करके फिर उन्हें अभिलाषा की बीड़ी (पान) अर्पण करके उनके सुन्दर स्वरूप का दर्शन करता रहे, वह श्रीप्रिया प्रियतम को प्राप्त करता है। ऐसा सन्तों एवं शास्त्रों ने गाया है ॥३॥

व्याख्या-'श्रद्धा'—वेदगुरुवाक्येषु विश्वासः। श्रद्धा कर्म, ज्ञान, उपासना तीनों का ही मूल है यथा—कर्म मूला श्रद्धा-श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई (रामचरितमानस) ज्ञान के सम्बन्ध में भी ऐसे ही वचन मिलते हैं। यथा—श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं (गीता ४।३९) श्रीरामचरितमानस में भी 'सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई' से ही ज्ञान घृत की उपलब्धि वर्णन की गई हैं। अतः श्रद्धा ज्ञान मूला भी है। भक्ति में भी श्रद्धा की प्रधानता है। यथा—आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया। ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥ अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति। साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥ (भक्ति रसामृत सिन्धुः) अर्थ—सबसे पहले श्रद्धा की उत्पत्ति होती है। उसके बाद साधु-संग, तदनन्तर भजन क्रिया, तब अनर्थ निवृत्ति उसके बाद निष्ठा विश्वास, उसके बाद रुचि, तदनन्तर आसक्ति फिर भाव उसके बाद प्रेम का उदय होता है। साधकों के हृदय में प्रेम के प्रादुर्भूत होने का यह क्रम बतलाया गया है। अतः श्रद्धा भक्ति मूला भी है। श्रद्धा से यहाँ गीतोक्त सात्विकी श्रद्धा समझना चाहिये। जो आध्यात्म की ओर प्रवृत्त करती है। यथा—सात्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा, कर्म श्रद्धा तु राजसी। तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा। (भा० ११।२५।२७) अर्थ—अध्यात्म में सात्विकी, कर्म में राजसी, अधर्म में तामसी तथा मेरी सेवा में जो श्रद्धा है वह निर्गुणा है। श्रद्धा विरहित समस्त साधन असत् अतएव तामस अतएव निष्फल हो जाते हैं। यथा—अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यतेपार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ (गीता १७।२८) अर्थ—श्रद्धा बिना किये हुये दान, तप, हवन तथा अन्य कर्म असत् कहे जाते हैं। उसका कुछ लाभ न यहाँ, न मरने के बाद ही है। श्रद्धारहित यज्ञादि सभी शुभ कर्मों को तामस कर्म कहते हैं। यथा—श्रद्धा विरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते। (गीता १७।१३) और तामस धर्म करहिं नर जप तप व्रत मख दान। देव न बरषहिं धरनी, बए न जामहिं धान॥ (रामचरितमानस) अतः यहाँ गीतोक्त सात्विकी, तथा भागवतोक्त निर्गुणा श्रद्धा से ही अभिप्राय है—

'श्रद्धा फुलेल'—जैसे फुलेल से शरीर स्निग्ध एवं सुवासित होता है। वैसे ही श्रद्धा से भक्ति में स्नेह (प्रेम) रूपी स्निग्धता और संत समाज में सुजस रूपी सुवास फैलती है। जैसे शृङ्गार

प्रसाधनों मे फुलेल की प्राथमिकता है वैसे ही भक्ति मे भी श्रद्धा का प्रथम स्थान है अतः 'श्रद्धाई फुलेल' प्रथम कहा। श्रद्धावान के उदाहरण श्रीभक्तमाल में श्रीगदाधर भट्ट आदि।

'उबटनौ श्रवण कथा'—मन बुद्धि चित्त लगाकर अनुराग पूर्वक भगवत भागवत यश का श्रवण। यथा—'सुनहु तात मति मन चित लाई।''तात सुनहु सादर अति प्रीती।'(श्रीरामचरितमानस) जैसे श्रद्धा कर्म-ज्ञान-भक्तिमूला है वैसे ही कथा से भी कर्म, ज्ञान और भक्ति की सिद्धि होती है, प्राप्ति होती है यथा—'भक्तिः सुतौ तौ तरुणौ गृहीत्वा प्रेमैकरूपा सहसाऽऽविरासीत।' (भा०मा० ३।६७) अर्थ—(जब हरद्वार मे श्रीगंगा जी के आनन्द नामक घाट पर श्रीसनकादि श्रीमद्भागवत महापुराण का सप्ताह यज्ञ कर रहे थे, तो उस समय माहात्म्य वर्णन करते समय ही उस सभा मे एक बड़ा आश्चर्य यह हुआ कि) वहाँ तरुणावस्था को प्राप्त हुये अपने दोनों पुत्रो (ज्ञान और वैराग्य) को लेकर विशुद्ध प्रेमरूपा भक्ति बार-बार भगवन्नामों का उच्चारण करती हुई अकस्मात् प्रगट हो गई। लोगों के पूछने पर कि सभा में भक्तिका कैसे प्रवेश हुआ ? श्रीसनकादि ने कहा—यह अभी-अभी कथा के अर्थ से प्रगट भई हैं। यथा—'ऊचुः कुमारा वचनं तदानीं कथार्थतो निष्पतिताधुनेयम् ॥' पुनश्च—'रामचरण रति जो चह अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवण पुट पान ॥' (रामचरितमानस) जैसे उवटन शरीर में चिपके मैल को दूर करता है वैसे ही कथा-श्रवण से अनाद्यविद्या सञ्चित मोहजनित मल दूर होता है। यथा—'मंगलकरनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। (रामचरितमानस) पुनश्च—'अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।' (भा०)

'मैल अभिमान'—से तात्पर्य समस्त मानसिक विकारों से है। चूंकि अभिमान समस्त दोष, दुःखो का मूल है। यथा—संसृतिमूल शूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना। (रामचरितमानस) और भगवान भी इससे चिढ़ते हैं। यथा—'गुमान गोविन्दहि भावत नाहीं' (कवितावली), चाहे वह घर का आदमी हो, चाहे घरवाली ही क्यो न हो। अन्य की तो बात ही क्या। यथा—'करुना निधि मन दीख विचारी। उर अंकुरेउ गर्व तरु भारी ॥ तुरत सो मैं डारिहौं उपारी। प्रन हमार सेवक हितकारी ॥ (रामचरितमानस) श्रीनारदजी प्रभु के निज जन हैं, निज जनो के समस्त अपराध प्रभु क्षमा करते है। यथा—'जन अवगुण प्रभुमान न काऊ।'(रामचरितमानस)परन्तु'जन अभिमान न राखैं काऊ।' (रामचरितमानस) घर वाली श्रीसत्यभामा जी का भी अभिमान प्रभु ने तत्काल दूर कर दिया। देखिये प्रसग श्रीहनुमान जी का)। इसी से भगवान का नाम 'गर्व प्रहारी' भी है। यथा—'राजिव लोचन गर्व प्रहारी' (सूर सागर) जाति विद्या महत्वादि के अभिमानी ऋषियो को छोड़ कर शबरी के यहाँ जाना भी इसका प्रमाण है। अतः मैल अभिमान कहा। यह पाँच प्रकार का कहा गया है। यथा—जातिर्विद्या महत्वं च रूप यौवनमेव च। यत्नेन परितस्त्याज्या पञ्चैते भक्तिकण्टकाः। अर्थ—जाति, विद्या, महत्व, रूप तथा यौवन, इन पाँचो के अभिमान ही भक्ति पथ के मुख्य काँटे हैं, वाधक हैं। इस लिये सभी प्रकार के अभिमान सर्वथा त्याज्य हैं। क्योकि—तिमिर गयो रवि देखि कैं, मोह गयो गुरुज्ञान। कियौ करायौ सब गयौ जब आयौ अभिमान ॥ श्रीतुलसीदास जी रचित 'विनय-पत्रिका' के एक पद मे मोह जनित मल का बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया गया है। यथा—मोह जनित मल लाग विविध विधि कोटिहुँ जतन न जाई। जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई ॥ नयन मलिन पर नारि निरखि मन मलिन विषय संग लागे। हृदय मलिन वासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे ॥ परनिन्दा सुनि श्रवण मलिन भये जीह दोष पर गाये। सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन विसराये ॥

अङ्ग अङ्गनि छुड़ाइये—जैसे मैल से सौन्दर्य का नाश, तथा विविध रोगों की उत्पत्ति होने से तन का नाश हो जाता है। वैसे ही अभिमान से भक्ति की अशोभा तथा समस्त साधनों का सत्यानाश हो जाता है। अतः उवटनो श्रवण कथा कहा। इसके ज्वलन्त उदाहरण श्रीपरीक्षित जी, पृथुजी आदि है।

'मनन सुनीर'—श्रद्धापूर्वक श्रवण किये गये का वारम्वार चिन्तन करना, भावों को हृदयंगम करना ही मनन कहा जाता है। इसे सुनीर कहने का भाव यह कि जैसे सुनीर अर्थात् स्वच्छ, शुचि, सुशीतल जल से स्नान करने से तथा उसके पान करने से मन प्रसन्न हो जाता है, श्रम दूर हो जाता है। यथा—**'करि तड़ाग मज्जन जल पाना। बट तर गयउ हृदय हरषाना।।' 'मज्जन कीन्ह पंथ श्रम गयऊ। शुचि जल पियत मुदित मन भयऊ।।'** (रामचरितमानस) वैसे ही भगवान के नाम, रूप, गुण, लीलादि को सुनकर मनन करने से अत्यन्त आह्लाद होता है भव श्रम दूर होता है परम विश्राम मिलता है। यथा—**'बुध विश्राम सकलजन रंजनि।' 'पायउँ परम विश्राम।' 'तव हनुमन्त कही सब, राम कथा निज नाम। सुनत युगल तन पुलक मन, मगन सुमिरि गुण ग्राम।।' 'एहि विधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य विश्रामा।।'** (रामचरितमानस) जैसे उवटन के वाद स्नान परमावश्यक है। वैसे श्रद्धा-पूर्वक कथा श्रवणोपरान्त मनन परमावश्यक है। विना मनन किये भक्ति का वास्तविक स्वरूप नहीं निखरता और विना विशुद्ध प्रेम लक्षणा भक्ति के हरि के समीप पहुँचना असम्भव है। अतः मनन सुनीर कहा। सुनीर अर्थात् शुचि स्वच्छ सुशीतल जल। यह नहीं कि जैसा तैसा जल। मनन पर दृष्टान्त-धुन्धकारी का। इसने श्रीमद्भागवत श्रवण कर मनन किया अतः मुक्त हो गया। गोकर्ण ने भगवत्पार्षदों से पूछा कि कथा तो सवने सुनी पर विमान एक ही के लिये क्यो आया? तव पार्षदों ने कहा—**'श्रवणं तु कृतंसर्वैर्न तथा मननं कृतं'** (श्रीभागवत माहात्म्य) दूसरा दृष्टान्त-श्रीचतुर्भुज जी की कथा सुनने वाले चोर का। (देखिये कवित्त ४६४, ४६५)

दृष्टांत दो कठपुतलियों का—एक राजा के दरवार में एक कठपुतली विक्रेता पहुँचा। पास में दो कठपुतलियाँ थी। एक का दाम ५)रु० एक का ५००)रु०। एक सी पुतलियों का भिन्न-भिन्न असमानान्तर दाम सुनकर जव राजा ने इसका हेतु पूछा तो उसने रहस्य वताया। एक के कान में सूत डाला तो दूसरे कान से वाहर निकल गया। यह ५) की थी। दूसरी के कान में सूत डाला तो वह भीतर की ओर चला गया। यह ५००) की थी। तात्पर्य एक व्यक्ति सुनकर भुला देते हैं। दूसरे मनन पूर्वक धारण करते हैं। राजा ने इन्हे आदर्श प्रेरक मान कर खरीद लिया।

'अंगुछा दया'—**दयादयावतां ज्ञेयः स्वार्थस्तत्र न कारणं।** (भगवद्गुण दर्पण) जैसे—स्नानोपरान्त अंग प्रक्षालन के लिये अंगोछा की आवश्यकता होती है, वैसे ही श्रद्धा, श्रवण, मनन के साथ साथ दया भी होनी चाहिये। कथा श्रवण कर मनन करने से तत्ववोध होने पर प्राणिमात्र में आत्मभाव हो जाता है। द्वैत, वैर विरोध का सर्वथा अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में सहज ही प्राणियों के प्रति स्नेह, सौहार्द, क्षमा, दया, करुणा आदि सद्गुणों का उद्भव और विकास होता है। यही अंगोछा है और दया पर वश हो सवका दुःख दूर करने के लिये प्रयत्नशील होना ही अङ्ग प्रक्षालन है। **'यह गुन साधन ते नहिं होई।'** यह तो भगवत्कृपा से ही सम्भव है। यथा—**'तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई।'** पुनश्च—**दया बसत जाके हृदय, रामहिं पावत सोय। दया राम पावै तवहिं, जव दयाराम की होय।।** और श्रीराम जी की दया होती है तव, जव उन्हें याद किया जाये। भगवान की याद ही हमें दयारूप में

प्राप्त होती है। जैसे गेंद दिवाल पर मारते हैं तो टकरा कर अपनी ओर आती है। वैसे ही जब हम भगवान की याद करते हैं तो याद प्रभु से टकराकर लौटती है तो हमे दया के रूप मे मिलती है। याद का उलटा दया होता है। भगवान ने श्रीमुख से, श्रीनारद जी से, वैष्णवो के तीन कर्म, जीवो पर दया, भगवान की भक्ति और भक्तोकी सेवाका वर्णन करते हुये दयाको प्रथम स्थान दिया है। यथा—वैष्णवानां त्रयं कर्म, दया जीवेषु नारद। श्रीगोविन्देपरा भक्तिस्तदीयानां समर्चनम्। (ना० प०) पुनश्च—दया में वसत देव सकल धरम। (विनय पत्रिका) दया धर्म को मूल है, पाप मूल अभिमान। तुलसी दया न छांडिये, जब लगि घट में प्रान॥ (तुलसीदास) दया हीन मानव, मानव नहीं दानव है। यथा—दृष्ट्वा तान् कृपणान् व्यङ्गाननङ्गान् रोगिणस्तथा। दया न जायते यस्य स रक्ष इति मे मतिः॥ (भा०) अर्थ—अङ्ग-हीन, रोगी, घायल तथा दीनों को देखकर जिसे दया नही आती है वह मनुष्य नही रक्ष=राक्षस है। श्रीप्रह्लाद जी ने तो भगवान से दया का ही वरदान माँगा है। यथा—न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्। कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥ (भागवत) अर्थ—मैं राज्य, स्वर्ग अथवा मोक्ष नही चाहता हूं, मैं दुःख से दुःखी प्राणियो के दुःख का नाश चाहता हूँ। दया के दृष्टांत श्रीकेवलराम जी (कवित्त ६००), श्रीस्वामी रामानुजाचार्य जी, 'गोपुर ह्वै आरुढ़ उच्च स्वर मंत्र उचारचौ।' (कवित्त ८४)।

'स्वच्छ वस्त्रं'—जैसे स्नानोपरान्त शरीर को पोंछ कर वस्त्र धारण करते हैं, वैसे ही उपर्युक्त सद्गुणों के साथ-साथ नम्रता भक्ति का परिधान है। जैसे सम्पूर्ण शृङ्गार होने पर भी विना वस्त्र के उसकी कोई शोभा नही, प्रत्युत शृङ्गार की विडम्बना मात्र होती है। यथा—'विधुवदनी सब भांति सँवारी। सोह न वसन विना वरनारी॥ वसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषण भूषित वरनारी॥ (रामचरितमानस)

पुनश्च—शरच्चन्द्रवक्त्रा लसत्पद्मनेत्रा,
स्वलंकार युक्तापि वासो विमुक्ता।
सुरूपापि योषिन्न वै शोभमाना,
हरेर्नामहीना सुवाणी तथैव॥ (सभापित)

अर्थ—जैसे शरद चन्द्रमुख, कमलनयनी, उत्तम भूषणो से युक्त सुन्दर स्त्री भी विना वस्त्र के सुशोभित नही होती है वैसे ही हरिनाम हीन सुन्दर वाणी भी सुशोभित नही होती है। वैसे ही नम्रता विना भक्ति सर्वथा अशोभित है। तथा जैसे—वस्त्र विहीन नग्न स्त्री को देखना अकल्याणकर होता है, यथा—'न नग्नां स्त्रियमीक्षेत पुरुषो वा कदाचन।' (धर्म ग्रन्थे) नग्न स्त्री को पुरुष कदापि न देखे, पाप लगता है। श्रीहनुमान जी के अतुलनीय पराक्रम का परिचय जानते हुये, उन्हे बन्धन मे पड़ा देख कर हैरान रावण ने पूछा—

'रे कपि कौन तू? अक्ष को घातक, दूत बली रघुनन्दन जू को।
को रघुनन्दन रे? त्रिशिरा खरदूषण दूषण भूषण भू को॥
सागर कैसे तरचौ? जस गोपद, काज कहा? सिय चोरहि देखो।
कैसे बँध्यो? जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो॥

(रामचन्द्रचन्द्रिका)

वैसे ही नम्रता विहीन भक्ति भी मान मद दम्भ का रूप धारण कर पतन का कारण बन जाती है। अतः भक्ति में नम्रता परमावश्यक है। नम्रता को वस्त्र कह कर श्रीप्रियादास जी ने उपमा को सजीव कर दिया है। वस्तुतः बेचारा वस्त्र नम्रता की मूर्त्ति ही तो है। चाहे वह कितना ही मूल्यवान क्यों न हो, अपने समस्त गौरव को भुलाकर (पहनने वाले के मनोऽनुकूल) जिधर ही, जैसे ही मोड़िये, बिना ननु नच किये मुड़ जाता है।

दृष्टांत—श्रीभक्तमाल जी में जोवनेरी गोपाल जी (४२० कवित्त), श्रीरसिकमुरारी जी (कवित्त ३८६) आदि इसके उदाहरण है तथा श्रीस्वामी रगाचार्य जी का आख्यान भी नम्रता का ज्वलन्त उदाहरण है। कथा इस प्रकार से है। श्रीस्वामी जी के सद्गुणों, विशेषकर उनके औदार्य से आकृष्ट होकर, केशव नाम के कवि, उनकी विरुदावली बखान कर पुरस्कार लेने की अभिलाषा से आये। कवि ने श्रीस्वामी जी का वहुत बखान किया, वड़ाई की। परन्तु यह क्या ? स्वामीजी ने तो उनकी ओर देखा तक नही, बैठने तक को नही कहा, जल तक नही पूछा। कवि जी बड़े ही निराश हुये, मन ही मन झुँझलाये। अपने को अपमानित समझ, उसका बदला लेने के लिये अवसर की प्रतीक्षा में थे। सायंकाल को श्रीरंगनाथ भगवान की सवारी निकली। जब श्रीस्वामी जी श्रीठाकुर जी को—

'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः।
त्राहि मां पापिनं घोरं सर्वपाप हरो हरिः॥' (ना० प०)

यह मंत्र बोलते हुये दण्डवत करने लगे, उसी समय केशव कवि ने भी खिसियाकर श्रीठाकुरजीके सामने कहा—'प्रभो! ये जैसा कहते है वैसे ही हैं भी।' तुरन्त ही श्रीस्वामी जी ने उठ कर कवि जी को हृदय से लगा लिया। अपने गले का स्वर्णहार उनको पहिना दिया और श्रीठाकुर जी से बोले—प्रभो! हम जो कुछ कह रहे है वह सत्य कह रहे हैं, इसके साक्षी कवि जी है। अब तो आप मानियेगा। केशव दग रह गये, इतनी विनम्रता। बड़े ही प्रभावित हुये। चरणों में पड़ गये। श्रीचैतन्य महाप्रभु जी का आत्म-परिचय भी नम्रता का ज्वलन्त उदाहरण है। यथा—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो, नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिल परमानन्दपूर्णामृताब्धेर्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥
(पद्यावली)

अर्थ—न मैं ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय, न वैश्य हूँ। न शूद्र न ब्रह्मचारी हूं। न गृहस्थी न वानप्रस्थी हूँ न संन्यासी ही। किन्तु निखिल परमानन्द परिपूर्ण, अमृतसागर स्वरूप गोपीपति श्रीकृष्ण के चरण-कमलों के दासो के दासानुदासों का भी एक छोटा सा दास हूं। नवनि का स्वरूप-गुण-महिमा-दो०शील गहनि, सवकी सहनि, कहनि हीय मुख राम। तुलसी रहिये यहि रहनि, संत जनन को काम॥ नम्र भये सद्गुण टिकत, ऊँचे ते गिरि जात। पर्वत पर जल नहि रहत, सिन्धु मांहि ठहरात॥ नम्र भये भय होत नहिं, ऊँचे उठे विनास। आंधी में तृन बचि रहै, वड़े वृक्ष को नास॥ श्लोक—**तृणादपि सुनीचेन, तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥** अर्थ—श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते है कि—अपने को तृण से भी नीचा समझकर, वृक्ष से भी सहनशील बनकर, स्वयं अमानी होकर दूसरों को मान देने वाला वनकर सदैव श्रीहरिनाम सकीर्तन करता रहे॥ (शिक्षाष्टक)

'पन्न सोध्यो'—पन=प्रण, प्रतिज्ञा, अनन्यता, दृढ इष्ट निष्ठा। यथा—गही एक टेक फेरि उर ते न टरी है। (भक्तमाल) 'मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं।' (विनय) 'पन कर रघुपति भक्ति दृढ़ाई। को शिव सम रामहिं प्रिय भाई॥' (रामचरितमानस)

'कानन दूसरो नाम सुनै नहिं एकहिं रंग रंग्यो यह डोरौ।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै, रसना मुख बांधि हला हल घोरौ॥
ठाकुर चित्त की वृत्ति यहै हम कैसेहु टेक तजै जनि भोरौ।
बावरी ये अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छोड़ि निहारति गोरौ॥' (ठाकुर कवि)

श्रीजानकी जीवनकी बलि जैहौं।
चित्त कहै राम सीय पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं॥
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन विलोकत औरहिं शीश ईशही नैहो॥
नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहै हौं॥ (विनय पत्रिका)

पुनश्च— पल काटौं सही इन नैननि के गिरधारी बिना पल अन्त निहारैं।
जीभ कटै न भजै नन्द नन्दन बुद्धि कटे हरिनाम बिसारै॥
मीरा कहे जरि जावो हिया पद कंज बिना पल अन्तर धारै।
सीस नवै ब्रजराज बिना वह सीसहिं काटि कुवाँ किन डारै॥

पुनश्च— ऐसे नहीं हम चाहन हार जो आज तुम्हें कल और को चाहैं।
फेंक दे आँखें निकारि दोऊ यदि दूसरी ओर करें ये निगाहें॥
लाख मिलें तुमते बढ़ के तुमहीं को चहैं तुमहीं को सराहैं।
जौलौं यह जीव रहें तन में तौलौं हम नेह को नाता निवाहैं॥

इसी प्रकार से भगवन्नाम जप, दर्शन, स्मरण, तुलसी, चरणामृत सेवनादि के प्रण। सकटकाल में भी प्रण की रक्षा दु:ख सहकर तथा सब कुछ त्याग कर भी करनी चाहिये। उदाहरण के लिये जैसे—नृतक नारायनदास का केवल भगवान के आगे नृत्य करने का प्रण (कवित्त ५६१, ५६२) श्रीपति कवि का केवल ईश गुन-गान का प्रण (देखिये व्याख्या कवित्त ६ की) और भी श्रीजैमल, जैदेवादि का अपना-अपना प्रण। भक्ति मे नम्रता अर्थात् सब प्रकार की अभिमान शून्यता होने के साथ-साथ इष्ट का अभिमान, यथा—'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मै सेवक रघुपति पति मोरे॥' (रामचरितमानस) तथा इष्ट में अनन्य निष्ठा परमावश्यक है क्योकि इनके बिना प्रण की पूर्णता असम्भव है। जैसे सुगन्ध चारों ओर फैलकर दूसरे को सुखद होय, वैसे ही प्रण की प्रसिद्धि सुनकर दूसरे भक्त सुख मानते हैं। जैसे सुगन्ध से चित्त की प्रसन्नता वैसे ही प्रण से आत्मा को आह्लाद होता है। एक बात स्मरण रखने की है कि पपीहा की तरह दृढ प्रण वाला होना चाहिये। यथा—पनहिं पपीहा ना तजै, तजै तो तन बेकाज। तन छूटै तो कुछ नहीं, पन छूटै तो लाज। (दोहावली) पुनश्च—'मन क्रम वचन भजन दृढ नेमा' (रामचरितमानस) शिथिल पन का कोई मूल्य नही। यथा—

दृष्टांत छप्पन भोगी का—एक महात्मा ने पन किया था कि जो छप्पन भोग वना करके निमन्त्रण करेगा उसी के घर जाकर पावेंगे अन्यथा भूखे भले रह जायेंगे। नगर के लोग विचार में पड़ गये कि सवके घर छप्पन भोग की व्यवस्था भी मुश्किल है और नहीं करते हैं तो साधु भूखा रहता है गृहस्थाश्रम का धर्म नही रहता। क्या किया जावे। एक तार्किक ने कहा—पहले तो मैं वावा के पन की परीक्षा लूँगा। देखूँ, पन सच्चा है कि कच्चा। फिर व्यवस्था वाद में की जावेगी। सवका समर्थन पाकर उसने प्रातःकाल साधु का अपने घर निमन्त्रण किया। सन्त ने अपने छप्पन भोग पाने की चेतावनी दी तो उसने अठ्ठावन भोग वनवाने की हामी भरी। दोपहरी को संत जी को लिवा ले जाकर घर की ऊपर की मंजिल पर वैठा दिया। वोला, सव सामान तैयार है। दो एक व्यंजन वाकी हैं। देर भई तव वावाजी ने कहा—देखो, कितनी देर है रसोई में। वह देखकर आया और वोला,वस घडी दो घड़ी। ऐसे ही करते-करते संध्या हो गई। वावाजीको भूख सताने लगी। फिर पता लगाने को भेजे तो वह वड़ा उदास-सा भया लौटा। उदासी का कारण पूछे तो उसने कहा, महाराज! कुछ पूछो मत, रसोई तो कुछ कुत्ता खा गया और कुछ विखेर गया। रसोइयाँ जल लेने चला गया था। परन्तु महाराज! आपकी कृपा से सव सामग्री घर में है, मैं अभी-अभी फिर सामान तैयार करवाता हूँ। महात्मा ने स्वीकृति सूचक सिर हिलाया। उसने रसोई घर में धुआँ करवा दिया। एक पहर रात हो गई, वावा जी को भूख के मारे रहा न जाय, तव उसने कहा, महाराज! भोग तो वन ही रहा है तव तक आप सत्तावनवाँ भोग नमक-मिर्च मिला हुआ भूजा चना है, थोड़ा चवाइये। वावा जी प्रस्तुत हो गये तो वह छत पर चढ़कर चिल्ला कर वोला, वावा जी चना चवाने को कहते है,किसी के पास हो तो ले आओ। वावा जी वड़े लज्जित हुये। उसने समझाया कि जो सहज में मिल जाय वही पालिया करें। क्यों ऐसा हठ करते है आपतो महात्मा हैं आदि आदि।

दूसरा दृष्टांत—एक साधु, एक घोड़े वाले को, अपने घोड़े को जवरदस्ती मुँह में गुड़ का गुलेला देकर खिलाते देखकर पन कर लिये कि हमें भी ऐसे ही भगवान खिलावेंगे तभी खाऊँगा। ऐसा निश्चय कर एकान्त वन में जा वैठे। तीन दिन वीत गये। तव भगवान स्वयं दिव्य प्रसाद लेकर आये। और अपने हाथ से खिलाने लगे तो इन्होंने अपने से मुँह खोल दिया, प्रतिज्ञा का ध्यान नहीं रहा। रहे भी कैसे, एक तो भूख लगी है, दूसरे दिव्य प्रसाद, तीसरे पवाने वाले स्वयं भगवान। भला भगवान को देखकर फिर किसी का प्रण रहता है? वह तो ढह ही जाता है। मुँह खोलते ही भगवान् तुरन्त अन्तर्धान हो गये। ये विलखने लगे तो आकाशवाणी भई कि आपका नियम कच्चा रहा। यदि आप अपने नियम में दृढ़ रहते तो मैं स्वयं मुख मे जवरदस्ती ग्रास डालता। अव हठ छोड़ कर प्रसाद पावो। इन्हे अपनी भूल मालूम हुई। प्रसाद पाने लगे। निष्कर्ष यहकि ऐसा शिथिलपन वाला नहीं होना चाहिये।

आभरण नाम हरि—समस्त शृङ्गार प्रसाधनों में जैसे आभूषण विशेप शोभा वर्द्धक होते हैं वैसे ही भक्ति के समस्त साधन शृङ्गारों में भगवन्नाम निष्ठा से भक्ति की विशेष शोभा होती है। जैसे आभूषण अंग प्रत्यंग में धारण किये जाते हैं। वैसे ही नाम निष्ठ के रोम-रोम से भगवन्नाम की ध्वनि होने लगती है नाम रोम-रोम में प्रतिष्ठित हो जाता है अंग-अंग की तो वात ही क्या। श्रीहनुमान जी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। यथा—

नाम्नः पराशक्तिपतेः प्रभावं प्रजानते सर्कटराजराजः।
यद्रूपरागीश्वर वायु सुनुस्तद्रोपमकूपे ध्वनिमुल्लसन्तम्॥

अर्थ—श्रीरामके नामका प्रभाव वानरराज श्रीहनुमानजी अच्छी प्रकारसे जानते हैं अतः रूपरागियों में प्रधान श्रीवायुपुत्र के रोम-रोम से राम नाम की ध्वनि होती रहती है। श्रीअर्जुन जी के भी रोम-रोम से 'जय कृष्ण कृष्ण' की ध्वनि निकलती थी। (देखिये कथा अर्जुन जी की) तथा चोखा मेला चमार की निर्जीव हड्डियों से भगवन्नाम की ध्वनि निकल रही थी। (देखिये नामदेव जी का प्रसंग) नाम निष्ठा की इस चरम दशा को प्राप्त करना ही भक्ति महारानी को नामरूपी आभूषण धारण कराना है। जैसे समस्त श्रृंगार करने पर भी विना आभूषण धारण किये वह अपूर्ण ही है। वैसे ही भक्ति के समस्त साधनों का यथा विधि अनुष्ठान करने पर भी विना भगवन्नामाराधन, के वह अपूर्ण है। अधूरा है "नाम राम को अङ्क है, सब साधन हैं सून। अङ्क गये कछु हाथ नहिं, अङ्क रहे दसगून।" (दोहावली)। जैसे—स्त्रियों को आभूषण वहुत प्रिय होता है, वैसे ही भक्ति महारानी को नामाभरण वहुत प्रिय है। अतः आभरण नाम कहा।

'हरि साधु सेवा कर्णफूल'—कर्णफूल श्रृङ्गार तो है ही, सौभाग्यसूचक भी है। कर्णफूल का न होना वा नष्ट होना श्रृङ्गार हानि के साथ-साथ सौभाग्य हानि भी सूचित करता है। यथा—मन्दोदरी सोच उर बसेऊ। जब ते श्रवण पूर महि खसेऊ॥ (रामचरितमानस) वैसे ही हरि-साधु सेवा भी भक्ति महारानी का श्रृंगार होने के साथ-साथ सौभाग्यरूप भी है। जैसे स्त्री के सौभाग्य चिन्हों को देखकर उसका पति प्रसन्न होता है वैसे ही हरि-साधु-सेवा को देख कर भगवान प्रसन्न होते हैं। कर्णफूल दो होते हैं वैसे ही यहाँ सेवा भो दो कही, १—हरि-सेवा। २—साधु-सेवा। दोनो कर्णफूल धारण करने पर ही सम्यक् शोभा होती है। एक के अभाव मे दूसरा भी शोभा सम्वर्द्धनमे पूर्ण समर्थ नही होता, वैसे ही हरि और साधु, दोनों की सेवा से ही भक्ति की पूर्ण शोभा होती है। हरि-सेवा दाये कान का कर्णफूल है, जो कि गुप्त (ढका) रहता है। तात्पर्य भगवत्सेवा परदे के भीतर होती है अत गुप्त है इसलिये दाये कान का कर्ण फूल है। साधु-सेवा वायें कान का कर्ण फूल है जो कि प्रगट रहता है। भाव यह कि साधु-सेवा खुले मैदान होती है अतः वाम कर्ण का कर्णफूल कहा। जैसे कर्णफूल कई प्रकार के होते हैं। यथा—मकराकृत, मीनाकृत, पुष्पाकृत, भ्रमराकृत, काष्ठ के, चांदी के, सोने के, जडाऊ। वैसे ही हरि-साधु-सेवा के भी भावानुसार विविध प्रकार हैं। सम्पूर्ण भक्तमाल मानो इसी की व्याख्या है। भगवत-सेवा का स्वरूप—'सेवहिं लषन सीय रघुवीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं॥' (रामचरितमानस) साधु-सेवा का स्वरूप—'जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसे। पलक विलोचन गोलक जैसे। (रामचरितमानस) श्रीभक्तमाल मे हरि-सेवा के आदर्श—श्रीपृथु जी, आसकरनजी, जैमल जी आदि। साधु-सेवा के आदर्श—श्रीहरिपाल जी, त्रिलोचन जी, सदाव्रती जी आदि।

'मानसी सुगन्ध'—मानसीसेवा—कृष्णसेवा सदा कार्या, मानसी सा परामता। चेतस्तत्प्रवणं सेवा, तत्सिद्धयै तनुवित्तजा। (श्रीवल्लभाचार्य) अर्थ—श्रीकृष्ण सेवा तीन प्रकार की होती है। १—तनुजा, २—वित्तजा, ३—मानसी,। इन तीनों मे मानसी सेवा श्रेष्ठ कही गई है। मानसी की सिद्धि के लिये ही तनुजा और वित्तजा सेवा का अनुष्ठान किया जाता है। चित्त का इष्ट मे अत्यन्त तन्मय होना ही सेवा का स्वरूप है। जिस प्रकार नथ अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी अलङ्कारो मे प्रमुख है, सुहाग सूचक भी है। वैसे ही मानसी सेवा सेवा का अत्यन्त सूक्ष्म एवं भावगम्यरूप है और श्रेष्ठ है। यथा—'तुलसी मन से जो वनै, (तो) वनी वनाई राम॥' (दोहावली) जैसे नथ मे दो मोती होते हैं और दोनों मोतियो के वीच में एक लाल मणि। वैसे ही मानसी सेवा में भी विवेक और वैराग्य ये दो सद्गुण

सम्पन्न प्रकाशमान मोती हैं और इष्ट के प्रति सच्चा अनुराग ही बीच की लाल मणि है। इसके उदाहरण हैं। श्रीअग्रदास जी, श्रीरङ्ग जी। श्रीरघुनाथदास जी आदि। (विशेष देखिये कवित्त १०) मानसी सेवा की विधि—

सकल जगत चिन्तन त्यागि कै ध्यान धारै। परम प्रिय मनोहर मूर्ति हिय में बिठारै॥
विविध बिधि मनोमय वस्तु ते पूज़ि तर्पै। इमि हरि अपने करि भाव सों सर्व अर्पै॥
मन वचन परे कहि वेद जाको बतावै। मन वचन रमै सोइ संत यौं भेद गावै॥
प्रगट, मनसि पूजन दोउ को संग कीने। रसिक मन रमावहिं राम के रंग भीने॥
(भ० व० टि०)

संग अंजन—सत्संग को अंजन इसलिये कहा, कि जैसे अंजन लगने से नेत्र दोष दूर होकर शुद्ध दृष्टि प्राप्त होती है। तथा नेत्र सुन्दर भी लगने लगते हैं उसी प्रकार सत्संग से दूषित विचार दूर होकर विवेक विलोचन तथा दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है। उससे सत् असत् का ज्ञान हो जाता है। यथा—जाड्यं धियो हरति, सिञ्चति वाचि सत्यं, मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति। चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं, सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥ (भर्तृहरि) अर्थ—सत्सङ्ग-वुद्धि की जड़ता को हरता है, वाणी को सत्य से परिपूर्ण करता है, सन्मान और उन्नति प्रदान करता है, पापों को दूर करता है, चित्त को प्रसन्न करता है चारों ओर कीर्त्ति को फैलाता है। तो बताइए, सत्संग मनुष्यों के साथ कौन-सा उपकार नही करता है?

न रोधयति मां योगो,न सांख्यं धर्म एव च। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः। यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम्॥
(कृष्ण वाक्य, उद्धव के प्रति भा० ११।१२।१,२)

अर्थ—सब आसक्तियों को हरने वाला सत्संग मुझे जिस प्रकार वश में कर लेता है, उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, यज्ञ, दक्षिणा, व्रत, वेद, तीर्थाटन, यम और नियम मुझे वश में नही कर पाते है।

सत्संगेन हि दैतेया यातुधानाः खगाः मृगाः। बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्र कायाधवादयः॥
(भागवत)

अर्थ—सत्संग से ही वृत्रासुर, प्रह्लाद आदि दैत्य और राक्षस, खग मृग योनियों में उत्पन्न भक्तों ने भी मुझे प्राप्त किया है। मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥ सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोक हुँ वेद न आन उपाऊ॥ (रामचरितमानस) कहु न होय सत्संग ते, देखहु तिल अरु तेल। नाम मोल सब फिरि गयो, पायो नाम फुलेल॥(ध्रुवदास जी) सत्सङ्ग सिद्धांजन है। यथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध, सुजान। कौतुक देखत शैल वन, भूतल भूरि निधान॥ (रामचरितमानस) वैसे ही सत्संगरूपी सिद्धांजन से अव्यक्त अगोचर परमात्मा का दर्शन सहज सुलभ हो जाता है। अन्यथा असम्भव है। यथा—नयन निकट काजर बसै, पै दरपन दरसाय। त्यौं साधुन के संग बिनु हरि छवि हिय न लखाय॥ अंजन में दो गुण—१—नेत्र रोग दूर होता है। २—प्रीतम प्रसन्न होकर वशीभूत हो जाते है। वैसे ही सत्संग से भवरोग दूर होता है और प्रियतम प्रभु प्रसन्न होते है, वश मे हो जाते हैं।

अतः संग अ जन कहा। सत्संग महिमा पर देखिये श्रीवाल्मीकि जी तथा श्रीवशिष्ठ-विश्वामित्र का प्रसंग।

चाह वीरी—चाह=लालसा, अभिलाषा, मिलन की उत्कंठा। यथा—'एक लालसा बड़ि उर माहीं। ··· ·· चाहौं तुम्हहि समान सुत॥' 'उर अभिलाष निरन्तर होई। देखिय नयन परमप्रभु सोई।''सबके उर अभिलाष अस, पूरित पुलक शरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि,राम लखन दोउ वीर॥' (रामचरितमानस) प्रियतम मिलन की चाह निगम अगम साहब को भी सुगम बना देती है। यथा—निगम अगम साहब सुगम, राम साँचिली चाह॥ (दोहावली) जैसे सम्पूर्ण शृङ्गार के बाद पान, उसी प्रकार समस्त साधनो का पर्यवसान प्रियतम मिलन की चाह मे है। जैसे पान से शृङ्गार की, उसी प्रकार चाह से भक्ति की परिपूर्णता है। अतः चाह वीरी कहा। चाह का स्वरूप—

कदा वृन्दारण्ये, विमल यमुना तीर पुलिने। चरन्तं गोविन्दं हलधरसुदामादिसहितं॥
अये कृष्णस्वामिन् मधुरमुरलीवादन विभो। प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥

अर्थ—अहा! वह दिन कब होगा, जब जमुना तट कुंजो में श्रीहलधर सुदामादि के सहित श्रीगोविन्द मधुरवंशी बजाते हुये विचरते हो, और मैं हे कृष्ण! हे स्वामिन्! हे मधुर-मुरली-वादक! हे विभो! प्रसन्न होइये, ऐसे पुकारते हुये निमिष की भाँति दिनों को बिताऊँगा।

ऐसी चाह के उदाहरण है श्रीमधु गोसाईं जी। यह है भक्ति महारानी का शृङ्गार। श्रीप्रियादास जी ने भक्ति को महारानी कहा है। आगम ग्रथों मे भी इन्हे महादेवी कहा गया है। यथा—**हरि भक्ति महादेव्याः, सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः। भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः॥** (ना०पा०) अर्थ—मुक्ति आदि सिद्धियाँ और अनेक प्रकार की विलक्षण भुक्तियाँ (भोग) दासी की भाँति हरिभक्ति महादेवी की सेवा में लगी रहती है। ऐसी महामहिमामयी श्रीभक्ति महारानी का इस प्रकार शृङ्गार करके जो उनके सुन्दर स्वरूप का दर्शन करता है अर्थात् जो इस प्रकार भक्ति के लक्षणो से युक्त है। वह श्रीप्रिया प्रियतम को अवश्यमेव पा लेता है क्योंकि भगवान को भक्ति अत्यन्त प्रिय हैं। यथा—**'श्रीरघुवीरहि भक्ति पियारी।' 'भक्तिहि सानुकूल रघुराया।' 'जेहि ते वेगि द्रवौं मै भाई। सो मम भक्ति भक्त सुखदाई।' 'भक्ति प्रियो माधवः,' 'भक्ति अवसहि वस करी'** (रामचरितमानस) भक्त्या त्वनन्यया शक्यः (गीता ११।५४) अतः लहै लाल प्यारी। गाइये-संतों एव सत् शास्त्रों ने गाया है। जैसाकि उपर्युक्त प्रमाणो से सिद्ध है। भक्ति रसामृत सिन्धु मे भक्ति महारानी के चौसठ अ गो का वर्णन है। यथा—

गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षाऽऽदिशिक्षणम्। विस्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवर्त्मानुवर्तनम्॥
सद्धर्मपृच्छा भोगादित्यागः कृष्णस्य हेतवे। निवासो द्वारकाऽऽदौ च गङ्गाऽऽदेरपि सन्निधौ॥
व्यवहारेषु च सर्वेषु यावदर्थानुवर्तिता। हरिवासर सम्मानो धात्र्यश्वत्थादिगौरवम्॥
एषामत्र दशाङ्गानां भवेत् प्रारम्भरूपता। सङ्गत्यागो विदूरेण भगवद्विमुखैर्जनैः॥
शिष्याद्यननुबन्धित्वं महारम्भाद्यनुद्यमः। बहुग्रन्थ कलाभ्यासव्याख्यावादविवर्जनम्॥
व्यवहारेऽप्यकार्पण्यं शोकाद्यवश वर्तिता। अन्यदेवानवज्ञा च भूतानुद्वेगदायिता॥
सेवानामापराधानामुद्भवाभावकारिता। कृष्णतद्भक्तिविद्वेषिविनिन्दाऽद्यसहिष्णुता॥
व्यतिरेकतयामीषां दशानां स्यादनुष्ठितिः। अस्यास्तत्र प्रवेशाय द्वारत्वेऽप्यङ्गविंशतेः॥
त्रयं प्रधानमेवोक्तं गुरुपादाश्रयादिकम्। धृतिर्वैष्णवचिह्नानां हरेर्नामाक्षरस्य च॥

निर्माल्यादेश्च तस्याग्रे ताण्डवं दण्डवन्नतिः । अभ्युत्थानमनुव्रज्या गतिः स्थाने परिक्रमा ॥
अर्च्चनं परिचर्या च गीतं सङ्कीर्तनं जपः । विज्ञप्तिः स्तवपाठश्च स्वादो नैवेद्यपाद्ययोः ॥
धूप माल्यादि सौरभ्यं श्रीमूर्तेः स्पृष्टिरीक्षणम् । आरात्रिकोत्सवादेश्च श्रवणं तत्कृपेक्षणम् ॥
स्मृतिर्ध्यानं तथा दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । निजप्रियोपहरणं तदर्थेऽखिलचेष्टितं ॥
सर्वथा शरणापत्तिस्तदीयानां च सेवनम् । तदीयास्तुलसीशास्त्र मथुरावैष्णवादयः ॥
यथा वैभवसामग्रि सद्गोष्ठीभिर्महोत्सवः । ऊर्जादरो विशेषेण यात्राजन्मदिनादिषु ॥
श्रद्धाविशेषतः प्रीतेः श्रीमूर्तेरंघ्रिसेवनम् । श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह ॥
सजातीयाशये स्निग्धे साधौ सङ्गः स्वतो वरे । नाम सङ्कीर्तनं श्रीमन्मथुरामण्डले स्थितिः ॥
अङ्गानां पञ्चकस्यास्य पूर्वं विलिखितस्य च । निखिलश्रैष्ठ्य बोधाय पुनरप्यत्र संशनम् ॥

अर्थ—१—गुरु के चरणों का आश्रय लेना । २—उनसे दीक्षा आदि को ग्रहण करना । ३—विश्वास पूर्वक गुरु की सेवा । ४—साधु मार्ग का अनुसरण करना । ५—सद्धर्म की जिज्ञासा, ६—श्रीकृष्णार्थ भोगत्याग, ७—द्वारका आदि में अथवा गङ्गादि के तट पर निवास । ८—यावत्प्रयोजन वस्तु संग्रह, ९—हरिवासर सम्मान, १०—आमलक, अश्वत्थादि वृक्षों का, माहात्म्य मानना एवं उनका सेवन, ११—विमुखसङ्ग त्याग, १२—अधिक शिष्यादि न करना । बड़े-बड़े सांसारिक कार्यों का आरम्भ न करना, १३—अधिक ग्रंथों का अभ्यास न करना, कलाओं का अभ्यास न करना, १४—व्याख्या और विवादादि से बचना । १५—व्यवहार में दीनता, कृपणता को न आने देना, १६—शोकादि के वशीभूत न होना, १७—अन्य देवताओं का अपमान न करना, १८—जीवों को कष्ट न देना, १९—सेवा तथा नामापराध से बचना, २०—भक्त-भगवान की निन्दा को न सहना, २१—वैष्णव चिह्नों को धारण करना, २२—श्रीहरि के नाम के अक्षरों को धारण करना, २३—निर्माल्यादि का धारण, २४—भगवान के सामने ताण्डव नृत्य, २५—दण्डवत प्रणाम करना, २६—भक्त तथा भगवान का उठकर सत्कार करना, २७—साथ चलना, २८—तीर्थ एवं मन्दिरों में गमन, ❀परिक्रमा करना, २९—अर्चन, ३०—परिचर्या (सेवा), ३१—गीत, ३२—सङ्कीर्त्तन, ३३—मंत्रजप, ३४—विज्ञप्ति, ३५—स्तव पाठ, ३६—नैवेद्य का आस्वादन, ३७—पाद्यास्वाद, ३८—धूप सौरभ, माल्यादि की गन्ध लेना, ३९—श्रीमूर्ति का स्पर्श, ४०—श्रीविग्रह का दर्शन, ४१—आरती तथा उत्सवादि का दर्शन, ४२—श्रवण, ४३—श्रीहरिकृपा की चाह, ४४—स्मरण, ४५—ध्यान, ४६—दास्य, ४७—सख्य, ४८—आत्मनिवेदन, ४९—निजप्रियवस्तु समर्पण, ५०—भगवदर्थ समस्त चेष्टा करना, ५१—शरणापत्ति, ५२—वैष्णव सेवन, ५३—श्रीतुलसी सेवन, ५४—वैष्णव शास्त्रों का आदर, ५५—मथुरा मण्डल वास, ५६—यथा वैभव उत्सव करना, ५७—कार्तिक मास का विशेष आदर, ५८—जन्म दिवस आदि पर यात्रा करना, ५९—विशेष श्रद्धा एवं प्रेम से श्रीमूर्ति के चरणों की सेवा, ६०—रसिकों के साथ श्रीमद्भागवत के अर्थो का आस्वादन करना, ६१—अपने से उत्तम सजातीय प्रेमी साधुओं के साथ सत्संग करना, ६२—नाम, रूप, लीला, गुण कीर्त्तन, ६३—मथुरा मण्डल में निवास करना । ६४—❀परिक्रमा ।

टीका की महिमा

शान्त,दास्य,सख्य वातसल्य,औ शृङ्गारु चारु, पाँचौ रस सार बिस्तार नीके गाये हैं ।
टीका को चमत्कार जानौगे विचारि मन, इनके स्वरूप मैं अनूप लै दिखाये हैं ॥

जिनके न अश्रुपात पुलकित गात कभू, तिनहूँ को भाव सिन्धु बोरि सो छकाये हैं।
जौलौं रहैं दूर रहैं विमुखता पूर हियो, होय चूर चूर नेकु श्रवण लगाये हैं ॥४॥

शब्दार्थ—शान्त=सौम्य, गम्भीर, मनोविकार रहित, विघ्न बाधा रहित। काव्य एवं भक्ति का वह रस, जिसमें मन शान्ति का अनुभव करे। दास्य=सेवा, स्वामी की आज्ञा का प्रीति समेत पालन। सख्य=मैत्री, मित्रता। वात्सल्य=दुलार, प्यार, वह भाव, जो माता-पिता का पुत्र के प्रति होता है। शृंगार=माधुर्य, नायक-नायिका का पारस्परिक भाव। रस-सार=रसों का तत्व। चमत्कार=अनूठापन, विचित्रता, विलक्षणता। अनूप=सुन्दर, उपमा रहित। पुलकित=हर्षयुक्त, रोमाञ्चित। गात=शरीर। छकाये=प्रेमोन्मत्त, तृप्त, पूर्ण किये। जौलौं=जब तक। विमुखता=उदासीनता, लापरवाही, विरोध, ईश्वर भक्ति राहित्य। चूर-चूर=लीन, निमग्न, किसी नशे में उन्मत्त।

भावार्थ—इस कवित्त में टीकाकार, टीका की विशेषता बताते हुये कहते हैं कि—इस भक्ति रसबोधिनी टीका में, शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार भक्ति के इन पाच रसो का तत्व विस्तार से, अच्छी प्रकार वर्णन किया गया है। इनके सुन्दर स्वरूपों को जैसा मैंने भली भाँति उत्तम रीति से वर्णन करके दिखाया है, इस चमत्कार को पाठक एव श्रोता अपने मन मे अच्छी तरह से विचार करने पर ही जानेंगे। श्रवण कीर्तन आदि करके प्रेम वश जिनके नेत्रो मे कभी भी आनन्द के आँसू नही आते हैं और शरीर मे रोमाञ्च नही होता है, ऐसे नीरस, कठोर हृदय वाले लोगों को भी भक्ति के भावरूपी समुद्र में डुबाकर तृप्त कर दिया गया है। जब तक वे इससे दूर है, तभी तक भक्ति से पूर्ण विमुख हैं किन्तु यदि कान लगा कर इसका थोड़ा भी श्रवण करेंगे तो उनका हृदय चूर-चूर होकर रस से परिपूर्ण हो जायगा ॥३॥

व्याख्या—श्रीभक्ति के पाँच रस हैं। रुचिके अनुसार भक्त पाँच मे से किसीका भी आश्रय लेकर इष्ट को प्राप्त कर सकता है। अतः रसो के विभाव, अनुभाव आदि वर्णन किए जाते हैं। उन्हे समझने के लिये प्रथम इनकी परिभाषा एव प्रकार(भेद)समझ लेना आवश्यक है। यहाँ उनकी परिभाषा और भेद का एक दिग्दर्शन कराते हैं।

भाव—रस के उल्लसित एव चमत्कृत विकास तथा परिणाम को 'भाव' कहते है। भाव=मन के तरंग। अमरकोष में कहा है "विकारो मानसो भावः।" रस के अनुकूल मन में जो विकार उत्पन्न होते है उसको 'भाव' कहते हैं। यथा—'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥' (रा०) मे ध्वनि सुनने से शृंगार रस के अनुकूल विकार उपजा। भाव चार हैं—

१—विभाव, २—अनुभाव, ३—स्थायी, ४—संचारी।

विभाव=भाव के कारण। जिसके सहारे मनोविकार वृद्धि लाभ करते हैं उस कारण को विभाव कहते हैं। विभाव दो हैं (१)आलम्बन(२)उद्दीपन। आलम्बन=जिसके आधारसे या जिनके प्रति आश्रय या पात्र के हृदय मे विकार उत्पन्न हो। जैसे नायक के लिये नायिका यह रस का अवलम्ब है। आलम्बन दो हैं—विषयालम्बन, आश्रयालम्बन। उद्दीपन=जिससे आलम्बन के प्रति स्थित भाव उद्दीप्त या उत्तेजित हो। जैसे चाँदनी,निर्जनवन,वसन्त ऋतु,मार बाजे। जिनके देखने सुननेसे रस प्रगट हो।

अनुभाव=मनोविकार की उत्पत्ति के अनन्तर वे गुण और क्रियाएँ जिनसे रसका बोध हो =चित्तके भाव को प्रकाश करने वाली कटाक्ष रोमाञ्च आदि चेष्टाऐ। अनुभाव चार है। १—सात्विक (आठ प्रकार के है। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वभँग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय) २—कायिक। ३—मानसिक=(मन की अवस्था को प्रकट करना) ४—अहार्य=रूप बदल कर अभिनय द्वारा भाव प्रदर्शित करना।

स्थायी=वे भाव जो वासनात्मक होते है चित्तमें चिरकाल तक स्थित रहते है। ये विभावादि के योगसे परिपुष्ट होकर रसरूप होते हैं। ये सजातीय या विजातीय भावो के योगसे नष्ट नही होते,वरंच उनको अपने मे लीन कर लेते हैं। ये नौ माने गये हैं। रति, हास, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद।

संचारी=जो रसको विशेष रूपसे पुष्ट कर जल की तरंगों की तरह उनमें संचरण करते हैं। ये रस की सिद्धि तक नही ठहरते। ये तैंतीस माने गये है। निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, मद,धृति, आलस्य, मति, विषाद, चिन्ता, मोह, स्वप्न, विबोध, गर्व, आमर्ष, स्मृति, हर्ष, उत्सुकता, अवहित्था, दीनता, व्रीडा, उग्रता, निद्रा, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, भास, उन्माद, जड़ता, चपलता और वितर्क।

तत्र शान्त भक्तिरसः—

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः। स्थायीशान्तिरतिर्धीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः॥
प्रायः स्वसुखजातीयं सुखं स्यादत्र योगिनाम्। किन्त्वात्मसौख्यमघनङ्घनन्त्वीशमयं सुखम्॥
तत्रापीशस्वरूपानुभवस्यैवोरुहेतुता । दासादिवत्मनोज्ञत्व लीलादेर्न तथा मता॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

अर्थ—आगे कहे जाने वाले विभावादि के द्वारा, शान्तिरूप स्थायी भाव, शमवानों के आस्वाद का विषय होकर शान्त भक्तिरस नामसे कहलाता है॥ इस शान्तरस में योगियों को प्रायः स्वसुखसजातीय अर्थात् आत्मसाक्षात्कारात्मक निर्विशेष ब्रह्मास्वाद सहोदर सुख प्राप्त होता है। किन्तु विशेषता यह होती है कि आत्मसाक्षात्कार का सुख घनत्वहीन होता है और भगवत्साक्षात्कारमय सुख घनत्वमय होता हैं॥ इसमें भी भगवत्स्वरूप का अनुभव ही सुखानुभूति के आधिक्य का कारण होता है। उनकी मनोज्ञलीलादि तथा दासादि के समान बुद्धि सुखातिशय की जनक नही होती है।

स्पष्टार्थ—ध्यान, समाधि में जो ईश्वर चिन्तन किया जाता है उसे शान्तरस की उपासना कहते है। प्रश्न—ज्ञानी भी तो ध्यान,समाधिमें स्वरूपानुसन्धान करता है,फिर ज्ञानी और शान्त रसोपासक भक्त में अन्तर ही क्या ? समाधान—ज्ञानी और शान्त रसोपासक भक्त में भेद यह है कि ज्ञानी 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुसन्धान करते हुये निर्गुण, निराकार, निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करता है तो उसे आत्म साक्षात्कार होता है और भक्त भगवानके ऐश्वर्य रूप का ध्यान करता है अतः उसे भगवत्साक्षात्कार होता है। आत्मसाक्षात्कार घनत्व हीन होता है, भगवत्साक्षात्कार घनत्वयुक्त होता है जैसे सूर्यका प्रकाश घनत्वहीन और सूर्यघनत्वयुक्त होता है।—जैसे रवि आतपभिन्नमभिन्न यथा। वैसेही यहाँ भी समझना चाहिये। निर्विशेष ब्रह्मानन्द स्वरूप सुखमें उसके निर्विशेष विषयक होनेसे गुणादिका भान नहीं होता और भगवत्साक्षा-

त्कारात्मक ईशमय सुख मे सच्चिदानन्द विग्रहादिरूप गुणों की भी स्फूर्ति होती है। ज्ञानी को ध्यान, समाधि में स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, विवर्णता, स्वरभंग, वेपथु, अश्रु आदि प्रेम दशायें नही प्राप्त होती है। शान्त रसोपासक इन सभी दशाओं को प्राप्त हो जाता है। ज्ञानमार्ग में निर्वेद को स्थायीभाव माना गया है परन्तु यहाँ निर्वेद संचारीभावों में गिना गया है। यथा—'राम देखि मुनि विरति विसारी।' अब शांत भक्ति रस के आलम्वन विभाव कहते है। चतुर्भुजाश्च शांताश्च तस्मिन्नालम्वना मता ॥ (भ०र०सि०) अर्थ—चतुर्भुज भगवान तथा शान्त भक्तिरस वाले भगवद्भक्त इसमे आलम्वन विभाव होते हैं।

अथोद्दीपना—अब उद्दीपन विभाव कहते हैं—

श्रुतिर्महोपनिषदां, विविक्त स्थानसेवनम्।
अन्तर्वृत्तिविशेषोऽस्य स्फूर्तिस्तत्वविवेचनम्। विद्याशक्ति प्रधानत्वं विश्वरूपप्रदर्शनम्।
ज्ञानिभक्तेन संसर्गो ब्रह्म सत्रादयस्तथा। एष्वसाधारणाः प्रोक्ता बुधैरुद्दीपना अमी॥
(भ० र० सि०)

अर्थ—१—महत्वशालिनी उपनिषदों का श्रवण, २—एकान्त स्थान का सेवन, ३—अन्तर्मुखी वृत्ति विशेष, ४—चतुर्भुज स्वरूप की स्फूर्ति, ५—तत्वविवेचन, ६—विद्या की प्रधानता अर्थात् वेद ज्ञानादि, ७—शक्ति की प्रधानता। ८—विश्वरूप का दर्शन। ९—ज्ञानी भक्तों के साथ सम्पर्क। १०—ब्रह्म सत्र अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, ब्रह्म चर्चा आदि॥ अथानुभावा—अब अनुभावों को कहते हैं—

नासाग्रन्यस्तनेत्रत्वमवधूत विचेष्टितम्। युगमात्रप्रेक्षित गतिर्ज्ञान मुद्रा प्रदर्शनम्॥
हरेर्द्विष्यपि नद्वेषो नातिभक्तिः प्रियेष्वपि। सिद्धितायास्तथा जीवनमुक्तेश्च बहुमानिता॥
नैरपेक्ष्यं निर्ममता निरहंकारिता तथा। मौनमित्यादयः शीताः स्युरसाधारणाः क्रियाः॥
(भ० र० सि०)

अर्थ—१—नासिका के अग्रभाग पर नेत्र जमाये रखना। २—अवधूतों के समान व्यापार करना, ३—चार पाच हाथ की दूरी तक देखते हुये चलना अर्थात् नीची दृष्टि करके चलना। ४—ज्ञान की मुद्रा का प्रदर्शन। ५—कृष्ण के शत्रुओ से भी द्वेष न करना। ६—कृष्ण के प्रियो मे भी अति भक्ति का न रखना। ७—सिद्धता तथा जीवन्मुक्ति के प्रति अधिक आदर का होना। ८—उदासीनता। ९—किसी के प्रति ममता का न रखना। १०—अहकार का अभाव। ११—मौन आदि शीत क्रियाये शान्त भक्ति रस के असाधारण विशेष अनुभाव है। अथ सात्विका—अब सात्त्विक भावो को कहते हैं। रोमाञ्चस्वेदकम्पाद्याः सात्विकाः प्रलयं विना॥ अर्थ—प्रलय अर्थात् मूर्छा को छोडकर रोमाच, स्वेद, कप आदि शान्त भक्ति रस के सात्विक भाव है। अथ सचारिण.—अब संचारि भाव कहते हैं—सञ्चारिणोऽत्रनिर्वेदो, धृतिर्हर्षो मतिः स्मृतिः। विषादोत्सुकताऽऽवेगवितर्काद्याः प्रकीर्त्तिताः। (भ० र० सि०) अर्थ—इसमे निर्वेद, धृति, हर्ष, मति, स्मृति, विषाद, औत्सुक्य, आवेग, वितर्क आदि संचारी भाव माने जाते हैं।

अथ स्थायी—अब स्थायी भाव कहते हैं। 'अत्र शान्ति रतिः स्थायी समासान्द्रा तु सा द्विधा॥ (भ० र० सि०) अर्थ—इसमे शान्ति स्थायिभाव होती है और वह १. समा, २. सान्द्रा दो प्रकार की होती है। यह शान्त भक्तिरस (१) परोक्षात्मक तथा (२) साक्षात्कारात्मक होने से दो प्रकार का होता है। विष्णु धर्मोत्तर में शान्तरस का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है। नास्ति यत्र सुखं दुःखं,न द्वेषो

न च मत्सरः । समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥ अर्थ—जहाँ न सुख है न दुःख, न द्वेष है और न मत्सर है और सब प्राणियों के प्रति सम बुद्धि होती है वह शान्तरस कहलाता है॥ शान्त भक्तिरस एवं शान्ति के सम्बन्ध में और भी शास्त्र, सद्ग्रंथ एवं सतों के वचन । यथा—गीतायाम्—**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥**(६।३०)अर्थ—जो मुझ परमात्मा को सब स्थानों में, सबको मुझमें देखता है उससे मैं कभी नहीं बिछुड़ता और न वही मुझसे कभी दूर होता है।

शान्ति की महिमा—**श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते । ध्यानात्कर्मफलत्यागं, त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥** अर्थ—अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान अधिक अच्छा है। ज्ञान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है और त्याग से तत्काल ही परम शान्ति होती है। इस प्रकार इस श्लोक में शान्ति को ज्ञान ध्यानादिका चरमफल कहा गया है।

पुनश्च— **जाके हिय ते शान्ति न जावै । शान्त भक्त सो सब सुख पावै ॥**

तुलसी यह तन तवा है,तपत सदा त्रयताप । शान्त होय जब शान्ति पद, पावै राम प्रताप ॥
अहंकारकी अगिनिमें, दहत सकल संसार । तुलसी बाँचे संत जन, केवल शान्ति अधार ॥
ज्ञानको भूषण ध्यान है,ध्यानको भूषण त्याग । त्यागको भूषण शांतिपद,तुलसी अमल अदाग॥

अमल अदाग शान्ति पद सारा । तहाँ कलेस न करत प्रहारा ॥
तुलसी उर धारै जो कोई । रहै आनन्द सिन्धु महँ सोई ॥
त्रिविध पाप सम्भव जो तापा । मिटहिं दोष दुख विविध कलापा ॥
परम शान्ति सुख रहै समाई । तहँ उत्पात न भेदै आई ॥
तुलसी ऐसे शीतल सन्ता । सदा रहैं एहि भांति एकन्ता ॥
कहा करैं खल लोग भुजंगा । कीन्हों गरल शील जो अङ्गा ॥
जहाँ शान्ति सद्गुरु की दई । तहाँ क्रोध की जर जरि गई ॥
तुलसी सुखद शान्ति को सागर । सन्तनि गायौ करन उजागर ॥

सातदीप नव खण्ड लौं, तीनि लोक जग माँहि ।
तुलसी शांति समान सुख, अपर दूसरो नाँहि ॥
(वैराग्य संदीपनी)

शान्तरसोपासक भक्तों के उदाहरण—श्रीशिव जी। यथा—**बैठे सोह काम रिपु कैसे । धरे शरीर शान्त रस जैसे ॥** आप अधिकांश समाधि में रहते। यथा—**शङ्कर सहज सरूप सँभारा । लागि समाधि अखण्ड अपारा ॥** 'शिव समाधि बैठे सब त्यागी ।' बीते सम्वत सहस सतासी । तजी समाधि सम्भु अविनासी ॥ श्रीनारद जी—**सुमिरत हरिहिं साप गति बाधी । सहज विमल मन लागि समाधी ॥** श्रीसनकादिजी—**ब्रह्मानन्द सदालयलीना । देखत बालक बहु कालीना ॥** कलियुग के भक्तों में श्रीशङ्कराचार्य जी, मधुसूदन सरस्वती आदि शान्तरस के उदाहरण हैं।

दास्यरस—**दासास्तु प्रश्रितास्तस्य निदेशवशर्वतिनः । विश्वस्ताः प्रभुताज्ञान विनम्रितधियश्च ते ॥** अर्थ—दास उन भगवान के आश्रित, आज्ञाकारी विश्वस्त और प्रभुता के ज्ञान के कारण

विनम्र बुद्धि वाले होते हैं। ये सेवक अधिकृत, आश्रित, पारिषद और अनुगामी भेद से चार प्रकार के होते हैं। यथा—'चतुर्द्धाऽमी अधिकृताश्रितपारिषदानुगाः ॥' (भ० र० सि०) तत्रालम्बना—'हरिश्च तस्य दासाश्च ज्ञेया आलम्बना इह ॥' अर्थ—इसमें भगवान तथा उनके दास आलम्बन विभाव होते हैं। अथोद्दीपनाः—अनुग्रहस्य सम्प्राप्तिस्तस्याङ्घ्रिरजसां तथा॥ भुक्तावशिष्टभक्तादेरपि तद्भक्तसंगतिः। इत्यादयो विभावाः स्युरेष्वसाधारणा मताः ॥ (भ० र० सि०) अर्थ—इसमे १—अनुग्रह की सम्प्राप्ति, २—उनकी चरणधूलि की प्राप्ति, ३—उनके गीत प्रसाद की प्राप्ति, तथा उनके भक्तों की सगति इत्यादि विशेष रूप से उद्दीपन विभाव माने जाते है।

अथानुभावाः—सर्वतः स्वनियोगानामाधिक्येन परिग्रहः। ईर्ष्यालवेन चास्पृष्टा मैत्री तत्प्रणते जने। तन्निष्ठताऽऽद्याः शीताः स्युरेष्वसाधारणाः क्रिया ॥ (भ० र० सि०) अर्थ—भगवान के प्रति अपने कर्त्तव्यों का सर्वतः अधिकाधिक रूप से ग्रहण करना और उनके भक्तो के प्रति ईर्ष्यालव से रहित, मैत्री तथा सर्वात्मना तन्निष्ठता आदि ये आश्रितादि दासों में असाधारण अनुभाव होते हैं। अथ सात्विकाः—स्तम्भाद्याः सात्विकाः सर्वे प्रीतादि त्रितये मताः ॥ (भ० र० सि०) अर्थ—प्रलय को छोड़कर स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, विवर्णता, स्वरभंग, वेपथु, अश्रु, आदि इसमें सात्विकभाव होते हैं। अथ व्यभिचारिणः—हर्षो गर्व्वो धृतिश्चात्र निर्वेदोऽथ विषण्णता ॥ दैन्यं चिन्ता स्मृतिः शंका मतिरौत्सुक्यचापले। वितर्कावेगह्रीजाड्यमोहोन्मादावहित्थकाः ॥ वोधःस्वप्नः क्लमोव्याधिर्मृतिश्च व्यभिचारिण.। (भ० र० सि०) अर्थ—व्यभिचारीभाव—इसमें, १—हर्ष, २—गर्व, ३—धृति, ४—निर्वेद, ५—विषाद, ६—दैन्य, ७—चिन्ता ८—स्मृति, ९—शंका, १०—मति.११—औत्सुक्य,१२—चपलता,१३—वितर्क, १४—आवेग, १५—लज्जा, १६—जाड्य, १६—मोह. १८—उन्माद, १९—अवहित्था, २०—वोध, २१—स्वप्न, २२—क्लम, २३—मरण ये व्यभिचारीभाव होते हैं। स्थायीभाव—(१)अविरल भक्ति, (२) तैल धारावत् स्मरण, (३) प्रेम, (४) भजन, (५) सेवा, (६) पूजा, (७) अर्चा, (८) स्तुति।

जीव ईश्वर का नित्यदास है। यथा—'जीवेर स्वरूपहय कृष्णेर नित्यदास' पुनश्च—रावण के द्वारा परिचय पूछे जाने पर श्रीहनुमानजी का कथन—दासोऽहं कौशलेन्द्रस्य। अतः यह भाव प्रायः सुदृढ रहता है। ऐश्वर्य दर्शन होते ही वात्सल्य, सख्य, माधुर्य, ये सभी रस दास्यरस रूप ही वन जाते हे, यथा—दोहा—बार-बार कौशल्या विनय करै कर जोरि। अब जनि कबहूँ व्यापै प्रभु मोहि माया तोरि ॥ श्रीदशरथ जी—बार-बार करि प्रभुहि प्रनामा। दशरथ हरषि गयउ सुरधामा ॥ (रामायण) श्रीवसुदेव देवकी यथा—युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ। भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तयात्थ ह ॥ तत्तो गतोस्म्यरणमद्य पदारविन्दमापन्न संसृतिभयापहमार्त्तबन्धो। एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः ॥ (भागवत १०।८५।१८-१९) अर्थात् आप दोनो मेरे पुत्र नही हैं किन्तु साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वर है भूभार हरणार्थ अवतीर्ण हुए है। अतः मैं आपके पादारविन्द की शरणमे हूँ जो सन्सृति रूप भय को दूर करने वाले हैं ॥ श्रीयशोदा—गोप्यश्च गोपाः सह गोधनाश्च मे यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः ॥ भगवान के मुख में विश्व देखकर माता ने प्रार्थना की कि जिसकी कृपा से गोपी गोप गोधन इस प्रकार है ऐसी प्रतीति होती है वही प्रभु मेरी गति हैं। इसी प्रकार नन्दवावा—मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ॥ आदि ॥ अर्जुन—विराट्रूप देखकर—सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति। अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि॥ सारांश—आपकी महिमा को न जानकर आपको सखा मानकर विहार, शय्या, आसन, भोजन आदि मे जो अपराध हुए हों उन्हें क्षमा कराता हूँ। (गीता)

व्रजगोपियाँ–यथा—श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम् ।। आदि प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त श्री-दशरथ-कौशल्या, वसुदेव-देवकी, नन्द-यशोदा, वात्सल्य रसोपासक हैं, श्रीअर्जुन जी सख्य रसोपासक है। व्रज देवियाँ शृङ्गार रसोपासिका हैं। परन्तु ऐश्वर्य ज्ञान होने पर सभी के भाव दास्य रूप मे परिणित हो गये। दास्य भाव की इस महिमा को विचार कर ही श्रीकागभुसुण्डि जी ने वड़ा जोर देकर कहा है कि—सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि। भजिय राम पद पंकज अस सिद्धांत विचारि ।। (रा० च० मा०) भगवान को भी दास से वढ़ कर कोई प्रिय नहीं है। यथा—अनुज राज सम्पति वैदेही। देह गेह परिवार सनेही। सब मोहि प्रिय नहि तुमहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना ।। सेवक प्रिय सबके यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती ।। (रा०च०मा०) सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ। नहि कोऊ प्रिय मोहि दास सम कपट प्रीति बहिजाउ ।। (गीतावली) पुनश्च—सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सबते अधिक मनुज मोहि भाये ।। तिन महँ द्विज द्विज महं श्रुतिधारी। तिनमहँ निगम धर्म अनुसारी ।। तिन महँ प्रिय विरक्त पुनि ज्ञानी। ज्ञानिहुँ ते अति प्रिय विज्ञानी।। तिनते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ।। इसीसे भगवानके दास भगवान से प्रार्थना करते है—सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नाथ यहि ओर निबाहू ।।(रा०च०मा०)

सख्यरस—स्थायीभावो विभावाद्यैःसख्य मात्मोचितैरिह। नीतश्चित्ते सतां पुष्टि रसः प्रेयानुदीर्यते ।। (भ० र० सि०) अर्थ—सख्यरूप स्थायीभाव अपने अनुरूप विभावादि के द्वारा सहृदयों के चित्त में पुष्टि को प्राप्त होकर प्रेयान् (प्रेयो-भक्तिरस अर्थात् सख्य) रस कहलाता है ।। तत्रालम्बनाः—'हरिश्च तद्वयस्याश्च तस्मिन्नालम्बनामताः ।।' (भ० र० सि०) अर्थ—इसमे श्रीहरि तथा उनके मित्र आलम्बन विभाव माने जाते हैं ।। अथोद्दीपनाः—उद्दीपना वयोरूपाश्शृंग वेणुदरा हरेः ।। विनोद नर्म विक्रान्ति गुणाः प्रेष्ठ जनास्तथा। राजदेवावतारादि चेष्टाऽनुकरणादयः ।। (भ०र०सि०) अर्थ—कृष्ण की आयु, रूप, शृङ्ग, वाँसुरी, और शङ्ख तथा विनोद हँसी-मजाक,पराक्रम के गुण तथा प्रियजन एवं राजा, देवता, अवतार आदि की चेष्टाओं का अनुकरण आदि उद्दीपन विभाव हैं ।।

अथानुभावाः—'नियुद्ध कन्दुक द्यूत वाद्य वाहादिकेलिभिः। लगुडालगुडिक्रीडासङ्गरैश्चास्यतोषणम् ।। पल्यङ्कासन दोलासु सहस्वापोपवेशनम्। चारुचित्र परीहासो विहारः सलिलाशये ।। युग्मत्वे लास्य गानाद्याः सर्वसाधारणाः क्रियाः ।। अर्थ—कुश्ती, गेंद खेलना, द्यूत क्रीड़ा। वाद्य तथा सवारी आदि की क्रीड़ाओं के द्वारा, एवं दण्डों से परस्पर लड़ाई आदि के द्वारा इन (श्रीकृष्ण) को प्रसन्न करना ।। पलका, आसन और झूले पर साथ-साथ सोना और वैठना, सुन्दर एवं नाना प्रकार का परिहास करना, जलाशयों मे विहार करना, और दो के इकट्ठे होने पर नाचना गाना आदि सख्यभक्तिरस में सबके साथ समान रूप से होने वाले व्यापार अनुभाव होते हैं। सख्यरस मे सात्विकभाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वैवर्ण्य, कम्प, वेपथु, अश्रु।

अथव्यभिचारिणः—औग्र्यं त्रासं तथाऽऽलस्यं वर्जयित्वाऽखिलाःपरे। (भ० र० सि०) अर्थ—उग्रता, भय तथा आलस्य को छोड़कर शेष सारे व्यभिचारि भाव, विद्वान लोग सख्यभक्तिरस में वतलाते है। स्थायी—विमुक्त सम्भ्रमा या स्याद् विश्रम्भात्मा रतिर्द्वयोः। प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायि-शब्दभाक् ।। (भ०र०सि०) अर्थ—दो समान व्यक्तियों की भयरहित तथा विश्वासरूपिणी जो रति होती है वह यहाँ सख्य नामक स्थायि भाव कहलाता है ।।

दृष्टांत दो मित्रों का—

'विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्यं द्विविधमीरितम् ॥' (भ० र० सि०)

दो मित्र थे। परस्पर वडा स्नेह था। एकवार कही यात्रा में जा रहे थे। जगल में,सघन वृक्षकी छाया में, थके माँदे, दोनो वैठकर विश्राम करने लगे। एक मित्र की जाँघ पर अपना सिर रखकर एक मित्र सो गया। दूसरा जग रहा था। तव तक वृक्ष के कोटर से एक सर्प निकला और सोये हुये मित्र की ओर वढ़ा। जागने वाले मित्र ने सर्प को टोक कर उसके आने का अभिप्राय पूछा। सर्प ने कहा—यह मेरा पूर्व जन्म का वैरी है। मैं इसका खून पीऊँगा। मित्र ने कहा कि तू मेरा खून पीले, मेरे मित्र को छोड़ दे। परन्तु सर्प ने स्वीकार नही किया। तव मित्र ने विचारा कि इसके काटने से तो मित्र की मृत्यु हो जायगी और इसे चाहिये केवल खून ही। तव उसने सर्प से पूछा कि तुम्हे किस अङ्गका खून पीना है। मैं वही का तुम्हे दे दूँ। सर्प ने कहा—कण्ठ का। वस मित्र ने छुरी निकाली और मित्र के कण्ठ की त्वचा चीर कर खून निकाल कर एक पत्ते पर सर्प को दे दिया। सर्प पीकर चला गया। इसने कण्ठ पर पट्टी वाँध दी। यद्यपि सोया हुआ मित्र, जव उसके कण्ठ पर छुरी चलाई गई तव जाग गया था। परन्तु नेत्र मूँद लिया। जगने पर कण्ठ मे पट्टी वँधी देखकर भी, कष्ट का अनुभव होने पर भी अपने मित्र से कुछ कहा नही। पूछा तक नही। दूसरे मित्र से नही रहा गया। उसने स्वय उससे जव कहा कि मैंने आपके कण्ठ पर छुरी चलाई, परन्तु आप पूँछते भी नही, जागकर भी सो रहे क्या कारण है? तव उस मित्र ने कहा कि मुझे दृढ विश्वास है कि मेरा मित्र जो कुछ भी करेगा मेरे कल्याण के लिये ही। अत' पूछने का कोई प्रश्न ही नही। यह है, मित्र वृत्ति और विश्वास का उदाहरण।

मित्र लक्षण—पापान्निवारयति योजयते हिताय, गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटी करोति। आपद्गतं न जहाति ददाति काले, सन्मित्र लक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥ (भर्तृ०) अर्थ—पाप से रोकता है, भलाई मे लगाता है। गुप्त वातो को छिपाता है, गुणो को प्रकट करता है, आपत्ति आने पर छोडता नहीं और समय पर यथा शक्ति देता है। सत्पुरुष मित्र का यही लक्षण वताते है। पुनश्च—कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्ह दुरावा॥ देतलेत मन शंक न धरई। वल अनुमान सदा हित करई॥ विपति कालकर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥ (रा०)

कुमित्र लक्षण—पुरा साधुवद् भाति मिथ्याविनीत, परोक्षे करोत्यर्थनाशं हताशः। भुजङ्गप्रयातोपमं यस्य चित्तं, त्यजेत्तादृशं दुर्विनीतं कुमित्रम्॥ यही भाव रामायण की चौपाइयो का है। यथा—आगे कह मृदु वचन वनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई॥ जाकर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरे भलाई॥ मित्र के प्रति भगवान राम का स्नेह। यथा—सखा सोच त्यागहु वल मोरे। सव विधि घटव काज मैं तोरे। पुनश्च—तव रघुपति वोले मुसकाई। तुम प्रिय मोहिं भरत जिमि भाई॥ पुन—ये सव सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ वेरे। मम हित लागि जनम इन हारे। भरतहु ते मोहिं अधिक पियारे॥ (रा०)

श्रीकृष्ण का मित्र स्नेह—न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः। न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥ (भा०) अर्थ—उद्धव! मुझे तुम्हारे जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रियतम है, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा,आत्मा शङ्कर,सगे भाई वलराम,स्वय अर्द्धाङ्गिनी श्रीजी और मेरा अपना आत्मा भी नही है। इसी प्रकार व्रज सखाओ के प्रति विलक्षण भाव है यथा—

चौपाई— जम्यौ खेल अति मगन कन्हाई। देखत सुर मुनि रहे लुभाई ॥
जीतत सखा श्याम जब जाने। नहिं खेलौं तब कहि मचलाने ॥
कहत सखा सब सुनहु गोपाला। रुगटैयां को कौन खियाला ॥
श्रीदामा सों हौ तुम हारे। झूठी सौहैं खाउ लला रे ॥
खेलत में को काको सैयाँ। कहा भयो जो नन्द गुसैयाँ ॥
क्यों तुम गर्वितहौ मन महियाँ।नहि हम बसत तुम्हारी छहियाँ॥
अति अधिकार जनावत ताते। तुम्हरे अधिक गाय कछु जाते॥
एक गाँव महँ वास हमारौ। मैं नहिं सहिहौं कह्यौ तिहारो ॥
एक कहो तो दस मैं कहि[illegible]। कछु तुमसों डरपि न जैहौं ॥
अब नहिं खेलहिं संग तुम्हारे। भये सखा सब रिस सौं न्यारे ॥
खेल्यौ चाहत त्रिभुवन राई। दियो दाव तब पीठि चढ़ाई ॥

दोहा— जाके गुण गण अमित अति, निगम न पावत छोर।
सो प्रभु खेलत ग्वाल संग, बँधे प्रेम की डोर ॥ (व्रजविलास)

पुनश्च-दोहा— गो चारत वृन्दाविपिन, खेलत ग्वालन संग।
दिव्य नृत्य संगीत लखि, हरि मन उठी तरङ्ग ॥

छन्द— तब कह्यौ कृष्ण सबसों सुनाय। संगीत नृत्य दीजै सिखाय ॥
सब बोलि उठे यामें प्रधान। है तोष तुम्बुरू के समान ॥
झट टेरि तोष लीन्हें बुलाय। कर जोरि कान्ह बोल्यौ मनाय ॥
प्रिय सखे तोष सन्तोष राय। म्वहिं नाच गान दीजै सिखाय ॥
सुनिकह्यौ तोष यह कठिन ज्ञान। प्रथमहिं गुरु सेवौ छांड़ि मान ॥
सहि मार डांट फटकार झार। अभ्यास करौ फिरि लगातार ॥
गुरु कृपा भये स्वर होहिं सिद्ध। वश करनी विद्या जग प्रसिद्ध ॥
स्वीकारि कृष्ण गुरु कियोतोष। तब सखन्ह मांझ भा असंतोष॥
मधु मंगल बोल्यौ सुनो कान्ह। हम अछत गुरूनहिं बनै आन ॥
मैं हौं कुलगुरु करु गुरू मोय। तब गुरु कदापि नहिं तोष होय ॥
सुनि अपर कहैं हम गुरू सांच। सब ज्ञान सिखावे कथाबांचि ॥
तब कहन लगे सब सखा लोग। श्रीकृष्ण गुरू हम बनै योग ॥
हौं गुरु,हौं,गुरु जब सुन्यौ शोर। तब कहत कृष्ण करिकै निहोर ॥
तुम सब ही हौ अब गुरू मोर। विद्या सिखवौ हम शिष्य तोर ॥

दोहा— हर विरंचि हूँ को जनक, जगत गुरू जो ख्यात।
भये ग्वारिया तासु गुरु, सख्य भक्ति के नात ॥

सख्य रसोपासक भक्तों के सम्बन्ध में देखिये भक्तमाल छप्पय २२ और श्रीसूरदास जी तथा श्रीगोविन्द स्वामी के प्रसंग ॥

वात्सल्य भक्तिरस—विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायीपुष्टिमुपागतः । एष वत्सलतामात्रः प्रोक्तो भक्तिरसो बुधैः ॥ (भ०र०सि०) अर्थ—विभावादि के द्वारा पुष्टि को प्राप्त हुआ वात्सल्यरूप स्थायीभाव वत्सलभक्तिरस होता है । इसको विद्वान लोग केवल वात्सल्यरस कहते हैं ॥ तत्रालम्बनाः—कृष्णं तस्यगुरूंश्चात्र प्राहुरालम्बनान् बुधाः ॥ अर्थ—विद्वान लोग कृष्ण और उनके गुरुजनो को वात्सल्य रस का आलम्बन मानते है । अथोद्दीपना—कौमारादिवयोरूपवेषाः शैशव चापलम् । जल्पितस्मित लीलाद्या बुधैरुद्दीपनाः स्मृताः ॥ (भ०र०सि०) अर्थ—कौमारादि आयु, रूप, वेष, शैशव की चपलता, वात करना । मुस्कराना, और लीला आदि को विद्वान लोग उद्दीपन वतलाते हैं ॥ अथानुभावाः—अनुभावा, शिरोघ्राणं, करेणाङ्गाभिमार्जनम् ॥ आशीर्वादो निदेशश्च लालनं प्रति पालनम् ॥ हितोपदेश दानाद्या वत्सले परिकीर्त्तिताः ॥(भ०र०सि०)अर्थ—सिर का सूँघना,शरीरपर हाथ फेरना,आशीर्वाद और आज्ञा देना, लालन-पालन करना तथा हित का उपदेश करना आदि वत्सल रस मे अनुभाव कहे जाते है । अथसात्विकाः— अब सात्विक भावों को कहते हैं । १—स्तन्यश्राव, २—स्तम्भ, ३—रोमाञ्च, ४—स्वेद, ५—वैवर्ण्य, ६—कम्प, ७—अश्रु, ८—स्वरभंग, ९—प्रलय । अथ व्यभिचारिणः—'अत्रापस्मारसहिताः, प्रीतोक्ताः व्यभिचारिणः ॥' अर्थ—अपस्मारसहित दास्यभक्तिरस मे कहे हुये व्यभिचारिभाव इनमें होते हैं।।अथस्थायी—सम्भ्रमादिच्युता या स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितुः । रतिः सैवात्र वात्सल्यं स्थायीभावो निगद्यते।। अर्थ—अनुकम्पा करने वाले गुरुजनों की अनुकम्पनीय के प्रति भयादि से रहित जो रति होती है उसी को यहाँ वात्सल्य नामक स्थायीभाव कहते हैं । यथा—'सुत विषयक तव पद रति होऊ । मोहिं वड़ मूढ़ कहै किन कोऊ ॥' (रा०च०मा०)

वात्सल्य रस सम्वन्धी उदाहरणार्थ कुछ प्रसग—अम्वा कौशल्या—

चौपाई— कवहुँ उछंग कवहुँ वर पलना । मातु दुलारहिं कहि प्रिय ललना ॥
सजल नयन कछु मुख करि रूखा । चितइ मातु लागी अति भूखा ॥
देखि मातु आतुर उठि धाई । कहि मृदु वचन लिये उर लाई ॥
गोद राखि कराव पय पाना । रघुपति चरित ललित कर गाना ॥
भोजन करत देख जव राजा । नहिं आवत तजि वाल समाजा ॥
कौशल्या जव वोलन जाई । ठुमुकि-ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई ॥
निगम नेति सिव अन्त न पावा । ताहि धरै जननी हठि धावा ॥
धूसरि धूरि भरे तनु आये । भूपति विहँसि गोद वैठाये ॥

दोहा— भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाय ।
भाजि चले किलकत मुख, दधि ओदन लपटाय ॥ (रामायण)

पद— ललन लोने लेरुआ वलि भैया ।
सुख सोइये नींद विरियाँ भइ चारु चरित चारो भैया ॥
कहति मल्हाइ लाइ उर छिन-छिन छगन छवीले छोटे छैया ।
मोद कंद कुल कुमुद चन्द मेरे रामचन्द्र रघुरैया ॥
रघुवर वाल केलि सन्तन की, सुभग सुभद सुरगैया ।
तुलसी दुहि पीवत सुख जीवत पय सप्रेम घनि घैया ॥

पद— आजु अनरसे हैं भोर के पय पियत न नीके।
रहत न बैठे ठाढ़े पालने झुलावत हू रोवत राम मेरो सो सोच सबही के॥
देव पितर ग्रह पूजिये तुला तौलिये घी के।
तदपि कबहु कबहुँक सखि ऐसे ही अरत जब परत दृष्टि दुष्ट तीके॥
बेगि बोलि कुलगुरु छुवौ माथे हाथ अमी के।
सुनत आय ऋषि कुस हरे नरसिंह मन्त्र पढ़े जो सुमिरत भय भी के॥
जासु नाम सर्वसु सदा शिव पार्वती के।
ताहि झरावति कौसल्या यह रीति प्रीति की हिय हुलसति तुलसी के॥ (गीतावली)

पद— आउ मेरे गोविन्द गोकुल चन्दा।
भई बड़ि वार खेलत यमुना तट बदन दिखाय देहु आनन्दा॥
गायन की आवन की बिरियाँ, दिनमनि किरन होत अति मन्दा।
आये तात मात छतियाँ लगे गोविन्द प्रभु ब्रजजन सुख कन्दा॥

चौपाई— मन अवसेर करत महतारी। पलक ओट रहि सकत न न्यारी॥
देखत द्वार गली में ठाढ़ी। सुत मुख दरश लालसा बाढ़ी॥
ततछन हरि खेलनते आये। दौरि मातु लै कण्ठ लगाये॥
खेलन दूरि जात किन कान्हा। मैं बलि तुम अवहीं अति नान्हा॥
आज एक बन हाऊ आयौ। तुम नहिं जानत मैं सुनि पायौ॥
इक लरिका भजि आयौ तबहीं। सो वह मोसों कहि गयो अवहीं॥
वह तो पकरि लेत है तिनको। लरिका करि जानत हैं जिनको॥
चलौ भाजि चलिये निज धार्माहि। यह सुनि टेरि लिये बलरार्माहि॥
कनियाँ करि लैआई धार्माहि। बड़ भागिनि यशुमति सुत श्यार्माहि॥

दोहा— रूप रेख जाके नहीं, विधि हरि अन्त न पाय।
हाऊसों डरपाय तेहि, यशुमति राखत स्वाय॥ (व्रजविलास)

श्लोक—पङ्काभिषिक्तसकलावयवं विलोक्य, दामोदरं वदति कोपवशात् यशोदा।
त्वं शूकरोऽसि गतजन्मनि पूतनारे, इत्युक्तसस्मितमुखोऽवतु नो मुरारिः॥

सवैया— खेलत रारि मचावत धावत कूदत कृष्ण सखा संग भैया।
श्री यमुना तट पंक में लोटि बन्यौ अति अद्भुत नंद को छैया॥
कीच सन्यौ किलक्यौ हँसिकै लखिकै करि कोप कहै इमि मैया।
मैं अब जानि सुमानि गई गत जन्म को शूकर है तु कन्हैया॥

श्लोक—रामो नाम बभूव हुँ तदबला सीतेति हुँ तौ पितुर्वाचा पंचवटी वने विहरतस्तामाहरद् रावणः।
निद्रार्थं जननी कथामितिहरेहुँकारतः शृण्वतः,सौमित्रे क्व धनुर्धनुरितिव्यग्रा गिरः पातु वः॥
(विल्व०)

सवैया— नहिं नींद भई वड़ि राति गई यशुदा इतिहास कहै हरि सो।
पितु आयसु ते मुनिवेष किये रघुनाथ ससीय गये वन को॥
जव पंचवटी वन में पहुँचे तव रावन आय हरी सिय को।
सुनि चौंकि कह्यो धनुवान कहाँ, यह व्यग्र गिरा सुख दै सवको॥

श्लोक—क्वाननं क्व नयनं क्व नासिका, क्व श्रुतिः क्व च शिखेति देशितः।
तत्र-तत्र निहितांगुलीदलो वल्लवीकुलमनन्दयत् प्रभुः॥ (पद्यावली)

अर्थ—श्रीकवि सार्वभौम जी कहते हैं कि—वालमूर्ति श्रीकृष्ण पर दुलार करती हुई गोपियाँ जव श्रीकृष्ण से यो कहती है कि, लालाजी! तुम्हारा मुख कहाँ है? नेत्र कहाँ हैं? नासिका कहाँ? कान कहाँ हैं? और तुम्हारी चुटिया कहाँ है? तव प्रभु श्रीनन्दलाल जी उस-उस स्थान पर अगुली धर-धर कर सव गोपियो को आनन्दित कर देते हैं॥

शृङ्गार रस—आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि। मधुराख्यो भवेद्भक्ति रसोऽसौ मधुरारतिः॥ (भ० र० सि०) अर्थ—अपने अनुरूप विभावादिको के द्वारा सहृदयो के हृदय मे पुष्टि को प्राप्त मधुरा रति को 'मधुरभक्तिरस' अर्थात् शृङ्गार रस कहा जाता है। तत्रालम्वनाः—अस्मिन्नालम्वनः कृष्णः प्रियास्तस्य च सुभ्रुवः॥ (भ० र० सि०) अर्थ—इसमे श्रीकृष्ण तथा उनकी प्रिय सुन्दरियाँ आलम्वन विभाव होतो हैं। अथोद्दीपनाः—उद्दीपना इह प्रोक्ता मुरली निस्वनादयः॥ (भ० र० सि०) अर्थ—मुरली की ध्वनि आदि (आदि शब्द से कमनीयता, वसन्त ऋतु, कोकिल कूक, त्रिविध पवन, कटाक्ष, मुस्कान, आदि का सकेत है) इसमें उद्दीपन विभाव है। अथानुभावाः—'अनुभावास्तु कथिता दृगन्तेक्षास्मितादयः।' (भ० र० सि०) अर्थ—कटाक्ष तथा स्मित आदि इसके अनुभाव कहे गये हैं। सात्विक भाव—स्तम्भ, रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य, कम्प, अश्रु, स्वरभंग, प्रलय। अथव्यभिचारिण—आलस्यौग्र्येविना सर्वे विज्ञेया व्यभिचारिणः। अर्थ—सम्भोग वाधक रूप आलस्य तथा उग्रता को छोड़ कर शेष सारे प्रिय संग कारक व्यभिचारी भाव मधुर भक्तिरस मे भी होते हैं। व्यभिचारि भाव ३३ होते हैं। यथा—१—निर्वेद, २—ग्लानि, ३—शंका, ४—श्रम, ५—धृति, ६—जडता, ७—हर्ष, ८—दीनता, ९—उग्रता, १०—चिन्ता, ११—त्रास, १२—इर्ष्या, १३—अमर्ष, १४—गर्व, १५—स्मृति, १६—अपस्मृति, १७—मरण, १८—मद, १९—निद्रा, २०—सुपुप्ति, २१—अववोध, २२—व्रीडा, २३—मोह, २४—मति, २५—आलस्य, २६—आवेग, २७—वितर्क, २८—अवहित्था, २९—व्याधि, ३०—उन्माद, ३१—विषाद, ३२—चपलता, ३३—औत्सुक्य॥

अथ स्थायी—'स्थायीभावो भवत्यत्र पूर्वोक्ता मधुरारतिः।' (भ० र० सि०) अर्थ—पूर्वोक्तमधुर भक्ति ही यहाँ स्थायीभाव कहा जाता है। वह मधुर भक्ति या शृङ्गार रस सम्भोग तथा विप्रलम्भ भेद से दो प्रकार का होता है। यथा—"स विप्रलम्भसम्भोगभेदेन द्विविधो मत।" (भ०र०सि०) विप्रलम्भ=वियोग। सम्भोग=संयोग। प्रेम तत्त्वदर्शी आचार्यो का अनुभव है कि सयोग की अपेक्षा वियोग श्रेष्ठ है यथा—"संगम विरहविकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्य। एकः स एव संगे, त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥" अर्थ—संयोग और वियोग, इन दोनों में मैं सयोग की अपेक्षा वियोग को ही श्रेष्ठ मानता हूँ। क्योकि संयोग मे वह प्रियतम अकेला ही दीखता है और वियोग मे तो त्रैलोक्य प्रियतममय दिखाई देने लगता है। यथा—"जित देखौं तित स्याम मई है।" उर्दू के एक शायर ने भी लिखा है—'वस्ल मे हिज्र

का गम, हिज्र में वस्ल की खुशी। कौन कहता है हिज्र से वस्ल अच्छा है ॥' अर्थ—संयोग में त्रियोग की आशंका होती है और वियोग में संयोग (मिलन) की खुशी समाई रहती है। अतः कौन कहता है कि वियोग से संयोग अच्छा है। वियोग (विप्रलम्भ) चार प्रकार का होता है। (१) प्रत्यक्ष, (इसी को प्रेम वैचित्र्य भी कहते है।), (२) पलकान्तर, (३) वनान्तर, (४) देशान्तर। इनकी विशेष व्याख्या देखिये! श्रीनन्ददास जी के प्रसङ्ग में। एव आगे चल कर प्रसंगानुसार अन्यत्र भी संयोग और वियोग के सम्बन्ध में लिखा जायेगा। सम्भोग—'द्वयोर्मिलितयोर्भोगः सम्भोग इति कीर्त्यते।' (भ०र०सि०) अर्थ—मिलने पर दोनों का भोग सम्भोग शृङ्गार कहलाता है॥

शृङ्गार रस के कुछ उदाहरण—

जोई-जोई प्यारो करै सोई-सोई भावै मोंहि, भावै मोंहि जोई सोई-सोई करैं प्यारे।
मोकों तो भावती ठौर प्यारे के नैनन में, प्यारो भयो चाहै मेरे नैनन को तारे॥
मेंरे तन मन प्राणहूँ ते प्रीतम प्रिय, अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोसों हारे।
जै श्रीहित हरिवंश हंस-हंसिनी सांवल गौर कहो कौन करै जल तरङ्गनि न्यारे॥

पद— तब मुखचन्द चकोर ये नैना।
अति आरत अनुरागी लम्पट भूलि गई गति पलहू लगैना॥
अरवरात मिलिबे को निसदिन मिलेइ रहत मनों कवहुँ मिलै ना।
'भगवत रसिक रसिक की बातें रसिक बिना कोउ समुझि सकैना॥

कवित्त— ऐरी आज काल सब लोक लाज त्यागि दोऊ, सीखे हैं सबै विधि सनेह सरसायबो।
यह रसखानि दिन द्वै में बात फैलि जैहै कहाँ लौं सयानी चन्द हाथनि छिपायबो॥
अजहूँ निहार बीर निपट कलिन्दी तीर दोउन को दोउन सों मुख मुसक्याइबो।
दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ उन्हैं भूलि गईं गैयाँ इन्हैं गगरी उठायबो॥(रसखान)

चौपाई— रामहिं चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुखु नहिं कथनीया॥
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कवि कोऊ॥
पुनः— प्राणनाथ तुम बिन जगमाहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु वारी। तैसें हि नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। शरद विमल विधु बदन निहारे॥
छिन-छिन पिय पद कमल बिलोकी। रहिहौं मुदित दिवस जिमि कोकी॥

दोहा— प्राणनाथ करुणायतन सुन्दर सुखद सुजान।
तुम बिनु रघुकुल कुमुद विधु सुरपुर नरक समान॥

तथा श्रीराम वाक्य—तत्त्व प्रेम करु मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरस एतनेहि माहीं॥ (रामायण)

'पाँचो रस सार'—यथा—शान्त, दास्य वात्सल्य कहि तिमिशृंगार सुसख्य। ये पाँचौं रस भक्ति के, मणि रस रंग सुमुख्य॥ काव्यन में शृंगार को, कहैं यदपि रसराज। पै भक्ती में सम अहै,

पांचो रस सुखसाज ।। (श्रीराम रस रङ्ग दोहावली) पुनश्च—घाटि वाढ़ि एकौ नहीं पांचो रस हैं सार । सवही ते प्रभु रीझहीं, सब पर राखैं प्यार ।। पांच रसन को भक्ति के, पांच प्राण ही जानिये । रुचि अनुसार उपासिये, पै घट वढ़ नहिं मानिये ।। (भ० व० टि०)

'विस्तार नीके गाये हैं'—भाव यह कि—आगे जो भक्तों का चरित्र गाया गया है, तो जो भक्त जिस रस का उपासक है, उसके चरित्र वर्णन में, उस रस का सम्यक् वोध कराया गया है। वस्तुतः रसो का सम्यक् वोध, जैसा उन-उन रसोपासक भक्तों के चरित्र के माध्यम से किया जा सकता है, वैसा रसों की स्वतंत्र व्याख्या से समझना असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। अतः श्रीप्रियादास जी ने इस कवित्त मे केवल रसों के नाम ही निर्देश किये हैं, विस्तार आगे चरित्र वर्णन में किया है। श्रीभक्तमाल के सभी भक्त इन पाँचों रसों के अन्तर्गत आते हैं। जैसे—श्रीशङ्कराचार्य जी, श्रीविमलानन्द जी, दामोदरतीर्थ जी, मधुसूदन सरस्वती आदि शान्त रसोपासक भक्त हैं। श्रीहनुमान जी, श्रीसुग्रीव जी आदि दास्य रसोपासक हैं। श्रीअर्जुन, मधुमंगल, सुवलादि सख्य रसोपासक हैं। श्रीदशरथ-कौशल्या, नन्द-यशोदा, कर्मावाई आदि वात्सल्य रसोपासक हैं। श्रीव्रजदेवियाँ, श्रीअग्रदास, श्रीनाभा जी, श्रीसूरदास जी मदनमोहन, श्रीनरसी जी आदि शृङ्गार रसोपासक भक्त हैं।

टीका को चमत्कार—

छप्पय—टीका ते वनि भूप राजसिंहासन राजै। टीका ही ते साधु विष्णु सम सुन्दर साजै ।।
टीका ते यम डरैं लोक में आदर पावै। टीका मंगल मूल भये वर व्याह रचावै ।।
सुभगा तिय टीका किये,कविभाषा को रस मिलै।मूलग्रंथ कलिका,सरिस सरसी टीका ते खिलै ।।

जानौगे विचारि मन—रहस्य विचार करने पर ही समझ में आते है। इसमे श्रीप्रियादास जी का सकेत है कि प्रत्येक प्रसंग गहराई से विचार पूर्वक मनन किया जाय तो वड़े-वडे अनूठे भाव रत्न मिलेगे। पूर्व कहे है कि टीका चमत्कारपूर्ण हैं, तो अव टीका का चमत्कार वर्णन करते हैं—१—इनके स्वरूप मैं अनूप लै दिखाये हैं। २—जिनके न अश्रुपात ·····छकाये है। ३—जौलौं रहै दूर·····श्रवण लगाये है। ये सव चमत्कार हैं।

इनके स्वरूप मैं अनूप लै दिखाये हैं—इसका कई प्रकार से अर्थ होगा। १—इन रसो का स्वरूप मैंने अनूपम अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट रीति से दिखाया है। २—इन रसोंके विस्तार से वर्णन मे मैंने अनुपम भक्ति को अनुपम रीति से दिखाया है। भक्ति अनुपम है। यथा—'तात भगति अनुपम सुखमूला।।' (रा०च०मा०) ३—इन रसो का स्वरूप वर्णन करने मे मैंने अनुपम भगवान को दिखा दिया है।। अर्थात् भगवत्स्वरूप प्रत्यक्ष हो गया है। भगवान के नाम, रुप, लीला, धाम, चारों ही अनूप है। यथा—नाम अनूप—'इनके नाम अनेक अनूपा।' रुप अनूप=निरुपम न उपमाआन राम समान राम निगम कहैं।। लीला अनूप=कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा। व्यास समास स्वमति अनुरुपा।। धाम अनूप=संत सभा अनुपम अवध सकल सुमंगल मूल।। (रा० च० मा०) दिखाये हैं—जनाया कि जो भी विषय मैंने वर्णन किया है, वह मूर्तिमान हो गया है। ऐसे काव्य को चित्र काव्य कहते है। जिनमे विना तूलिका और विना रङ्ग के, शब्दों द्वारा विषय को साकार कर दिया जाता है। अनूपनै दिखाये हैं—भाव ज्यो का त्यों मैंने दरसा दिया है।

दृष्टांत—तानतरंग वेश्या का—तान तरङ्ग नाम की एक वेश्या थी। इसकी भाव प्रदर्शन कला की वड़ी प्रसिद्धि थी। कला प्रदर्शन के लिये राजदरबार में वुलाई गई। बादशाह ने श्रीकृष्ण की बाल-लीला का भाव दिखाने की आज्ञा दी। उसने 'मैया री मैं चन्द खिलौना लैहौं' का भाव दिखाया। तदाकार हो गई। मचल गई। मानो साक्षात् वाल कृष्ण मैया से मचले हों। बादशाह प्रसन्न होकर बहुत-वहुत पुरस्कार देते, परन्तु वह कुछ भी नही लेती, फेंक-फेंक देती, वस एक ही रट 'मैया री मैं चन्द खिलौना लैहों।' वादशाह झुँझलाया। एक अनुभवी सज्जन ने भाव को पहचाना और सुझाव दिया कि जैसे—रोहिणी माता ने युक्ति पूर्वक थाल में जल रखकर चन्द्र प्रतिबिम्ब दिखा कर वाल कृष्ण को मनाया था,वही किया जाय। ऐसा ही किया गया। वह प्रसन्न हो गई। बादशाह ने उलाहना दिया—तुम बड़े से वड़े पुरस्कारो पर नहीं रीझी और झूठ-मूठ के चन्द्र प्रतिबिम्व पर रीझ गईं। ऐसा क्यों? उसने उत्तर दिया कि यदि मैं पुरस्कारों का लोभ करती तो भाव प्रदर्शन में त्रुटि रह जाती। बालकृष्ण तो चन्द्र प्रतिबिम्ब पर ही रीझे थे। अन्य किसी भी वस्तु विशेष पर नही।

जिनके न अश्रुपात पुलकित गात कभूं—भाव जो सर्वथा वज्र हृदय हैं। कितना हूँ, कैसा भी, करुण प्रसंग क्यों न सामने आये, जो किंचितमात्र भी पसीजने वाले नही हैं। यथा—**कुलिस कठोर निठुर सोई छाती। सुनि हरि चरित न जो हरषाती।।** (रा० च० मा०) पुनश्च—**तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः। न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषुहर्षः।।** (भा० २।३।२४) अर्थ—वह हृदय नही है, लोहा है, जो भगवान के मगलमय नामों का श्रवण कीर्तन करने पर भी पिघल कर उन्हीं की ओर बह नही जाता। जिस समय हृदय पिघलता है, उस समय नेत्रों मे आंसू छलकने लगते हैं, और शरीर का रोम-रोम खिल उठता है।। ऐसे कठोर हृदय को तो फट जाना चाहिये,नेत्र फूट जाने चाहिये,शरीर जल जाना चाहिये जो भगवानका स्मरण करके भी द्रवते,स्रवते तथा पुलकायमान नही होते। यथा—**हिय फाटहु फूटहु नयन, जरउ सो तन केहि काम। द्रवहिं स्रवहिं, पुलकहिं नहीं, तुलसी सुमिरत राम।।** (दोहावली) भगवान का चरित्र कहने, सुनने में जिनको हर्ष रोमांच आदि होता है वे निश्चय ही वड़े सुकृती हैं। यथा—**'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं।।** (रामचरितमानस)

तिन्हहूं को भाव सिन्धुबोरि सो छकाये हैं—तिन्हहूँका भाव यह कि रसिक महानुभावों के लिये तो यह टीका रसबोधिनी होगी ही जो कुलिश कठोर हृदय है, उनको भी। भावसिन्धुवोरि का भाव यह कि जहाँ भावविन्दु भी नही है वहाँ भावसिन्धु हिलोरें लेने लगता है। विचारने की बात है कि जव, यह टीका रसहीन हृदय में भाव सिन्धु उमगाने वाली है तो रसिक हृदय को कितनी सुखदायिनी होगी। भावसिन्धु में डुबोने का भाव यह कि सदा सर्वदा के लिये उसका हृदय सरस हो जाता है। क्षणिक अनुराग की प्राप्ति होती हो, सो बात नही। क्योंकि—**"डूबा प्रेम सिन्धु का कोई हमने नहीं उछलते देखा।।"** (ललितकिशोरी जी

छकाये हैं—भाव—**'चाटत रह्यौं स्वान पातरि ज्यौं,कबहुँ न उदर भरो।'** यह बात नही। मैंने तो उनको छका दिया है, पूर्ण तृप्त कर दिया है। यथा—

कवित्त—**सुनि रोवै गावै एक भूमि में लुटावै तन, एक हंसि नाचै ध्यान लावै मूर्त्ति लाल की।**
एक धन धाम खान पान परिवार त्यागि सुनै नित्त जात सोच छांड़ि माया जालकी।।

गांग बूटी छूटी अरु ही की आंख खूटी तव, ममता जंजीर टूटी मेटी चिन्ता कालकी।
एक एकन वुलाय धाय लाय समुझाय कहैं,चलि सुनि आओ कथा होति भक्तमालकी।।
(भ० व० टि०)

पुनः— घरहू छुटाये काम पूरे हू न परन पाये, हिय हुलसाये रूप मति अति लाल की।
असन वसन भूले लोचन सरोज फूले मन रस भूले वानी सुनि सुरसाल की ।।
लोक कुल धर्म टारे धीरज विडारि डारे रंग भरि भारे शोभा अक्षर विसाल की।
प्रेम सुख जाल रही काहू न सँभाल अहो सुनि भक्तमाल कैधौं वाँसुरी गोपाल की ।।

जौ लौं रहैं दूर—भाव यह कि जब तक श्रीभक्तमाल जी का दर्शन नहीं किया है, पढ़ा, सुना, समझा नही है तव तक 'रहै विमुखता पूर'—क्योंकि—"विना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है।" 'हियो होय चूर नेक श्रवण लगाये हैं।' यथा—

दोहा—भक्तमाल जू की कथा, भई मधुपुरी माँहि। प्रेम सहित चौविनें सव, नित्य सुनन तहँ जाँहि ।।

चौपाई— एक रही सो कवहुँ न जावै। नित्त परोसिनि ताहि वुलावै ।।
गृह कारज अवसर नहिं पाऊँ। कैसे कथा सुनन को जाऊँ ।।
एहि विधि कहि कवहूँ नहिं जावै। संग हेतु सो नित्त बुलावै।।
कथा भवन कछु कारज आयौ। जाय अनिच्छित कछु सुनि पायौ।।
भगवत् कृपा रङ्ग चढ़ि आयौ। देह गेह छन मांझ भुलायौ ।।
भई वावरी सी पछिताई। वसन विभूषण सुधि विसराई ।।
ऐसी कथा न मैं सुनि पाई। अव समाप्त होवे पर आई ।।
प्रेम भूत सो ऐसो लाग्यौ। चूर-चूर हिय रति रस पाग्यौ ।।
करि उपाय घर के जव हारे। तव निज भवन कथा वैठारे।।
परमानन्द भयो तव ताको। कथा सुधा को चसको वाँको ।।

दोहा— लाखा पिघले रंग परै, नहीं सकै विलगाय।
द्रवित चित्त पै रँग चढ़ै क्यों हू उतरै नाँय ।। (विशेष देखिये भक्तमाल माहात्म्य)

भक्तमाल-महिमा

पंच रस सोई पंच रंग फूल थाके नीके, पीके पहिराइवे को रचिकै वनाई है।
वैजयन्ती दाम,भाववती अलि"नाभा",नाम लाई अभिराम श्याम मति ललचाई है।।
धारी उर प्यारी,किहूँ करत न न्यारी,अहो !देखौ गति न्यारी ढरिपायनको आई है।
भक्ति छविभार, ताते नमित शृङ्गार होत,होत वश लखै जोई याते जानि पाई है।।५।।

शब्दार्थ—पंचरस=शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और शृङ्गार रस। थाके=गुच्छे, स्तवक, सुरिमत। पीके=प्रियके, श्रीराघवेन्द्र सरकार के। वैजयन्ती=पाँच रंगो के फूलों की माला जिसे भगवान

पहनते है। भाववती=प्रेम करने वाली, प्रेमिका। अली=सखी। न्यारी=अलग, दूर, निराली, अनोखी। ढरि=लटककर। नमित=झुका, नम्र।

भावार्थ—प्रस्तुत कवित्त में श्रीभक्तमाल को पँचरंगी बैजयन्ती माला वताकर उसकी महिमा, सुन्दरता और भगवत प्रियता का वर्णन किया गया है। पूर्व कवित्त में कहे गये पाँच रस ही मानों फूलों के सुन्दर गुच्छे हैं, भाववती नाभा नाम की सखी ने अपने प्रियतम को पहनाने के लिये अच्छी प्रकार से बनाया है। यह बैजयन्ती माला इतनी सुन्दर है कि लोकाभिराम श्यामसुन्दर श्रीराम की बुद्धि भी इसे देखकर ललचा गई। उन्होंने इस प्यारी वनमाला को अपने वक्षस्थल पर धारण किया, उन्हें यह इतनी प्रिय लगी कि—इसे वे कभी भी अपने कण्ठ से अलग नहीं करते हैं। इस मालाकी विचित्र गति तो देखिए कि—भगवान ने इसे कण्ठ में धारण किया और यह लटक कर श्रीचरणों में आ लगी है। इस माला में भक्ति की सुन्दरता का भार है इसी से झुकी है। पंचरंगी भक्तमाला पहने हुये श्याम-सुन्दर का जो दर्शन करता है, वह उनके वश में होकर उन्हें वश में कर लेता है। यह रहस्य की बात भक्तमाल के द्वारा जानी गई है॥ ५॥

व्याख्या—पंच रस सोई पंचरंग फूल—शान्तरस श्वेत रंग का फूल है दास्य रस पीत रंग का, सख्य हरे रंग का, वात्सल्य लाल रंग का और शृङ्गार रस श्यामवर्ण का फूल है। यथा—

कवित्त— शान्त भक्त श्वेत पुष्प ब्रह्म ज्योति ध्यान धरैं, चित्तवृत्ति शुद्ध-स्वच्छ वारिधार गंग की।
दास्य पीत हैं प्रसून पाद-पद्म प्रीतिरीति, भीति हीय माँझ नित्य चिन्त स्वामि अंग की॥
सख्य भाव चाव पूर्ण, हैं हरे सुरंग फूल, खेल कूद प्रेम युक्त चाह है उमङ्ग की।
वात्सल्य लाल रङ्ग लाल को लड़ाय लाड़गोद राखि मोद मानि बुद्धि हू अपङ्ग की॥१॥
श्याम वर्ण है सिङ्गार अङ्ग संग में आनन्द याहि देखु, आय भक्तमाल पंच रङ्ग की।
राम श्याम कण्ठ माँहि देखि शोर चारि ओर, देखुरी लजाति जोति आजु है अनङ्ग की॥
एक द्यौस मांझ पुष्प माल होन छीन होति, नित्त ही नवीन आलि काव्य यों अभङ्ग की।
धारि कै नं फेरि याहि को उतारिबे की चाह ऐसी बैजयन्ती भक्त-माल पंच रङ्ग की॥२॥
(भ० व० टि०)

थाके=गुच्छे। पंचरङ्ग फूल के गुच्छे कहने का भाव यह कि, भक्तमाल में जो भक्त सुमन पिरोये गये है, वह कुछ इस क्रम से नही कि शान्त रसोपासक एक जगह और दास्य रसोपासक एक जगह वल्कि सभी रस के भक्तों का सम्मिलित वर्णन किया गया है। जैसे एक-एक गुच्छे में बहुत-बहुत फूल होते हैं। वैसे ही एक-एक छप्पय में बहुत-बहुत भक्तों का वर्णन है। अतः पंच रङ्ग फूल थाके कहा। थाके का अर्थ स्थिर होना भी होता है। इसके अनुसार भाव यह कि—श्रीनाभा जी ने भक्त-सुमनों को भक्ति सूत्र में ऐसा पिरोया है कि एक भी फूल झड़ नहीं सकता, अर्थात् सभी भक्तों का चरित्र इतना सरस है, भावपूर्ण है कि एक के भी सम्वन्ध में यह नही कहा जा सकता कि यह ठीक नहीं। सभी ही अत्यन्त हृदयाकर्षक है। दूसरे—प्यारे भी इतना सँभाल कर इस माला को धारण करते हैं कि एक भी सुमन झड़ने न पाये और भक्त-सुमन भी स्वयं सावधान है, गिर नहीं सकते। अतः थाके नीके ऐसा कहा।

पीके पहिराइबे को—पीके अर्थात् अपने प्यारे प्रभु श्याम सुन्दर को पहिराइबे को। प्रश्न—पीके ही पहनाने को क्यों? समाधान—१—भक्त की मनसा वाचा कर्मणा समस्त चेष्टायें स्वाभाविक ही, भगवान के लिये ही होती है। भक्त जो कुछ भी करता है, उसे भक्तिपूर्वक प्रभु को ही समर्पित करता है। यथा—'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृत स्वभावात्। करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥' (भा० ११।२।३६) अर्थ—वह (भक्त) शरीर से, वाणी से, मन से, इन्द्रियों से, बुद्धि से अहङ्कार से, अनेक जन्मों अथवा एक जन्म की आदतों से स्वभाव वश जो-जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान नारायण के लिये ही है, इस भाव से उन्हे समर्पण कर दे॥ २—भगवान की आज्ञा भी है। यथा—'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥' (गीता ९।२७) अर्थ—हे अर्जुन! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ स्वधर्माचरण रूप तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर॥ ३—इस माला के महत्व को, माली की भक्ति को जैसा प्रभु समझते है, वैसा अन्य नही। यथा—'को जिय कै रघुवर बिनु बूझा।' अत. पीके ·· ··· ···। जो वस्तु के महत्व को नही जानता, उसे वह वस्तु प्रदान करने से, वस्तु का निरादर होता है, दाता को क्षोभ होता है, प्रति गृहीता का अमङ्गल होता है। इस पर—

दृष्टांत इन्द्र और दुर्वासा का—श्रीदुर्वासाजी भगवान का दर्शन करने वैकुण्ठ गये। प्रभु ने प्रसन्न होकर निज प्रसादी माला मुनि को दी। मुनि मालाको लेकर आ रहे थे। इन्द्र-ऐरावत पर चढ कर देवासुर सग्राम में जा रहे थे। इन्द्र ने इन्हे सादर प्रणाम किया। मुनि ने इन्द्र की मगल-कामना से वह माला उन्हे दे दी। परन्तु मदोन्मत्त इन्द्र ने उसे ऐरावत के माथे पर डाल दिया। ऐरावत ने सूँड से तोड़ कर पाँवो से कुचल दिया। यह सब देखकर रुद्रावतार दुर्वासा मुनि ने ऐश्वर्य भ्रष्ट होने का शाप दे दिया। कथा का तात्पर्य—इन्द्र ने माला के महत्व को नही जाना, अत उसका निरादर किया, हाथी के सिर पर डाल दिया जिससे मुनि को क्षोभ हुआ। अतः पीके· ···। ४—चूँकि भगवान को भक्त अति प्यारे हैं। यथा—'तुम सारिखे संत प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे॥' (रा० च० मा०) 'साधवो हृदयं मह्यं' 'सन्त आत्माऽहमेव च।' (भा०) अत. पीके पहिराइबे को ·· ···। पहिराने से तात्पर्य प्रेमपूर्वक सुनाने से है और प्रेमपूर्वक सुनना, सुन कर भावों को हृदयङ्गम करना, भाव हृदयङ्गम होने पर भी सदा सुनते रहना, सदा सुनते रहने पर भी, सुनने के लिये समुत्सुक ही बने रहना पहिनना है, धारण करना है। वस्तुत. श्रीभक्तमाल के प्रधान श्रोता भगवान ही हैं। देखिये श्रीभक्तमाल माहात्म्य।

रचिकै बनाई है—भक्तिभाव पूर्वक बनाई है। यथा—छन्द—भाव वाटिका से नाना अलि भक्त सुमन चुनि लाई है। हृदय टोकरी में धरि अँसुवन सींचि सींचि सरसाई है॥ गुरुकी आज्ञा सुई भई हरि भक्ति सूत्र सुखदाई है। हरिजन प्रेम युक्ति से गूँथी यहि विधि, रची बनाई है॥ (भ०र०वि०)

वैजयन्ती दाम—श्रीनाभा जी ने इस भक्तमाल को वैजयन्ती दाम अर्थात् वनमाल नाम दिया। वनमाला नाम क्यो? समाधान—इसलिये कि वनमाला पांच प्रकार के पुष्पों से निर्मित होती है। यथा—'तुलसी कुन्द मन्दार, पारिजात सरोरुहे। पञ्चभिर्ग्रथिता माला, वनमाला प्रकीर्तिता॥ अर्थात्—१—तुलसी, २—कुन्द, ३—मन्दार, ४—पारिजात, और ५—कमल वनमाला मे ये पांच

प्रकार के फूल होते हैं। और भक्तमाल भी पंचरस रूपी पंचरङ्ग के फूलों से निर्मित है अतः वैजयन्ती दाम कहा।

भाववती अलि नाभा नाम—यहाँ श्रीनाभा जी को अलि (सखी) कहा गया है। वस्तुतः श्रीनाभा जी की श्रृङ्गार रस की ही उपासना है। इनके गुरु देव श्रीअग्रदास जी श्रृङ्गार रस के आचार्य है अतः श्रीभगवत रसिक जी ने भी इन्हें अलि रूप में ही स्मरण किया है। यथा—**अग्रदास नाभादि सखी ये सबै राम सीता की। सूर मदन मोहन नरसी अलि तस्कर नवनीता की॥** 'नाभा नाम'—वस्तुतः आपका श्रीगुरु जी का दिया हुआ नाम तो श्रीनारायणदास है जैसा कि श्रीभक्तमाल के उपसंहार में आप स्वयं सकेत करते है। यथा—**काहू के बल जोग जग, कुल करनी की आस। भक्त नाम माला अगर, उर बसो नारायणदास** (भक्तमाल दोहा २१४) तो फिर नाभा नाम क्यों कहा? समाधान १—**थे प्रेम वृक्ष श्रीअग्रदेव, तिनको यह नाभा गाभा है। कीन्ही जब इनने भक्तमाल तब फैली भक्ति की आभा है। सुनि सुनि हरि लोक लगे जाने भा अद्भुद दुर्लभ लाभा है। याते उपमा के योग न क्वौ, नाभा सम नाभा नाभा है॥** २—श्रीगुरुदेव श्रीअग्रदास जी मानसी में ध्यान कर रहे थे। आप पखा झल रहे थे और श्रीगुरु जी की मानसी सेवा का सुख भी ले रहे थे चूंकि श्रीगुरु जी की नाभि की बात जान गये अतः नाभा नाम पड़ा॥ ३—**कमल नाभ अज विष्णु यों अग्रनाभ नाभा भयो। उन हरि अज्ञा पाइ सकल ब्रह्माण्ड उपजायो। इन गुरु आज्ञा पाइ भक्तको निरनै गायौ॥ चारि युगनके भक्त जतन की गूथी माला। अङ्ग अङ्ग बनी बिशाल विचित्रता बहुत रसाला॥ 'लघुमोहन' अचरज कहा सीतापति जिय घर जयो। कमल नाभ अज विष्णु यों अग्रनाभ नाभा भयौ॥** अतः नाभा नाम पड़ा।

लाई—समर्पण करने के लिये लाये (तो दूर से ही देखकर) **'श्याम मति ललचाई है'**—जैसे भगवान का चरित्र सुनने को भक्त ललचाते रहते है वैसे ही भक्तों का चरित्र सुनने को भगवान लालायित रहते है। यथा—**निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ। सकृत प्रनाम प्रणत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ॥'** (गीतावली)

अभिरामश्याम मति ललचाई—से मालाका वैशिष्ट्य दिखाया गया है। श्याम स्वय अभिराम अर्थात् परम सुन्दर है यथा—'निकामश्यामसुन्दरं''देखतरूप चराचर मोहा।'(रा०च०मा०) परन्तु वह भी जिस माला को देख कर ललचावें उसकी सुन्दरता का क्या कहना है। ऐसी अभिराम है वह वैजयन्ती माला (भक्तमाल)। और जब अभिराम श्याम ही ललचाते है तो और की तो बात ही क्या 'अभिराम'—**उर पर धारी प्रेम सों, रामचन्द्र घनश्याम। कबहुँ न न्यारी करत हैं याही ते अभिराम॥** अभिराम शब्द दाम, अलि और श्याम तीनों का विशेषण है। दाम अभिराम इसलिये कि श्याम ने उर पर धारण किया है। अलि अभिराम इसलिये कि भाववती हैं। श्याम अभिराम इसलिये कि—'**किहूँ करत न न्यारी।**'

धारी उर प्यारी—हृदय में धारण किया—अर्थात् पाठ करने के लिये कण्ठस्थ कर लिया, दूसरा भाव यह कि यह भक्त-सुमनों की माला है और भक्त भगवान के हृदय है यथा—'**साधवो हृदयं मह्यं**।' दूसरे—प्यारी है, क्योंकि भक्त भगवान को अत्यन्त प्यारे होते हैं यथा—'**तुम सारिखे संत प्रिय मोरे।**' अतः प्यारे भक्त सुमनों की होने से प्यारी है अतः धारी उर प्यारी कहा। धारी उर प्यारी का एक बड़ा ही मधुर भाव यह कि—माला बड़ी थी जैसा कि आगे स्पष्ट है, '**ढरि पांयन को आई।**'

अतः प्रभु ने अपने तो धारण किया ही श्रीप्यारी श्रीजानकी जी को भी धारण करा दिया। इससे भी अधिक एक और भी मधुर भाव यह है कि त्रिभुवन मोहन अभिराम श्याम मति तो ललचाई ही, त्रिभुवन मोहन मोहिनी श्रीश्यामाजी की भी मति ललचा गई अतः स्वयं ही 'धारी उर प्यारी' अर्थात् युगल सरकार इस माला को धारण करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि श्रीभक्तमाल जी युगलार्पिणी है॥

किहूँ करत न न्यारी—क्योंकि प्यारी जो ठहरी। अत. सदा सर्वदा पठन, श्रवण, मनन किया करते हैं, श्रीभक्तमाल जी को हृदय से लगाये रहते हैं। दूसरे चूँकि—'बिना भक्तमाल भक्ति रूप अतिदूर है' और 'श्रीरघुवीरहिं भक्ति पियारी' अतः भक्ति के लोभ से और भक्ति करना सीखने के लोभ से भी 'किहूँ करत न न्यारी।' अहो देखो गति न्यारी॥' यह कि जहाँ अन्य विविध साधनानुष्ठान करने पर भी, भगवान की एक झलक भी परम दुर्लभ है, वहाँ भक्ति के प्रभाव से भक्त भगवान के हृदय का हार बन जाते है और एक क्षण के लिये भी प्रभु से पृथक् नही होते। मणिमाल, मुक्तामाल, वनमाल तुलसीमाल चाहे भले ही न्यारी हो जायँ परन्तु श्रीभक्तमाल 'किहूँ करत न न्यारी'। अत. कहते हैं कि 'देखो गति न्यारी' पुन —सखी अभिराम कर माला अभिराम लाई अति अभिराम देखि लोभे सुखदाई है। पंचरंग फूल सुखमूल सनतूल लगैं शोभा सुखरास आस धर के बनाई है॥ दीनी ततकाल लखि रीझि ततकाल मंजुमाल प्रियलाल प्यारी उर पहिराई है। अलि मन भाई हिये प्रीति सरसाई राखे उर लपटाई याते न्यारी गति गाई है॥ अहो—आश्चर्य बोधक है।

ढरि पांयन को आई है—श्रीभक्तमाल मे दूसरा निरालापन यह है कि श्याम तो माल को 'उर धारी' परन्तु माल ढर कर पाँवो की ओर आती है। प्रश्न—भगवान के हृदय मे न रहकर पावो की ओर ढरने का क्या हेतु है? समाधान—१—इसमे एक हेतु तो भक्तो का सहज दैन्य है, विनम्रता है। भक्त हमेशा—'तृणादपि सुनीचेन' तथा 'राई ते बीसो विसे, ता बीसे पुनि बीस। ताते छोटे ह्वै रहौ, तब मिलिहैं जगदीश।' का अनुसन्धान करते है। इसलिये कि भगवान को दैन्य अत्यन्त ही प्रिय है। यथा—'जेहि दीन पियारे, वेद पुकारे द्रवहु सो श्रीभगवाना।' 'जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥' (रा०च०मा०) एहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई, दास तुलसी दीन पर एक राम ही की प्रीति। (विनय) अतः ढरि पायन को आई है। २—भगवान का हृदय तो श्री श्रीजी का निवास स्थान है। यथा—'उर श्रीवत्स रुचिर वनमाला।' इस सम्बन्ध मे बडी ही सुन्दर कथा संत महानुभाव जन प्रमाण मे कहते है यथा—

जब श्रीजानकी जी ब्याहके बाद श्रीमिथिला से विदा होकर श्रीअयोध्या आई, तो महारानी श्रीकौशल्याजी, सुन रखी थी कि मिथिलेश नन्दिनी अत्यन्त सुकुमारिणी हैं। यथा—'पलङ्ग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।' अत. वह यहाँ मणिमय कठोर भूमि पर कैसे पाँव धरेंगी, यह विचारकर असख्य असख्य कमलो को मँगाकर उनका पराग-रज झडवाकर समस्त प्रागण मे बिछवाई थी परन्तु आश्चर्य, परम आश्चर्य। जब श्रीजानकी जी पालकी से उतरी तो पराग-रज पर पाँव धरने पर भी वे बार-बार अपने श्रीचरण-कमलो को उठाती-धरती। माता श्रीकौशल्या ने यह देख लिया और यह भी देखा कि वधू जानकी के ओष्ठ सूखे हैं तब तो वे अधीर हो गई और कान मे धीरे से पूछी—बेटी! तुम बारम्बार अपने पावो को क्यो उठाती हो? तथा तुम्हारे ओष्ठ क्यो सूखे हैं? तब श्रीजानकी जी ने कहा कि—माता जी! यह पराग रज मेरे चरण तल मे गडती है अत मैं बार-बार पाँव उठाती हूँ और आपकी यह दासी बहुत देर से टकटकी लगाकर मेरे मुख की ओर देखती है अत उसके नेत्रो के ताप से

मेरे ओष्ठ सूख रहे हैं। इस कथा का वड़ा ही सुन्दर संकेत 'श्रीगुणरत्न कोश' मे मिलता है। यथा—**'पादारुन्तुदमेव पङ्कज रजश्चेटीभृशालोकितैरंगम्लानिरथाम्ब साहसविधौ लीलारविंदग्रहः ॥'** तव अत्यन्त हैरान सी श्रीकौसल्या जी ने पूछा—वेटी ! तव तुम रहोगी कहाँ ? तो जानकी जी ने श्रीराम जी के हृदय की ओर सकेत किया। भाव—मेरा निवास स्थान प्रभु का हृदय है। इससे सिद्ध हुआ कि भगवान का हृदय श्री श्रीजी का निवास स्थान है और श्री श्रीजी भक्तों की परमाराध्या है अत. भक्तों ने प्रभु के श्रीचरण-कमलों को ही अपना आश्रय वनाया है। क्योंकि हृदय में रहने से श्री श्रीजी की (परमाराध्या की) वरावरी होगी और आराध्य की वरावरी वड़ा दोष है। यथा—**प्रभु की समता वड़ दोष लहौंगो"** (कवितावली) अतः 'ढरि पायन को आई है।' और इधर श्रीप्रभु समेट-समेट कर हृदय में धारण करते हैं 'धारी उर'। क्योकि प्रभु के श्रीमुख के वचन हैं—**'अनुजराज सम्पति वैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मोहि प्रिय नहि तुमहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥** ३—भक्त भगवान के धन हैं, भगवान का नाम ही पड़ गया है। 'अकिंचन वित्त'। यथा—**'नमोऽकिञ्चनवित्ताय'** (भागवत १।८।२७) और भगवान हैं भक्त धन के लोभी। यथा—'अस सज्जन मम उर वस कैसे। लोभी हृदय वसै धन जैसे॥' और भगवान के श्रीचरण कमल भक्तों के परमधन है। यथा—**"धनं मदीयं तव पाद पङ्कजं'** (आलवन्दार स्तोत्र)दोनों दोनों के धन है। अत: भगवान'धारी उर' और भक्तमाल 'ढरि पांयन को आई है।' ४—इसका एक कारण टीकाकार भी आगे की पंक्ति में स्वयं संकेत करते हैं। यथा—भक्ति छवि०

भक्ति छवि भार ताते नमित—भक्ति छवि भार ताते नमित श्रृङ्गार होत—यह वड़ी ही भाव पूर्ण उक्ति है। कवि ने गागर में सागर भर दिया है। इसका कई प्रकार से वड़ा ही भावमय अर्थ किया जाता है। यथा—१—श्रीभक्तमाल में भक्तों की भक्तिरूपी छवि का भार है। ताते=इस कारण से अर्थात् भक्ति छवि से भारायमान होने से श्रृङ्गार=माला नमित होत अर्थात् झुक-झुक कर नीचे पांयनि की ओर आती है। इस अर्थ में श्रृङ्गार का अर्थ माला किया गया है। २—श्रीभक्तमाल में भक्ति छवि भार है ताते माला नमित होत, ताते अर्थात् माला भक्ति छवि से तो छविवाली ही है, नमित होने से उसकी शोभा और भी वढ़ जाती है और इससे भी अधिक चमत्कार की वात यह है कि ऐसी माला को धारण करने से, उसे पुन: पुन: संभालने से भगवान का भी अद्भुत श्रृङ्गार होत। ३—माला रचना में श्रीनाभा जी की जो भक्ति है, प्रीति है, उससे भक्तमाल प्रेम-रस पुंजिनी होकर छवि-भार से भारायमान हो जाती है। तात्पर्य माला के स्वकीय सहज सौदर्य में, श्रीनाभा जी की प्रीति का संयोग होने से शोभा अधिकाधिक वढ़ जाती है। अर्थात् भक्तचर्चा तो सहज ही मनोहारिणी है। उसमें भी यदि प्रेम पूर्वक प्रेमी संतोंका चरित्र कहा जाय तो सोने में सुगन्ध है। इस कारण से नमित होत, अतः श्रृङ्गार होत॥ ४—माला में भक्ति-छवि-भार है ताते भगवान का श्रृङ्गार नमित होत। अर्थात्—श्रीभक्तमाल जी की शोभा के सामने भगवान के समस्त श्रृङ्गार फीके पड़ जाते हैं। श्रीभक्तमालजी सवके ऊपर विराजती है। सवसे अधिक शोभायमान होती हैं। इस अर्थ में, प्राकृतिक श्रृङ्गार प्रसाधनों की कौन कहे भगवान के दिव्यातिदिव्य आभूषण भी भक्ति की शोभाकी समता करने में असमर्थ होते दिखाये गये हैं। अत: भक्ति सौदर्य की लौकिक-अलौकिक समस्त श्रृंगार सौदर्यो से श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

होत वश लखै जोई—जोई=जो कोई भी भक्ति-छवि-भार से भारायमान श्रीभक्त-माल को देखता है अर्थात् दर्शन, श्रवण, पठन, मनन, गान करता है तथा उस माल को उर में धारण किये हुये भगवान को देखता है वही भक्त और भगवान के वश में हो जाता है अर्थात् भागवतों के

चरित्रों को सुन कर तथा महिमा विचारकर कि—इसे भगवान धारण करते हैं, हृदयमें सहज ही भक्तिका अविर्भाव होने से वह भक्त और भगवान का अनन्य भक्त हो जाता है। २-जोई=ज्योंही भगवान् श्री-भक्तमाल को देखते हैं, त्यों ही भक्तो के वश में हो जाते है। 'याते जानि पाई है'—इससे श्रीभक्तमाल की महिमा तथा भगवान् का भक्तपारतन्त्र्य मैंने प्रत्यक्ष जाना ॥

द्रष्टव्य—एक बात यहाँ बड़े ही महत्व की यह है कि माला पंचरस रूपी पचरंगे फूलों की है और ढरकर पांवों की ओर आ रही है। इससे जनाया गया कि सभी रसोपासक भक्तोंका अन्तिम साध्य लक्ष्य श्रीप्रभुके चरणारविन्द ही हैं अर्थात् सभी रसोंका पर्यवसान दास्य रसमें ही होता है। यथा—दासनपति श्रीहनुमानजी तो श्रीप्रभु के दास्य एवं प्रभु पादारविन्दो को अपना सर्वस्व समझते ही हैं—'दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः, (श्रीवाल्मीकि रामायण) 'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना' आदि। वात्सल्य रसोपासक श्रीदशरथजी—'अस कहिगे विश्राम गृह, रामचरन चितलाइ ॥(रा०च०मा०) सख्यरसोपासक श्रीउद्धवजी अपने को दास कहते है—यथा—'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकार चर्चिताः। उच्छिष्ट भोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि' ॥ (भा० ११-६-४६) अर्थ—हमने आप की धारण की हुई माला पहनी, आपके लगाये हुये चन्दन लगाये, आपके उतारे हुये वस्त्र पहने और हम आपके धारण किये गहनो से अपने आप को सजाते हैं। हम आपकी जूठन खाने वाले दास है। इसलिये हम आपकी माया पर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे ॥ इस श्लोक में सखा उद्धव ने अपने को दास कहा है। श्रृङ्गाररसो-पासिका व्रजदेवियाँ अपने को प्यारे श्याम सुन्दर की दासी ही कहती है, यथा—'भज सखे भवत्किङ्करीः स्मनो'(भा०१०-३१-६)अर्थ-हम तो तुम्हारी दासी हैं हमसे रूठो मत। प्रेम करो ॥ शान्त रसोपासक श्री-मधुसूदन सरस्वतीजी कहते हैं—'अद्वैतवीथी पथिकैरुपास्यः, स्वानन्दसिंहासन लब्धदीक्षाः। शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधू विटेन ॥ अर्थ—छन्द—अद्वैतज्ञान पथ पथिकन द्वारा मैं उपास्य जगमाहीं। तत्त्वज्ञान के सिंहासन पर मैं आरूढ़ सदा हीं ॥ पै व्रज गोपिन के प्रेमी ने मन मेरो अरुझायौ। नट खट शठने हा हठ करिकै मोकूँ दासि बनायौ ॥ इस प्रकार सिद्ध हुआ कि पाँचो रसों का पर्यवसान दास्यरस मे ही होता है। एक बात और—जब तक किसी भी रस की उपासना में दास्य भाव का समावेश नहीं होगा तब तक वह उपासना न होकर एक क्रिया विशेष मात्र है, क्योंकि भक्ति शब्द का वास्तविक अर्थ है सेवा। और सेवा प्रधान दास्य रस ही है।

सत्संग प्रभाव वर्णन

भक्ति तरु पौधा ताहि विघ्न डर छेरीहू कौ, वारिदै विचार वारि सींच्यो सत्सङ्ग सों।
लाग्योई बढ़न, गोंदा चहुंदिशि कढ़न सो चढ़न अकाश, यश फैल्यो बहुरंग सों ॥
संत उर आल वाल शोभित विशाल छाया, जिये जीव जाल,ताप गये यो प्रसंग सों ॥
देखौ बढ़वारि जाहि अजाहू की शंका हुती,ताहि पेड़ बाँधे झूमें हाथी जीते जंग सों ॥६॥

शब्दार्थ—पौधा=नया निकलता हुआ पेड। विघ्न डर=कामादि षड्विकारों से भय। छेरी=बकरी, दूसरे पक्ष मे अजा, माया। वारि=घेरा। विचार=सत् असत् का विवेक। वारि=जल। गोंदा=छोटा नया वृक्ष। कढ़न=फूटना, फैलना। बहुरंग=अनेकप्रकार। सन्त उर=सन्तन का मन गो-रा—सरल हृदय। आलवाल-थाल्हा। (पौधे के मूल के चारो ओर जल देने का स्थान) जीवजाल=प्राणियों

के समूह। प्रसंग=सत्संग, हेतु कारण। अजा=माया, दूसरे पक्ष में वकरी। शंका=सन्देह, भय। जंग=युद्ध, संग्राम।

भावार्थ—भक्ति का वृक्ष जव साधक के हृदय में छोटे पौधे के रूप में होता है तव उसे हानि का भय माया रूपी बकरी से भी होता है, अतः पौधे की रक्षा के लिए उसके चारों ओर विचार रूपी घेरा लगाकर सत्संग रूपी जल से सीचा जाता है, तव उसमें चारो ओर से शाखा-प्रशाखाएँ निकलने लगती है और वह आकाश की ओर चढ़ने-बढ़ने लगता है। सरल साधु हृदय रूप थाल्हे में सुशोभित इस विशाल भक्ति-वृक्ष की छाया अर्थात् सत्संग पाकर त्रिविध तापों से तपे जीव समूह सन्तापरहित होकर परमानन्द प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सार-सँभार करने पर इस भक्ति का विचित्र रूप से वढ़ना तो देखो कि जिसको पहले कभी छोटी-सी वकरी का भी डर था, उसी में आज महा-संग्राम विजयी, काम, क्रोध आदि वड़े-वड़े हाथी वँधे हुए झूम रहे हैं। परन्तु उस वृक्ष को किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकते हैं ॥६॥

व्याख्या—पूर्व कवित्त ३ में भक्ति महारानी का शृंगार वर्णन किये। अब भक्ति तरु पौधे के रूपक द्वारा पुनः भक्ति का स्वरूप एवं महत्व वर्णन करते हैं। भक्ति और तरु की समता-१—तारयति इति तरुः, जैसे तरु तारते हैं पार करते हैं। नदी आदि से तारने का साधन नाव; वेड़ा आदि तरु से ही वनते हैं। वैसे ही भक्ति भी जीवों को भव सागर से तारने के लिये नाव रूप है यथा—'**हरि की भक्ति नवरिया, हरीनाम पतवार। सदगुरुदेव मलहवा, चढ़ै सो होवै पार ॥**" (सन्तवाणी)

२—जैसे तरु प्राणी मात्र को विश्रामप्रद होते हैं। वैसे ही भक्ति भी सर्व सुखदायिनी है। यथा—**पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ। सर्व भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ ॥** (रा० च० मा०) भक्ति में प्राणि मात्र का अधिकार है। चराचर द्रोही एवं सुदुराचारी भी भक्ति भाजन हो सकता है। यथा—**जो नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही ॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥** (रा० च० मा०)

'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रंभवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपिस्युः,पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(गीता ९-३०-३२)

अर्थ—यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त हुआ मेरे को निरन्तर भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है। क्यों कि वह यथार्थ निश्चय वाला है। अर्थात् उसने भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान कुछ भी नही है ॥ इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परमशान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चय पूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ॥ क्यों कि हे अर्जुन ! स्त्री वैश्य और शूद्रादिक तथा पाप योनि वाले भी जो कोई होवे, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगति को ही प्राप्त होते है ॥ यह वात ज्ञान और कर्म में सुलभ नहीं। वहाँ तो अधिकारी जन ही लाभान्वित होते है।

३—वृक्ष और भक्ति, दोनों में ही पक्षपात शून्यता तथा सबके प्रति समता होती है। यथा—भक्ति में—'**इहां न पक्षपात कछु राखौं**' (रा० च० मा०) वृक्ष के ऊपर लिखे हुए गुण प्रत्यक्ष एवं प्रसिद्ध है। ४—दोनो ही उदार होते है। यथा—'**रामभक्त जग चारि प्रकारा। सुकृती चा रउ अनघ उदारा ॥**' (रा० च० मा०) वृक्षों की उदारता प्रत्यक्ष एवं प्रसिद्ध है। ५—दोनों ही परोपकारी हैं—यथा—**संत**

विटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सवनिकै करनी। (रा० च० मा०)'परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः।' भक्ति भाव से भावित संत भी परोपकारी होते हैं। यथा— 'पर उपकार वचन मन काया। संत सहज स्वभाव खगराया। हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी॥' (रा० च० मा०) ६—तरु फलवान होते हैं। भक्ति फल रूपा है। यह विशेष वात है। यथा—'जहं लगि साधन वेद वखानी। सव कर फल हरि भक्ति भवानी॥'

भक्ति-तरु—पौधा का पूरा रूपक इस प्रकार है—संत, सद्गुरु माली हैं, आश्रित का सत्वप्रधान हृदय ही भूमि है,मन्त्र वीज है,जैसे वीजपृथ्वी मे गुप्त रहता है उसी प्रकार मन्त्र हृदय मे गुप्त रहता है वीज वोने के पूर्व मालीलोग पृथ्वी को काँटा, ककड़ आदि निकाल कर खूव गोड कर उर्वरा एव कोमल कर लेते हैं। तव उसमे वीज वोते हैं। वैसे ही सत सद्गुरुदेव भी सदुपदेश द्वारा शिष्य के हृदय के विकारो को दूर कर **"सत हरि भजन जगत सव सपना"** के रहस्य को पुनः-पुनः समझाकर मत्र दीक्षा की इच्छा जागृत करते है। हृदय मे यह दीक्षा की शुभेच्छा होना ही हृदय भूमि का उर्वरा एवं कोमल होना है। तव गुरु उसमे मन्त्र रूप वीज वोते हैं। भूमि को विना वनाए वीज वोने से परिश्रम व्यर्थ जाता है। गाँठ का वीज भी जाता है। उसी प्रकार से विना पात्रता के(अधिकार के)उपदेश निष्फल जाता है और अपनी हानि भी होती है, यथा—

मूर्ख शिष्योपदेशेन, दुष्टास्त्रीभरणेन च। दुःखितैः सम्प्रयोगेन, पण्डितो व्यवसीदति॥ (नीती)
पुनश्च—सीख वाहि को दीजिए,जाको सीख सोहाय। सीख न दीजै वानरा, घरहु वया का जाय॥

दृष्टान्त—सर्दी का समय था। वर्षा की झडी लगी हुई थी। वन्दर वृक्ष के नीचे ठिठुर रहे थे। अपने घोसले मे सुख से वैठी वया नाम के पक्षियो ने कहा—तुम लोग तो हाथ पाँव वाले हो चाहो तो अपने रहने के लिए सुन्दर स्थान वना सकते हो। देखो, हम अपनी चोंच से ही रहने के लिए स्थान वनाकर सुख पूर्वक निवास कर रही है और तुम लोग ठिठुर रहे हो। पक्षियो की उपदेश की यह वाते सुनकर वन्दर वहुत ही झुँझलाए और वोले कि वरसा वन्द होने दो तो अभी हम तुम्हारे उपदेश की दक्षिणा देते है और सचमुर्च जव वर्षा वन्द हुई तो वन्दरो ने पक्षियो के समस्त घोसले उजाड़ डाले। मूर्ख वन्दरो को उपदेश देने के कारण पक्षीगण स्वयं संकट मे पड गये। अतः अनधिकारी को दीक्षा देना निष्फल और स्वय को (दीक्षक को) भी संकट मे डालने वाला होता है। यही कारण है कि हमारे पूर्वाचार्य प्रथम अधिकार परीक्षा करके ही दीक्षा देते थे।

दृष्टान्त—२—एक गुरुकुल में वहुत से जिज्ञासु जन दीक्षार्थी निवास करते थे और गुरु की सेवा करते हुए नित्य प्रति उपदेश श्रवण करते थे। कुछ काल वीतने पर श्रीगुरुदेवजी ने सवकी परीक्षा ली। सभी जिज्ञासुओ को दो-दो केले देकर कहा कि ले जाओ जहाँ कोई न देखे वहाँ खा लेना। सभी एकान्त की तलाश मे इतस्ततः दौड पड़े और अपनी-अपनी समझ से एकान्त ढूंढ कर दो-दो मिनट मे ही अपने-अपने केले खा-खाकर गुरुजीके पास लौट आए। परन्तु एक जिज्ञासु सायंकाल तक ऐसा एकान्त ढूंढता रहा जहाँ कोई न देखता हो। परन्तु उसे कहीं भी एकान्त नहीं मिला। दोनो केले हाथ में लिए हुए श्रीगुरुजी के पास आकर प्रणाम किया और श्रीगुरुजी के पूछने पर खाने वैसे नहीं खाने का हेतु निवेदन करते हुए व्रह्म की सर्व व्यापकता एवं सर्वत्र दृष्टि को कारण वताया। श्रीगुरुजीने उसे हृदयसे लगा लिया और आज तक के अपने उपदेश को सफल समझ कर उसे ही अधिकारी जानकर मन्त्रोपदेश दिया।

३—**दृष्टान्त**—एक गुरु जी के यहाँ दो जिज्ञासु दीक्षा निमित्त सेवा करते हुए निवास करते थे। जब उपदेश श्रवण करते-करते कुछ काल वीत गया तो श्रीगुरुदेव ने अधिकार परीक्षार्थ दोनों को एक-एक मूठी चना देकर एक वर्ष बाद इन्हे लेकर अपने पास आने को कहा। दोनों घर चले गए। एक ने घर जाकर चनों को डिबिया में वन्द करके रख दिया और दूसरे ने अपने उस एक मूठी चने को उपजाऊ भूमि में वो दिया। फलस्वरूप वह कई गुना हो गया। एक वर्ष वीतने पर दोनों श्रीगुरु जी के पास आये और अपने-अपने चने प्रस्तुत किये। श्रीगुरु जी ने देखा कि डिविया वाला चना तो रखा-रखा घुन गया था और दूसरे शिष्य के चने को कई गुना वृद्धि को प्राप्त हुआ पाये। इसकी इस क्रिया से भक्ति वृद्धि होने का लक्षण जानकर इसे ही अधिकारी समझकर मंत्रोपदेश किया॥

वीज बोया जाता है तो प्रथम उसमें अंकुर निकलता है। जिनमें दो दल होते हैं। वैसे ही यहाँ पर कण्ठी और तिलक ये दो दल हैं जो प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होते हैं। जव अंकुर वढ़ता है तो उसे पौधा कहते हैं, यहाँ भक्ति तरु पौधा अर्थात् जो नई-नई साधन भक्ति है वह पौधा तुल्य है। **'ताहिविघ्नडर-छेरी हू को'**—यहाँ विघ्न और डर दो वात है। विघ्न तो माया के द्वारा होता है यथा—**विघ्न अनेक करइ तब माया।** अर्थात् माया रूपी बकरी कहीं खा न जाय,यह विघ्न और डर यह कि कोई शत्रु उखाड़ न दे। दोनों ही दशाओं में पौधे का नाश हो जाता है। वैसे ही यहाँ पर भी कुसंगी जनों द्वारा उखाड़े जाने का डर है। यथा—**आप जाहिं अरु घालहिं आनहिं। जे कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं** ॥(रा०च०मा०) **यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्यपुनरागमनं कुतः॥** (चार्वाक वचनम्) इत्यादि वचन भक्ततरु पौधा के उखाड़ने के प्रयत्न स्वरूप हैं। माया के द्वारा विघ्न होते हैं।

दृष्टान्त श्रीध्रुव जी का—विमाता के वाग्वाणों से विद्ध हृदय श्रीध्रुवजी जव अपनी जननी से उपदेश पाकर भगवद्भजन के लिये वन को प्रस्तुत हुये तव पिता उत्तानपाद जी ने माँ बेटे को जीवन निर्वाहार्थ एक सेर अन्न दिए जाने के वजाय दो सेर अन्न देने का प्रलोभन देकर ध्रुव को लौट आने के लिये कहलवाया। यही माया का विघ्न है। श्रीध्रुव जी ने इसे समझा और तत्काल उत्तर दिया—**"जिन प्रभु कीन्ह सेर से दूना। तिनके भवन और का सूना॥"** श्रीध्रुव जी ने विचारा कि अभी तो मैंने भजन का संकल्प मात्र किया है और प्रतिकूल पिता भी अनुकूल होकर दूना दून देने को प्रस्तुत है। फिर तो उनका उत्साह और भी वढ़ा। अपने इन सामान्य प्रयत्नों को त्रिफल होते देखकर राजा ने आधा राज्य तक देने का प्रलोभन दिया। मायाका यह अर्द्ध राज्यरूप प्रवल विघ्न भी बालक ध्रुव को विचलित नहीं कर सका। वल्कि वे तो भक्ति के इस अद्भुत चमत्कार पर मुग्ध हुये कि भक्ति का सङ्कल्प मात्र ही भला इतना फलदायी है कि जो एक सेर अन्न मात्र देता था वह आज आधाराज्य देने के लिये तैयार है। फिर तो और आगे वढ़े। रास्ते में श्रीनारद जी मिले। उन्होंने तो पूरा राज्य दिलवाने का वचन दिया। परन्तु तव भी श्रीध्रुव जी अपने लक्ष्य में सुमेर गिरि की भाँति अडिग ही वने रहे। परिणामतः श्रीनारद जी की कृपा और मन्त्रोपदेश पाकर मधुवन में जाकर तपस्या में संलग्न हो गये। इतने पर भी माया ने पीछा नहीं छोड़ा। एक दिन अचानक आंधी, पानी, ववन्डर, तूफान आदि की सृष्टि कर स्वयं श्रीध्रुवजी की माता का स्वरूप धारण कर माया श्रीध्रुव जी के आश्रम के पास रोने-विलखने लगी और वार-वार घर लौट चलने का अनुरोध करने लगी। माँ के स्वर से मिलता-जुलता करुण-क्रन्दन सुनकर श्रीध्रुवजी ने विचार किया—माँने ही तो उपदेश दिया है। यथा—**इहै कह्यौ सुत वेद चहूँ। श्रीरघुनाथ चरण चिन्तन बिन नाहिन ठौर कहूँ॥** (विनय) फिर माँ ही मुझे भजन से, श्रीरघुनाथ चरण चिन्तन से विरत क्यों करने

लगी। पुनश्च जिसका लाल भगवान का आराधन करेगा भला वह माँ नरक में पड़ ही कैसे सकती है। भगवान का विरद है—प्रणत कुटुम्ब पाल रघुराई ॥ (रा० च०मा०) निश्चय ही वह माया का विघ्न है।

श्रीध्रुवजी अपने साधन में और भी अधिक दृढ हो गए। यहाँ उपदेश की चार बातें १-श्रीध्रुव जी भगवान के पीछे हैं और माया श्रीध्रुवजी के पीछे पड़ी हैं। इसमें दिखाया है कि भगवान का अनुगमन करने वाले की माया स्वतः अनुगामिनी हो जाती है। यथा—माया को सब जग भजै माधव भजै न कोय। तुलसी जो माधव भजै, माया चेरी होय। (२) माया जिसके पीछे पड़ी हो अर्थात् विचलित करने के लिए कटिबद्ध हो उसे भगवान का अनुगमन करना चाहिये। यथा—श्लोक—दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ (गीता-७-१४) अर्थ—यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बडी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मेरे को ही निरन्तर भजते हैं, वे इस माया को उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् ससार से तर जाते हैं। (३) जिनके दृष्टिपथ मे भगवान रहते हैं उनसे माया पीछे अर्थात् बहुत दूर रह जाती है। (४) जिन्हें भगवद्दर्शन की लालसा है उन्हे माया को पीछे करना होगा। क्योकि जीव और ब्रह्म के बीच मे माया आवरणस्वरूपा है ॥ यहाँ माया को बकरी कहा गया है। माया त्रिगुणात्मिका होने से चितकबरी बकरी है। (सतोगुण स्वेत, रजोगुण लाल, तमोगुण श्याम)। यथा—अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः (श्वेताश्वतरोपनिषद्—४-५) ॥ अपने ही सदृश अर्थात् त्रिगुणमय बहुत से भूत-समुदायो को रचनेवाली (तथा)लाल, सफेद और काले रंग की अर्थात् त्रिगुणमयी एक अजा (अजन्मा-अनादि प्रकृति) को निश्चय ही एक अजन्मा आसक्त हुआ भोगता है (और) दूसरा अज (ज्ञानी महापुरुष) इस भोगी हुई प्रकृति को त्याग देता है ॥

'बारि द्वै विचार'—पौधा-तरु की रक्षा के लिये बाड़ लगाते हैं। यहाँ विचार ही बाड है। विचार से तात्पर्य है अर्थ पञ्चक एव तत्वत्रय का अनुचिन्तन ॥ जगत की असारता यथा—उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना। पुनश्च—योग वियोग भोग भलमन्दा। हित अनहित मध्यम भ्रम फन्दा ॥ जनम मरन जहँ लगि जग जालू। संपतिविपति करम अरु कालू ॥ धरणि धाम धन पुर परिवारू। सरग-नरक जहँ लगि व्यवहारू ॥ देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं ॥ माया की प्रबलता—अतिशय प्रबल देव तव माया। छूटै राम करहु जो दाया ॥ (रा०) भगवद् भजनकी साररूपता का निरन्तर अनुसन्धान ही विचाररूपी बाड है। अविचार मे ही असार ससार भी सार-भूत भासित होता है। यथा—'मै तोहि अब जान्यौं संसार।.........॥'देखत ही रमणीय कछू नाहिन पुनि किये विचार। ज्यौं कदली तरुमध्य निहारत निकसत कबहुँ न सार ॥' पुनश्च 'अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी' (विनय०) विचार करने पर जगत की असारता, दुःख रूपता, क्षण भगुरता का जीता-जागता स्वरूप दिखाई देने लगता है।

दृष्टान्त—सेठ के लड़के का—काशी नगरी के सबसे बड़े सेठ का धन नामक पुत्र अत्यन्त विषयी-विलासी हो गया था अहर्निश अनेक-अनेक रमणीरत्नो, नर्तकियों, परिचारिकाओं के रागरग मे वह इतना निमग्न रहता था कि उसे कोठे पर से नीचे उतरना ही अच्छा नहीं लगता। संयोग की बात एक दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में, टिमटिमाते हुए दीपक के क्षीण प्रकाश मे उसने अपने रागरंग का जो बीभत्स स्वरूप देखा उससे उसकी आत्मा सिहर उठी। उसके अंग पीले पड़ गये, नेत्रों के

सामने अन्धेरा छा गया। उसने देखा प्रिय ललनायें नर्तकियां, तथा परिचारिकायें चेतना शून्य थीं, नींद के वश में थीं। किसी के मुख से लार टपक रही थी, तो किसी के अधरों पर कफ का फेनिल विकार था। कोई टेढ़ी सो रही थी तो किसी की अनावृत भुजायें वीभत्सता प्रगट कर रही थीं। किसी का मुख टेढ़ा पड़ गया था तो किसी के खुले हुए विखरे केश अत्यन्त भयावने लगते थे मानो कोई चुड़ैल पड़ी हो। उसने देखा,कामिनीकी कनक-काया का कुत्सित रूप और चीत्कार उठा–ओह! मैं जिसे सत्य, शाश्वत और सुखदायी समझता था वह असत्य, क्षणभंगुर और अत्यन्त वीभत्स दीखता है।' वह सेठ का पुत्र जमीन पकड़ कर बैठ गया। उसके हृदय में उसी क्षण वैराग्य का उदय हो गया। ब्रह्म वेला निकट थी। उसने भगवान बुद्ध की शरण ग्रहण किया ॥ (बुद्धचर्या)

'वारि सींचो सत्सङ्गसों'—पौधे को जल से सिंचन करते रहने से वह बढ़ता है, हराभरा रहता है, फूलता-फलता है अतः जल की आवश्यकता पौधे की स्थिति में होने के साथ-साथ बड़े होने पर भी रहती है। उसी प्रकार सत्संग भी साधनावस्था एवं सिद्धावस्था दोनों में ही परमावश्यक है। साधनावस्था में सत्संग से ही भक्ति का प्रादुर्भाव, पोषण एवं संरक्षण होता है—यथा **'प्रथम भक्ति सन्तन कर संगा'। 'सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु सन्त न काहू पाई ॥'** (रा० च० मा०) **'बिनु सत्संग भक्ति नहिं होई।'** (विनय)**'तात भगति अनुपम सुखमूला। मिलइ जो सन्त होंइ अनुकूला।'** आदि-आदि (रा०च०मा०) और सिद्धावस्था में सत्संग से भक्ति की वृद्धि तथा स्थैर्य का सम्पादन होता है। यही कारण है कि परमसिद्ध श्रीशिवजी एवं अगस्त्यजी तक भगवान से सत्सङ्ग की याचना करते हैं। यथा—**'बार बार बर माँगउँ,हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भक्ति सदासत्सङ्ग॥** पुनश्च**'यह बर माँगौं कृपा निकेता। बसहु हृदय श्रीअनुजसमेता ॥ अविचल भक्ति बिरति सत्संगा। चरण सरोरुह प्रीति अभंगा ॥'** (रा० च० मा०)

मातादेवहूति से सत्संग की महिमा वर्णन करते हुए भगवान श्रीकपिलदेव जी कहते हैं कि—**'सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य संविदो, भवन्ति हृत्कर्ण रसायनाः कथाः। तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि, श्रद्धारति-र्भक्ति रनुक्रमिष्यति ॥'** (भा० ३-२५-२५) अर्थ—सत्पुरुषों के समागम से मेरे पराक्रमों का यथार्थ ज्ञान कराने वाली तथा हृदय और कानों को प्रिय लगने वाली कथायें होती हैं। उनका सेवन करने से शीघ्र ही मोक्षमार्ग में श्रद्धा,प्रेम और भक्तिका क्रमशः विकास होता है ॥ अतः सदा सत्संग की आवश्यकता है। जैसे पौधे में जल नहीं देने से वह सूख जाता है वैसे ही सतसंग के अभाव में भक्ति का भी अभाव हो जाता है। यथा—**'तुलसीघट नव छिद्र को, सत्संगति सरि बोर। बाहर रहै न बूँद जल, कीजै जतन करोर ॥'** (दोहावली)

श्रीभर्तृहरिजी को जब वैराग्य हुआ और माता से आज्ञा लेने गये तो माता ने चार उपदेश दिये—१–सदा किले में रहना, २–अमृतभोजन करना ३–फूल की सेज पर सोना,४–उदर सोधना। स्पष्टीकरण—सन्तों के बीच में रहना, सदा सत्संग करना ही किले मे निवास करना है। खूब भूख लगने पर भगवदिच्छा से जो मिले वही खाना, अमृत भोजन है। खूब नीद आने पर सोना सुमन शैया पर सोने के समान है। और किसी प्रकार की व्याधि हो तो प्रथम उदरका सोधन करना चाहिये अतः वारि सींचो सत्संगसों ऐसा कहा।

एक बात ध्यान में रखने की है कि सत्संग भी अपनी उपासना से सम्बन्धित संतों का ही करना चाहिये। यथा—**'इष्ट मिले,अरु मन मिले, मिले भजन की रीति। मिलिये ताहि निशंक ह्वै, तिनसों कीजै**

प्रीति ।। (व्यास वाणी) ऐसा नही कि एक सगुणोपासक हो, दूसरा निर्गुणोपासक । एक तो कहता कि भगवान के नेत्र 'अतिशय चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते ।' हैं तो दूसरा डांटता कि यह [illegible] कह रहे हो, भगवान तो—'विनु पग चलइ सुनै विनु काना । कर विनु करम करइ विधि नाना ।। तन विनु परस नयन विनु देखा । ग्रहै घ्राण विनु वास असेषा ।। (रा० च० मा०) वेदो मे भी लिखा है—"अपाणि-पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः सः शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३-१९) अर्थ—वह परमात्मा हाथ पैरों से रहित होकर भी समस्त वस्तुओं को ग्रहण करने वाला, वेग पूर्वक सर्वत्र गमन करने वाला है, आँखो के विना ही वह सब कुछ देखता है, कानों के विना ही सब कुछ सुनता है, वह जो कुछ भी जानने में आने वाली वस्तुएँ हैं उन सबको जानता है, परन्तु उसको जानने वाला कोई नही है, उसे महान् आदि पुरुष कहते हैं ।।

दृष्टांत—दो छात्र मित्र थे । संग-संग पढते थे।अध्ययन समाप्त होनेपर दोनोके मनमें वैराग्य हो गया ।एक निर्गुणोपासक, एक सगुणोपासक गुरु के यहाँ जाकर दीक्षित हुआ । कुछ कालोपरान्त दोनो मिले । परस्पर उपासना सम्बन्धी वात हुई । एकने अपनेको दासोऽहम् कहा और दूसरे ने अपनेको 'सोऽहम्' कहा । 'दासोऽहम्' वाले मित्र ने 'सोऽहम्' वाले को अपनी उपासना की श्रेष्ठता समझाते हुये उसे भी दासोऽहम् का ही अनुसन्धान करने को कहा परन्तु उस मित्रने गुरु मन्त्रका परित्याग न करने मे जब अपने को विवश वताया तब इन्होने कहा कि—मन्त्र तो श्रीगुरु जी का ज्यो का त्यो रहने दो मेरी ओर से तुम 'दा' अक्षर और जोड़ लो । उसने मित्र की वात मान ली । 'दासोऽहम्' रटते हुये श्रीगुरु जी के पास गया । जब श्रीगुरु जी को समस्त वृत्तान्त मालुम हुआ और यह भी जानने मे आया कि यह मित्र के द्वारा प्राप्त 'दा' अक्षर को निकालने के लिये प्रस्तुत नही है तो गुरुजी ने आग्रह करके अपनी ओर से 'स' अक्षर और जोड लेनेको कहा,अब मन्त्र हो गया'सदासोऽहम्'—सदासोऽहम्। पुनः कुछ काल वाद दोनों मित्र मिले और परस्पर चर्चा हुई तो 'दासोऽहम्'—वाले मित्र ने अपनी ओर से पुन. 'दा' अक्षर लगा लेने को कहा, मन्त्र अव हो गया, 'दास-दासोऽहम्' एव प्रकारेण उस वेचारे की साधना 'सोऽहम्' और 'दासोऽहम्' के द्वन्द्व मे पड गयी ।

अत: ऐसा सग उचित नही है । इस प्रकार के सत्सङ्ग कभी कभी वहुत वडे विवाद के कारण वन जाते हैं । जैसे—श्रीकागभुशुण्डी और श्रीलोमश जी की कथा । यथा—सगुणोपासक श्रीकागभुशुण्डी जी महर्षि प्रवर श्रीलोमशजी से अपने आराध्यके दर्शन की विधि पूछते है और वे—लागे करन ब्रह्म उप-देशा । तब जब श्रीकागभुशुण्डीजी ने सगुण पक्ष का निरूपण किया तो वे'खण्डि सगुन मत अगुन निरूपा।' वात वढ गई । खण्डन-मण्डन प्रारम्भ हो गया । काग जी भी कहते हैं—'तव मैं निर्गुण मत करि दूरी, सगुण निरूपउँ करि हठ भूरी ।।' परिणामत —उत्तर प्रतिउत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भए क्रोध के चीन्हा।।' क्रोधाभिभूत ऋषि ने काग जी को शाप तक दे डाला । कहावत है—चौवे गए छब्बे होने, हो गए दूबे ।' गये थे आराध्य का दर्शन करने की विधि पूछने, हो गये ब्राह्मण, से काग । अत. ऐसे भाव [illegible] से वचना चाहिये ।

लागोई वढ़त गोढ़ा चहुं दिशि कढ़त सो—[illegible]

है तो उनमें स्कन्ध, शाखा, प्रशाखाये फूटती फैलती है । यहाँ [illegible] (कोटे तने) [illegible], दशधा, प्रेमा, परा, साधन सिद्धादि भेद से भक्ति के जो विविध अङ्ग कहे गये हैं वे [illegible] है । वृक्ष पञ्चाङ्गमय होते हैं—वृक्ष, शाखा, पल्लव, फूल, फल । भक्ति [illegible]

मुद्रा, नाम, माला, मन्त्र ये पांच वैष्णव संस्कार है। जैसे—वृक्ष की शाखा प्रशाखायें चारों ओर फ़ैलती हैं वैसे ही भक्तिमान की भक्ति भी यत्र तत्र सर्वत्र प्रकाशित होने लगती है। **'चढ़न आकाश'** बीज, जो प्रथम भूमि में गुप्त था, वह ही वृक्ष रूप से पृथ्वी से ऊपर उठ कर आकाश मे चढ़ गया। वैसे ही भक्त भी क्रमशः भक्ति वृद्धि के साथ ही प्रकृति से ऊपर उठ जाते हैं। यथा—**'ऊर्ध्वंगच्छन्ति सत्त्वस्थाः'** (गीता १४-१८) यह आकाश मे ऊँचे उठना है।

यश फैल्यो—जवतक वृक्ष छोटा रहता है तवतक समीप के ही लोग उसे देखते हैं। वड़ा होने पर दूर-दूर के लोग देखते हैं, वड़ाई करते हैं। उसी प्रकार से भक्ति की प्रारम्भिक दशा में तो समीप के ही लोग जानते हैं, मानते हैं, परन्तु वढ़ने पर तो दूर-दूर के लोग भी जान जाते हैं और प्रशंसा करते है। वहुरंग में—वृक्ष के वड़ा होने पर कोई तो उसके वड़ाई की वड़ाई करते हैं, कोई फूल की, कोई पल्लव की कोई रस की, कोई छाया आदि की वड़ाई करते हैं। इस प्रकार वहुरङ्ग में वड़ाई होती है। वैसे ही यहाँ भी कोई तो श्रवण निष्ठा की, कोई कीर्तन निष्ठा की, कोई वन्दन निष्ठा की वड़ाई करते हैं।

संत उर आलवाल—संत उर=गंभीर हृदय, उदार हृदय, सरस हृदय, निर्मल हृदय, निष्काम हृदय। यथा—**अति ही गंभीर मति सरस कबीर हियो।** (भक्तमाल) **"संत हृदय जस निर्मल वारी।" "संत हृदय नवनीत समाना। कहा कविन्ह पर कहै न जाना।। निज परिताप द्रवहि नवनीता।। पर दुख द्रवहि सन्त सुपुनीता।।' "राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।।"** (रामचरितमानस) ऐसा सन्त हृदय भक्ति तरु का थाला है। थाले में जैसे वृक्ष वैसे ही संतों के हृदय में भक्ति होती है। इससे यह भी जनाया कि जिनके भी हृदय में भक्ति है वे सन्त ही हैं। थाला वड़ा और गहरा हो तो उसमें जल अधिक अटता है जिससे वृक्ष सदा हरा भरा वना रहता है वैसे ही हृदय विशाल, उदार गम्भीर हो तो वह सत्संग कथा वार्ता को धारण करने में समर्थ होता है। यथा—**भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे।**

दृष्टांत—गुरु गोरखनाथ की सिद्ध डिविया का—आप केवल एक डिविया में भिक्षा करते थे। एक समय यत्र तत्र सर्वत्र फिरते हुए आवाज लगायी—कोई भी हमारी इस डिविया को दूध से भर दे। परन्तु जहाँ भी गये मनों दूध मँगा कर भरने का प्रयत्न करने पर भी वह पूर्ण न हो सकी। ऐसे ही सन्तोंका हृदय विशाल होता है। सत्संगरूपी जल निरन्तर भरते रहने पर भी पूर्ण नहीं होता, अलम् भाव को नहीं प्राप्त होता है।

शोभित विशाल छाया—भक्ति का विकास होने पर दीनता, नम्रता, शील, सुस्वभावादि समस्त सद्‌गुण हृदय में आ विराजते हैं। यथा—**यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः। हरावभक्तस्य कुतोमहद्‌गुणा, मनोरथेनासति धावतो बहिः॥** (भा० ५-१-१३) अर्थ—जिस पुरुष की भगवान में निष्काम भक्ति है, उसके हृदय में समस्त देवता धर्म-ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्‌गुणों के सहित सदा निवास करते हैं। किन्तु जो भगवान का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषों के वे गुण आ ही कहां से सकते हैं वह तो तरह तरह के संकल्प करके निरन्तर तुच्छ वाहरी विषयों की ओर ही दौड़ता रहता है॥ अतः उक्त सद्‌गुण ही उसकी विशाल छाया है। छाया से वृक्ष की शोभा और लोक का हित होता है वैसे ही शील आदि सद्‌गुणों से भक्ति की शोभा है (शीलं परं भूषणम्)।

जिये जीव जाल—जिये जीव जाल का भाव यह है कि जैसे अत्यन्त आतप से आकुल प्राणी वृक्ष की छाया में जाकर सुखशान्ति पाते हैं। यथा—"जो अति आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई।" तथा कोई काष्ठ से, कोई फल से, कोई फूल से, कोई पल्लव से एवं प्रकारेन हर तरह से वृक्ष के समाश्रय से जीते हैं वैसे ही संसार ताप संतप्त प्राणी नवधा, प्रेमा, परा आदि भक्ति का साधन करके लोक-परलोक सुख लाभ करते हैं। यथा—देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिं की नाईं ॥ (रा०च०मा०)।

डेरुयौ वकृवारि ......जंग सौं—जब तक साधन भक्ति रहती है तभी तक माया का भय है। सिद्धा भक्ति में तथा पूर्व संस्कारों से जन्मजाता भक्तिमें विघ्न भय नहीं है। यथा—यावत्साधना भक्तिस्तावदस्तिमहद्भयम्। सिद्धौ विघ्नाः स्वयं नष्टा जन्मजाताश्च निर्भयाः ॥ (भ० र० टि०) दृष्टान्त शङ्कराचार्य जी का (देखिए छप्पय भक्तमाल ३०)। बड़े-बड़े नास्तिक कुतर्की एवं ज्ञानादि विचार ही हाथी जैसे जंग हैं। ये लोग भी भक्तिमाल का कुछ बिगाड़ नहीं सकते। बल्कि सन्मुख पड़ते ही भक्त बन जाते हैं, आस्तिक बन जाते हैं। यथा—श्रीविट्ठलनाथ जी का दर्शन कर छीतू चौबे का शिष्य बनना। (देखिए भक्तमाल छप्पय १४६)। श्रीरसिक मुरारी जी को देखकर मतवाला हाथी भक्त बन गया। (देखिये कवित्त भक्तमाल ३६०)। श्रीपीपा जी के दर्शन से सिंह भक्त बन गया। (कवित्त २३०) काम क्रोध मद लोभ मोहादि भी जंग जैसे हाथी हैं। यथा—सूल कुलिसअसि अङ्गवनि हारे। ते रति नाथ सुमन सरमारे ॥ परन्तु भक्ति भावित हृदय में इनका प्रवेश भी नहीं हो पाता। यथा—निमि हरिजन हिय उपज न कामा। मत्सरमान मोहमद चोरा। इन कर हुनर न कवनिहुँ ओरा ॥ (रामचरितमानस)। प्रश्न—भक्ति तरु पौधा कौन तरु है? समाधान—'कहँ कहाँ धौं रसाल हैं' अर्थात् आम्रवृक्ष है।

भक्तमाल स्वरूप वर्णन

जाको जो स्वरूप सो अनूप लै दिखाय दियो, कियो यों कवित्त पट मिहीं मध्य लाल हैं।
गुण पै अपार साधु कहैं आंक चारिही में, अर्थ विस्तार कविराज टकसाल है ॥
मुनि संत सभा झूमि रही, अलि श्रेणी मानो, घूमि रही, कहैं यह कहा धौं रसाल है।
सुने है अगर अब जाने मैं अगर सही, चोवा भये नाभा, सो सुगंध भक्तमाल है ॥७॥

शब्दार्थ—पट=वस्त्र। मिहीं=महीन, झीन। लाल=मानिक रत्न। आंक=अङ्क, अक्षर। टक-साल=प्रामाणिक वस्तु, जँची-खरी-असली वस्तु। झूमि रही=आनन्द मग्न होकर सिर और बड़को बार-बार घुमा-हिला रही। अलि=भँवरा, भ्रमर। श्रेणी=पंक्ति,समूह। रसाल=रसमय, रसीला, आम्रवृक्ष, अतिमधुर। अगर=एक सुगन्धित वृक्ष विशेष जिसका धूप में प्रयोग किया जाता है तथा जिसका इतर भी बनता है, अग्रदेव जी। चोवा=इत्र।

भावार्थ—जिस भक्त का जैसा सुन्दर स्वरूप है, उसको श्रीनाभा जी ने अति उत्तम प्रकार से अपने काव्य में स्पष्ट करके दिखा दिया है। कविता ऐसी की है कि जैसे महीन वस्त्र के अन्दर रखे हुये

मुद्रा, नाम, माला, मन्त्र ये पांच वैष्णव संस्कार हैं। जैसे—वृक्ष की शाखा प्रशाखायें चारों ओर फैलती हैं वैसे ही भक्तिमान की भक्ति भी यत्र तत्र सर्वत्र प्रकाशित होने लगती है। **'चढ़न आकाश'** बीज, जो प्रथम भूमि में गुप्त था, वह ही वृक्ष रूप से पृथ्वी से ऊपर उठ कर आकाश मे चढ़ गया। वैसे ही भक्त भी क्रमशः भक्ति वृद्धि के साथ ही प्रकृति से ऊपर उठ जाते हैं। यथा—**'ऊर्ध्वंगच्छन्ति सत्त्वस्थाः'** (गीता १४-१८) यह आकाश में ऊँचे उठना है।

यश फैल्यो—जबतक वृक्ष छोटा रहता है तबतक समीप के ही लोग उसे देखते हैं। बड़ा होने पर दूर-दूर के लोग देखते हैं, बड़ाई करते हैं। उसी प्रकार से भक्ति की प्रारम्भिक दशा में तो समीप के ही लोग जानते है, मानते है, परन्तु बढ़ने पर तो दूर-दूर के लोग भी जान जाते हैं और प्रशंसा करते है। बहुरंग में—वृक्ष के बड़ा होने पर कोई तो उसके बड़ाई की बड़ाई करते हैं, कोई फूल की, कोई पल्लव की कोई रस की, कोई छाया आदि की बड़ाई करते हैं। इस प्रकार बहुरङ्ग में बड़ाई होती है। वैसे ही यहाँ भी कोई तो श्रवण निष्ठा की, कोई कीर्तन निष्ठा की, कोई वन्दन निष्ठा की बड़ाई करते हैं।

संत उर आलवाल—संत उर=गंभीर हृदय, उदार हृदय, सरस हृदय, निर्मल हृदय, निष्काम हृदय। यथा—**अति ही गंभीर मति सरस कबीर हियो।** (भक्तमाल) **"संत हृदय जस निर्मल बारी।" "संत हृदय नवनीत समाना। कहा कविन्ह पर कहै न जाना॥ निज परिताप द्रवहि नवनीता॥ पर दुख द्रवहिं सन्त सुपुनीता॥" "राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥"** (रामचरितमानस) ऐसा सन्त हृदय भक्ति तरु का थाला है। थाले में जैसे वृक्ष वैसे ही संतों के हृदय में भक्ति होती हैं। इससे यह भी जनाया कि जिनके भी हृदय में भक्ति है वे सन्त ही हैं। थाला बड़ा और गहरा हो तो उसमें जल अधिक अटता है जिससे वृक्ष सदा हरा भरा बना रहता है वैसे ही हृदय विशाल, उदार गम्भीर हो तो वह सत्संग कथा वार्ता को धारण करने में समर्थ होता है। यथा—**भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे।**

दृष्टांत—गुरु गोरखनाथ की सिद्ध डिबिया का—आप केवल एक डिबिया में भिक्षा करते थे। एक समय यत्र तत्र सर्वत्र फिरते हुए आवाज लगायी—कोई भी हमारी इस डिबिया को दूध से भर दें। परन्तु जहाँ भी गये मनों दूध मँगा कर भरने का प्रयत्न करने पर भी वह पूर्ण न हो सकी। ऐसे ही सन्तोंका हृदय विशाल होता है। सत्संगरूपी जल निरन्तर भरते रहने पर भी पूर्ण नहीं होता, अलम् भाव को नहीं प्राप्त होता है।

शोभित विशाल छाया—भक्ति का विकास होने पर दीनता, नम्रता, शील, सुस्वभावादि समस्त सद्गुण हृदय में आ विराजते हैं। यथा—**यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः। हरावभक्तस्य कुतोमहद्गुणा, मनोरथेनासति धावतो बहिः॥** (भा० ५-१-१३) अर्थ—जिस पुरुष की भगवान में निष्काम भक्ति है, उसके हृदय में समस्त देवता धर्म-ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणों के सहित सदा निवास करते है। किन्तु जो भगवान का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषों के वे गुण आ ही कहां से सकते हैं वह तो तरह तरह के संकल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयों की ओर ही दौड़ता रहता है॥ अतः उक्त सद्गुण ही उसकी विशाल छाया है। छाया से वृक्ष की शोभा और लोक का हित होता है वैसे ही शील आदि सद्गुणो से भक्ति की शोभा है (शीलं परं भूषणम्)।

जिये जीव जाल—जिये जीव जाल का भाव यह है कि जैसे अत्यन्त आतप से आकुल प्राणी वृक्ष की छाया में जाकर सुखशान्ति पाते हैं। यथा—"जो अति आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई।" तथा कोई काष्ठ से, कोई फल से, कोई फूल से, कोई पल्लव से एवं प्रकारेण हर तरह से वृक्ष के समाश्रय से जीते है वैसे ही ससार ताप संतप्त प्राणी नवधा, दशधा, प्रेमा, परा आदि भक्ति का साधन करके लोक-परलोक सुख लाभ करते है। यथा—देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिं की नाईं॥ (रा०च०मा०)।

देखौ बढ़वारि......जंग सों—जब तक साधन भक्ति रहती है तभी तक माया का भय है। सिद्धा भक्ति में तथा पूर्व संस्कारों से जन्मजाता भक्तिमें विघ्न भय नही है। यथा—यावत्साधना भक्तिस्तावदस्तिमहद्भयम्। सिद्धौ विघ्नाः स्वयं नष्टा जन्मजाताश्च निर्भयाः॥ (भ० व० टि०) दृष्टान्त सठकोपाचार्य जी का (देखिए छप्पय भक्तमाल ३०)। बड़े-बड़े नास्तिक कुतर्की एवं कामादि विकार ही हाथी जीते जंग हैं। ये लोग भी भक्तिमान का कुछ विगाड़ नही सकते। बल्कि सम्मुख पडते ही भक्त बन जाते है, आस्तिक बन जाते हैं। यथा—श्रीविट्ठलनाथ जी का दर्शन कर छीतू चौबे का छीत स्वामी बनना। (देखिए भक्तमाल छप्पय १४६)। श्रीरसिक मुरारी जी को देखकर मतवाला हाथी भक्त बन गया। (देखिये कवित्त भक्तमाल ३९०)। श्रीपीपा जी के दर्शन से सिंह भक्त बन गया। (कवित्त २९०) काम क्रोध मद लोभ मोहादि भी जग जीते हाथी है। यथा—सूल कुलिसअसि अङ्गवनि हारे। ते रति नाथ सुमन सरमारे॥ परन्तु भक्ति भावित हृदय में इनका प्रवेश भी नही हो पाता। यथा—जिमि हरिजन हिय उपज न कामा। मत्सरमान मोहमद चोरा। इन कर हुनर न कवनिहुँ ओरा॥ (रामचरितमानस)। प्रश्न—भक्ति तरु पौधा कौन तरु है? समाधान—'कहैं कहाँ धौं रसाल है' अर्थात् आम्रवृक्ष है।

भक्तमाल स्वरूप वर्णन

जाको जो स्वरूप सो अनूप लै दिखाय दियो,कियो यों कवित्त पट मिहीं मध्य लाल है।
गुण पै अपार साधु कहै आंक चारिही में, अर्थ विस्तार कविराज टकसाल है॥
सुनि संत सभा झूमि रही, अलि श्रेणी मानो, घूमि रही, कहै यह कहा धौं रसाल है।
सुने है अगर अब जाने मै अगर सही, चोवा भये नाभा, सो सुगंध भक्तमाल है॥७॥

शब्दार्थ—पट=वस्त्र। मिही=महीन, झीन। लाल=मानिक रत्न। आक=अङ्क, अक्षर। टकसाल=प्रामाणिक वस्तु, जँची-खरी-असली वस्तु। झूमि रही=आनन्द मग्न होकर गिर और धड़को वार-वार घुमा-हिला रही। अलि=भँवरा, भ्रमर। श्रेणी=पंक्ति,समूह। रसाल=रसमय, रसीला, आम्रवृक्ष, अतिमधुर। अगर=एक सुगन्धित वृक्ष विशेष जिसका धूप में प्रयोग किया जाता है तथा जिसका इतर भी बनता है, अग्रदेव जी। चोवा=इत्र।

भावार्थ—जिस भक्त का जैसा सुन्दर स्वरूप है, उसको श्रीनाभा जी ने अति उत्तम प्रकार से अपने काव्य मे स्पष्ट करके दिखा दिया है। कविता ऐसी की है कि जैसे महीन वस्त्र के अन्दर रखे हुये

माणिक्य रत्न की चमक बाहर प्रकाश करे, उसी प्रकार कविता की शब्दावली से भक्त-स्वरूप प्रकट होता है। साधु भक्तों के गुण और उनकी महिमा अपार है, किन्तु नाभा जी ने सन्त-गुरु कृपा से थोड़े ही अक्षरों में भक्तों के गुणो का ऐसी विचित्रता के साथ वर्णन किया है कि उसके अनेक अर्थ होते हैं और गुणों का अपार विस्तार हो जाता है। यही सच्चे टकसाली कवि की विशेषता है। सन्तों की सभा इसे सुन कर भक्तमाल काव्य का रसास्वादन कर आनन्द विभोर होकर झूम रही है, मानो सन्त रूपी भ्रमर-समूह चरित्र रूपी सुगन्धित पुष्पों पर मँडरा रहा है। आश्चर्य चकित होकर वे कहते हैं कि यह रसमयी कैसी विचित्र कविता है। मैंने अगर अर्थात् स्वामी श्रीअग्रदेव जी का नाम तो सुना था परन्तु अब मैंने जाना और अनुभव किया कि अगर वस्तुतः अगर (सुगन्धित वृक्ष ही) हैं जिनसे नाभा जी जैसा इत्र उत्पन्न हुआ है और जिसकी दिव्य सुगन्ध यह भक्तमाल है ॥ ७ ॥

व्याख्या—जाको० स०—**जिमि मल्लहि मल्ल बुधै बुध को, गुनवान गुनज्ञहि जानि सकै। तिमि सन्तहि सन्त अनन्त लखै, नहि आँधर मूरख मानि सकै॥ अति दिव्य सुदृष्टि अहै जिनकी वह ही वस गाय गवाय सकै॥ यह सन्त सरूप अनूप अहै त्यहि सन्तहि देखि दिखाय सकै॥** (भ०व०टि०)

अनूप लै दिखाय दियो—कैसे दिखाया है? "ज्यों पट मिही मध्य लाल है।" जैसे—महीन वस्त्रावेष्टित लाल मणि स्पष्ट दिखाई देती है वैसे ही श्रीनाभाजी की कवितामें भक्ति, भक्त, भगवन्त और गुरु का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। जैसे वस्त्र साधारण होता है और लाल अनमोल होता है वैसे ही सरल कविता में अनुपम भाव दिखाया गया है। जैसे "धारी उर प्यारी" की गम्भीरता को ही ले लीजिये। सरल शब्दों में अद्भुत भावो का समावेश है।(देखिए कवित्त–५)। किसी-किसी कवि की ऐसी कविता होती है कि शब्दाडम्बर का तो ठिकाना नही और भावार्थ कुछ भी नही। यहाँ वह बात नही है। कविता सरल, भाव अनूपम है। जैसे महीन वस्त्र से आवेष्टित होने पर भी लाल-मणि का प्रकाश स्पष्ट झलकता है वैसे ही कविता का अर्थ। जैसे वस्त्र बीच लाल-मणि वैसे ही कविता में साक्षात् लाल प्यारी (युगल, प्रिया-प्रियतम) यह श्रीनाभा जी की रचना का वैशिष्ट्य है।

गुण पै अपार—यद्यपि श्रीभक्तमाल जी का प्रधान वर्ण्य विषय भक्त चरित्र ही है तो भी प्रसंगानुसार श्रीनाभा जी ने भक्तो के गुण स्वरूप निरूपण के साथ-साथ भक्ति-भगवन्त-गुरुका भी सम्यक् गुण-स्वरूप-निरूपण किया है। चारों के ही गुण अपार हैं यथा—सन्त—"**सुनु मुनि साधुन्ह के गुण जेते। कहि न सकहिं शारद श्रुति तेते।**" "**गुणागार संसार दुख, रहित विगत संदेह। तजि मम चरण सरोज प्रिय, तिन्ह कहुँ देह न गेह॥**" भगवन्त—"**राम अमित गुन सागर, थाह न पावइ कोइ।**" (रामायण) भक्ति—"**यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्रसमासतेसुराः।**" (भागवत ५-१८-१२) गुरु—**गुरुः साक्षात् परब्रह्म** तो अनन्त गुण गण महार्णव होते ही है।

साधु कहैं आंक चार ही में—महत्पुरुष गम्भीर से गम्भीर, बड़े से बड़े विषय को थोड़े शब्दों में ही अभिव्यक्त कर देते हैं। यथा—श्रीभरत वाक्य—"**सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे।**" (रा०च०मा०)। क्योकि श्रीभरत जी साधु है। यथा—"**तात भरत तुम सब विधि साधू।**" परम साधु श्रीराम जी भी इसके उदाहरण है। श्रीलक्ष्मण जी के द्वारा पूछे गये भक्ति ज्ञान वैराग्य ईश्वर जीव माया विषयक प्रश्नों का समाधान करते हुये कहते है—**थोरे महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥**(रामचरितमानस) परम साधु जो ठहरे यथा—**सब कोउ कहै राम सुठि साधू।**

दृष्टांत—ब्रह्मा के उपदेश का—एक बार देवता, मनुष्य और असुर—ये तीनो ही ब्रह्माजी के पास ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करने गये। कुछ काल बीतजाने पर उन्होंने उनसे उपदेश (समावर्तन)ग्रहण करनेकी इच्छा प्रगट की। सबसे प्रथम देवताओ ने कहा—'प्रभो! हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापति ने एक ही अक्षर कह दिया 'द'। देवताओं ने कहा—हम समझ गये। हमारे स्वर्गादि लोको मे भोगो की ही भरमार है। उन्ही मे लिप्त होकर हम अन्त मे स्वर्ग से गिर जाते हैं, अतएव आप हमें 'द' से 'दमन' अर्थात् इन्द्रिय-दमन, इन्द्रिय-संयम का उपदेश कर रहे हैं। तब प्रजापति ब्रह्मा ने कहा, 'ठीक है तुम समझ गये।' फिर मनुष्यो ने प्रजापति से कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापति ने उनसे भी 'द' इस एक अक्षर को ही कहा और पूछा कि 'क्या तुम समझ गये? मनुष्यों ने कहा—जी, समझ गये, आपने हमे दान करने का उपदेश दिया है, क्योंकि हम लोग जन्मभर सग्रह करने की ही लिप्सा में लगे रहते हैं, अतएव हमारा दान में ही कल्याण है।' तब प्रजापति ने कहा 'ठीक है, मेरे कथन का यही अभिप्राय था।' अब असुरों ने उनके पास जाकर उपदेश की प्रार्थना की। प्रजापति ने इन्हें भी 'द'अक्षर का ही उपदेश किया। असुरो ने सोचा, 'हमलोग स्वभाव से ही हिंसक हैं, क्रोध और हिंसा हमारा नित्य का सहज व्यापार है। अतएव निःसन्देह हमारे कल्याण का मार्ग एकमात्र 'दया' ही है। प्रजापति ने हमे उसी का उपदेश किया है,क्योकि दया से ही हम इन दुष्कर्मो को छोड़कर पाप-ताप से मुक्त हो सकते हैं।' यो विचार कर वे जब चलने को तैयार हुए, तब प्रजापति ने उनसे पूछा—'क्या तुम समझ गये?' असुरो ने कहा—'प्रभो! आपने हमें प्राणीमात्र पर दया करने का उपदेश दिया है।' प्रजापति ने कहा, 'ठीक है, तुम समझ गये। प्रजापति के अनुशासन की प्रतिध्वनि आज भी मेघ—गर्जना में हमें 'द-द द' के रूप में अनुदिन होती सुनायी पड़ती है अर्थात् भोगप्रधान देवताओ! इन्द्रियोंका दमन करों। संग्रह प्रधान मनुष्यो! भोग सामग्रीका दान करो। और क्रोध प्रधान असुरो! जीवमात्र पर दया करो। इससे हमें दम,दान और दया—इन तीनो को सीखना तथा अपनाना चाहिये।—(बृहदारण्यक उपनिषद्)।

8074

दृष्टान्त—जसवंतसिंह की रानी का। एकबार राजा जसवंतसिंह दिल्ली गये थे। वहाँ उन्हें बहुत दिन बीत गये। जब आनेकी इच्छा हुई तो रानियो के पास पत्र भेजे कि जिसकी जो इच्छा हो वह लिखे, मैं दिल्ली के बाजार से लेता आऊँगा। सभी रानियों ने अपनी-अपनी मन भावती वस्तुएँ राजाके पास लिख भेजी। जो सबसे छोटी रानी थी,उसने केवल लालस्याही से 'सा'अक्षर लिखकर भेजा। सबके पत्र पहुंचे,भाव विदित हुए। परन्तु जब छोटी रानी का पत्र राजा ने पढा तो कुछ भी समझ मे नही आया। राजाने अपने सभासदो को वह पत्र दिया, परन्तु वे भी कुछ नही समझ सके, मन्त्रिमण्डल भी समझने में विफल रहा। तब राज पण्डित को वह पत्र दिया गया। पण्डितजी ने प्रातः काल उसका तात्पर्य बताने को कहा। रातभर विचार करते रहे। बहुत चिन्तन के बाद यह बात समझ मे आई कि लाल स्याही से 'सा' लिखा है, इसमें रानी का तात्पर्य राजा के दर्शन की 'लालसा' से है। फिर तो प्रातः काल आकर पडितजी ने प्रथम तो रानी की बुद्धि को प्रशसा की। फिर पत्र का तात्पर्य बताया। राजा बहुत प्रसन्न हुए। पण्डित जी का दान-मान से बड़ा सम्मान किये और शीघ्र ही दिल्लीश्वर से विदा होकर घर को आये तो सर्व प्रथम छोटी रानी के ही महल मे गये और वस्तुतस्तु जैसा पण्डितजी ने रानी के भाव का दिग्दर्शन कराया था, वह परम सत्य पाया। यह है 'गुण पै अपार साधु कहै आँक चारि ही मे' का ज्वलन्त उदाहरण। परन्तु विरहिणी व्रजाङ्गना का पत्र तो इससे भी उत्कृष्ट उदाहरण है। श्री-ब्रह्माजी ने तो 'द' अक्षर कहकर देवता, दैत्य, एवं मनुष्यों को उपदेश दिया था। जसवन्तजी की छोटी

रानी ने लालस्याही से "स" लिखकर अपने भाव को अभिव्यक्त किया था। लेकिन विरहिणी की पत्रिका में तो एक अक्षर भी नही लिखा था, परन्तु भाव सब अभिव्यक्त रहे। यथा—

३-दृष्टान्त—श्याम विरहिणी का—दोहा—**'तर झुरसी, ऊपर गरी, कज्जल जल छिरकाइ। प्रीतम पाती बिन लिखी बांची विरह बलाइ।** (विरह पत्रिका) श्याम विरहिणी जब पत्र लिखने बैठी तो पत्र नीचे तो विरहांच से झुलस गया और ऊपर शोकाश्रु से भीग गया। उस पर कज्जल मिश्रित अश्रुविन्दु गिरे उसमें और कुछ न लिख सकी, उसे प्रियतम के पास भेज दिया। पत्र की यह दशा देखकर ही प्यारे श्यामसुन्दर ने वियोगिनी के विरह-बलाय (अति-विरह) का अनुमान कर लिया।

एक बार एक गोपी ने एक पत्र में केवल गुलाल से गुलाब लिखकर प्यारे श्यामसुन्दर के पास भेजा था। चतुर शिरोमणि ने उसका भाव समझा, तात्पर्य था—आप देखने में तो गुलाब से सुन्दर, सुकोमल,सरस,सुगन्धित दीखे परन्तु निकले गुलाल सदृश। देखने में सुन्दर किन्तु नीरस, सुगंध हीन। यह गोपिकाओं का व्यंग है। वस्तुतस्तु भगवान तो रस स्वरूप है यथा—रसो वै सः" व आप गुलाल सदृश है, हम गोपिकायें गुलाब सदृश।

जैसे विष्णु पुरीजी ने **'कोटि ग्रन्थको अर्थ तेरह विरचन में गायो'** (देखिये भक्तमाल छप्पय ४७) ऐसे ही श्रीनाभाजी ने थोड़े ही अक्षरों में अमित भाव भर दिये है। श्रीरूपसनातनजी के प्रसंग में श्री-प्रियादासजी ने लिखा है कि—**'कहत वैराग गये पागि नाभा स्वामी जू वै गई यौं निबर तुक पांच लागी आंच है। रही एक मांझ धरे कोटिक कवित्त अर्थ याही ठौर लै दिखायो कविता को सांच है।।'**वह तुक है—**"ब्रजभूमि रहस्य राधा कृष्ण भक्त तोष उद्धार कियौ"** (छ० ८९) **'अर्थ विस्तार कविराज टकसाल है'**—थोड़े अक्षरों मे अमित भाव भर देना तथा अमित भाव भरे थोड़े अक्षरों का अनन्त विस्तार कर देना यह कविराजोंका ही कौशल है। यथा—**टकसाली कविजनको बानी। सुगम अगम मृदु कठिन बखानी।। गागर में सागर भरि देहीं, गागर को सागर करि देहीं।। एक शब्द ते काव्य बनावै। कोटि ग्रन्थ इक पदमें गावें।।** (भ० व० टि०) गागर में सागर भरने के अर्थात् थोड़े अक्षरों मे अमित भाव भरने के दृष्टान्त ऊपर दिये जा चुके हैं अब देखिये गागर को सागर बनाने अर्थात् थोडे शब्दों का अमित विस्तार कर देनेका प्रमाण। श्रीवेदव्यासजी, श्रीनारदजी के बताये चार श्लोकों से अठारह हजार श्लोक श्रीमद्भागवत महापुराण के बनाये। श्रीवाल्मीकि जी श्रीनारदजी से मूल रामायण के सौ श्लोक सुनकर सौकरोड़ श्लोको की रचना की। यथा—**"रामायन सतकोटि अपारा"**

सुनि सन्त सभा—इससे जनाया गया कि श्रीनाभाजी के समय में ही श्रीभक्तमालजी की कथा होने लगी थी। **झूमि रही, अलि श्रेणी मानो घूमि रही**—भाव यह कि अत्यंत सुगन्धित पुष्प के खिलने पर जैसे भ्रमरों की पक्ति आ-आकर उसके ऊपर मंडराती है और मकरन्द रस पान कर मत्त होकर झूमने लगती है वैसे ही जहाँ भक्तमाल की कथा होती है, रसिक सन्त महानुभाव वहां आ-आकर एकत्रित हो जाते हैं और कथा-रसामृतास्वादन कर प्रेमोन्मत्त होकर झूमने लगते है **'कहैं यह कहा धौ रसाल हैं'**—भाव यह कि श्रीभक्तमालजी रस ही रस है. इसमें कर्मरूपी छिलका और शुष्क ज्ञान रूपी गुठली तथा भक्ति व्यतिरिक्त अन्य मत-मतान्तर रूपी रेशे नही है।।

'सुने हे अगर ·····भक्तमाल है'—सुने हे अगर से जनाया गया कि श्रीअग्रदास जी परम विख्यात थे। कही-कही गुरू से चेला की ख्याति होती है कही-कही चेला से गुरू की ख्याति

होती है। कही-कही गुरू और चेला दोनों ही विख्यात होते है। जैसे श्रीअग्रदासजी और श्रीनाभा जी दोनों ही परम प्रसिद्ध हुये। 'अब जानें मैं अगर सही'—भाव—जैसा नाम है वैसा ही गुण भी है। जैसे अगर वृक्ष विशेष के काष्ठ से इत्र वनता है जिसकी वड़ी ही मनमोहक सुगन्धि होती है। वैसे ही श्रीअग्रदासजी रूपी अगरसे श्रीनाभारूप इत्र तैयार हुआ है श्रीभक्तमाल जिसकी सुगन्धि है। जैसे उत्तम इत्र की सुगन्धि विना सूँघे ही अपने आप नासिकाके अनुभव मे आने लगती है, सूँघने पर यदि इत्र की वास मिली तो फिर वह इत्र ही क्या। यथा—हांके ते टट्टू चले, सूँघे इतर वसाय। कहिवे पै वेटा करे तीनो देय बहाय॥ वैसे ही उत्तम काव्य विना किसी विज्ञापन के अपने आप जन-जन के मन-मन मे अपना स्थान वना लेता है—श्रीभक्तमाल ऐसी ही रचना है।

भक्तमाल माहात्म्य वर्णन

वड़े भक्तिमान, निशिदिन गुणगान करैं हरैं जगपाप, जाप हियो परिपूर है।
जानि सुख मानि हरिसन्त सनमान सचे,बचेऊ जगतरीति, प्रीति जानी मूर है॥
तऊ दुराराध्य, कोऊ कैसे कै अराधिसकै, समझो न जात, मन कंप भयो चूर है।
शोभित तिलक भाल,माल उर राजै,ऐपै बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है॥८॥

शब्दार्थ—जाप=जप, नाम अथवा मन्त्र का अभ्यास। परिपूर=अच्छी तरह से भरा हुआ। सचे=एकत्र किये, सञ्चे। दुराराध्य=कठिनता से उपासना योग्य। अराधि सकै=आराधना उपासना कर सकै। अतिदूर=वहुत दुर्लभ, अप्राप्य।

भावार्थ—कोई वड़े साधक कैसे ही अच्छे भक्तिमान हों, रात-दिन भगवान के गुणों का गान करते हों, संसार के पापो को हरते हो, जप, ध्यान आदि से हृदय परिपूर्ण हो, श्रीहरि और सन्तो के स्वरूप को जानकर सच्चाई से उनकी सेवा और उनका आदर भी करते हो तथा उसमे सुख भी मानते हों, जगत के मायिक प्रपंचो से वचे भी हो और प्रेम को ही मूलतत्व मानते हों इतने पर भी भक्ति की आराधना कठिन है, उसकी आराधना कोई कैसे कर सकता है। विशुद्ध भक्तिका स्वरूप समझमें ही नही आता है, मन कंपित होकर शिथिल हो जाता है। चाहे मस्तक पर सुन्दर तिलक और गलें मे कण्ठी माला सुशोभित है परन्तु विना भक्तमाल पठन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन किये भक्ति का स्वरूप वहुत दूर है, उसका जानना असम्भव है॥८॥

व्याख्या—**'वड़े भक्तिमान'** अर्थात् श्रवणादिक नवधा भक्ति परायण है। **'निशि-दिन गुण गान करैं'** भक्ति-ज्ञान-वैराग्य की अवारभूताभगवत्कथा का निरन्तर गान करते रहते हैं। प्रभाव भी, जैसा सन्तो का वर्णन किया गया है, यथा—**मुख देखत पातक हरै, परसत कर्म विलाहिं। वचन सुनत मन मोह गत, पूरव भाग मिलाहिं॥ (वैराग्य संदीपिनी) जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइये'(विनय) 'सन्त दरस जिमि पातक टरई'** इत्यादि अपने दरसन, स्पर्श समागमादि से जगत का पाप हरते है। **'जाप हियो परिपूर है'**—जप तीन प्रकार का होता है। १—वाचिक, २—उपांशु ३—मानस। १—वाचिक—जो जप वैखरी वाणी से अर्थात् उच्च स्वर से किया जाता है उसे वाचिक

जप कहते हैं। २—उपांशु—जिस जप में जिह्वा और ओष्ठ हिलते तो है पर शब्द नही होता है उसे उपांशु कहते है।३—मानस-जिसमे जिह्वा और ओष्ठ भी नहीं हिलते है केवल मनमें ही नाम अथवा मन्त्र का मनन किया जाता है। उसे मानस जप कहते है। इस प्रकार के त्रिविध जप का सविधि अनुष्ठान भी करते हैं।

'जानि'—जानि से तात्पर्य सन्त और भगवन्त की महिमा जानने से है। 'सुखमानि'—सुखमानि से जनाया गया कि सन्त और भगवन्त दर्शन से उन्हें परम सुख की प्राप्ति भी होती है। अतः अहर्निश हरि और हरिभक्तों के सम्मान में भी लगे रहते है। 'बचेऊ जगत रीति'—सांसारिक प्रपंचों, से जो बचे हुए है यथा—**क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्क शयनः क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदन रुचिः। क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्॥** अर्थ—वह कभी धरती पर सो लेता है कभी पलँग पर, कभी शाक का ही आहार करता है और कभी उत्तम चावल आदि के उत्तम भोजन की रुचि करता है। कभी गूदडी धारण करता है और कभी सुन्दर रेशमी वस्त्र धारण करता है। इस प्रकार मनोजयी पुरुष अपने लक्ष्यको ध्यान मे रखते हुए सुख और दु.ख की परवाह नही करता है। (भर्तृहरिनीतिशतके) **'प्रीति जानी मूर है'**—तथा जो यह जानते हैं कि प्रेम ही सर्वस्व है यथा—**"सबसे ऊँची प्रेम सगाई।" "रामहि केवल प्रेम पियारा। जान लेहु जो जाननिहारा॥" "पन्नगारि सुन प्रेम सम, भजन न दूसर आन।" "साधन आन प्रेम सम नाहीं"** इत्यादि।

'तऊ दुराराध्य'—यहाँ एक प्रश्न यह होगा कि अन्यत्र तो भक्ति को अत्यन्त सुलभ कहा गया है। यथा—**"सुलभ सुखद मारग यह भाई, भगति मोरि पुरान श्रुति गाई"। "रघुपति भगति सुलभ सुखकारी, जो त्रय ताप शोक भय हारी"। कहहु भगतिपथ कौन प्रयासा, जोग न जप तप मख उपवासा।"** इत्यादि। तो फिर यहाँ दुराराध्य क्यों कहा ? समाधान–भक्ति मे यत्र तत्र सर्वत्र जो सौलभ्य वर्णन किया गया है वह ज्ञानादि साधनों की कठिनता को लक्ष्य करके। वस्तुतस्तु ज्ञानादि साधन बड़े ही कठिन है, यथा—**"कहत कठिन समुझत कठिन, साधत कठिन विवेक। होइ घुनाक्षर न्याय जो पुनि प्रत्यूह अनेक।"** इनकी अपेक्षा भक्ति में सौलभ्य है। परन्तु सौलभ्य का अर्थ यह नहीं कि भक्ति करने मे कुछ श्रम नही। यथा—**'रघुपति भगति करत कठिनाई॥' कहत सुगम करनी अपार सोइ जानै जेहि बनि आई॥"**(विनय) दूसरी बात—हरि, सन्त, सद्गुरू प्रसादोत्थ स्वयं सिद्धा भक्ति सुलभ और स्वानुष्ठित साधन सिद्धा भक्ति कठिन, अतः दुराराध्य कहा।

इस सम्बन्धमें अन्य महानुभावों के भी कथन प्रमाण है। यथा—श्रीस्वामी युगलानन्यशरणजी—

**प्रेम पंथ अतिदूर पूर पन मुश्किल पहुँचि न सकता है।
कायर कूर कमाल हालबिन देह गेह दिशि तकता है॥
करनी कठिन ख्याल नहिं करता सकल बात बहु बकता है।
श्रीयुगलानन्यशरण सौंपे शिर तब प्रेमी फल पकता है॥**

पुनश्च—सवैया—

**अति छीन मृनाल के तारहुँ ते त्यहि ऊपर पांव दै आवनो है।
सुइ वेह ते द्वार सकी न जहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है॥
कवि'बोध' घनी अनी नेजहुँ ते चढ़ि तापै न चित्त डिगावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तलवार की धार पै धावनो है॥**

इश्क चमन के दोहे— अरे इश्क के चमन में सँभलि के पगधरि आव।
बीच राह के डूबना ऊवट माँहि बचाव॥
शीश काटि के भू धरै, ऊपर रक्खै पाँव।
इश्क चमन के बीच में ऐसा है तो आव॥
जिन पावों से खलक में चलै सो धर मत पाँव।
शिर के पाँवों से चला इश्क चमन में आव॥
पाँव सकै नहिं ठहरि कै, बुरी चश्म की पीर।
सो जानै जिसको लगै कहर जहर के तीर॥ (श्रीनागरीदास)

विना भक्तमाल भक्तिरूप अतिदूर है—परम प्रेम रूपा भक्ति का स्वरूप पूछे जाने पर भक्ति-सूत्रकार श्रीनारद जी यही कह कर मौन हो जाते है कि **'अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपं'** अर्थात् प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। **'मूकास्वादनवत्'** अर्थ—गूंगे के स्वादकी तरह क्योंकि—**'प्रेम हृदय की वस्तु है, परम गुप्त अनमोल। कथनी में आवै नहीं सकै न कोऊ तोल॥** (प्रेम सरोवर) परन्तु इतने कथन मात्र से ही जव जिज्ञासु जनों का समावान नही होते देखे तव वोले कि **'प्रकाशते क्वापि पात्रे'** अर्थ—किसी विरले योग्य पात्र मे (प्रेमी भक्त मे) ऐसा प्रेम प्रकटभी हो जाता है। (नारद भक्ति-सूत्र,५१, ५२,५३) अर्थात् जव कोई प्रेम मद से छके हुए भाग्यवान महापुरुष तन, मन की सुधि भुला कर उन्मत्तवत् दिव्य चेष्टा करने लगते हैं। तव प्रेम का कुछ-कुछ प्रकाश लोगों को प्रकट दीखने लगता है। अतः ऐसे महानुभावो का दर्शन कर अथवा उनका चरित्र श्रवण-पठन कर ही प्रेम का स्वरूप समझा जा सकता है। श्रीभक्तमाल जी मे जिन सहस्रों भक्तो का स्मरण किया गया है, ये वे ही महानुभाव हैं जिनके हृदय मे प्रेम का परिपूर्ण प्रकाश हुआ है अतः विना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है।

वस्तुतस्तु विना भक्त चरित्र श्रवण,मनन,अनुशीलन किये,विना सत्पुरुपो का सतसग किये,भक्ति का स्वरूप समझना असम्भव ही है। भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम मे कैसी निष्ठा होनी चाहिये, मत सद्गुरुदेव मे कैसा भाव रखना चाहिये,प्राणि मात्र से कैसा व्यवहार करना चाहिये, जागतिक प्रपच से किस प्रकार जागरूक रहना चाहिये, भक्तो के चरित्र के माध्यम से इनका जैसा हृदय ग्राही वर्णन श्रीभक्तमाल जी मे है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। अतः विना भक्तमाल……… है। पुनश्च—जैसे करखे की वात (उत्तेजनात्मक वार्ता) सुनकर कायर भी शूर होकर लड़ने लगता है वैसे श्रीभक्तमाल सुनकर साधन मे शिथिल भये लोग भी सत्प्रेरणा पाकर पुनः साधन मे दृढ होकर भक्ति करने लगते हैं और शूरवीर जैसे और भी अधिक शौर्ययुक्त हो जाते है वैसे ही साधन दृढ और भी अधिक दृढ हो जाते हैं॥ अतः—

छन्द— हरिभक्तन के चरित सुनि रीति प्रीति की सीखिये।
निज बुधि वल ते हरिभगति मिली न कवहूँ देखिये॥
मिली भगति तव थिर रहै, जब हरिजन रंग रांचिये।
याते सुनि के प्रेम सो भक्तमाल नित वांचिये॥
नारद कियौ साधन स्वयं अभिमान ने वाधा करी।
नर तुच्छ की गिनती कहा मति जासु माया ने हरी॥
हरि भक्त अर्जुन संग रहिकै फेरि अभिमानी भयो।
तब भक्त मोरध्वज चरित ने भक्ति की शिक्षा दयो॥

रांका तथा बांका भगति को नामदेवहु ने लख्यौ।
तब हारिकै शिक्षा लई निष्काम रति रस को चख्यौ॥
पीपा भगत सीता सहित चीधर भगत के घर गये।
लखि के चरित दोऊन के अति नम्र लघु दोऊ भये॥ (भ०व०टि०)

उपर्युक्त पद में वर्णित समस्त कथा प्रसंग आगे विस्तार से वर्णन किये जायेगे। बिना संत, सद्गुरु का अनुग्रह पाये, विना भक्तमाल पठन-श्रवण किये भक्ति व भगवान को जानने का दावा करना मिथ्या दंभ है।

दृष्टान्त—दम्भी बादशाह का—एक बादशाह था। इसने दंभवश झूठ-मूठ यह कहना शुरू किया कि मैंने साहब को जान लिया है। हमारी उनकी जान-पहचान है। वे हमसे मिलते-जुलते है, आदि आदि। यह सब कह-कहकर वह सन्तों एवं सत्संग की उपेक्षा करता। एक सिद्ध फकीर को बात खटकी। इसने कभी सन्तों का संग किया नहीं। उनकी सेवा की नहीं। उनके चरणरज से अपना अभिषेक किया नही, उनका चरित्र कभी पढा-सुना नही, अतः निश्चय ही इसे भक्ति मिली नही, फिर इसने कैसे विना भक्ति पाये भगवान को जान लिया। जानने के तो यही सूत्र हैं। निश्चय ही यह सब बादशाह का दम्भाचरण मात्र है। अतः उपदेश देने की ठानी। फिर तो दस रुपये देकर एक मोची से सवा-सवा हाथ लम्बा एक जोड़ा जूता बनवाया और रात्रि में एक जूता मस्जिद में फेंक दिया। प्रातः झाड़ू लगाने वाले ने देखा, आकर बादशाह से कहा। बादशाह ने विचारा इतना वड़ा पाँव मनुष्य का तो हो नहीं सकता, निश्चय ही यह साहव का जूता है। लगता है साहब ने हमारी बात रख दी। फिर तो मस्जिद में जाकर जूते को सिर से लगाया और वड़े सम्मान के साथ सिहासन पर पधरा कर रोज उसका पूजन करता, माथे लगाता। पूछने पर कहता कि साहव मुझसे मिलने आये थे, जाते समय जल्दी में एक जूता छूट गया। एक दिन उसने जूते को विमान में सजाकर जुलूस निकाला। इधर फकीर भी एक जूते को लाठी में लटकाये आ रहे थे। बादशाह को देखकर दुहाई दी। रीति है दुहाई देने से वादशाह रुक कर फरियाद सुनते हैं। अतः फकीर से दुहाई का कारण पूछा। फकीर ने कहा, हजूर! मेरा एक जूता खो गया है, और सुना है कि वह आपके पास है। गरीव परवर! मेरा जूता मुझे मिलना चाहिये। बादशाह ने आश्चर्य चकित होकर पूछा, क्या यह जूता आपका है? फकीर ने कहा, हाँ हुजूर! यह मेरा ही है। यदि विश्वास न हो तो मोची को बुला कर पूछ लिया जाय। ऐसा ही किया गया। तब तो बादशाह वहुत लज्जित हुआ। फकीर ने बहुत फटकारा। राजा चरणों में गिर पडा और साहब से मिलने का उपाय पूछा तो फकीर ने कहा—बिना भक्ति के भगवान नही मिलते और बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है। श्रीभक्तमाल भक्ति का सर्वोपरि ग्रंथ है यथा—

हरि सों जग कछु वस्तु नहिं, प्रेम पंथ सो पंथ।
सद्गुरु सो सज्जन नहीं, भक्तमाल सो ग्रन्थ॥

❀ श्रीमद्भगवद्भक्तेभ्यो नमः ❀

अथ मूल मंगलाचरण

दोहा—भक्त भक्ति भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक।
इनके पद बन्दन किये, नाशैं विघ्न अनेक ॥१॥

शब्दार्थ—भक्त=भगवद्भक्ति युक्त, प्रेमी, सेवक, ज्ञानी जीव। भक्ति=भगवान मे प्रीति, सेवा, शुश्रूषा, श्रद्धा, अनुराग। भगवन्त=भगवान, ब्रह्म, परमेश्वर, नारायण, राम, कृष्ण, पूज्य, गुरु। गुरु=ईश्वर, मन्त्र दाता, विज्ञान-प्रद, आचार्य, उपदेशक, महान्, पूज्य, गभीर, भारी। चतुर=चार। नाम=संज्ञा, आख्या। वपु=शरीर, स्वरूप।

भावार्थ—भगवान के भक्त, भगवान की भक्ति, भगवान और भगवत्तत्व वोध कराने वाले गुरुदेव, ये अलग-अलग चार नाम और चार वपु है, पर वास्तव मे इनका वपु (स्वरूप=तत्व) एक ही है। इनके श्रीचरणो की वन्दना करने से समस्त विघ्नों का पूर्णरूप से नाश हो जाता है ॥१॥

व्याख्या—अव मूल ग्रथकार श्रीनाभा जी ग्रथारम्भ में, ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति और प्राणिमात्र को मङ्गलकारी होने के लिये मगलाचरण करते है। मङ्गलाचरण करने से ग्रन्थ निर्विघ्न सम्पूर्ण होता है। यथा—'समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्'। अर्थ—कार्य समाप्ति के इच्छुक को कार्यारम्भ में मंगलाचरण करना चाहिये। जिन शास्त्रों के आदि मध्य अन्त में मङ्गलाचरण किया जाता है, वे सुप्रसिद्ध होते हैं, निर्विघ्न समाप्त भी होते हैं—तथा उनके अध्ययन करने वाले (वक्ता, श्रोता) आयुष्मान वीर और मङ्गल कल्याणयुक्त होते है। यथा—मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि हि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चाऽध्येतारश्च मङ्गलयुक्ता यथा स्युरिति' (पातञ्जल महाभाष्य) पुनश्च—आदिमध्यावसानेषु यस्य ग्रन्थस्य मङ्गलम्। तत्पठनं पाठनं वापि दीर्घायुध भवेत् ॥

मंगलाचरण तीन प्रकार के होते है। १—नमस्कारात्मक, २—वस्तुनिर्देशात्मक, ३—आशीर्वादात्मक। नमस्कारात्मक—जिसमे इष्ट को नमस्कार किया गया हो। यथा—नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ (भागवत) पुनश्च—रामं रामानुजं सीतां, भरतं भरतानुजम्। सुग्रीवं वायुसूनुञ्च प्रणमामि पुनः पुनः ॥ (रामायण) वस्तुनिर्देशात्मक—जिसमे अपने वर्ण्य वस्तु का स्वरूप दिखाया गया हो।

यथा— अस्ति स्वस्तरुणीकराग्रविगलत्कल्पप्रसूनाप्लुतं,
वस्तु प्रस्तुतवेणुनादलहरी निर्वाणनिर्व्याकुलम्।
स्रस्त स्रस्तनिवद्ध नीविविलसद् गोपीसहस्रावृतं,
हस्तन्यस्तनतापवर्गमखिलोदारं किशोराकृति ॥ (कृष्णकर्णामृत)

अर्थ—जो देवाङ्गनाओं के हाथों के अग्रभाग से गिरे हुये कल्पवृक्ष के पुष्पों से आवृत है, प्रस्तुत वेणुनाद की लहरियों के आनन्द से अव्यग्र है, तथा जो वार-वार खिसकती हुई नीवी वाली व्रज गोपियों के अनन्त समूह से घिरा हुआ है और शरणागत के हाथ में जिसने अपवर्ग सौंप दिया है ऐसा वह सबसे उदार किशोर आकृति वाला ही इष्ट वस्तु है ॥ आशीर्वादात्मक—उसे कहते हैं जिसमें इष्ट का स्मरण करते हुये आशीर्वाद भी दिया गया हो। यथा—

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां,
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्रामस्थानमेकं कविवर वचसां जीवनं सज्जनानां,
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम ॥ (श्रीहनुमन्नाटक)

अर्थ—जो समस्त कल्याणों का निधान, कलियुग के पापों का नाशक, पवित्रों को भी पवित्र करने वाला है तथा जो श्रेष्ठ परम पद की प्राप्ति के लिये चले हुये मुमुक्षु को पाथेय (राह खर्च) है और श्रेष्ठ कवियों की वाणी का सुखद विश्राम स्थान, सज्जनों का जीवन एवं धर्म रूपी वृक्ष का वीज है, वह श्रीरामनाम आप लोगों को कल्याणरूप ऐश्वर्य प्रदान करे ॥

श्रीनाभा जी ने एक दोहे में ही तीनों प्रकार के मङ्गलाचरणों के भाव दिखाये हैं। यथा—'भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु, चतुरनाम वपु एक' इतने अंश से इष्ट वस्तु का निर्देशन हुआ है कि इस ग्रन्थ में इन चार वस्तुओं का वर्णन किया गया है और ये चारों तत्वतः एक वस्तु हैं। अतः वस्तु निर्देशात्मक मङ्गलाचरण हुआ। 'इनके पद वन्दन किये' इतने अंश से नमस्कारात्मक मगलाचरण हुआ। 'नाशै विघ्न अनेक' इतने अंश के द्वारा आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण हुआ।

चतुरनाम वपु एक—नाम चार हैं अर्थात् कहने को चार हैं वस्तुतस्तु है एक ही तत्व। एक ही तत्व इन चार रूपोंमें जगतका कल्याण कर रहा। है चारों की तात्विक एकता—संत और भगवन्त एकही हैं। यथा—**'सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं,किमपि मति विमल कह दासतुलसी।''सन्त आत्मा-ऽहमेव च।'** इत्यादि। भगवन्त और गुरु एक हैं। यथा—**आचार्यं मां विजानीयात्, गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म।'** सन्त सद्गुरु एक हैं—**'सन्त सबै गुरुदेव हैं, गुरु हैं साँचे सन्त।'** भक्ति और भगवान एक ही हैं यथा—**'गिरा अर्थ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।'** अतः चतुर नाम वपु एक कहा। तीन को अलग करके एक का वर्णन नही हो सकता है और न तीन को अलग करने पर एक का अस्तित्व ही रह सकता है। तात्पर्य चारों का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। 'वपु एक' का भाव यह कि एक ही में चारों के दर्शन, चारों की प्राप्ति हो जाती है। जैसे श्रीगौराङ्ग महाप्रभु में चारों स्वरूपों की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष देखी गई। आप साक्षात् श्रीकृष्ण के अवतार हैं अतः आप में भगवत्स्वरूप का दर्शन (द्विभुज, चतुर्भुज, षड्भुज) अधिकारी भक्तों ने किया और विधिवत् मन्त्र दीक्षा लेकर प्रेमी भक्तों का सा आचरण करना, और अपने परिचय में **'गोपी भर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः'** कहना आपका भक्तस्वरूप है और आश्रित जनों को हितोपदेश करने से गुरुरूप और **"और एक न्यारी रीति आँसू पिचकारीमानो ......"** में आपका भक्ति स्वरूप दर्शित होता है। (विशेष देखिये कवित्त १)

इन चारों में से यदि किसी को, किसी एक की प्राप्ति हो जाय तो चारों की प्राप्ति होकर रहती है। यथा—श्रीधना जी को पहिले भक्त मिले तो आगे सवकी स्वतः प्राप्ति हो गई। श्रीनामदेव जी

को भक्ति मिलने पर, श्रीकबीरदासजी को पहले भगवदनुग्रह (भई नभ बानी') होने पर, श्रीपीपाजी को पहले गुरु श्रीरामानन्दजी के मिलने पर शेप तीन की स्वतः प्राप्ति हो गई। (देखिये श्रीभक्तमाल में ही इनके प्रसग।) पुनश्च—एक की तुष्टि से चारो की तुष्टि हो जाती है। इस पर दृष्टान्त श्रीअवधूतदासजी का (देखिये आगे श्रीवल्लभाचार्य जी का प्रसग) पुनः चारो ही समान रूप से परमानन्द प्रदान करते हैं। जैसे गाय का थन कहने को चार होकर भी दूध सबमे से एक सा ही निकलता है अतः 'चतुर नाम वपु एक' कहा।

यद्यपि भक्त, भक्ति भगवन्त गुरु ये तत्वतः एक ही है तो भी श्रीनाभाजी ने ग्रन्थ के आदि मे मङ्गलाचरण मे प्रथम 'भक्त' शब्द का प्रयोग करके भक्तों को अधिक महत्व दिया है। इसका कारण एक तो यह है कि गुरुदेव श्रीअग्रदासजी ने शिष्य करके इन्हे सन्त सेवा मे ही लगाया। सन्त सीत प्रसाद सेवन की आज्ञा दी। उसी सन्त सेवा एवं सत सीत के प्रताप से इन्हे दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई। गुरु की मानसी सेवा का दर्शन तथा समुद्र में जहाज रक्षा की शक्ति भी सन्तो की कृपा से ही प्राप्त हुई। अत. भक्त को पहले कहा। दूसरे—**'जान्यौ सन्तन प्रभाव को'** गुरुदेव ने भी सत प्रभाव जान कर, संतो का ही चरित्र लिखने की आज्ञा दी। भक्ति-भगवन्त व गुरु के सम्बन्ध में लिखने की आज्ञा नही दी। अतः 'भक्त' को ही पहले कहा। तीसरे—**'सोई हृदय आय कहैं सब'** उन संतों ने ही हृदय में आ-आकर भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु के स्वरूप को प्रदर्शित किया अतः प्रथम 'भक्त' कहा। चौथे—एक भक्तमे ही भक्ति, भगवन्त, गुरु तीनो का समावेश है अतः प्रथम भक्त शब्द का प्रयोग करके भक्तो की ही प्रधानता दिखाई। पाँचवे—भक्तों की प्रधानता का मुख्य कारण यह है कि—दुर्लभ होते हुये भी अन्य तीन की अपेक्षा भक्त ही सुलभ है। यथा—**सर्वहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥** (रा० च० मा०) इन्ही कारणो से ग्रथ का नाम भी 'भक्तमाल' ही रखा। भक्तमाल नाम रखनेका दूसरा हेतु है माला और भक्तमाल की एक रूपता।

'दृष्टान्त—माला का'—जैसे एक माला मे सूत्र, मणियाँ, सुमेरु और फुँदना ये चार वस्तुयें होती है वैसे ही भक्तमाल मे भी भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु, चार का स्मरण किया गया है। इसमें भक्ति ही सूत्र है। यथा—**'भक्तिसूत्रोपनद्धः'** (भागवत माहात्म्य) भक्त ही मणियां हैं। श्रीगुरुदेव ही सुमेरु हैं और भगवान ही फुन्दना है। माला मे मणियाँ जिसकी होती हैं माला भी उसी नाम की होती है—यथा—तुलसीमाला, मणिमाला, मुक्ता माला इत्यादि। यह 'भक्तमाल' है अतः भक्तो को मणि कहा गया है। माला मे सुमेरु अन्य मणियों से बडा होता है और सबके ऊपर विराजता है वैसे ही श्रीगुरुदेव सबसे श्रेष्ठ और सर्वोपरि विराजते है अत गुरु को ही सुमेरु कहा है, जैसे फुन्दना अनेक रग-विरग का होता है। वैसे ही भगवान भी चूँकि सर्व रसो के अधिष्ठान हैं तथा अनेक रूपसे अनेक अवतार धारण करते है अत अनेक रग रूप वाले है इसलिए भगवान को फुन्दना कहा। जैसे माला मे सूत्र सूक्ष्म रूप से व्याप्त रहता है वैसे ही भक्त मे भक्ति व्याप्त रहती है। जैसे सब मणियो में एक ही सूत्र व्याप्त रहता है वैसे ही सभी भक्तो मे गुरु मे भगवान मे तत्वत. एक ही भक्ति व्याप्त रहती है। जैसे मणियाँ अनेक, वैसे ही भक्तगण अनेक होते है। जैसे मणियो और फुन्दना के बीच मे सुमेरु वैसे ही भक्त और भगवान के बीच में गुरुदेव होते है। इस पर—

दृष्टान्त—राज पुत्र का—एक राजा के इकलौते अबोध बालक को वस्त्राभूषणों के लोभ से चोर मौका पाकर चुराकर जङ्गल मे ले गये। उसके बहुमूल्य वस्त्र और आभूपण तो लिये ही,

उसे वहका कर, वहला कर अपने पास ही रख भी लिये । अबोध वालक कालान्तर में अपने निजी माता पिता को भूल कर उन चोरों को ही अपना माता-पिता मानने लगा इधर राजा ने वहुत खोज करवाई। परन्तु नहीं मिलने पर राजा निराश होकर वैठ गये । वहुत काल वीतने पर राज्यमें एक ज्योतिपी आये। राजा ने वड़े ही सम्मान के साथ सभा दरवार में बुलाकर अपने पुत्र का पता पूछा। ज्योतिषी ने योग लग्न आदि के आधार पर गणित करके बताया कि आपका पुत्र जीवित है, परन्तु वह आप लोगों को भूल गया है अतः उसका स्वेच्छा से आना अव मुश्किल है और यदि आप वल पूर्वक ले आवेंगे तो वह पुनः भाग जावेगा मैं उसे समझा बुझाकर पहले वास्तविकता का बोध करा दूँ फिर आप उसे पुनः प्राप्त कर सकते हैं। राजा-रानी ज्योतिषी के चरणों में पड़े, वहुत उपकार माने। ज्योतिषी राजा से वार्ता करके विदा होकर भीलों के पास पहुँचा और अपने ज्योतिष के चमत्कार से सवको चमत्कृत कर राजकुमार के मन को आकर्षित किया। राजकुमार जव एकान्त में मिले तो उसे वास्तविकता का परिचय कराया तो राजकुमार भी अपने पिता-माता से मिलने के लिये तड़प उठा और ज्योतिषी जी के चरणों में पड़ गया। फिर तो ज्योतिषीने राजाके पास संदेश भेजा और राजाने आकर,भीलोंको मारकर अपने पुत्रको पुनः प्राप्त कर लिया। इस प्रकार राजा और राजकुमारके वीचमें पड़कर ज्योतिषीने दोनों को मिला दिया। यह है दृष्टांत। दृष्टांतमें ब्रह्म ही राजा हैं,जीव ही राजकुमार और सद्गुण ही आभूषण हैं। काम क्रोधलोभादि चोर हैं। आचार्य ही ज्योतिषी है जैसे राजपुत्र भीलोंमें पड़कर राजाको(माता-पिताको)भूल गया था। वैसे ही यह जीव भी माया में पड़कर भगवान को भूल जाता है। जैसे ज्योतिषी ने राजपुत्र को, उसका एवं उसके पिता का परिचय वताया और मिलाया वैसे ही आचार्य ही जीव को आत्म स्वरूप एवं परमात्म स्वरूप का परिचय करा कर मिलाते हैं जैसे राजा और राजपुत्र दोनों हो ज्योतिषी के कृतज्ञ हैं वैसे ही ईश्वर और जीव दोनों के द्वारा आचार्य सम्मान्य होते हैं। इस दृष्टान्त से ईश्वर और जीव, भक्त और भगवान के मध्य आचार्य का होना दरसाया गया है। इस प्रकार भक्ति सूत्र, भक्त मणि, गुरुदेव सुमेर, और भगवान फुंदना सिद्ध हुए। जैसे सूत्र, मणि, सुमेर और फुंदना की समष्टि को माला कहते हैं वैसे ही भक्त, भक्ति भगवन्त और गुरु की समष्टि ही भक्तमाल है।

'नासैं विघ्न अनेक'—यथा—श्रीरत्नावतीजी (भक्त) का स्मरण मानसिंह ने किया तो अनेक विघ्न दूर हुए। यह भक्त स्मरण से विघ्न नाश का प्रमाण है (कवित्त ५५८) द्रौपदी-गजेन्द्र ने भगवान का स्मरण किया, समस्त दुःख दूर हुए। श्रीअग्रदासजी का स्मरण एक सौदागर शिष्य ने किया तो समुद्र के विघ्न से उसके जहाज की एवं उसकी रक्षा हुई। (क० १०) और भक्ति में तो विघ्न है ही नही। **'राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई॥'** (रा० च० मा०) अतः इनके पद वन्दन ...... अनेक ।

ग्रन्थ-अनुवन्ध-चतुष्टय—अनुवन्ध चार है—१—विपय, २—प्रयोजन, ३—सम्वन्ध, ४—अधिकारी। ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण के साथ-साथ अनुवन्ध चतुष्टय का उल्लेख भी परमावश्यक है। क्योंकि अनुवन्ध-चतुष्टय का वोध होने पर ग्रन्थ में रुचि प्रवृत्ति होती हैं। अतः श्रीनाभा जी ने मङ्गलाचरण में ही अनुबन्ध चतुष्टय का भी वोध करा दिया है। यथा—

विषय—ग्रन्थ में मुख्य रूप से जिसका वर्णन किया गया हो उसे विषय कहते हैं। श्रीभक्त-मालजी में भक्ति, भक्त, भगवन्त गुरु, इन चारों के ही अनूप स्वरूपका वर्णन ही इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है।

प्रयोजन—ग्रन्थ वनाने का जो मुख्य उद्देश्य है उसे प्रयोजन कहते हैं। **'पी के पहिराइवे को रचिकै वनाई है'** अर्थात् भाववती नाभा नाम की अलिने अपने प्रियतम को पहनाने के लिये इसे रच कर वनाया है। इष्ट को प्रसन्न करने के लिये इसका निर्माण हुआ है। श्रीभक्तमाल का एक उद्देश्य तो है इष्ट की प्रसन्नता, दूसरे **'भवसागर के तरन को नाहिन और उपाउ'**। यही दो मुख्य प्रयोजन है।

सम्बंध—भगवान, गुरु और भक्त, इनके साध्य साधक, सेव्य-सेवक भाव ही सम्वन्ध हैं।

अधिकारी—इसके अधिकारी सन्त और भगवन्त दोनों ही हैं। भगवानको अत्यन्त प्रिय है। यथा—**'श्याम मति ललचाई हैं'**। श्रीभक्तमालके मुख्य श्रोता तो भगवान ही है। अतः भक्तमालके अधिकारी हैं दूसरे अधिकारी सन्त हैं क्योंकि **'सुनि सन्त सभा झूमि रही'** इस प्रकार सन्त और भगवन्त दोनो ही श्रीभक्तमालके अधिकारी हैं। वैसे,जिनके भी हृदयमें भक्त,भक्ति भगवन्त गुरुके प्रति श्रद्धा है विश्वास है,वे अधिकारी ही है। यथा—**'भक्ति विश्वास जाके ताही को प्रकाश कीजै"**

हरि गुरु दासनि सों सांचो सोई भक्त सही गही एक टेक फेरि उर ते न टरी है।
भक्ति रस रूप कौ स्वरूप यहै छबिसार चारु हरिनाम लेत अंसुवन झरी है॥
वही भगवन्त सन्त प्रीति को विचार करै धरै दूरि ईशता हू पांडुन सो करी है।
गुरु गुरुताई की सचाई लै दिखाई जहाँ गाई श्री पैहारी जू की रीति रंगभरी है॥९॥

शब्दार्थ—सही=ठीक, सच्चा। गही=धारण की, मनसे पकड़ी। टेक=प्रण। छवि=शोभा, चित्र। सार=तत्व। छविसार=अतिसुन्दर। चारु=सुन्दर। विचार करै=ध्यान दें, माने, ख्याल करे। पांडुन=पाण्डव। रगभरी—आनन्दमयी, अनोखी, मजेदार।

भावार्थ—भगवान, गुरुदेव और भक्तों के प्रति जो सच्चा निष्कपट व्यवहार करता है और भक्ति की किसी एक प्रतिज्ञा को हृदय में धारण कर फिर उससे कभी चलायमान नही होता है वही सच्चा भक्त है। रसरूपा भक्ति का सुन्दर स्वरूप यही है कि भगवान के सुन्दर नामों को लेते ही आँखों से प्रेम के आँसुओ की झरी लग जाय। ईश्वरता को दूर रखकर जो भक्तों की प्रीति को सदा ध्यान में रक्खे वही भगवान है, जैसा कि श्रीकृष्ण ने राजसूय यज्ञ में पाण्डवों के साथ किया है। गुरुदेव की गुरुता की सच्चाई भक्तमाल में वहां दिखाई गई है, जहाँ पयोहारी श्रीकृष्णदासजी की आनन्दमयी अनोखी रीति गाई गई है॥९॥

व्याख्या—**'हरि गुरु दासनि सों सांचो'**—दोहा—**हरि गुरु सों सांचो रहे, विघ्न न व्यापै कोइ। हरि गुरु सों साँचो नहीं, विघ्न दशो दिशि होइ॥** श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी श्रीनाभाजी कृत मूलमङ्गलाचरण की टीका करते हुए भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु इन चारो का स्वरूप निरूपण करते हैं। प्रथम भक्त स्वरूप का वर्णन करते हैं। हरि-गुरु-दासनि सो साँचो सोई भक्त सही यह कह कर यहाँ भक्त के लिये हरि, गुरु और भक्त,इन तीनों में ही मन वचन कर्म से छल छोड़कर प्रीति, सद्भाव, श्रद्धा, भक्तिका होना आवश्यक वताया गया है। साधारणतया भगवानमें जिनकी प्रीति है उन्हें भक्त कहा जाता है परन्तु इतनी ही,भक्तकी पूरी परिभाषा नही है। भगवानमें प्रीति होने के साथ-साथ गुरुमे भी अनुराग होना चाहिये। यह नही कि मन्त्र मिला और सम्वन्ध छूटा—'हाटके गुरु वाटके चेला।

साँझे मूड़े सवेरे अकेला' यह उचित नहीं। श्रीसद्गुरु चरणारविंदानुरागी जनोंको ही तत्व बोध होता है। तब भगवान में प्रीति होती है। यथा—'यस्य देवे पराभक्ति यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥' अर्थ—अपने इष्ट में जिनकी एकान्त भक्ति है और जो गुरु को भी स्वयं इष्ट करके मानते हैं उस महात्मा के हृदय में ही तत्वज्ञान का प्रकाश होता है।

पुनश्च— ज्यौं गुरु त्यौं गोविन्द, विनु गुरु गोविन्द किन लह्यौ।
ज्यौं मावस्यां इन्दु (त्यौं) निगुरा पन्थ न पावई॥
गुरु सेवत गोविन्द मिल्यौ, गुरु गोविन्दै आहि।
विहारि दास हरि दास को जीवत है मुख चाहि॥ (स्वामीविहारिनिदेवजी)
गुरु सेये हरि सेइये; हरि सेये गुरु नाँहि।
गुरु छांड़े हरिको भजैं तिनसों दोऊ जाँहि॥(श्रीललितकिशोर देवजी)
गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय।
बलिहारी वा गुरू की जिन गोविन्द दियौ बताय॥ (कबीरजी)

अतः श्रीहरि में प्रीति होने के साथ-साथ गुरु में भी अनुराग होना चाहिये। परन्तु साथ ही यदि श्रीहरि-गुरु में तो निष्ठा है परन्तु भगवद्दासों के प्रति कोई सद्भाव नहीं है तो वे भी सच्चें भक्त कहाने के अधिकारी नहीं है। सच्चे भक्त तो वे ही हैं जिनका भक्तों में भी श्रीहरि-गुरु की तरह ही समीचीन भाव हो। यथा—राम भगत प्रिय लागहि जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही। (वाल्मीकि-वचन) 'मोते सन्त अधिक करि लेखा' (श्रीराम वाक्य) हरि गुरु सों सांचो रहै, सन्तन सों सद्भाव। दुनियां से ऐसो रहै, जैसो देखै दाव॥ बिना भक्तों में भाव भये कब किसने भगवान को पाया है? भगवान के श्रीमुख के वचन हैं—भगतन बिनु हौं ना मिलौं, हरि ने कही पुकार। मो सुमिरत सेवत भिया, डूबेगो मझधार॥ (सन्त वाणी) अतः 'हरिगुरु दासनि सों सांचो सोई भक्त सही।' श्रीभगवत रसिक जो ने भी लिखा है—

पद— इतने गुन जामें सो सन्त।
श्रीभागवत मध्य जस गावत श्रीमुख कमला कन्त॥
हरि को भजन साधु की सेवा सर्वभूत पर दाया।
हिंसा लोभ दम्भ छल त्यागै विष सम देखै माया॥
सहनशील आसय उदार अति धीरज सहित विवेकी।
सत्य वचन सबको सुखदायक गहि अनन्यव्रत एकी॥
इन्द्रीजित अभिमान न जाके करै जगत को पावन।
'भगवत रसिक' तासु की संगति तीनो ताप नशावन॥

'याही एक टेक फेरि उर ते न टरी है'—अर्थात् जिनकी मनसा वाचा कर्मणा श्रीहरिगुरु दासों में अनन्य दृढ निष्ठा हो जो किसी भी प्रकार से विचलित नही की जा सके। इस पर—

दृष्टान्त—श्रीपति कवि का—अनन्य भगवद्भक्त कवि श्रीपति निर्धन होने के कारण पत्नीके आग्रहसे अकबर बादशाहके दरबारमे गए और गुणग्राही बादशाह को जब अपनी स्वरचित कविता में भगवान के गुण-समूह को सुनाया तब बादशाह गद्गद हो गया और बहुत-सा पुरस्कार प्रदान

करने के साथ-साथ श्रीपति को अपना दरवारी कवि वना लिया परन्तु वाह रे श्रीपति ! वादशाह के दरवार मे रहकर भी भगवद्गुणगान के अतिरिक्त वादशाह की प्रशंसा का एक पद भी न कभी वनाए न सुनाए, जव कि अन्य दरवारी कवियो की अकवर के गुण गाते-गाते जिह्वा घिसी जाती थी। परन्तु विशेष पुरस्कार श्रीपति को ही मिलता। इससे अन्य कवि इनसे जलते थे और अन्त मे इनको निष्ठा से च्युत करने के लिए एक षड्यन्त्र रचे। एक दिन दरवार मे यह समस्या रखी गयी कि सभी कवि **"करौ मिलि आस अकव्वर की"** समस्या पूर्ति करें। आज सभी कवि मन ही मनमें बड़े प्रसन्न थे। दरवार मे श्रोता जन-समुदाय की अपार भीड़ थी। सभी कवियो ने वारी-वारी से वादशाह की प्रशंसा में लिखी कविताएँ सुनायी। अन्त मे परमानन्य भक्त श्री श्रीपतिजी की वारी आई। सवकी दृष्टि श्रीपतिजी के मुख पर केन्द्रित थी। निर्भीक श्रीपति निश्चित मुस्कराते हुए उठे और उनकी विमलवाणी निनादित हो उठी—

> **"अवके सुलतां फनियांन समान हैं, बाँधत पाग अटब्बर की।**
> **तजि एकहिं दूसरे को जुभजै, कटि जीभ गिरै वहि लब्बर की॥**
> **सरनागत 'श्रीपति' रामहि की, नहिं त्रास है काहुहि जब्बर की।**
> **जिनको हरि में परतीति नहीं,सो करौ मिलि आस अकब्बर की॥"**

इस कविता को सुनते ही सव द्वेषी लोग भौचक्के हो गये, उनके चेहरे फीके पड़ गये। भगवत्-प्रेमी दरवारी और दर्शको के मुख खिल उठे। वादशाह प्रसन्न हो गए श्रीपतिजी की निष्ठा और रचना-चातुरी देखकर॥

दृष्टान्त २- धर्म निष्ठ भक्त कवि का—एक यवन राज के दरवार में, जहाँ अन्य इस्लाम समर्थक यवन कवियों की भरमार थी वहाँ एक अनन्य श्रीकृष्ण भक्त हिन्दू कवि भी रहते थे। वे भगवान को छोडकर अन्य किसी का भी, वादशाह का भी गुणगान नही करते थे। इस पर चिढ़कर अन्य कवियो ने एक समस्या पूर्तिके माध्यमसे इन्हें निष्ठा से विचलित करना चाहा। वह समस्या थी—'कमसल व काफिर हैं वही वन्दे न जो इस्लाम के।' सवने अपनी-अपनी समस्या पूर्ति की। अन्त में भक्त कवि की वारी आई। भगवान का स्मरण कर भक्त ने वडी निर्भीकता पूर्वक इस प्रकार से समस्या पूर्ति की—**लाम के मानिन्द हैं काकुल मेरे घनश्याम के। कमसल व काफिर हैं वही वन्दे न जो इस लाम के॥** भक्त की दृढ निष्ठाने, सवको चमत्कृत कर दिया॥

'अव हरि गुरु दासनि सो साँचो' पर भक्तों के दृष्टांत देखिये। श्री हरि से साँचे पर देखिये कथा श्रीजयमलजी की (कवित्त २३१, २३२) राजाआसकरन जी (कवित्त ६०१, ६०२, ६०३)

दृष्टांत—पटना वाली वाई का—पटना में एक वृद्धा वाई रहती थी। उसके कोई सन्तान नही थी। सन्तोमे वड़ा भाव रखती थी। एकदिन घूमते-विचरते एक सन्त वुढियाके घर आये। वृद्धा माता ने वड़ा सत्कार किया। वार्तालाप के सिलसिले मे वुढिया ने वड़ा ही खेद प्रकट करते हुये कहा महाराज! मुझे और तो सर्व सुख मिला परन्तु मुझ अभागिनी को सन्तान सुख नही मिला। संत ने दया करके उसे श्रीवालमुकुन्द भगवान का एक श्रीविग्रह देकर कहा कि अव यह तुम्हारे पुत्र हुयें। इनकी सेवा करो, खूव लाड़-लड़ाओ। ये तुम्हारे सर्व मनोरथ पूर्ण करेंगे। वुढिया वडी प्रसन्न हुई, खूव लाड़-प्यार से

सेवा करने लगी। संयोग की वात, एक वार गाँव में विगवा (हाऊ) आया और दो एक छोटे वच्चों को उठा ले गया। बुढिया सचिन्त हो गई। कहीं हमारे वालमुकुन्द को विगवा न उठा ले जाय। अव तो वह रात-दिन रखवालीमें तत्पर होगई। पहले तो कुछ कामधामके सिलसिलेमें वाहर भी चली जाती थी परन्तु अव तो एक क्षण के लिये भी घर का दरवाजा नही छोड़ती, रात्रि में अपने लाला वालमुकुन्द को गोद में लेकर सोती। एक दिन सोई थी कि रात्रि में विगवा एक वालक को उठा ले गया, शोर गुल हुआ। वुढ़िया जल्दीमें उठी। वालमुकुन्द खाटसे नीचे गिर गए। टटोलने पर खाट पर न पाकर वह जोर जोर से क्रन्दन करने लगी, चीखने चिल्लाने लगी। हाय! हाय!! मेरे वालमुकुन्द को विगवा ले गया। भगवान उसके सच्चे वात्सल्य भाव पर रीझ गये, प्रकट होकर बोले—मैं तुम्हारी सेवा से प्रसन्न हूँ मुझसे वर मांगो, मैं वालमुकुन्द भगवान हूँ। वुढ़िया ने कहा—हे वालमुकुन्द भगवान! आप मुझ पर कृपा कर मेरे लाला वालमुकुन्द को मिला दीजिये और यही वरदान दीजिये कि मेरे लाला वालमुकुन्द को विगवा न ले जाय। भगवान 'एवमस्तु' कह कर पुनः लाला वालमुकुन्द रूप हो गये।

यह है हरि से साँचे का ज्वलन्त उदाहरण। यह नहीं कि स्वांग तो हरि सेवा का करे और चित्तवृत्ति गुल छर्रे उड़ावे शहर-वाजार की गलियों में। जैसे टोड़े के राजा सूर्यसेन जी शरीर से कर तो रहे थे भगवान की पूजा और मन मोची के घर वैठा जूता वनवा रहा था। (देखिये कवित्त ३००)। अथवा दुख, शोक, आर्त्ति, अभाव आदि की दशा में तो खूब भगवान को भजे और जव भगवान कृपा करके सुख-समृद्धि प्रदान करें तो उन्हें उठा कर ताख में रख दिया जाय। ऐसा नहीं करना चाहिये।

दृष्टांत—एक सेठ का—एक सेठ जी थे। समय के फेर से गरीब हो गये थे पुनः समृद्धि के लिये खूव गोपाल सहस्र नाम का पाठ, अर्चन-वन्दन शुरू किये। भगवान से प्रार्थना करते, प्रभो! आप कृपा करके मुझे धन-धान्य से पूर्ण कर दे, मैं भूरि-भूरि दान दक्षिणा यज्ञ-यागादि, सदाव्रत, साधु-सेवा आदि पुण्य कर्म करूँगा। आपकी सेवा का विस्तार करूँगा। दयालु भगवान ने सेठ को दिन दूना रात चौगुना लाभ देकर नगर का सवसे वड़ा सेठ वना दिया। परन्तु वाह रे! कृतघ्नी! भगवान के समस्त उपकार को भूल कर ऐसा धन मद में चूर हुआ कि भगवान की सेवा का विस्तार करने की कौन कहे भगवान को उठा कर ताख में रख दिया और पूजा गृह को अन्नका गोदाम वना दिया। पूर्वकृत संकल्प केवल कल्पना ही बनकर रह गये। 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'-की अजस्र धारा में सेठ वह गया। भगवान ने सोचा—अच्छा भगत मिला। इसने मुझे भी धोखा दिया। फिर तो, इसे शिक्षा देनी चाहिये, यह संकल्प कर प्रभु ने एक साधु का वेष धारण कर दुकान पर आकर 'राधेश्याम' 'सीताराम' की रट लगाई। सेठ संत को देखते ही जल-भुन गया, वड़वडाया-सवेरा होते ही माँगने के लिये आ पहुँचे और अन्त में नौकरों द्वारा धक्का दिलाकर सत वेषधारी भगवान को वहिष्कृत कर दिया।

भगवान को अपनी माया की प्रवलता पर हँसी आयी, तथा जीव के अज्ञान पर क्षोभ हुआ और उसे चैतन्य करने का कठोर कदम उठाये। सेठ जी स्नान करने गये थे। तव तक भगवान उन्ही का रूप धारण कर, घर आकर वच्चों को, नौकर चाकरो को सजग कर दिये कि एक बहुरूपिया मेरा ही रूप धारण किये हुये, इधर को ही आ रहा है उससे सावधान रहना, घर में प्रवेश नहीं करने देना। उसके लाख सौगन्ध खाने पर भी विश्वास नहीं करना, यदि जोर करे तो जूतो से मार कर नगर से वाहर कर

देना। ऐसा ही हुआ। सेठ जी के आते ही, वालक, वूढे, नौकर-चाकर टूट पड़े और अत्यन्त तिरस्कार पूर्वक उन्हे नगर से वाहर कर दिया। सेठ जी एक वृक्ष के नीचे वैठे रो रहे थे अपनी तकदीर पर। भगवान पुनः उसी सत वेष मे फिर पहुँचे और उनकी दुर्दशा पर अत्यन्त खेद प्रकट करते हुये उन्होने कृपा करके ज्ञानोपदेश किया, सेठ की आँख खुली, चरणो मे पड़ गया और 'सम्पति सव रघुपति कै आही' का अनुसन्धान करते हुये, सन्त भगवन्त सेवा व्रत लेकर उसने अपना शेष जीवन हरि-स्मरण मे विताया। तो इस प्रकार हरि से असांचे (झूठे) नही होना चाहिये। गुरु से साँचे पर–कथा–श्रीरसिक मुरारि जी, पादपद्म जी, नरवाहन जी, भगवन्त मुदित जी आदि की (देखिये आगे इनके प्रसङ्ग) गुरु से असाँचे (झूठे) पर—

दृष्टांत—शेरगढ़ के आमिल का—श्रीवल्लभाचार्य जी का शेरगढ़ मे सेवकाना था अर्थात् उस गाँव के अधिकाश लोग आपके शिष्य थे। शिष्यों में एक सरकारी हाकिम भी थे। आचार्यपाद के एक दूसरे शिष्य ने संत सेवा मे द्रव्य व्यय हो जाने के कारण समय पर सरकारी भुगतान नही किया तो ये हाकिम साहव उसे कैद मे डाल दिये। सयोग की वात उसी समय आचार्य चरण उस गाँवमे पधारे। सव लोग दर्शन कर कृतकृत्य हो गये। कारागार मे पड़े उस शिष्यको जव गुरुदेव के आगमन का समाचार मिला तो वह दर्शन के लिये अत्यन्त व्याकुल हुआ। अपने दुर्भाग्य पर वहुत पश्चात्ताप किया तथा दर्शनार्थ जेलर से वहुत अनुनय विनय किया। दयालु जेलर ने उसकी गुरु निष्ठा देख कर दो सिपाहियो को साथ देकर दूर से, ओट से दर्शन कराने की अनुमति दे दी। क्योकि डर था कि कहीं हाकिम देख लेगा तो हम सव विपत्ति मे पड़ जायेंगे। फिर तो गाँव आये, दूर से, वृक्ष की ओट से छिप कर दर्शन करते, वार-वार झाँकते। सेवा मे न पहुँचने का वड़ा दु.ख था। आँसू वहाते, विलखाते। आचार्य की दृष्टि पड़ी, वार-वार लुकते-छिपते प्रकट होते देखकर लोगों से पूछे। हाकिम के डर से किसी की हिम्मत नही पडी, तव सेवा में उपस्थित हाकिम से ही पूछे तो उसके संकेत से अन्य कर्मचारी ने समस्त वृत्तान्त वताया।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ने कहा, अरे ! वह तो तुम्हारा गुरुभाई था। द्रव्य भी संत सेवा में ही व्यय किया था फिर उसके साथ तुमने ऐसा दुर्व्यवहार किया? जव हाकिमने इस वातकी अपनी अनभिज्ञता वताई तो श्रीमहाप्रभु ने उस संत सेवी शिष्य से कहा—कि जव हाकिम यह वात नही जानते थे तो तुमने क्यो नहीं अपना सम्वन्ध वताया। तव वह शिष्य हाथ जोड़ कर अत्यन्त विनम्रतापूर्वक वोला—प्रभो ! मेरी धृष्टता क्षमा हो, जो मैं आपके सामने वोल रहा हूं। आपकी कृपा से मेरी समझ मे कुछ यह वात आई कि शरीर को तो अपने शुभाशुभ कर्मानुसार सुख-दु:ख भोगने ही पडते है और यह शरीर भी तो क्षणभंगुर है। अत इस अधम शरीर के सुख-दु ख के अर्थ हाकिम से आप गुरुदेवका नाम लेना मुझे उचित नही जान पड़ा। आपकी कृपा से आप का दर्शन हो गया। मुझे सव आनन्द ही आनन्द है। शिष्य के ये वचन सुन कर आचार्य महाप्रभु ने उसे सच्चा दास जाना, पुनः उस हाकिम से—महाप्रभु ने कहा कि गुरु भाई न सही, वैष्णव तो जानते थे, इस नाते भी तुम्हारा भाई हुआ। फिर परम भागवत वैष्णव को तुमने विना विचारे जेल दे दिया। सच कहना, क्या तुम अपने सगे भाई को इस तरह कारागार में डाल सकते हो। यदि नही तो, लौकिक सम्वन्ध की तो इतनी मान्यता और गुरुदेव के द्वारा स्थापित पारमार्थिक सम्वन्ध का कोई मूल्य ही नही। तूने न तो गुरु को माना, न गुरुभाई को। फिर आचार्य ने अपना आदमी भेज कर वड़ा आश्वासन देकर उसे अपने समीप वुलाया। वह आकर चरणो में पड़कर

कष्ट भोगने लगा। दयालु गुरुने उसका भुगतान स्वयं कर दिया, उसे जेल से मुक्त करा दिया और इस हाकिम शिष्य का परित्याग कर दिया। (आगे की कथा वड़ी मधुर है--अतः प्रसंग से सम्वन्ध न होने पर भी उसकी चर्चा कर ही देता हूँ।)

जव आचार्य चरण ने उस हाकिम को त्याग दिया तो उसका वड़ा भारी पतन हुआ, बुद्धिभ्रष्ट हो गई, विपत्ति जाल में फँस गया। परन्तु यह सव होने पर भी भक्ति का सस्कार नष्ट नही हुआ। क्यों कि 'भक्ति बीज पलटै नहीं, जो जुग जाँय अनन्त। ऊँच नीच कुल ऊपजै, होय सन्त को सन्त ॥ वीज गुरु द्वारा बोया जाता है। उसने एक दिन वाजार में वढ़िया जलेवी वनते देखकर मोल लेकर ठाकुर श्री श्रीनाथ जी को मानसी भोग लगाया। भगवान ने स्वीकार कर लिया, कुछ पाये और कुछ हाथ में लिये रहे। जव उत्थापन के समय आचार्य ने यह देखा तो पूछा, जै, जै यह जलेवी कहाँ से पाई। भोग में तो लगी नही गई थी। श्रीठाकुर जी ने सव वात वतायी। तो आचार्य कुछ अनमने से होकर वोले, एक तो वाजार की वस्तु का आपको भोग नहीं लगता, दूसरे, मैंने तो उसका त्याग कर दिया है फिर उसके द्वारा समर्पित वस्तु को आपने क्यों अङ्गीकार किया। भगवान वोले—आप आचार्य हैं, आप आश्रित पर कृपा भी करते हैं और सुधार के लिये आवश्यकता पड़ने पर क्रोध भी करते हैं। ग्रहण भी करते हैं, त्याग भी करते है। परन्तु मेरा यह स्वभाव है कि एक वार जव आचार्य के द्वारा जीव का व्रह्म सम्वन्ध हो जाता है तो मैं उसे कभी नहीं छोड़ता। प्रभु की इस असीम करुणा पर आचार्यचरण वारम्वार वलिहार गये। और सहसा हृत्तन्त्री झंकृत हो उठी—'**अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेश रघुपति सम लेखउँ ॥**' (रा०)

'दासनि सों सांचो' पर कथा—श्रीलालाचार्य जी, श्रीसदाव्रती जी, चीधर जी आदि की तथा—

दृष्टान्त—सुदर्शन खत्री का—आप वड़े ही सन्त सेवी थे। एक वार घर पर संत आये। सयोग से इनकी तवियत ठीक नही थी, अतः स्वयं सेवा में उपस्थित होने में असमर्थ थे इसलिये पत्नी को सेवा के लिए कहा। परन्तु पत्नी का चूँकि संतों में कोई भाव नहीं था अतः उसने सिर दूखने का वहाना कर दिया। तव सुदर्शन ने संतों को सीधा सामान दे दिया। संत अपना टिक्कर वना ही रहे थे कि पत्नी का भाई आ गया। फिर क्या था, तुरन्त उठकर वड़े हौसले से खीर-पूड़ी वनाई। घरमें धुआँ उठा, कुछ छौंक छरें की सुगन्धि फैली, सुदर्शन ने सोचा, मालूम पड़ता है, दया करके संत सेवामें जुट गई है। आकर देखे तो रसोई लगभग तैयार हो चुकी है। पत्नी की वड़ी प्रशंसा किये तो पत्नी ने झुँझलाकर कहा कि मेरा भाई आया है उसके लिये मैं मर-मर कर वना रही हूँ। सुदर्शन ने माथा ठोका, जव मेरा भाई आया तो इसने सिर दूखने का वहाना वना लिया और अपने भाई के लिये इतनी तैयारी। यह तो ठीक नहीं किया। फिर तो इन्होंने युक्ति वनाई। पत्नी को जल लाने के लिये भेजा और इधर सव सामान (पूरी, पुआ, खीर आदि) संतों को तथा सूखे टिक्कर साले को परस दिये। जल लेकर आई और जव उसने यह व्यतिक्रम देखा तो दीवाल की ओट से, अपनी नाक पर उँगली रख कर संकेत किया कि तुमने नाक काट लिया। तव सुदर्शन ने भी गले पर हाथ रख कर संकेत किया कि तुमने तो गला ही काट लिया था। ऐसे थे संतों से सांचे श्रीसुदर्शन जी।

इनका एक और प्रसंग—एक वार संत सेवा के लिये दूध ले आ रहे थे। उसी समय इनके भाव की परीक्षा करने के लिये भगवान श्रीकृष्ण लुटेरे का रूप धारण कर मार्ग में आ डटे, हाथ में लाठी लिये

इनको घेर लिया। बोले दूध हमे दे दो। इन्होने कहा,दूध हम सन्तो के लिये ले जा रहे हैं तो तुम्हे कैसे दे दे। तव भगवान ने इन्हे वहुत डराया-धमकाया। परन्तु इन्होने किंचित् भय नही माना। निर्भीकता पूर्वक वोले, करोड उपाय करो हम दूध देने के नही। भगवान इन्हे मारने के लिये लाठी उठाये तो अपना सिर भुका लिये, वोले—लाठी का प्रहार स्वीकार है परन्तु दूध देना स्वीकार नही। भगवान उनकी यह संत निष्ठा देख कर प्रसन्न होकर साक्षात् प्रकट होकर दर्शन दिये और वोले—मैं तुम्हारी परीक्षा ले रहा था। देख लिया, संतो मे जैसा सद्‌भाव होना चाहिये वैसा ही तुम मे परिपूर्ण है। तो साधु-सतों में इस प्रकार का समीचीन भाव होना चाहिए।

२—**दृष्टांत—एक सन्त सेवी खाती का**—वह जाति का वढई था। सतो मे वड़ा अनुराग था। पत्नी भी वडी साध्वी थी। एक वार घर पर सत आये परन्तु घर मे कुछ था नही तो पत्नी की नथ वेच कर साधुओ के लिये सीधा सामान लाये और सन्तो को सौंप कर आप किसी के यहाँ कुछ काम-धन्धा करने चले गए। इधर भाववश्य भगवान उसके भाव पर रीझ कर स्वयं उस खाती का रूप धर कर वणिक के यहाँ से नथ छुडा लाए और वोले—लो पहन लो- सुहाग है, इसके विना अच्छा नही लगता है। मालिकसे मैंने कहा तो उन्होने मजदूरीके कुछ पैसे पहले ही दे दिए तो मैं तुरन्त छुड़ा लाया हूं। संयोग से वह उस समय चौका लगा रही थी। हाथ गोवर से सना था अतः वोली ताक मे रख दो मैं वाद मे पहन लूँगी। खाती रूप धारी भगवान ने जव वार-वार तत्काल पहनने का आग्रह किया तो उसने कहा कि मेरा हाथ तो ठीक नही है तुम्ही पहना दो। तो भगवानने अपने श्रीकर-कमलसे उसे नथ पहनाई और चलते वने। वाद मे वढई आया। पत्नी को नथ पहने देख कर पूछा तो उसने जव सव वात वताई तो वह भगवान की महती कृपा विचार कर गद्‌गद् हो गया।

'गही एक टेक'—प्रमाण श्रीप्रह्लाद जी। पिता हिरण्यकशिपु के द्वारा अनेक प्रयत्न किये जानें पर भी अपनी भजन की टेक से नही टले (विशेष देखिए कवित्त ९९, १००) श्रीव्रजदेवियो की टेक—

> कोऊ कहौ कुलटा कुलीन- अकुलीन कोऊ, कोऊ कहौ रंकिनी कलंकिनी कुनारी हौं।
> कैसो परलोक, नरलोक वरलोकन में, लीनी मैं अलीक, लोक लीकन ते न्यारी हौं॥
> तन जाव, मन जाव, 'देव' गुरु जन जाव, जीव क्यों न जाव टेक टरति न टारी हौं।
> वृन्दावन वारी वनवारी के मुकुट पर, पीत पट वारी वाहि मूरति पै वारी हौं॥

> पुनश्च— घर तजौं, वन तजौं, नागर नगर तजौं, वंशीवट तट तजौं काहू पै न लजि हौं।
> देह तजौं, गेह तजौं, नेह कहो कैसे तजौं, आज राजकाज सव ऐसे साज सजि हौं॥
> वावरो भयो है लोक वावरी कहत मोको, वावरी कहेते मैं काहू न वरजि हौं।
> कहैया सुनैया तजौं वाप और भैया तजौं, दैया तजौं भैया ! पै कन्हैया नाहि तजि हौं॥
>
> (विशेप देखिए कवित्त ३, पन-सोवो)

भक्ति रस रूप कौ स्वरूप—भक्ति स्वरूप निरुपण के सम्वन्ध मे देवर्पि श्रीनारद जी कहते हैं। सूत्र—१—सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अर्थ—वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा है। सूत्र—२—अमृतस्वरूपा च। अर्थ—और अमृतस्वरूपा (भी) है। सूत्र—३—यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धोभवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। अर्थ—जिसको (परमप्रेमरूपा अमृतरूपा भक्ति को) पाकर मनुष्य सिद्ध हो

जाता है, अमर हो जाता है (और) तृप्त हो जाता है। सूत्र—४—**यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।** अर्थ—जिसके (प्रेमस्वरूपा भक्ति के) प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उसे (विषय भोगों की प्राप्ति में) उत्साह होता है। सूत्र—५—**यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति।** अर्थ—जिसको (परम प्रेमरूपा भक्ति को) जान (प्राप्त हो) कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, (और) आत्माराम बन जाता है।

पुनश्च—सूत्र ५१—**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।** अर्थ—प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। सूत्र ५२—**मूकास्वादनवत्।** अर्थ—गूँगे के स्वाद की तरह। सूत्र ५३—**प्रकाशते क्वापि पात्रे।** अर्थ—किसी विरले योग्य पात्र मे (प्रेमी भक्त में) ऐसा प्रेम प्रकट भी होता है। सूत्र ५४—**गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।** अर्थ—यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है। पुनश्च—सूत्र—१५—**तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात्।** अर्थ—अब नाना मतों के अनुसार उस भक्ति के लक्षण बताये जाते है। सूत्र १६— **पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः।** अर्थ—पराशरनन्दन श्रीव्यासजी के अनुसार भगवान की पूजाआदि में अनुराग होना भक्ति है। सूत्र १७—**कथादिष्विति गर्गः।** अर्थ—श्रीगर्गाचार्य के मतसे भगवान की कथा आदि में अनुराग होना ही भक्ति है। सूत्र १८—**आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः।** अर्थ—शाण्डिल्य ऋषि के मत में आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना ही भक्ति है। सूत्र १६—**नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।** अर्थ—परन्तु देवर्षि नारद के मत से अपने सब कर्मो को भगवान को अर्पण करना और भगवान् का थोड़ा-सा विस्मरण होने में व्याकुल होना ही भक्ति है। सूत्र २०—**अस्त्येवमेवम्।** अर्थ—ठीक ऐसा ही है। २१—यथा व्रजगोपिकानाम्। अर्थ—जैसे व्रजगोपियोकी(भक्ति)। (नारद भक्ति सूत्रे)। पुनश्च—**सा परानुरक्तिरीश्वरे।** (**शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र-१-१-२**) अर्थ—आराध्य के प्रति अनन्य अनुराग ही भक्ति है।

श्रीमधुसूदन सरस्वती जी कहते है—**द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता। सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥** (भक्ति रसायन १-३) अर्थ—भगवद्गुण के श्रवण से प्रवाहित होने वाली भगवद्विषयिणी धारावाहिक वृत्ति को ही भक्ति कहते हैं। तथा—**कृपास्य दैन्यादि-युजिप्रजायते, यथा भवेत् प्रेम विशेष-लक्षणा। भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः, सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा॥** (**श्रीनिम्बार्काचार्य-कृत-वेदान्त कामधेनु**) अर्थ—परिपूर्ण-सौदर्यादिसागर श्रीसर्वेश्वर की कृपा से ही उनकी प्रेमविशेपलक्षणा भक्ति स्फुरित होती है। जिनमें विनम्रता आदि गुण हों उन्ही पर प्रभु कृपा करते हैं। परा और अपरा ये दो भेद है। उनमें प्रेमरूपा परा (उत्तमा) है और साधन—रूपा अपरा है। **अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥** (भक्तिरसामृतसिन्धु) अर्थ—अन्य अभिलाषाओं से रहित, ज्ञान-कर्म आदि से अनावृत श्रीकृष्ण-प्रीति के अनुकूल आचरण करना भक्ति है।

भक्ति रसामृतसिन्धुकार श्रीरूपगोस्वामीपाद जी महाराज ने भक्ति का बड़ा ही विशद विवेचन किया है। आपके विचार में भक्ति दो प्रकार की है, १—शुद्धाभक्ति, २—मिश्राभक्ति। पूर्व कथित उत्तमा भक्ति को शुद्धा एवं अन्याभिलाप से युक्त कर्ममिश्रा तथा योग तपस्यादि मिश्रित भक्ति को मिश्रा भक्ति कहा जाता है। शुद्धा भक्ति के तीन भेद हैं। १—साधनभक्ति, २—भावभक्ति, और ३—प्रेमभक्ति, साधनभक्ति के दो भेद हैं। १—वैधी, २—रागानुगा। वैधी साधन भक्ति के तीन भेद हैं। १—उत्तम,

२—मध्यम, ३—कनिष्ठ। रागानुगा साधन भक्ति के दो भेद। १—कामानुगा, २—सम्बन्धानुगा। कामानुगा के दो भेद —१—सम्भोगेच्छामयी, २—तद्भावेच्छामयी। सम्बन्धानुगा के चार भेद १—दास्य, २—सख्य, ३—वात्सल्य, ४—शृङ्गार। पुनः भाव भक्ति के तीन भेद। १—साधनाभिनिवेश जात, २—श्रीकृष्ण-प्रसादजात, ३—भक्त प्रसादजात,। साधनाभिनिवेशजात के दो भेद। १—वैध एवं २—रागानुग। श्रीकृष्णप्रसादज के तीन भेद। १—वाचिक, २—दर्शनजात, ३—हार्द। प्रेमभक्ति के दो भेद। १—भावोत्थ एवं २—श्रीकृष्णातिप्रसादोत्थ। भावोत्थ के दो भेद। १—वैध एवं २—रागानुगा। श्रीकृष्णाति प्रसादोत्थ दो प्रकार की होती है। १—माहात्म्यज्ञानयुक्त, २—केवल माधुर्य्यमय।

श्लोक—आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथभजनक्रिया। ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततोनिष्ठारुचिस्ततः॥ अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति। साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥ (भ० र० सि०) अर्थ—भक्ति-प्रेम आदि की उत्पत्ति की प्रक्रिया—सबसे पहले १-श्रद्धा (की उत्पत्ति होती हैं) उसके बाद २-साधुसंग, तदनन्तर ३-भजनक्रिया, तब, ४-अनर्थ निवृत्ति, उसके बाद ५-निष्ठा विश्वास, उसके बाद ६-रुचि, तदनन्तर ७-आसक्ति फिर ८-भाव, उसके बाद ९-प्रेम का उदय होता है। साधकों के भीतर प्रेम के प्रादुर्भूत होने का यह क्रम बतलाया गया है॥ पुनश्च—प्रीति राम सो, नीति पथ चलिय राग रस जीति। तुलसी सन्तन के मते इहै भगति की रीति॥ (दोहावली) एवं प्रकारेण आचार्यो ने भक्ति की पृथक्-पृथक् व्याख्या करी है।

श्रीभक्तमालजीके टीकाकार श्रीप्रियादासजी महाराज भक्तिस्वरूपका निरूपण करते हुए कहते है कि—मेरे विचार से तो—"भक्ति रस रूप को सरूप यहै छविसार चारु हरिनाम लेत अँसुवन झरी है।" —श्रीमद्भागवत मे भी भक्ति के इसी स्वरूप का समर्थन किया गया है -यथा—"वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं, रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥ (११-१४-२४) अर्थ—जिसकी वाणी प्रेम से गद्गद हो रही है, चित्त पिघलकर एक ओर बहता रहता है। एक क्षण के लिए भी रोने का ताँता नही टूटता, परन्तु जो कभी-कभी खिलखिलाकर हँसने भी लगता है, कभी लज्जा छोडकर ऊँचे स्वर से गाने लगता है तो कभी नाचने लगता है, भैया उद्धव! मेरा वह भक्त न केवल अपने को बल्कि सारे संसार को पवित्र कर देता है॥

भक्ति का यह स्वरूप श्रीप्रेम पुरुषोत्तम गौराङ्ग महाप्रभु मे प्रत्यक्ष देखा गया है। यथा—'और एक न्यारी रीति आँसू पिचकारी मानो उभय लाल प्यारी भाव सागर समात हैं।' (कवित्त ३३१) श्रीमीरा की जिह्वासे गिरधर नाम निकलने के पहले आंखों से आंसू निकल पड़ते थे। यथा—'मीरा जपति गिरधरनाम। देह सुधि भूली हिये अवलोकि सूरति श्याम॥ नाम रसना सो न निकस्यो नैन अश्रु प्रवाह। कण्ठ गद्गद शिथिल तन मन देखिवे की चाह॥'

'वन्दौ भगवन्त'—विष्णुपुराणमे भगवान् का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है। यथा—

यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम्। अनिर्देश्यमरूपं च पाणिपादाद्यसंयुतम्॥
विभु सर्वगतंनित्यं भूतयोनिरकारणम्। व्याप्यव्याप्तं यतः सर्वं यद्वै पश्यन्ति सूरयः॥
तद्ब्रह्म तत्परं धाम तद्ध्येयं मोक्षकांक्षिभिः। श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम्॥
तदेवभगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः। वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षयात्मनः॥'

(अंश ६ अ० ५)

अर्थ— अव्यक्त अजर, अचिन्त्य, अज, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप (देवमनुष्यादिरूपरहित) (मायिक) हस्तपादादि रहित, विभु (नियन्ता), व्यापक, नित्य, सर्वभूत की जिनसे उत्पत्ति हुई, स्वयं अकारण, व्याप्य में जो व्याप्त है, जिनका बुद्धिमान लोग ध्यान करते हैं, वह ब्रह्म वह परधाम, मुमुक्षु का ध्येय, श्रुति ने जिसका वर्णन किया है, सूक्ष्म और विष्णु का परम पद - यह परमात्मा का स्वरूप 'भगवत्' शब्द से वाच्य है और उस अनादि अक्षय आत्मा का- 'भगवत्' शब्द वाचक है। यह स्वरूप वताकर उसकी व्याख्या की गई है।

'भगवत्' के भ, ग, व, अक्षरों के सांकेतिक अर्थ इस प्रकार हैं। भ=सम्भर्ता (प्रकृति को कार्य-योग्य बनाने वाले),=भर्ता (स्वामी या पोषक)। ग=नेता(रक्षक), गमयिता(संहर्ता) और स्रष्टा। व=जो सबमें वास करता है और जिसमें सब भूत वास करते हैं। यथा-'सम्भर्त्तेति तथा भर्त्ता भकारोऽर्थ-द्वयान्वितः। नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने ॥''''''वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि। स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः॥ (वि० पु० ६-४)। उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न होने से 'भगवान्' नाम है। इस व्याख्यासे यह सिद्ध किया कि संसार का उपादानकारण,निमित्तकारण तथा उत्पत्ति-स्थिति-लय के करने वाले और अन्तर्यामी यह सब 'भगवान' हैं। (२) भगवान्=भगः अस्यास्ति इति भगवान्। सम्यक् ऐश्वर्य, सम्यक् वीर्य,सम्यक् यश,सम्यक् श्री,सम्यक्ज्ञान और सम्यक् वैराग्य ये छओं मिलाकर'भग' कहलाते हैं। ऐश्वर्य आदि सम्पूर्ण रूपेण जिनके पास हों उन्हें भगवान कहते हैं। यथा—ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥ (३) भगवान=जो जीवों की उत्पत्ति, नाश, आगमन, गमन, विद्या और अविद्या को जानते हैं। यथा—उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्तिविद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति॥ (वि० पु० ६-५) पोषणं भरणाधारं शरण्यं सर्वव्यापकम्। कारुण्यंषड्भिः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥ (महारामायणे) अर्थात् भरणपोषण करने वाला, शरणागत को शरण देने वाला, सर्वव्यापक और करुणापूर्ण इन छओं से पूर्ण भगवान् श्रीराम हैं। (३) 'सर्वहेयप्रत्यनीककल्याणगुणवत्तया। पूज्यात्पूज्यतमो योऽसौभगवानिति शब्दते॥' (निरुक्ति। विष्णु-सहस्रनाम की श्लोकवद्धटीका)। अर्थात् त्याज्य मायिक गुणदोषों के विरोधी, कल्याणगुणों से युक्त तथा सम्पूर्ण पूज्यों से भी पूज्यतम होने से 'भगवान्' नाम है? (पं० अखिलेश्वरदासजी, मानसपीयूष)।

'संत प्रीति को विचार करै'=यथा—'प्रीति पहिचान यह रीति दरबार की' (विनय)।

श्रीरघुबीर की यह बानि।
नीच हू सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि॥ १॥
परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि।
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम की पहिचानि॥ २॥
गीध कौन दयालु विधि जो रच्यौ हिंसासानि।
जनक ज्यों रघुनाथ ता कहँ दियो जल निज पानि॥ ३॥
प्रकृति मलिन कुजाति शबरी सकल औगुन खानि।
खात ताके दिये फल अति रुचि बखानि बखानि॥ ४॥
रजनिचर अरु रिपुविभीषण सरन आयो जानि।
भरत ज्यों उठि ताहि भेटत देह दसा भुलानि॥ ५॥

कौन सुभग सुसील वानर जिन्हहिं, सुमिरत हानि।
किये तें सब सखा पूजे भवन अपने आनि ॥ ६ ॥
राम सहज कृपालु कोमल दीन हित दिन दानि।
भजहिं ऐसे प्रभुहिं तुलसी कुटिल कपट न ठानि ॥ ७ ॥

पुनश्च— जानत प्रीति रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई ॥ (विनय)

श्लोक— तुलसी दलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥ (गौतमीय तन्त्र)

छन्द— बस एक चुल्लू जल तथा दल एक तुलसी प्रीति सों।
जो ही समर्पे हाथ ताके जात बिक परतीति सों ॥

'धरै दूर ईशता हू'—गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं—

पद— ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।
निज प्रभुता बिसारि जनके वस होत सदा यह रीति ॥१॥
जेहिं बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करम की डोरि।
सोइ अविछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरि ॥२॥
जाकी माया वश विरंचि शिव नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाइ ग्वालजुवतिन्ह सोइ नाच नचायो ॥३॥
विश्वम्भर श्रीपति त्रिभुवन पति वेद विदित यह लीख।
बलि सों कछु न चली प्रभुता बरु होइ द्विज माँगी भीख ॥४॥
जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुख भार।
अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनम्यो दस बार ॥५॥
जोग विराग ध्यान जप तप करि जेहि खोजत मुनि ग्यानी।
बानर भालु चपल पसु पाँवर नाथ तहाँ रति मानी ॥६॥
लोकपाल जम काल पवन रवि ससि सब आज्ञाकारी।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेन के द्वार बेत कर धारी ॥७॥ (विनय)

'पाण्डुन सों करी है' यथा—भागवते—

सारथ्य पारषद सेवनसख्यदौत्य वीरासनानुगमन स्तवनप्रणामान्।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिं च विष्णोर्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविंदे ॥

अर्थ—भगवान श्रीकृष्ण ने प्रेम पर वश होकर पाण्डवो के सारथि का काम किया। उनके सभासद बने। यहाँ तक कि उनके मन के अनुसार काम करके उनकी सेवा भी की। उनके सखा तो थे ही दूत भी बने। वे रात को शस्त्र ग्रहण करके वीरासन से बैठ जाते और शिविर का पहरा भी देते। उनके पीछे-पीछे चलते, स्तुति करते तथा प्रणाम करते। इतना ही नही, अपने प्रेमी पाण्डवों के चरणों मे

उन्होंने सारे जगत को झुका दिया। जब परीक्षितजी यह प्रसङ्ग सुनते तो उनकी भक्ति भगवान श्रीकृष्ण के चरण कमलों में और भी बढ़ जाती॥ (भा० १।१६।१६)

पुनश्च— हम, भक्तन के भक्त हमारे।
सुन अर्जुन परतिज्ञा मेरी यह व्रत टरत न टारे॥
जो मम भक्त सों बैर करत हैं सो निज बैरी मेरो।
देखि विचारि भक्त हित कारण हांकत हौं रथ तेरो॥
जीते जीत भक्त अपने की हारे हारि विचारों,।
सूर दास सुनि भक्त विरोधी चक्र सुदर्शन जारों॥ (सूर सागर)

'गुरु'—गुरु वह है जो शिष्य के मोहरूपी अन्धकार को दूर करे।

यथा— गु शब्दस्त्वन्धकारोऽस्ति रु शब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकार निरोधित्वाद् गुरुरित्यभि धीयते॥ (गुरुगीता)

सर्वेषामेव लोकानां यथा सूर्यः प्रकाशकः। गुरुः प्रकाशकः तद्वच्छिष्याणां बुद्धिदानतः।
(पद्म पुराण भूमि खण्ड ८५।८)

अर्थ—जैसे सूर्य सम्पूर्ण लोकों को प्रकाशित करते हैं। उसी प्रकार गुरु शिष्य को उत्तम बुद्धि देकर उनके अन्तर्जगत् को प्रकाशित करते हैं॥

पुनश्च—महा मोह तम पुंज, जासु वचन रवि कर निकर। (रा०च०मा०)

पुनश्च— गुरू वही जो सन्त सेवावै। गुरू वही जो विपिन बसावै॥
गुरू वही जो हरिहिं मिलावै। इन करनी बिनु गुरु न कहावै॥

शास्त्रों में गुरु को साक्षात् परम् ब्रह्म कहा गया है। यथा—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥ (गुरुगीता ४३)

भगवान ने श्रीमुख से भी कहा है। यथा—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत् कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्धयाऽसूयेत सर्वदेव मयो गुरुः॥ (भा० ११।१७।२७)

अर्थ—आचार्य को मेरा स्वरूप जानना चाहिये। उनका कभी भी अपमान नहीं करना चाहिये और न मनुष्य मान कर उनकी निन्दा करनी चाहिए। क्योंकि गुरु सर्व देव मय हैं। श्रीअग्रदास जी कहते हैं कि—

गुरुन विषे नर बुद्धि शिला सम गनै विष्णु तन।
चरणोदक जल जान मन्त्र वन्दै वाणी सम॥
महाप्रसादहिं अन्न साधु की जाति पिछानै।
ते नर नरकहिं जाहि वेद स्मृति बखानै॥

अग्र कहैं यह पाप घट, अति मोटो दुर्घट विकट।
और पाप सब छुटै पै, ये न मिटै हरिनाम रट॥

गुरु का महत्व वर्णन करते हुये गरुड़ जी कहते है—'गुरु विन भवनिधि तरइ न कोई। जो विरंचि शंकर सम होई॥

गुरु गुरुवाई की सचाई..........रंग भरी है—श्रीपयोहारी जी के वर्णन में श्रीनाभाजी ने गुरु की सच्ची गुरुता का उल्लेख किया है। यथा—'निर्वेद अवधि' में वैराग्य, 'अन्नपरिहरि पय पान कियो'—में सात्विक आहार, 'जाके सिर कर धरचो तासु करतर नहिं अड्डचो'—में निस्पृहता, 'अर्प्योपद निर्वान'—में मोक्ष प्रदान की सामर्थ्य, 'शोक निर्भय करि छड्ड्यो'—में आन्तरिक शत्रु-विनाश सामर्थ्य, 'तेज पुंज'—मे दुर्धर्षत्व, 'वल भजन'—में भजनैकनिष्ठ होना तथा 'महामुनि'—मे गीतोक्त—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः, स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥' अर्थ—दुःख मे जिसके मन को खेद नही होता, सुख में जिसकी आसक्ति नही और राग, भय, क्रोध जिसके छूट गये हैं उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते है। इन गुणों की उपस्थिति, 'ऊरधरेता'—में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य 'सेवत चरन सरोज रायराना भुविजेता'—में वड़े से वड़े को प्रभावित करने की शक्ति, 'दिन कर उदय'—में अमित ज्ञान, 'सन्त-कमल-हिय सुख दियो'—मे सन्तों में सद्भाव आदि अलौकिक दैवी गुणों का सकेत किया गया है।

अन्यत्र भी इन गुणों का उल्लेख पाया जाता है। यथा—

'निस्प्रेही गुरु भजन परायण सो शिष्य पार उतारै।
ज्यों नारद ऋषि व्यास उवारे बूड़त भव जल धारै॥ (भगवत रसिक)

पुनश्च— तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥ (भा० ११।३।२१)

अर्थ—जिसको अपने परम कल्यण को जानने की इच्छा हो, उसको वेद ज्ञाता, और ब्रह्मनिष्ठ एवं शान्त गुरु की शरण होना चाहिये॥ तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। (मुण्डक १।२।१२) अर्थ—ब्रह्म को जानने के लिये श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप उस अधिकारी को कुछ समित् (लकड़ी) आदि उपहार लेकर जाना चाहिये। पुनश्च—

गुरु को ऐसा चाहिये, शिष ते कछू न लेय।
शिष को ऐसा चाहिये, गुरु कहँ सरवस देय॥
गुरु निरमोही चाहिये, शिष्य न छांड़े प्रीति।
स्वारथ छाड़ै हरि मिलै, यही भजन की रीति॥
गुरु निर्मोही चाहिये, शिष्य न छांड़े नेह।
दोऊ ऐसे होइ रहैं, एक प्राण द्वै देह॥

ऐसा नहीं हो कि— "गुरु जी लड़ैं मुकद्दमा, चेला जोतैं खेत।
निसिदिन रहैं प्रपंच महँ, हरिजन सौं नहिं हेत॥

एवमेव— गुरु होय करै शिष्य की आस। राम भजन ते होय निरास॥
"लोभी गुरू लालची चेला। घोर नरक में (भी) ठेली ठेला।"
"हरै शिष्य धन शोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महँ परई।"
"गुरु लोभी सिष लालची, दोऊ देखै दाँव। दोऊ डूबै बापुरे चढ़ि पाथर की नाव।"

"गुरु गुरुताई की सचाई" का वास्तविक तात्पर्य यह है कि गुरु (आचार्य) स्वयं सदाचरण करते हुये आश्रित जनों से सदाचरण करवावे। आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति ही है—"आचरति आचारयतीति वा आचार्यः।" केवल दूसरे को सदाचरण का उपदेश देना और स्वयं सदाचरण न करना आचार्यत्व की विडम्बना मात्र है ऐसे आचार्यों के उपदेश भी व्यर्थ जाते हैं। जैसे—

दृष्टांत—गुड़ लोभी पुत्र का—"एक गाँव में किसी महानुभाव के इकलौते पुत्र को गुड़ खाने का चस्का लग गया था। माता-पिता के बहुत मना करने पर भी जब वह किसी तरह नहीं माना तो घर वाले उसे एक सन्त के पास ले गये और सन्त जी से प्रार्थना किए कि आप इसे ऐसा उपदेश दें कि यह गुड़ खाना छोड़ दे। सन्त ने कहा—एक महीने के बाद इसे फिर मेरे पास लाना। घर वालों ने ऐसा ही किया। संतजीने दो चार शब्दों में ही समझाकर सदा सर्वदा के लिए बालक का गुड़ खाने का व्यसन छुड़ा दिया। बालक मान गया। घर वालों ने सन्त जी से पूछा—महाराज! यही बात आपने पहले ही क्यों नहीं कह दी। सन्त जी बोले—जब तुम पहली बार आये थे तो उस समय मैं स्वयं भी गुड़ खाता था। अतः दूसरे को यदि गुड़ न खाने का उपदेश देता भी तो व्यर्थ जाता। अब मैंने स्वयं एक महीने से गुड़ का सर्वथा त्याग कर दिया है। अतः बालक को भी सहज ही उपदेश लग गया। निष्कर्ष यह कि—बिना स्वयं आचरण किये केवल कोरा सदुपदेश ही कार्य नही करता।"

२—दृष्टांत—खिलाड़ी गुरू का—एक गुरु जी अपने शिष्यों को बहुत उपदेश देते थे। उपदेश पालन में किंचित् त्रुटि होने पर शिष्यों पर बहुत क्रुद्ध होते थे। एक दिन एक शिष्य बिना तिलक किये भोजन करने बैठ गया तो गुरु जी ने उसे बहुत फटकारा, भोजन नही दिया। संयोग की बात दूसरे दिन जब गुरु-शिष्य सभी भोजन करने बैठे तो शिष्य बड़ी सावधानी से तिलक आदि लगा कर बैठे थे, परन्तु गुरु जी बिना तिलक के ही बैठे थे। डरते-डरते एक शिष्य ने जब इस बात की चेतावनी दी तो गुरु जी कड़क कर बोले—'तुम्हें क्या पता? गुरु जी कौन ख्याल में खेल रहे है।' उसी दिन से अब गुरु जी कुछ भी करें, कैसे भी रहें इस सम्बन्ध में शिष्य कुछ भी नही बोलते। एक दिन की बात है—गुरु जी को कही सेवकाने में जाना था अतः उन्होंने एक शिष्य से घोड़ी की जीन कसने के लिये कहा। भोले भाले शिष्य से जीन कुछ ढीली ही रह गई। गुरु जी ने भी ध्यान नही दिया। घोडी पर चढ़ कर चल दिये। कुछ दूर जाने पर जीन ढीली होने के कारण गुरु जी एक ओर लटकने लगे। शिष्य को पुकारे—"मैं गिरा जा रहा हूँ। मुझे सँभालो।' परन्तु शिष्य यह कहते हुये कि "ओ हो गुरु जी न जाने कौन से ख्याल में खेल रहे हैं।" और दूर हट हट जाता। परिणामतः गुरु जी खिसकते-खिसकते उल्टे झूल गए। कुछ राहगीर जा रहे थे। गुरु जी ने उनसे अपने परित्राण की प्रार्थना की। परन्तु जब राहगीर संभालने को उद्यत हुए तो शिष्य ने उन्हे धर्म की सौगन्ध दे दी कि खबरदार! मेरे गुरु जी को छूना नहीं। तुम लोगों को क्या मालूम मेरे गुरु जी कौन से ख्याल में खेल रहे है। तथापि उन पथिकों ने शिष्य की इन बातों पर ध्यान नहीं दिया और गुरु जी को सँभाल लिया परन्तु गुरु जी की स्वयं आचरण के सम्बन्ध में व्यर्थ

की वहाने वाजी ने उनके प्राण संकट में तो डाल ही दिये थे । अतः आचार्य को स्वयं भी आचरणशील होना चाहिये ॥

दोहा—मंगल आदि विचारि रह, वस्तु न और अनूप ।
हरिजन को यश गावते, हरिजन मंगल रूप ॥२॥
सब संतन निर्णय कियौ, श्रुति पुराण इतिहास ।
भजिबे को दोई सुधर, कै हरि, कै हरिदास ॥३॥
अग्रदेव आज्ञा दई भक्तन कौ यश गाउ ।
भवसागर के तरन को, नाहिन और उपाउ ॥४॥

शब्दार्थ—मंगल=मङ्गलाचरण, शुभ, कल्याण । आदि=ग्रन्थ के आरम्भ में । अनूप=सुन्दर, उपमा रहित । हरिजन=भगवान के भक्त । श्रुति=वेद । पुराण=वेदव्यास द्वारा रचित अठारह पुराण । इतिहास=पुरानी प्रसिद्ध घटनाओं का वर्णन, रामायण, महाभारत आदि ॥

भावार्थ—ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण के सम्बन्ध में विचार करने पर यही समझ में आता है कि भक्त चरित्रो के समान दूसरी और कोई वस्तु सुन्दर नही है, जिससे मङ्गलाचरण किया जाय । भगवद्भक्तो का चरित्र गान करने मे भगवद्भक्त ही मङ्गल रूप हैं ॥२॥ वेद, पुराण, इतिहास आदि सभी शास्त्रो ने तथा सभी साधु-सन्तों ने यही निर्णय किया है कि भजन, आराधन के लिये भगवान या भगवान के भक्त दो ही सब से सुन्दर है ॥३॥ स्वामी श्रीअग्रदेव जी ने मुझ नारायण दास को आज्ञा दी, कि भक्तों का यशोगान करो, क्यो कि संसार सागर से पार होने का इससे सरल दूसरा कोई उपाय नही है ॥४॥

व्याख्या—श्रीनाभा जी ने मङ्गलाचरण में भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु इन चारो का स्मरण किया है इस पर यदि कोई प्रश्न करे कि गणेश, महेश, सरस्वती या अपने-अपने इष्ट देव की वन्दना करने की प्राचीन परम्परा का परित्याग कर सर्वथा नवीन पद्धति का प्रारम्भ क्यों ? तो श्रीनाभा जी महाराज स्वय इसका समाधान करते हुये कहते है कि—"मङ्गल आदि ·· ······ अनूप" अर्थात् मैंने मङ्गलाचरण के सम्वन्ध में प्रारम्भ में वहुत विचार किया तो मुझे भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु से वढ़ कर और अनूप कोई मांगलिक वस्तु समझ मे ही नही आई । वात भी सत्य ही है । सचमुच यदि नाम निर्देश पूर्वक किसी देवी, देवता, गुरुदेव या इष्टदेव की वन्दना करते तो वन्दना का यह व्यापक रूप सामने नही आता, जो भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु में है । नाम निर्देश में एक देशीयता होती है । फिर तो जिसका नाम वन्दना में है उसी की वन्दना समझी जाती और इसमें तो अपने इष्ट गुरु अथवा वन्द्य के साथ-साथ समस्त भक्तो के वन्दनीय स्वरूपो का वन्दन हो जाता है । भक्त शब्द में समस्त भक्त, गणेश, महेश, सरस्वती तक का अन्तर्भाव है । भक्ति शब्दमें समस्त भक्तोंकी भक्ति एवं श्रीजीका भाव है । भगवन्त शब्द में सव भक्तो के आराध्य स्वरूप का अन्तर्भाव है । ऐसे ही गुरु शब्दमें समस्त आचार्यो की वन्दना का

अन्तर्भाव है। अतः "मङ्गल आदि.........अनूप"। मङ्गल तो मांगलिक वस्तुओं का ही किया जाता है और श्रीनाभा जी के बन्द्य भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु चारों ही मङ्गलमय है। यथा—

भक्त मंगल—"मुदमङ्गलमय सन्त समाजू। सतसंगति मुद मङ्गल मूला॥ मङ्गल मूरति मारुति नन्दन। सकल अमङ्गल मूल निकंदन॥" पुनश्च—ज्ञानभक्ति प्रकाशाग्र, प्रेमोन्मत्ताय मंगलम्। नामलीला विदाधाय तीर्थी भूताय मङ्गलम्॥ अनन्याय रसज्ञाय, लोकमङ्गलकारिणे। भगवन्मयाय भक्ताय, मङ्गलाय सुमङ्गलम्॥

भक्ति मंगल—या हरिं वशमानीय, भक्तेषु च विराजिता। ज्ञान वैराग्ययोर्माता तस्यै भक्त्यै सुमङ्गलम्॥ (भ०व०टि०)

भगवन्त मंगल—मङ्गलं कौशलेन्द्राय, महनीय गुणाब्धये। चक्रवर्तितनूजाय सार्व भौमाय मङ्गलम्॥ (वाल्मीकि जी) रामाय कृष्णाय रसप्रदाय, सुभक्तभक्ताय सराधिकाय। गोविन्दगोपी-जनवल्लभाय, सुमङ्गलम् दीनजनप्रियाय॥ (भ०व०टि०)

गुरु मंगल—मोहान्धकारस्य विनाशकाय, चन्द्रार्ककञ्जोपमविग्रहाय। त्रितापहाराय कृपाकराय, आचार्य देवाय सुमङ्गलञ्च॥ (भ०व०टि०)

हरिजन को यश गावते हरिजन—हरिजन शब्दमें हरि और जन (भक्त) दोनोंका ही अन्तर्भाव है। बड़ी ही चमत्कार पूर्ण पक्ति है। अर्थ होगा हरि का यश गानेसे जन (भक्त) मङ्गल रूप हो जाते है क्योकि हरि—'**मङ्गल भवन अमङ्गल हारी**' ठहरे। और जनों (भक्तों) का यश गाने से हरि मङ्गलमयता को प्राप्त होते है क्यों कि भक्त भी तो मङ्गलमय है। यथा—"**मुद मङ्गल मय संत समाजू।**" जैसे भक्त भगवान का यश गाने से आनन्द प्राप्त करते है वैसे ही भगवान भी भक्तों का यश गाकर सुन कर परमानन्द का अनुभव करते है। यथा—**सकृत प्रनाम प्रणत यश बरनत, सुनत कहत फिर गाउ**॥ (विनये) भक्त और भगवान दोनों का ही स्वभाव है—भजने वाले को आत्मसारूप्य प्रदान करना। यथा—भक्त स्वभाव—**पारस में अरु सन्त में, बहुत अन्तरो जात। वह लोहा सोना करै यह करै आप समान**॥ भगवन्त स्वभाव—यथा—**प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान। तुलसी कहूँ न राम से, साहिब शील निधान**॥ (रामचरितमानस)

सब संतन निर्णय कियौ—एक बार सन्तों की सभा में इस बात को लेकर विचार विमर्श हुआ कि सबसे वड़ा कौन है। तो एक महानुभाव ने कहा कि—सबसे बड़ी पृथ्वी है जो सबको धारण करती है। दूसरे सन्त ने इसका प्रतिवाद करते हुये कहा कि पृथ्वी से बड़ा समुद्र है। समुद्र का क्षेत्रफल पृथ्वी से दूना है। तीसरे महानुभाव इनके भी कथन का खण्डन करते हुये बोले—कि समुद्र से वड़े तो श्रीअगस्त्य जी है जिन्होंने समुद्र को चुल्लू में भरकर पी लिया था। चौथे सज्जन बोले—समुद्र सोंखने वाले अगस्त्य जी आकाश में एक तारा ही बन कर रह गये है। जब सूर्य का उदय होता है तो अगस्त्य तारे का पता नही चलता। इससे सिद्ध हुआ कि अगस्त्य जी से तो सूर्य ही बड़े है। पाँचवे सज्जन अपने पक्ष का समर्थन करते हुये बोले कि इतने वड़े सूर्य भगवान चक्रपाणि के नेत्र स्थानीयमात्र हैं। यथा—**नैन दिवाकर कच घन माला।** (रामचरितमानस) अतः सूर्य से बड़े तो भगवान ही हुए। परन्तु

यह मत भी सर्वमान्य नही रहा। एक महानुभाव अपना मत प्रकट करते हुये बोले कि—ऐसे महान् भगवान भी भक्तो के हृदय कमल मे निवास करते हैं। अतः भगवान से भी बड़े भगवान के भक्त हुये। श्रीभगवत् रसिक जी ने एक छप्पय मे इस प्रसग का स्मरण किया है। यथा—

> कोउ कह अवनी वड़ी तासु दूनो समुंद्र पुनि।
> सो अञ्जलि भरि लियौ ताहि सोख्यौ अगस्त्य मुनि॥
> नभ अगस्त्य को वास छिपं उद्योत भानु के।
> भानु वेद यों कहैं चक्षु हैं चक्रपानि के।
> चक्रपाणि हरि जनन के हृदय कमल कियो वास।
> भगवत लघुता विष्णुलौं दीरघ हरि के दास॥

ऐसे ही एक वार कविजनो के वीच भी इसी वात को लेकर विवाद हुआ था, जिसकी चर्चा श्रीनाभाजी ने स्वयं श्रीभक्तमालजी के उपसंहार में किया है। यथा—छप्पय देखिये २००॥ पुनश्च—एक वार देवर्षि के मन में यह जानने की इच्छा हुई कि—जगत में सवसे महान् कौन है। उन्होने सोचा कि चलूँ भगवान के पास ही वही इसका ठीक-ठीक पता लग सकेगा। वे सीधे वैकुण्ठमे गए और वहाँ जाकर प्रभु से अपना मनोभाव व्यक्त किये। प्रभु ने कहा—नारद! सवसे वड़ी तो यह पृथ्वी ही दीखती है, पर वह समुद्र से घिरी हुई है अतएव यह भी वड़ी नही है। रही वात समुद्र की, सो उसे अगस्त्य मुनि पी गये थे, अतः वह भी वड़ा कैसे हो सकता है। इससे तो अगस्त्य जी वड़े हो गए। पर देखा जाता है कि अनन्ताकाश के एक सीमित भाग मे वे केवल एक खद्योतवत् चमक रहे है, इससे वे भी वड़े कैसे हो सकते हैं? अव रहा आकाश विषयक प्रश्न सो प्रसिद्धि है कि भगवान् विष्णु ने वामनावतार मे इस आकाश को एक ही पग में नाप लिया था, अतएव वह भी उनके सामने अत्यन्त नगण्य है। इस दृष्टि से भगवान् विष्णु ही सर्वोपरि महान् सिद्ध होते हैं। तथापि नारद! वे भी सर्वाधिक महान् है नही, क्योकि तुम्हारे हृदय मे वे भी अंगुष्ठमात्र स्थल में ही सर्वदा अवरुद्ध देखे जाते है। इसलिए भैया! तुमसे वडा कौन है? वास्तव में तुम ही सवसे महान् सिद्ध हुए—

> पृथ्वी तावदतीव विस्तृतिमती तद्वेष्टनं वारिधिः,
> पीतोऽसौ कलशोद्भवेन मुनिना स व्योम्नि खद्योतवत्।
> तद्व्याप्तं दनुजाधिपस्य जयिना पादेन चैकेन खं,
> तं त्वं चेतसि धारयस्यविरतं त्वत्तोऽस्ति नान्यो महान्॥

'त्वत्तोऽस्ति नान्यो महान्' से तात्पर्य-भक्तमात्र से है॥ उपर्युक्त प्रमाणो से हरि-भक्तो की भजनीयता सिद्ध होती है अव श्रीहरिकी भजनीयता का एक प्रसंग देखिये—

एक वार सरस्वती नदीके तट पर कुछ ऋषिगण यज्ञ कर रहे थे। उनमें इस विषय पर विचार विमर्श हुआ कि—व्रह्मा, विष्णु, महेश, इन त्रिदेवों मे सवसे वड़ा कौन है? इस वात को जानने के लिये उन्होने व्रह्माजी के पुत्र महर्षि भृगु को उनकी परीक्षा लेने के लिये भेजा। भृगुजी पहले व्रह्माजी की सभा मे गये और उनके स्वभाव की परीक्षा करने के लिये उन्होने न तो उन्हे नमस्कार किया और न उनकी स्तुति ही की। इससे व्रह्मा जी अपने तेज से प्रज्वलित हो उन पर अत्यन्त कुपित हुए। किन्तु

अपने पुत्र के ही प्रति उत्पन्न क्रोध को ब्रह्माजी ने अपने मन में इस प्रकार शान्त कर दिया जैसे तेजस्तत्व से ही उत्पन्न हुए जल से अग्नि शान्त हो जाता है। तदनन्तर वे कैलाश को गये। अपने भाई महर्षिभृगु को आया देख, श्रीमहादेव जी अति आनन्दित हो, उठकर उन्हें आलिङ्गन करने के लिये उद्यत हुए किन्तु 'नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति ....,' तुम कुमार्गी हो—ऐसा कहकर 'भृगुजी ने उनसे मिलने की अनिच्छा प्रगट की। (अर्थात्) उनका तिरस्कार किया। तव महादेवजी को बड़ा क्रोध हुआ और वे तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए त्रिशूल उठाकर उन्हें मारने के लिये उद्यत हुये। देवी पार्वतीजी ने उनके चरणों पर गिरकर उन्हें प्रार्थनामयी वाणी से शान्त किया। इसके वाद भृगुजी वैकुण्ठधाम को गये। भगवान लक्ष्मी जी की गोद में सिर रख कर लेटे हुये थे। भृगुजी ने जाते ही उनके वक्षःस्थल में लात मारी। साधुओं के एक मात्र गति श्रीहरि लक्ष्मीजी सहित उठ वैठे और शैया से उतर कर उन्होंने भृगुजी को प्रणाम किया और कहने लगे—

आह ते स्वागतं ब्रह्मन् निषीदात्रासने क्षणम्।
अजानतामागतान्वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो॥
अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने।
वज्रकर्कशमद्वक्षः स्पर्शेन परिपीडितौ॥
इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन्स्वेन पाणिना॥' (भा०)

हे ब्रह्मन्! आपका स्वागत है, यहाँ एक क्षण आसन पर विराजिये। हमें आपके यहाँ पधारने का कोई पता न था, अतः हमारी धृष्टता क्षमा करें। हे महामुने! आप के चरण कमल अत्यन्त कोमल है और मेरा वक्षःस्थल वज्र के समान कठोर है। उसका स्पर्श होने से आपके चरणों में वहुत पीड़ा हुई होगी। यह कहकर वे भृगुजी के चरणों को अपने हाथों से दवाते हुये पुनः वोले—'आपका चरणोदक तीर्थों को भी पवित्र करने वाला है। उससे आप वैकुण्ठ लोकके सहित मुझे तथा मुझ में स्थित लोक पालों को पवित्र कीजिये। भगवन्! आपके पादस्पर्श से मेरे समस्त पाप नष्ट हो गये। अतः लक्ष्मी मेरे हृदय मे निरन्तर विराजमान रहेंगी। अव मैं लक्ष्मी का एकमात्र आश्रय स्थान हो गया हूं। यथा—

पुनीहि सह लोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान्।
पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणः॥
अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम्।
वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः॥

भगवान् की ऐसी गम्भीर वाणी सुनकर भृगुजी अति आनन्दित और तृप्त हो मौन हो गये तथा भक्ति के उद्रेक से उनका कण्ठ गद्गद हो गया नेत्रों में जल भर आया। तदनन्तर उन्होंने पुनः यज्ञ भूमिमें आकर मुनीश्वरो के सामने अपना सारा अनुभव कह सुनाया। सव वृत्तान्त सुन कर सवका सन्देह दूर हो गया। (भा० १०-८९-९-१२) इसके वाद सभी मुनीश्वर—

प्रेम पुलकि वैकुण्ठ सिधारे। जयति जयति कहि सकल पुकारे॥
अशरण शरण हरण भव वाधा। क्षमहु नाथ हमरो अपराधा॥
वेद प्रमाण वड़े तुम भारी। करी परीक्षा चूक हमारी॥
अब प्रतक्ष यह भा परमाना। तुमहिं वड़े सबते भगवाना॥

सुनि बोले हँसि भक्त उपासी। कहत सत्य तुम नहिं उपहांसी ॥
सकल जगत उर माँझ हमारे। हमको रहैं सदा उर धारे ॥
हमहूं जिनको चिन्तन करहीं। जिनके हित जग में अवतरहीं ॥
जव खण्डन करि विमुख ऊखारें। थापि मोहि जश मोर प्रचारें ॥
ताते जन उपास्य है मेरे। अहैं सकल विधि भक्त बड़ेरे ॥

दोहा— सुनि मुनि बोले सत्य है, जो प्रभु कहत बखानि।
भक्त और भगवन्त दोउ, पूज्य लिये हम जानि ॥
तवहीते यह मत सुदृढ़, सवनि कियो विश्वास।
सोई श्री गुरु कृपा ते' गायो नाभा दास ॥ (भ० व० टि०)

'भजिवे को सुघर'—इस लिये कहा है कि "भक्त और भगवान, दोनो ही—

वलि पूजा चाहैं नहीं, चाहैं एक प्रीति।
सुमिरत ही मानै भलो पावन सब रीति ॥"

तथा— भाव वस्य भगवान, सुखनिधान करुणाभवन",
"सुर साधु चाहत भाव सिन्धु कि तोष जलअंजलि दिये",
"भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैः भक्ति प्रियो माधवः"
"भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः",
"सेवत सुलभ सकल सुखदायक"
"हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी॥"

भक्त और भगवान को छोड़कर सभी कारण कृपालु देखे गये है। यथा—

'जे सुर सिद्ध मुनीश योग विद वेद पुराण बखाने।
पूजा लेत देत, पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने ॥' (विनय)
"भूमिपाल व्याल पाल लोक पाल नाक पाल,
कारण कृपालु मैं सबै के जीकी थाह ली ॥" (कवितावली)

अतः भक्त-भगवान को भजिवे को सुघर कहा।

'श्रीगुरु अग्रदेव' कह कर श्री नाभाजी ने गुरुदेव का नाम निर्देश किया। 'आज्ञा दई'-यह ग्रन्थ रचना का हेतु है। क्या आज्ञा है, तो कहते हैं कि—'भक्तन को जस गाउ' और वह इसलिये कि "भव सागर के तरन को नाहिन और उपाउ"॥ प्रश्न—भगवान का न कहकर हरि-भक्तों का ही यश गाने का इतना सुस्पष्ट सकेत क्यो? समाधान—

१—श्रीनाभाजी को सन्त कृपा से ही दिव्य दृष्टि मिली जिससे कि वह समुद्र के जहाज की कौन कहे गुरुदेव की मानसी सेवा का भी प्रत्यक्षतया दर्शन करने लगे थे। यथा—"अचरज दयो नयो यहाँ लौं प्रवेश भयो, मन सुख छयो जान्यो सन्तन प्रभाव को। आज्ञा तव दई 'यह भई तो पै साधु कृपा उनही को रूप गुन कहो हिय भाव को।' (टी० क० ११)

२—भगवान का यश तो वहुत सें लोगों ने गाया है, गाते हैं, गाते रहेंगे यथा—'शारद शेष महेश विधि,आगम निगमपुरान। नेति नेति कहिं जासु गुन करहिं निरन्तर गान॥','निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं'। मैं स्वयं (अग्रदास जी) हरि-यश गाता हूं तो कोई भक्तों का यश भी तो गाने वाला होना चाहिये।

३—हरि को निज जसतें अधिक, भक्तन जस पर प्यार। ताते यह माला रची करि ध्रुव कण्ठ सिंगार॥ विनय-पत्रिका में श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास जीने कहा है कि—'निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ। सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ॥' अर्थात् प्रभु का भक्तों के यश-श्रवन-कथन में इतना भाव है कि अपना विरुद-वर्णन वन्द करा कर सेवकों से भक्तों का यश गाने का आग्रह करते है। स्वयं वड़े प्रेम से सुनते हैं। फिर-फिर गाने को कहते हैं, स्वयं भी गाते है। अतः श्रीभक्तमाल जी के प्रधान श्रोता भगवान ही हैं। (देखिये भक्तमाल माहात्म्य॥)

४—श्रीनाभाजी ने मङ्गलाचरण में भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु इन चार का स्मरण किया है। भक्ति भावात्मक होने से भक्त,भगवन्त,गुरु,इन तीनों में अन्तर्हित हैं। प्रत्यक्ष सेव्य स्वरूप तीन हुए। फिर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकला कि—'भजिवे कों दोई सुघर कै हरि कै हरिदास'। यहां भक्त और भगवान दोनों में ही गुरुतत्व की अवस्थिति है। अतः दोई सुघर कहा। इन दो में भी श्रीअग्रदासजी ने 'भक्तन को जस गाउ' की आज्ञा करी। अर्थात् केवल भक्तों को चुन लिया। इसलिए कि भक्त में भक्ति, भगवान, और गुरुदेव सवका ही भाव पाया जाता है अतः भक्तन को जस गाउ' कहा॥

भवसागर के तरन को नाहिन और उपाउ—यथा भागवते—निमज्जोन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्। सन्तो ब्रह्मविदः शान्ताः नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥ अर्थ—जो भयंकर संसार समुद्र में डूवतें-उतराते हैं उनके लिये परम आधार ब्रह्म वेत्ता शान्त सन्त हैं। जैसे जल में डूवते हुए प्राणी के लिये नाव सहारा होती है॥ वैसें तो भवसागर से पार जाने के लिये वेद-शास्त्रों ने वहुत से उपायों का निर्देश किया है। यथा—'वहु उपाय संसार तरन कहँ विमल गिरा श्रुति गावै।' (विनय) परन्तु सर्व सुलभ न होने से उन उपायों से जीव, भव वन्धन से छूटने की जगह और अधिक वँधता जाता है। पार जाने की जगह और अधिक डूवता जाता है यथा—'श्रुति पुराण वहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।' (रामा०) और सन्त चूँकि सवको, सव काल सव देश में सुलभ हैं यथा—'सर्वाहि सुलभ सव दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा।' अतः यह सौलभ्य विचार कर श्रीअग्रदास जी कहते हैं—भवसागर.......उपाउ॥

आज्ञा निरूपण

मानसी स्वरूप में लगे हैं अग्रदास जू वै करत वयार नाभा मधुर सँभार सों।
चढ्यो हो जहाज पै जु शिष्य एक आपदामें कर्यौ ध्यान खिच्यो मन छुटयो रूप सार सों॥
कहत समर्थ गयो बोहित वहुत दूरि आवो छवि पूरि फिर ढरो ताही ढार सों।
लोचन उघारि कैं निहारि कह्यौ बोल्यौ कौन! वही जौन पाल्यो सीथ दै दै सुकुँवार सों।१०।

भावार्थ—सँभार—सँभाल, निगरानी, रक्षा, स्मरण,पोषण, प्रबन्ध । आपदा=संकट, आपत्ति । रूप-सार=अत्यधिक सुन्दर । समर्थ=सर्व शक्तिमान् । वोहित=जहाज। ढरो—चलो, तत्पर होइयै, लहराइयै। ढार=चाल, रीति; भूलेका झोंका । सीथ=जूँठनि । सुकुवाँर=सुकुमार, वचपन ।

भावार्थ—एक वार स्वामी श्रीअग्रदेव जी महाराज मानसी सेवा में संलग्न थे और श्रीनाभा जी अति कोमल एवं मधुर संरक्षण के साथ धीरे-धीरे प्रेम से पंखा कर रहे थे । उसी समय श्रीअग्रदास जी का एक शिष्य जहाज पर चढा हुआ समुद्र की यात्रा कर रहा था । उसका जहाज संकट (भँवर) मे फँस गया । चालक निरुपाय हो गये तब उस शिष्य ने श्रीअग्रदास जी का स्मरण किया । उससे श्रीअग्रदास जी का ध्यान अतिसुन्दर स्वरूप भगवान श्रीसीताराम जी की सेवा से हट गया । गुरुदेव की मानसी सेवा में विघ्न समझकर श्रीनाभा जी ने पखे की वायु से जहाज को संकट से पार कर दिया और श्रीगुरुदेव से नम्र निवेदन किया कि—प्रभो ! जहाज तो वहुत दूर निकल गया, अव आप उसी शोभा पूर्ण भगवान की सेवा में लग जाइये । यह सुन कर श्रीअग्रदेव जी ने आँखे खोली और नाभा जी की ओर देखकर कहा कि—अभी कौन वोला?श्रीनाभाजी ने हाथ जोड़कर कहा—जिसे आपने वचपन से सीथ प्रसाद देकर पाला है । उसी आपके दास ने प्रार्थना की है ॥

व्याख्या—आचार्यों ने भगवत् सेवा त्रिविध वर्णन की है । १—तनुजा । २—वित्तजा । ३—मानसी । तनुजा—श्रद्धा, भक्ति सहित शरीर से भगवत कैंकर्य करना । वित्तजा—वित्त शाठ्य परित्याग पूर्वक भगवान की उत्तमोत्तम राग-भोग शृङ्गार आदि की सेवा । मानसी—उत्तमा सहजा वृत्ति द्वारा मन मन्दिर मे भगवान को विराजमान कराकर सदा सर्वदा (अष्टयाम) मनोमय पूजोपकरणों द्वारा मन से भगवान की सेवा । तनुजा और वित्तजा सेवा का फल है मानसी सेवा की सिद्धि । मानसी सेवा को अत्यन्त श्रेष्ठ सेवा कहा गया है यथा—**कृष्ण सेवा सदा कार्या, मानसी सा परामता । चेतस्तत्प्रवणं सेवा, तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ॥**

श्रीअग्रदास जी मानसी सेवा में ही तन्मय हो रहे थे । मन स्वभाव से ही चञ्चल है । श्रीगीता जी में वार-वार मनो निरोध पर वल देने पर श्रीअर्जुन जी ने झुँझला कर कहा—'**चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद् दृढम् । तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥** (गी० ६।३४) अर्थ—हे कृष्ण ! मन चंचल, हठीला, वलवान और दृढ़ है । वायु के समान इसका निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर दिखाई देता है । अर्जुन के इस तर्क का समर्थन करते हुये भगवान श्रीकृष्ण मनोनिरोध का उपाय भी वताते हैं । यथा—**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् । अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥** (गीता ६।३५) अर्थ—हे महावाहु अर्जुन ! इसमें सन्देह नही कि मन चञ्चल है और उसका निग्रह करना कठिन है । परन्तु सर्वथा असम्भव नही है । हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह स्वाधीन किया जा सकता है । यहाँ अभ्यास से तात्पर्य मन को वाह्य विषयोसे हटाकर पुनः पुनः भगवानमे लगानेसे है । ज्ञानी,लोग जहाँ मन का निरोध संयम रूपी कोड़े लगा लगाकर करते हैं वहाँ उपासना मार्ग मे भक्तजन मन को भगवान के रूप माधुर्यामृत का पान करा कराकर चंचल से अचल वनाते हैं । इसपर वड़ा ही सुन्दर अलवेली अलि और सुन्दरदास जी ने लिखा है । यथा—

'चञ्चल तो मन की गति है अलि रूप सुमन वन में फिरिये ।
कुण्डल लोल कपोलनि में अलकनि झलकनि चित में धरिये ॥

वर वेंदी भाल रसाल दिये अधरनि में मोती थरहरिये ।
अलवेली लाल विहारिनि को दिन रैन निहारनि ही करिये ॥

स०— मन है तो भली थिरकै रहितू हरि के पद पंकज में गिरि तू ।
कवि सुन्दर जौ न सुभाव तजै फिरिबोई करै तौ उहाँ फिरि तू ॥
मुरली पर मोर पखा पर ह्वै लकुटी पर ह्वै भ्रकुटी भ्रमि तू ।
इन कुण्डल लोल कपोलनि में घन से तन में घिरि कै रहि तू ॥

दृष्टान्त—भूत का—दोहा—यह मन भूत समान है दौरै दाँत पसार ।
बाँस गांठ उतरै चढ़ै सब बल जावै हार ॥

किसी मन चले व्यापारीने एक सिद्ध सन्त से शीघ्र सिद्धि का मन्त्र पूछा । संत ने भूत सिद्धि का मन्त्र वता दिया । सन्त के वताये हुये विधान से उसने एक भूत को वश में कर लिया और उससे कहा कि—हम जो कहैं वह तुम्हे करना होगा । भूत ने कहा—हम तुम्हारी आज्ञा इस शर्त पर मानने को तैयार है कि जिस समय तुम मुझे कुछ काम नहीं वताओगे उस समय मैं तुम्हें खा जाऊँगा । अर्थात् हमें हर समय काम मिलना चाहिये । व्यापारीका वैसे तो वड़ा भारी कारोवार था । काम वहुत रहता था,परन्तु जो भी वह कहता,भूत अपनी दिव्य शक्तिसे तत्काल सम्पन्न कर देता । ऐसी स्थिति में वह व्यापारी हमेशा चिन्तित रहने लगा कि अव इसे कौनसा काम वताऊँ।चिन्ताके कारण उसका शरीर कृशित होने लगा । एक मित्रने जव कृशताका हेतु पूछा तो उसने अपना समस्त वृत्तान्त वताकर इस दुःखसे छूटनेका उपाय पूछा । अनुभवी मित्र उसको एक सिद्धके पास ले गया । सिद्ध ने युक्ति वताई। कहा कि—उस भूतसे कहो, एक हजार गाँठ वाला वाँस लावे और जव वह लावे तो कहना कि इसे हमारे आँगनमें गाड़ दो और खाली समयमें इस पर चढ़ो उतरो । जव हमें काम होगा तव कहूँगा । इस प्रकार वह व्यापारी भूत के संकट से मुक्त हुआ ।

ऐसे ही भूत रूपी चंचल मन को भी भगवान के नखशिख रूप में लगाये रहे तो जीव सुखी रहता है । नही तो व्यर्थ ही असद् विषयों में भटकता रहता है । यथा—**हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः** । (भा०) अर्थ—जो भगवान का भक्त नही, उसमें महापुरुषों के वे गुण आ ही कहाँ से सकते हैं ? वह तो तरह-तरह के संकल्प करके निरन्तर तुच्छ वाहरी विषयों की ओर ही दौड़ता रहता है ।

दृष्टान्त—शेख चिल्ली का—किसी धनी का घी भरा मटका, चार आने मजदूरी पर सिर पर धर कर ले जा रहे थे । मन ही मन सोचते, चार आने पैसे से खोमचा चलाऊँगा, जव आमदनी अधिक हो जायगी तो वकरी खरीदूँगा। वकरियोंके व्यापारसे जव अधिक मुनाफा होगा तो गाय खरीदूँगा । फिर लाभ होने पर घोड़ों का व्यवसाय करूँगा । फिर जव काफी मालोमाल हो जाऊँगा तो व्याह करूँगा ।पुत्र होगा ।जव वह वड़ा हो जायगा तो मैं उसे फारसी पढ़ाना चाहूँगा और पत्नी हिन्दी पढ़ाने पर जोर देगी तो मुझे क्रोध आयेगा तो मैं उछल कर उसे लात मारूँगा, वस यह सोचते ही आवेग आया, शेखचिल्ली सचमुच उछल पड़े । असावधानी में घी से भरा घड़ा गिर कर फूट गया । घी फैल गया । धनी को क्रोध आया, दो थप्पड़ लगाये । शेख जी चिल्लाने लगे । लोगों की भीड़ एकत्रित हो गई । पूछनें पर धनी ने अपनी घृत हानि वताई । शेखचिल्ली ने चिल्लाकर कहा, 'आपका तो दस पाँच रुपये के घी का नुकसान हुआ, मेरी तो सव गृहस्थी ही चौपट हो गई । लोग वड़े ही चकपकाये । फिर जव शेख जी के मनोराज्य को जाने तो उन्हें और भी अधिक कुतूहल हुआ । यह है मन की भटकन ।

श्रीअग्रदास जी अपने मन को श्रीयुगल सरकार प्रिया-प्रीतम श्रीसीताराम जी की मानसी सेवा में लगा रखे थे। उस समय का ध्यान—छन्द—

अवधपुरी निजधाम परम अति सुन्दर राजै।
हाटक मणिमय सदन नगन की कांतिविराजै ॥
पौरि द्वार अति चारु सुहावन चित्रित सोहैं।
चम्पतार मंदार कल्पतरु देखत मोहैं ॥
कल्पवृक्ष के निकट तहाँ इक धाम मणिन युत।
कंचनमय सब भूमि परम अति राजत अद्भुत ॥
स्वर्ण वेदिका मध्य तहाँ इक रतन सिंहासन।
सिंहासन के मध्य परम अति पद्म शुभासन ॥
ताके मध्य सुदेश कर्णिका सुन्दर राजै।
अति अद्भुत तहँ तेज वह्नि सम उपमा भ्राजै ॥
तामधि शोभित राम नील इन्दीवर ओभा।
अखिल रूप अम्भोधि सजलघन तन की शोभा ॥
दक्षिणभुज शर सुभग सुहावन सुन्दर राजै।
दिव्यायुध सुविशाल वामकर धनुष विराजै ॥
षोडश वर्ष किशोर राम नित सुन्दर राजै।
रामरूप को निरखि विभाकर कोटिक लाजै ॥
अस राजत रघुवीर धीर आसन सुखकारी।
रूप सच्चिदानन्द वाम दिशि जनक कुमारी ॥
अलक झलकता श्याम पीठ शोभित कलवेणी।
सुन्दरता की सींव किधौं राजति अलिश्रेणी ॥
दक्षिण भुज रिपुदलन गौरतन तेज उदारा।
उभै हेतु अनुसार धरे व्रतऽखण्डित धारा ॥
शेष लिये कर छत्र भरत लिए चँवर ढुरावै।
अनिलसुवन कर जोरि सुप्रभु की कीरति गावै।
अपनी-अपनी ठौर नित्य परिकर बनि भारी ॥
सुरति शक्ति विमलादि रहत नित आज्ञाकारी।
यहि विधि राजत राम अवधपुर अवध विहारी ॥
दम्पति परम उदार सुजश सेवक सुखकारी ॥
यही ध्यान उर धरै स्वयं तन सुफल करे वा।
भव चतुरानन आदि चरन वन्दे सब देवा ॥
ध्यान मञ्जरी नाम सुनत मनमोद बढ़ावै।
श्रीरघुवर को दास मुदित मन अग्रसो गावै ॥

(अग्रदास कृत—ध्यान मंजरी से)

करत बयार नाभा—करत वयार नाभा से गर्मी का दिन जनाया गया। **'मधुर सँभार सों'**=मधुर का अर्थ धीरे-धीरे, इसलिए कि ध्यान में कोई विक्षेप न पड़े। वहुत जोर-जोर से भी पङ्खा झलने से ध्यान में व्यवधान पड़ता है तथा वहुत धीरे-धीरे करने से भी अच्छी तरह तापापनोदन नहीं होगा। तो भी व्यवधान होगा, अत: मधुर अर्थात् न अत्यन्त तेज न अत्यन्त मन्द ही। सँभार सों=अर्थात् वड़ी सावधानी से। सावधानी यह कि कहीं धोखे में पङ्खा श्रीगुरुदेव जी को न लग जाय। अथवा मुझे ही कहीं आलस न आ जाय। सेवा में सावधानी परमावश्यक है। यथा—**'सेवा सुमिरन सावधान चरण राघव चित लाये।'** (छ०-४१) सेवा में सावधान रहना चाहिये, इस पर—

दृष्टांत—जलघड़िया का—वृन्दावनस्थ श्रीठाकुर रसिक-विहारीजी का जलघड़िया एक वार स्नान करके श्रीयमुना जल कलश में भरे सिर पर लिये हुये आ रहा था। रास्ते में व्रजवासी वालक खेल रहे थे। एक वालक ने जलघड़िया का हाथ पकड़ कर जल पिलाने को कहा। वह झुँझलाया। व्रजके वालक इतने ढीठ होते हैं कि इन्हें तनिकभी अपरस सपरसका विचार नहीं होता है। मैं श्रीठाकुरजी की सेवा में जा रहा था इसने छू दिया, इत्यादि वातें विचार कर उस वालक को थप्पड़ लगा दिया। वह वालक कोई और नहीं स्वयं ठाकुर श्रीरसिक विहारी जी ही वाल-वेप वनाये वालकों के साथ विविध विनोद कर रहे थे। ठाकुर जी के कोमल कपोल पर अँगुलियों के चिन्ह उभड़ आये। जव सेवामें श्रीमहन्त जी उपस्थित हुये और उनकी दृष्टि जव कपोलपर उभड़े निशानों पर गई तो पूछे—जै-जै यह चिन्ह कैसे? तव श्रीठाकुर जी ने सुवकते हुये कहा, आपके जल घड़िया ने मुझे मारा है। जव इस वात का रहस्योद्-घाटन हुआ तो जलघड़िया को वड़ा क्षोभ हुआ। क्षमा याचना की। वात आयी गयी हो गयी। जलघड़िया तो इस प्रसङ्ग को भूल गया परन्तु श्रीठाकुर जी नहीं भूले थे। गर्मी के दिन थे। जलघड़िया ठाकुर को पङ्खा झल रहा था। पङ्खा झलते-झलते उसे आलस्य आ गया। पंखे की डोरी छूट गयी। छिटक कर श्रीठाकुर जी को जा लगी। उसकी इस असावधानी पर झुँझलाकर श्रीठाकुर जी ने भी उसे एक थप्पड़ मार कर असावधानी का दण्ड और पीछे का बदला दोनों ही चुका लिया। अत: सेवा सुमिरनमें सावधानी रखनी चाहियें। श्रीनाभा जी वड़ी ही सावधानी पूर्वक पङ्खा झल रहे थे। सेवा सवको करने भी नहीं आती। इसपर—

दृष्टांत—वन्दर सेवक का—एक राजा ने एक वन्दर को पङ्खा झलना सिखा रखा था। गर्मीके दिन थे। वन्दर पङ्खा झल रहा था। राजा सोये हुये थे। एक मक्खी राजाके शरीर पर वार वार वैठती, वन्दर उसे वार-वार उड़ाता जव वह किसी प्रकार नहीं मानी तव वन्दर तो वन्दर ही ठहरा, रोप में भर कर उसने मक्खी को मारने के लिये राजा के वगल में पड़ी हुई तलवार उठा ली और मक्खी ज्यों ही राजा के वक्षस्थल पर वैठी, सधे हाथ से वन्दर ने तलवार का प्रहार किया। मक्खी तो मरी नहीं, राजाके दो टुकड़े हो गये। ऐसी सेवा नहीं करना चाहिये। श्रीनाभा जी तो सेवा-सुमिरन में सावधान रहने वाले सेवक थे।

श्रीगुरु जी भगवान की मानसी सेवा में लगे हैं और श्रीनाभा जी गुरु सेवा में। हेतु—१—शिष्य का परम धर्म है, गुरु की सेवा करना। २—**जे गुरु पद अम्वुज अनुरागी। ते लोकहुँ वेद हुँ वड़भागी॥** ३—भगवान की सेवा न कर श्रीगुरु जी की सेवा कर रहे थे इसलिये भी कि वे श्रीगुरु जी को भगवान से भी अधिक करके मानते थे। **"तुमते अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी।"**के समर्थक

थे। ४—जैसे श्रीगुरु जी मानसी सेवा सुख में निमग्न रहते हैं वैसे ही श्रीनाभा जी भी मानसी सेवा सुख की अभिलाषा करते हैं और यह सम्भव है श्रीगुरु कृपा से। यथा—गुरु विन होय कि ज्ञान।

दृष्टांत—तोते का—एक सन्तजी अपने उपदेशमें यह वात वार-वार दुहराते थे कि राम नाम रटने से भव वन्धन छूट जाता है। उनके शिष्य ने भी यह सूत्र याद कर लिया और जहाँ भी जाते यही उपदेश करते। एकवार वे चित्रकूट गये हुये थे। साधन-साध्य सम्वन्धी वार्ता होने पर शिष्यने भी यह वात वार-वार दुहराई। एक तोते ने झुँझलाकर कहा—यह झूठी वात है। मैं तो एकवार नहीं अनेक वार राम नाम रटता हूँ। परन्तु भव वन्धन की तो वात ही क्या—पिंजड़े के वन्धन से भी नहीं छूट पाया। शिष्य सकपका गया। समुचित उत्तर नहीं दे सका। आकर गुरु जी से निवेदन किया। गुरु ने कहा—तोते से जाकर कहना—वह मृतक का स्वांग कर जाय। शिष्य के कहने पर तोते ने ऐसा ही किया। गृह स्वामी ने तोते को मरा हुआ समझ कर पिंजड़े का द्वार खोल दिया। तोता अवसर पाकर उड़ा तो उड़ते हुये यह कहा कि—राम नाम रटने से भव वन्धन छूट जाताहै, यह वात सत्य है परन्तु कुँची गुरु के हाथ है। अतः विनु गुरु होइ कि ज्ञान—

कृपा होगी सेवा से ही। यथा—

कृपा कृपा सव कोइ कहैं, कृपा पात्र नहिं कोइ।
कृपापात्र सोइ जानिये,(जो)सव विधि सेवक होइ॥

पुनश्च— तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिनः॥

अर्थ—इसलिये तत्व को जानने वाले ज्ञानी पुरुषों से भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भाव से किये हुये प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जानो। वे तत्व वेत्ता ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। तात्पर्य यह कि विना गुरु की सेवा किये रहस्य वोध असम्भव है। इस पर—

दृष्टांत रसायनी का—एक फकीर रसायन विद्या (स्वर्ण निर्माण) जानते थे। वादशाह को जव यह मालूम हुआ तो उसने फकीर को वुलाकर रसायन विद्या सिखाने को कहा। परन्तु फकीरने इन्कार कर दिया। वादशाह का रोव इन शाहंशाह फकीरो पर भला चल ही कैसे सकता है। वादशाह का आग्रह व्यर्थ गया। तव उसने शक्तिका प्रयोग किया और फकीर को कैद में डाल दिया। परन्तु वादशाह को, चूँकि यह विद्या सीखने की सच्ची चाह थी अतः रात्रि में भेष वदल कर, एक गरीव भिस्ती का रूप धर कर कारागार में ही जाकर फकीर की सेवा करना प्रारम्भ किया। यथा सम्भव हर सेवा वड़े भाव से करता। फकीर ने यह जान तो लिया कि वादशाह ही है, तो भी खूव सेवा ली। क्योंकि विना सेवा के प्राप्त विद्या सफल नहीं होती है। एक दिन फकीर ने भिस्ती रूप धारी वादशाह से घर की स्थिति के सम्वन्ध में पूछा तो वादशाह ने वताया, साहव! वड़ा भारी परिवार है। वहुत वाल-वच्चे हैं। मैं उनका समुचित पालन पोषण नहीं कर पाता हूँ। आप कोई ऐसी दुआ दें जिससे सव परिवार सुखी हो जाय। (यहाँ परिवार से तात्पर्य-सम्पूर्ण राज्य की प्रजा से है) सन्त को दया आगई। उन्होंने रसायन विद्या सिखा दी। दूसरे दिन वादशाह ने फकीर को कारागार से मुक्त कर दरवार में उपस्थित करने का हुक्म दिया। फकीर आये। वादशाह ने मुस्कराते हुए कहा, फकीर साहव! आपने नहीं सिखाया, परन्तु

मैंने तो रसायन विद्या सीख ली। फकीरने हँस कर कहा—सीखे होंगे तो बादशाहत की रौब से नही, सेवा करके सीखे होंगे। बादशाह चरणों में पड़ गया। अतः श्रीनाभाजी भी गुरु-सेवा मे लगे हैं।

आपदा में कर्यौ ध्यान—क्योंकि 'भक्त भक्ति भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक। इनके पद बन्दन किये नाशै विघ्न अनेक।' 'खिच्यो मन छुट्यौ रूप सारसों' का भाव यह कि मानसी सेवा से हटकर शिष्य के संकट की ओर आकृष्ट हुआ। श्रीनाभाजी श्रीसन्त, सद्गुरु कृपा से दिव्य दृष्टि द्वारा यह सब देख रहे थे अतः ज्योंही श्रीगुरुदेवजी का मन सेवा से हटा, त्यों ही श्रीनाभाजी ने पंखे की हवा से समुद्र के भँवर में फँसे जहाज को बाहर निकाल दिया और श्रीगुरुजी को प्रणाम कर बोले—'गयो बोहित......दूर'। यहाँ श्रीप्रिया दासजी ने श्रीनाभाजी को समर्थ कहा है, यथा—'कहत समर्थ'। इसलिये कि दूर देश समुद्र में जहाज का संकट, सेवक का श्रीगुरु-स्मरण, श्रीगुरुदेव का मानसी सेवा से हटकर मन का सेवक-संकट की ओर आकृष्ट होना, यह सब बाते श्रीनाभाजी ने बिना किसी प्रत्यक्ष प्राप्त सकेत के ही, बिना ध्यान द्वारा देखे ही, स्वतः सहज ही जान ली और जान कर पंखेकी हवासे ही जहाजको विपत्ति से बाहर कर उसे गन्तव्य दिशा में बहुत दूर तक पहुँचा दिया अतः समर्थ कहा। एक बात यहाँ स्मरण रखने की है कि यहाँ उपर्युक्त सभी कार्य एक क्षण के अन्तर्गत ही हुए है कहने में बिलम्ब है, कार्य होने में बिलम्ब नहीं हुआ।

'फिरि ढरो ताही ढार सों'—बात यह थी कि उस समय श्रीअग्रदासजी मानसी में श्रीठाकुरजी को किरीट-मुकुट धारण कराने का उपक्रम कर रहे थे। प्रभु सिर झुकाये हुए थे। तब तक जहाजकी ओर ध्यान आकृष्ट हो गया। अतः आपने संकेत किया'ढरो ताही ढार सो'प्रश्न—क्या श्रीअग्रदास जी नही देख रहे है कि जहाज विपत्ति से बचकर बहुत दूर चला गया है,जो नाभाजी चेतावनी दे रहे है? समाधान—श्रीअग्रदासजी का मन खिचकर समुद्र तट पर ज्यों ही पहुँचा, नाभाजी ने जहाज को तुरन्त ही भँवरसे निकाल दिया था,तो ये समुद्रकी शोभा देखने में लगे थे। समुद्र भी एक भगवद्विभूति है यथा—'सरसामस्मि सागरः।' (गीता) तब नाभाजी को कहना पड़ा कि समुद्र तो शोभा सिन्धु प्रभु की एक कला मात्र है आप उसे छोड कर पूर्ण सौन्दर्य-माधुर्य-सुधासिन्धु प्रभु की ओर ही ढरें। श्रीअग्रदासजी ने कहा—बोल्यो कौन ? उत्तर—'पाल्यौ जौन सीथ दै दै' कैसा विवेक पूर्ण उत्तर है। यह नहीं कहते हैं कि 'मैंने कहा'। यह है 'अहं' का सर्वथा लय होना। श्रीनाभाजी जानते हे कि मैं तो ज्ञान चक्षु की कौन कहे, प्राकृत चक्षु से भी रहित था। परन्तु अब जो प्राकृत चक्षु के साथ-साथ ज्ञान चक्षु भी खुले हैं, यह सब गुरु-कृपा-प्रसाद का ही सुफल है।

अचरज दयो नयौ यहां लौ प्रवेश भयो, मन सुख छयो, जान्यो सन्तन प्रभाव को।
आज्ञा तब दई, "यह भई तोपै साधु कृपा उनही को रूप गुन कहौ हिये भाव को"॥
बोल्यो कर जोरि, 'याको पावत न ओर छोर,गाऊं रामकृष्ण नहीं पाऊं भक्ति दाव को।
कही समुझाइ, 'वोई हृदय आइ कहैं सब, जिनलै दिखाय दई सागर में नाव को ॥११॥

शब्दार्थ—यहाँ लौ=मेरे हृदय की सेवा एवं समुद्र तक। ओर छोर=आदि अन्त, वार-पार। दाव=युक्ति, उपाय, चाल,घात।

भावार्थ— (श्रीनाभाजी का उपर्युक्त कथन सुन कर श्री अग्रदेवजी को) महान् तथा नवीन आश्चर्य हुआ, मनमे विचारने लगे कि इसका यहां मेरी मानसी-सेवा तक प्रवेश कैसे हो गया और यहीं से जहाज की रक्षा कैसे की ? विचार करते ही उनके मन में वड़ी प्रसन्नता हुई। वे जान गए कि यह सब सन्तों की सेवा तथा उनके सीथ-प्रसाद ग्रहण का ही प्रभाव है, जिससे ऐसी दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई है। तब श्रीअग्रदेवजी ने आज्ञा दी कि–"तुम्हारे ऊपर यह साधुओं की कृपा हुई है। अब तुम उन्ही साधु सन्तो के गुण, स्वरूप और हृदय के भावो का वर्णन करो।" इस आज्ञा को सुनकर श्रीनाभा जी ने हाथ जोड़ कर कहा "भगवन् ! मैं श्रीरामकृष्ण के चरित्रो को तो कुछ गा भी सकता हूं, परन्तु सन्तो के चरित्रो का ओर-छोर नही पा सकता हूं क्योकि उनके रहस्य अति गम्भीर है, मैं भक्तों की भक्ति के रहस्य को नही पा सकता।" तब श्रीअग्रदेवजी ने समझा कर कहा—"जिन्होने तुम्हें मेरी मानसी सेवा और सागर में नाव दिखा दी, वही भक्त भगवान तुम्हारे हृदय मे आकर सब रहस्यो को कहेगे और अपना स्वरूप दिखायेंगे।।"

व्याख्या–अचरज दयो—से जनाया गया कि श्रीनाभाजी की सेवा निष्ठा से, कर्तव्य परायणता से, भक्ति, भगवन्त, गुरुमे अपार आस्था होनेसे श्रीअग्रदासजी यह तो अवश्य अनुभव करते थे कि यह कोई विशेष आत्मा है। परन्तु इसमें इतना अलौकिक चमत्कार है यह तो आज ही जाने अतः अचरज दयो। 'नयो' का भाव यह कि पूर्व भी कभी-कभी इनकी चमत्कार पूर्ण क्रियाओ से श्रीअग्रदासजी चमत्कृत हो जाते थे, परन्तु आज तो विशेप-विशेष बोध का परिचय पाकर नवीन आश्चर्य में पड़ गये। **'यहां लौं प्रवेश भयो'**—अर्थात् समुद्र में आपद् ग्रस्त जहाज को तो बचाया ही, मेरे मन की गति का भी अनुभव होने लगा, मानसी स्वरूप का भी साक्षात्कार होने लगा। शिष्यके मनकी बात गुरुजी जान जावे तो यह कोई विशेप बात नही, परन्तु गुरु के मन की बात शिष्य जानने लगे तो निश्चय ही यह विशेष बात है।

मन सुख छयो—सुयोग्य शिष्य पाकर सद्गुरुको प्रसन्नता होती है। हमारी भारतीय सस्कृति में गुरु शिष्य को अपने से अधिक योग्य होने पर गौरव का अनुभव करता है। यथा—"शिष्यादिच्छेत् पराजयम्"। परन्तु एक बात स्मरण रखने की है कि यह भाव सद्गुरु का है। नाम धारी गुरु तो शिष्योत्कर्ष देखकर कुढ़ने लगते हैं। जैसे श्रीरामानुजाचार्यजी के उत्कर्ष को देखकर उनके विद्या-गुरु यादव प्रकाशजी जलने लगे थे। (देखिये इनका प्रसंग) श्रीअग्रदासजी तो सद्गुरु है अतः मन सुख छयो।

'जान्यो संतन प्रभाव को'—शिष्य श्रीनाभाजी ने कहा—'पाल्यो जौन शीथ दै दै', अर्थात् जो कुछ भी चमत्कार हुआ है उसमें मूल आपका प्रभाव है, आपकी कृपा है। यह है शिष्य की निरभिमानता, तोश्रीगुरुजी की सावधानता देखे, उन्होने, उसे अपना न मानकर उसे 'जान्यो सन्तन प्रभाव को'। अर्थात् दिव्य-दृष्टि-दाता तो सन्त हैं। यथा—'सन्तोदिशन्तिचक्षूंषि' (भा०) **'उनहीं को रूप गुन कहौ हिय भावको'**—रूप से तात्पर्य भेष भूषा, रहनी-सहनी आदि से है। कण्ठी माला तिलक छाप से 'साधन-साध्यनिष्ठा आदि से हैं। सन्त-भेष की भी बड़ी महिमा है। यथा—

ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाक्षमालाः, ये वा ललाट पटले लसदूर्ध्वपुण्ड्राः।
ये बाहुमूल परिचिह्नित शङ्खचक्रास्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति॥ (पद्मपुराण)

अर्थ—जो कण्ठ में लगी तुलसी और कमलाक्ष की माला धारण किये हैं। भाल (ललाट) में सुन्दर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक दिये हैं और दोनों वाहुमूल में जिनके शंख चक्र के चिह्न हैं वे वैष्णव सब लोकों को शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं ॥ श्रीभक्तमालजी में वहुत से भेष निष्ठ भक्तों की चर्चा है जैसे मधुकर शाह, लालाचार्य, हंसभक्त आदि।

संत-गुण— यथा—

चौ०— 'सुनु मुनि सन्तन्ह के गुन कहऊँ। जिनते मैं उनके वस रहऊँ ॥
षट विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा ॥
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्यसार कवि कोविद जोगी ॥
सावधान मानद मद हीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना ॥

दो०— गुनागार संसार दुख रहित, विगत सन्देह।
तजि मम चरण सरोज प्रिय,तिन्ह कहुँ देह न गेह ॥

चौ०— निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं ॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती ॥
जप तप व्रत दम संजम नेमा। गुरु गोविन्द विप्र पदप्रेमा ॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया ॥
विरति विवेक विनय विज्ञाना। बोध जथारथ वेद पुराना ॥
दम्भ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ।
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला ॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते ॥
(रा० च० मा० अरण्य काण्ड)

सन्त-हिय-भाव से तात्पर्य उपासना में भगवत-भागवत एवं जीव मात्र के प्रति जो उनका भाव होता है। जैसे भगवान के साथ दास्य, सख्य,वात्सल्य, शृङ्गार आदि भाव। भक्तों के साथ ईश्वर,गुरु, गुरुभाई आदि भाव। जीवमात्र के साथ मैत्री भाव, आत्म भाव।

'याको पावत न ओर-छोर'—यथा—

को वरनै मुख एक, तुलसी महिमा सन्त की।
जिनके विमल विवेक, सेस महेस न कहि सकहिं ॥
महि पत्री करि सिन्धु मसि, तरु लेखनी बनाइ।
तुलसी गनपति सो तदपि, महिमा लिखी न जाइ ॥ (वैरा० सं०)

विधि हरि हर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी ॥
सो मोसन कहि जात न कैसे। साक वनिक मनि गुन गन जैसे ॥ (रा०)

पुनः— संत सरोवर अगम जल, निगम कलस भरि चार।
कह कबीर ता नीर के सब पण्डित पनिहार ॥

'पाऊं रामकृष्ण ...... दाव को'—भाव यह है कि भक्तों का रूप (वेप) तो वर्णन किया जा सकता है। उनके गुण भी यथाश्रुत, यथा दृष्ट, यथा मति गाये जा सकते हैं परन्तु उनके हृदयके भावको कहना तो अति ही कठिन है। श्रीभरत-भाव-वर्णनके प्रसंगमें श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—

> कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कवि मति अनुसरई।।
> कविहि अरथ आखर बल सांचा। अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा।।
> अगम सनेह भरत रघुवर को। जहँ न जाइ मन विधि हरि हर को।।
> सो मैं कुमति कहौं केहि भांती। बाज सुराग कि गाडर ताँती।।

धर्म निरूपण, ब्रह्म-विवेचन में समर्थ योगिराज ज्ञानि शिरोमणि श्रीजनकजी कहते हैं कि—**धर्म राज नय ब्रह्म बिचारू। इहां यथा मति मोर प्रचारू।। सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छल छुवति न छाँही।।** इसलिये श्रीनाभाजी कहते है कि नहिं पाऊँ भक्ति दाव को। क्योकि भक्तों के भाव वड़े ही विलक्षण होते हैं।

दृष्टान्त दो भक्तों का—दो सन्त कहीं रामत पर जा रहे थे। जगल में से होकर रास्ता था। सन्तो की दृष्टि एक हनुमानजी के अर्चा विग्रह पर पड़ी। वही जल-थल का सुपास देखकर ठाकुर सेवा पूजा, भजन साधन का मन हो आया। आसन लग गया। पुनः एक सन्त स्नान करने चले गये और एक सन्त वैठे थे आसनादि की सुरक्षा मे। श्रीहनुमानजी को चौड़े मे देखे। भाव आया कि आतप वर्षा वात में श्रीहनुमानजी को कष्ट होता होगा। एक झोपड़ी तो कम से कम होनी ही चाहिए। निश्चय हो गया कि—अव तो झोपड़ी तैयार करके ही स्नान ध्यान होगा। जंगल से फूस काष्ठ आदि एकत्रित किए। आनन-फानन में (अति शीघ्र ही) झोपड़ी तैयार हो गयी। झोपडी वनाकर सन्तोष की साँस ली। तव तक स्नानको गए सन्त भी आ गए। यह सब देखे, सोचे—जंगल है कोई रहता तो है नही, जंगल में आग लगती ही रहती है। यदि झोपडी में भी आग लग गई तो क्या होगा। सोचकर हृदय सिहर गया। फिर तो झोपड़ी उजाड़ देना चाहिये यह निश्चय हो गया। प्रथम तो झोपडी वनाने वाले सन्त से कहा, परन्तु वे भला कव उजाड़ते। वे तो खूब सोच विचार कर वनाये थे। तव वे स्वयं उजाड़ने को उद्यत क्यों होवें। वात वढ गयी, फरसा, कुल्हाड़ी, खतियां उठी। श्रीहनुमानजी से नही रहा गया। भला, आप इन भावुकों का अमंगल कैसे सह सकते, प्रगट हो गए। वीच वचाव हो गया। श्रीहनुमानजो ने कहा कि भाई वात तो दोनों की यथार्थ है अतः वीच का कोई रास्ता निकालो। जिसमें दोनो के भाव की रक्षा हो जाय। सन्तों ने श्रीहनुमानजी से ही पूछा। तव श्रीहनुमानजी ने कहा कि सामने एक चवूतरा वना दो, जव आग लगेगी तो चवूतरे पर आ जाऊँगा अन्यथा झोपड़ी में ही रहूँगा। ऐसा ही किया गया। यह है भक्तों का विलक्षण भाव, अतः 'नहिं पाऊँ भक्ति दाव को।'

दूसरा दृष्टांत—श्रीशुकदेवजी ने भगवान से मायासे वचने का वरदान मांगा और श्री-मारकण्डेय जी ने माया को देखने का वरदान माँगा। अतः 'नहिं पाऊँ भक्ति दाव को।' (देखिए इनके प्रसङ्ग छप्पय १५:१६)।

तीसरा दृष्टान्त—अन्तर्निष्ठ भक्त ने भगवान का नाम मुख से निकलते ही शरीर छोड़ दिया (छ० ५७) और श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी गुरुदेवजी के मना करने पर भी "गोपुर ह्वै आरूढ़ उच्च स्वर मंत्र उचारचो।" (छप्पय-३१)। अतः नहि पाऊँ भक्ति दाव को।'

चौथा दृष्टांत—एक सन्त श्रीनृसिंहजी को भजते थे। किसी ने पूछा कि रामकृष्ण को छोडकर इनकी उपासना क्यों करते है। उन्होने उत्तर दिया वे गृहस्थी है हम विरक्त है। विरक्त होकर गृहस्थ को क्यो भजें। हम तो विरक्त ठाकुर श्री नृसिह जी को भजते है। अतः 'नहि पाऊँ भक्ति दाव को।'

पाचवाँ दृष्टांत—श्रीवृन्दावनके एक सन्त रातके बारह बजे श्रीठाकुरजीको भोग लगाते थे। एक बार एक नवागन्तुक सन्त उनके आश्रम पर आये। उन्होंने कई दिन लगातार बारह बजे रात को ही जब भोग लगाते देखा तो उनसे रहा नही गया। पूछ ही बैठे—सन्त जी! यह रात के बारह बजे किस विधान के अनुसार आप भोग लगाते हैं, क्यों लगाते हैं? सन्त ने उत्तर दिया—दिन भर तो सभी लोग श्रीठाकुरजीको भोग लगाते ही रहते है। हमे तो इसी समय श्रीठाकुरजी निश्चिन्त बैठे मिलते है। अतः इसी समय भोग लगाता हूं। यह है भक्तों का विलक्षण भाव। तभी तो श्रीनाभाजी कहते है कि नहीं पाऊँ भक्ति दाव को।'

छठवाँ दृष्टांत—जहाँ आस्तिक जन अन्त समय में धाम प्राप्ति की अभिलाषा करते हैं कि—शरीर भगवद्धाम मे छूटे वहाँ परम भागवत श्रीभगवन्त मुदितजी के पिता का विलक्षण भाव देखते ही बनता है। जब उनका अन्त समय आया, शरीर बेसुध था। परिवार के लोग उनको आगरा से वृन्दावन ले चले। आधा मार्ग तय होने पर जब उनको सुधि आई और परिस्थिति का पता चला तो बड़े ही क्षुभित हो-कर बोले अरे अज्ञानियो! तुम लोग हमें कहाँ ले जा रहे हो, यह मलमूत्र का भाण्डागार शरीर श्रीवन में जाने योग्य नही है। श्रीवन श्रीप्रियाप्रियतम का नित्य विहार स्थल है। वहाँ पर इस अधम शरीर को जलावोगे तो युगल को दुर्गन्धि लगेगी। अरे, जाने वाला हंस (आत्मा) तो युगल के पास चला ही जावेगा। इस प्रकार वे पुनः घर (आगरा)को लौट आए। ऐसे भाव-राशि थे ये महानुभाव। अतः श्रीनाभाजी कहते है—'नहि पाउँ भक्ति दाव को।

सातवाँ दृष्टांत—विकट भक्त का—एक बार अर्जुन को गर्व हो गया कि मुझ से बढ कर भगवानका कोई भक्त नही है। सर्वान्तर्यामी प्रभुको यह ताड़ते देर न लगी। अर्जुनको लेकर घूमने का व्याज बना कर निकल पड़े सघन वन की ओर। वन प्रान्तमें अर्जुन ने देखा कि—एक नग्न पुरुष बाये हाथ में तलवार लिये, भूमि पर पड़े सूखे तृण खा रहा है। आश्चर्यचकित हो भगवान श्रीकृष्ण से पूछे इस अद्भुत जीव के विषय में। भगवान ने भी विस्मय का अभिनय करते हुये कहा कि मुझे तो कोई क्षीव (शराबी) मालूम पड़ता है। अर्जुन को इतने मात्र से सन्तोष नहीं हुआ। वे भगवान को एक शिलाखण्ड पर बैठा कर स्वयं जिज्ञासा का समाधान करने के लिये उसके पास गये और बड़ी ही विनम्रता पूर्वक—हाथ में तलवार लेने और सूखे तृण खानेका हेतु पूछे। पहले तो उस महामानव ने बताने में आना कानी की परन्तु जब अर्जुन का अग्रह जारी ही रहा तो उन्होंने बताया—इस अधम शरीर की रक्षा लिये, दग्ध उदर की पूर्ति के लिये मुझे कोमल शिशु तृण राशिका संहार उचित नही प्रतीत होता है अतः

सूखा तृण खा रहा हूँ। अर्जुन का आश्चर्य और भी बढ गया। कहाँ तो यह सार्वभौम अहिंसा महाव्रत और कहाँ हाथ मे नग्न तलवार। रहस्य समझ मे नही आया अतः पुनः प्रणाम कर पूछे तृण पर्यन्त समस्त प्राणियो को अभय देने वाले अहिंसा महाव्रत के पालन के साथ-साथ तलवार भी धारण करने का हेतु। बताने की अनिच्छा होने पर भी अर्जुन का विशेष आग्रह देख कर उन्होने कहा—यदि तुम मेरे शत्रुओ को मारने की प्रतिज्ञा करो तो मै तुम्हे यह बात बताऊँ। अर्जुन ने प्रतिज्ञा कर ली। तब उस दिगम्बर ने कहा—एक शत्रु तो मेरा है वह ब्राह्मणाधम, जिसने मेरे प्रिय प्रभु को शयन करते समय वक्षःस्थल पर तीव्र पद-प्रहार किया, जिसका चिन्ह आज भी प्रभु के हृदय देश मे ज्यो का त्यों बना हुआ है। ध्यान मे जब मैं प्रभु के उस चिन्ह को देखता हूँ तो मेरे हृदय मे बडी वेदना होती है। मैं उस चिन्ह को नही मिटा सका तो उस भूकलङ्क ब्राह्मण को ही मिटा डालूँगा। दूसरा शत्रु है, जिसके विनाश के लिये मैने तलवार ले रखी है, वह है एक स्त्री, जिसके पाँच-पाँच पति हैं। उस स्त्री ने दुर्वासा के शाप से बचने के लिये अपना जूठा शाक मेरे प्रिय प्रभु को खिलाया था। यदि वह स्त्री कही दीख जाय तो मेरा यह खड्ग उसे अवश्य चाट जाय और मेरा तीसरा शत्रु है, वह क्षत्रियाधम,जिसने मेरे प्रिय प्रभु को घोड़ों की लगाम हाथ मे सौंप कर सारथी बनाया था, दूसरे से शक्ति उधार लेकर जो मन मे अपने को वीर मानता है। यह सुन कर अर्जुन को अब भान हुआ कि मैं कितने पानी मे हूँ। उन्होने कहा योगिन्! आप अपनी तलवार मुझे दे दीजिए। मैं प्रतिज्ञा करता हूं,इसी क्षण मैं आपको उस क्षत्रियाधम का मुण्ड दिखला रहा हूँ। उस महामानव ने कहा—"तब तो इस तलवार के साथ मेरा वेदोक्त आशीर्वाद लो और शीघ्र ही विजयी होकर लौटो। यह कह कर वह दिगम्बर तलवार अर्जुन को देकर अर्जुन के देखते–देखते भगवान् के हृदय मे प्रविष्ट हो गया। अर्जुन का अहकार गल कर पानी हो गया। (सत्कथाक) यह है भक्तो का विलक्षण भाव, जिसे जानना निश्चय ही अत्यन्त कठिन है,अतः श्रीनाभाजी कहते है कि—'गाऊँ रामकृष्ण पै न पाऊँ भक्ति दाव को।'

आठवाँ दृष्टांत - बाबा रामकृष्णदास का—यह प्रसङ्ग अभी कुछही वर्षो का है। श्रीधाम श्रीवृन्दावन मे परम रसिक बाबा रामकृष्णदासजी एव स्वामी शरण बाबा विराजते थे। बाबा रामकृष्णदास जी का नियम था कि केवल ब्रजवासियो के यहाँ की वस्तु स्वीकार करते। एक बार एक बाहर से आये हुये श्रद्धालु सज्जन बाबा रामकृष्ण दास जी का दर्शन करने गये तो साथ मे भेंट के लिये प्रचुर फल फूल ले गये परन्तु उनके लाख प्रयत्न करने पर भी बाबा ने कुछ भी स्वीकार नही किया। तब वही सज्जन उन्ही फल फूलो को लेकर स्वामी सरन बाबा का दर्शन करने गये तो बाबा बड़े ही प्रसन्न हुये। बोले—वाह! तुमने बहुत अच्छा किया। सत के यहाँ खाली हाथ नही जाना चाहिये। जाय तो कुछ लेकर जाय। तुरन्त ही फलो का भोग श्रीठाकुर जी को लगा। तब तक बाबा रामकृष्ण दास जी भी वही आ गये, बाबा स्वामी सरनजी से सत्सग करने लगे। श्रीस्वामीशरण बाबाने सर्व प्रथम श्रीबाबा रामकृष्ण-दासजीको प्रसाद देकर,फिर और लोगोंको दिया। बाबा रामकृष्णदासजीने तुरन्त प्रसाद पालिया। क्योंकि अब तो यह फल-फूल ब्रजवासी बाबा का हो गया था। यह है सतों का अद्भुतभाव। अत. गाऊँ रामकृष्ण पै न पाऊँ भक्ति दावको।'बोई हृदय आइ कहैं सब'—हुआ भी ऐसा ही।ध्यान करते ही सब सन्त श्रीनाभा जी के हृदय मे आ विराजते और उनका स्वरूप, गुण, स्वभाव, निष्ठा, रहनि आदि समस्त बाते इनके हृदय मे भासित होने लगती थी।

श्रीनाभा जी का चरित्र वर्णन

हनूमान वंश ही में जनम प्रशंस जाको भयो दृगहीन सो नवीन बात धारिये।
उमरि वरष पाँच मानि कै अकाल आँच माता वन छोड़ि गई विपति विचारिये॥
कील्ह औ अगर ताहि डगर दरश दियो लियो यों अनाथ जानि पूछी सो उचारिये।
बड़े सिद्ध जल लै कमण्डलु सों सींचे नैन चैन भयो खुले चख जोरी को निहारिये॥१२॥

शब्दार्थ—प्रशंस=बडाई के योग्य,वन्दनीय। दृगहीन=अन्धे। नवीन=नई,अनुपम। अकाल=दुर्भिक्ष। आंच=दुःख। चैन=सुख। जोरी=जोड़ी, दो।

भावार्थ—श्रीनाभा जी का जन्म प्रशंसनीय हनूमान वंश में हुआ था। आश्चर्य जनक एक नई वात यह जानिये कि ये जन्म से ही नेत्रहीन थे। जव आपकी आयु पाँच वर्ष की हुई, उसी समय अकाल के दुःख से दुखित माता इन्हें वन मे छोड़ गई। माता और पुत्र दोनों के लिये यह कितनी वड़ी विपत्ति थी। इसे आप लोग सोचिये। दैवयोग से श्रीकील्हदेव जी और श्रीअग्रदेवजी दोनों महापुरुष उसी मार्ग से दर्शन देते हुये निकले। वालक नाभा को अनाथ जान कर, जो कुछ दोनों ने पूछा, उसका इन्होंने उत्तर दिया। वे वड़े भारी सिद्ध सन्त थे। उन्होंने अपने कमण्डल से जल लेकर नाभा जी के नेत्रों पर छिड़क दिया। सन्तों की कृपा से नाभा जी के नेत्र खुल गये और सामने दोनों सन्तों को उपस्थित देख कर इन्हें परम आनन्द हुआ॥१२॥

व्याख्या—हनूमान् वंश—दक्षिण देश में एक व्राह्मण थे। सव प्रकार से सम्पन्न होने पर भी सन्तान विना दुःखी रहते थे। एक वार एक संत आपके घर आये। इन्होने संत का वड़ा सत्कार किया। दयालु चित्त सन्त इनकी सेवा से वड़ेही प्रसन्न हुये और कुशल-मङ्गलके सिलसिले में इनकी उदासी का कारण पूछे तो इन्होंने अपनी मनो व्यथा सन्त से निवेदन की। सन्तजी ने श्रीहनुमानजी की आराधना वताई और श्रीहनुमान जी में विश्वास दृढ़ करने के लिये इस भाव का पद सुनाया—

जाके गति है हनुमान की।
ताकी पैज पूजि आई यह रेखा कुलिस पषान की॥
अघटित घटन सुघट विघटन ऐसी विरुदावली न आन की।
सुमिरत संकट सोच विमोचन मूरति मोद निधान की॥
तापर सानुकूल गिरिजा हर लखन राम अरु जानकी।
तुलसी कपि की कृपा विलोकनि खानि सकल कल्यान की॥

व्राह्मणने संत की वात में विश्वास कर,अति विश्वास पूर्वक सन्तान की इच्छा से वारह वर्ष तक श्रीहनुमान जी की आराधना की। श्रीहनुमान जी ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया और वर माँगने को कहा। व्राह्मण ने पुत्र का वर माँगा। श्रीहनुमान जी तो भक्ति का, भगवान का संयोग कराने वाले है सो व्राह्मण ने श्रीहनुमान जी से भक्ति न माँग कर भगवद्दर्शन न चाह कर पुत्र माँगा। तभी तो कहा गया है—"सुत

विल लोक ईषना तीनी। केहि कर मति इन्ह कृत न मलीनी।" (मानसे)। हाँ तो श्रीहनुमान जी ने कहा, भाई! पुत्र का ठेका तो हमारा नही है यह तो भगवान के अधीन है। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिशंविसन्ति॥" अर्थ—उस परमात्मा से ही सभी प्राणी जन्म लेते हैं, पलते है और उसमे ही पुन. प्रविष्ट हो जाते है इसलिये पुत्र प्राप्ति निमित्त तो भगवान से कहना पड़ेगा। तुरन्त श्रीहनूमान जी ने जाकर भगवान से निवेदन किया। भगवान ने कहा—इस ब्राह्मण को तो सात जन्म तक पुत्र का संस्कार ही नही है। श्रीहनुमान जी ने आकर ब्राह्मण से यह वात कही। ब्राह्मण ने कहा—महाराज! यदि मेरे भाग्य में पुत्र लिखा होता तो मैं आपके द्वार का भिखारी क्यो वनता। आप समर्थ हैं। यथा—'समरथ सुवन समीर के रघुवीर पियारे।" आप 'अघटित घटन' हैं, अत: जैसे भी हो आप कृपा करें। श्रीहनुमान जी अपने सहज कोमल स्वभाव एवं ब्राह्मण के इस चातुर्य से प्रसन्न हो गये और पुत्रवान होने का वर देते हुये कहे कि मैं स्वयं ही तुम्हारा पुत्र वनूँगा। इसी वरदान के फलस्वरूप कालान्तर मे श्रीहनुमान जी ब्राह्मण पुत्र वने। चूँकि यह वात प्रसिद्ध थी कि ब्राह्मण के कोई सन्तान नही है अत: पुत्र जन्म के वाद जव ब्राह्मण को गोद मे लिये पुत्र को कोई देखता तो सहज ही पूछ देता, यह किसका वालक है? अथवा क्या यह आपका पुत्र है? तो ये भाव-विभोर होकर सहज ही कहते कि श्रीहनुमान जी का पुत्र है। यह नही कहते कि श्रीहनुमान जी ही हैं। परिणामस्वरूप आगे चल कर इस वंश का नाम ही हनुमान वश हो गया। यहाँ एक प्रश्न होगा—कि जव ब्राह्मण के प्रारब्ध में पुत्र था ही नही, भगवान ने भी इनकार-कर दिया था, तो फिर श्रीहनुमान जी ने कैसे पुत्र का योग वनाया? समाधान—भगवान के भक्त प्रारब्ध भी वदल सकते हैं, मिटा सकते हैं, नये भाग्य का निर्माण कर सकते है। इस पर—

दृष्टांत—संत मस्ताने का—एक सन्तसेवी सेठ थे। धन-धान्य से परिपूर्ण होकर भी सन्तान विना दुखी रहते थे। एक वार सत सेवा के प्रभाव से इन्हे श्रीनारद जी का दर्शन हुआ और इन्होने देवर्षि वर्य से सन्तान के सम्वन्ध मे जिज्ञासा की। श्रीनारद जी ने भगवान से पूँछ कर वताने को कहा। कुछ दिन वाद श्रीनारद जी ने पुन: सेठ जी को दर्शन दिया और कहा, भगवान ने तो कहा है कि सात जन्म तक तुम्हे पुत्रहीन रहना है। सेठ भी यह सुनकर निराश हो गये। एक दिन रात में लगभग दस वजे एक सन्त ने आवाज लगाई—'भाई मैं भूखा हूँ। जो मुझे एक रोटी देगा, उसको एक वेटा, दो देने वाले को दो वेटा, तीन देने वाले को तीन आदि-आदि।

सेठ जी ने प्रसन्न मन से सन्त को चार रोटियाँ दी। परिणामस्वरूप सेठ जी चार पुत्र वाले भी हो गये। कुछ दिन के वाद श्रीनारदजी पुन: उसी मार्ग से लौटे। सेठ जी ने नारद जी का स्वागत किया। पुत्रों से दण्डवत प्रणाम करवाया। नारद जी ने पूछा—ये वालक किसके हैं? सेठ जी ने समस्त वृत्तान्त वतलाया। श्रीनारद जी झुँझलाए हुये भगवान के पास गये। उलाहना दिये कि—आपने मुझसे कहा था कि कई जन्म तक उसे पुत्र का योग ही नही है और मैं आँखो से देख आया सेठ की गोद मे विनोद करते हुए चार-चार वालक। भगवान ने कहा कि—मैंने थोड़े ही उसे पुत्र दिया है। यह तो मेरे एक भक्त की कृपा से हुआ है, जिसके वचन को मैं भी मिथ्या नही कर सकता। श्रीनारद जी आश्चर्य चकित हो गये। ऐसे भक्त विशिष्ट को देखने की इच्छा जागृत हुई। सर्वान्तिर्यामी भगवान तुरन्त ही देवर्षि के मनकी जान गए और उनकी जिज्ञासा का समाधान करने के लिए पेट दर्द का वहाना किये। औषधि पूछने पर किसी भक्त का कलेजा माँगे। नारदजी चले खोजने, परन्तु निराश लौटे। राह मे लेटे मस्ताने सन्त मिले।

मस्ताने सन्त ने श्रीनारद जी से उनकी व्यग्रता का कारण पूछा और जब प्रभु के पेट दर्द की बात मालूम हुई तो उन्होंने तुरन्त चाकू लेकर यह कहते हुए कि भला यह शरीर और कौन से काम में आएगा। दिल निकालने को उद्यत हुए। भगवान तत्काल प्रगट हो गए और बोले नारद जी ! ऐसे भक्तों की बात रखनी ही पड़ती है। श्रीनारद जी को भी अपनी भूल का भान हुआ कि कलेजा तो मेरे भी पास था परन्तु मैं न दे सका। धन्य हैं ऐसे भक्त। श्रीहनुमान जी तो ऐसे भक्तों में भी शिरोमणि है। अतः यदि उस पुत्र संस्कार हीन ब्राह्मण को पुत्रवान बनाए तो इसमें आश्चर्य ही क्या। इसी हनुमान वंश में श्रीनाभा जी महाराज का प्रादुर्भाव हुआ था। आप ब्रह्मा जी के अंशावतार हैं। यथा—

भे नाभा अज अंश कृष्ण ने शापहिं दीयो।
हरे ग्वाल अरु वत्स महा अपराधहिं कीयो॥
जानत हू भा मोह ताहि ते अन्धे जाये।
शापमुक्त ह्वै गये गुरू के दरशन पाये॥ (भ०व०टि०)

श्रीभक्तमाल तिलककार स्वर्गीय श्रीसीताराम शरण 'भगवान प्रसाद' रूपकला जी अपने भक्ति सुधास्वाद तिलक में श्रीनाभाजी के जन्म के सम्वन्ध में लिखते हैं कि—स्वामी श्रीनाभा जी का नाम 'नभभूज' है, आप अयोनिज पुरुष हैं, आपकी जाति तो कोई नहीं; आप श्रीहनुमंत-स्वेद से है, अतएव हनुमान वंशी प्रसिद्ध है। "श्रीसूर्य भगवान से विद्या पढ़नेके अनन्तर जिस समय श्रीअंजनीनन्दन पवनतनय श्रीहनुमान जी श्रीशिव जी के समीप योग सीख रहे थे, उस समय यौगिक विचार के परिश्रम से जो स्वेद (पसीना) मारुति भगवान के अङ्ग से निकला, उसको भक्तिरत्न के कोषाध्यक्ष त्रिकालज्ञ जगद्गुरु श्री-शिवजी ने एक पात्र में रख लिया। कालान्तर में श्रीभगवद् भक्ति के विवर्द्धन के निमित्त उसी को नभ से भू में निक्षेप किया—इसी से इनका नाम—"नभभूज" हुआ जो कि "नाभा जी" के नाम से प्रसिद्ध है। हनुमानवशी इसी से कहलाये। अयोनिज पुरुष की जाति कोई नहीं॥ वह पसीना (स्वेद) उस समय का था कि जब आप नेत्रों को वन्द किये योग की पराकाष्ठा दशा (समाधि) में थे, अतएव श्रीनाभा जी वाह्य नयनों से हीन (परन्तु अन्तःकरण की दिव्य दृष्टि से अनुपम रहस्य के देखने वाले) हुये। 'नवीन वात'—यह थी कि इनको नेत्र के निशान तक नही थे।

मानिकै अकाल आँच—**शाहंनशाह चोरी करे, कोमल बनै कठोर। पुण्यवान पापी बनै, क्षुधा आँच अति घोर॥ 'माता वन छोड़ि गयी'**—अकाल से अत्यन्त पीड़ित होने पर जब अपने देश में शरीर का निर्वाह करना असम्भव हो गया तो माँ अपने इस दृगहीन बालक को लेकर गाँव छोड़ कर अन्यत्र के लिये चल दी। परन्तु दैव दुर्विपाकवश वन-पथ से जाते हुये माँ बेटे को जब लगातार कई दिन तक कुछ खाने पीनेको नहीं मिला तब,जब अपना ही शरीर सँभालना मुश्किल हो रहा था ऐसी दशा मे बालक को लेकर चलना कितना कठिन है यह स्वयं अनुमान किया जा सकता हैं। यद्यपि माँ के हृदयमें पुत्र के प्रति अपार स्नेह होता है परन्तु विपत्ति मे विरले ही लोगों की वुद्धि धीर रहती हैं। 'दुःखेषु अनु-द्विग्नमना' ऐसे स्थित प्रज्ञ लोग होते ही कितने है। माँ से जब कष्ट असह्य हो गया तो पुत्र को भगवान के भरोसे छोड कर स्वयं वहाँ से चलती भई। श्रीराम भरोसे पर छोड़ने का परिणाम यह हुआ कि 'कील्ह औ अगर ताहि डगर दरश दिये' और इनकी रक्षा हो गई। तभी तो कहा गया है कि—

तुलसी विरवा बाग को, सींचे ते कुम्हिलाय।
राम भरोसे जो रहैं, पर्वत पर हरियाय॥

यहाँ यह शङ्का उठाकर कि, एक तो माता, जिसके सम्बन्ध मे यह अतिप्रसिद्ध उक्ति है कि— 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।' वह भला अपने पुत्र को, उसमे भी अबोध पाँच साल के बालक को, उसमे भी अन्धा, उसमे भी वन मे भला कब छोड़ने वाली है अत 'माता वन छोड़ गई का यह भी अर्थ किया जाता है कि माता इन्हे वन में छोड़ कर गई अर्थात् परलोक चली गई।

विपत्ति विचारिये—माँ घोर विपत्ति विचारकर इन्हे छोडकर चली गई। पुनः'विपत्ति विचारिये' का भाव—विपत्ति का कोई नही साथी। माँ भी बेटे को छोड़ कर चली गई। इसी से कहा है, 'मातु पिता स्वारथ रत ओऊ'। ससार तो स्वार्थ का साथी है, सम्पति का साथी है। यथा—

सुनु रहीम सम्पति सगे, बनत बहुत बहुरीति। विपति कसौटी जे कसे, तेई साँचे मीत॥

बडा ही सुन्दर किसी कवि ने लिखा है—

स०— वारिधि तात हुले विधि से सुत आदित सोम सहोदर दोऊ।
रम्भा रमा तिनकी भगिनी मघवा मधुसूदन से बहनेऊ॥
तुच्छ तुषार इतौ परिवार भयौ सर मध्य सहाय न कोऊ।
सूखि सरोज रह्यौ जल में सुख सम्पति में सबको सब कोऊ॥

पुनः— तुलसी कुसमौ के परे क्यों काहू को नाँहि।
घर की नारी को कहे तन की नारी नाँहि॥

श्रीनाभा जी के साथ भी ऐसा ही हुआ। विपत्ति पर विपत्ति। पाँच साल की अवस्था, नेत्रहीन, वन मे, भूखे प्यासे, एक सहारा माँ थी, वह भी चलती बनी अतः नाभा जी की विपत्ति विचारिये।

दृष्टान्त—गोस्वामी तुलसीदासजी का—अभुक्त मूल नक्षत्रमे जन्म होने से पिताने त्याग दिया। यथा—जनमेउ सुत मोर अभागो महा। सौ जियै वा मरै मोहिं सोक नहीं॥ माताके कहने से चुनियाँ दासी अपने घर हरिपुर ले गयी। परन्तु विधि की विडम्बना तो देखिये, पाँच साल के बाद वह भी असहाय बालक राम बोला (तुलसी) को छोड कर परलोक चली गई। तब श्रीशिव पार्वती ने सार-सँभाल किया। स्वप्न में आदेश देकर श्रीनरहरियानन्द को लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा का दायित्व सौपा। श्रीसद्गुरुदेव नरहरियानन्द को पाकर तुलसीदास सनाथ हुये और श्रीकील्हदेव,अग्रदेवजी को पाकर नाभा जी सनाथ हुये। धैर्य ने साथ नही छोड़ा था। जिसका परिणाम यह हुआ कि यही बालक आगे चल कर जगदुद्धारक सिद्ध हुआ। सच तो यह है कि प्रायः महापुरुष विघ्नों, विपत्तियो के बीच जन्म लेते है, जीते है, जगते हैं, एवं जगत को जगाते है, धैर्य ही उनके जीवन का सम्बल होता है वे इस निश्चय के साथ कि—कहैं रतनाकर जौं सुख के रहे ना दिन तौ ये दुख द्वन्द को न रातें रहि जायँगी। अपने मार्ग में बढ़ते ही जाते है। मानों वे यह सिद्ध करते है कि धैर्य पूर्वक विपत्ति सहते हुए लक्ष्य प्राप्ति मे लगे रहने से विपत्ति बाधक नही साधक ही होती है।

पूछी सो उचारिये—प्रश्न—१—तू कौन है? उत्तर—शरीर पच भूतों का संघात है, आतमा अनाम है। ऐसी स्थिति मे मैं अपने को कौन बताऊँ, यह मै नहीं जानता। ठीक भी है। 'माया

ईश न आपु कहँ, जाम कहिय सो जीव' ॥ प्रश्न २—कहाँ से आये हो ? उत्तर—जीव का किसी निश्चित स्थान से, निश्चित स्थान तक आना जाना नही होना । कर्मानुसार सुख दुःख भोगता हुआ भटकता रहता है, स्वर्ग, नरक, मृत्युलोक आदि में । यथा—'कर्म प्रधान विश्व करि राखा । जो जस करै सो तस फल चाखा ।' प्रश्न ३—तुम्हारा रक्षक कौन है ? उत्तर—जो सबका रक्षक है । देखा भी गया है—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं, सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥

अर्थ—दैव जिसकी रक्षा करता है वह लोक दृष्टि से अरक्षित होने पर भी सुरक्षित रहता है । और दैव जिसको नष्ट करने पर तुल जाता है, वह सुरक्षित रहने पर भी विनष्ट हो जाता है । दैव रक्षित वन में छोड़े जाने पर भी जीवित रहता है । दैव का मारा हुआ घर में सुरक्षित रहने पर भी नहीं जीता है ॥

कवीरदासजी ने भी यही बात कही है, यथा—'**जाको राखै साइयाँ, मारि सकै नहिं कोय । बाल न बांका करि सकै, जो जग बैरी होय**' ॥ इस प्रकार श्रीनाभाजी ने श्रीकील्हदेवजी के प्रश्नों का बड़ा ही तात्विक समाधान किया । उनके मुँह से बर बस निकल पड़ा—'**होनहार विरवानके होत चीकने पात**' '**खुले चख**'—**संतोदिशन्ति चक्षूँषि बहिरर्कः समुत्थितः ।**......॥ (भा०११-२६-३४) ॥ अर्थ —जैसे सूर्य आकाश में उदय होकर लोगों को जगत तथा अपने को देखने के लिये नेत्र दान करते है, वैसे ही सन्त पुरुष अपने को तथा भगवान को देखने के लिये अन्तर्दृष्टि देते है ।'**चैन भयो**'के दो हेतु—१—चख खुल्यो, २—जोरी को निहारिये । प्रथम हेतु सामान्य है । दूसरा विशेष है । क्योंकि- "**सन्त मिलन सम सुख जग नाहीं ।**" '**गिरिजा सन्त समागम, सम न लाभ कछु आन**' । "**तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अङ्ग । तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग**" ॥ और उसमें भी सद्गुरु मिले । श्रीकबीरदास जी कहते हैं—"**तीरथ न्हाये एक फल, सन्त मिले फल चारि । सद्गुरु मिले अनेक फल, कहहिं कबीर बिचारि** । श्रीनाभा जी को सन्त रूप में सद्गुरु मिले अतः चैन भयो ॥

ज्ञातव्य—यहाँ श्रीनाभाजी को हनूमान् वंश में जन्म लेना कहा गया है । आगे छप्पय १०७ में श्रीनाभाजी ने भक्त लाखाजी को वानर बंशी कहा है । यथा—'**परम हंस वंसनि में भयो विभागी वानरो** ।' और छप्पय के इस तुक की टीका करते हुये श्रीभक्तमालजी के आदि टीकाकार श्रीप्रियादास जी लिखते है कि—'**लाखा नाम भक्त वाको वानरो बखान कियौ कहे जग डोम जासों मेरो शिरमौर है,** अर्थात् लाखाजी वानर वशी(हनूमान वंशी)तथा डोम वंशी थे । परन्तु यहाँ एकबात स्मरण रखनेकी है कि यहां जो'डोम'शब्द है वह कत्थक ब्राह्मणोंके सम कक्ष नृत्यगान प्रबीन मारवाड़मे निवास करने वाली जाति है । श्रीप्रियादासजी ने छप्पय ५६ मे वर्णित एक भागवत राजा के प्रसग को टीका करते हुये डोम शब्द को भाट के साथ प्रयुक्त किया है । यथा—'**राजा भक्तराज डोम भांड़ कौ न काज** ।' इससे सिद्ध होता है कि डोम यह भाटों से मिलती जुलती नृत्य-गान प्रवीन जाति है ।

रीवाँ नरेश श्रीरघुराज सिंह जी अपनी 'राम रसिकावली' भक्तमाल में श्रीनाभाजी को लांगूली ब्राह्मण-वंश का सुस्पष्ट कहा है यथा—'**सो शिशु लांगूली द्विज केरो**' इससे स्पष्ट होता है कि वानर वश अथवा हनुमान वंश या डोम वंश, यह कत्थक ब्राह्मणो के समकक्ष एक ब्राह्मण वंश ही है । विद्वानों के मत से श्रीनाभाजी इसी वंश के थे ।

एक वार जयपुर नरेश महाराज मानसिंहजी श्रीअग्रदासजी से अनुनय विनयकर उपदेश श्रवणार्थ श्रीनाभाजी को, जयपुर लिवा ले गये। उपदेश सुनकर वड़े प्रभावित हुए। राज दरवार के पण्डितों को श्रीनाभाजी का यह प्रभाव ईर्ष्या का विषय वन गया और श्रीनाभाजी से भिड गये। राजदरवार में राजा के सामने ही तरह-तरह के प्रश्न किये। परन्तु सवका समुचित उत्तर पाकर, हार कर अन्त में श्रीनाभाजीका मान भङ्ग करनेके लिये विना-सोचे समझे जाति सम्वन्धी प्रश्न किये। प्रथम तो श्रीनाभाजी ने उनके प्रश्न को ही व्यर्थ ठहराया-यथा—'जाति न पूछो साधु की,पूछि लेहु तुम ज्ञान। मोल करो तरवार का, पड़ा रहन दो म्यान।' पुनः—अर्चावतारोपादानम्, वैष्णवोत्पत्तिचिन्तनम्। मातृयोनि परीक्षां च तुल्यमाहुर्मनीषिणः॥ (प० पु०) अर्थ—भगवद्विग्रह की उत्पत्ति का उपादान कारण कि यह धातु की है या पाषाण की, वैष्णवों की उत्पत्ति, और मातृ योनि परीक्षा करना, इन तीनों को पण्डित जन तुल्य कहते है। अर्थात् ये महापाप है। फिर आपने कहा—मृतक चीर, जूठनि वचन, काक विष्ट अरु मित्र। शिव निरमालय आदि दै, ये सब वस्तु पवित्र॥ दोहे का स्पष्टीकरण—

> वायस के विष्टा ते पवित्र जानि पीपर को, मृतक की चीर मृग-छाल जग जानिये।
> शंभु निर्मल्यि गंगा जानो त्योंही जूठन हैं वच्छ को सरस क्षीर-फेन उर आनिये॥
> माछीते महक है उछार सुनो जानै जग इनमें न दोष यह निश्चै ग्रन्थ वानिये।
> ऐसे ही प्रगट काहू कुल में जु साधु होइ सदा है स्वरूप शुद्ध पूज्य मन मानिये॥

भावार्थ—काक विष्ठासे उत्पन्न पीपल मनुष्यों की तो वात ही क्या देवताओं द्वारा भी पूज्य है। काक विष्ठा समुत्पन्नो अश्वत्थ प्रोच्यते बुधैः। दैवैरपि नरैर्वापि पूज्य एव न संशयः॥(पद्मपुराण) मृतक मृग का चीर, उसका चर्म अर्थात् मृगछाला सदा पवित्र है। वछडे का जूठन दूध सदा पवित्र होता है। शिवनिर्मालय श्रीगङ्गाजी सदा परम पावनी हैं। मधुमक्खी और भौरे सभी पुष्पो को सूँघते है परन्तु वह सदा पवित्र ही होते है। वे पुष्प और उन पुष्पो से वना इत्र भगवान को चढता है। ऐसे ही वैष्णव किसी भी कुल मे उत्पन्न हो वे सदा पूज्यतम ही हैं।

श्रीनाभाजी के इस शास्त्र सम्मत वचन को सुनकर पण्डित लोग वड़े ही लज्जित हुये तव उनका सोच मिटाने के लिये परम साधु श्रीनाभाजी वात का पैतरा वदल कर वोले—आप लोग तो सर्वशास्त्र ज्ञाता हैं। सव जानते है परन्तु हमारे मुख से सुनने के लिये ऐसा प्रश्न किये। आप लोगोके साथ शास्त्र-सम्वन्धी विचार कर मैं अपने को धन्य मानता हूँ। धीर नाभाजी के इन गम्भीर वचनो से व्राह्मण भी वड़े प्रभावित हुये।

> **पांय परि आंसू आये कृपा करि संग लाये कील्ह आज्ञा पाइ मन्त्र अगर सुनायो है।**
> **गलते प्रगट साधु सेवा सो विराजमान जानि अनुमानि ताही टहल लगायो है॥**
> **चरण प्रछाल सन्त,सीथ सों अनन्त प्रीति जानी रस रीति ताते हृदै रंग छायो है।**
> **भई वढ़वारि ताकौ पावै कौन पारावार जैसो भक्ति रूप सो अनूप गिरा गायो है॥१३॥**

शब्दार्थ—चरण प्रछाल=चरणोदक। सन्त-सीथ=साधुओ की जूठनि, वढ़वारि=वटना। पारावार=ओर-छोर, आदि-अन्त।

भावार्थ—दोनों सिद्ध महापुरुषों के दर्शन कर नाभा जी उनके चरणों मे पड़ गये। उनके नेत्रों में आँसू आ गये। दोनों सन्त कृपा करके बालक नाभाजी को अपने साथ लाये। श्रीकील्हदेवजी की आज्ञा पाकर श्रीअग्रदेवजी ने इन्हे राम मन्त्र का उपदेश दिया और 'नारायणदास' यह नाम रखा। गलता आश्रम (जयपुर) में साधु सेवा प्रकट प्रसिद्ध थी। वहाँ सर्वदा सन्त-समूह विराजमान रहता था। श्रीअग्रदेव जी ने सन्त सेवा के महत्वको जानकर और सन्त सेवासे ही यह समर्थ होकर जीवों का कल्याण करने वाला वनेगा, यह अनुमान कर नाभाजी को सन्तों की सेवा में लगा दिया। सन्तों के चरणोदक तथा उनके सीथ-प्रसादका सेवन करने से,श्रीनाभाजी का संत पादोदक एवं सीथ प्रसाद में अपार प्रेम हो गया। इन्होंने भक्ति रस की रीतियां जान ली। इससे इनके हृदयमें अद्भुत प्रेमानन्द छा गया। हृदय में भक्त-भगवान के प्रेम की ऐसी अभिवृद्धि हुई कि जिसका ओर-छोर भला कौन पा सकता है। इस प्रकार श्रीनाभा जी जैसे मूर्तिमान भक्तिके स्वरूप हुये,वैसे ही सुन्दर वाणी से इन्होंने भक्तमाल में भक्तों के चरित्रों को गाया है ॥१३॥

व्याख्या—'पांय परि'—प्रेम वश चरणों में पड़े। यथा—'गहे चरण अति प्रेम अधीरा।' 'प्रेम विवस पुनि-पुनि पद लागी' पुनः—कृतज्ञता ज्ञापन करते हुये चरणों में पड़े। यथा—मो पहिं होइ न प्रत्युपकारा। बन्दउं तव पद बारहिं बारा॥' (रा०च० मा०) पुनश्च—कृपा याचना करते हैं, भाव, जैसे आपने इतनी कृपा करी वैसे ही इतनी कृपा और करें कि मुझे अपने साथ ही रखें,अब मेरा परित्याग नहीं करे। इसलिये पांय पड़ते हैं अर्थात् कृपा के लिये इसी व्याज से मूक प्रार्थना करते हैं। आंसू आये—ये आनन्द के प्रेम के आँसू हैं। पूर्व कहा गया है, चैन भयौ। **कृपा करि संग लाये**—श्रीनाभाजीकी प्रार्थना स्वीकार हो गई। वांछाकल्पतरु सन्त सद्गुरुदेव ने साथ ले लिया।

मंत्र अगर सुनायो है—प्रश्न—श्रीकील्ह देव जी ने ही मन्त्र क्यों नहीं सुना दिया। वे तो बड़े भी है ? समाधान—श्रीकील्हदेवजी विशेष कर ध्यान समाधि में मग्न रहते थे, जैसा कि आगे इनके चरित से स्पष्ट होता है। अतः आपने इन्हे शिष्य बनाने, शिक्षा-दीक्षा देने का कार्य श्रीअग्रदास जी को ही सौंप रखा था। इसलिये मन्त्र अगर सुनायो है। मन्त्र से तात्पर्य वैष्णव-पंच संस्कार से है। पच संस्कार ये हैं—

श्लोक— पुण्ड्रं मुद्रा तथा नाम माला मन्त्रश्च पञ्चमः।
अमी हि पञ्च संस्काराः पुण्यस्यैकान्तहेतवः॥

१—ऊर्ध्व पुण्ड्रतिलक। २—शंख चक्र की छाप। ३—भगवत्सम्बन्धीनाम ४—माला धारण; ५—मन्त्रोपदेश। ये पंच संस्कार हैं। **'गलता'**—जयपुर के निकट पुराण-प्रसिद्ध महर्षि गालव मुनिका आश्रम। यहां श्रीकील्हदेवजी एव श्रीअग्रदेव जी के सद्गुरुदेव श्रीकृष्णदासजी पयोहारी ने पय-पान करते हुए महान तप किया था॥ यथा—**पयहारी पयपान करि, जहँ तप कियो महान्। गलता गङ्गाधार में करत लोग अस्नान॥ गलता गद्दी दरश करि, गलत महा अभिमान। सन्त समूह विराजहीं, पूज्य भक्त भगवान॥** (भ० वं० टि०)

'जानि अनुमानि'—इनके लक्षणों से, आचरण से, शील-स्वभाव से, सूझ-बूझ, दूर दर्शिता से, सेवा मे रुचि से, इनको सन्त सेवा की योग्यता जानकर। यह संत सेवा कर लेंगे यह अनुमान कर **'ताहि टहल लगायो है।'** सन्त सेवा करने की पात्रता सब में नही होती है। श्रीजीव गोस्वामीजी के

प्रसङ्ग मे आता है—'डारे धन जमुना मे आवे चहुँ ओर ते। कही दास 'साधु सेवा' कीजै' कहैं 'पात्रता न', 'करों नीके' करी बोल्यौ कटु कोप जोर ते।' तव समझायौ सन्त गौरव वढ़ायौ, यह सवको सिखायो वोले मीठो निशिभोर ते॥ (क० ३७४) जहाँ सन्त सेवा होती है वहाँ अनेक गुण स्वभाव के सन्त आते हैं, सवको सँभालना वड़ी टेढी खीर है। इन विविध-भावस्वभाव वाले वावा वैरागियों से महावीर कवीर दासजी भी वहुत घवराते थे—सुनिये, उन्ही के शब्दो मे—

कोइ जट धारी, कोइ मठधारी, है कोई इन्द्रीजित भारी।
कहैं कवीर सुनो भाई साधो, खोपड़ी-खोपड़ी गति न्यारी॥

सन्त सीथ—एक वार श्रीमद्वल्लभाचार्यजी से किसी वैष्णव ने पूछा, सवसे श्रेष्ठ कौनहैं? आपने उत्तर दिया—श्रीहरि। पुनः प्रश्न किया—हरि से श्रेष्ठ कौन है? उत्तर मिला-श्रीहरिनाम। फिर पूछा—नाम से भी श्रेष्ठ कोई है? आचार्य पाद ने कहा—सन्त। वैष्णव ने फिर पूछा—सन्तों से भी श्रेष्ठ कुछ है? आचार्य प्रभु ने कहा—सन्तों की सीथ-प्रसादी। क्या इससे भी श्रेष्ठ कुछ है? इसके उत्तर मे आपने कहा—मैं त्रिवाचापूर्वक कहता हूं—सन्तो की सीथ-प्रसादी से वढकर कुछ नही है। 'चरण ... : अनन्त प्रीति'—से श्रीनाभाजी का अत्यन्त वडभागी होना जनाया। क्योंकि—'महाप्रसादे गोविन्दनाम्नि ब्राह्मण वैष्णवे। स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते॥ अर्थ-महाप्रसाद मे, श्रीगोविन्द भगवान के नाम मे, ब्राह्मण और वैष्णवों मे स्वल्प पुण्यवालो को विश्वास नही होता है। जानी रसरीति-प्रेमतत्व-दर्शी आचार्यो ने प्रेम तत्व को अत्यन्त दुर्वोध वतलाया है। यथा—"कहत अगम कोउ जोग जप, कोउ आराधन नीति। अति दुर्गम दुर्वोध अति, हम जानी रसरीति" (सन्त-वाणी) परन्तु वही दुर्वोध रसरीति प्रीति पूर्वक सन्तो की सीथ प्रसादी सेवन करने से श्रीनाभाजी को सहज सुगम हो गई। संतो की सीथ प्रसादी के सम्वन्ध मे देवर्षि नारदजी भी अपना पूर्व चरित्र वर्णन करते हुये कहते है कि—

'उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्त किल्विषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्ध चेतसस्तद्धर्म एवात्म रुचिः प्रजायते॥ (भा०)

अर्थ—उन सन्तोकी अनुमति प्राप्त करके वरतनोमें लगा हुआ जूँठन मैं दिनमे एकवार खा लिया करता था। इससे मेरे सारे पाप धुल गये। इस प्रकार उनकी सेवा करते-करते मेरा हृदय शुद्ध हो गया और वे लोग जैसा भजन पूजन करते थे उसी मे मेरी भी रुचि हो गयी॥ रसकी (प्रेम की) रीति या तो रस स्वरूप भगवान जानते हैं या उनके कृपा भाजन-भक्त। यथा—'जानत प्रीति रीति रघुराई' (विनय) 'प्रीति की रीति रंगीलोइ जानै, (हित चतुरासी) तथा—'सो जानै जेहि देहु जनाई'। 'ताते'—इस कारण से—कारण दो है—एक तो सन्त सीथ सों अनन्त प्रीति ताते, दूसरे जानी रस रीति ताते। वा सन्त सीथ सों अनन्त प्रीति, ताते जानी रस रीति, और जानी रस रीति ताते—'हृदै रंग छायो है'। अर्थात् प्रेमानन्द का सुख साम्राज्य छा गया।

भई वढ़वारि—प्रेम का स्वभाव है निरन्तर वढना। यथा—'प्रेम सदा वढ़िवो करै, ज्यों शशिकला सुवेष। पै पूनो यामे नहीं, ताते कवहुं न शेष। (प्रेमयोग) 'प्रतिक्षण वर्द्धमानं, सूक्ष्मतरं अनुभव रूपं, (नारद भक्ति सूत्र ५४) छिनहि चढ़ै छिन ऊतरै, सोतो प्रेम न होय। अघट प्रेम पिंजर वसै, प्रेम कहावै सोय (कवीर) 'जैसो भक्ति रूप सो अनूप गिरा गायो है—'भाव—श्रीनाभाजी को सन्तो की कृपा

से जैसी अनुपम भक्ति मिली है और जैसे ये अनूपम भक्ति के स्वरूप हैं, वैसे ही अनूपम वाणी अर्थात् भक्ति से ओत-प्रोत वाणी से भक्तों का चरित्र भी गाया है।

अनूप गिरा—मृदुल, मंजुल, सरल, सुबोध सत्य, प्रिय, हित, मित एवं विचार पूर्वक कही हुई वाणी ही अनूप गिरा है। यथा—**'कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी'। बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मञ्जुल जनु बाग बिभूषन।** आदि। श्रीनाभाजी की वाणी में कही भी कूट, उलटवांसी और भ्रामक सत्य ढूँढने पर भी नही मिलेगा। कूट-यथा—**हे हर-हार-अहार सुत, तात नवत हौं तोहिं। अवला सुतके तनय को वेगि दिखावो मोहिं।**स्पष्टार्थ—हर=शिव। हर-हार=सर्प। हर-हार-आहार= वायु। हर-हार-अहार सुत=हनुमानजी। अवला=इन्दुमती। अवला सुत=श्रीदशरथजी। अवला सुत के तनय=श्रीराम जी। अर्थ—श्रीजानकी जी कहती है कि हे हनुमान! हे तात! मैं तुमसे विनती करती हूँ। शीघ्र श्रीराम जी का दर्शन करावो। उलटवांसी—जैसे—**कबीरदास की उलटी बानी। बरसै कम्बल भीजै पानी॥** भ्रामक सत्य—यथा—

कुञ्जरो वा नरो वा—महाभारत के युद्ध में कौरवों की ओर से लड़ते हुए द्रोणाचार्य जब पाण्डवों की सेना का संहार करने लगे, तब श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन से कहा कि अब तो द्रोणाचार्य का वध किये बिना काम नही चल सकता। परन्तु अर्जुन को गुरुवध करने की हिम्मत नहीं हुई। भगवान् ने भीम के द्वारा अश्वत्थामा नाम के हाथी को मरवा डाला। द्रोणाचार्य के पुत्र का भी अश्वत्थामा नाम था और वे उनको बड़े ही प्यारे थे। जब 'अश्वत्थामा मारा गया' यह आवाज द्रोणाचार्य के कानों में पहुँची तो उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर से पूछा कि "कौन अश्वत्थामा मारा गया?" युधिष्ठिर ने कहा—"अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा।" अर्थात् अश्वत्थामा मनुष्य मारा गया या हाथी। द्रोणाचार्य 'या हाथी' (वा कुंजरो वा) इस अंश को न सुन सके। राजनीति का पालन करते हुए धर्मराज ने सत्य की रक्षा करना चाहा, पर वह न हो सका, असत्य बोलने का कलंक उनके जीवन पर लग ही गया। अस्तु, पुत्रमरण सुनकर ज्यों ही द्रोणाचार्य मूर्छित से हुए त्यों ही धृष्टद्युम्न ने उनका मस्तक काट लिया। 'नरो वा कुंजरो वा' यह वाक्य तभी से कहावत के रूप में प्रयुक्त होने लगा।

चौबीस अवतार

(मूल छप्पय)

जय जय मीन, वराह, कमठ, नरहरि, बलि-बावन।
परशुराम, रघुबीर, कृष्ण कीरति जगपावन॥
बुद्ध, कल्कि अरु, व्यास पृथू, हरि, हंस, मन्वंतर।
यज्ञ, रिषभ, हयग्रीव, ध्रुववरदैन धन्वंतर॥
बद्रीपति, दत्त, कपिलदेव, सनकादिक करुणा करौ।
चौबीस रूप लीला रुचिर, श्रीअग्रदास उर पद धरौ॥५॥

शब्दार्थ—जय=विजय हो, मङ्गल, नमस्कार, विष्णु, विष्णुपार्षद । पावन=पवित्र, पवित्र करने वाला । करुणा=कृपा, तरस ।

भावार्थ—मङ्गल-मय मीन, बाराह, कच्छप, नरसिंह तथा वामन आदि चौवीस भगवान के अवतारो की जय हो, जय हो, इनका मङ्गल हो, हम इन्हे नमस्कार करते हैं । परशुराम, रघुवीर श्रीराम एवं श्रीकृष्ण आदि सभी अवतारो की पवित्र कीर्ति संसार को पवित्र करने वाली है । वुद्ध, कल्कि,व्यास, पृथु, हरि, हंस मन्वन्तर, यज्ञ ऋषभ, हयग्रीव, ध्रुव वरदायी, धन्वन्तरि, नर-नारायण, दत्तात्रेय, कपिलदेव तथा सनक-सनन्दन-सनातन सनत्कुमार सभी मुझदास पर कृपा करो । चौवीसों अवतारों के रूप एवं उनकी लीलाएँ अत्यन्त सुन्दर हैं। इन अवतारों के समेत गुरुदेव श्रीअग्रदेवजी महाराज मेरे हृदयमे अपने श्रीचरण स्थापित करें । (अथवा सभी अवतार मुझ अग्रदास के हृदय मे निज पद कमल रक्खे)॥

व्याख्या—जय जय मीन—प्रश्न—श्रीगुरुदेव जी ने तो भक्त यश वर्णन की आज्ञा दी थी तो प्रारम्भ में भगवान के चौवीस अवतारो की वन्दना क्यो ?

समाधान—१—श्रीभक्तमाल के मुख्य श्रोता भगवान है अतः कथारम्भ के पूर्व श्रोताओ को 'जय जय मीन ......' लिख कर उपस्थित किया ।

२—जिन्हे वुलाना हो उनके प्रेमियों को, उनकी प्रिय वस्तुओं को यदि वुला या रख लिया जाय व उनका गुण गाया जाय तो वे प्रसन्न होकर अवश्य आते हैं और ठहरते है । भक्तगण भगवान और उनके यश के प्रेमी होते हैं अतः प्रथम उनके इष्ट स्वरूप चौवीस अवतारो की वन्दना किए। इष्ट का नाम सुनते ही भक्त आ जाते है ।

३—भक्तों के भगवान और भगवान के भक्त ही हृदय हैं । यथा—'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् । मदन्यत् ते न जानन्ति नाऽहं तेभ्योमनागपि॥(भागवत)चौवीस अवतारो को कहकर श्रीनाभा जी ने मानो भक्तों के हृदय को आकृष्ट किया । अव भक्त विना आए कैसे रह सकते हैं । अतः जय जय मीन ...... प्रथम कहा ।

४—वैष्णव सन्त सेवा के लिये ठाकुर वटुआ रखते है । अगर वटुआ रख लिया जाय तो उसे छोड़ कर नही जाते, जैसे श्रीहरिराम व्यास जी ने एक प्रेमी सन्त का वटुआ नही दिया तो वे गए ही नही, अतः श्रीनाभा जी ने भक्तो के सेव्य चौवीस अवतारों को ग्रन्थ मे प्रथम स्थान दिया ।

५—भक्तों की कृपा से भगवान मे तथा उनके चरित्रो मे प्रीति होती है तथा भगवान की कृपा से भक्तो मे और उनके चरित्रो में प्रीति होती है। अत. भक्तों की भक्ति तथा उनके चरित्रो का ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रथम भगवान के अवतारो की ही वन्दना किये ।

६—ग्रन्थ में श्वपच, वाल्मीकि, कवीर, रैदास आदि के चरित्र लिखे जांयगे तो यह शङ्का कोई न करे कि निम्न वर्ण में भक्त कैसे हुये । व इन्हें निम्न वर्ण का मानकर इनमें कोई अभाव न करे । अतः यहाँ अवतारों की वन्दना करके यह दिखाया कि जैसे मीन कच्छप वाराहादि निम्न योनियो के रूप में प्रकट होकर के भी भगवान पूज्य हुए उसी प्रकार भक्त कही भी प्रकट हो वह पूजनीय हैं । यथा—"अश्वत्थधात्री तुलसी हरिप्रिया, सत्यां कुभूमावपि पूजिता यथा । एवं सुभक्ताअपि निम्नजातिजा देवैः

सुपूज्याः किमु मानुषै र्न हि ।" पुनश्च—"तुलसी पीपर आँवला जो घूरे पर होय । घटती महिमा तासु नहिं पूजत है सब कोय ॥" अतः मीन वराह कमठ को प्रथम कहा ।

७—'भक्तों का यश गावो'—ऐसी गुरुदेव की आज्ञा पाकर श्रीनाभा जी ने विचार कर निश्चय किया कि—सबसे बड़े भक्त तो भगवान ही हैं, भक्तों के प्रति उनकी अवर्णनीय भक्ति है । भक्तों के लिए ही दस या चौवीस अवतार लेते है । यथा—

जाको नाम लेत भव छूटत जनम मरन दुख भार ।
अम्बरीष हित लागि दयानिधि सोइ जनमें दसबार ॥ (विनय)

और— एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान् ।
उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात् ॥ (भा० १०।८६।५९)

अर्थ—राजन् ! भगवान् अपने भक्तों के भक्त हैं । (सदा भक्तों के लिए ही सभी कार्य करते है) वे अपने (राजा वहुलाश्व और श्रुतदेव) दोनों भक्तों को प्रसन्न करने के लिए कुछ दिनों तक मिथिलापुरी में रह कर उन्हें साधु पुरुषों के मार्ग का उपदेश कर पुनः द्वारकापुरी को लौट आए ॥ इन प्रमाणों के अनुसार भगवान को भक्त भक्तिमान सर्वश्रेष्ठ भक्त जान कर प्रथम उनका चरित्र 'जय जय मीन' कहा ।

मत्स्यावतार की कथा—(१) ब्रह्मा जी के सोने का जब समय आ गया और उन्हें नींद आने लगी उस समय वेद उनके मुख से निकल पड़े और उनके पास ही रहने वाले हयग्रीव नामक दैत्य ने उन्हें चुरा लिया । ब्राह्म नामक नैमित्तिक प्रलय होने से सारे लोक समुद्र में डूब गए । श्रीहरि ने हयग्रीव की चेष्टा जान ली और वेदों का उद्धार करने के लिए मत्स्यावतार ग्रहण किया । द्रविड़ देश के राजर्षि सत्यव्रत बड़े भगवत् परायण थे । वे केवल जल पीकर तपस्या कर रहे थे । ये ही वर्तमान महाकल्प में वैवस्वत मनु हुये । एक दिन कृतमाला नदी में तर्पण करते समय उनकी अंजलि में एक छोटी सी मछली आ गई, उन्होंने उसे जल के साथ फिर नदी में छोड दिया । उसने बड़ी करुणा से प्रार्थना की कि—मुझे जलजंतु खा लेंगे, मेरी रक्षा कीजिये । राजा ने उसे जलपात्र में डाल लिया । वह इतनी बढ़ी कि कमण्डल में समवाई न रही, तब राजा ने बड़े मटके में रक्खा । दो घड़ी में वह तीन हाथ की हो गई तब उसे एक बड़े सरोवर में रख दिया । थोड़ी ही देर में उसने महामत्स्य का आकार धारण किया । जिस किसी जलाशय में रखते उसी से वह बड़ी हो जाती । तब राजा ने उसे समुद्र में छोड़ दिया । उसने बड़ी करुणा से कहा—राजन् ! आप मुझको इसमें न छोड़े, मेरी रक्षा करें । तब उन्होने प्रश्न किया कि "मत्स्यरूप धारण करके मुझको मोहित करने वाले आप कौन हैं ? आपने एक ही दिनमें ४०० कोस के विस्तार का सरोवर घेर लिया । आप अवश्य ही सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी अविनाशी श्रीहरि हैं । आपने यह रूप किस उद्देश्य से ग्रहण किया है ?" तब भगवान ने कहा—आज से सातवें दिन तीनों लोक प्रलय-कालीन समुद्र में डूब जायेंगे । तब मेरी प्रेरणा से एक बड़ी भारी नाव तुम्हारे पास आवेगी । उस समय तुम समस्त प्राणियों के सूक्ष्म शरीरों को लेकर सप्तर्षियों के समेत उस पर चढ़ जाना और समस्त औष-धियों और बीजों को साथ रख लेना । जब तक ब्रह्मा की रात्रि रहेगी तब तक मैं तुम्हारी नौका को लिये समुद्र में विहार करूँगा और तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दूँगा । यह कहकर मत्स्य भगवान अन्तर्ध्यान हो गये ।

प्रलयकाल में वैसा ही हुआ जैसा भगवान ने कहा था। मत्स्य भगवान प्रकट हुये। उनका शरीर सोने के समान देदीप्यमान था और शरीर का विस्तार चार लाख कोस का था। शरीरमे एक बड़ी भारी सीग भी थी। वह नाव वासुकी नाग से सीग में बाँध दी गई। सत्यव्रत जी ने भगवान की स्तुति की। भगवान ने प्रसन्न होकर उन्हे अपने स्वरूप का सपूर्ण परम रहस्य, ब्रह्म तत्व उपदेश किया। जो मत्स्य-पुराण मे है। ब्रह्मा की नीद टूटने पर भगवान ने हयग्रीव को मार कर श्रुतियाँ ब्रह्मा जी को लौटा दी। (भा० ८-२४)

(२) समुद्र का एक पुत्र शङ्ख था। इसने देवताओं को परास्त करके उनको स्वर्ग से निकाल दिया, सब लोकपालो के अधिकार छीन लिये। देवता मेरु गिरि की कन्दराओ में जा छिपे, शत्रु के अधीन न हुये। तब दैत्य ने सोचा कि देवता वेद मन्त्रो के वल से प्रवल प्रतीत होते है। अतः मैं वेदो का अपहरण करूँगा। ऐसा निश्चय करके वह वेदों को हर लाया। ब्रह्मा जी कार्तिक की प्रवोधिनी एकादशी को भगवान की शरण गए। भगवान ने आश्वासन दिया और मछली के समान रूप धारण करके आकाश से वे विन्ध्य पर्वत निवासी कश्यप मुनि की अञ्जलि में गिरे। मुनि ने करुणावश उसे क्रमशः कमण्डल, कूप, सर, सरित आदि अनेक स्थानो में रखते हुये अन्त में उसे समुद्र में डाल दिया। वहाँ भी वह वढ कर विशालकाय हो गया। तदन्तर उन मत्स्यरूपधारी भगवान ने शङ्खासुर का वध किया और उसे हाथ मे लिये वे वदरीवन में गये। वहाँ संपूर्ण ऋषियों को बुला कर आदेश दिया कि 'जल के भीतर विखरे हुये वेदो की खोज करो और रहस्यों सहित उनका पता लगा कर शीघ्र ही ले आओ।' तव तेज और वल से सम्पन्न समस्त मुनियों ने यज्ञ और वीज सहित वेदमन्त्रों का उद्धार किया। जिस वेद के जितने मन्त्रों को जिस ऋषि ने उपलब्ध किया, वही उतने भाग का तब से ऋषि माना जाने लगा। ब्रह्मा समेत सब ऋषियों ने आकर प्राप्त किए हुए वेदो को भगवान को अर्पण कर दिया। (पद्मपुराण)

(३) दिति के मकर, हयग्रीव, महावलशाली हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, जम्भु और मय आदि पुत्र हुये मकर ने ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्मा जी को मोहित करके उनसे संपूर्ण वेद ले लिये। इस प्रकार श्रुतियो का अपहरण करके वह महासागर मे घुस गया। फिर तो सारा संसार धर्मशून्य हो गया। ब्रह्मा की प्रार्थना से भगवान मत्स्यरूप धारण करके महासागर में प्रविष्ट हुये और मकर दैत्य को थूथुन के अग्रभाग से विदीर्ण करके उन्होने मार डाला और अङ्ग उपाङ्गों सहित सम्पूर्ण वेदों को लाकर व्रह्मा जी को समर्पित कर दिया। (पद्मपुराण)

'मत्स्य' अवतार कृतयुग में आषाढ़ शुक्ल ११ को प्रातःकाल में पुष्प भद्रा में हुआ॥

पुनश्च—एक वार यह अवतार वैवस्वत मनु के लिए हुआ। यथा—'रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधि सम्प्लवे। नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम्॥ (भा० १।३।१५) अर्थात् चाक्षुष मन्वन्तर के अन्त मे समुद्र की वाढ से प्रलय होने पर उन्होने मत्स्यरूप धारण किया और पृथ्वीमयी नौका पर वैवस्वत मनु को चढा कर उनकी रक्षा की॥

प्रलय पयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा।
दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानां तमहमखिल हेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि॥

अर्थ—प्रलयकालीन समुद्र मे जब व्रह्मा जी सो गये थे। उनकी सृष्टि शक्ति लुप्त हो चुकी थी। उस समय उनके मुख से निकली हुई श्रुतियो को चुराकर हयग्रीव दैत्य पाताल में ले गया था। भगवान ने

उसे मार कर वे श्रुतियाँ ब्रह्मा जी को लौटा दी एवं सत्यव्रत तथा सप्तर्षियों को ब्रह्म तत्व का उपदेश किया। उन समस्त जगत के परम कारण लीला मत्स्य भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ (भा०)

श्रीवाराह अवतार—ब्रह्मा से सृष्टिक्रम प्रारम्भ करने की आज्ञा पाये हुये स्वायम्भुव मनु ने पृथ्वी को प्रलय के एकार्णव में डूबी हुई देख कर उनसे प्रार्थना की कि आप मेरे और मेरी प्रजा के रहने लिये पृथ्वी के उद्धार का प्रयत्न करें जिससे मैं आपकी आज्ञा का पालन कर सकूँ। ब्रह्मा जी इस विचार में पड़ कर कि पृथ्वी तो रसातल में चली गई है, इसे कैसे निकाला जाय, वे सर्वशक्तिमान श्रीहरि की शरण गये। उसी समय विचारमग्न ब्रह्मा जी की नाक से अंगुष्ठ प्रमाण एक वराह बाहर निकल पड़ा और क्षण भरमें पर्वताकार विशालरूप हो गजेन्द्र सरीखा गर्जन करने लगा। शूकररूप भगवान पहले तो बड़े वेग से आकाश में उड़े। उनका शरीर बड़ा कठोर था त्वचा पर कड़े-कड़े बाल थे, सफेद दाढ़ें थीं, उनके नेत्रों से तेज निकल रहा था। उनकी दाढ़ें भी अति कर्कश थीं। फिर अपने वज्रमय पर्वत समान कठोर कलेवर से उन्होंने जल में प्रवेश किया। बाणों के समान पैने खुरो से जल को चीरते हुये वे जल के पार पहुँचे। रसातल में समस्त जीवों की आश्रय भूता पृथ्वी को उन्होंने वहाँ देखा जिसे कल्पांत में शयन करने के लिये उद्यत श्रीहरि ने अपने ही उदर में लीन कर लिया था। पृथ्वी को वे दाढ़ों पर लेकर बाहर आये। जलसे बाहर निकलते समय उनके मार्गमें विघ्न डालने के लिये महापराक्रमी हिरण्याक्ष ने जल के भीतर ही उन पर गदा से प्रहार करते हुए आक्रमण कर दिया। भगवान ने उसे लीला ही से मार डाला। श्वेत दाढ़ों पर पृथ्वी को धारण किये, जल से बाहर निकले हुये तमाल वृक्ष के समान नील वर्ण वराह भगवान को देखकर ब्रह्मादिक को निश्चय हो गया कि ये भगवान ही हैं। वे सब हाथ जोड़ कर स्तुति करने लगें। (भा० ३।१३।१४-३३) प्रलयावस्था में यज्ञ सामग्री भगवान के श्रीअङ्ग में लीन हो गई थी। सृष्टिकाल में यज्ञ वाराह मूर्ति भगवान ने यज्ञ विस्तार हेतु अपने श्रीअङ्गसे वही सब यज्ञोपकरण प्रकट कर दिये। वराहावतार भी सतयुग में ही भाद्रपद शुक्ल पंचमी को मध्याह्न काल में हरिद्वार में हुआ था।

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः।
यद्रोम गर्तेषु निलिल्युरध्वरास्तस्मै नमः कारण सूकराय ते ॥ (भा०)

अर्थ—भगवान अजित ! आपकी जय हो, जय हो। यज्ञपते ! आप अपने वेद त्रयी रूप विग्रह को फटकार रहे हैं। आपको नमस्कार है। आपके रोम कूपों में सम्पूर्ण यज्ञलीन हैं। आपने पृथ्वी का उद्धार करने के लिये ही यह सूकररूप धारण किया है। आपको नमस्कार है ॥

कमठ (कच्छप) अवतार—जब दैत्योंके तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों के प्रहारसे देवता अमर होकर भी संग्राम में मरने लगे और प्राणों से वियोग हो जाने से फिर पृथ्वी से न उठ सके। जब दुर्वासाजी के शाप से इन्द्र सहित तीनों लोक श्री रहित हो गये। (यह कथा पूर्व कवित्त ५ की व्याख्या में लिखी जा चुकी है) तब इन्द्रादि ब्रह्मा जी की शरण में गये। ब्रह्मा जी सबको लेकर अजित भगवान के धाम को गए और उनकी स्तुति की। भगवान ने उनको यह युक्ति बताई कि दैत्य और दानवों के साथ सन्धि करके मिल-जुलकर क्षीर सिन्धु को मथने का उपाय करो। मन्दराचल को मथानी और वासु की नाग को नेती बनाओ। मन्थन करने पर पहले कालकूट निकलेगा, उसका भय न करना, और अनेक रत्न निकलेंगे।

उनका लोभ न करना। अन्त में अमृत निकलेगा वह युक्ति से मैं तुम लोगों को पिला दूँगा। देवताओं ने जाकर दैत्यराज वलिमहाराज से सन्धि कर ली। अव देवता और दैत्य मन्दराचल को उखाड कर ले चले परन्तु थक गये, तव भगवान प्रगट होकर उसे उठाकर गरुड पर रखकर सिन्धु तट पर पहुँचे। वासुकी अमृत के लोभ से नेती वने। जव समुद्र मन्थन होने लगा तव वड़े-वड़े देवता और असुरों के पकड़े रहने पर भी अपने भार की अधिकता और नीचे कोई आधार न होने के कारण मन्दराचल समुद्र मे डूवने लगा। इस प्रकार अपना सव करा कराया मिट्टी में मिलते देख कर उन सवों का मन टूट गया। उस समय भगवान ने यह देख कर कि यह सव विघ्नराज (गनेशजी) की करतूत है, उन्होंने हँस कर कहा—'सव कार्यो के प्रारम्भ में गणेशजी की पूजा करनी चाहिये। सो तो हम लोगो ने विल्कुल भुला दिया। विना उनकी पूजा के कार्य सिद्ध होता नही दीखता। अव उन्ही की पूजा करनी चाहिये। लीलामय भगवान की लीला है'। वे स्वय सर्व समर्थ हैं। परन्तु कार्यारम्भ में गणेश की अग्रपूजा की मर्यादा जो वाँध रखी है। उसका पालन करने के लिये जव देवताओ और दैत्यो को यह परामर्श दिये तो सभी लोग उधर श्रीगणेशजी की पूजा में लगे, इधर भगवान ने तुरन्त अत्यन्त विशाल एवं विचित्र कच्छप का रूप धारण कर समुद्र मे प्रवेश करके अपनी एक लाख योजन वाली पीठ पर मन्दराचल को ऊपर उठा लिया। तव देवता और दैत्य फिर वड़े वेग से समुद्र को मथने लगे। भगवान कच्छप को पीठ पर मन्दराचलका घूमना ऐसा जान पड़ता था मानो कोई उनकी पीठ को खुजला रहा हो।

भगवान कच्छप रूप से मन्दराचल को धारण किये हुए थे, विष्णु रूप से देवताओं के साथ मथ रहे थे। एक तीसरा रूप भी धारण करके मन्दराचल को अपने हाथों से दवाये हये थे कि कहीं उछल न जाय। मथते-मथते वहुत देर हो गई, परन्तु अमृत न निकला। अव भगवान ने सहस्त्रवाहु होकर स्वय ही दोनो ओर से मथना आरम्भ किया। उस समय भगवान की वड़ी विलक्षण शोभा थी। व्रह्मा, शिव, सनकादि, जय जय कार करते हुए आकाश मण्डल से पुष्पों की वर्षा कर रहे थे। उन लोगो की ध्वनि में ध्वनि मिलाकर समुद्र भी भगवान का जय जय कार कर रहा था। समुद्र से सर्व प्रथम 'हलाहल विष' प्रगट हुआ उससे त्रैलोक्य जलने लगा तो वह देवाधिदेव महादेव को भेंट किया गया। फिर और भी रत्न निकले। उनमें से 'कामधेनु' को ऋषियों ने स्वीकार किया। 'उच्चैःश्रवा नामक अति सुन्दर वलिष्ठ अश्व को दैत्यो ने लिया। वाद में 'ऐरावत' नामक महान् हाथी निकला वह देवताओ के राजा इन्द्र को मिला। 'कौस्तुभ मणि' के प्रति सभी लालायित थे उसे भगवान ने अपने कण्ठ में धारण कर लिया। 'कल्प वृक्ष' विना किसी की अपेक्षा किये स्वर्ग में चला गया। 'अप्सरायें' भी स्वेच्छा से स्वर्ग को ही प्रस्थान कर गई। 'भगवती लक्ष्मी' ने, अपनी ओरसे उदासीन रहने पर भी सर्व गुणसम्पन्न भगवान विष्णु को वरण किया। 'वारुणी देवी' को दैत्यो ने वड़े चाव से लिया। 'धनुष' तो किसी से उठा ही नही। तव भगवान विष्णु ने उसे धारण किया। 'चन्द्रमा' को अनन्त आकाश विचरने के लिये दिया गया। 'दिव्य शंख' को भगवान ने स्वीकार किया। अन्त में 'अमृत कलश' हाथ में लिये हुये प्रगट हुये धन्वन्तरि जी महाराज। दैत्यो ने उनसे अमृत-कलश छीन लिया, देवता उदास हो गये। तव भगवान ने मोहिनी स्वरूप धारण कर दैत्यो को व्यामोहित कर अमृत कलश उनसे लेकर अमृत देवताओ को पिला दिया। देवताओकी पंक्तिमे सूर्य और चन्द्रमाके वीचमे एक राहु नामक दैत्य वेष वदल कर आ वैठा था। उसे अमृत पिलाया ही जा रहा था कि चन्द्रमा और सूर्य ने वतला दिया और तुरन्त ही भगवान के चक्र ने उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। परन्तु कुछ अमृत उसे मिल चुका था अत. सिर कटने पर भी मरा नही। इसलिये उसे ग्रहोमे स्थान दिया गया। राहु अव भी सूर्य चन्द्रमासे वदला लेनेके लिये उनके पर्व अमावस्या

और पूर्णिमा पर आक्रमण करता है। जिसे ग्रहण कहते हैं। देवताओं ने अमृत पी ही लिया था। भगवान का आश्रय था ही। अतः अवकी वार संग्राममें विजय देवताओं की हुई। वोलिये कच्छप भगवान की जय ॥

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयनान्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति ॥

अर्थ—जिस समय भगवान ने कच्छप रूप धारण किया था और उनकी पीठ पर वड़ा भारी मन्दराचल मथानी की तरह घूम रहा था, उस समय मन्दराचल की चट्टानों की नोक से खुजलाने के कारण भगवान को तनिक सुख मिला। वे सो गये और श्वास की गति तनिक वढ़ गई। उस समय उस श्वास वायु से जो समुद्र के जल को धक्का लगा था उसका संस्कार आज भी उसमें शेष है। आज भी समुद्र उसी श्वास वायु के थपेड़ों के फल स्वरूप ज्वार-भाटों के रूप में दिन रात चढ़ता-उतरता है उसे अव तक विश्राम न मिला। भगवान की वही परम प्रभाव शाली श्वास वायु आप लोगों की रक्षा करे ॥ (भागवत्) ॥

श्री नृसिंह-अवतार—जव वाराह भगवान ने हिरण्याक्ष का वध कर डाला था उसकी माता दिति, उसकी पत्नी भानुमती, उसका भाई हिरण्यकशिपु और समस्त परिवार वड़ा दुःखी था। दैत्येन्द्र हिरण्य कशिपु ने सवको समझा बुझा कर शान्त किया, परन्तु स्वयं शान्त नहीं हुआ। हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला धधकने लगी। फिर तो उसने निश्चय किया कि तपस्या करके ऐसी शक्ति प्राप्त की जाय कि त्रिलोकीका राज्य निष्कण्टक हो जाय और हम अमर हो जायँ। निश्चय कर लेने पर हिरण्य कशिपु ने मन्दराचल की घाटी में जाकर ऐसा घोर तप किया कि जिससे देव लोक भी तप्त हो गये। देवताओं की प्रार्थना पर व्रह्माजी ने जाकर उससे अमरत्व छोड़कर अन्य कोई भी मनचाहा वर माँगने को कहा। उसने कहा कि मैं चाहता हूं कि आपके वनाये हुये किसी भी प्राणी से मेरी मृत्यु न हो। भीतर वाहर, दिन में, रात में, आप के वनाये हुये प्राणियों के अतिरिक्त और भी किसी जीव के अस्त्र-शस्त्र से, पृथ्वी या आकाश में कहीं भी मेरी मृत्यु न हो। युद्ध में कोई भी मेरा सामना न कर सके। मैं समस्त प्राणियों का एकछत्र सम्राट् वनूँ। इन्द्रादि समस्त लोकपालों में जैसी आप की महिमा है वैसी ही मेरी हो। तपस्वियो और योगियों, योगेश्वरों को जो अक्षय ऐश्वर्य प्राप्त है वही मुझे भी दीजिये। व्रह्माजी ने 'एवमस्तु' कह कर उस के माँगे वर उसको दिये वह अपनी चतुराई पर वड़ा ही प्रसन्न हुआ कि मैंने व्रह्मा को भी ठग लिया। उनके न चाहने पर भी मैंने युक्ति से अमरत्व का वरदान ले ही लिया। यह जीव का स्वभाव है, वह अपनी चतुराई से चतुरानन की कौन कहे भगवान को भी धोखा देने का प्रयत्न करता है।

दृष्टांत चालाक मियाँ का—मुसलमानों का रोजा का त्यौहार चल रहा था। वे इस त्यौहार में जल नहीं पीते। फल स्वरूप संध्या होते-होते उनके मुख मुरझा जाते है। परन्तु एक मुसलमान वड़ा ही प्रसन्न रहता था। लोगों ने जव उससे उसकी प्रसन्नता का कारण पूछा तो उसने कहा मैं पानी पी लेता हूँ परन्तु ऐसा पानी पीता हूँ कि खुदा भी नहीं जानते। वात यह थी कि वह स्नान करते समय डुबकी लगाता तो डूवे-डूवे ही जल पी लेता था। भगवान की लीला एक दिन ज्यों हीं उसने जल

पीने के लिये मुँह खोला तो छोटी सी शृंगी मछली गले में जाकर फँस गई। खुदा की कौन कहे, सब लोग जान गये। वैसे ही हिरण्य कशिपु ने भी अपनी समझ से मृत्यु का दरवाजा बन्द ही कर लिया था किन्तु भगवान ने जब चाहा तो खोल ही लिया।

वर प्राप्त कर उसने सम्पूर्ण दिशाओ, तीनो लोकों, तथा देवता, असुर नर गन्धर्व, गरुड़, सर्प, सिद्ध,चारण, विद्याधर, ऋषि, पितृगणो के अधिपति, मनु, यक्ष, राक्षस, पिशाचपति, भूत और प्रेतों के नायक तथा सम्पूर्ण जीवो के स्वामियो को जीतकर अपने वशीभूत कर लिया। इस प्रकार उस विश्वजित् असुर ने अपने पराक्रम से सम्पूर्ण लोकपालों के स्थान छीन लिये, स्वय इन्द्र भवन में रहने लगा। उसने दैत्यो को आज्ञा दी कि आज-कल ब्राह्मणो और क्षत्रियों की बहुत बढती हो गई है। जो लोग तपस्या, व्रत यज्ञ, स्वाध्याय और दानादि शुभ कर्म कर रहे है, उन सबो को मार डालो। विष्णु की जड़ है द्विजातियो का कर्म-धर्म, और वही धर्म का परम आश्रय है। दैत्यो ने जाकर वैसा ही किया। परन्तु जहाँ त्रैलोक्य में इस प्रकार धर्म का नाश किया जा रहा था वहाँ हिरण्य कशिपु के पुत्रो मे प्रहलादजी जन्म से ही भगवद् भक्त थे। पाच वर्ष की अवस्था मे वे अपने पिता को भगवद्भक्ति का पाठ सुना रहे थे। अपने शत्रु विष्णु का इसे भक्त जानकर उसने यह निश्चय कर लिया कि यह अपना शत्रु है जो पुत्र रूप से प्रगट हुआ है अत: उसे मार डालने की आज्ञा दी। पर दैत्यों के सब प्रयोग व्यर्थ हुये। तब हिरण्यकशिपु को बड़ी चिन्ता हुई। उसने उन्हें बड़े-बड़े मतवाले हाथियो से कुचलवाया। विषधर सर्पो से डसवाया, कृत्या राक्षसी उत्पन्न कराई कि प्रहलाद को खाले। पहाड़ो पर से नीचे गिरवाया। शम्बरासुर से अनेको प्रकार की माया का प्रयोग कराया, विष दिलाया। दहकती आग मे प्रवेश कराया, समुद्र मे डुबाया, इत्यादि अनेक उपाय मार डालने के किये। पर उनका बाल भी बांका नहीं हुआ गुरु पुत्रो की सलाह से वे वरुण-पाश से बाध कर रक्खे जाने लगे कि कही भाग न जायँ और गुरुपुत्र इन्हे अर्थ, धर्म और काम की शिक्षा देने लगे। छुट्टी के समय प्रहलाद जी ने समवयस्क असुर बालकों को भगवद्भक्ति का स्वरूप बताया, जिसे सुनकर सब सहपाठी असुर बालक भगवन्निष्ठ हो गये। यह देख कर पुरोहित ने जाकर सब हाल हिरण्यकशिपु से कहा। सुनते ही उसका शरीर क्रोध के मारे थर-थर कापने लगा और उसने प्रहलादजी को अपने हाथ से मार डालने का निश्चय किया। उन्हें बुलाकर बहुत डाटा, झिड़का और पूछा कि, तू' किसके बल पर मेरी आज्ञा के विरुद्ध काम किया करता है?

प्रहलादजी ने उसे सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् भगवान् के स्वरूप का उपदेश दिया वह क्रोध से भरकर बोला—'देखूँ वह तेरा जगदीश्वर कहां है? अच्छा,क्या–कहा,—वह सर्वत्र है तो इस खम्भे में क्यों नहीं दीखता। अच्छा, तुझे इस खम्भे में भी दीखता है। मै अभी तेरा सिर अलग करता हूँ,देखता हूँ, तेरा वह हरि तेरी कैसे रक्षा करता है? वे मेरे सामने आवे तो सही। इत्यादि, कहते–कहते जब वह क्रोध को सँभाल न सका तब सिंहासन पर से खड्ग लिये कूद पड़ा और प्रहलादजी के यह कहते ही कि हां वह खम्भे में भी हैं उसने बड़े जोर से खम्भे कोएक घूसा मारा। उसी समय खम्भे से बड़ा भारी शब्द हुआ। घू सा मार कर वह प्रहलादजी को मारने के लिये झपटा था परन्तु उस अपूर्व घोर शब्द को सुनकर वह घबड़ा कर देखने लगा कि शब्द करने वाला कौन? इतने मे उसने खम्भे से निकले हुए एक अद्भुत प्राणी को देखा वह सोचने लगा—अहो, यह न तो मनुष्य है न सिंह। फिर यह नृसिंह रूप मे कौन अलौकिक जीव है। वह इस उधेड–बुन मे लगा ही हुआ था कि उसके बिल्कुल सामने नृसिंह भगवान् खडे हो गए।

श्रीनृसिंह भगवान के उस समय के विकराल स्वरूप का वर्णन श्रीमद्भागवत मे इस प्रकार है—
"तपाए हुए सोने के समान पीली आँखे, दाढ़े बड़ी पैनी, तलवार की तरह लपलपाती हुई छुरे की धार के

समान तीखी जीभ, टेढी भौहें, कान-निश्चल एवं ऊपर को उठे हुए, फूली हुई नासिका और पर्वत-कन्दरा के समान खुला हुआ मुँह, वड़े-ही भयंकर फटे हुए जबड़े, स्वर्ग का स्पर्श करने वाला शरीर, नाटी मोटी गरदन, छाती, चौडी, कमर वहुत पतली, सारे शरीर पर चन्द्र-समान चमकीले रोये, चारों ओर सैकड़ों भुजाएँ फैली हुई थी। जिनके वड़े-वड़े नख आयुध का काम देते थे।" भगवान उससे वड़ी देर तक खेल-वाड़ करते रहे अन्त में संध्या समय उन्होंनें बड़े उच्चस्वर से प्रचण्ड भयंकर अट्टहास किया जिससे आँखें वन्द हो गईं। उसी समय झपटकर भगवानने उसे पकड़ कर राजसभा द्वार की ड्योढ़ी पर ले जाकर अपनी जंघाओं पर गिरा कर अपने नखों से उसके पेट को चीर कर उसकी आँतें गले में डाल लीं। उस समय उनकी शोभा हाथी को मार कर गले में आँतों की माला पहने हुये मृगराज की सी थी। **'असृग्लवाक्तारुण-केसराननो यथान्त्र माली द्विपहत्यया हरिः।** (भा० ७।८।३०) (विशेप देखिए श्रीप्रह्लाद जी के प्रसङ्ग में) नृसिंहावतार मुल्तान में वैशाख शुक्ल १४ मध्याह्नकाल में हुआ। यह अवतार सत्ययुग त्रेता की सन्धि में हुआ था।

वागीशा यस्य वदने, लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।
यस्यास्ते हृदये संवित् तं नृसिंहमहं भजे॥ (श्रीधर स्वामी)

श्रीवामनावतार की कथा—भगवान की कृपा से देवताओं की विजय हुई। स्वर्ग के सिंहासन पर इन्द्र का अभिषेक हुआ। परन्तु अपनी विजय के गर्व में देवता लोग भगवान को भूल गये। विपय परायण हो गये। उधर हारे हुए दैत्य वड़ी सावधानी से अपना बल वढ़ाने लगे। वे गुरु शुक्राचार्य जी के साथ-साथ समस्त भृगुवंगी ब्राह्मणों की सेवा करने लगे,जिससे प्रभावशाली भृगुवंशी अत्यन्त प्रसन्न हुये और दैत्यराज वलि से उन्होंने विश्वजित् यज्ञ कराया। ब्राह्मणों की कृपा से यज्ञ में स्वयं अग्निदेव ने प्रगट होकर रथ घोड़े आदि दिए और अपना आशीर्वाद दिया। शुक्राचार्य जी नें एक दिव्य शख और प्रह्लाद जी ने एक दिव्य पुष्प माला दी। इस तरह सुसज्जित हो सेना सहित उन्होंनें जाकर अमरावती को घेर लिया। देव गुरु वृहस्पति के आदेशानुसार देवताओं सहित इन्द्र ने स्वर्ग को छोड़ दिया और कहीं जा छिपे। विश्व-विजयी हो जाने पर भृगुवंशियों ने वलि से सौ अश्वमेध यज्ञ कराए। इस तरह प्राप्त समृद्ध राज्य लक्ष्मी का उपभोग वे वड़ी उदारता से करने लगे। (भा०)

अपने पुत्रों का ऐश्वर्य राज्यादि छिन जानेसे माता अदिति वहुत दुःखी हुईं अपने पति कश्यपजी के उपदेश से उन्होने पयोव्रत किया। भगवान ने प्रकट होकर कहा कि—ब्राह्मण और ईश्वर वलि के अनुकूल हैं। इसलिए वे जीते नही जा सकते। मैं अपने अंशरूप से तुम्हारा पुत्र वनकर तुम्हारे सन्तान की रक्षा करूँगा। फिर तो भाद्र पद शुक्ल १२ के मध्याह्न काल मे अभिजित मुहूर्त में भगवान प्रकट हुए और कश्यप अदिति के देखते-देखते उसी शरीर से वामन (वौना) ब्रह्मचारी का रूप धारण कर लिया। ठीक वैसे ही जैसे कोई नट अपना भेष वदल ले॥ भगवान को वामन ब्रह्मचारी के रूप मे देख कर महर्षियों को वड़ा आनन्द हुआ। उन लोगों ने कश्यप प्रजापति को आगे करके उनके जात कर्म आदि संस्कार करवाये। जव उनका उपनयन संस्कार होने लगा तव सूर्य ने उन्हे गायत्री का उपदेश दिया। वृहस्पति ने यज्ञोपवीत और कश्यप ने मेखला दी। पृथ्वी ने कृष्णमृग चर्म, वन के स्वामी चन्द्रमा ने दण्ड, माता अदिति ने कौपीन और उत्तरीयवस्त्र, आकाश के अभिमानी देवता ने छत्र, ब्रह्मा ने कमण्डलु, सप्तर्पियों ने कुश और सरस्वती ने रुद्राक्ष की माला समर्पित की। कुवेर ने भिक्षा पात्र और साक्षात् जगन्माता

अन्नपूर्णा ने भिक्षा दी। इस प्रकार ब्रह्मचर्य दीक्षा पूर्ण हुई। उसी समय भगवान ने सुना कि सब प्रकार की सामग्रियों से सम्पन्न यशस्वी बलि भृगुवंशी ब्राह्मणों के आदेशानुसार बहुत से अश्वमेव यज्ञ कर रहे हैं, तब उन्होने वहाँ के लिए यात्रा की।

यात्रा के प्रसंग में एक बड़ी ही मधुर कथा आती है—श्रीवामन भगवान जब बलि के यहाँ जा रहे थे तो मार्ग में एक गहरी नदी पड़ी और आप ठहरे बावन अंगुल गात। उस पर भी हाथ मे छतरो, लोटा, सोटा, लंगोटा,। मुंजी, मेखला, कौपीन-कमण्डलु। सम्हाल नही पाते थे एक सँभालते तो दूसरा गिरने लगता। भगवान की बड़ी अद्भुत लीलां है। नही तो भला जिनके रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड है, उनके लिए कौपीन-कमण्डलु का क्या भार। नदी पार करना है। एक दो कदम भीतर जाते फिर बाहर निकल आते। देर तक यह भीतर बाहर जाने-आने की लीला हुई। उस पार भजन में प्रवृत्त एक ब्राह्मण का ध्यान बरबस इधर आकृष्ट हुआ। तो वे वामन ब्रह्मचारी जी के पास आकर पूछे तो इन्होने बलि की यज्ञशाला में जाकर दान दक्षिणा लेने की बात बताई। ब्राह्मण ने देखा ब्रह्मचारी है बड़ा तेजस्वी, बलि जी हैं बड़े उदार, दक्षिणा मोटी मिलेगी। अतः ब्राह्मण ने आधी दक्षिणा पर पार करने का ठेका किया। वामन जी ने स्वीकृति दे दी। ब्राह्मण ने वामन भगवान को कन्धे पर चढा लिया। प्रभु का मृदुल संस्पर्श होते ही ब्राह्मण को अभूतपूर्व सुख मिला। दर्शन से मन मोहित था ही, स्पर्श ने और भी अधिक मोहिनी डाल दी।

भगवान के अचिन्त्यानन्त सौन्दर्य-माधुर्य, सौकुमार्य, संभाषण सस्पर्श आदि के द्वारा अपहृत चित्त ब्राह्मण की दृष्टि जब भगवान के श्रीचरण-कमल-तल पर गई तो देखा—रेख कुलिश ध्वज अंकुश सोहैं। विद्वान ब्राह्मण को समझते देर नही लगी। तुरन्त जान गए कि यह साधारण भिक्षुक ब्रह्मचारी नही, ये तो स्वयं भगवान हैं। फिर क्या था। मन झूम उठा, परम परमानन्द के हिंडोले में। जब बीच धारा में पहुचे तो बोले—मैंने आपको पहचान लिया, आप तो भगवान है। अब आपको मैं तभी छोड़ूँगा जब आप मुझे भवसागर से पार करने का वचन दे देंगे। प्रभु ने बात बनाई, पंडित-जी ! आप यह क्या कह रहे हैं। मैं तो पिता श्रीकश्यप जी, माता श्रीअदिति जी का पुत्र हूँ भिक्षा के लिए जा रहा हूँ। परन्तु ब्राह्मण ने एक न मानी। वह तो जान चुका था, पहचान चुका था। अतः विवश होकर प्रभु ने उन्हे निजस्वरूप का दर्शन करा कर जीवनन्मुक्त कर दिया। फिर जब नदी पार हुये तो बोले—हमारे आपके बीच जो तय हुआ है सो, उसके लिए आप भी हमारे साथ-साथ चलिए। ब्राह्मण ने कहा—प्रभो ! वह तो अनजाने की बात थी। 'अब कछु नाथ न चाहिय मोरे।' भगवान हँसते हुये चल दिये।

राजा बलि नर्मदा नदी के उत्तर तट पर भृगुकच्छ नामक क्षेत्र मे भृगुवंशियों के आदेशानुसार एक श्रेष्ठ यज्ञ का अनुष्ठान कर रहे थे। ठीक उसी समय हाथ मे छत्र, दण्ड और जल से भरा कमण्डलु लिये वामन भगवान ने अश्वमेध यज्ञ मडप में प्रवेश किया। वे कमरमें मूँज की मेखला और गलेमे यज्ञोपवीत धारण किये हुये थे। बगल मे मृगचर्म और सिर पर थी जटा। राजा बलिने स्वागत वाणी से उनका अभिनन्दन किया और चरणो को पखार कर चरणतीर्थ को मस्तक पर रखा। फिर वटुरूप धारी भगवान से बोले—ब्राह्मण कुमार ! ऐसा जान पड़ता है कि आप कुछ चाहते हैं। आप जो कुछ भी चाहते है, अवश्य ही वह सब आप मुझसे माँग लीजिये। भगवान ने प्रसन्न होकर बलि का अभिनन्दन किया और कहा—राजन् ! आपने जो कुछ कहा, वह धर्ममय होने के साथ-साथ आपकी कुल परम्परा के अनुरूप है।

यह कह कर फिर वलि के पूर्वजों का यशोगान किया। बलि के पिता विरोचन की उदारता, पितामह प्रह्लाद की भक्ति निष्ठा, प्रपितामह हिरण्यकशिपु-हिरण्याक्ष के अमित पराक्रम की प्रशंसा किये और वोले—मैं केवल अपने डग से तीन डग पृथ्वी चाहता हूं। वलि जी हँस गये, वोले—**'यथा दरिद्र विबुधतरु पाई। वहु सम्पति मांगत सकुचाई।'** वही हाल आपका है। भगवान ने कहा—नहीं,कम माँगने में दरिद्रता हेतु नहीं है। संतोष हेतु है। यथा—

गो धन गज धन बाजि धन, और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान॥

वलि ने कहा—अच्छा, तीन ही पग लेना है तो मेरे दैत्यों के पग से लीजिये। देखिये एक-एक योजन के इनके पाँव हैं। भगवान भी पूरे हठी हैं, वोले नहीं—मुझे तो अपने ही पाँव से नाप कर लेने हैं। क्योकि धन का उतना ही संग्रह करना चाहिये जितने की आवश्यकता हो। जो ब्राह्मण स्वयं प्राप्त वस्तु से ही सन्तोष कर लेता है उसके तेज की वृद्धि होती है। नहीं तो पतन हो जाता है। शुक्राचार्य जी के वहुत समझाने पर भी कि ये वटुरूपधारी तुम्हारे शत्रु भगवान विष्णु हैं, ये सव छीनने के लिये आये हैं। अपनी जीविका छिनती देख असत्य वोल कर उसकी रक्षा करना निन्दनीय नहीं है। राजा ने असत्य वोलना, देने को कह कर फिर नकार जाना स्वीकार न किया। तव शुक्राचार्य जी ने राजा को ऐश्वर्य भ्रष्ट होने का शाप तक दे दिया। तो भी महात्मा वलि अपने वचन से नहीं डिगे। नही डिगने के तीन हेतु—१—प्रतिज्ञा कर चुके हैं, सोचे कि—**'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ।'** २—जव ये मेरा सव लेने के लिए आये हैं तो मैं नही भी दूँगा तो मुझे थप्पड़ मार कर ले लेंगे, जैसे मेरे पूर्वजों से ले लिया करते थे। तो फिर मैं राजी-खुशी से दान ही क्यों न कर दूँ। ३—गुरु जी ने ऐश्वर्य से भ्रष्ट होने का शाप दे दिया है तो मुझे किसी न किसी प्रकार से ऐश्वर्य रहित होना ही है तो मैं दान ही क्यों न कर दूँ। अतः वलि जी अपने निश्चय से हटे नही और हाथ में जल लेकर तीन पग पृथ्वी का संकल्प कर दिया।

संकल्प होते ही वामन रूप वढ़ते-वढ़ते इतना वढ़ा कि भगवानकी इन्द्रियों में और शरीर में सभी चराचर प्राणियों का दर्शन होने लगा। सर्वात्मा भगवान में यह सारा व्रह्माण्ड देख कर सव दैत्य भयभीत हो गये। उन्होंने एक डग से वलि की सारी पृथ्वी नाप ली। शरीर से नभ और भुजाओं से सभी दिशायें घेर लीं। दूसरे पग से स्वर्ग नाप लिया। तीसरा पग रखने के लिये वलि की कोई भी वस्तु न वची। भगवान का दूसरा पग ही ऊपर को जाता हुआ महर्लोक, जन लोक और तप लोक से भी ऊपर सत्य लोक में पहुँच गया। श्रीव्रह्मा जी ने विश्वरूप भगवान के ऊपर उठे हुये चरण का अर्घ्यपाद्य से पूजन और प्रक्षालन किया। व्रह्मा के कमण्डलु का वही जल विश्वरूप भगवान के पद-प्रक्षालन से पवित्र होने के कारण गङ्गा जी के रूप में परिणत हो गया।

वलि के सेनापतियों ने, यह जानकर कि यह भिक्षुक व्रह्मचारी तो हम लोगों का वैरी है जो अपने को छिपाकर देवताओं का काम करना चाहता है और राजा तो यज्ञ में दीक्षित होने से कुछ कहेगे नहीं, वामन भगवान पर अस्त्र चलाया, पर भगवत्पार्षदों ने उन्हें खदेड़ा। वलिने दैत्यों को समझा-बुझाकर लड़ाई करने से रोक दिया। भगवान का इशारा पाकर गरुड़ ने वरुणपाश से वलिको वाँध दिया। तत्पश्चात् भगवान् वलि से वोले—दो पग में तो मैंने तुम्हारी सव पृथ्वी और सव लोकों को नाप लिया, तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी न होने से अव तुम नरक भोगोगे।······ इत्यादि रीति से वामनजी ने वहुत तिरस्कार

किया परन्तु राजा वलि धैर्य से विचलित न हुए। उन्होंने बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया, प्रभो! मैं आप से एक वात पूछता हूं। धन वड़ा है कि धनी? भगवान ने कहा—चूँकि धन धनी के अधीन रहता है इसलिये धनी धन से वड़ा होता है। वलिजी ने कहा—प्रभो! आपने मेरा धन तो दो पग में नाप लिया है। रही एक पग की वात, सो वह पग आप मेरे सिर पर धर दीजिये। यद्यपि हूं तो मैं दो पग से भी अधिक, परन्तु एक ही पग मे मैं आपके चरणो में आत्म समर्पण करता हूँ। भगवान् वहुत प्रसन्न होकर ब्रह्माजी से बोले—मैं जिस पर वहुत प्रसन्न होता हूं उसका धन छीन लिया करता हूँ।.... मैंने इसका धन छीन लिया, राजपद से अलग कर दिया, तरह-तरह के आक्षेप किए, शत्रुओं ने इसे वाँध लिया, भाई वन्धु छोड़ कर चले गए, इतनी यातनाएँ इसे भोगनी पड़ी—यहाँ तक कि इसके गुरुदेव ने भी इसे शाप दे दिया, परन्तु इस दृढव्रती ने प्रतिज्ञा नहीं छोड़ी। मैंने इससे छलभरी वातें की, मन में छल रख कर धर्मोपदेश किया, परन्तु इस सत्यवादी ने अपना धर्म न छोड़ा! ...। फिर राजा वलि को सुतललोक में रहने की आज्ञा दी और अपूर्व वर दिए। राजा वलि के आप द्वारपाल वन गये। इस तरह वलि से स्वर्ग का राज्य लेकर इन्द्र को देकर अदिति की कामना पूर्ण की और स्वयं उपेन्द्र वनकर सारे जगत का शासन करने लगे। कश्यप और अदिति की प्रसन्नता के लिए तथा सम्पूर्ण प्राणियों के अभ्युदय के लिए समस्त लोकों के स्वामी के पद पर वामनजी का अभिषेक कर दिया गया। (भागवत्)

छलयसिविक्रमणे वलिमद्भुत वामन। पद नख नीरजनित जन पावन॥
केशव धृत वामन रूप जय जगदीश हरे॥ (गी॰ गो॰)

श्रीपरशुरामावतार—(वाल्मीकि रामायण के अनुसार) साक्षात् ब्रह्माजी के पुत्र राजा कुश के चार पुत्रो में से कुश-नाभ दूसरे पुत्र थे। राजा कुश-नाभ ने पुत्र प्राप्ति के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ किया जिसके फलस्वरूप गाधि नामक परम धर्मात्मा पुत्र हुआ। राजा गाधि के एक कन्या सत्यवती नामकी थी जो महर्षि ऋचीकको व्याही गयी थी। एक वार सत्यवती और सत्यवतीकी माताने श्रीऋचीकजी के पास पुत्र कामनासे जाकर उसके लिए प्रार्थना की। ऋचीकने दो चरु सत्यवतीको दिए और वता दिया कि यह तुम्हारे लिये है और यह तुम्हारी माँ के लिए है इनका तुम यथोचित उपयोग करना। यह कह कर वे स्नानको चले गए। उपयोग करने के समय माता ने कहा—'बेटी! सभी लोग अपने ही लिए सवसे अधिक गुणवान पुत्र चाहते हैं, अपनी पत्नीके भाई के गुणो में किसीकी भी विशेष रुचि नही होती। अतः तू अपना चरु मुझे दे दे और मेरा तू ले ले, क्योंकि मेरे पुत्रको तो सम्पूर्ण भूमण्डलका पालन करना होगा और ब्राह्मण कुमारो को तो बल, वीर्य तथा सम्पत्ति आदिसे लेना-देना ही क्या है? ऐसा कहने पर सत्यवती ने अपना चरु माताको दे दिया। जव ऋषिको यह वात ज्ञात हुई तव उन्होंने अपनी पत्नीसे कहा कि तुमने यह बड़ा अनुचित किया। ऐसा हो जाने से अव तुम्हारा पुत्र घोर योद्धा होगा और तुम्हारा भाई ब्रह्मवेत्ता होगा। सत्यवती के बहुत प्रार्थना करने पर कि मेरा पुत्र ऐसा न हो, उन्होने कहा कि अच्छा, पुत्र तो वैसा न होगा किन्तु पौत्र उस स्वभाव का होगा। यही कारण है कि राजागाधि को स्त्रीने जो चरु खाया उसके प्रभाव से विश्वामित्रजी हुए जो क्षत्रिय होते हुए भी तपस्वी और ब्रह्मर्षि हुए और श्री ऋचीकजी के पुत्र श्रीयमदग्नि जी तो परम शान्त, दान्त ब्रह्मर्षि हुए परन्तु यमदग्नि पुत्र परशुराम वड़े ही घोर योद्धा हुए।

श्रीपरशुरामजी की मातृ पितृ भक्ति—एक वार यमदग्नि ऋषि ने अपनी स्त्री रेणुकाजी को नदीसे जल लानेको भेजा। वहां गन्धर्व गन्धर्विणी विहार कर रहे थे। ये जल लेने गयीं

तो उनका विहार देखने लगीं। इसमें उन्हें लौटने में देर हुई। ऋषि ने देरी का कारण जान लिया और यह समझ कर कि स्त्री को पर-पुरुष की रति देखना महापाप है, अपने पुत्रों को बुलाकर(एक-एक करके) आज्ञा दी कि माता को मार डालो। परन्तु मातृ-स्नेह वश सातों पुत्रों ने इस काम को करना अंगीकार न किया। तव आठवें पुत्र परशुराम को आज्ञा दी कि इन सब भाइयों सहित माता का वध करो। इन्होंने तुरन्त सबका सिर काट डाला। इस पर पिता ने प्रसन्न होकर इनसे वर मांगने को कहा। तब इन्होंने कहा कि मेरे सब भाई और माता जी उठें और इन्हें यह भी न मालूम हो कि मैंने इन्हें मारा था। हमको पाप का स्पर्श न हो। युद्धमें कोई मेरी बरावरी न कर सके, मैं दीर्घ काल तक जीवित रहूँ। महातपस्वी यमदग्नि ने इन्हें वे सब वर दिये।

माहिष्मती नगर का राजा सहस्रार्जुन भगवान दत्तात्रेयजी से, युद्ध में कोई सामना न कर, सके, युद्ध के समय हजार भुजायें प्राप्त हो जायँ सर्वत्र अव्याहत गति हो आदि वरदान प्राप्त कर उन्मत्त होकर वह रथ और वर के प्रभाव से देवता, यक्ष, और ऋषि सभी को कुचले डालता था। उसके द्वारा सभी प्राणी पीड़ित हो रहे थे। एक वार उसने केवल धनुष और वाण की सहायता से, अपने बल के घमण्ड में आकर समुद्र को आच्छादित कर दिया। तव समुद्र ने प्रगट होकर उसके आगे मस्तक झुकाया और हाथ जोड़ कर कहा—वीरवर! बोलो, मैं तुम्हारी किस आज्ञा का पालन करूँ। उसने कहा—यदि कहीं मेरे समान धनुर्धर वीर मौजूद हो, जो युद्ध में मेरा मुकावला कर सके तो उसका पता वताओ। फिर मैं तुझे छोड़ कर चला जाऊँगा। तव समुद्र ने कहा—महर्षि यमदग्नि के पुत्र परशुराम युद्ध में तुम्हारा अच्छा सत्कार कर सकते हैं। तुम वहीं जाओ। यह सुनकर राजाने वहीं जानेका निश्चय किया। अपनी अक्षौहिणी सेना सहित राजा सहस्रार्जुन श्रीजमदग्नि ऋषि के आश्रम पर पहुंचे।

ऋषि ने इनका यथोचित आतिथ्य सत्कार किया, जिससे वह चकित हो गया कि वनवासी के पास ऐसा ऐश्वर्य कहाँ से आया? यह मालूम होने पर कि यह सब कामधेनु की महिमा है, उसने मुनि से गऊ मांगी, न देने पर जवर्दस्ती उसे छीन लिया और मुनि के प्राण भी ले लिये। उस समय परशुरामजी घर पर नही थे। घर आने पर उन्होने माता को विलाप करते हुये पाया। कारण जानने पर उन्होंने पृथ्वी को निःक्षत्रिय करने का संकल्प किया। कहते है कि विलाप में माता ने २१ वार छाती पीटी थी अतः इन्होंने इक्कीस वार पृथ्वी को नि.क्षत्रिय किया। श्रीपरशुरामजी ने माता को ढाढ़स दे तुरन्त सहस्रवाहु से युद्ध किया और उसकी भुजाओंको छिन्न-भिन्न कर उसका सिर काट डाला। इतने पर भी उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ। सहस्रार्जुन को मारने के बाद उसके वंश (हैहयवंश) का सफाया किया। पुनः पृथ्वीको क्षत्रियोंसे सूनी कर दी। उसका राज्य ब्राह्मणों को सौंप दिए। परन्तु कुछ काल वाद वँचे वचाये क्षत्रिय जव पुनः वृद्धि को प्राप्त हुए तो वे ब्राह्मणों को निमन्त्रण खिला–खिलाकर, उन्हें फुसला-फुसलाकर पुनः राज्य ले लिए।

परशुराम जी ने पुनः-पुनः संहार किया। इस प्रकार इक्कीस वार क्षत्रियों का संहार कर राज्य ब्राह्मणों को दिए और हर वार क्षत्रिय सहज ही उनसे राज्य ले लेते। तव परशुरामजी ने नाराज होकर ब्राह्मणों को शाप दे दिया कि 'तुम लोग राज्य पाकर भिक्षुक जीवन ही पसन्द करते हो तो सदा भिक्षुक ही वने रहोगे।' इक्कीसवींवार क्षत्रियों का नाश करके परशुरामजी ने अश्वमेधयज्ञ किया और उसमें सारी पृथ्वी कश्यपजी को दान में दे दी। पृथ्वी क्षत्रियों से सर्वथा रहित न हो जाय इस अभिप्राय से कश्यपजी ने उनसे कहा अव यह पृथ्वी हमारी हो चुकी, अव तुम दक्षिण समुद्र की ओर चले जाओ।

चूँकि परशुराम जी के पूर्वजों ने भी यह संहार कार्य अनुचित कह कर परशुराम जी को इससे निवृत्त होने का अनुरोध किया था और कश्यप जी ने भी पृथ्वी छोड़ देने को कहा अतः परशुराम जी दक्षिण समुद्र की ओर ही चले गए। समुद्र ने अपने अन्तर्गत स्थित महेन्द्राचल पर इनको स्थान दिया। परशुरामजी भगवान के आवेशावतार हैं। जव श्रीरामावतार हो गया। तव इनके अवतार कार्य की समाप्ति हो गई। मिथिला पुरी में श्रीराम जी द्वारा शंभु धनु भङ्ग सुन कर आकाश मार्ग से आये और आकर प्रथम तो धनुप तोड़ने वाले को 'वहुत भांति तिन्ह आंख देखाये।' परन्तु अन्तमें श्रीराम तत्व को जान कर अपना वैष्णव धनुप भी श्रीराम को सौंप कर, पुनः पुनः प्रणाम करके तपस्या करने के लिये महेन्द्राचल पर चले गये। यथा—

राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर सन्देहू॥
देत चाप आपुहिं चलि गयऊ। परसुराम मन विसमय भयऊ॥

जाना राम प्रभाव तव, पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि वोले वचन, हृदय न प्रेम अमात॥

जय रघुवंश वनज वन भानू। गहन दनुज कुल दहन कृसानू॥
जय सुर विप्र धेनु हितकारी। जय मद मोह कोह भ्रमहारी॥
कहि जय जय जय रघुकुल केतू। भृगुपति गये वनहिं तप हेतू॥

श्रीपरशुराम जी का अवतार वैशाख शुक्ल ३ मध्याह्न काल में यमुनियाँ (विहार) ग्राम में हुआ था। महाभारत के अनुसार श्रीब्रह्मा, भृगु, च्यवन, और्व, ऋचीक, जमदग्नि के पुत्र श्रीपरशुराम जी थे।

क्षत्रिय रुधिरमये जगदपगत पापम्।
स्नपयसि पयसि शमित भवतापम्।
केशव धृत भृगुपति रूप जय जगदीश हरे॥ (गी० गो०)

श्रीरामावतार—

जव जव होइ धरम कै हानी। वाढ़ै असुर अधम अभिमानी।
करहिं अनीति जाइ नहिं वरनी। सीदहिं विप्रधेनु सुरधरनी॥
तव तव प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा॥
असुरमारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग विस्तारहिं विसद जस, राम जनम कर हेतु॥

तथा—'तुम सारिखे संत प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे।'

अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार अकारण करुण, करुणावरुणालय भक्तवत्सल भगवान श्रीरामचन्द्र जी चार रूप धारण करके श्रीअयोध्याधिपति चक्रवर्ती महाराजाधिराज, श्रीदशरथ जी के पुत्र रूप में अवतीर्ण हुये। महारानी श्रीकौसिल्या जी की कुक्षि से श्रीराम, श्रीकैकयी जी की कुक्षि से श्रीभरत, श्रीसुमित्रा जी की कुक्षि से श्रीलक्ष्मण और शत्रुघ्न प्रकट होकर—

बाल चरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनन्द दासन्ह कहँ दीन्हा।
परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा॥

यथा— कबहूँ ससि माँगत आरि करै, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरै।
कबहूँ कर ताल बजाइ कै नाचत मातु सबै मन मोद भरै॥
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई, जेहि लागि अरै।
अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी मन मन्दिर में बिहरैं॥ (कवितावली)

यथा समय जात कर्म, नाम करण, चूड़ा करण, यज्ञोपवीतादि संस्कार सानन्द सम्पन्न हुये। पश्चात्—गुरु गृह पढ़न गये रघुराई। अलप काल विद्या सब आई॥ इस प्रकार विविध विनोद करते हुये श्रीराम किशोरावस्था में प्रवेश करते है और "जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपा निधि सोइ संजोगा। ………॥ आयसु मांगि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषहिं मन राजा॥" इसी हर्षोल्लास के बीच श्रीविश्वामित्र जी आते हैं और श्रीदशरथ जी महाराज से अपने यज्ञरक्षणार्थ श्रीराम जी एवं श्रीलक्ष्मण जी को मांग ले जाते है। यज्ञ में विघ्न डालने वाले ताड़ुका, मारीच, सुवाहु आदि असंख्यों राक्षसों का सहज ही श्रीराम और लक्ष्मणने वध कर डाला। यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ। फिर श्रीविश्वामित्रजीके साथ जनकपुर में श्रीसीताजीका स्वयंवर देखनेके निमित्त जाकर, विशाल शम्भु-धनु, जिसे त्रैलोक्य के भटमानी वीर डिगा भी न सके थे, उसे श्रीराम ने मध्य से ऐसे तोड़ डाला जैसे मतवाला हाथी कमल नाल को तोड़ डालता है परिणाम स्वरूप—'महि पाताल नाक जस व्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥ धनु भङ्गोपरान्त श्रीपरशुराम जी का आगमन हुआ, जो प्रारम्भ में तो निश्चय ही रङ्ग में भङ्ग सा प्रतीत हुआ परन्तु परिणाम महामङ्गलकारी रहा। श्रीरामके अचिन्त्यानन्त ऐश्वर्य को जान कर परशुराम जी—'कहि जय जय जय रघुकुल केतू। भृगुपति गये बनहिं तब हेतू।' पश्चात् यह शुभ समाचार श्रीअयोध्या भेजा गया और श्रीदशरथ जी आये तो बारात लेकर श्रीराम के व्याह के लिए, परन्तु व्याह हो गया चारों राजकुमारों का। कुछ काल मिथिलापुर वासियों को आनन्द देकर—'भाइन्ह सहित बिआहि घर आये रघुकुल चन्द।' श्रीअयोध्या के आनन्द का ठिकाना नही है। यथा—

दोहा— मंगल मोद उछाह नित, जाहिं दिवस एहि भाँति।
उमगी अवध अनन्द भरि, अधिक अधिक अधिकाति॥

विवाह के बारह वर्ष बाद तेरहवे वर्ष के प्रवेश में, श्रीदशरथ जी महाराज, उत्तम गुणों से युक्त और सत्य पराक्रम वाले सद्गुणशाली अपने प्रियतम, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ पुत्र श्रीराम को, जो प्रजा के हित में संलग्न रहने वाले थे, प्रजा वर्ग का हित करने की इच्छा से प्रेमवश युवराज पद पर अभिषिक्त करना चाहा। तदनन्तर श्रीराम के राज्याभिषेक की तैयारियाँ देख कर रानी कैकेयी ने जिसे पहले ही वर दिया जा चुका था। देव माया से मोहित होकर, मंथरा से उकसाई जाकर, राजा से यह वर मांगा कि श्रीराम का निर्वासन (वनवास) और भरत का राज्याभिषेक हो। कैकेयी का प्रिय करने के लिये, पिता की आज्ञा के अनुसार उनकी प्रतिज्ञा का पालन करते हुए वीर श्रीराम वन को चले। विदेह वंश वैजयन्ती, मिथिलेश राजनन्दिनी श्रीराम प्रिया श्रीजानकी जी एवं श्रीसुमित्रानन्दन लक्ष्मण भी प्रेमवश प्रभुके साथ चल दिये। उस समय पिता श्रीदशरथ जी ने अपना सारथि भेज कर एवं पुरवासियों ने स्वयं साथ जाकर दूर तक उनका अनुसरण किया। फिर शृङ्गवेरपुर में गङ्गा तट पर अपने प्रिय सखा निषादराज गुह के पास पहुँच

कर धर्मात्मा श्रीराम ने सारथि (सुमन्त जी) को अयोध्या के लिए विदा कर दिया। निषादराज गुह, लक्ष्मण और सीता के साथ श्रीराम मार्ग में बहुत जल वाली अनेकों नदियों को पार करके, एक वन से दूसरे वन को गये। महर्षि भरद्वाज जी का दर्शन कर गुह को वापिस कर महर्षि वाल्मीकि जी का दर्शन किये और उनकी आज्ञा से, चित्रकूट पहुँच कर वहाँ वे तीनों देवता और गन्धर्वों के समान वन में नाना प्रकार की लीलाये करते हुए एक रमणीय पर्णकुटी बनाकर उसमें सानन्द रहने लगे।

पुत्रशोक में श्रीदशरथजी के स्वर्गगमन के पश्चात् श्रीवशिष्ठ आदि प्रमुख ब्राह्मणों द्वारा राज्य संचालन के लिये नियुक्त किये जाने पर भी महाबलशाली वीर भरत ने राज्य की कामना न करके, पूज्य श्रीराम को प्रसन्न करने के लिये वन को ही प्रस्थान किया और वहाँ पहुँच कर ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम से यों प्रार्थना किये—धर्मज्ञ ! आप ही राजा हो। परन्तु महान् यशस्वी श्रीराम ने भी पिता के आदेश का पालन करते हुये राज्य की अभिलाषा न की और उन भरताग्रज ने राज्य के लिये न्यास (चिह्न) रूप मे अपनी खडाऊँ भरत को देकर उन्हें बार-बार आग्रह करके लौटा दिया। श्रीभरत ने श्रीराम के चरणो का स्पर्श किया और श्रीराम के आगमन की प्रतीक्षा करते हुये वे नन्दिग्राम में रहकर राज्य कार्य सँभालने लगे। श्रीभरत के लौट जाने पर सत्य प्रतिज्ञ श्रीराम ने, वहाँ पर नागरिको का पुनः आना-जाना देखकर उनसे बचने के लिये दण्डकारण्य में प्रवेश किया। उस महान वन मे पहुँचने पर महावीर श्रीराम ने विराध नामक राक्षस को मार कर, श्रीशरभङ्ग सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि मुनियो का दर्शन किया। श्रीरामने दण्डकारण्यवासी अग्नि के समान तेजस्वी उन ऋषियो को राक्षसों के मारने का वचन दिया। और सग्राम में उनके वध की प्रतिज्ञा की।

इसके पश्चात् वहाँ ही रहते हुए श्रीराम ने इच्छानुसार रूप बनाने वाली जनस्थान निवासिनी शूर्पणखा नाम की राक्षसी को लक्ष्मण के द्वारा उसके नाक कान कटा कर कुरूप कर दिया। पश्चात् सूपनखा के द्वारा प्रेरित होकर चढ़ाई करने वाले खर, दूषण, त्रिशिरादि चौदह हजार राक्षसो को श्रीराम ने युद्ध में मार डाला। तदनन्तर राक्षसेन्द्र रावण ने प्रतिशोध की भावना से मारीच की सहायता से श्रीजानकीजी का अपहरण कर लिया और श्रीजानकीजीको लेकर जाते समय मार्गमे विघ्न डालनेके कारण श्री जटायूजी को आहत कर दिया। पितृवत् पूज्य जटायू के द्वारा ही श्रीरामजी को श्रीजानकी जी का पता मिला तब वे अपनी गोद मे प्राण त्यागे हुए श्रीजटायूजी का अग्नि सस्कार कर वन में श्रीसीताजी को ढूँढते हुए उन्होने कबन्ध नामक राक्षस को देखा। तो उसे भी तत्काल मारकर शुभ गति प्रदान किया। कबन्ध के द्वारा सकेत पाकर श्रीराम परम भागवती शबरी जी के यहाँ गये। उसने उनका पूजन किया। श्रीराम ने शबरी का मातृवत् सम्मान किया। उत्तम गति प्रदान की। फिर शबरी के सकेतानुसार श्रीहनुमानजी से मिलकर सुग्रीवजी से मित्रता किये और सुग्रीव के कथनानुसार संग्राम मे बाली को मारकर उसके राज्य पर श्रीराम ने सुग्रीव को ही बिठा दिया।

तब उन वानर राज सुग्रीव ने भी सभी वानरों को बुलाकर श्रीजानकी जी का पता लगाने के के लिये भेजा। सम्पाति नामक गृध्र के पता बताने पर महा बलवान श्रीहनुमानजी सौ योजन विस्तार वाले क्षारसमुद्र को कूद कर लांघ गये। वहाँ रावण पालित लंका पुरीमे पहुँच कर उन्होंने अशोक वाटिका मे श्रीसीताजी को चिन्तामग्न देखा। तब उन विदेह नन्दिनी को पहचान (मुद्रिका) देकर श्रीरामका सन्देश सुनाया और उन्हे सान्त्वना देकर उन्होंने वाटिका को विध्वस कर डाला और अक्षय कुमारादि

असंख्य राक्षसों का संहार कर डाला, इसके वादमें वे जान बूझ कर पकड़मे आगये। श्रीब्रह्माजीके वरदान से अपने को ब्रह्म पाश से छूटा हुआ जानकर भी वीर हनुमानजी ने अपने को वांधने वाले उन राक्षसों का अपराध स्वेच्छानुसार सह लिया। तत्पश्चात् मिथिलेश कुमारी सीताके स्थानके अतिरिक्त समस्त लका को जलाकर वे महाकपि श्रीहनुमानजी, श्रीराम को प्रिय सन्देश सुनाने के लिये लंका से लौट आये और श्री-रामजी की प्रदक्षिणाकर श्रीजानकी जी का पता वताया। इसके अनन्तर असंख्य वानर सेना को साथ लेकर श्रीराम ने महासागर के तट पर जाकर सूर्य के समान तेजस्वी वाणों से समुद्र को क्षुब्ध किया। तब नदी पति समुद्र ने अपने को प्रकट कर दिया, फिर समुद्र के ही कहने से श्रीराम ने नल, नील से पुल निर्माण कराया। उसी पुल से लंकापुरी में जाकर रावण को सदलवल मारकर श्रीजानकी जी को प्राप्त किया।

पश्चात्, चूँकि श्रीराम को वड़ी लज्जा हुई अतः भरी सभा में श्रीसीता के प्रति मर्म भेदी वचन कहने लगे। उनकी इस वात को न सह सकने के कारण साध्वी सीता ने अपनी अग्नि परीक्षा दी। इसके बाद अग्नि के कहने से श्रीरामने श्रीसीता को निष्कलङ्क माना। महात्मा श्रीरामचन्द्र के इस कर्म से देवता और ऋषियों सहित चराचर त्रिभुवन सन्तुष्ट हो गया। फिर सभी देवताओंसे पूजित होकर श्रीराम वहुत प्रसन्न हुए और राक्षस-राज विभीषण जी को लका के राज्य पर अभिषिक्त करके तथा स्वयं देव-ताओं से वर पाकर और मरे हुए वानरों को जीवन दिलाकर अपने सभी साथियों के साथ पुष्पक विमान पर चढ़कर अयोध्या के लिए प्रस्थित हुए। भरद्वाज मुनि के आश्रम पर पहुंच कर सबको आराम देने वाले सत्य पराक्रमी श्रीराम ने भरत के पास हनुमानजी को भेजा, पुनः श्रीहनुमान्‌जी से श्री अवध का समाचार पाकर भरद्वाज आश्रम से अयोध्या के लिये प्रस्थित हुए। श्रीअयोध्या पहुँच कर श्रीअवध-वासियोंके उमड़ते हुए अनुरागको देखकर "अमित रूप प्रगटे तेहिकाला। यथा जोग मिले सबहि कृपाला" पश्चात् श्रीवशिष्ठ जी के आदेशानुसार शुभघड़ी में श्रीरामभद्र जू राज्य सिंहासनासीन हुए। श्रीरामजी के सिंहासन पर वैठते ही त्रैलोक्य परम आनन्दित हो गया। यथा—"राम राज वैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सव सोका। श्रीरामावतार त्रेता युग में श्रीअयोध्या में चैत्र शुक्ल नवमी को हुआ था।

यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयोदिगिभेन्द्रपट्टम्।
तं नाकपाल वसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥ (भा० ९-११-२१)

अर्थ—जिन भगवान श्रीराम का निर्मल सुयश सभी प्रकार के पापों को नष्ट करने वाला है। उसकी उज्वलतासे दिग्गजों के श्यामल शरीर भी चमक रहे है। वड़े-वड़े ऋषि-महर्षि आज भी राजाओं की सभाओं में उसका गान करते हैं। स्वर्ग के देवता और पृथ्वी के राजा लोगों के कमनीय किरीटों से जिनके चरण कमल सेवित है, उन्हीं रघुवशभूषण श्रीरामचन्द्र जी की मैं शरण ग्रहण करता हूँ॥

"सियावर रामचन्द्र की जय"

श्रीकृष्णावतार—"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।" साधु-पुरुषों के परित्राण, दुष्टों के विनाश,और धर्म संस्थापन के लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ। अपने इस वचन को पूर्ण चरितार्थ करते हुए अखिल रसामृतसिन्धु, षडैश्वर्यवान्, सर्वलोक महेश्वर स्वयं भगवान श्रीकृष्ण भाद्रपद की कृष्णाष्टमीकी अर्धरात्रि को कंस के कारागार में परम अद्भुत

चतुर्भुज नारायणरूप से प्रकट हुये। वात्सल्य भाव-भावित हृदया माता देवकी की प्रार्थना पर भक्त वत्सल भगवान ने प्राकृत शिशु का सा रूप धारण कर लिया। श्रीवसुदेव जी भगवान की आज्ञानुसार शिशु रूप भगवान को नन्दालय मे श्रीयशोदा के पास सुलाकर बदले मे यशोदात्मजा जगदम्बा महामाया को ले आये। गोकुल में नन्द बाबा के घर ही जात कर्मादि महोत्सव मनाये गये। भगवान श्रीकृष्ण की जन्म से ही सभी लीलायें अद्भुत और अलौकिक हैं। पालने में झूल रहे थे उसी समय लोकबालघ्नी रुधिराशना पिशाचिनी पूतना के प्राणो को दूध के साथ पी लिया। शकट भंग किया। तृणावर्त, बकासुर एव वत्सासुर को पीस डाला। सपरिवार धेनुकासुर और प्रलम्बासुर को मार डाला। दावानल से घिरे गोपों की रक्षा की। कालिय नाग का दमन किया। श्रीनन्द बाबा को अजगर से छुडाया। इसके बाद गोपियों ने भगवान को पतिरूप से प्राप्त करने के लिये व्रत किया और भगवान श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर उन्हे वर दिया। भगवान ने यज्ञ पत्नियो पर कृपा की। गोवर्द्धन-धारण की लीला करने पर इन्द्र और कामधेनु ने आकर भगवान का यज्ञाभिषेक किया। शरद ऋतु की रात्रियो मे व्रज सुन्दरियो के साथ रास क्रीड़ा की। दुष्ट शङ्खचूड़, अरिष्ट और केशी का वध किया।

तदनन्तर अक्रूर जी मथुरा से वृन्दावन आये और उनके साथ भगवान श्रीकृष्ण तथा बलराम जी ने मथुरा के लिये प्रस्थान किया। श्रीराम और श्याम ने मथुरा में जाकर वहाँ की सजावट देखी और कुवलयापीड़ हाथी, मुष्टिक चाणूर एवं कस आदि का संहार किया। सान्दीपनि गुरु के यहाँ विद्याध्ययन करके उनके मृत पुत्रों को लौटा लाये। जिस समय भगवान श्रीकृष्ण मथुरा में निवास कर रहे थे उस समय उन्होने उद्धव और बलराम जी के साथ यदुवशियों का सब प्रकार से प्रिय और हित किया। जरासंध कई बार बडी-बड़ी सेनाये लेकर आया और भगवान ने उनका उद्धार करके पृथ्वी का भार हल्का किया। कालयवन को मुचुकुन्द से भस्म करा दिया। द्वारकापुरी बसा कर रातो रात सबको वहाँ पहुचा दिया। स्वर्ग से कल्प वृक्ष एव सुधर्मा सभा ले आये। भगवान ने दल के दल शत्रुओ को युद्ध मे पराजित करके श्रीरुक्मिणी का हरण किया। बाणासुर के साथ युद्ध के प्रसंग मे महादेव जी पर ऐसा बाण छोड़ा कि वे जंभाई लेने लगे और इधर बाणासुर की भुजाये काट डाली। प्राग्ज्योतिषपुर के राजा भौमासुर को मार कर सोलह हजार कन्याये ग्रहण की। शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व, दुष्ट दन्तवक्त्र, शम्बरासुर, द्विविद, पीठ, मुर, पञ्चजन आदि दैत्यो के बल पौरुष को चूर्ण कर उनका वध किये। महाभारत युद्ध मे पाण्डवों को निमित्त बना कर पृथ्वी का बहुत बडा भार उतार दिया और अन्त में ब्राह्मणो के शाप के बहाने यदुवंश का सहार किया। श्रीउद्धव जी की जिज्ञासा पर सम्पूर्ण आत्मज्ञान और धर्म निर्णय का निरूपण किया। इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण की अनन्त अद्भुत अलौकिक लीलायें हैं। जो जगत के प्राणियो को पवित्र करने वाली हैं॥ (भागवत)

श्रीकृष्ण-अवतार द्वापर में श्रीवसुदेव जी की पत्नी देवकी के गर्भ से भाद्रपद कृष्ण, अष्टमी को मथुरा में कंस के कारागार में हुआ था॥

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोल मुद्बिभ्रते,
दैत्यं दारयते बलिं छलयतेक्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥ (गी०गो०)

अर्थ—मीनरूप से वेदों का उद्धार करने वाले, कच्छपरूप से ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले, वराह रूप से पृथ्वी को धारण करने वाले, नृसिहरूप से हिरण्यकशिपु दैत्य के नाशक, वामन रूप से बलि को छलने वाले, परशुराम रूप से क्षत्रियों के नाशकर्ता, रामरूप से रावण को जीतने वाले, वलदेवरूप से हल को धारण करने वाले, बुद्धरूप से अत्यन्त दयाशील और कल्किरूप से म्लेच्छों के नाशक, इस प्रकार दशावतारधारी हे श्रीकृष्ण ! आपको नमस्कार है ॥

श्रीबुद्ध-अवतार—एक बार दैत्यों ने इन्द्र से पूछा कि किस काम को करने से हमारा राज्य स्थिर रह सकता है। इन्द्र ने शुद्धभाव से उत्तर दिया कि तुम लोग यज्ञ और वेद विहित आचार करो। तब दैत्यों ने भी यज्ञानुष्ठान प्रारम्भ कर दिया। परन्तु स्वभाव से तमोगुणी होने के कारण उनके सभी धर्म-कर्म, यज्ञ-व्रत, दान तमो बहुल होते थे और उनकी देखा-देखी और लोग भी वैसा ही करने लगे थे। अतः सर्वथा अनधिकारी, तमोगुणी, देवद्रोही दैत्यों को मोहित कर विहित यज्ञों से विरत करने के लिये द्वापर युग के अन्त में भगवान ने गया में राजा शुद्धोदन की पत्नी माया से बुद्ध अवतार लिया। गौतम गोत्र होने से गौतम नाम ही पड़ा। श्रीमद्भागवत जी में भी श्रीब्रह्मा जी ने नारद जी से कहा है कि देवताओं के शत्रु दैत्यगण जब वेद मार्ग का सहारा लेकर वेदमार्ग में स्थित रह कर मय-दानव के बनाए हुए अदृश्य अलक्षित गति वाले पुरों में रह कर लोगों को नष्ट करेंगे तब भगवान उनकी बुद्धि में मोह और लोभ उत्पन्न करने वाला बुद्ध भेष धारण कर उन्हें कितने ही उपधर्मों का उपदेश करेंगे। यथा—

देवद्विषाँ निगमवर्त्मनि निष्ठितानां पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः।
लोकान्घ्नतां मति विमोहमतिप्रलोभं, वेषं विधाय बहुभाष्यत औपधर्म्यम्॥"

(भागवते २।७।३७)

श्रीअक्रूर जी ने भी बुद्ध जी को दैत्य दानव मोहिने विशेषण दिया है। श्रीबुद्ध जी का बचपन का नाम सिद्धार्थ था। ये स्वभाव से बड़े दयावान थे। किसी का भी किञ्चित् मात्र भी दुःख देख लेते तो विकल हो जाते। यही कारण है कि उनके पिता राजा शुद्धोदन की ओर से राज्य में ऐसी व्यवस्था थी कि कोई दुःखमय प्रसंग इनके दृष्टिपथ में न आने पाये। परन्तु यह सब होने पर भी दैवयोग से एक दिन सहसा एक रुग्ण पुरुष को, कुछ ही दिन बाद एक अत्यन्त वृद्ध पुरुष को, पश्चात् एक मृतक को देख कर इनकी आत्मा सिहर उठी और उसी दिन से ये जगत से उदास हो गए।

इनकी यह उदासीनता माता-पिता को खली और इन्हें जगत प्रपंच में फँसाने के लिए अत्यन्त रूपवती यशोधरा नामकी कन्या से विवाह कर दिया और समय पर सिद्धार्थ के राहुल नाम का एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। परन्तु उदासीनता मिटी नहीं बल्कि बढती ही गई। परिणामस्वरूप अपनी प्रिय पत्नी यशोधरा, नवजात पुत्र राहुल, स्नेह मूर्ति पिता महाराज शुद्धोदन तथा वैभव सम्पन्न राज्य इन सबको ठुकराकर युवावस्था में ही गौतम घर से निकल पड़े। केवल तर्क-पूर्ण बौद्धिक-ज्ञान उन्हें सन्तुष्ट करने में समर्थ नही था। उन्हें तो रोग पर, बुढापे पर और मृत्यु पर विजय पानी थी। उन्हें शाश्वत जीवन अमरत्व अभीष्ट था। प्रख्यात विद्वानो, उद्भट शास्त्रज्ञों के समीप वे गए किन्तु वहाँ उनको सन्तोष नहीं हुआ। आश्रमों से, विद्वानों से निराश होकर वे गया के समीप वन में आए तपस्या करने लगे। जाड़ा, गर्मी और

वर्षा में भी वुद्ध जी वृक्ष के नीचे अपनी वेदिका पर स्थिर वैठे रहे। उन्होने सब प्रकार का आहार वन्द कर दिया था। दीर्घ कालीन तपस्या के कारण उनके शरीर का मास और रक्त सूख गया, केवल हड्डियाँ नसे और चर्म ही शेष रहा। गौतम का धैर्य अविचल था। कष्ट क्या है इसे वे अनुभव ही नही करते थे। किन्तु उन्हे अपना अभीष्ट प्राप्त नहीं हो रहा था। सिद्धियाँ मँडराती, परन्तु एक सच्चे साधक, सच्चे मुमुक्षु के लिए सिद्धियाँ वाधक है अतः गौतम ने उन पर दृष्टिपात ही नही किया।

एक दिन जहाँ गौतम तपस्या कर रहे थे उस स्थान के समीप के मार्ग से कुछ स्त्रियाँ गाती-वजाती निकली। वे जव गौतम की तपोभूमि के पास पहुँची। तव एक गीत गा रही थी। जिसका आशय था "सितार के तारो को ढीला मत छोड़ो नही तो वे वेसुरे हो जायँगे परन्तु उन्हे इतना खीचो भी मत कि वे टूट जाँय।" गौतम के कानो में वह सगीतध्वनि पड़ी। उनकी प्रज्ञा में सहसा प्रकाश आ गया— "साधना के लिए केवल कठिन तपस्या ही उपयुक्त नही है, सयमित भोजन एव नियमित निद्रादि व्यवहार भी आवश्यक है। इस प्रकार सम्यक् वोध प्राप्त कर लेने पर गौतम का नाम 'गौतम वुद्ध' पडा। तत्वज्ञान होने के वाद भगवान वुद्ध वाराणसी चले आए और अपना सर्व प्रथम उपदेश 'सारनाथ' मे दिये।

उपदेश—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, व्रह्मचर्य, नृत्य गानादि त्याग, सुगन्ध माला त्याग, असमय भोजन त्याग, कोमल शय्या त्याग, कामिनी-कञ्चन का त्याग, ये दस सूत्र आपने दुःख उन्मूलन एव निर्वाण प्राप्ति मे परमोपयोगी वताये है।

धम्मं शरणं गच्छामि, वुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।

यह वुद्ध जी का शरणागति मन्त्र है।

श्रीगौतम वुद्ध के अन्दर अद्भुत शान्ति, सहनशीलता और जीवों के प्रति दया थी। एक वार भरद्वाज नाम का एक व्राह्मण भगवान वुद्ध से दीक्षा लेकर भिक्षु हो गया। उसका एक सम्वन्धी इससे अत्यन्त क्षुब्ध होकर वुद्ध जी के समीप पहुँचा और उन्हें अपशब्द कहने लगा। वुद्धदेव तो देव ही ठहरे देवता के समान ही वे शान्त मौन वने रहे। व्राह्मण अन्ततः अकेला कहाँ तक गाली देता। वह थक कर चुप हो गया। अव वुद्ध जी ने पूछा क्यो भाई! तुम्हारे घर कभी अतिथि आते है? व्राह्मण ने उत्तर दिया—"आते तो हैं।" वुद्धदेव जी ने पूछा, "तुम उनका सत्कार करते हो।" व्राह्मण खीझ कर वोला "अतिथि का सत्कार कौन मूर्ख नही करेगा।" वुद्ध जी वोले, "मान लो कि तुम्हारी अर्पित वस्तुएँ अतिथि स्वीकार न करे, तो वे कहाँ जायेंगी?" व्राह्मण ने फिर झुँझलाकर कहा, "वे जायेगी कहाँ, अतिथि उन्हें नही लेगा तो वे मेरे पास आ जायेगी।" वुद्धने शान्ति से कहा—तुम्हारी दी हुई गालियाँ मैं स्वीकार नही करता अव यह गालियाँ कहाँ जायेंगी? किसके पास रहेगी?" व्राह्मण का मस्तक लज्जा से झुक गया। उसने भगवान वुद्ध से क्षमा माँगी।

भगवान वुद्ध का एक पूर्ण नामक शिष्य उनके समीप एक दिन आया और उसने तथागत से धर्मोपदेश प्राप्त करके 'सुनापरन्त' प्रान्त मे धर्मप्रचार के लिये जाने की आज्ञा माँगी। तथागत ने कहा —'उस प्रान्त के लोग तो अत्यन्त कठोर तथा वहुत क्रूर हैं। वे तुम्हें गाली देंगे, तुम्हारी निन्दा करेंगे, तो तुम्हें कैसा लगेगा? पूर्ण वोले—'भगवन्! मैं समझूँगा कि वे लोग वहुत भले लोग हैं, क्योंकि वे हमें

थप्पड़ घूँसे तो नहीं मारते। 'बुद्ध बोले—'यदि वे तुम्हें थप्पड़ और घूँसे मारने लगें तो?' पूर्ण बोले—'मुझे पत्थर या डंडों से तो नही पीटते, इससे मैं सत्पुरुष मानूँगा।' बुद्ध बोले—वे पत्थर-डंडों से भी पीट सकते हैं।' पूर्ण बोले—'वे शस्त्र-प्रहार तो नहीं करते, इससे वे दयालु हैं—ऐसा मानूँगा। बुद्ध बोले—'यदि वे शस्त्र प्रहार करे?' पूर्ण बोले—'मुझे वे मार नही डालते, इससे मुझे उनकी कृपा दीखेगी।' बुद्ध बोले—'ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वे तुम्हारा वध नहीं करेंगे।' पूर्ण बोले—'भगवन! यह संसार दुःख रूप है। यह शरीर रोगों का घर है। आत्मघात पाप है, इसलिए जीवन धारण करना पड़ता है। यदि 'सुनापरन्त (सीमाप्रान्त) के लोग मुझे मार डाले तो मुझ पर वे उपकार ही करगे। वे लोग बहुत अच्छे सिद्ध होंगे।' भगवान बुद्ध प्रसन्न होकर बोले—पूर्ण! जो किसी दशा में किसी को भी दोषी नहीं देखता, वही सच्चा साधु है। तुम अब चाहे जहाँ जा सकते हो, धर्म सर्वत्र तुम्हारी रक्षा करेगा।'

बुद्ध जी की अद्भुत उपदेश शैली—गौतमी का प्यारा इकलौता पुत्र मर गया। उसको बहुत बड़ा शोक हुआ। वह पगली-सी हो गयी और पुत्र की लाश को छाती से चिपका कर 'कोई दवा दो' कोई मेरे बच्चे को अच्छा करदो' एवं प्रकारेण चिल्लाती हुई इधर-उधर दौड़ने लगी। लोगों ने बहुत समझाया, परन्तु उसकी समझ में कुछ नही आया। उसकी बड़ी ही दयनीय स्थिति देखकर एक सज्जन ने उसे भगवान् बुद्ध के पास यह कहकर भेज दिया कि—'तुम सामने के विहार में भगवान् के पास जाकर दवा माँगो, वह निश्चय ही तुम्हारा दुःख मिटा देगे।' गौतमी दौड़ी हुई गयी और बच्चे को जिलाने के लिए भगवान् बुद्ध से रो-रोकर प्रार्थना करने लगी। भगवान्ने कहा—"बड़ा अच्छा किया, तुम यहाँ आ गयी। बच्चे को मैं जिला दूँगा। तुम जाकर जिसके घर में कोई भी आज तक मरा न हो, उससे कुछ सरसों के दाने माँग लावो।' गौतमी बच्चे की लाश को छाती से चिपकाये दौड़ी और लोगों से सरसों के दाने मांगने लगी, जब किसी ने देना चाहा, तब उसने कहा—'तुम्हारे घर में आजतक कोई मरा तो नही है न? मुझे उसी से सरसों लेनी है जिसके घर में कभी कोई मरा न हो।' उसकी इस बात को सुनकर घर वालों ने कहा—'भला ऐसा भी कोई घर होगा जिसमें कोई आजतक मरा न हो। मनुष्य तो हर घर में मरते ही हैं। वह घर-घर फिरी पर सभी जगह एक ही जवाब मिला। तब उसकी समझ में आया कि मरना तो हर घर का रिवाज है। जो जन्मता है, वह मरता भी है। मृत्यु किसी भी उपाय से टलती नहीं। टलती होती तो क्यों कोई अपने प्यारे को मरने देता? एक घर में ही नही जगत भरमें सभी जगह मृत्यु का विस्तार है। बस जब यह बात ठीक-ठीक समझ में आ गयी तब उसने बच्चे की लाश को लेजाकर श्मशान में गाड़ दिया और लौटकर भगवान बुद्ध से सारी बातें कह दी। भगवान् ने उसे फिर समझाया कि देखो—'यहां जो जन्म लेता है उसे मरना ही पड़ेगा। यही निश्चय है। जैसे हमारे घर के मरते है, वैसे हम भी मर जायेंगे। इसलिए मृत्यु का शोक न करके उस स्थिति की चिन्ता करनी चाहिये, जिसमें पहुँच जाने पर जन्म ही न हो। जन्म न होगा तो मृत्यु आप ही मिट जायेगी। बस समझदार आदमी को यही करना चाहिये।'

> निन्दसि यज्ञ विधेरहह श्रुति जातम्। सदय हृदय दर्शित पशुघातम्।
> केशव धृत बुद्ध शरीर जय जगदीश हरे॥ (गी० गो०)

कल्कि अवतार—कलियुग के अन्त में जब सत्पुरुषों के घर भी भगवान् की कथा में बाधा होगी. ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पाखण्डी हो जायेंगे और शूद्र राजा होगे, यहां तक कि कहीं भी

स्वाहा, स्वधा और वषट्कार की ध्वनि नहीं सुनायी पड़ेगी। जब राजा लोग प्रायः लुटेरे हो जायेंगे, तब कलियुग का शासन करने के लिये भगवान् वालकरूप में शभल ग्राम में विष्णुयश के घर में अवतार ग्रहण करेंगे। यथा

'यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्यु', पाखण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः।
स्वाहास्वधा वषडिति स्मगिरो न यत्र शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान्युगान्ते॥
"अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्कि र्जगत्पतिः॥" (भा०)

अर्थ—जब कलियुग का अन्त समीप होगा और राजा लोग प्रायः लुटेरे हो जायँगे, तब जगत के रक्षक भगवान विष्णुयश नामक ब्राह्मण के घर कल्कि रूप में अवतीर्ण होंगे॥

"शम्भल ग्राम मुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति॥ (भा०)

अर्थ—शम्भलग्राम (मुरादाबाद जिला) में विष्णु यश नाम के एक श्रेष्ठ ब्राह्मण होंगे। उनका हृदय बड़ा उदार एवं भगवद्भक्ति से पूर्ण होगा। उन्हीं के घर कल्कि भगवान अवतार ग्रहण करेंगे। बालक का नाम कल्किविष्णु यश होगा। मन के द्वारा चिन्तन करते ही उनके पास इच्छानुसार वाहन, अस्त्र-शस्त्र, योद्धा और कवच उपस्थित हो जायँगे। यथा—"मनसा तस्यसर्वाणि वाहनान्यायुधानि च॥ उपस्थास्यन्ति योधाश्च शस्त्राणिकवचानि च॥' परशुरामजी उनको वेद पढ़ावेंगे। शिवजी शस्त्रास्त्रों का सँधान सिखावेंगे, साथ ही एक घोड़ा और एक खड्ग देंगे। तब कल्कि भगवान ब्राह्मणों की सेना साथ लेकर संसार में सर्वत्र फैले हुए म्लेक्षों का नाश करेंगे। पापी दुष्टों का नाश करके वे सत्ययुग के प्रवर्तक होंगे। वे ब्राह्मणकुमार बड़े ही बलवान्, बुद्धिमान और पराक्रमी होंगे। धर्म के अनुसार विजय प्राप्त कर वे चक्रवर्ती राजा होंगे और इस सम्पूर्ण जगत को आनन्द प्रदान करेंगे। (म० भा० वन० १६०-६५-६६)।

म्लेच्छनिवह निधने कलयसि करवालम्। धूमकेतुमिव कमपि करालम्।
केशव धृत कल्कि शरीर जय जगदीश हरे॥ (गी० गो०)

११—श्री व्यास जी—चेदि देश के राजा वसु पर अनुग्रह करके देवराज इन्द्रने एक दिव्य विमान दिया था जिस पर बैठकर वे आकाश में सबके ऊपर विचरते थे अतः उनका नाम उपरिचर वसु पड़ गया था। एक बार राजा उपरिचर वसु अपनी ऋतु स्नाता पत्नी गिरिका को, जिसने पुत्रोत्पत्ति की कामना से उचित समय पर समागम की प्रार्थना की थी, उसे छोड़कर, पितरों की तृप्ति के लिये मेध्य पशुओं का वध करने के लिये वन में चले गये। वन में ऋतुराज वसन्त की अद्भुत शोभा देख कर राजा को कामोद्दीपन हुआ जिससे उनका वीर्य स्खलित हो गया। राजा ने यह विचार कर कि मेरा वीर्य भी व्यर्थ न जाय और रानी का ऋतुकाल भी व्यर्थ न हो, अशोक पत्र पुट में रखकर एक बाज पक्षी के द्वारा उस वीर्य को रानी के पास भेजा। सयोग वस मार्ग में एक दूसरे बाज से संघर्ष हो जाने के कारण वह वीर्य जमुना नदी में गिर गया, जिसे ब्रह्माजी के शाप से—मछली रूप धारिणी अद्रिका नाम की अप्सरा

पी गई, और कालान्तरमे जब मत्स्यजीवी मल्लाहों के जालमें वह मछली फँसी और मछुओ ने उसके पेटको चीरा तो उसमें अत्यन्त सुन्दर एक पुत्र और एक कन्या रत्न को पाया। मछुओं ने उन दोनों सन्तानों को राजा उपरिचर वसु को निवेदन किया। राजा ने पुत्र तो स्वय ले लिया जो आगे चलकर मत्स्य नामक बड़ा धर्मात्मा राजा हुआ। कन्या के शरीर से मछली की गन्ध आती थी अतः उसे दासराज नामक मल्लाह को सौंप दिया। वह रूप के साथ-साथ सत्य से युक्त थी। अतः उसका सत्यवती नाम पड़ा।

एक बार तीर्थ यात्रा के उद्देश्य से विचरने वाले महर्षि पराशर ने उसे देखा तो, शुभ संयोग देखकर बुद्धिमान पराशर ने उसके साथ समागम की इच्छा प्रकट की। सत्यवती ने संकुचित होकर, अपने कन्यात्व को दूषित होने, दिन होने के कारण नदी के आर-पार दोनों तटों पर उपस्थित [illegible]गों द्वारा देखे जाने, तथा अपने शरीर से मछली की सी दुर्गन्धि निकलने की बात कही। समर्थ ऋषि [illegible]तीनों कठिनाइयाँ तत्काल दूर कर दी। आशीर्वाद दिया—तुम्हारा कन्या-भाव सुरक्षित रहेगा। [illegible]रीर से सुन्दर सुगन्धि निकलेगी जो एक योजन तक फैलेगी, और कुहराकी सृष्टि कर चारों ओर अन्धेर[illegible]र दिया। तब तो वरदान पाकर प्रसन्न हुई सत्यवती ने उस अद्भुत कर्मा महर्षि पराशर के साथ समागम किया और तत्काल ही एक शिशु को जन्म दिया। यह शिशु ही, पराशरजी से उत्पन्न होने से पाराशर्य, जमुनाजी के द्वीप (जल से घिरा भूभाग)में उत्पन्न होने से द्वैपायन, वेदों का व्यास (विस्तार) करने से वेदव्यास नाम से विख्यात हुआ। इन्होंने माता से कहा—'आवश्यकता पड़ने पर तुम मेरा स्मरण करना, मैं अवश्य दर्शन दूँगा। इतना कह कर माता की आज्ञा ले श्रीव्यासजी ने तपस्या में मन लगाया। श्रीव्यास जी ने देखा कि प्रत्येक युग में धर्म का एक-एक पाद लुप्त होता जा रहा है। मनुष्यों की शक्ति और आयु क्षीण हो चली है, यह सब देख सुनकर उन्होंने वेद और ब्राह्मणों पर अनुग्रह करने की इच्छा से वेदों का व्यास (विस्तार) किया। वेद में सबका अधिकार न होने से सर्व साधारण को वेद-तात्पर्य सुलभ कराने की दृष्टि से, आपने पाँचवें वेद तुल्य महाभारत (इतिहास ग्रन्थ) की रचना की। फिर वेदों का अर्थ स्पष्ट करने के लिये ही सत्रह पुराणों की रचना की। परन्तु मन में जैसी शान्ति चाहिये वैसी शान्ति नहीं होने से, अपने को अकृतार्थ सा मानकर, खिन्नता को प्राप्त श्रीव्यासजी ने देवर्षि नारद जी की प्रेरणा से श्रीमद्भागवत महापुराण की रचना कर परम विश्राम पाया। परमहंसाचार्य श्रीशुकदेवजी आप के पुत्र हैं।

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारत तैल पूर्ण प्रज्वालितो ज्ञानमयं प्रदीपम्॥

१२—**श्रीपृथु जी**—महाराज 'अङ्ग' की पत्नी सुनीथा, जो साक्षात् मृत्यु की कन्या थीं उससे 'बेन' नामक पुत्र हुआ, जो अपने नाना मृत्यु के स्वभाव का अनुसरण करने के कारण अत्यन्त क्रूर-कर्म करने वाला हुआ। फलस्वरूप उसकी दुष्टता से उद्विग्न होकर राजर्षि अङ्ग नगर छोड़कर चले गये। राजा के अभाव में राज्यमें अराजकता न फैल जाय, इसलिये ऋषियों ने और कोई उपाय न देखकर बेन को अयोग्य होने पर भी राजपद पर अभिषिक्त कर दिया। स्वभाव से क्रूर, ऐश्वर्य पाकर अत्यन्त उन्मत्त, विवेक शून्य बेन जब धर्म एवं धर्मात्मा पुरुषोंको विनष्ट करने पर तुल गया। ऋषियोंके समझाने पर भी समझना तो दूर रहा, उल्टे उनकी अवहेलना किया। तब क्षुब्ध ऋषियों ने क्रोध करके हुंकार मात्र से बेन

को मार डाला। परन्तु कोई राजा नही होने के कारण लोक में लुटेरो के द्वारा प्रजा को वहुत कष्ट होने लगा। यह देखकर ऋषियों ने वेन के शरीर का मन्थन किया। प्रथम जाघ का मन्थन किया तो उसमें से एक वौना पुरुष, कुरूप, काला-कलूटा उत्पन्न हुआ और जव उसने पूछा कि मैं क्या करू ? तो ऋषियों ने कहा—'निषीद' (वैठ जा) इसी से वह निषाद कहलाया। फिर वेन की भुजाओ का मन्थन किया तो एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा प्रकट हुआ। ऋषियोने पुरुषको 'पृथु' नाम से एवं स्त्री को 'अर्चि' नाम से सम्वोधित किया। ऋषि-ब्राह्मणों को श्रीपृथु जी के हाथ में विना किसी रेखा से कटा हुआ चक्र का एवं पांव में कमल का चिह्न देखकर, यह जानकर वडा हर्ष हुआ कि पृथु के रूप मे साक्षात् श्रीहरि के अंग ने ही संसार की रक्षा के लिये अवतार लिया है और अर्चि के रूप मे निरन्तर भगवान की सेवा में रहने वाली श्रीलक्ष्मी जी ही प्रकट हुई हैं।

सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत महाराज पृथु का विधिवत् राज्याभिषेक हुआ। उस समय अनेक अलङ्कारों से सजी हुई महारानी अर्चि के साथ वे दूसरे अग्निदेव के सदृश जान पडते थे। सव लोगों ने उन्हें तरह-तरह के उपहार भेंट किये। इसके पश्चात् सूत, मागध और वन्दीजनों ने स्तुति की। ब्राह्मणो ने पृथु जी को प्रजा का रक्षक उद्घोषित किया।

वेन के अत्याचार से उत्पीडित पृथ्वी ने समस्त औषधियों को अपने में छिपा लिया था और चूंकि वहुत समय वीत गया था अतः वे औषधियाँ पृथ्वी के उदर में जीर्ण हो गई थी। यही कारण है कि जव श्रीपृथु जी का राज्य हुआ तव भी पृथ्वी रसा होकर भी रसहीना ही वनी रही। फलस्वरूप भूख के कारण प्रजाजनों के शरीर सूख कर काँटे हो गये थे। उन्होने अपने स्वामी पृथु के पास आकर कहा। तव पृथुजी ने क्रोध मे भरकर पृथ्वी को लक्ष्यकर वाण चढाया पृथ्वी प्रथम तो डरकर गोरूप धारण कर भागी, परन्तु कही भी वचाव न देखकर श्रीपृथु जी की शरण मे आ गई। तव श्रीपृथु जी ने पृथ्वी के सकेत से गोरूप धारिणी पृथ्वी का दोहन किया जिससे पुनः सभी अन्न औषधियाँ प्रकट हो गयी। प्रजा सुख चैन से रहने लगी।

परम धर्मात्मा श्रीपृथु जी ने सौ अश्वमेधयज्ञ करने का संकल्प कर निन्यानवे यज्ञ पूर्ण होने पर जव सौवे अश्वमेध यज्ञ का प्रारम्भ किया तो इन्द्र ने, अपना सिंहासन छीने जाने के भय से वहुत विघ्न किया। तव इन्द्र का वध करने के लिये उद्यत श्रीपृथु जी को याजकों ने यज्ञ मे क्रोध को अनुचित वताकर स्वयं मन्त्रवल से बलात्कार से इन्द्र को अग्नि में हवन कर देने का निश्चय किया। तव लोक स्रष्टा जगत पितामह व्रह्मा जी ने ब्राह्मणो को समझा कर रोका। श्रीपृथु जी को, सौ यज्ञ करने का जो आग्रह था। उससे निवृत्त कर इन्द्र से सन्धि करा दी। महाराज पृथु के निन्यानवे यज्ञो मे ही यज्ञ भोक्ता यज्ञेश्वर भगवान विष्णु को भी वड़ा सन्तोष हुआ। वे देवराज इन्द्र को साथ लेकर श्रीपृथु जी के सामने प्रकट हुये। अपने ही कर्म से लज्जित इन्द्र श्रीपृथु जी के चरणों मे गिरना ही चाहते थे कि श्रीपृथु ने उन्हे हृदय से लगा लिया। भगवान का दर्शन कर श्रीपृथु जी निहाल हो गये। आँखो मे प्रेमाश्रु, शरीर मे रोमाच,हृदय मे उमड़ता हुआ अनन्त आनन्द सागर, यह थी उस समय श्रीपृथु जी की अवस्था। उन्होने हाथ जोड़ कर भगवान की स्तुति की। भगवान ने श्रीपृथु जी के गुणो की सराहना करते हुये, वर मांगने को कहा। तव श्रीपृथु जी वोले—

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥ (भागवत)

अर्थ—मुझे तो उस मोक्ष पद की भी इच्छा नही है, जिसमें महापुरुषों के हृदय से उनके मुख द्वारा निकला हुआ आपके चरण कमलों का मकरन्द नहीं है, जहाँ आपकी कीर्ति कथा सुनने का सुख नही मिलता है। इसलिये मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप मुझे दस हजार कान दे दीजिये, जिनसे मैं आपके लीला गुणों को सुनता ही रहूं। इस प्रकार प्रार्थना करने पर उनको अपनी भक्ति का वर प्रदान कर भगवान अन्तर्ध्यान हो गये।

आदिराज श्रीपृथु जी ने स्वयं शुभ कर्म-धर्मो का आचरण करते हुये प्रजा को भी धर्माचरण का उपदेश दिया। उस समय सभामें उपस्थित समस्त जन समूह उनकी इस धार्मिक वृत्तिकी प्रशंसा करने लगा। वर्णन आया है जिस समय प्रजाजन परम पराक्रमी श्रीपृथु जी की प्रार्थना कर रहे थे उसी समय वहाँ सूर्य के समान तेजस्वी चार मुनीश्वर आये। वे सनकादिकुमार थे। महाराज पृथु ने उनका शिष्ट जनोचित सत्कार किया। स्वर्ण-सिंहासन पर विराजमान कराकर विधिपूर्वक पूजन किया। पुनः बड़ी श्रद्धा और संयम के साथ प्रेम पूर्वक यह जिज्ञासा की कि इस संसार में मनुष्य का किस प्रकार सुगमता से कल्याण हो सकता है। आप लोग त्रिकालज्ञ हैं, सर्वज्ञ हैं और भगवान श्रीहरि के परम भक्त हैं, अतः कृपा पूर्वक मेरी जिज्ञासा का समाधान करे। श्रीसनकादिकों ने पृथु जी के वचनों का अभिनन्दन करते हुये भगवान के आराधनीय चरण कमलों को ही कल्याण का मूल बताया और आज्ञा दी कि—

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या, कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

अर्थ—सन्तमहात्मा जिनके चरणकमलों के अँगुलिदल की छिटकती हुई छटा का स्मरण करके अहंकाररूप हृदय ग्रन्थि को, जो कर्मो से गठित है,इस प्रकार छिन्न-भिन्न कर डालते है कि समस्त इन्द्रियों का प्रत्याहार करके अपने अन्तःकरण को निर्विषय करने वाले सन्यासी भी वैसा नहीं कर पाते। तुम उन सर्वाश्रय भगवान वासुदेव का भजन करो। (भागवते ४।२२।३९) इस प्रकार श्रीसनकादि कुमार भक्त पृथुराज को उपदेश देकर श्रीपृथु जी के शील की प्रशंसा करते हुये सब लोगों के सामने ही आकाशमार्ग से चले गये।

बहुत काल तक धर्म पूर्वक प्रजा का पालन कर श्रीपृथु जी ने सनत्कुमार जी के उपदेशों का स्मरण कर कि "अब मुझे अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष के लिये प्रयत्न करना चाहिये।' पृथ्वी का भार पुत्रों को सौंप कर अपनी पत्नी सहित अकेले ही तपोवन को चले गये और वहाँ जाकर भगवान सनत्कुमार ने जिस परमोत्कृष्ट अध्यात्मयोग की शिक्षा दी थी उसी के अनुसार पुरुषोत्तम श्रीहरि की आराधना करने लगे और अन्त में भगवान के श्रीचरणकमलों का चिन्तन करते हुये ब्रह्मस्वरूप में लीन हो गये। यह देख कर महाराज पृथु की पतिव्रता पत्नी अर्चि ने चिता बनायी और अपने पति के साथ सती हो गई। परम साध्वी अर्चि को इस प्रकार अपने पति वीरवर पृथु का अनुगमन करते देख सहस्रों वरदायिनी देवियों ने अपने-अपने पतियों के साथ उनकी स्तुति की। वहाँ देवताओं के बाजे बजने लगे। देवाङ्गनाओं ने पुष्प-वृष्टि की।

रञ्जयतीति राजा यः स्वनाम सफली कृतः।
दुदोह वसुधां बीजं तस्मै श्रीपृथवे नमः॥

श्रीहरि अवतार—त्रिकूटाचल पर्वत-पर जव ग्राहने गजको पकडा था तव उसकी आर्त-वाणी को सुनकर श्रीहरि भगवान प्रगटे। इन्होने ही ग्राह को मारकर गजेन्द्र की रक्षा की तथा लोगो के वड़े-वड़े सकट हरण करके "श्रीहरि" यह नाम चरितार्थ किया। कथा इस प्रकार से है—

क्षीर सागर में त्रिकूट नाम का एक प्रसिद्ध, सुन्दर एवं श्रेष्ठ पर्वत था। वह दस हजार योजन ऊँचा था। उसकी लम्वाई-चौड़ाई भी चारो ओर इतनी ही थी। उस पर्वतराज त्रिकूट की तराई में भगवान वरुण का ऋतुमान् नाम का उद्यान था। जिसके चारो ओर वृक्षो के झुण्ड शोभा दे रहे थे। वही एक विशाल सरोवर था। उस पर्वत के घोर जगल में वहुत-सी हथिनियों के सहित एक गजेन्द्र निवास करता था। जो वड़े-वड़े शक्तिशाली हाथियों का सरदार था। एक दिन वह अपनी हथिनियों के साथ वन को रौंदता हुआ उसी पर्वत पर विचर रहा था। मद के कारण उसके नेत्र विह्वल हो रहे थे। वहुत कड़ी धूप के कारण वह व्याकुल हो गया। वह साथियों सहित प्यास से सन्तप्त होकर जल की खोज में फिर रहा था कि उसे दूर ही से कमल के पराग से सुवासित वायु की सुगन्ध मिली, जिसके सहारे वह उसी सरोवर पर पहुँचा और स्नान कर श्रम मिटाया,प्यास वुझाई, फिर उसमें गृहस्थोंकी भाँति क्रीडा करने लगा।

जिस समय वह इतना उन्मत्त हो रहा था उसी समय एक वलवान ग्राह ने क्रोध में भर कर उसका पैर पकड लिया। हाथी और हथिनियों ने शक्ति भर सहायता की। पर वे गजेन्द्रको वाहर निकालने मे असमर्थ ही रहे। गजेन्द्र और ग्राह अपनी-अपनी पूरी शक्ति लगाकर भिड़े हुये थे। कभी गजेन्द्र ग्राह को वाहर खीच लाता तो कभी ग्राह गजेन्द्र को भीतर खीच ले जाता। इस प्रकार एक हजार वर्ष वीत गये। अन्त मे गजेन्द्र का उत्साह, वल तथा शक्ति क्षीण हो गई और ग्राह का वल, उत्साह और शक्ति वढ़ गई। गजेन्द्र के प्राण सकट में पड गये। वह अपने को छुडाने में सर्वथा असमर्थ हो गया। वहुत देर तक अपने छुटकारे के उपाय पर विचार करता हुआ वह इस निर्णय पर पहुँचा—' जव मेरे वरावर वाले हाथी भी मुझे न छुडा सके, तव ये वेचारी हथिनियाँ कव छुडा सकती हैं। ग्राह का मुझे ग्रस लेना विधाता की फाँसी है। अतएव अव मैं सम्पूर्ण विश्व के एक मात्र आश्रय परब्रह्म की शरण लेता हूँ। जो प्रचण्ड काल रूपी सर्प से भयभीत प्राणियो की रक्षा करता है तथा मृत्यु भी जिसके भय से दौड़ता रहता है। यथा—(भा० ८-२-३३)

यः कश्चनेशो वलिनोऽन्तकोरगात् प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥

ऐसा निश्चय कर वह पूर्व जन्म मे सीखे हुए श्रेष्ठ स्तोत्र के द्वारा स्तुति करने लगा। गजेन्द्र ने किसी देव विशेष का नाम न लेकर स्तुति की। इसलिए भिन्न-भिन्न नाम और रूप को अपना स्वरूप मानने वाले व्रह्मादि देवता उसकी रक्षा करने न आए। सर्व देवस्वरूप, सर्वात्मा भगवान स्वय ही वहां छुडाने को प्रकट हो गये। भगवान शीघ्रता पूर्वक गरुड़ पर चढकर चल दिये। भगवान को चक्र लिए, आते देख, उसने सूँड़ मे एक सुन्दर कमल का पुष्प लेकर (जो उस सरोवर मे खिला हुए थे) सूँड को ऊपर उठाकर वड़े कष्ट के साथ पुकार कर कहा—"नारायण! जगद्गुरो! भगवन्! आपको मेरा नमस्कार है-"सोऽन्तः सरस्युरुवलेन गृहीत आर्तो दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्। उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिर-

ग्राह कृच्छ्रान्नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते(भा० ८-३-३२)।" पुकारने के साथ ही भगवान गरुड़ को छोड़कर तत्काल वहाँ पहुँचे और दोनों को सरोवर से निकाल कर ग्राह का मुँह चक्र से फाड़ कर गज को छुड़ा दिया। भगवान का स्पर्श होते ही गजेन्द्र के अज्ञानवन्धन कट गए और वह भगवान का-सा चतुर्भुज रूप हो गया, अर्थात् उसे सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई। भगवान उसे अपना पार्षद वनाकर अपने साथ ही ले गए। विशेष देखिये छप्पय ६ ग्राह-गज प्रसंग।

हंस-अवतार—एक वार सनकादिक परमर्षियों ने अपने पिता श्रीब्रह्माजी से पूछा-पिताजी! चित्त गुणों अर्थात् विषयों में घुसा ही रहता है और गुण भी चित्त की एक-एक वृत्ति में प्रविष्ट रहते ही है अर्थात् चित्त और गुण आपस में मिले-जुले ही रहते हैं। ऐसी स्थिति में जो पुरुष इस संसार सागर से पार होकर मुक्ति पद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनों को एक दूसरे से कैसे अलग कर सकता है। यद्यपि श्रीब्रह्माजी देवशिरोमणि, स्वयम्भू और सव प्राणियों के जन्म दाता हैं तो भी कर्म-प्रवण वुद्धि होने से इस प्रश्न का समुचित समाधान न कर सके। अतः इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये उन्होंने भक्ति-भाव से भगवान का चिन्तन किया।

तव भगवान हंसका रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हुये और श्रीसनकादिक तथा ब्रह्माजी से वंदित होकर, सनकादि के यह पूछने पर कि आप कौन हैं? भगवान वोले—ब्राह्मणो! यदि परमार्थ रूप वस्तु नानात्व से सर्वथा रहित है, तव आत्मा के सम्वन्ध में आप लोगों का ऐसा प्रश्न कैसे युक्ति संगत हो सकता है? देवता, मनुष्य,पशु,पक्षी आदि सभी शरीर पंचभूतात्मक होने के कारण अभिन्न ही हैं और परमार्थरूप से भी अभिन्न हैं। ऐसी स्थिति में 'आप कौन हैं?' आप लोगों का यह प्रश्न ही केवल वाणी का व्यवहार है। विचार पूर्वक नहीं है अतः निरर्थक है। मन से, वाणी से, दृष्टि से तथा अन्य इन्द्रियों से जो कुछ भी ग्रहण किया जाता है, वह सव मैं ही हूँ। मुझ से भिन्न और कुछ नहीं है। यह सिद्धान्त आप लोग तत्व विचार के द्वारा समझ लीजिये। पुत्रो! यह चित्त चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्त में प्रविष्ट हो जाते हैं, यह वात सत्य है तथापि विषय और चित्त ये दोनो ही मेरे स्वरूप भूत जीव के देह है—उपाधि हैं। अर्थात् आत्मा का चित्त और विषय के साथ कोई सम्वन्ध ही नही है। इसलिए वार-वार विषयों का सेवन करते रहने से जो चित्त विषयों में आसक्त हो गया है और विषय भी चित्त में प्रविष्ट हो गये हैं, इन दोनों को अपने वास्तविकरूप से अभिन्न मुझ परमात्मा का साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिये। इस प्रकार भगवान ने सनकादि मुनियों के संशय मिटा दिये और भली भाँति उनके द्वारा पूजित और वन्दित होकर श्रीब्रह्माजी और सनकादिको के सामने ही अदृश्य होकर अपने धाम को चले गये॥

मन्वन्तर—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग, ये चारो युग जव एक हजार वार व्यतीत होते हैं तो उस काल को कल्प कहते हैं। एक कल्प अर्थात् एक हजार चतुर्युगी काल श्रीब्रह्माजी का एक दिन होता है। श्रीव्रह्माजी के एक दिन में अर्थात् एक कल्प में चौदह मनु होते हैं। प्रत्येक मनु इकहत्तर चतुर्युगी से कुछ अधिक काल तक अपना अधिकार भोगते हैं। इन मन्वन्तरों में भगवान सत्व गुण का आश्रय ले, अपनी मनु आदि मूर्तियों के द्वारा पौरुष प्रकट करते हुये इस विश्व का पालन करते हैं। विश्वव्यवस्था का संचालन करते हुये अपने-अपने मन्वन्तर में वड़ी सावधानी से सवके सव मनु पृथ्वी पर चारो चरण से परिपूर्ण धर्म का अनुष्ठान स्वयं करते हैं तथा प्रजा से करवाते हैं। जव एक मनु

की अवधि पूरी हो जाती है तो उनके साथ ही साथ उस समय के इन्द्र, सप्तर्षि, मनुपुत्र और भगवदवतार तथा देवता, ये छओ पहिले की जगह नये-नये होते हैं।

अब चौदह मनुओं का संक्षिप्त वर्णन करते हैं। १—स्वायम्भुव मनु—मरीचि आदि महान शक्तिशाली ऋषियो से भी सृष्टि का विस्तार अधिक नही होते देख श्रीब्रह्मा जी मन ही मन चिन्ता करने लगे—'अहो! बड़ा आश्चर्य है, मेरे निरन्तर प्रयत्न करने पर भी प्रजा की वृद्धि नही हो रही है। मालूम होता है इसमे दैव ही कुछ विघ्न डाल रहा है।' जिस समय श्रीब्रह्मा जी इस प्रकार दैव के विषय में विचार कर रहे थे उसी समय अकस्मात् उनके शरीर के दो भाग हो गए। उन दोनों विभागों में से एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा प्रकट हुआ। उनमे से जो पुरुष था वह सार्वभौम सम्राट स्वायम्भुव मनु हुए, और जो स्त्री थी, वह उनकी महारानी शतरूपा हुईं। तब से मिथुन धर्म (स्त्री-पुरुष-सम्भोग) से प्रजा की वृद्धि होने लगी। महाराज स्वायम्भुवमनु ने शतरूपा से पांच सन्तानें उत्पन्न की। श्रीप्रियव्रत और उत्तानपाद, ये दो पुत्र और आकूति, प्रसूति और देवहूति, तीन कन्यायें थी। मनुजी ने आकूति का विवाह रुचि प्रजापति से, देवहूति का विवाह कर्दम प्रजापति से तथा प्रसूति का विवाह दक्ष प्रजापति से किया। इन तीनों कन्याओं की सतति से सारा संसार भर गया। (विशेष देखिए छप्पय ६)

२—स्वारोचिष मनु—ये अग्नि के पुत्र थे। ३—उत्तम मनु—ये प्रियव्रत के पुत्र थे। ४—तामस मनु-ये तीसरे मनु उत्तम के सगे भाई थे। ५—रैवत मनु—ये चौथे मनु तामस के सगे भाई थे। ६—चाक्षुष मनु—ये चक्षु के पुत्र थे। ७—वैवस्वत मनु—विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र यशस्वी श्राद्धदेव ही सातवे वैवस्वत मनु है। यह वर्तमान मन्वन्तर ही उनका काल है। ८—सावर्णि मनु—आठवे मन्वन्तर में सूर्य की पत्नी छाया देवी के पुत्र सावर्णि मनु होगे। ९—दक्ष सावर्णि—वरुण के पुत्र दक्ष सावर्णि नौवें मनु होगे १०—ब्रह्म सावर्णि—उपश्लोक के पुत्र ब्रह्म सावर्णि दसवे मनु होगे। ११—धर्म सावर्णि—ये ग्यारहवें मनु होगे। १२—रुद्र सावर्णि—ये बारहवे मनु होगे। १३—देव सावर्णि—ये तेरहवें मनु होगे। १४—इन्द्र सावर्णि—ये चौदहवें मनु होगे। ये चौदह मन्वन्तर भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों ही काल में चलते रहते हैं और समस्त भूमण्डल का शासन करते हुये सनातन धर्म की रक्षा करते हैं। (भा०)

श्रीयज्ञ-अवतार—श्रीस्वायम्भुव मनु की पुत्री आकूति, जो रुचि प्रजापति से ब्याही गई थी। उन रुचि प्रजापति ने आकूति के गर्भ से एक पुरुष और स्त्री का जोड़ा उत्पन्न किया। उनमे जो पुरुष था, वह साक्षात् यज्ञ स्वरूपधारी भगवान विष्णु थे और जो स्त्री थी, वह भगवान से कभी भी अलग न रहने वाली लक्ष्मी जी की अंशरूपा 'दक्षिणा' थी। मनु जी अपनी पुत्री आकूति के उस परम तेजस्वी पुत्र को बड़ी प्रसन्नता से अपने घर ले आए और दक्षिणा को रुचि प्रजापति ने अपने पास रखा। जब दक्षिणा विवाह के योग्य हुई तो उसने यज्ञ भगवान को ही पति रूप में प्राप्त करने की इच्छा की। तब भगवान यज्ञ पुरुष ने उससे विवाह किया। इससे दक्षिणा को बड़ा सतोष हुआ। भगवान यज्ञ पुरुष ने दक्षिणा से सुयम नामक देवताओ को उत्पन्न किया और तीनो लोको के बड़े-बड़े सकट दूर किए। वर्णन आया है—जब स्वायम्भुव मनु ने समस्त कामनाओं और भोगों से विरक्त होकर राज्य छोड़ दिया और अपनी पत्नी शतरूपा के साथ तपस्या करने वन को चले गये और वन में जाकर सुनन्दा नदी के तट पर एक पैर से खड़े रह कर सौ वर्ष तक घोर तपस्या की। उस समय एक बार जब स्वायम्भुव मनु एकाग्र

चित्त से भगवान की स्तुति कर रहे थे, तो भूखे असुर और राक्षस उन्हें नीद मे अचेत होकर बड़बड़ाते जान कर खा डालने के लिये टूट पड़े। यह देखकर अन्तर्यामी भगवान यज्ञ पुरुष अपने पुत्र सुयम नामक देवताओं के साथ वहाँ आये और उन्होने उन खा डालनेके निश्चय से आये हुये असुरोंका संहार कर डाला और फिर वे इन्द्र के पद पर प्रतिष्ठि होकर स्वर्ग का शासन करने लगे। (भागवत)

दिव्यातिदिव्याय गदाधराय, यज्ञस्वरूपाय मनोहराय।
आकूतिपुत्राय सुरक्षकाय, यज्ञावताराय नमो नमस्ते ॥

श्रीऋषभ अवतार—महाराज नाभि के कोई सन्तान नही थीं इसलिए उन्होंने अपनी पत्नी मेरुदेवी के सहित पुत्र की कामना से एकाग्रता पूर्वक भगवान यज्ञ पुरुष का यजन किया। भक्तवत्सल भगवान उनके विशुद्ध भाव से सन्तुष्ट होकर यज्ञ मे प्रकट हुये। सभी ने सिर झुकाकर अत्यन्त आदर पूर्वक प्रभु की पूजा की और ऋषियों ने उनकी स्तुति कर यह वर माँगा कि हमारे यजमान ये राजर्षि नाभि सन्तान को ही परम पुरुषार्थ मानकर आपके ही समान पुत्र पाने के लिए आपकी आराधना कर रहे है। आप इनके मनोरथ को पूर्ण करें। भगवान बोले—मुनियो ! मेरे समान तो मैं ही हूँ, क्योंकि मैं अद्वितीय हूँ। तो भी ब्राह्मणों का वचन मिथ्या नहीं होना चाहिए, द्विजकुल मेरा ही तो मुख है। इसलिए मैं स्वयं ही अपनी अंशकला से आग्नीध्रनन्दन नाभि के यहाँ आकर अवतार लूँगा। क्योकि अपने समान मुझे कोई और दिखाई नहीं देता। यह कहकर भगवान अन्तर्धान हो गए और यथा समय महाराज नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भसे ऊर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिये शुद्ध सत्वमय विग्रह से प्रकट हुये। नाभिनन्दन के अङ्ग जन्म से ही भगवान विष्णु के वज्र अंकुश आदि चिन्हों से युक्त थे। सभी श्रेष्ठ सद्‌गुणों से युक्त होने के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम ऋषभ (श्रेष्ठ) रखा। राजा नाभि ने यह देखा कि ऋषभदेव प्राणिमात्र को अत्यन्त प्रिय लगते हैं और राज्य-कार्य सँभालने योग्य भी हो गये है तब उन्होने इन्हे धर्म मर्यादा की रक्षा के लिये राज्याभिषिक्त कर स्वयं पत्नी मेरुदेवी के सहित बदरिकाश्रम चले गए और वहाँ भगवान की आराधना करते हुये भगवत्स्वरूप मे लीन हो गए।

भगवान ऋषभदेव सर्वधर्म विज्ञाता होकर भी, ब्राह्मणों की बतलाई हुई विधि से साम, दानादि नीति के अनुसार ही पुत्रवत् प्रजा का पालन करते थे। एक बार इन्द्र ने ईर्ष्यावश इनके राज्य में वर्षा नहीं की तो योगेश्वर भगवान ऋषभ ने अपनी योगमाया के प्रभावसे अपने वर्ष अजनाभ खण्ड मे खूब जल बर्षाया। आपने लोगों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के लिये देवराज इन्द्र की कन्या जयन्ती से विवाह किया और उसके गर्भ से अपने ही समान गुण वाले सौ पुत्र उत्पन्न किए। महायोगी श्रीभरत जी ज्येष्ठ पुत्र थे। नव पुत्र नव योगीश्वर के नाम से विख्यात हुए। इक्यासी पुत्र पुण्य कर्मो का अनुष्ठान करने से शुद्ध होकर ब्राह्मण हो गये। नव पुत्र पृथ्वी के नव खण्डों का शासन करने वाले हुये।

एक बार भगवान ऋषभदेव घूमते-घूमते ब्रह्मावर्त देश में पहुँचे। वहाँ बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियों की सभा में उन्होने प्रजा के सामने ही अपने समाहित चित्त तथा विनय और प्रेम के भार से सुसंयत पुत्रों को भगवद्भक्ति का उपदेश देते हुए कहा, कि पुत्रो ! तुम सम्पूर्ण चराचर भूतों को मेरा ही शरीर समझ कर शुद्ध बुद्धि से उनकी सेवा करो, यही मेरी सच्ची पूजा है। इसके बिना मनुष्य अपने को महामोहमय काल पाश से छुड़ा नही सकता। इस प्रकार पिता ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया। आप का कहना है कि—

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥

अर्थ—जो अपने प्रिय सम्बन्धी को भगवद्भक्ति का उपदेश देकर मृत्यु की फाँसी से नही छुड़ाता है, वह गुरु गुरु नही है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नही है, माता माता नही है, इष्टदेव इष्टदेव नही है और पति पति नही है ।

भगवान ऋषभदेवजी के सौ पुत्रो में भरत सबसे बड़े थे और थे बड़े भगवद्भक्त। श्रीऋषभदेव जीने पृथ्वी का पालन करने के लिये उन्हे राजगद्दी पर बैठा दिया और स्वय उपशमशील निवृत्ति परायण महामुनियों के भक्ति, ज्ञान, और वैराग्य रूप परमहसोचित शिक्षा देने के लिये बिल्कुल विरक्त हो गये। केवल शरीर मात्र परिग्रह रखा। वस्त्रों का भी त्याग कर सर्वथा दिगम्बर हो गये। उस समय उनके बाल बिखरे हुए थे, उन्मत्त का सा वेष था। सर्वथा मौन हो गये थे। जड,अन्धे, बहरे, गूँगे,पिशाच और पागलों की सी चेष्टा करते हुए वे अवधूत बने जहाँ तहाँ विचरने लगे। लोगो की उनके प्रति की गई अनुकूल-प्रतिकूल सभी चेष्टायें उनके लिये समान थीं। इसलिये कि इस मिथ्या शरीरमे उनकी अहंता ममता तनिक भी नही थी। लोक मान्यता से बचने के लिये उन्होने अजगर वृत्ति धारण करली थी। वे लेटे ही लेटे खाने, पीने, और मलमूत्र त्याग करने लगे। कभी-कभी अपने त्यागे हुए मलमे ही लोट-लोट कर शरीर को उससे सान लेते। एक बात स्मरण रखने की है कि उनके मल में दुर्गन्धका लेश नही था। बडी सुगन्ध थी। इस प्रकार मोक्षपति भगवान ऋषभदेव ने परमहसो को त्याग के आदर्शकी शिक्षा देने के लिये विविध प्रकार की योगचर्याओं का आचरण किया।

निरन्तर परमानन्द का अनुभव करते हुये, दिगम्बर रूप से इतस्ततः भ्रमण करते हुये भगवान ऋषभदेव का शरीर कुटकाचल के वनों में घूमते हुये, प्रबल दावाग्नि की लाल-लाल लपटों मे लीन हो गया।

नित्यानुभूत निजलाभ निवृत्ततृष्णः श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्त बुद्धेः ।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोकमाख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥ (भा०)

अर्थ—निरन्तर विषय भोगोकी अभिलाषा करनेके कारण अपने वास्तविक श्रेयसे चिरकाल तक बेसुध हुये लोगों को जिन्होने करुणावश निर्भय आत्म लोकका उपदेश दिया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति से सब प्रकार की तृष्णाओ से मुक्त थे उन भगवान ऋषभदेवको नमस्कार है।

श्रीहयग्रीव अवतार—सृष्टि रचना में अत्यन्त व्यस्त श्रीब्रह्माजी के देखते-देखते मधु-और कैटभ नाम के दैत्यों ने वेदों को हर लिया और तुरन्त रसातल में जा पहुँचे। वेदो का अपहरण हो जाने पर ब्रह्माजी को बड़ा खेद हुआ। उन पर मोह छा गया। तब वह यह विचार करते हुये कि वेद ही तो मेरे नेत्र हैं। वेद ही मेरे परम बल हैं। वेद ही मेरे परम गुरु तथा वेद ही मेरे सर्वोत्तम उपास्य देव हैं। मैं वेदो के बिना संसार की उत्तम सृष्टि कैसे कर सकता हूँ? वे भगवान् श्रीहरि की शरण गये और

उन्होने हाथ जोड़कर भगवानकी स्तुतिकी। ब्रह्माजी की स्तुति को सुनकर भक्तवत्सल भगवान वेदों की रक्षा करने के लिये हयग्रीव रूप धारण करके रसातलमें जा पहुँचे और वहाँ जाकर परम योग का आश्रय ले शिक्षा के नियमानुसार उदात्तआदि स्वरों से युक्त उच्च स्वरसे सामवेद का गान करने लगे। उन दोनों असुरो ने वह शब्द सुनकर वेदों को कालपाश से आवद्ध करके रसातल में फेंक दिया और स्वयं उसी और दौड़े जिधर से ध्वनि आ रही थी। इसी वीच में हयग्रीव रूपधारी भगवान श्रीहरिने रसातल में पड़े हुये उन सम्पूर्ण वेदों को ले लिया तथा ब्रह्माजी को पुनः वापस दे दिया और फिर वे अपने आदि रूप में आ गये।

इधर वेदध्वनि के स्थान पर आकर मधु और कैटभ दोनो दानवों ने जब कुछ नही देखा तव वे वड़े वेग से फिर वही लौट आये, जहां उन वेदों को नीचे डाल रखा था। वहां देखने पर उन्हें वह स्थान सूना ही दिखायी दिया। तव वे वलवानों में श्रेष्ठ दोनो दानव पुनः उत्तम वेगका आश्रय लेकर रसातल से शीघ्र ही ऊपर उठे तो आकर देखते हैं कि आदिकर्त्ता भगवान योगनिद्रा का आश्रय लेकर शेषशय्या पर सो रहे है उन्हें देखकर वे दोनों दानवराज ठहाका मारकर हँसने लगे और उन्होंने भगवानको जगाया। फिर तो उन दोनों असुरों का और भगवान का युद्ध आरम्भ हो गया। भगवान मधुसूदन ने ब्रह्माजी का मान रखने के लिये तमोगुण और रजोगुण से आविष्ट शरीर वाले उन दोनों दैत्यों मधु और कैटभ को मार डाला। इस प्रकार भगवान पुरुषोत्तम ने ब्रह्माजी का शोक दूर किया॥ (महाभारत)

२—दिति पुत्र हयग्रीव नामक दैत्य ने देवी की आराधना कर उन्हें सन्तुष्ट कर अमर होने का वर माँगा। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' देवी के ऐसा कहने पर हयग्रीव ने कहा—अच्छा तो हयग्रीव के हीं द्वारा मारा जाऊँ। भगवान की माया जगन्मोहिनी जगदम्वा इस दैत्य को यह वरदान देकर अन्तर्धान हो गईं। दैत्य ने सोचा हयग्रीव तो एक मैं ही हूँ. मैं भला अपने को क्यों मारने लगा, और दूसरा मुझे मार सकता नही अतः उन्मत्त होकर अपने अत्याचार से पृथ्वी को व्याकुल करने लगा। तव अकारण करुण, करुणावरुणालय भगवान ने हयग्रीव अवतार धारण कर इस दैत्य का वध किया।

वेधसः प्रार्थनां श्रुत्वा हत्वा तु मधुकैटभौ। वेदानुद्धृतवान् यस्तु हयग्रीवं नमामि तम्॥

ध्रुव वर देन—एक पैर से खड़े होकर तप करने वाले ध्रुव को शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज रूपसे भगवान दर्शन देनेके लिये प्रकट हुये और ध्रुव को ध्रुव पद देकर कृतार्थ किया। यथा—

'विद्धः सपत्न्युदित पत्रिभिरन्ति राज्ञो वालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि।
तस्मा अदाद् ध्रुवगतिं गृणते प्रसन्नो दिव्याः स्तुवन्ति मुनयोयदुपर्यधस्तात्॥

अर्थ—अपने पिता राजा उत्तानपाद के पास वैठे हुये पाँच वर्ष के वालक ध्रुव को उनकी सौतेली माता सुरुचि ने अपने वचन वाणों से वेध दिया था। इतनी छोटी अवस्था होने पर भी वे उस ग्लानि से तपस्या करने के लिये वन में चले गये। उनकी प्रार्थना पर प्रसन्न होकर भगवान् प्रकट हुये और उन्होंने ध्रुव को ध्रुव पद का वरदान दिया। आज भी ध्रुव के ऊपर नीचे प्रदक्षिणा करते हुये दिव्य महर्षिगण उनकी स्तुति करते रहते हैं। विशेष देखिये छप्पय ६ में श्रीध्रुवजी का प्रसङ्ग।

भागवत प्रथम स्कन्ध तीसरे अध्याय के आठवें श्लोक मे देवर्षि नारद के अवतार का संकेत है। उसके अनुसार चौवीस अवतारों मे श्रीनारदजी की भी गणना होनी चाहिए। श्रीनारद जी ने ध्रुव को उपदेश देकर सफल होने का वरदान दिया ही था, अतः ध्रुव वरदेन से श्रीनारद जी का भी ग्रहण होना चाहिये। यथा—*तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः। तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः॥* अर्थात् ऋषियो की सृष्टि में भगवान ने देवर्षि नारद के रूप में तीसरा अवतार ग्रहण किया और सात्वत-तन्त्र (नारद पाञ्चरात्र) का उपदेश किया, जिसमें कर्मो के बन्धन से कर्म द्वारा मुक्ति पाने का उपाय वर्णित है॥

श्रीधन्वन्तरि—क्षीर-सागर का मन्थन होने पर आप अमृत कलश लेकर प्रकट हुये। दैत्यों द्वारा छीने गये यज्ञो के भाग तथा अमृत देवताओ को आपकी ही कृपासे मिला। आपने ससार को आयुर्वेद विद्या देकर अनन्त रोगों से मुक्त किया।

अमृत वितरण हो जाने पर देवराज इन्द्र ने इनसे देववैद्य पद स्वीकार करने की प्रार्थना की। इन्होने इन्द्र की इच्छानुसार अमरावती मे निवास करना स्वीकार कर लिया। कुछ समय वाद पृथ्वी पर अनेक व्याधियाँ फैली। तव इन्द्र की प्रार्थना से भगवान धन्वन्तरि ने काशिराज दिवोदास के रूप मे पृथ्वी पर अवतार धारण किया। लोक कल्याणार्थ विविध व्याधियों को नष्ट करने के लिये स्वय भगवान विष्णु धन्वन्तरि के रूप मे कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी को प्रकट हुये थे। साक्षात् विष्णु के अंश से प्रकट होने से ये भी श्रीहरि के समान श्याम एव दिव्य थे।

> देवान् कृशानसुरसङ्घनिपीडिताङ्गान् दृष्ट्वा दयालुरमृतं वितरीतुकामः।
> पाथोधिमन्थनविधौ प्रकटोऽभवद्यो धन्वन्तरिः स भगवानवतात् सदा नः॥

अर्थ—असुरो के द्वारा पीडित होने से जो दुर्वल हो रहे थे उन देवताओं को अमृत पिलाने की इच्छा से ही भगवान धन्वन्तरि समुद्र मन्थन से प्रकट हुये थे। वे हमारी सदा रक्षा करे।

श्रीवद्री-पति (नर-नारायण)—दक्षकन्या धर्म की पत्नी मूर्ति के गर्भ से भगवान नर-नारायण के रूप मे प्रगटे। उन्होंने आत्मतत्व का साक्षात्कार कराने वाले उस भगवदाराधन रूप कर्म का उपदेश किया जो वास्तव में कर्म वन्धन से छुड़ाने वाला और नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त कराने वाला है। उन्होने स्वयं भी वैसे ही कर्म का अनुष्ठान किया। वे आज भी वदरिकाश्रम मे उसी कर्म का आचरण करते हुए विराजमान हैं। इन्द्र ने यह आशंका करके कि यह अपने घोर तप के द्वारा मेरा पद छीनना चाहते हैं, उनका तप भ्रष्ट करने के लिये सदल वल कामदेव को भेजा। उनकी महिमा न जानने के कारण गर्व में आकर कामदेव वहाँ पहुच कर अप्सरागण, वसन्त, मंद-सुगन्ध वायु और स्त्रियो के कटाक्ष रूपी वाणो से उन्हे वेधने की चेष्टा करने लगा। इन्द्र की कुचाल जान कर, कुछ भी विस्मय न करते हुये आदिदेव नारायण ने उन भय से काँपते हुये कामादि से हँस कर कहा—हे मदन! हे मंदमलय मारुत! हे देवाङ्गनाओ! डरो मत। हमारा आतिथ्य स्वीकार करो। उसे ग्रहण किये विना ही जाकर हमारा आश्रम सूना मत करो।

अभयदायक दयालु भगवान के ऐसा कहने पर लज्जाने सिर झुकाये हुये देवगणने करुण स्वरमें उनकी स्तुति की। तत्पश्चात् भगवान ने वहुत सी ऐसी रमणियाँ प्रकट की जो अद्भुत रूप लावण्य से

सम्पन्न और वस्त्रालंकारों से सुसज्जित थीं तथा भगवान् की सेवा कर रही थी। साक्षात् लक्ष्मी के समान रूपवती स्त्रियों को देखकर, उनके रूप लावण्य की महिमा से कान्तिहीन हुये देवगण उनके अङ्ग की दिव्य गन्ध से मोहित हो गये। अव उनका गर्व चूर-चूर हो गया। तव अत्यन्त दीन हुये उन अनुचरों से भगवान हँस कर वोले—इनमें से किसी एक को, जो तुम्हारे अनुरूप हो स्वीकार कर लो। वह स्वर्ग लोक की भूषण होगी। देवगण ने 'जो आज्ञा' कहकर उनको प्रणाम किया और उर्वशी नामक अप्सरा को साथ लेकर स्वर्ग लोक में इन्द्र के पास चले गए।

यहाँ वड़ी महत्वपूर्ण वात यह है कि शंकर आदि अपनी क्रोध भरी दृष्टि से काम को भस्म कर देते है, परन्तु अपने हृदय को जलाने वाले क्रोध को नहीं जला पाते। वही क्रोध नर-नारायण के विमल हृदय में प्रवेश करनेके पूर्व ही डर के मारे काँप जाता है, फिर भला उनके हृदय में काम का प्रवेश हो ही कैसे सकता है। (भागवत) जैमिनीय भारत में लिखा है—सहस्रकवची दैत्य ने तपस्या द्वारा सूर्य भगवान को प्रसन्न किया और वर माँगा कि मेरे शरीर में एक हजार कवच हों। जव कोई एक हजार वर्ष युद्ध करे तव कही एक कवच टूट सके, पर कवच टूटते ही शत्रु मर जावे। उसीको मारने के लिये नर-नारायण का अवतार हुआ था। एक भाई हजार वर्ष तक युद्ध करता और एक कवच तोड़ कर मृतक सा वन जाता, तव दूसरा भाई उसे मन्त्र से जिला कर और स्वयं एक हजार वर्ष युद्ध करके दूसरा कवच तोड़ कर मृतक सा वन जाता। तव पहला भाई इनको जिलाता और स्वयं युद्ध करता। इस तरह से लड़ते लड़ते जव एक कवच रह गया तव दैत्य भाग कर सूर्य में लीन हो गया। और तव नर-नारायण भगवान वदरिकाश्रम में जाकर तप करने लगे। वही असुर द्वापर में कर्ण हुआ जो गर्भ से ही कवच धारण कर पैदा हुआ। तव नर-नारायण ही ने अर्जुन और कृष्ण हो उसे मारा॥

साकेत वासी संत-शिरोमणि श्रीपण्डित रामवल्लभाशरण जी महाराज कहते थे कि भगवान ने विचारा कि कलियुग वडा प्रवल है और भरत खण्ड ही केवल कर्म भूमि है, अन्य खण्ड भोग भूमि हैं। काल के प्रभाव से शास्त्र का कथन, मनन, ज्ञान, कुछ भी जीव न कर सकेंगे। इस प्रकार दया से आर्द्र-चित्त होकर 'समस्त भारत के वदले का तप हम ही करेंगे, हमारे दर्शन मात्र से उनका तप पूर्ण समझा जायगा।' ऐसा विचार करके वे अवतार लेकर वदरिकाश्रम में जाकर तप करने लगे। वहाँ श्रीनारद जी अत्यन्त भक्ति भाव से भगवान की उपासना करते हैं॥

श्रीदत्तात्रेय—महर्षि अत्रि की तपस्या से चित्रकूट में माता अनसूया के गर्भ से दत्तात्रेय भगवान प्रकट हुये। वर देते समय भगवान ने कहा था कि मैंने अपने को तुम्हें (दत्त) दे दिया अतः दत्त नाम पड़ा। दत्तात्रेय भगवान के चरणों की सेवा से राजा यदु तथा सहस्रार्जुन आदि ने योग-भोग तथा मोक्ष की भी सिद्धियाँ प्राप्त की थी। (विशेष देखिये छप्पय ६६)

श्रीकपिलदेव—महर्षि कर्दम की धर्म पत्नी देवहूति के गर्भ से विन्दु सरोवर के निकट नौ वहिनों के साथ भगवान कपिलदेव प्रकट हुये। इन्होंने अपनी माता को आत्मज्ञान का उपदेश दिया, जिससे वे भगवान के वास्तविक स्वरूप को समझकर स्वल्प समय में ही मोक्षपद को प्राप्त कर ली। श्रीकपिलदेव जी माता को उपदेश देकर उनकी अनुमति लेकर विन्दुसर से समुद्रतट पर जा विराजे। जहां अश्वमेध यज्ञ के अश्व को खोजते हुये राजा सगर के साठ हजार पुत्र भागवत-अपराधरूप पाप से भस्म हो गये। आपकी कृपा से ही गङ्गा जी धरातल पर आईं और उन सगर पुत्रों का तो उद्धार हुआ ही

आज भी जगत का कल्याण हो रहा है। आज भी गङ्गा-सागर-सङ्गम में श्रीकपिल भगवान विराजमान है। आपने ऋषियों को सांख्य शास्त्र का उपदेश दिया। आप सांख्य योग के आचार्य हैं।

परं प्रधानं पुरुषं महान्तं, कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम्।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपञ्चं स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये॥ (भा० ३-२४-३३)

अर्थ—कर्दम जी कहते है—हे भगवन्! आप परब्रह्म हैं,सारी शक्तियाँ आपके अधीन हैं। प्रकृति पुरुष महत्तत्व त्रिविध काल अहंकार समस्त लोक एवं लोकपालों के रूप में आप ही प्रकट हैं तथा आप सर्वज्ञ परमात्मा ही इस सारे प्रपञ्च को चेतन शक्ति के द्वारा अपने में लीन कर लेते हैं अतः इन सब से आप परे भी हैं। मैं आप भगवान श्रीकपिलदेव की शरण में हूँ॥

श्री सनकादिक—सृष्टि के आरम्भ में श्रीब्रह्माजी ने लोकों को रचने की इच्छा से तप किया। ब्रह्मा के अखण्ड तप से प्रसन्न होकर भगवान ने तप अर्थवाले 'सन्' नाम से युक्त होकर सनक, सनन्दन, सनातन, और सनत्कुमार रूप से अवतार ग्रहण किया। इस अवतार के द्वारा भगवान ने पहले कल्प के भूले हुये आत्मज्ञानको ऋषियों के प्रति यथावत् उपदेश किया। सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने से वह कालीन हैं। परन्तु सदा पाँच वर्ष के वालक के रूप में रहते हैं, जिससे माया का विकार न उत्पन्न हो सके। ये सदा मन से अपने ब्रह्म स्वरूप मे लीन रहते हैं और जीवन्मुक्त हैं। इनको उत्पन्न करके ब्रह्माजी ने जब यह आज्ञा दी कि जाकर प्रजासृष्टि की-रचना करो। तब इन्होने प्रपञ्च विस्तार का अनौचित्य एव वैराग्य पूर्वक भगवद्भजन का औचित्य दिखाकर ब्रह्माजी को निरुत्तर कर वन की राह ली। आप अखण्ड ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हैं और अपने तप से समस्त लोकों का सदा कल्याण करते हैं। (विशेष देखिये छप्पय ७, कवित्त २५)

करुणा करौ—भाव यह है कि भगवान की कृपा से ही भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरुके स्वरूप को जाना जा सकता है। यथा—'सो जानै जेहि देहु जनाई।' तुम्हरिहिं कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत उर चन्दन।' अतः करुणा करौ॥

चौबीस रूप लीला रुचिर—कह कर जनाया कि कोई यह न समझे कि श्रीरामकृष्ण के ही नाम, रूप, लीलादि रुचिर हैं, चौवीसो अवतारो की लीलायें वड़ी रुचिर हैं।

श्रीअग्रदास उर पद धरौ'-१-श्रीनाभाजीने चौवीस अवतारोकी वन्दनाके साथ-साथ श्रीगुरुदेव जी का भी स्मरण किया है। क्योकि गुरुदेव भी तो ब्रह्म स्वरूप ही हैं। यथा—'गुरुः साक्षाद् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः'। अतः अर्थ हुआ—'इन अवतारोके समेत गुरुदेव श्रीअग्रदेवजी महाराज मेरे हृदय में अपने श्रीचरण-कमल स्थापित करें।

२—श्रीअग्रदास शब्द श्रीनाभाजी का पर्याय भी हो सकता है, क्योकि जहाँ तहाँ कवित्तों में श्रीअग्रदेवजीके लिये केवल'अगर'शब्दका प्रयोग किया गया है। यथा-'सुने हे अगर,अव जाने मैं अगर सही' 'कील्ह औ अगर ताहि डगर दरस दियो' 'अगर सुरीति भाई'। अतः अग्रदास शब्द का अर्थ होगा अग्रजी का दास अर्थात् नाभाजी। तव छप्पयके अन्तिम चरणका अर्थ होगा—सभी अवतार मुझ श्रीअग्रजी के दास नाभा के हृदयमें निजपद कमल स्थापित करें।

इन दोनों अर्थों के अनुसार यह छप्पय श्रीनाभाजी कृत ही सिद्ध होता है। परन्तु कोई-कोई महानुभाव इस छप्पयको श्रीअग्रदासजी कृत मानते हैं। इस मतका समर्थन श्रीप्रियादासजी की इस छप्पय की टीका कवित्त से भी होता है। यथा 'अगर सुरीति भाई बसौ उर हार कौं।'—अर्थात् श्रीअग्रदासजी की मीन, कमठ, वराह, नरहरि आदि अवतार-वन्दनाकी रीति मुझे अच्छी लगी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह छप्पय श्रीअग्रदासजी कृत ही है। तब प्रश्न यह होगा कि श्रीनाभाजी ने इसे क्यों लिखा? समाधान—श्रीनाभाजी को भी श्रीगुरुदेवजी की यह रीति भाई अर्थात् अच्छी लगी अतः श्रीगुरुवाणी में ही अवतारकी वन्दना की। अथवा यह भी हो सकता है कि श्रीअग्रदासजीने यह अवतार-वन्दना रहस्य श्रीनाभाजी को समझाया हो और नाभाजी गुरुकृपासे मुग्ध होकर छप्पय रचकर छाप श्रीगुरुजी की लगा दिये हों जैसे श्रीहरिवंशजी अपने शिष्य नरवाहनजी की गुरु निष्ठा पर मुग्ध होकर स्वकृत दो पदों में छाप नर वाहन की लगा दी॥ (देखिये इनके प्रसङ्ग)

'उरपद्द धरौं'—श्रीहरि-गुरु चरणारविन्दों की महिमा अमित है। यथा—

चरण कमल बन्दौं हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कछु दरसाई॥
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय बार बार बन्दौं तेहि पांई॥ (सूर-सागर)

जिते अवतार सुखसागर न पारावार करें विस्तार लीला जीवन उधार कौं।
जाही रूप मांझ मन लागै जाको, पागै तहीं, जागै हिय भाव वही, पावै कौन पार कौं॥
सब ही हैं नित्त ध्यान करत प्रकाशै चित्त, जैसे रंक पावैं वित्त, जो पै जानै सार कौं।
केशनि कुटिलताई, ऐसे मीन सुखदाई, अगर सुरीति भाई, बसौ उर हार कौं॥१४॥

शब्दार्थ—जिते=जितने। नित्त=नित्य। उधारको=उद्धार-भवपार करने के लिए। रंक=दरिद्र। केशनि=बालों की। कुटिलताई=टेढापन।]

भावार्थ—भक्त-वत्सल भगवान के जितने भी अवतार हैं। सभी शाश्वतसुख के समुद्र है, उनके नाम, रूप लीला आदिका ओर छोर नही है। जीवो का उद्धार करनेके लिए अवतार लेकर भगवान लीलाओं का विस्तार करते हैं जिस भक्तका मन भगवानके जिस रूपमें लग जाता है, उसी रूपमें पग (रम) जाता है और उसी रूप से सम्बन्धित प्रेम भाव जाग जाता है। भगवान के सभी रूप अनन्त सुखके सागर है अतः प्रेमभावकी तरंगोंका आर पार भला कौन पा सकता है। सभी अवतार नित्य है और ध्यान करते ही हृदय को प्रेमानन्द से प्रकाशित कर देते है। तब वह भक्त ऐसा सुखी हो जाता हैं। जैसे दरिद्र धन पा गया हो; पर इस प्रकारका दुर्लभ अनुभव तभी होता है जब वह गम्भीर रहस्यको समझे। जिस प्रकार केशों की कुटिलता दूषण न होकर भूषण है, उसी प्रकार मीन वाराह आदि भगवान के अवतार भी भक्तों को सुख देने वाले हैं। सभी अवतार नित्य एवं पूर्ण हैं, श्रीअग्रदेवजी की यह सुन्दर मान्यता की रीति मुझे बहुत अच्छी लगी। चौवीस अवतारों की यह माला मेरे हृदय में हार की तरह बसै॥१४॥

व्याख्या—जिते अवतार—का भाव यह कि कुछ चौबीस अवतार ही नही, भगवान के अनन्त अवतार हैं। यथा—'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजा' और सभी अनन्त-आनन्द सागर स्वरूप हैं। 'करें विस्तार लीला जीवन उधार कों।' यथा—'असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु। जग विस्तारहिं विसद जस, राम जनम कर हेतु॥ सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपा सिन्धु जन हित तनु धरहीं॥' जाही रूप मांझ मन लागै जाको पागै तहीं—इस पर

दृष्टांत—एक फकीर का—एक फ़कीर सुन्दर रूप का रसिक था। एक दिन राजकुमार की सवारी निकली। फ़कीर ने देखा, अद्भुत सौन्दर्य था। उसने आज तक ऐसा रूप नही देखा था। देखकर बोला—अहा! क्या बढ़िया ख़ुदा का नूर है। फिर क्या था, वह राजकुमार के साथ लग गया। सदा साथ-साथ रहने लगा। यह बात राजकुमार को अच्छी नही लगती। सिपाहियों ने फकीर को रोका। राजकुमार ने भी मना किया। परन्तु फकीर तो अपनी धुन मे मस्त। किसी की सुनता ही नही। अन्त मे राजकुमार तो राजकुमार ही ठहरा। एक दिन उसे बडा ही क्रोध आया, फकीर को बहुत पीटा। बात बादशाह तक पहुँच गई। राजकुमार बुलाया गया। पूछने पर सब वृत्तांत बताये। राजा की समझ मे बात आई नही कि फकीर राजकुमार पर क्यो इतना आशिक है। फकीर बुलाया गया। उसने अपने को रूप-विषय वस बताया। न्याय प्रिय राजाने विना समझे-बूझे राजकुमार को फकीर के पीटने के फलस्वरूप यह दण्ड दिया कि जब तक फकीर के घाव अच्छे न हो तब तक इसकी सेवा करो। ऐसा ही हुआ। फकीर की प्रसन्नता का ठिकाना नही रहा। देखने का सुन्दर सयोग बन गया। अब फकीर करता क्या कि जब घाव पूरे होने पर होते तो उन्हे नाखूनो से पुनः पुनः विदीर्ण कर दिया करता। राजवैद्य दवा करते करते हैरान हो गये। घाव क्यों नही अच्छे होते है? इस सम्बन्ध में पूछताछ करने पर जब परिस्थिति का सही-सही पता लगा तो राजा रूप की आशिकी पर बहुत प्रसन्न हुआ और आदेश दिया कि जब तक तुम्हारी इच्छा हो तब तक राजकुमार के साथ बने रहो। फकीर मनभावता पाकर कृतार्थ हो गया।

२—दृष्टांत—धनुर्दास का—दक्षिण देश में निचुलापुर में एक धनुर्दास नामका व्यक्ति था। उसे सुन्दर रूप देखने का विषय लग गया था। उसकी पत्नी बड़ी रूपवती थी। अत वह जहाँ भी जाता, पत्नी की ओर मुँह करके उसका रूप देखते हुये स्वय गिरते-पड़ते पीछे की ओर चलता। एक बार श्रीरङ्गनाथ भगवान का उत्सव देखने के लिये इसी प्रकार जा रहा था। संयोगवश उस समय श्रीस्वामीरामानुजाचार्य जी कावेरी नदी मे स्नान कर लौट रहे थे। सग मे शिष्य वर्ग था, लोग आपसमें हास-परिहास करने लगे कि ऐसा विषयी व्यक्ति तो आज तक देखने में नही आया। श्रीस्वामीजी की भी दृष्टि पड़ी, तो तुरन्त ही एक शिष्यके द्वारा उसे अपने पास बुलवाया और पूछा—मनुष्य होकर भी सर्वथा लज्जाका परित्यागकर पशुकी तरह क्यो इस प्रकार चलते-फिरते हो? धनुर्दासने कहा—प्रभो! मैं काम के आधीन न होकर इसके रूपके अधीन भया सब सुधि-बुधि खो बैठा हूँ। इसका स्वरूप देखे बिना मुझे चैन नही। तब श्रीस्वामीजीने कहा कि—यदि तुम इससे भी सुन्दर स्वरूप देख लोगे तो क्या इसे देखना छोड़ दोगे? धनुर्दास ने सौगन्ध खाई कि—मै निश्चय ही इसे मन से भुला दूँगा। तब श्रीस्वामी जी ने उसे अपने सग ले जाकर त्रिभुवन-मोहन भगवान श्रीरङ्गनाथजी का दर्शन कराया। यतिराज की प्रार्थना पर श्रीरङ्गनाथ भगवान ने भी धनुर्दास को अपनी अलौकिक छवि-सुधा का पान कराकर सदा सर्वदा के लिये उसे अपना बना लिया। आगे चलकर यह धनुर्दास श्रीस्वामी रामानुजाचार्य के अनन्य भक्त हुये। इसी प्रकार

यदि भगवान के रूपमें मन लग जाता है तो वह उसी रूप में पग जाता है फिर तो हृदय में अपार-भाव सागर हिलोरें लेने लगता है।

सबही हैं नित्त—पूर्व कहाकि सभी सुख-सागर हैं अब कहते है कि सभी नित्य हैं।तात्पर्य, भगवानके अवतारों में किसी में न्यून किसीमें अधिकको भावना न करके सबको पूर्णही समझना चाहिये। जैसे श्रीकमलाकर भट्ट जी—'जेतिक हरि अवतार सबै पूरन करि मानैं।' (छप्पय ८६) पुनश्च—'ॐ पूर्ण-मदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।। (उपनिषद्) अर्थ—वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म सब प्रकार से पूर्ण है। यह जगत् भी पूर्ण ही है। क्योंकि उस पूर्ण परब्रह्म से ही यह पूर्ण उत्पन्न हुआ है। उस पूर्ण परब्रह्म में से पूर्णको निकाल लेने पर भी वह पूर्ण बच रहता है। अतः ईश्वरावतारों में न्यूनाधिक्य मानना अपराध है, हृदयकी संकीर्णतामात्र है। अनन्यता नहीं।

जैसे रंक पावै वित्त०—इस सारतत्वको जान लेने पर कि सभी अवतार पूर्ण है,नित्य हैं, सुख सागर हैं, सभी ही ध्यान करने से चित्त को परम प्रकाशित करते है, हृदय में ऐसा आह्लाद होता है जैसे किसी रङ्क (दरिद्र) को महानिधि मिलने पर आनन्द होता है। 'जो पै जानै सार को'—का भाव यह कि विना तत्व, महत्व जाने वित्त मिलने पर भी तज्जन्य सुख नही मिल पाता, जैसे किसीको पारस मणि मिल जाय परन्तु वह उसे जाने नहीं कि यह पारस है तो उसको पारस से क्या सुख ? इस पर—

दृष्टान्त—एक गड़रिये का—किसी गड़रिया को एक हीरा मिल गया, उसने उसे चमकीला पत्थर समझकर वालक को खेलने को दे दिया। एक दिन उसकी पत्नी उसे साग बेचने वाले को पाव भर साग के वदले दे आई। साग बेचने वाला पंसारीके यहाँ थोड़ेसे मूलीके बीजके वदले दे आया। एक सर्राफ ने देखा तो पंसारी से एक रुपये में ले लिया और दुकान की शोभामात्र बढ़ाना उसका प्रयोजन रहा। एक जौहरी ने देखा तो दस-बीस रुपया देकर उसे खरीद लिया और कई लाख रुपया देकर जौहरी से बादशाह ने लेकर अपने मुकुट में जड़वाया। दृष्टान्त का तात्पर्य, हीरे के महत्व को न ज़ानने के कारण ही गड़रिया, साग बेचने वाला, पंसारी, तथा सर्राफ हीरे को पाकर भी पूर्ण लाभान्वित न हो सके। उसी प्रकार परमात्मा को नहीं जानने से उस आनन्द कन्द के घट-घट व्यापक होने पर भी लोग दुखी ही बने रहते हैं। यथा—'अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।' और जान लेने पर तो—'जानत तुमहिं तुमहि होइ जाई।' तभी तो श्रीतुलसीदास जी कहते है कि—'जाने बिन न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।। प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई। और विना भक्ति के सुख नही। यथा—'सुख कि लहिअ हरि भक्ति बिनु।' अतः 'जो पै जानै सार को' कहा।

केशनि कुटिलताई ऐसे मीन सुखदाई—भाव यह कि वैसे तो कुटिलता सदा दुर्गुण ही है परन्तु केश में कुटिलता (घुँघुरालापन) गुन है। केश के सम्बन्ध से दूषण (कुटिलता) भी भूषण हो गया वैसे ही मीन, कमठ; सूकर आदि शरीर निन्द्य हैं परन्तु प्रभु के सम्बन्ध से वह स्तुत्य हो गये। जैसे कुटिल-केश देखने में सुखदायी लगते हैं। वैसे ही मीन आदि अवतार सुखदाई हैं। अतः जय जय मीन कहा।

अगर सुरीति भाई०—सभी अवतारोंकी वन्दना करना श्रीअग्रदेवजी की सुन्दर रीति है।इसे 'अगर सुरीति' कहने का भाव यह कि प्रायः लोग अपने इष्ट की वन्दना करते हैं। अपने इष्ट के प्रति

भावाविक्य होता है। परन्तु श्रीअग्रदेवजी तो सभी अवतारो को (इष्ट स्वरूपोको) ही एक समान (इष्ट समान) ही मानते हुये वन्दना करते हैं, यह अगर सुरीति है। यही वास्तविक अनन्यता है। श्री-प्रियादासजी कहते हैं कि यह रीति मुझे भी बहुत अच्छी लगती है। अत. कहते हे कि–'वसौ उर हार को' यह सुरीति हृदयमे हार वत् वसे वा चौवीसो अवतार हृदयमे हार वत् वसे वा चौवीसो अवतार सहित श्रीगुरु-पद-कमल हृदयमे हारवत् वसे'। हारको अर्थात् भक्तमालके वास्ते–उसके रहस्यो को जानने के लिए यह अग्रदेवजीकी सुरीति हृदयमे वसे। जव तक भगवत् स्वरूपों—अवतारो मे भेदभाव वना रहेगा तव तक भक्त-भगवन्त का अभेद, 'चतुर्नाम वपु एक' यह सिद्धान्त समझ मे नही आयेगा अत' वसौ...... हार को।

चरण चिन्ह रघुबीर के संतनि सदा सहायका ॥
अंकुश अम्बर कुलिश कमल जव धुजा धेनुपद ।
शंख चक्र स्वस्तीक जम्बुफल कलश सुधा ह्रद ॥
अर्द्धचन्द्र षट्कोन मीन विन्दु ऊरध रेखा ।
अष्टकोन त्रैकोन इन्द्रधनु पुरुष विशेषा ॥
सीतापति पद नित बसत एते मङ्गल दायका ।
चरण चिन्ह रघुबीरके संतनि सदा सहायका ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—अंकुश=आंकुश, नोकदार लोहे का डण्डा जिससे हाथी चलाया जाता है, शासन। अम्वर=वस्त्र। कुलिश=वज्र, इन्द्र का हथियार। जव=जौ, एक धान्य। ध्वजा=झण्डा। धेनुपद= गाय का खुर। चक्र=सुदर्शन चक्र, पहिये के आकार का एक गोल अस्त्र। स्वस्तीक=मागलिक चिह्न विशेष। जम्बु-फल=जामुनके फलके समान आकार वाली रेखा। कलश=घडा। सुधाह्लद=अमृत कुण्ड। अर्धचन्द्र=आधा चन्द्रमा। षट्कोन=छः कोने का यन्त्र। विन्दु=बूंद, गोल शून्य। ऊरध रेखा=ऊर्ध्व-रेखा, ऊपर की ओर लम्बी रेखा। अष्ट कोन=आठकोने का यन्त्र। विशेष=श्रेष्ठ। वसत=निवास करते हैं॥

भावार्थ—सीतापति श्रीरामचन्द्र के श्रीचरणो में अंकुश, अम्बर, वज्र, कमल, जव, ध्वजा, गोपद शङ्ख, चक्र, स्वस्तिक, जम्बुफल, कलश, अमृतकुण्ड, अर्द्धचन्द्र, षट्कोण, मीन, विन्दु, ऊर्ध्वरेखा, अष्टकोण, त्रिकोण, इन्द्रधनुष, और पुरुष विशेष ये बाइस चिन्ह सदा विराजते है। ये राघवेन्द्र सरकारके चरण-चिह्न भक्तों को मङ्गलदायक तथा सदा उनके सहायक हैं ॥६॥

व्याख्या—चरण-चिह्न—श्रीरामजी के चरण कमलो मे अड़तालीस महामङ्गल दायक चिन्ह हैं। चौवीस चिह्न दक्षिण पद कमल मे एव चौवीस वाम पदकमल मे। यथा—

"पुष्प माल अरु छत्रशुभ, सिंहासन यमदण्ड।
चंवर चक्र अंकुश मुकुट सुरतरु केतु प्रचण्ड॥

स्वस्तिचिन्ह अठकोण श्री, शर हल मूसल शेष।
पट्टुक पद्दुम रथ वज्र जौ, ऊर्ध दाहिने रेष॥
हंस चन्द्रिका त्रोण धनु, वंशी वीण निशेष।
मीन त्रिवलि पीयूषह्लद, गोखुर महि कलशेश॥
ध्वजा जम्बुफल शशिकला, दर षटकोण त्रिकोण।
गदा जीव सरयूसरित, ऊर्ध विन्दु सुठि लोन॥"

एक वात यहाँ स्मरण रखने की है कि जो चिह्न श्रीरामजी के दाहिने चरण में है वे श्रीजानकी जी के वाये चरण में हैं और जो चिह्न श्रीरामजी के वायें चरणमें है वे श्रीजानकीजी के दाहिने पदमें हैं॥

भक्त जन अपनी भावना एवं चिन्तन सामर्थ्य के अनुसार यथा साध्य श्रीचरण चिह्नों का ध्यान करते हैं। जैसे श्रीयामुनाचार्यजीने सात चरण चिन्होंका स्मरण किया है। यथा-"कदा पुनः शङ्खरथाङ्ग-कल्पक ध्वजारविन्दांकुश-वज्रलाञ्छनम्। त्रिविक्रमत्वच्चरणाम्बुजद्वयं मदीयमूर्धानमलंकरिष्यति॥" (आलवन्दार स्त्रोत्र) ॥ अर्थ—हे त्रिविक्रम। शङ्ख, चक्र, कल्पवृक्ष, ध्वजा, पताका, कमल, अंकुश, वज्र आदि अनेक चिन्ह जिनमें विराजमान है वे आपके श्रीचरणकमल मेरे मस्तक को कव सुशोभित करेंगे॥ श्रीतुलसीदासजी ने चार चिह्नों का ही जहाँ-तहाँ स्मरण किया है। यथा—ध्वज कुलिश अंकुश कंजयुत वन फिरत कण्टक किन लहे। पदकंज द्वन्द्व मुकुन्द राम रमेश नित्य भजामहे॥(रा०च०मा) श्रीनाभाजो ने उपर्युक्त छप्पय में वाइस चरण चिह्नों का स्मरण किया है।

सन्तनि सदा सहायका—ये चरण चिन्ह सन्तों के सर्वस्व है। भावमूर्ति श्रीभरतलालजी चित्रकूट के वन पथ मे श्रीरघुनाथजी के चरण चिन्हों को देखकर श्रीरघुवर मिलन का ही अनुभव करते हैं। यथा—

हरर्षाह निरखि राम पद अंका। मानहु पारस पायउ रंका॥
रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुवर मिलन सरिस सुख पावहिं॥

परम भागवत श्रीअक्रूरजी की भी यही दशा है। यथा—

पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः।
ददर्श गोष्ठे क्षिति कौतुकानि विलक्षितान्यब्ज यवांकुशाद्यैः॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति॥

अर्थ—जिनके चरण कमल की रजको सभी लोकपाल अपने किरीटो के द्वारा सेवन करते हैं, अक्रूरजी ने गोष्ठमें उन चरणचिन्हों के दर्शन किये। कमल यव अंकुश आदि असाधारण चिन्हों के द्वारा उनकी पहचान हो रही थी और उनसे पृथ्वी की शोभा वढ़ रही थी॥ उन चरण चिन्होंका दर्शन करते ही अक्रूरजी के हृदय में इतना आह्लाद हुआ कि वे अपने को सँभाल न सके, विह्वल हो गये। प्रेम के आवेग से उनका रोम-रोम खिल उठा, नेत्रों मे आसूँ भर आये और टप-टप टपकने लगे। वे रथ से कूद कर उस धूलि मे लोटने लगे और कहने लगे—अहो! यह मेरे प्रभु की चरण रज है(भा०१०-३८-२५,२६)

भगवान के चरणचिन्ह भक्तो को अभय प्रदान करने वाले है। यथा—श्रीकृष्ण ने कालिय नाग से कहा कि—द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः। यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम्॥ अर्थ—तू जिस गरुड़ के भय से रमणक द्वीप छोड़कर इस दह मे आ वसा था। अव तेरा शरीर मेरे चरण चिन्हो से अंकित हो गया है, अतः वे गरुड भी अव तुझे न खा सकेंगे॥ इस प्रकार इन चिन्हो की अनन्त महिमा है। अतः भगवान के चरण चिन्ह भक्तो के परम ध्येय वन गये हैं। यथा—'आगे परा गीधपति देखा। सुमिरत रामचरन जिन्ह रेखा।' श्रीलक्ष्मण जी और श्रीजानकी जी प्रभु-पद-चिन्हों का कितना आदर करती हैं यह देखते ही वनता है। यथा—प्रभुपद रेख वीच विच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥ सीय रामपद अङ्क वराए। लखन चलहिं मग दाहिन लाए॥ (रा०च०मा०) अत. श्रीनाभा जी भक्त यश वर्णन के पूर्व सन्त सहायक श्रीप्रभुपद चिन्हो का वर्णन करते हैं।

रघुवीर—श्रीनाभा जी ने श्रीराम जी को वार-वार रघुवीर कहा है। पूर्व अवतार वन्दना मे भी 'रघुवीर' ही कहा और यहाँ भी 'रघुवीर' कहते हैं। इसलिये कि 'वीर महा अवराधिये साधे सिधि होय।'(विनय पत्रिका) रघुवीर शब्द पाँच प्रकार की वीरताके सम्बन्धमें प्रयुक्त होता है। यथा—

त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः।
पराक्रम महावीरो धर्मवीरः सदास्वतः॥
पञ्चवीराः समाख्याता राम एव च पञ्चधा।
रघुवीर इति ख्यातः सर्व वीरोपलक्षणः॥

इन पाँचों के उदाहरण क्रम से लिखते है—

१—त्यागवीर— पितु आयसु भूषण वसन तात तजे रघुवीर।
हृदय न हरष विषाद कछु पहिरे वल्कल चीर॥

२—दयावीर चरण कमल रज चाहती कृपा करहु रघुवीर॥

३—विद्यावीर श्रीरघुवीर प्रताप ते सिन्धु तरे पाषान।
ते मतिमन्द जो राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन॥

(जल पर पत्थर तैराना एक विद्या ही है।)

४—पराक्रमवीर सभय विलोके लोग सव, जानि जानकी भीर।
हृदय न हरष विषाद कछु, वोले श्रीरघुवीर॥

५—धर्मवीर श्रवन सुजस सुनि आयेउँ, प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुवीर॥

सीतापतिपद नित वसत—यहाँ 'नित' कहनेका भाव यह है कि लौकिक प्राणियों की भाग्य रेखायें शुभाशुभ कर्मानुसार वनती-मिटती रहती हैं, घटती-बढती रहती हैं परन्तु श्रीसीतापति के कर-पद चिन्ह तो सीतापति की ही तरह नित्य हैं, और श्रीसीतापति के कर-पद मे नित्य निवास करते है। इनका वनना-मिटना, घटना-वढना नहीं होता है। 'ये तिहुंकाल एक रस रहहीं।' वसत-शब्द से

इनकी सजीवता (चैतन्यता) दिखाई गई है। वस्तुतस्तु नित्यमुक्त विभूतियाँ ही इन रूपों मे निवास करती है। श्रीस्कन्दपुराणोक्त श्रीमद्भागवत माहात्म्य मे लिखा है कि वज्रनाभ ने श्रीकृष्ण के दाहिने चरणकमल में अपने को स्थित देखा। यथा—'वज्रस्तु दक्षिणे दृष्ट्वा कृष्णपाद सरोरुहे।'

सन्तनि सहाय काज धारे नृपराज राम चरण सरोजन में चिन्ह सुखदाइये।
मन ही मतंग मतवारो हाथ आवै नांहि ताके लिये अंकुश लै धारचो हिये ध्याइये॥
सठता सतावै सीत ताही ते अम्बर धरचो हरचो जन शोक ध्यान कीन्हे सुख पाइये।
ऐसे ही कुलिश पाप पर्वत के फोरिबे को भक्ति निधि जोरिबे को कंज मन लाइये॥१५॥

शब्दार्थ—मतंग=हाथी। मतवारो=मतवाला, पागल। हाथ आवै नाहि=वश में नही होता है। सठता=जड़ता, दुष्टता। फोरिवे को=ढहाने, नाशने के लिये। निधि=खजाना, नवनिधि यथा—महापद्म, पद्म, शंख, मकर, कच्छप. मुकुन्द, कुन्द, नील खर्व।

भावार्थ—सन्तों की सहायता के लिये राजाधिराज भगवान श्रीरामचन्द्र जी ने अपने चरण-कमलों में सुख देने वाले इन चिन्हो को धारण किया है। मनरूपी उन्मत्त हाथी किसी भी प्रकार वश में नही आता है इसलिये भगवान ने अंकुश का चिन्हधारण किया है। मनोजय के लिये अंकुश का ध्यान करना चाहिये। जडतारूपी जाड़ा भक्तों को दुःख देता है, इसीलिए वस्त्र चिह्न धारण करके प्रभु ने उनका शोक दूर किया, भक्तजन ध्यान करके सुख प्राप्त करे। इसी प्रकार पापरूपी पहाड़ों को फोड़ने के लिये वज्र का चिन्ह और भक्तिरूपी नवनिधि जोड़ने के लिये कमल का चिन्ह धारण किया, इनका ध्यान कीजिये॥१५॥

व्याख्या—मन ही मतंग—यथा—

मन है गयंद वलवन्त कहूँ देख्यौ नांहि मारचौ हू न जात ताके अंग लै दिखात हैं।
काम क्रोध लोभ मोह पांव चारि चलिबे को प्रकृति ही पूँछ कान कामना हलात हैं॥
निन्दा ही के नैन दन्त द्वन्द्व दुख देइवे को माथो मद मच्छर सूँड़ तृष्णा डुलात है।
अंकुश पदारविंद हाथी मन जीतिवे को यह है प्रसिद्ध और बातन की वात है॥

अन्यत्र भी मन को मतङ्ग कहा गया है। यथा—**मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः।** (भागवते) अर्थ—मनरूप हाथी नाना क्लेशरूपी दावाग्नि से दग्ध है। पुनः—'**मन करि विषय अनल वन जरई।**' (रामचरितमानस) मन और मतवाले हाथी का वड़ा ही सुन्दर रूपक एक कवि ने लिखा है। यथा—

छप्पय— **धरना धर्म उखारि शर्म सांकर गहि तोरत।**
तरुणी करिणी लखत शील शालहि गहि मोरत॥
विनय वान नहिं गनत ज्ञान शासन नहिं मानत।
गुरू महावत वात तासु की उर नहिं आनत॥

रहत सदा नवरङ्ग में मनमतङ्ग विचरत बुरो।
प्रभुपद अंकुशवश रहत तजत कुटिलता बनि खरो॥

कैसा भी मतवाला हाथी हो, अंकुश से सहज में ही वशीभूत हो जाता है। यथा—महामत्तगज-राज कहुँ वस कर अंकुस खर्व। वैसे ही कैसा भी विषयोन्मत्त मन हो प्रभु-पद में विराजमान अंकुश का ध्यान करने से सहज ही वश में हो जाता है।

सठता सतावै शीत—यहाँ शठता को शीत कहा गया है। दोनो में साम्य यह है कि जैसे शीत से अङ्ग जकड़ जाते हैं अतः कुछ भी करने मे असमर्थ हो जाते है उसी प्रकार शठता से बुद्धि-विवेक-विचार आदि कुण्ठित होकर लोक परलोक साधनमें सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं। शीत का निवारण जैसे वस्त्र धारण करने से होता है वैसे ही शठता अम्बरचिन्ह का ध्यान करने से निवृत होती है। **'कुलिश पाप पर्वत के फोरिवे को'**—जैसे वज्र प्रहार से पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं। वैसे ही 'वज्र' चिन्ह का ध्यान करने से पाप चूर-चूर हो जाते हैं। पाप, भगवद् भजन में बड़ा ही व्यवधान करने वाला है। यथा—**'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ'**॥ अतः इसको नष्ट करने के लिये 'वज्र' चिन्ह का ध्यान करना चाहिये। **भक्ति-निधि**—जैसे निधिया नव हैं (देखिये शब्दार्थ) वैसे ही भक्ति भी श्रवण, कीर्तन आदि भेद से नव प्रकार की होती है। (देखिये छप्पय १४)**कंज मन लाइये**—कमल श्रीलक्ष्मीजी का निवास स्थान है इसी से लक्ष्मीजी का एक नाम ही पड़ गया है पद्मालया और निधियाँ श्रीलक्ष्मीजी का विलास हैं निधियो को प्राप्त करने के लिये कमलालया (लक्ष्मी) की आराधना करनी चाहिये और भक्ति-निधि की प्राप्ति के लिये 'कमल' चिन्ह का ध्यान करना चाहिये॥

जव हेतु सुनो सदा दाता सिद्धि विद्या ही को सुमति सुगति सुख सम्पति निवास है।
छिनु में सभीत होत कलि की कुचाल देखि ध्वजा सो विशेष जानो अभैको विश्वास है॥
गोपद सो ह्वै है भवसागर नागरनर जो पै नैन हिय के लगावै मिटै त्रास है।
कपट कुचाल माया वल सवै जीतिवे को दर को दरस कर जीत्यो अनायास है॥१६॥

शब्दार्थ—सिद्धि=मोक्ष, सफलता, आठसिद्धियाँ यथा—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति,प्राकाम्य,ईशत्व और वशित्व। नागर=चतुर। दर=शङ्ख। अनायास=अन्+आयास,विनाश्रम।

भावार्थ—जव चिन्ह के धारण का कारण सुनिये कि यह सर्व विद्या और सिद्धियो का दाता है. इसमे सुमति, सुगति और सुखसम्पत्ति का निवास है, ध्यान करने वालो को इनकी प्राप्ति होती है। कलियुगकी कुटिल गति देखकर भक्तलोग क्षण भरमे ही भयभीत हो जाते हैं,विशेष करके उनको निर्भयता का विश्वास दिलाने के लिये भगवान ने अपने चरणो मे ध्वजा का चिन्ह धारण किया है। चतुर भक्तजन यदि हृदय के नेत्र गोपद चिन्हमे लगावे तो अपार भवसागर गाय के खुर के समान छोटा (सहज पार करने योग्य) हो जाता है और सभी संसारी कष्ट मिट जाते हैं। माया का कपट, माया की कुचाल और माया के सम्पूर्ण वल को जीतने के लिए प्रभु ने शख चिन्ह धारण किया, इसका ध्यान करके भक्तो ने सहज ही माया को जीत लिया॥१६॥

व्याख्या—विद्या—मुण्डकोपनिषद् मे कहा है कि मनुष्य के जानने योग्य दो विद्यायें हैं। एक परा, दूसरी अपरा। उनमें से (जिसके द्वारा लोक और परलोक सम्बन्धी भोगों तथा उनकी प्राप्तिके साधनों का ज्ञान होता है वे) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व वेद। शिक्षा (जिसमें वेदोके पाठकी विधि का उपदेश है), कल्प (जिसमें यज्ञादि की विधि का वर्णन है), व्याकरण, निरुक्त (वैदिक शब्दोंका कोष), छन्द (वैदिक छन्दों की जाति और भेद का जिससे ज्ञान होता है) और ज्योतिष, इन दस का नाम 'अपरा' है। और जिसके द्वारा ब्रह्म का ज्ञान होता है वह 'परा' विद्या है। पुनश्च—विद्याएँ प्रायः चौदह मानी जाती है। यथा—'**पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानिविद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥**' (याज्ञवल्क्यस्मृति उपोद्घात—प्रकरण १)। अर्थात् ब्रह्म आदि अठारह पुराण, तर्कविद्या-रूप न्याय, मीमांसा (वेद वाक्यका विचार), धर्मशास्त्र (मनुस्मृति आदि), वेद के छः अङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त ज्योतिष और छन्द) और चारों वेद—ये मिलकर चौदह विद्याएँ है॥

पुनश्च— **ब्रह्मज्ञान रसायनं स्वरधरं वेदं तथा ज्योतिषं,**
व्याकरणं च धनुर्धरं जलतरं वैद्यं च कृष्यापरम्।
कोके बाहन वाजिनां नटनृतं सम्बोधनं चातुरी,
विद्यानां च चतुर्दश प्रति दिनं कुर्वन्तु नो मंगलम्॥

पुनश्च—श्रीरामानन्द राय ने कहा है:—श्रीकृष्णभक्ति बिना विद्या नाहिं आर॥ (चै० च० म० ८-१९९)॥

कलि की कुचाल-आश्रम बरन धरम विरहित जग लोक वेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाषण्ड पाप रत अपने अपने रंग रई है॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति खल विलसत हुलसत खलई है॥
परमारथ स्वारथ साधन भये अफल सफल नहिं सिद्धि सई है।
कलि कुचाल बरनिये कहाँ लौं करत फिरत बिनु टहल टई हैं॥ (विनय)

कपट कुचाल मायाबल-यथा—व्यापि रह्यौ संसार महँ माया कटक प्रचण्ड। सेनापति कामादि भट दम्भ कपट पाखण्ड।

'जीत्यो 'अनायास'—कहने का भाव यह है कि माया के सेनानी महा अजय कहे गये है। यथा—'महा अजय संसार रिपु।' परन्तु भगवानके चरण चिन्हों का ध्यान करने से सहज में ही जीत लिये जाते है।

कामहू निशाचर के मारिबे को 'चक्र' धर्‌यो मङ्गल कल्याण हेतु 'स्वस्तिक' हू मानिये।
मंगलीक 'जम्बूफल' फल चारि हू कौ फल, कामना अनेक विधि पूर्ण नित ध्यानिये॥
'कलश' 'सुधा को सर' भर्‌यो हरि भक्ति रस, नैन पुट पान कीजै जीजै मन आनिये।
भक्ति को बढ़ावै औ घटावै तीन तापहू को, 'अर्धचन्द्र' धारण ये कारण है जानिये॥१७॥

शब्दार्थ—ध्यानिये = ध्यान कीजिये। पुट = दोना। जीजै = जीवित रहिए,जीवन सफल कीजिये। मन आनिए = मन मे लाइए, मानिए।

भावार्थ—भगवान ने कामरूपी निशाचर को मारने के लिये अपने चरण मे चक्र चिन्ह धारण किया। ध्यान करने वाले के मगल और कल्याण के लिये स्वस्तिक रेखा धारण की, ऐसा मानिए। अर्थ धर्म काम और मोक्ष चारो फलो का फल जम्बूफल मगल करने वाला अनेक प्रकार की कामनाओ को पूर्ण करने वाला है, इसका नित्य ध्यान कीजिये। अमृत का कलश और अमृतका कुण्ड ये चिन्ह इसलिये धारण किये कि ध्याता के हृदय मे भक्तिरस भरे। ध्यान नेत्र के कटोरा से पीकर सदा अमर रहें, भक्तजन मन मे ध्यान करें। अर्धचन्द्रके धारणका कारण यह जानिये कि वह ध्यान करने वाले के तीनोके तापोको नष्ट करे और भक्ति को वढावे ॥१७॥

व्याख्या—कामहू निशाचर—यहाँ काम को निशाचर कहा गया है। क्योंकि दोनो ही निशा (रात्रि) मे अधिक वलवान हो जाते है। 'फल चारिहूं को फल'—चार फल से तात्पर्य अर्थ, धर्म, काम,मोक्षसे है और चारों फलोके भी फलसे तात्पर्य प्रेमसे है। प्रेमको पचम पुरुषार्थ कहा गया है। यथा—**पंचम पुरुषार्थ हय प्रेम महाधन।'** 'कामना अनेक विधि पूर्ण'—का भाव यह कि जहाँ अन्य अनेक साधनों से एक दो प्रकार की कामनाये पूर्ण होती है वहाँ एक 'जम्बूफल' चिन्ह का ध्यान करने से ही अनेक विध कामनायें पूर्ण हो जाती है।

विषया भुजंग वलमीक तनमाहिं वसै दास कौ न डसै याते यत्न अनुसरचो है।
'अष्टकोन''षटकोन'औ'त्रिकोन'जंत्र किये जिये जोई जानि जाके ध्यान उर भरचो है॥
'मीन''बिन्दु'रामचन्द्र कीन्ह्यो वशीकर्णपाँय ताहि तें निकाय जन मन जात हरचो है।
सागर संसार ताको पारावार पावें नाहिं'ऊर्ध्वरेखा'दासन को सेतु वन्ध करचो है ॥१८॥

शब्दार्थ—विषया=इन्द्रियोके अनेक विषय। भुजंग=सर्प। वलमीक=वाँवी, विल। अनुसरचो =कियो। वशीकर्ण = अपने अधीन करने का। निकाय = समूह। सेतुवन्ध—अति अपार जे सरितवर, जो नृप सेतु करांहि। चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु, बिनुश्रम पारहिं जाहि॥

भावार्थ—काम आदि विषयरूपी साँप शरीररूपी वाँवी मे वसते हैं, वह भक्तों को न डसे, इसलिये यह उपाय किया है कि अष्ट कोण, षटकोण, और त्रिकोण यन्त्र चिन्हो को धारण किया, ऐसा जान कर जिस जिसने हृदय में इनका ध्यान किया वे विषयरूपी सर्प से वचे और जीवित रहे अर्थात् उनका निरन्तर भगवान मे प्रेम वना रहा। भगवान श्रीरामचन्द्र ने अपने चरणकमल मे मीन और विन्दु चिन्हों को वशीकरण यन्त्र वनाकर धारण किया, इसी से वहुत से भक्तों के मन हरे जाते हैं। ससाररूप सागर अपार है, जिसका कोई पार नही पा सकता इसलिए ऊर्ध्वरेखा धारणकर पुल बांध दिया है। ध्यान करने वाले सहज में ही संसार सागर पार कर जाते हैं ॥१८॥

'धनु'पद माँहि धरचौ हरचो शोक ध्यानिनको मानिनको मारचो मान रावणादि साखिये।
'पुरुष विशेष' पदकमल वसायो राम, हेतु सुनो अभिराम श्याम अभिलाषिये॥

सूधो मन सूधी बैन सूधी करतूति सब ऐसो जन होय मेरो, याही के ज्यों राखिये ।
जो पै बुधिवन्त रसवन्त रूप सम्पति में, करि हिये ध्यान हरिनाम मुख भाषिये ।।१६।।

शब्दार्थ—धनु = धनुष । मानिन = अहकारियों का । अभिराम = सुन्दर ।

भावार्थ—श्रीराघवेन्द्र सरकारने अपने श्रीचरणोंमें इन्द्रधनुष चिन्ह धारण करके ध्यान करने वाले भक्तोंका दुःख दूर किया और रावण आदि अहकारियोके अहंकारको भी धनुषसे ही नाश किया सो प्रसिद्ध है । पुरुष विशेष चिन्ह अपने पद कमलमें बसाया उसका कारण सुनिए और श्यामसुन्दर को प्राप्त करने की अभिलाषा कीजिए । उनका कथन है कि हमारा भक्त यदि सरल मन वाला, सत्य सरल वचन वाला और शुद्ध सरल कर्म वाला हो तो इसी पुरुष चिन्हके समान मैं चरण-शरणमें रक्खूँगा । जो जन बुद्धिमान हों, रूप सम्पत्ति के रसिक हों वे पूर्व वर्णित इन श्रीचरण चिन्हो का हृदय में ध्यान करके मुख से भगवान के नामों का उच्चारण करते रहें ।।१६।।

व्याख्या—सूधो मन०—भाव यह कि—मन, वचन, कर्मसे निर्मल, निश्छल । यथा—**मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्** । ऐसे लोग भगवान को बहुत भाते हैं—यथा—**निर्मलमन जन सो मोहिं पावा । मोहिं कपट छल छिद्र न भावा ।।** 'जो पै बुधिवन्त' अर्थात् बुद्धिमान हों, साथ-साथ रसवन्त भी हों तात्पर्य यह कि बुद्धि की शोभा हृदय की सरसता से है । पूर्ण रसास्वादन भी तभी होता है जव दोनों का योग हो । 'रूप-सम्पति'—भक्तोकी सम्पत्ति भगवान का नाम रूप, लीला, धाम ही है । यथा—नाम-धन—'बड़ो धन हरिजन को हरिनाम' (सूर) 'परम धन राधानाम अधार' (व्यास) पायो जी मैंने राम रतन धन पायो (मीरा) रूपधन—'धनं मदीयं तव पाद पंकजम्' (यामुनाचार्यजी) चरित (लीला) धन—'राम भगत जन जीवन धन से' । धाम-धन—'मैदा मिश्री मुहरै मेरी वृन्दावन की धूरि' (व्यासजी)

विधि, नारद, शङ्कर, सनकादिक, कपिलदेव, मनु भूप ।
नरहरिदास, जनक, भीषम, बलि, शुकमुनि धर्मस्वरूप ।।
अन्तरंग अनुचर हरि जू के जो इनको यश गावैं ।
आदि अन्त लौं मंगल तिनको श्रोता वक्ता पावैं ।।
अजामेल परसंग यह निर्णय परम धर्म के जान ।
इनकी कृपा और पुनि समझैं 'द्वादश भक्त' प्रधान ।।७।।

शब्दार्थ—धर्मस्वरूप = धर्मराज । अन्तरंग = आत्मीय, अति समीपका, घनिष्ट । अनुचर = सहचर, सेवक, पीछे-पीछे चलने वाला । परसंग = प्रसग, प्रकरण । निर्णय = फैसला, दो पक्षों मे से उचितको उचित और अनुचित को अनुचित ठहराना । परमधर्म = श्रेष्ठ वैष्णव धर्म, भक्ति देने वाला आचरण ।

भावार्य—श्रीब्रह्मा जी, श्रीनारद जी, श्रीशङ्कर जी, श्रीसनकादिक, श्रीकपिलदेव जी महाराज, श्रीमनु जी, श्रीप्रह्लाद जी, श्रीजनक जी, श्रीभीष्मपितामह जी, श्रीवलि जी, महामुनि श्रीशुकदेव जी और धर्मराज जी ये वारहों भगवान के अन्तरङ्ग सेवक है, जो इनके यश को सुनें गावें उन सभी श्रोता और वक्ताओ का आदि से अन्त तक सर्वदा मंगल हो। अजामिल के प्रसग मे धर्मराजका यह परमश्रेष्ठ निर्णय जानिये कि इन्ही की कृपा से और दूसरे भक्त भक्ति के रहस्यो को समझते हैं, ये द्वादश प्रधान भक्त है ॥७॥

व्याख्या—परम धर्म—स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति ॥(भा०) अर्थ—मनुष्यों के लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिससे भगवानमे भक्ति हो—भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर वनी रहे। ऐसी भक्तिसे हृदय आनन्दस्वरूप परमात्मा की उपलब्धि करके कृत-कृत्य हो जाता है ॥ इनकी कृपा··· प्रधान—यथा—श्रीब्रह्माजीकी कृपासे श्रीसनकादिक, नारदादिक को, श्रीनारदजी की कृपासे श्रीध्रुव, प्रहलाद, वाल्मीकि, व्यासादिको श्रीशिवजी की कृपासे श्रीपार्वती, अगस्त्य (यथा—**ऋषि पूछी हरि भगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई।**) कागभुसुण्डि (**सोइसिव कागभुसुण्डिहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा**) लोमशादि को(**सम्भुप्रसाद तात मैं पावा**) श्रीसनकादिकजी की कृपासे श्रीनारदजीको भागवतमहापुराण-सार मिला, श्रीकपिलदेवजी की कृपा से माता देवहूति एवं आसुरि आदि शिष्यो को, श्रीमनुजी की कृपासे मनुस्मृति के द्वारा मानव मात्र को, श्रीप्रहलादजीकी कृपासे दैत्य वालकों को,श्रीजनकजी की कृपासे मुनिवृन्द(यथा—**जासु ज्ञानरवि भवनिसि नासा। वचन किरन मुनि कमल विकासा**) एव शुकदेवजी को, श्रीभीष्मजीकी कृपासे श्रीयुधिष्ठिरादि को, श्रीवलिजी की कृपा से (उनके आत्म समर्पण के द्वारा' साधक मात्र को, श्री-शुकदेवजी की कृपा से श्रीपरीक्षित, सूत ऋपिगणादिको, श्रीधर्मराजजीकी कृपासे,उनके दूतो एव नचिकेता आदि को परमधर्म भक्ति-तत्व का वोध हुआ ॥

श्रीब्रह्माजी—द्वादश प्रधान महाभागवतों में श्रीब्रह्माजी अग्रगण्य है। श्रीमद्भागवत जीमें भी यमराजजीने अपने दूतोसे परम भागवतोका वर्णन करतेहुये श्रीब्रह्माजीको प्रथम कहा है यथा—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः। प्रह्लादो जनको भीष्मो वलिर्वैयासकिर्वयम् ॥
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः। गुह्यं विशुद्धं दुर्वोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥

अर्थ—भगवान के द्वारा निर्मित भागवत धर्म परम शुद्ध और अत्यन्त गोपनीय है। उसे जानना वहुत ही कठिन है। जो उसे जान लेना है वह भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। दूतो! भागवत धर्म का रहस्य हम वारह व्यक्ति ही जानते हैं। ब्रह्माजी, देवर्षिनारद, भगवान शङ्कर, सनत्कुमार, कपिलदेव, स्वायम्भुवमनु, प्रह्लाद,जनक, भीष्मपितामह, वलि, शुकदेवजी और मैं (धर्मराज)॥

सृष्टि के पूर्व यह सम्पूर्ण विश्व प्रलयार्णवके जलमें डूवा हुआ था। उस समय एक मात्र श्री-नारायणदेव शेप शय्या पर पौढे हुए थे। सृष्टि काल आने पर भगवान नारायण की नाभि से एक परम प्रकाशमय कमल प्रकट हुआ और उसी कमल से साक्षात् वेदमूर्ति श्रीब्रह्माजी प्रकट हुये। उस कमल की कर्णिका मे वैठे हुये ब्रह्मा जी को जव कोई लोक दिखाई नही दिया तव वे आंखे फाडकर आकाशमें चारो ओर गर्दन घुमाकर देखने लगे,इससे उनके चारों दिशाओ में चार मुख हो गये। आश्चर्य चकित श्रीब्रह्मा-

ज़ी कुतूहल वश कमल के आधारका पता लगाने के लिये उस कमलकी नालके सूक्ष्म छिद्रों में होकर उस जलमे घुसे। परन्तु दिव्य सहस्रों वर्षो तक प्रयत्न करने पर भी कुछ भी पता न मिलने पर अन्त में विफल मनोरथ हो वे पुनः कमल पर लौट आये। तदनन्तर अव्यक्त वाणी के द्वारा तप करनेकी आज्ञा पाकर श्री-ब्रह्माजी एक सहस्र दिव्य वर्ष पर्यन्त एकाग्रचित्त से कठिन तप करते रहे। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान ने उन्हें अपने लोकका एव अपना दर्शन कराया। सफल मनोरथ श्रीब्रह्माजी ने भगवानकी स्तुति की। भगवान ने उन्हे भागवत-तत्व का चार श्लोकों मे उपदेश दिया, जिसे चतुःश्लोकी भागवत कहते है। उपदेश देकर भगवान ने कहा—ब्रह्माजी ! आप अविचल समाधि के द्वारा मेरे इस सिद्धान्त में पूर्ण निष्ठा कर लो। इससे तुम्हें कल्प-कल्प में विविध प्रकार की सृष्टि रचना करते-रहने पर भी कभी मोह नही होगा॥ फिर भगवान ने अपने संकल्प से ही ब्रह्माजी के हृदयमें सम्पूर्ण वेद-ज्ञान का प्रकाश कर दिया—

यथा-'तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये मुह्यन्ति यत्सूरयः' अर्थ—भगवानने अपने संकल्पसे ही ब्रह्माजी को उस वेद ज्ञान का दानकिया जिसके सम्बन्धमे बड़े-बड़े विद्वान् लोग भी मोहित हो जाते हैं। कालान्तर में श्रीनारदजी की सेवा से सन्तुष्ट होकर श्रीब्रह्माजी ने उनको चतु.श्लोकी भागवत तत्व का उपदेश किया और देवर्षि नारदजीने वह तत्व ज्ञान भगवान वेद व्यासजी को सुनाया और श्रीव्यासजी ने चार श्लोकों से ही अठारह हजार श्लोकों के रूपमें श्रीमद्भागवत महापुराण की रचना कर श्रीशुकदेवजी को पढ़ाया। इस प्रकार श्रीमद्भागवत का लोकमें विस्तार हुआ।

भगवान के द्वारा प्राप्त उपदेश का निरन्तर चिन्तन करते रहने से तथा भगवत्स्वरूप का ध्यान करते रहने से श्रीब्रह्माजी का अपने मन वाणी और इन्द्रियों पर इतना अधिकार हो गया हैं कि सदा-सर्वदा जगत्-प्रपञ्च में लगे रहने पर भी इनकी वृत्तियाँ स्वप्न में भी असत की ओर नही जाती हैं। इस वात को स्वयं ब्रह्माजी ने कहा है। यथा—

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठयवता धृतो हरिः॥ (भा०)

अर्थ—प्यारे नारद ! मैं प्रेमपूर्ण एव उत्कण्ठित हृदयसे भगवानके स्मरणमें मग्न रहता हूँ, इसीसे मेरी वाणी कभी असत्य होती नहीं दीखती, मेरा मन कभी असत्य सकल्प नही करता, और मेरी इन्द्रियाँ भी कभी मर्यादा का उल्लघन करके कुमार्ग में नही जाती॥ सच पूछे तो यही भागवत धर्म का सार है। भगवान की शरणागति महिमा पर प्रकाश डालते हुये श्रीब्रह्माजी कहते है कि—

'तावद्भयं द्रविणगेह सुहृन्निमित्त शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्ति मूलं यावन्नतेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः'॥ (भा०)

अर्थ—जव तक पुरुष आपके अभयप्रद चरणारविन्दों का आश्रय नही लेता तभी तक उसे धन, घर, और वन्धुओं के कारण प्राप्त होने वाले भय, शोक, लालसा, दीनता और अत्यन्त लोभ आदि सताते हैं। तभी तक उसे मैं, मेरे पन का दुराग्रह रहता है, जो दु ख का एक मात्र कारण है। (भा०)

पुनश्च— 'तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥

अर्थ—हे सच्चिदानन्द स्वरूप श्याम सुन्दर ! तभी तक राग द्वेषादि दोष चोरोंके समान सर्वस्व अपहरण करते रहते हैं, तभी तक घर और उसके सम्बन्धी कैद की तरह सम्बन्ध के बन्धनो में बांध रखते हैं और तभी तक मोह पैर की बेडियों की तरह जकड़े रहता है, जब तक जीव आप का नही हो जाता ॥
जगत के जीवों को कर्तव्य निर्देश करते हुए श्रीब्रह्माजी कहते हैं कि—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकं ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् । (भा०)

अर्थ—इसलिये जो पुरुष क्षण-क्षण पर बड़ी उत्सुकता से आप की कृपा का ही भली भांति अनुभव करता रहता है और प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है उसे निर्विकार मन से भोग लेता है एवं जो प्रेम पूर्ण हृदय गद्‌गद् वाणी और पुलकित शरीर से अपने को आपके चरणो में समर्पित करता रहता है—इस प्रकार जीवन व्यतीत करने वाला पुरुष ठीक वैसे ही आपके परम पद का अधिकारी हो जाता है जैसे पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति का ।

श्रीब्रह्मा जी के परम सौभाग्य का क्या कहना है ? जो कि भगवानके समस्त अवतारों के दर्शन स्तवन करते हैं । कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं' इसके अनुसार ब्रह्माजी के अधिकार काल मे ३६००० बार भगवान के विविध अवतार होते हैं । क्योकि एक कल्प ब्रह्माजी का एक दिन होता है और सौ वर्ष की ब्रह्माजी की आयु मे ३६००० कल्प दिन के (उतने ही रात्रि के भी) होते हैं । साथ ही प्रायः अधिकाश अवतार ब्रह्माजी की प्रार्थना से होते हैं ।

श्रीनारदजी—'उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे' अर्थात् प्रजापति ब्रह्माजी की गोद से श्रीनारदजी उत्पन्न हुये । जब ब्रह्माजी ने इन्हे भी सृष्टि विस्तार की आज्ञा दी तो श्रीनारदजी ने यह कहकर कि—'अमृत से भी अधिक प्रिय श्रीकृष्ण सेवा छोड़कर कौन मूर्ख विषय नामक विष का भक्षण (आस्वादन) करेगा ? ब्रह्माजी की आज्ञा का अनौचित्य दिखाया । श्रीनारदजी की यह बात सुनकर ब्रह्माजी रोष से आग बबूला हो गये और नारदजी को शाप देते हुये बोले—नारद ! मेरे शाप से तुम्हारे ज्ञान का लोप हो जायेगा, तुम पचास कामिनियो के पति बनोगे । उस समय तुम्हारी उपबर्हण नाम से प्रसिद्धि होगी । फिर मेरे ही शाप से दासी पुत्र बनोगे, पश्चात् संत-भगवन्त कृपा से मेरे पुत्र रूप मे प्रतिष्ठित हो जाओगे ।

ब्रह्माजी के दिये हुये उस शाप के ही कारण नारद जी आगे चलकर उपबर्हण नाम के गन्धर्व हुए और चित्ररथ गन्धर्व की पचास कन्याओ ने उन्हे पति रूप मे वरण किया । एक बार वे पुष्कर-क्षेत्र मे श्रीब्रह्मा जी के स्थान पर गये और वहाँ श्रीहरि का यशोगान करने लगे । वहीं रम्भा अप्सरा को नृत्य करते देखकर काम मोहित होने से वीर्य स्खलित हो गया जिससे कुपित होकर ब्रह्माजी ने उन्हे शाप देते हुये कहा—तुम गन्धर्व शरीर को त्यागकर शूद्र योनिको प्राप्त हो जाओ । शाप सुनकर उपबर्हणने तत्काल उस शरीर को योग-क्रिया के द्वारा छोड दिया और कालान्तर मे द्रुमिल गोप की पत्नी कलावती के गर्भ से उत्पन्न होकर दासी पुत्र कहाये । (ब्रह्मवैवर्तपुराण)

द्रुमिल गोप के स्वर्ग सिधार जाने पर कलावती एक सदाचारी ब्राह्मण के घर सेवा कार्य करती हुई जीवन-यापन करने लगी । उस समय का अपना चरित्र बताते हुये नारद जी ने व्यास जी से कहा कि

ब्राह्मण के घर चातुर्मास्य विताने के लिये सन्तों ने निवास किया। ब्राह्मण की आज्ञा से मैं माता समेत संतों की सेवामें लगा रहता था और पात्रोंमें लगी हुई उनकी जूठन दिनमें एक वार खा लिया करता था। जिससे मेरे सव पाप दूर हो गये हृदय शुद्ध हो गया, जैसा भजन-पूजन वे लोग करते थे उसमें मेरी भी रुचि हो गई। यथा—

उच्छिष्टलेपाननुमोदितोद्विजैः सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्विषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्ध चेतसस्तद्धर्म एवात्म रुचिः प्रजायते॥

चातुर्मास्य करके जाते हुए साधुओं ने मुझ शान्त, दान्त विनम्र वालक को रूप ध्यान और नाम जप का उपदेश दिया। कुछ ही दिन वाद सायंकाल में गाय दुहाकर लौटते समय साँप के काटने से माता की मृत्यु हो गई। तव मैं भगवान की कृपाका सहारा लेकर उत्तर दिशा की ओर वन में चला गया। थककर पीपलमूल में वैठ कर ध्यान करते हुये मेरे हृदय में प्रभु प्रकट हो गये, मैं आनन्दमग्न हो गया। परन्तु वह झाँकी तो विद्युतकी भाँति आयी और चली गई। मैं पुनः दर्शन पाने के लिये व्याकुल हो गया। उस समय आकाशवाणी ने आश्वासन देते हुये वतलाया—'अव इस जन्म में तुम मुझे नहीं देख सकते। यह एक झाँकी तो मैंने तुम्हें कृपा करके इसलिये दिखलाई कि इसके दर्शन से तुम्हारा चित्त मुझमें लग जाय॥' तव मैं दयामय भगवान को प्रणाम कर उनका गुण गाते हुये पृथ्वी पर घूमने लगा। समय आने पर मेरा वह शरीर छूट गया तव दूसरे कल्प में मैं ब्रह्मा जी का पुत्र हुआ। व्यासजी! अव तो जव मैं वीणा वजाकर प्रभु गुण-गान करता हूं तो वुलाये हुये की तरह भगवान मेरे चित्त में तुरन्त प्रकट हो जाते हैं। यथा—

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि॥ (भा०)

श्रीभक्ति की महिमा वर्णन करते हुये श्रीनारद जी कहते हैं कि—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥ (भा०)

अर्थ—वह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्ष की प्राप्ति का साक्षात् साधन है, यदि भगवान की भक्ति से रहित है तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती। फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही दशाओं में सदा अमङ्गलरूप है वह काम्य कर्म और जो भगवान को अर्पण नहीं किया गया है ऐसा निष्काम कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकता है।

सत्रह पुराणों की रचना करके भी असन्तुष्ट व्यासजी को आपने चतुःश्लोकी भागवतका उपदेश किया। तव व्यासने भागवत का निर्माण किया। गर्भस्थ प्रह्लाद तथा वन जाते हुये ध्रुव को नारदजी ने ही उपदेश देकर महान् भक्त वनाया। दक्ष के हर्यश्व नामक दस हजार पुत्रोंको विरक्त वना दिया। दूसरी वार दक्ष ने एक हजार पुत्र उत्पन्न करके सृष्टि वृद्धि हेतु तप करने भेजा, इनको भी नारदजी ने विरक्त वना दिया। तव कुपित होकर दो घड़ी से अधिक कहीं न ठहरने का शाप दक्ष ने दिया जिसे वहुत अच्छा कहकर नारद जी ने स्वीकार किया। सामर्थ्य होते हुये भी वदला न लेना ही साधुता है। यथा—

प्रतिजग्राह तद् वाढं नारदः साधुसम्मतः।
एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम् ॥ (भा० ६।६।४४)

नारदजी देवर्षि हैं तथा वेदान्त, योग, ज्योतिष, वैद्यक, संगीत तथा भक्ति के मुख्य आचार्य हैं। पृथ्वी पर भक्ति प्रचारका श्रेय आपको ही है। भक्तिदेवी तथा ज्ञान वैराग्यका कष्ट दूर करते हुये वृन्दावन मे आपने प्रतिज्ञा की है कि—"हे भक्तिदेवी! कलियुगके समान दूसरा युग नही है अत· कलियुगमें दूसरे धर्मो का तिरस्कार करके और भक्ति विषयक महोत्सवोको आगे करके जन-जन और घर-घर में तुम्हारी स्थापना न करूँ तो मैं हरिदास न कहाऊँ। यथा—

कलिना सदृशः कोऽपि युगो नास्तिवरानने। तस्मिस्त्वां स्थापयिष्यामि गेहे गेहे जने जने ॥
अन्य धर्मास्तिरस्कृत्य पुरस्कृत्य महोत्सवान्। तदानाहं हरेर्दासो लोके त्वां न प्रवर्तये ॥
(भा० मा०)

स्वयं भक्ति ने कहा कि हे ब्रह्मपुत्र! तुम्हे नमस्कार है। तुम्हारे एक वार के उपदेश से प्रह्लादने माया विजय तथा ध्रुव ने ध्रुवपद प्राप्त कर लिया। यथा—

जयति जगति मायां यस्य कायाधवस्ते वचनरचनमेकं केवलं चाकलय्य।
ध्रुवपदमपि यातो यत्कृपातो ध्रुवोऽयं सकल कुशलपात्रं ब्रह्म पुत्रं नतास्मि ॥

पुनः भक्ति ने कहा कि तुम्हारी मुझमे प्रीति है अतः तुम्हारे चित्तमें सदा निवास करूँगी। यथा—अहो नारद! धन्योऽसि प्रीतिस्ते निश्चला मयि। न कदाचिद् विमुञ्चामि चित्ते स्थास्यामि सर्वदा॥ भगवान श्रीकृष्णने श्रीनारदजी की स्तुति करते हुये उग्रसेन से कहा कि निरहङ्कारी, ब्रह्माकी गोदसे प्रकट, सर्वज्ञ नारदजी को नमस्कार है। यथा—उत्सङ्गात्ब्रह्मणोजातो यस्याहन्ता न विद्यते। अगुप्तश्रुतिचारित्रं नारदं तं नमाम्यहम् ॥ (स्कन्द पुराण मे २२ श्लोको में यह स्तोत्र है) श्रीनारदजी का गुण गाते हुये भगवत रसिकजी कहते है कि—'गुरु नारद सो मिलै अकिंचन पर उपकारी'।

दृष्टान्त—कृष्णदत्त का—एक गाँव में एक ब्राह्मण दम्पति निवास करते थे। ब्राह्मण का नाम था कृष्णदत्त, ब्राह्मणी का नाम था सुन्दरी। दोनोमे परस्पर वड़ा प्रेम था। सुन्दर सुखमय जीवन था। एक वार विचरण करते हुये श्रीनारद जी उधर से ही निकले। सहृदय दम्पति को देखकर विचार आया कि ये तो भगवान का भजन करते तो अच्छा होता। फिर तो उतर पड़े उसके द्वार पर। सयोग से ब्राह्मण किसी कार्य वश वाहर चला गया था। ब्राह्मणी ने देवर्षि का वड़ा सत्कार किया, अपना धन्य भाग्य माना। वाद में श्रीनारद जी ने प्रसंग छेडा, घर मे सेवा पूजा किसकी है? गोपालजी हैं अथवा श्रीरामलालजी है। शिक्षा-दीक्षा कहाँ हुई हैं? मन्त्र कौनसा है? आदि-आदि। ब्राह्मणीने सवका नकारात्मक उत्तर दिया। तव तो श्रीनारद जी ने जो कुछ खाया-पिया था, तत्काल वमन कर दिया और पूछने पर वताया कि अदीक्षितके हाथ का अन्न-जल ग्रहण नही करना चाहिये।

ब्राह्मणी अत्यन्त दीन होकर चरणों में पड़ गयी और दीक्षाके लिये प्रार्थना की। श्रीनारद जी तो इसी के लिये आये ही थे। तुरन्त कण्ठी वाँधे श्रीहरि नाम सुनाए, और उपदेश दिए कि आज से तुम भी किसी अदीक्षित का छुवा न पाना। ब्राह्मणी ने आज्ञा शिरोधार्य की। श्रीनारद जी 'जय श्रीमन्ना-

रायण, कहकर चलते भये। तव तक भूखा-प्यासा उसका पति घर पर आया और घड़े से जल लेनेके लिये ज्यों ही आगे बढ़ा, ब्राह्मणी ने ललकारा—छूना नही, मैंने आज ही नया घड़ा रखा है। फिर स्वयं जल दिया। ब्राह्मण ने भोजन किया तो वचा हुआ उच्छिष्ट, जो प्रति दिन स्वयं खाती थी, आज गायको डाल दिया, वरतन साफ की, चौका लगायी तव अपने खायी। ब्राह्मण हैरान था। इसकी प्रकृति में इतना परिवर्तन क्यों? पूछने पर ब्राह्मण झुँझलाया, पत्नी को डाँटा-फटकारा, डराया-धमकाया, दो-चार चपत भी लगा दिया कि तू मेरी पत्नी होकर मुझे नही मानती, नारद के वहकावे में आ गई। भला—'नारद कर उपदेश सुनि, कहहु वसेहु किसु गेह।' परन्तु ब्राह्मणी तो पक्के गुरुकी चेली थी, श्रीपार्वतीजी का सा जवाव दिया—'तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सतबार महेसू॥ गुरु के वचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही॥

श्रीपार्वतीजी से सप्तर्षि हार गये थे। ब्राह्मणी ने भी कहा—चाहे मुझे मार भले डालो परन्तु जव तक तुम भी दीक्षा नहीं ले लोगे तव तक मैं तुम्हारी जूठन खाने की नही। ब्राह्मण ढीला पड़ गया। दीक्षा लेने की स्वीकृति दे दी। ब्राह्मणी ने तुरन्त स्मरण किया, श्रीनारद जी तत्काल प्रकट हो गए। ब्राह्मण भी चरणों में पड़ा, निवेदन किया दीक्षित करने के लिए। श्रीनारद जी ने कहा—तुम स्नान कर आओ। ब्राह्मणी से कहे—तुम चौका लगाओ। उधर ब्राह्मण को त्वरापूर्वक जाते देखकर किसी ने पूछा और ब्राह्मण ने जव वताया तो उसने उसे उल्टा-सीधा पढ़ा दिया। अभी पितृ-पक्ष है पितरों का तर्पण-श्राद्ध करो। दीक्षाके अभी वहुत दिन हैं। ब्राह्मण भूल-भुलैया में आ गया। लौटकर श्रीनारदजी से वोला—अभी नही—आगे अक्षय-नवमी को दीक्षा लूँगा। श्रीनारद जी वीणा वजाते, हरिगुण गाते हुये चलते भये।

निश्चित समय पर जव फिर ब्राह्मण के घर आये तो पता चला कि वे तो दोनों स्वर्ग सिधार गये। श्रीनारद जी ने ध्यान धर कर देखा तो पता चला कि ब्राह्मणी तो राजकुमारी भई और ब्राह्मण उसी राजा के यहाँ हाथी रूप में है। श्रीनारद जी वहाँ भी पहुँचे। राजकुमारी ने पूर्वजन्म के भावानुसार ही वड़ा अर्चन वन्दन किया और गजराज ने इन्हे देखकर सिर नीचा कर लिया। दोनों को ही श्रीनारद जी के दर्शनके प्रभावसे पूर्वजन्म का ज्ञान था। हाथी अपनी करनी पर पश्चत्ताप करता। राजकुमारी को देखकर रोता रहता कि अव यह दूसरे की पत्नी हो जायेगी। राजकुमारी उसे समझाती रहती तथा पूर्ववत् उसमें पतिभाव रखती। यहाँ तक कि स्वयम्वरके दिन उसने हाथी के गले में जयमाला भी डाली। यद्यपि इस प्रक्रिया से राजा एवं राजकुमारी का वड़ा उपहास हुआ परन्तु वह तो अपने भाव में दृढ रहते हुए वार वार गज के ही गलेमें जयमाल डाली। अन्तमें जव माता-पिता वड़े दुःखी हुये तो उसने श्रीगुरुदेव नारदजी का स्मरण किया। श्रीनारद जी आये। हाथी के पास जाकर वोले अव तो नाम सुन लो। हाथी ने माथा टेककर प्रणाम किया श्रीनारद जी ने कान में भगवन्नाम सुनाया। हाथी तुरन्त अपना वह शरीर छोड़कर दिव्य राजकुमाररूप हो गया। फिर श्रीनारदजी ने दोनों को विधिवत दीक्षा दी। ऐसे हैं परम-कृपालु गुरु श्रीनारद जी।

श्रीशङ्कर जी—निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा। वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा॥ (भा०) अर्थ—नदियों में गङ्गा, देवोंमें अच्युत (भगवान) पुराणोमें भागवत और वैष्णवोंमें शम्भु श्रेष्ठ हैं। द्वादश परम भागवतों में श्रीशिवजी का प्रमुख स्थान है। भगवानके स्वभाव, प्रभाव, गुण, शील माहात्म्य आदिके जानने वालोंमें भी श्रीशिव जी अग्रगण्य हैं। यथा—**राम रावरो सुभाउ गुण शील,**

महिमा प्रभाउ जान्यो हर हनुमान लखन भरत । (विनय) भगवान के नाम के प्रभाव को तो जैसा श्रीशिवजी जानते है वैसा कोई जानने वाला नही है। यथा—नामप्रभाव जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को । पुनश्च—'जनाति रामनाम्नस्तु परत्वं गिरिजापतिः । ततोऽन्यो न विजानाति सत्यं सत्यं वचो मम ।।(नन्दी-पुराण) श्रीरामनाम के प्रभावको तो गिरिजापति श्रीशंकर ही जानते हैं। उनके अतिरिक्त कोई नही जानता । मेरा यह वचन सत्य है सत्य है। भगवान नीलकण्ठ श्रीशिवजी का हलाहल पान इस वातका साक्षी है । अमृतके लोभसे समुद्र मन्थन किये जाने पर सर्व प्रथम कालकूट(महा-विष) निकला, जो सव लोको को असह्य हो उठा । देवता और दैत्य तक उसकी झार से झुलसने लगे।

तव भगवान का सकेत पाकर सवके सव मृत्युञ्जय श्रीशिवजी की शरण गये और जाकर उन्होने उनकी स्तुति की । करुणावरुणालय भगवान शंकर इनका दुःख देख कर सतीजी से वोले—देवि ! प्रजा एवं प्रजापति महान संकटमे पड़े है,इनके प्राणोकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है अतः मैं इस विषको पी लूंगा जिससे इन सवका कल्याण हो ।' भवानी ने इस इच्छा का अनुमोदन किया । जगज्जननी जो ठहरी तथा उन्हे विश्वनाथ का प्रभाव भी सर्वथा ज्ञात था । फिर तो श्रीशिवजी ने—

"श्रीरामनामाखिल मन्त्रवीजं मम जीवनं च हृदये प्रविष्टम् ।
हालाहलं वा प्रलयानलं वा मृत्योर्मुखं वा विशतां कुतो भयम् ।।"

अर्थ—श्रीरामनाम समस्त मन्त्रों का वीज है । मेरा जीवन है तथा मेरे हृदय में प्रविष्ट होकर स्थित है । फिर तो चाहे हलाहल पान करना हो चाहे प्रलयानल पान करना हो चाहे मृत्यु के मुख मे ही क्यो न प्रवेश करना हो, भय ही किस वात का ? श्रीप्रह्लादजी ने भी कहा है—राम नाम जपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम् । पश्य तात मम गात्र सन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ।। अर्थ—समस्त तापो को दूर करने के लिये एक मात्र महौषधि श्रीराम नामको जपने वाले को भय ही किस वातका ? हे तात ! तुम स्वयं देख लो, मुझ रामनामाश्रयी के शरीरके समीप आकर अग्नि भी जल की तरह शीतल हो जाता है । यह कहकर 'रा' उच्चारण कर हलाहल विषको कण्ठ में धर लिया और फ़िर 'म' कहकर मुख वन्द कर लिया । श्रीनन्दीश्वरजी कहते हैं कि—'श्रृणुध्वं भो गणाः सर्वे राम नाम परं बलम् । यत्प्रसादान्महा-देवो हालाहलमयीं पिवेत् ।।(नन्दीपुराण) अर्थ—हे गणों ! श्रीराम नाम की महा-महिमा सुनो, जिस राम-नाम के प्रभाव से श्रीशिवजी ने हलाहल विष भी पान कर लिया और आश्चर्य की वात तो यह है कि— 'खायो कालकूट भयो अजर अमर तनु' ।

हलाहल पान के प्रसग से श्रीशिवजी की नाम निष्ठा तथा जीवो पर दया का भाव प्रकाश में आता है । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि—'जरत सकल सुरवृन्द, विषम गरल जेंहि पान किय । तेंहि न भजसि मन मंद,को कृपालु संकर सरिस ।।'(रा०च०मा०) श्रीशिवजी स्वय निरन्तर रामनाम जपते रहते है । यथा—'तुम पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनंग अराती ।। संतत जपत शम्भु अविनासी । सिव भगवान ज्ञान गुन रासी ।। तथा अपनी अत्यन्त प्रिय काशीपुरी मे मरने वाले प्रत्येक प्राणी को मृत्यु क्षणमें श्रीरामनामका उपदेश देकर उसे मुक्त कर दिया करते हैं यथा—'अहं भवन्नामगुणैः कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या । मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव रामनाम ।।' (अध्यात्म रामायण) अर्थ—मैं आपके नाम के गुणो से कृतार्थ होकर काशी मे भवानी के सहित निवास करता हूँ और मरणा-सन्न प्राणियोंकी मुक्तिके लिये उनके कानमे आपका मन्त्र 'राम' नाम का उपदेश करता हूं । श्रीरामजी के

साथ श्रीशिवजी का सम्बन्ध त्रिविध है। यथा—'सेवक स्वामि सखा सिय पीके' अर्थात् श्रीशिवजी श्रीसीतापति रामचन्द्रजी के सेवक भी है, सखा भी हैं और स्वामी भी हैं। इस भाव का प्रकाश उस समय होता है जव श्रीरामचन्द्रजी ने सेतुवन्धन के समय शिवलिंग की स्थापना की और उनका नाम रामेश्वर रखा। नाम करण होने के पश्चात् परस्पर 'रामेश्वर' शब्दके अर्थ पर विचार होने लगा। सर्व प्रथम श्रीरामजी ने इसमें तत्पुरुष समास वताते हुए अर्थ किया—रामस्य ईश्वरः (राम के ईश्वर) इस पर श्रीशिवजी वोले—भगवन! यहाँ वहुव्रीहि समास है अर्थात् इसका अर्थ—रामः ईश्वरो यस्यासौ रामेश्वरः (राम ही ईश्वर हैं जिनके वह रामेश्वर)इस भाँति है ब्रह्मादिक देवता हाथ जोड़ कर बोले कि—महाराज! इसमें कर्मधारय समास है अर्थात् 'रामश्चासौ ईश्वरश्च' वा 'यो रामः स ईश्वरः (जो राम वही ईश्वर) ऐसा अर्थ है। इस आख्यायिकासे तीनों भाव स्पष्ट हैं।'रामेश्वर'शब्दमें वहुव्रीहि समाससे शिवजीका सेवक भाव,तत्पुरुषसे स्वामी भाव तथा कर्म धारयसे सख्य भाव पाया जाता है। ऐसे अद्भुत भक्त हैं श्रीशिवाजी।

भगवान की भक्ति के भण्डारी श्रीशिवजी ही हैं। यथा—

दो०— औरौ एक गुपुत मत, सर्वहि कहौं कर जोरि।
संकर भजन विना नर भक्ति न पावै मोरि॥

चौ० जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भक्ति हमारी॥
शिव द्रोही मम भगत कहावा। सोनर सपनेंहुँ मोहि न पावा॥
संकर विमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ मति थोरी॥

दो०— संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महुँ वास॥

चौ०— बिनु छल विश्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू॥

वस्तुतस्तु शिव और विष्णु में भेद नहीं है यथा—'अहं च भगवान् ब्रह्मा स्वयं च हरिरीश्वरः। न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते॥ नात्मनश्च जनस्यापि तद् युष्मान् वयमीमहि॥ (भा० १२-१०-२१, २२) अर्थ—श्रीशिवजीने मार्कण्डेय ऋषि से कहा कि मैं शङ्कर, व्रह्मा, और विष्णु भगवान एक ही हैं। इनमें भेद न जानो।

भगवत्प्राप्ति के श्रुति-पुराण प्रतिपादित विविध साधनों में 'प्रेम' को श्रीशिवजी सर्वोपरि मानते हैं। यथा—

चौ०— वैठे सुर सव करहिं विचारा। कहँ पाइय प्रभु करिय पुकारा॥
पुर वैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह पय निधि वस प्रभु सोई॥
जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती॥
तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥
हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होंहि मैं जाना॥
देश काल दिसि विदिसहु मांहीं। कहहु सो कहाँ जहां प्रभु नाहीं॥
अग जगमय सब रहित विरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥
मोर वचन सवके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म वखाना॥

श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी श्रीशिवजी की भगवत-भागवत-निष्ठाके सम्बन्धमें लिखते हैं कि—

द्वादश प्रसिद्ध भक्तराज कथा 'भागवत' अति सुखदाई,नाना विधि करि गाये है ।
शिवजीकी बात एक बहुधा न जानै कोऊ, सुनि रस सानै, हियौ भाव उरझाये हैं ।।
'सीता'के वियोग 'राम' विकल विपिन देखि 'शङ्कर'निपुन 'सती' वचन सुनाए हैं ।
'कैसे ये प्रवीन ईश कौतुक नवीन देखौ,' मनेहूं करत, अंग वैसे ही बनाए हैं ।।२०।।

शब्दार्थ—द्वादश=बारह । बहुधा=प्रायः, अक्सर । प्रवीन=चतुर, बुद्धिमान । कौतुक=खेल, आश्चर्य, परिहास ।

भावार्थ—प्रसिद्ध बारह भक्तराजो की सुख देने वाली कथायें श्रीमद्भागवत आदि पुराणोमें अनेक प्रकार से गाई गई हैं, परन्तु शिवजी की एक बातको प्रायः लोग नही जानते है । उस सुन्दर कथा को सुनकर हृदय भक्तिरस में मग्न हो जाता है । ऐसे सुन्दर भावोमें शङ्करजी ने अपने मन को उलझा रखा है । सीताके वियोग से वन में श्रीरामचन्द्रजी को व्याकुल देखकर सतीजी ने भाव प्रवीण शङ्करजी से कहा —यह कैसे सर्वज्ञ ईश्वर हैं, यह इनका नवीन कौतुक देखिये कि सीताजी के वियोग में अति दु.खी हो रहे है । तब शङ्करजी ने खूब समझाया कि—यह तो प्रभु की नरलीला है । परन्तु सतीजी की समझ में नही आया । मना करने पर भी परीक्षा लेने के लिए उन्होने सीताजी का सा रूप बनाया ।।२०।।

व्याख्या—सीता……विपिन—ललित नर लीला का अभिनय करते हुये भगवान श्रीरामजी श्रीजानकी जी के हरण पर ऐसे विकल हुये जैसे कोई प्राकृत (लौकिक) पुरुष अपनी प्रिया के वियोग में दीन हो रहा हो । यथा—**आश्रम देखि जानकी हीना । भये विकल जस प्राकृत दीना ।।** (रामचरितमानस) श्रीराम की इस विकलता का बडा ही मर्म-स्पर्शी वर्णन 'श्रीहनुमन्नाटक' ग्रन्थ मे मिलता है । यथा— (पुनर्लक्ष्मणमासाद्य वैक्लव्य नाटयति)—

के यूयं वद नाथ नाथ किमिदं दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः,
कोऽहं वत्स स आर्य एव भगवानार्यः स को राघवः ।
किं कुर्मो विजने वने तत इतो देवी समुद्वीक्षते,
का देवी जनकाधिराजतनया हा हा प्रिये जानकि ।।

अर्थ—(श्रीराम लक्ष्मण को अपने समीप पाकर विकलता का अभिनय करते हुये पूछते हैं ।) राम—बताओ तुम कौन हो? लक्ष्मण—हे नाथ! हे महाराज! आपको यह क्या हुआ ? मैं तो आपका दास लक्ष्मण हूँ । राम—हे तात ! मैं कौन हूँ ? लक्ष्मण—महाराज ! आप वही अवधेश श्रीरामचन्द्र है । राम—वह कौन राम ? लक्ष्मण—वही रघुकुल भूषण । राम—इधर-उधर निर्जन वन में घूमते हुये हम क्या कर रहे है ? लक्ष्मण—देवी को खोज रहे है । राम—कौनसी देवी ? लक्ष्मण—महाराज जनक की पुत्री । राम—हाय हाय प्रिये जानकी ! तू कहाँ है ?

पुनश्च— सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते,
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति ।
वत्सैतद्भूवता कथं नु विदितं धत्ते कुरंगं यतः,
क्वासि प्रेयसि हा कुरंगनयनें चन्द्रानने जानकि ॥

अर्थ—(आकाश में उदय होते हुये पूर्णचन्द्र को देखकर) राम—हे लक्ष्मण ! देखो सूर्य उदय का ाप प्रतीत होता है, चलो वृक्ष की छाया में चलकर वैठें। लक्ष्मण—हे नाथ आप सूर्य की क्या बातें करते है। महाराज ! यह तो चन्द्रमा का उदय हो रहा है। राम—भैया ! यह तुमने कैसे जाना ? लक्ष्मण—यह मृग का चिन्ह धारण किये हुये है इस कारण। राम—हा कुरङ्गनयनी चन्द्रमुखी प्रिये जानकी ! तू कहाँ है ?

देखि शङ्कर ...... नवीन देखौं—इसकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या श्रीरामचरितमानस में है। यथा—

चौपाई—संभु समय तेहिं रामहिं देखा। उपजा हिय अति हरष विशेषा ॥
भरि लोचन छवि सिन्धु निहारी। कुसमय जानि न कीन्ह चिन्हारी ॥
जय सच्चिदानन्द जग पावन। अस कहि चलेउ मनोज नसावन ॥
चले जात सिव सती समेता। पुनि पुनि पुलकत कृपा निकेता ॥
सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेह विशेषी ॥
संकरु जगत वन्द्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा ॥
तिन्ह नृप सुतहिं कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद पर धामा ॥
भए मगन छवि तासु विलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी ॥

दोहा— ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद ।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद ॥

चौपाई—विष्णु जो सुर हित नर तनधारी। सोउ सर्वग्य यथा त्रिपुरारी ॥
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम श्रीपति असुरारी ॥
संभु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्वग्य जान सब कोई ॥
अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रवोध प्रचारा ॥
जद्यपि प्रगट न कहेउ भवानी। हर अन्तरजामी सब जानी ॥
सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ ॥
जासु कथा कुंभज ऋषि गाई। भगति जासु मै मुनिहिं सुनाई ॥
सोइ मम इष्टदेव रघुवीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ॥

छन्द— मुनि धीर योगी सिद्ध संतत विमल मन जेहि ध्यावहीं ।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं ॥
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकायपति माया धनी ।
अवतरेउ अपनें भगतहित निज तन्त्र नित रघुकुलमनी ॥

दोहा— लाग न उर उपदेश, जदपि कहेउ सिव वार वहु।
बोले विहँसि महेश हरि माया वल जानि जिय ॥

चौपाई—जौं तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू ॥
जैसे जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतनु विवेक विचारी ॥

सनेहू करन अङ्ग वैसे ही बनाये हैं—भाव यह कि श्रीशिवजी ने सावधान कर दिया था कि उपाय जो कुछ भी करना, विचार कर करना। परन्तु श्रीसतीजी ने शिवजीका अभिप्राय समझे विना श्रीजानकीजी का रूप धारण कर लिया। यथा—पुनि पुनि हृदय विचार करि, धरि सीताकर रूप। आगें होइ चलि पंथ तेहिं, जेहिं आवत नर भूप ॥

सीता ही सो रूप वेष लेशहू न फेर फार रामजी निहारि नेकु मनमें न आई है।
तव फिर आयकै सुनाय दई शंकर को अति दुखपाय बहु विधि समझाई है ॥
इष्ट को स्वरूप धर्यौ तातै तनु परिहर्यो पर्यो बड़ो शोच मति अति भरमाई हैं।
ऐसे प्रभु भाव पगे पोथिन में जगमगे लगे मोको प्यारे यह बात रीझि गाई है ॥२१॥

शब्दार्थ—लेशहू=नाम मात्र, थोड़ा भी। फेर फार=अन्तर, फर्क। भरमाई=मोहित हो गई। इष्ट=आराध्यदेव।

भावार्थ—सतीजी का रूप और वेषभूषा सीताजी के समान था, उसमें थोड़ा भी अन्तर नही था। श्रीरामजी ने उसे देखा पर उनके मनमे नाममात्र भी यह वात नही आई कि यह सीताजी हैं, उनको सती ही माना। तव सतीजी ने यह वात आकर शंकरजी को सुना दी। शंकरजी ने अति दुःख पाकर सतीजी को अनेक प्रकार से समझाया कि तुमने इष्टदेवता श्रीसीताजी का रूप धारण किया। इसलिये तुम्हारे इस शरीर मे अव मेरा पत्नी भाव नही रहा। यह सुनकर सतीजीको वड़ा शोक हुआ और उनकी बुद्धि भ्रमित हो गई। सतीजी ने वह शरीर त्याग दिया, पुनः हिमालय के घरमें जन्म लेकर शंकरजी को प्राप्त कर सकी। शिवजी श्रीरामजी की भक्ति भावना में इस प्रकार मग्न रहते हैं। इतिहास पुराणों में उनकी कथा जगमगा रही हैं। श्रीप्रियादासजी कहते है कि मुझे शिवजी अत्यन्त प्यारे लगे इसलिए रीझकर मैंने इस कथा का गान किया है ॥२१॥

व्याख्या—सीता" फेर फार—सती कृत सीता वेष ऐसा था कि और की कौन कहे श्रीलक्ष्मणजी भ्रमित हो गये। यथा—लछिमन दीख उमाकृत बेषा। चकित भये भ्रम हृदय विशेषा ॥ अतः लेशहू न फेर फार कहा।

'रामजी "आई है'—यथा—

चौ०— सती कपट जानेउ सुर स्वामी। सवदरसी सव अन्तरजामी ॥
निज मायावल हृदय वखानी। वोले विहँसि राम मृदुवानी ॥
जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन निज नामू ॥
कहेउ बहोरि कहाँ वृषकेतू। विपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू ॥

दो०— राम बचन मृदु गूढ़ सुनि उपजा अति संकोच।
सती सभीत महेश पहिं चलीं हृदय बड़ सोच ॥

सतीजी का कपट श्रीरामजी के सामने नहीं चला। क्योंकि सतीजी हैं माया और श्रीरामजी हैं मायाधीश। भला मायाधीशके सामने मायाकी क्या गिनती। वह तो ऐसे ही हैं जैसे सूर्य के सामने जुगनू। श्रीरामजी सूर्यवत हैं सतीजी जुगनू के समान है। इसी से नीतिकारों ने कहा है कि—उपाध्याये नटे धूर्ते कुदूत्यां च बहुश्रु तौ। मायातंत्र न कर्तव्या माया तैरेव निर्मिता ॥ अर्थ-आचार्य, नट, धूर्त, कुदूती, बहुश्रुत, इतने लोगों से माया नही करना चाहिये। क्योंकि माया इनकी ही रची है ॥

'तब फिरि "अति दुख पायं'—यथा—

दोहा— गईं समीप महेस तब, हँसि पूछी कुसलात।
लीन्हि परीछा कवन बिधि, कहहु सत्य सब बात ॥

चौ०— सती समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भयबस सिव सन कीन्ह दुराऊ ॥
कछु न परीक्षा लीन्ह गुसाईं। कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहिं नाईं ॥
जो तुम कहा सो मृषा न होई। मोरे मन प्रतीति अति सोई ॥
तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना ॥
बहुरि राम मायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहिं झूठ कहावा ॥
हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत सम्भु सुजाना ॥
सती कीन्ह सीता कर वेषा। सिव उर भयउ विषाद विशेषा ॥

'बहुविधि समुझाई है'—समझाना पूर्व कवित्त २१ में लिखा जा चुका है।

इष्ट "" परिहर्यो—यथा—

चौ०— 'जौं अब करऊँ सती सन प्रीती। मिटै भगति पथ होइ अनीती ॥

दो०— परम पुनीत न जाइ तजि, किये प्रेम बड़ पाप।
प्रगटि न कहत महेस कछु हृदय अधिक संताप ॥

चौ०— तब संकर प्रभु पद सिर नावा। सुमिरत राम हृदय अस आवा ॥
एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं ॥

इस प्रकार श्रीशिवजी ने इष्ट में अभाव होनेसे अपनी वामांग स्वरूपा सतीजी का परित्याग कर दिया। ऐसे ही जगन्नाथपुरी के राजा ने प्रसाद की अवज्ञा जान कर अपना दाहिना हाथ कटवा दिया। (छप्पय ५०) ऐसे ही एक भक्त, भगवान को निवेदन किये बिना भूल से अमनियाँ वस्तु पागये। तत्काल याद आने पर अपना गला काटने के लिये प्रस्तुत हो गये कि कही पेट में न चला जाय। भगवानने हाथ—पकड़ लिया ॥

'पर्यो बड़ो "" भरमाई है'—यथा—सुनि नभ गिरा सती उर सोचा। "" ॥ चिन्ता अमित जाइ नहि बरनी "" ॥ परिणाम स्वरूप सतीजी ने पिता दक्ष के यज्ञमेंयोगाग्नि से शरीर

भस्म कर, हिमाचल के यहाँ जन्म लेकर, पुनः श्रीशिवजी की प्राप्ति के लिये तपस्या करके उन्हे प्राप्त किया। 'ऐसे प्रभु भाव पगे'—यथा—अस विचारि शकर मतिधीरा। चले भवन सुमिरत रघुवीरा ॥ चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेश भलि भक्ति दृढ़ाई ॥ अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना। राम-भगत समरथ भगवाना ॥ पुनश्च—सिव-सम को रघुपति व्रत धारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी ॥ पन करि रघुपति भगति दृढ़ाई। को सिव सम रामहि प्रिय भाई ॥ (याज्ञवल्क्य वाक्य)

चले जात मग उभै खेरे शिव दीठि परे, करें परनाम, हिय भक्ति लागी प्यारी है।
पार्वती पूछें, किये कौन को? जू! कहौ मोसों, दीखत न जन कोऊ, तब सो उचारी है ॥
बरष हजार दश बीते तहां भक्त भयो, नयो और ह्वै है दूजी ठौर बीते धारी है।
सुनिकै प्रभाव, हरिदासनि सों भाव बढ़्यो, रढ़्यो कैसें जात चढ़्यो रङ्ग अति भारी है ॥२२॥

शब्दार्थ—उभै=दो। खेरे=टीले, छोटे ग्राम। दीठि=दृष्टि, निगाह। रढ़्यो=कह्यौ, रट्यौ, वर्णन। रंग=प्रेम प्रभाव।

भावार्थ—एक वार भगवान शङ्कर देवी पार्वती के साथ पृथ्वी पर विचर रहे थे, मार्ग में उजड़े ग्रामो के दो टीले दिखाई पड़े। शङ्करजी ने नन्दीसे उतरकर दोनों को प्रणाम किया क्योंकि भक्ति आपको अत्यन्त प्यारी है। पार्वतीजी ने पूछा—भगवन्! आपने किसको प्रणाम किया, यहाँ कोई देवता या मुनि दिखाई नही पड़ रहे हैं। तव शिवजीने उत्तर दिया कि—पहले टीलेपर दस हजार वर्ष पूर्व एक प्रेमी भक्त निवास करते थे और यह जो दूसरा टीला है, इस पर दस हजार वर्ष वाद एक भक्त निवास करेंगे। इसी से ये दोनों स्थान वन्दनीय हैं। भक्तोका ऐसा प्रताप सुनकर पार्वतीजी के हृदय में भक्तोके प्रति अधिक अनुराग वढ गया, उसका ऐसा गहरा रङ्ग चढ़ा कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता है ॥२२॥

व्याख्या—उभै खेरे शिव दीठि परे—यहाँ कोई शका करे कि जहाँ ऐसे महानुभाव हो गये है और आगे होगे कि भगवान शङ्कर उनका स्मरण कर उन टीलों को प्रणाम करते हैं, तो वे स्थान खेरे (टीले, ढूह-ढाह) क्यों हो गये? समाधान—

दृष्टांत—नानक और मरदाना का—एक समय गुरु नानक अपने मरदाना शिष्य के साथ विचरते हुये थके मादे एक नगर मे पहुँचे। परन्तु नगर भर मे घूमने पर भी किसी ने उन्हे वैठने तक को नही कहा, उलटे जहाँ जाते वहाँ लोग उपहास करते। तब श्रीनानक जी उस गाँव को छोड़ कर अन्यत्र को चले। जब इस गाँव से वाहर होने लगे तो यहाँ के लोगो को आशीर्वाद दिये कि यहाँ के वासी यहाँ ही सुख चैन से वसें। धन धान्य से परिपूर्ण रहे। अन्यत्र कहीं न जाँय। इस प्रकार आशीर्वाद देकर दूसरे गाँव मे पहुँचे तो वहाँके लोगों ने वड़ा सत्कार किया, वड़ी भाव-भक्ति से मिले जुले। श्रीनानक जी जव वहाँ से चले तो गाँव के वाहर आकर भगवान से प्रार्थना किये कि यहाँ के लोग और और गाँवों मे, पुरो मे, नगरों मे, जा-जाकर वसें। एकत्र न रहें। श्रीनानकजी का आशीर्वाद मरदाना को समझ में नही आया। जहाँ अपमान हुआ वहाँ तो सुख-चैन, धन-धान्य का वरदान और जहाँ सन्मान हुआ वहाँ

इस तरह के वचन कि ये लोग यहाँ से उजड़-उजड़ कर अन्यत्र चले जाँय। आखिर मरदाना ने श्रीनानक जी से पूछा तब श्रीनानकजी ने समाधान किया कि पहले गाँव के लोग विमुख थे अतः वे जहाँ जायेंगे दूसरे को भी विमुख वनायेंगे। इसलिये उन्हे वहीं आवाद रहने का वरदान दिया और दूसरे गाँव के लोग भक्त है, वे जहाँ जायेंगे, भक्ति का प्रचार करेंगे अतः उन्हें जहाँ तहाँ जाकर बसने का वरदान दिया। ऐसे ही उन खेरों के सम्वन्ध में समझना चाहिये ॥

सुनि……भाव बढ्यो—श्रीशिवजी के द्वारा संतों की महिमा सुनकर श्रीपार्वती जी की श्रद्धा उमड़ी और उसी दिन उन्होंने श्रीअगस्त्य जी का निमन्त्रण कर दिया। (प्रश्न होगा और किसी सन्तको नेवता न देकर श्रीअगस्त्यजी का ही निमन्त्रण क्यों ? समाधान—श्रीअगस्त्यजी से विशेष घनिष्ठता आना-जाना था। यथा—**एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गये कुम्भज रिषिपाहीं ॥ संग सती जग जननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेश्वर जानी ॥**) वाद में श्रीशिवजी से निमन्त्रण वाली बात कही। श्रीशिवजी हँसे कि आज ही तो सन्तो में श्रद्धा भई और आज ही ऐसे सन्त को न्योता कर दिया कि भक्ति ही पूरी कर देगे। अरे ! अगर किसीको जिमाना ही रहा तो किसी कम खुराक वालेको निमन्त्रण देती। श्री-अगस्त्यजी को नही जानती हो कि तीन चुल्लू में ही सम्पूर्ण समुद्र ही सोख गये। भला इनका पेट भरना कोई हँसो खेल है और यदि भूखे रह गये तो लोक में बड़ी वदनामी होगी कि जिन्दगीमे एक वार शिवजी के यहाँ भोजन करने गये और भूखे ही लौटे। भद्रे ! काम विचारकर नही किया। श्रीपार्वतीजी बोलीं—अव तो न्योता दे ही दिया है, उसमें उलट-फेर होने का नही। चाहे जो भी हो। श्रीशिवजी वोले—तो तुम जानो तुम्हारा काम जाने, मैं तो चुप-चाप राम राम करूँगा।

श्रीपार्वती जी भी अन्नपूर्णा हैं, उन्होंने सोचा जब मैं विश्व-ब्रह्माण्ड को पूर्ण करा देती हूं तो क्या एक ऋषि का पेट नहीं भर सकती हूँ ? अवश्य पूर्ण करा दूँगी, पूर्ण ही नही महापूर्ण करा दूँगी। फिर क्या था, वड़े जोर शोर से तैयारी हुई। सामानों के पहाड़ लग गये। खायें कितना खायेंगे ऋषि। परन्तु वाहरे अगस्त्यजी ! जब पाने बैठे तो भोजन का कोई हिसावही नही। श्रीपार्वतीजी अपनी समस्त सखियो सहेलियों सहित दौड़-दौड़कर परोसतीं,जिसमें भोजनका तार न टूटे। टोकरी की टोकरी थालमें पलट दी जाती परन्तु इधर यह भी खूव रहे, क्षणभर में थाली साफ। पाते-पाते जव श्रीअगस्त्य जी की जठराग्नि धधकी तो उन्हें भोजन हाथ से उठा-उठाकर ग्रास-ग्रास पाने की जरूरत नही रही, भोजन स्वयं खिचकर इनके मुँह में चला जाता। परोसने वाली सखियाँ घवड़ायी कि कहीं भोजन के साथ-साथ हम सव भी न खिच जाँय। ऋषिजी का रवैया देखकर अन्नपूर्णा भी अचम्भे में पड गयीं। सोची अव तो मर्यादा भगवान ही रखें। ठीक कहा था शम्भु ने। परन्तु साथ ही श्रीपार्वती जी शिव पर मनही मन झुँझलातीं भी कि देखो तो, मैं तो हैरान हूँ ऐसे समय पर इन्हे मेरी सहायता करनी चाहिए, सो यह मुँह फेरे वैठे हैं। निरुपाय अन्नपूर्णा ने भगवान का द्वार खटखटाया। ठीक भी है, 'हारे को हरिनाम' प्रसिद्ध ही है।

भगवान तुरन्त ही वालक ब्रह्मचारी का रूप धर कर आ पहुँचे और वोले—'भवति ! भिक्षां देहि।' श्रीपार्वतीजी घवड़ायीं कि मैं तो एक ही को पूर्ण करने में परेशान हूँ, ये दूसरे समाज-सेवक भी आ धमके। सो भी भूखे ही। परन्तु धर्म से विवश होकर श्रीब्रह्मचारी जी का स्वागत करना ही पड़ा। ब्रह्मचारी जी के लिये भी ऋषि के समीप ही आसन लगा दिया गया। श्रीअगस्त्य जी अपने समीप आसन नही लगाने देते थे कि मेरे भोजन में खलल पड़ेगी, परन्तु ब्रह्मचारीजी भी पूरे जिद्दी थे, अड़ गये कि वैठूँगा

तो यही । हारकर अगस्त्यजीको चुप हो जाना पड़ा। श्रीअगस्त्यजी पाते ही रहे,ब्रह्मचारी जी ने थोड़ा ही पाकर आचमन कर लिया । श्रीपार्वतीजी ने पूछा—प्रभो ! इतनी जल्दी पाना क्यों वन्द कर दिये ? वे वोले हम ब्रह्मचारी हैं, अधिक पाने से आलस्य,प्रमाद आता है,जिससे भजनमें वाधा पहुँचती है। दूसरी वात यह भी कि (श्रीअगस्त्यजीकी ओर हाथसे सकेत करते हुये) हम ऐसे भुक्खड़ थोड़े ही हैं कि पूर्ण ही न हो। उधर श्रीअगस्त्यजीने भी पाना वन्द कर दिया। क्योकि एक पाता ही रहे, और दूसरा आचमन कर ले तो चौका जूठा हो जाता है।

दूसरी वात यह कि जो वाद में आया वह पहले पा लिया, यह देखकर भी संकोच हुआ, तीसरा कारण यह है कि भगवान ने हाथ से संकेत करते हुए कहा—हम ऐसे पाने वाले नही है । श्रीअगस्त्यजी ने विचारा कि ब्रह्मचारी एव पार्वती क्या कहेगी कि ऋपिजी न जाने कितने दिन के भूखे हैं जो कव से पा रहे हैं और अभी तक पेट नही भरा । यह सव विचार कर इन्होने पाना तो वन्द कर दिया परन्तु समस्या यह थी कि ये अव तक जल नही पीये थे, पा ही रहे थे अतः ब्रह्मचारी पर विगड़े कि तुमने मुझे जल भी नही पीने दिया, आचमन करके वैठ गये। भगवानने कृपा करके स्वस्वरूप का दर्शन कराया और कहा कि आप धैर्य धरे, आपको जल मैं द्वापर मे पिलाऊँगा, निमन्त्रण आज ही दिये देते है। सो, जव इन्द्रने,अपना यज्ञ वन्द होनेसे रिसमेभरकर व्रज को डुवाने के लिये अति वृष्टि की तो भगवानने श्रीअगस्त्यजी को उस जल के शोषण केलिये नियुक्त किया था।। भाव वढ्यो—का भाव यह है कि भगवान से भी अधिक भगवद्दासो में भाव हो गया। होना भी चाहिये । क्योंकि **'रामते अधिक राम कर दासा'** तथा—**'भक्तनके सम्मान ते हरि मानै परितोष'** । श्रीपार्वतीजी ने न्योता भी दिया तो वस एक महात्मा का।

दृष्टांत—श्रीवल्लभाचार्यजी एवं एक भक्त का—एक वार एक भक्तने श्रीवल्लभाचार्यजी से कहा—प्रभो ! सौ ब्राह्मणो को भोजन कराने की इच्छा है। श्रीआचार्य ने कहा—एक वैष्णवको भोजन करा दो, उतना ही फल मिलेगा । भक्त ने पुन. कहा—यदि सौ वैष्णव पवाऊँ तो ! श्रीमहाप्रभुने कहा—एक अनुरागी भक्त को पवा दो। वही फल प्राप्त होगा। भक्त ने कहा—यदि सौ अनुरागियों को पवाढूँ तो? यह सुनकर आचार्यकी आंखो मे प्रेमाश्रु छलछला आये, वोले—भैया ! सौ अनुरागी मिलेगे ही नही। अतः पार्वतीजी ने भी एक का ही निमन्त्रण किया।

श्रीसनकादिकजी—श्रीपद्म पुराणोक्त श्रीमद्भागवतमाहात्म्य प्रसङ्ग मे देवर्पि नारद जी ने श्रीसनकादिजी की महा-महिमा का वड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है यथा—

'भवन्तो योगिनः सर्वे वुद्धिमन्तो वहुश्रुताः । पञ्चहायनसंयुक्ताः पूर्वेषामपि पूर्वजाः ।।
सदा वैकुण्ठनिलया हरिकीर्तनतत्पराः । लीलामृत रसोन्मत्ताः कथामात्रैकजीविनः ।।
हरिः शरणमेवं हि नित्यं येषां मुखे वचः। अतः कालसमादिष्टा जरा युष्मान्न वाधते ।।
येषां भ्रूभङ्गमात्रेण द्वारपालौ हरेः पुरा । भूमौ निपतितौ सद्यो यत्कृपातः पुरं गतौ ।।

अर्थ—आप सभी लोग वड़े योगी, वुद्धिमान और विद्वान है आप देखने में पांच-पाँच वर्प के वालक से जान पडते हैं किन्तु है पूर्वजो के भी पूर्वज । आप लोग सदा वैकुण्ठ धाम में निवास करते है। निरन्तर ही कीर्तन मे तत्पर रहते हैं। भगवल्लीलामृत का रसास्वादन कर सदा उसी में उन्मत्त रहते हैं और एक मात्र भगवत्कथा ही आपके जीवन का आधार है। 'हरिः शरणम्' (भगवान ही हमारे रक्षक हैं)

यह वाक्य (मन्त्र) सर्वदा आपके मुख में रहता है। इसी से कालप्रेरित वृद्धावस्था भी आपको बाधा नहीं पहुँचाती। पूर्वकाल में आपके भ्रूभङ्गमात्र से भगवान विष्णु के द्वारपाल जय और विजय तुरन्त पृथ्वी पर गिर गये थे और फिर आपकी ही कृपासे पुनः वैकुण्ठ लोक पहुँच गये॥

> यद्दर्शनं च विनिहन्त्यशुभानि सद्यः श्रेयस्तनोति भवदुःखदवार्दितानाम्।
> निश्शेषशेषमुखगीतकथैकपानाः प्रेमप्रकाशकृतये शरणंगतोऽस्मि॥
> भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै।
> अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥

अर्थ—महानुभावों! आपका दर्शन जीव के सम्पूर्ण पापों को तत्काल नष्ट कर देता है और जो संसार दुःख रूप दावानलसे तपे हुये हैं उन पर शीघ्र ही शान्ति की वर्षा करता है। आप निरन्तर शेषजी के सहस्रमुखों से गाये हुये भगवत्कथामृत का ही पान करते रहते हैं। मैं प्रेमलक्षणा भक्तिका प्रकाश करने के उद्देश्यसे आपकी शरण लेता हूँ। जब अनेकों जन्मों के संचितपुण्यपुञ्ज का उदय होता है,जिससे मनुष्य को सत्सङ्ग मिलता है तब वह उसके अज्ञान जनित मोह और मद रूपी अन्धकार का नाश करके विवेक का उदय करता है॥

श्रीरामचरित मानस में श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी, श्रीसनकादिकजीका स्वरूप-निरूपण करते हुये कहते है कि—**जानि समय सनकादिक आये। तेजपुञ्ज गुन सील सुहाये॥ ब्रह्मानन्द सदा लयलीना। देखत बालक बहु कालीना॥ रूप धरें जनु चारिउ बेदा। समदरसी मुनि बिगत बिभेदा॥ आसा बसन व्यसन यह तिनहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥** श्रीसनकादिकजी को श्रीनारदजी ने कथामात्रैकजीवी कहा और श्रीतुलसीदासजी ने कथा सुनने का व्यसनी कहा। वस्तुतस्तु इन लोगों को कथा का ऐसा चस्का लगा है कि समाधि छोड़-छोड़ कर कथा सुनते हैं। यथा—**'जीवन मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान' 'सुनि गुन गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥'** पातालमें भगवानशेषजी के पास, कैलास पर भगवान शंकरजी के पास एवं दण्डकारण्य में महर्षि अगस्त्यजी के पास जा-जाकर कथा सुनने का वर्णन मिलता है। जब कोई और वक्ता नहीं मिलता है तो अपने में से ही किसी को वक्ता बनाकर कथा श्रवण करते हैं। श्रीसनकादिक चारों कुमार भक्ति मार्ग के मुख्याचार्य हैं। (विशेष देखिये छप्पय ५ और कवित्त २५)

श्री कपिलदेव जी—देखिये छप्पय ५॥

श्री मनु जी—महाभागवत श्रीमनुजी का परम पुनीत चरित्र वर्णन करते हुये श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—

> चौ०— स्वायंभुव मनु अरु सतरूपा। जिन्ह तें भइ नर सृष्टि अनूपा॥
> दम्पतिधरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिनकै लीका।
> तेहि मनु राजकीन्ह बहुकाला। प्रभु आयसु बहुबिधि प्रतिपाला॥

> दो०— होइ न विषय विराग, भवन बसत भा चौथपन।
> हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भक्ति बिनु॥

चौ०— वरवस राज सुर्ताहि तव दीन्हा। नारि समेत गवन वन कीन्हा ।।
तीरथ वर नैमिष विख्याता। अति पुनीत साधक सिधि दाता ।।
द्वादश अक्षर मन्त्र पुनि,जपहिं सहित अनुराग। वासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग ।।
करहिं अहार साकफल कन्दा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानन्दा ।।
उर अभिलाष निरन्तर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई ।।
एहिविधि बीते वरष षट सहस वारि आहार। संवत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार ।।
वरष सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पग दोऊ ।।

श्रीमनुजी के इस अपार तपको देखकर त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) ने वहुत-वहुत वरदानका प्रलोभन देकर तपसे विरत करना चाहा परन्तु ये अपने लक्ष्य पर दृढ़ रहे। फलत·—**भगत वछल प्रभु कृपा निधाना। विश्ववास प्रगटे भगवाना ।।** दम्पति मनु-सतरूपा युगल सरकार श्रीसीताराम जी का दर्शन कर निहाल हो गये। भक्तवान्छा कल्पतरु भगवान ने श्रीमनुजी को अपने अंशों सहित स्वय पुत्र होने का वरदान देकर निवेदन किया कि—**अव तुम मम अनुशासन मानी। वसहु जाइ सुरपति रजधानी ।। तहँ करि भोग विशाल, तात गये कछु काल पुनि। होइहौ अवध भुवाल, तव मैं होव तुम्हार सुत ।।**

यही श्रीमनुजी आगे चलकर श्रीदशरथ जी हुये हैं और श्रीसतरूपा जी महारानी कौसिल्या हुई है, और स्वयं भगवान श्रीराम इनके पुत्र वने। (विशेष देखिये छप्पय ५)

श्रीनरहरिदास (श्रीप्रह्लाद जी)—देखिये छप्पय ५ एव कवित्त ९९, १००

श्रीजनकजी—चौपाई—**प्रनवउँ परिजन सहित विदेहू। जाहि राम पद गूढ़ सनेहू।
जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम विलोकत प्रगटेउ सोई ।।**

श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्रीरामचरितमानस के वालकाण्ड के आरम्भ में वन्दना प्रसङ्गान्तर्गत श्रीजनक जी महाराज की वन्दना करते हुये श्रीरामचरणों के प्रति उनके गूढ स्नेह की सूचना दी है और यह भी लक्ष्य कराया है कि श्रीजनक जी ने गूढ भक्ति रत्न को योग और भोगरूपी सम्पुट (डव्वे) मे छिपा रखा था जो श्रीरामजी का दर्शन करते ही प्रगट हो गया।

'मिथिलापुरी मे धनुष यज्ञ है' 'श्रीजनक दुलारी जानकी का स्वयम्वर है' श्रीजनकजी के दूतने महामुनि विश्वामित्र जी को निमन्त्रण पत्र देते हुये मुखाग्र भी यह वात कही। श्रीविश्वामित्र जी दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण को साथ लेकर मुनि मण्डली के साथ शुभ घड़ी मे मिथिला की ओर प्रस्थान कर दिये। मार्गमे शाप ग्रस्ता मुनि पत्नी अहिल्याका उद्धार करते हुये कोसल राजकिशोर श्रीराम अनुजलक्ष्मण को वन-उपवन के प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन कराते हुये मुनि-मण्डली के साथ जनकपुरी में पहुँच कर नगर से वाहर मनोरम अमराई मे ठहरते हैं।

श्रीमिथिलेश महाराज जनक इस शुभ संवाद को सुनकर स्वागतार्थ मन्त्रीवर्ग, ब्राह्मण-गण गुरुजन एव कुटुम्वीजनो को साथ लेकर वाग में आये और दण्डवत्-प्रणाम कुशल-क्षेम के वाद मुनि की आज्ञा पाकर वैठे ही थे कि—**तेहि अवसर आये दोउ भाई। गये रहे देखन फुलवाई ।। स्याम गौर मृदु**

वयस किसोरा। लोचन सुखद विस्वचित चोरा ॥ यद्यपि राजकुमार थे तो वालक, परन्तु इनके आते
लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि—'उठे सकल जब रघुपति आये।' श्रीविश्वामित्रजी ने सबको बैठाते हु
अत्यन्त प्यार पूर्वक दोनों राजकुमारों को अपने पास बैठाया। उस समय श्रीरामजी का दर्शन करते
श्रीजनकजी का गुप्त प्रेमधन सहसा प्रकट हो गया। यथा—

चौपाई— मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेह बिदेह विशेषी ॥

दोहा— प्रेम मगन मन जानि नृप, करि विवेक धरि धीर।
बोले मुनि पद नाइ सिर, गद-गद गिरा गँभीर ॥

चौपाई— कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक। मुनि कुलतिलक कि नृप कुल पालक ॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय वेषधरि की सोइ आवा ॥
सहज विरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चन्द चकोरा ॥
ताते प्रभु पूँछउँ सति भाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ ॥
इन्हहिं विलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा ॥

श्रीराम का दर्शन कर वरवस ब्रह्मानन्द का-परित्याग कर श्रीरामके स्वरूपानन्द में मग्न होन
यह श्रीजनकजी के मनकी मनमानी नहीं है बुद्धिमानी है। भला कौन ऐसा है जो गोद का छोड़कर पे
वाले की आशा करेगा। नयन गोचर के मिल जाने पर भी अगोचर के पीछे लगा रहेगा। ब्रह्मानन्द
सदा लवलीन रहने वाले श्रीसनकादिक भी इसी दशा को प्राप्त हो जाते हैं। यथा—मुनि रघुपति छ
अतुल विलोकी। भये मगन मन सके न रोकी ॥ महामुनि महाज्ञानी विश्वामित्र जी भी—भये मगन देख
मुख शोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा ॥ (रामचरितमानस) श्रीविदेह जी, विश्वामित्र जी के य
वतलाने पर कि 'मेरा यज्ञ पूर्ण कराकर इन्होंने हम ऋषियों को वहुत आनन्द दिया' हर्षके मारे फूले नह
समाये। विश्वामित्र के यज्ञको पूर्ण करने वाले क्या मेरे धनुप-यज्ञको पूर्ण नही करेंगे ? अवश्य करेंगे। इ
निश्चयके साथ श्रीजनक जी मुदित होकर कहने लगे—

चौपाई— मुनि तव चरण देखि कह राऊ। कहि न सकौं निज पुण्य प्रभाऊ ॥
सुन्दर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनन्दहूँ के आनन्द दाता ॥
इनकी प्रीति परस्पर पावनि। कहि न जाय मन भाव सुहावनि ॥
सुनहु नाथ कह मुदित विदेहू। ब्रह्मजीव इव सहज सनेहू ॥
पुनि पुनि प्रभुहिं चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू ॥

यह है श्रीजनकजीके गूढ़ स्नेहकी एक झलक। श्रीरामचन्द्र का दर्शन कर क्षण-प्रतिक्षण उमगं
वाला श्रीजनकजी का अनुराग सागर वारात की विदाई के समय तो मर्यादा ही तोड़ वैठता है। यथा—

चौपाई— जोरि पंकरुह पानि सुहाये। बोले वचन प्रेम जनु जाये ॥
राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेश मन मानस हंसा ॥
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोह मोह ममता मद त्यागी ॥
व्यापक ब्रह्म अलख अविनासी। चिदानंद निरगुन गुनरासी ॥
मनसमेत जेहि जान न वानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥
महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई ॥

दोहा— नयन विषय मोकहँ भयउ, सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभ जग जीव कहँ, भये ईस अनुकूल॥
सबहिं भाँति मोहि दीन्ह बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई॥
होहिं सहस दस सारद सेषा। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा॥
मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥
मैं कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम रीझहु सनेह सुठि थोरे॥
बार बार मॉगउँ कर जोरे। मन परिहरै चरन जनि भोरे॥

श्रीरामजी का वन गमन सुनकर श्रीचित्रकूट पहुँचने पर श्रीजनक जी के प्रेम-पयोधि की उमग देखते ही वनती है। यथा—

चौपाई— उर उमगेउ अम्बुधि अनुरागू। भयउ भूप मन मनहुँ पयागू॥
सिय सनेह वट बाढ़त जोहा। तापर राम प्रेम सिसु सोहा॥
चिरजीवी मुनिज्ञान विकल जनु। बूड़त लहेउ वाल अवलम्बनु॥
मोहमगनमति नहिं विदेह की। महिमा सिय रघुवर सनेह की॥
जासु ज्ञानरवि भवनिसि नासा। वचन किरन मुनि कमल विकासा॥
तेहि कि मोह ममता नियराई। यह सियराम सनेह बड़ाई॥

इस प्रकार श्रीजनक जी महाराज जहाँ कर्म योग के सर्वश्रेष्ठ आदर्श माने जाते है, ज्ञानियो मे अग्रगण्य कहे जाते हैं, वहाँ प्रेम-योग के भी परमाचार्य रूप में प्रतिष्ठित पाये जाते हैं। श्रीजनकजी में कर्म, ज्ञान और प्रेम का अद्भुत सगम है॥

श्रीभीष्म पितामह जी—ब्रह्मर्षि वशिष्ठजी की होमधेनु नन्दिनी का अपहरण करने के कारण धर्म देवता के पुत्र आठो वसुओ को मुनिके शाप से मनुष्य योनिमे जन्म लेने को विवश होना पडा। उनका शीघ्र उद्धार करने के लिये श्री गङ्गाजी ने उनकी माता होना स्वीकार कर कालान्तर में, इस शर्त पर कि 'मैं जो कुछ भी करूँ, आप मुझे रोक नही सकते, महाराज शान्तनु की पत्नी हुईं। सात वसओं को तो उन्होने जन्मते ही अपने जल में डालकर उनको शाप-मुक्त कर देवत्व को प्राप्त करा दिया। परन्तु आठवें वसु, जिसका नाम 'द्यौ' था। जिसने अपनी पत्नी के कहने से मुनि की गाय चुराई थी, उसे शान्तनु जी ने नही फेंकने दिया। गङ्गाजी यह पुत्र राजा को सौंपकर स्वयं अन्तर्धान हो गईं। इसी वालक का नाम देवव्रत हुआ। आगे चलकर महाराज शान्तनु दासकन्या सत्यवती पर मुग्ध हो गये। विवाहका प्रस्ताव करने पर दास राजने कन्याके ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी देने की शर्त पर ब्याह करना चाहा, परन्तु राजाने इस शर्त को स्वीकार कर अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्र देवव्रत के अधिकार को नष्ट करना उचित नही समझा। साथ ही सत्यवती की आसक्ति भी वनी ही रही। इस कारण वडे ही उदास रहने लगे। देवव्रत को जव पिताके मित्रो एवं मन्त्रियो से यह वात मालूम हुई तो दासराजके पास जाकर कभी अपने राज्यासन न लेने की प्रतिज्ञा की। पश्चात् दासराज के यह कहने पर कि आप नही तो आपकी सन्तान राज्यके लिये कलह कर सकती है, देवव्रत ने दूसरी भीषण प्रतिज्ञा की कि मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहूँगा। देवताओं ने इस भीषण प्रतिज्ञा करने के कारण देवव्रतका दूसरा नाम भीष्म रखा। पुष्पों की वर्षा की। पुत्रकी इस पितृ भक्तिसे सन्तुष्ट होकर महाराज शान्तनुने इच्छा मृत्युका वरदान दिया।

भीष्मजी ने श्रीपरशुरामजी से धनुर्वेद सीखा था और आगे चल कर जब परशुरामजी ने काशिराजकी कन्या अम्बाकी प्रार्थना पर भीष्मजी को अम्बा से व्याह करने की आज्ञा दी और आप अपने सत्यव्रत पर अटल रहते हुये उनकी आज्ञा नहीं माने तब परशुरामजी के युद्ध की चुनौती देने पर भीष्मने उनसे घोर संग्राम भी किया परन्तु व्रत नही छोड़ा। अन्तमें परशुरामजीको ही देवताओं के कहने से शान्त होना पड़ा। व्रतकी दृढ़ता के सम्बन्ध में भीष्मजी का कथन था कि—पञ्चभूत चाहे अपना गुण छोड़ दें, सूर्य चाहे तेजो हीन हो जायँ, चन्द्रमा चाहे शीतलता का परित्याग कर दे, इन्द्रमें से वल तथा धर्मराज में से धर्म चाहे भले ही चला जाय परन्तु मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकता। यह वचन भीष्मने माता सत्यवती से कहा था। जब सत्यवती के दोनों पुत्र परलोक सिधार चुके थे। वंश-परम्परा नष्ट हो रही थी। राज्य सिंहासन खाली पड़ा था, सत्यवती ने दोनों कार्यो को सम्भालने के लिये अनुरोध किया था। तव भीष्म ने अपना निश्चय सुनाया था। श्रीभीष्मजी भगवत-तत्व के ज्ञाता थे। श्रीयुधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञमें अग्रपूजनके प्रश्न पर श्रीकृष्णकी भगवत्ता, महत्ता का प्रतिपादन करना इसका प्रमाण है। दुर्योधन के आश्रय में रहने के कारण महाभारत में युद्ध तो इन्होने दुर्योधन की ओर से ही किया परन्तु दुर्योधन की दुर्नीतियों की हमेशा भर्त्सना ही करते रहे। इससे आपकी न्याय प्रियता सिद्ध होती है। यही कारण है जो आपने न्याय प्रिय पाण्डु पुत्रों की विजय के लिये अपनी मृत्यु का उपाय भी पाण्डवों को बता दिया।

श्रीभीष्मजी की भगवन्निष्ठा का पता तो तब चलता है जब दुर्योधन के द्वारा उत्तेजित किये जाने पर आपने भगवानको शस्त्र ग्रहण कराने की प्रतिज्ञा करली—यथा—

पद— आज जो हरिहिं न शस्त्र गहाउँ।
तो लाजौं गङ्गा जननी को शान्तनु सुत न कहाऊँ॥
स्यंदन खण्डि महारथ खण्डौं कपिध्वज सहित डुलाऊँ।
इती न करौं शपथ मोहिं हरि की क्षत्रिय गतिहिं न पाऊँ॥
पाण्डव दल सन्मुख ह्वै धाऊँ सरिता रुधिर बहाऊँ।
सूरदास रणभूमि विजय विन जियत न पीठ दिखाऊँ॥

श्रीभीष्मजी के अन्तर प्रेम को पहिचान कर भक्तवत्सल भगवान ने अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दी, भक्तकी प्रतिज्ञा रख ली। रीवा नरेश महाराज श्रीरघुराज सिंहजी ने श्रीभीष्मजी के इस आन्तरिक भाव का वड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। यथा—

पद— जो मैं सुरसरि सुवन कहाऊँ।
तौ प्रन सभा मध्य अस गाऊँ॥
कौरव पांडव बीच दोउ दल हरि पूजन अस ठाऊँ।
शोणित जल अन्हवाय नाथ को रण रज वसन ओढाऊँ॥
पांडव सेन मारि गोविन्द अङ्ग चन्दन कोप चढ़ाऊँ।
विविध वरन को विपुल विकासित विशिख माल पहिराऊँ॥
सनमुख शत्रु संहारि सहस्रन कीरति सुरभि सुँघाऊँ।
तवहिं त्रिविक्रम को तुरन्त तहँ विक्रम दीप दिखाऊँ॥

पारथ सखा समीप जायके प्राण नवेद लगाऊँ।
सकल जगत ते ऐंचि प्रीति की बीरी आजु खवाऊँ॥
विजय जान चढ़ि वायु समर महँ जय दक्षिणा दिवाऊँ।
रथ सों रथ मिलाय माधव को ध्वज चामरहिं चलाऊँ॥
नखशिख निरखत रूप अनूपम नैन निराजन लाऊँ।
वार वार धुनि दण्ड प्रतंचा धनुषहिं बाज बजाऊँ॥
रथ मण्डल करि दै परदक्षिण उर आनन्द उपजाऊँ।
यदुवर कर सों आजु अवसि मै चक्र प्रसादहिं पाऊँ॥
अर्जुन शर पंजर जंजर ह्वै गिरि सनमुख शिर नाऊँ।
यहि विधि रन प्रभु को करि पूजन त्रिभुवन में यश छाऊँ॥
श्रीरघुराज कृपा हरि की लहि बरवस हरिपुर जाऊँ॥

पुनश्च— भीषमके वानन की मार इमि माची गात एकहू न घात सव्य साची करि पावै हैं।
कहैं रतनाकर निहारि सो अधीर दशा त्रिभुवन नाथ नैन भरि भरि आवै हैं॥
वहि वहि हाथ चक्र ओर ढहि जात पीठ रहि रहि तापै वक्र दीठि पुनि धावै हैं।
उत प्रन पालन की कानि सकुचावै इत भक्त-भय टालन की वानि उमगावै हैं॥
छूट्यौ अवसान मान सकल धनञ्जय को धाक रही धनु में न सांक रही सर में।
कहैं रतनाकर निहारि करुणाकर कै आई कुटिलाई कछु भौहन कगर में॥
रोकिझर रंचक अरोकि वर वाननि की भीषम यों भाख्यो मुसिकाइ मन्द स्वरमें।
चाहत विजै को सारथी जो कियो सारथ तो वक्र करौ भृकुटी न चक्र करौ करमें॥
ज्यो ही भये विरथ रथांग गहि हाथ नाथ निज प्रन भंग की रही न चित चेत है।
कहैं रतनाकर त्यों संग ही सखा हू कूदि आनि अरचौ सौंहैं हाहा करत सहेत है॥
कलित कृपा औ त्रिपा द्विमग समा हैं पग पलक उठचौ ही रह्यौ पलक समेत है।
धरन न देत आगे अरुझि धनञ्जय औ पाछे उभय भक्त भाव परन न देत है॥

भीष्म कहने लगे— जय जय जय चिन्तामणि स्वामी शन्तनु सुत यों भाखै।
तुम बिन ऐसो कौन दूसरो जो मेरो प्रण राखै॥

उत्तरायण सूर्य की प्रतीक्षा में शरशय्या पर पड़े हुये भीष्मजी के हृदयमें भगवानकी वह त्रिभुवन मोहिनी मूर्ति वारम्वार स्मृति पथ में आती रहती थी जिसे वे युद्ध क्षेत्र में रथका टूटा हुआ पहिया लेकर अपनी ओर आते देखे थे। यथा—

पद—वा पटपीत की फहरानि।
कर धरि चक्र चरन की धावनि नहिं विसरति वह वानि॥
रथ ते उतरि अवनि आतुर ह्वै कच रज की लपटानि।
मानो सिंह शैल ते निकस्यो महामत्त गज जानि॥
जिन गुपाल मेरो पन राख्यो मेटि वेद की कानि।
सोई सूर सहाय हमारे निकट भये हैं आनि॥

भगवान श्रीकृष्णकी दर्शनाभिलापा से आये हुये महाराज युधिष्ठिरजी ने जब एक दिन श्रीकृष्ण को ही ध्यानावस्थित देखा तो उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि योगीन्द्र-मुनीन्द्र-ध्येय आज स्वयं किसका ध्यान कर रहे है ? पूछने पर विदित हुआ कि स्वयं भगवान श्रीकृष्ण शरशय्या पर पड़े हुये परम भागवत भीष्म जी का ध्यान कर रहे हैं। श्रीयुधिष्ठिरजी भाव विभोर हो गये, पितामह की अद्भुत भक्ति निष्ठा को विचारकर। भगवान ने कहा—युधिष्ठिर ! अब यह परम प्रकाश पुंज सूर्य अस्त होने वाला है अतः वहाँ चलकर तुमको उपदेश लेना चाहिये। श्रीयुधिष्ठिर जी ने भगवान की आज्ञा का पालन किया। भगवान की कृपासे पितामह की सारी पीड़ा दूर हो गई, उन्होंने बड़े उत्साह से युधिष्ठिर को धर्मके समस्त अङ्गों का उपदेश किया।

प्रसङ्ग आता है, श्रीभीष्मजी धर्मोपदेश कर ही रहे थे कि बीच में ही महारानी द्रौपदी को हँसी आ गई। पितामह ने उपदेश रोक कर पूछा—बेटी ! तू हँसी क्यों ? प्रथम तो द्रौपदीजी अपनी भूल पर बहुत संकुचित हुईं, प्रसङ्ग को टालना चाही। परन्तु भीष्मजी के पुनः पुनः पूछने पर बोली—दादा जी ! आज तो आप धर्म की ऐसी उत्तम बातें कर रहे हैं, किन्तु कौरवों की सभा में जब मैं दुःशासन द्वारा नंगी की जा रही थी तो उस समय आपका यह धर्मज्ञान कहाँ चला गया था ? पितामहने शान्तिपूर्वक समझाया —बेटी ! मुझे धर्मज्ञान तो उस समय भी था परन्तु दुर्योधन का अन्यायपूर्ण अन्न खाने से मेरी बुद्धि मलिन हो गई थी इसी से उस समय धर्म का ठीक निर्णय करने में मैं असमर्थ हो गया था। परन्तु अब अर्जुन के बाणों के लगने से, दूषित अन्न से बने रक्त के शरीर से बाहर निकल जाने के कारण मेरी बुद्धि शुद्ध हो गई है, इससे इस समय मैं धर्म का तत्व ठीक समझता हूँ और उसका विवेचन कर रहा हूँ।

अन्त में सूर्य के उत्तरायण होने पर एक सौ पैंतालीस वर्ष की अवस्था में माघ शुक्ल अष्टमी को सैकड़ों ब्रह्मवेत्ता ऋषि मुनियों के बीच भीष्म पितामह ने अपने सम्मुख खड़े पीताम्बरधारी श्रीकृष्णचन्द्र का दर्शन करते हुये, उनकी स्तुति करते हुये चित्त को उन परमपुरुष में एकाग्र करके शरीर का त्याग कर दिया।

आपकी भीष्म प्रतिज्ञा एवं पितृभक्ति से प्रभावित होकर ऋषियों और पितरों ने यह विधान किया कि जो भी कोई देव-पितृ तर्पण करे वह अन्त में भीष्म पितामह को जलाञ्जलि दे। इन्हें जलदान किये बिना देव-पितृ अतृप्त ही रह जायेंगे। तभी से सभी लोग—**वैयाघ्रपदगोत्राय, सांकृत्य प्रवराय च। अपुत्राय ददाम्येतज्जलं भीष्माय वर्मणे ॥** इस मन्त्र से जल देते हैं।

श्रीबलिजी—देखिये छप्पय ५ और कवित्त १०२ ॥

श्रीशुकदेवजी—देखिये कवित्त ९८ ॥

श्रीधर्मराज जी—भगवान सूर्य की पत्नी संज्ञा से आपका प्रादुर्भाव हुआ है। कल्पान्त तक संयमनी पुरी में रहकर जीवों को उनके कर्मानुसार शुभाशुभ फलका विधान करते रहते है। पुण्यात्मा लोगों को धर्मराज के रूपमें बड़े सौम्य और पापात्मा जीवों को यमराजरूप में भयङ्कर दीखते है। जैसे अशुद्ध सोने को शुद्ध करने के लिये अग्नि में तपाते है वैसे ही आप कृपावश जीवों को दण्ड देकर शुद्धकर भगवद्भजन के योग्य बनाते हैं।

भगवान के मङ्गलमय नाम की महिमा वर्णन करते हुये श्रीधर्मराज जी अपने दूतो से कहते है कि—

नामोच्चारण माहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत ॥
एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥

अर्थ—प्रिय दूतो ! भगवान के नामोच्चारणकी महिमा तो देखो, अजामिल जैसा पापी भी एक-वार नामोच्चारण करने मात्र से मृत्युपाश से छुटकारा पा गया। भगवान के गुण लीला और नामो का भलीभांति कीर्तन मनुष्यो के पापो का सर्वथा विनाश कर दे, यह कोई उसका वहुत वड़ा फल नही है। क्योकि अत्यन्त पापी अजामिल ने मरने के समय चचल चित्त से-अपने पुत्र का नाम 'नारायण' उच्चारण किया,इस नामाभास मात्रसे ही उसके सारे पाप तो क्षीण हो ही गये,मुक्तिकी प्राप्ति भी हो गयी ॥

पुनश्च—ते देवसिद्धपरिगीत पवित्रगाथा, ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः ॥
तान् नोपसीदत हरे गंदयाभिगुप्तान् नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥

अर्थ—जो समदर्शी साधु भगवान को ही अपना साध्य और साधन दोनों समझकर उन पर निर्भर है, वड़े-वड़े देवता और सिद्ध उनके पवित्र चरित्रों का प्रेम से गान करते रहते है। मेरे दूतो ! भगवान की गदा उनकी सर्वदा रक्षा करती रहती है। उनके पास तुम लोग कभी भूल कर भी मत जाना। उन्हे दण्ड देने की सामर्थ्य न हममें है और न साक्षात् काल में ही ॥

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृत विष्णुकृत्यान् ॥

अर्थ—जिनकी जीभ भगवान के गुणों और नामों का उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त उनके चरणारविंदों का चिन्तन नही करता और जिनका सिर एक वार भी भगवान श्रीकृष्णके चरणों में नही झुकता उन भगवत्सेवा विमुख पापियो को ही मेरे पास लाया करो ॥ (भा०)

कठोपनिषद मे उद्दालक मुनि के पुत्र नचिकेता और यमराजका प्रसङ्ग आता है। जिसमें श्रीयम-राजजी आत्म-तत्वके सम्वन्धमें की गई नचिकेता की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहते है कि—नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको वहूनां विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ अर्थ—जो नित्योका भी नित्य है, चेतनोंका भी चेतन है और अकेला ही इन अनेक जीवोंकी कामनाओं का विधान करता है उस अपने अन्दर रहने वाले पुरुषोत्तम को ज्ञानी निरन्तर देखते रहते है उन्ही को सदा अटल रहने वाली शान्ति प्राप्त होती है। दूसरो को नही। नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ अर्थ—यह पर-ब्रह्मपरमात्मा न तो प्रवचन से न बुद्धि से,और न वहुत सुनने से ही प्राप्त होता है। जिसको यह स्वीकार कर लेता है उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। क्योकि यह परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है ॥

प्रश्न—श्रीसनकादिकजी, श्रीकपिल जी, श्रीमनुजी आदि तो भगवदवतारों में गिने गये हैं फिर इनको द्वादश भक्तों में क्यों कहा गया है? समाधान-यद्यपि ये है अवतार ही परन्तु इन्होंने अपने को सदा-सर्वदा भक्त मानकर भगवानके भजन-सुख का ही रसास्वादन किया है अतः भागवताचार्यों में भी गिने गये। भगवान के भक्त सर्वस्व त्याग कर, लोक परलोक की वाञ्छा को ठुकरा कर निरन्तर भजन-ध्यानमें लगे रहते है, यहाँ तक कि यदि भगवान के मिलने से भजनमें वाधा पड़ती हो तो भगवान को छोड़ देंगे, परन्तु भगवान का भजन नहीं छोड़ेंगे। यथा—प्रिय रामनाम ते जाहि न रामो (विनय) तो भगवान को भी यह इच्छा होती है कि भजन में न जाने वह कौन सा विलक्षण सुख है जिसके लिये मेरे भक्त स्वार्थ-परमार्थ तक का त्याग कर देते हैं। यथा—परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनें हुं मनहुं निहारे॥ यह अनुभव करना चाहिये। अतः स्वयं भी भक्त बनकर भजन सुख का रसास्वादन करते है और फिर चस्का लग जाने पर वे भक्त ही बने रहना चाहते हैं भगवान नही। [भगवान श्रीकृष्ण गोपीप्रेम का रसास्वादन करने के लिये श्रीगौराङ्ग महाप्रभु के रूप में भक्तावतार लिये थे॥

धर्‌यौ पितु मातु नाम अजामेल सांचो भयो भयो अजामेल तिया छूटी शुभजातकी॥
कियो मदपान सो सयान गहि दूरि डार्‌यो गार्‌यौ तनु वाही सों जो कीन्हों लैकै पातकी॥
करि परिहास काहू दुष्ट ने पठाये साधु आये घर देखि बुद्धि आइ गई सातकी।
सेवा करि सावधान सन्तन रिझाय लियो नारायन नाम धरो गर्भ बाल बात की॥२३॥

शब्दार्थ—अजा=माया, कुलटा स्त्री। मेल=सम्पर्क, सम्बन्ध। शुभजात=ब्राह्मण कुल। मद-पान=मदिरा पीना। सयान=विवेक, चतुराई। गार्‌यौ=नष्ट कियौ, गिरायो, निचोर्‌यौ। सातकी=सात्विकी, सतोगुणी। वात की=वातचीत की, उपदेश दिया।

भावार्थ—पिता-माता ने पुत्रका नाम अजामिल रक्खा, वह सच्चा हो गया। अजा अर्थात् माया रूपी वेश्या से उसका मेल हो गया। ब्राह्मणकुल की विवाहिता पत्नी छूट गई। वह मद्यपान करने लगा, उसने आचार विचार और विवेकको दूर फेंक दिया। अपने शरीर को उसके साथ घुला-मिला दिया, जिससे वह महान् पापी हो गया। संयोगवश विचरते हुए कुछ साधु-सन्त आए, उनसे किसी दुष्ट ने हँसी की कि—अजामिल वड़ा साधुसेवी है उसी के यहाँ चले जाओ। सन्त अजामिल के घर पहुँच गए। दर्शन-मात्र से ही अजामिल को सतोगुणी वुद्धि आ गई। सन्तों में बड़ी श्रद्धा हुई। सावधानीसे सेवा करके उन्हें प्रसन्न कर लिया। सन्तों के चलते समय स्त्री समेत अजामिलने प्रणाम किया। सन्तों ने आशीर्वाद दिया कि—इसके पुत्र होगा और उसका नाम 'नारायण' रखना। कुछ समय बाद पुत्रका जन्म हुआ और अजामिल ने उसका 'नारायण' नाम रक्खा॥२३॥

व्याख्या—अजामिल कान्यकुब्ज ब्राह्मण (कन्नौज निवासी) थे। यथा—कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्दासीपतिरजामिलः॥ (भा०) वेद, शास्त्र, पुराणादिकों के पारंगत विद्वान थे। शील, सदाचार और सद्गुणों के तो खजाना ही थे। ब्रह्मचारी, विनयी, जितेन्द्रिय, सत्यनिष्ठ, और मन्त्रवेत्ता थे। इन्होने गुरु, अग्नि, अतिथि और वृद्ध पुरुषों की वहुत सेवा की थी। इनमें अहंकार का तो लेश भी नहीं था। समस्त प्राणियों का हित चाहते, सवका उपकार करते, किसी में दोष नहीं देखते थे। परन्तु विधि का विधान

वड़ा विलक्षण होता है।'धरचो ""भयो अजामेल' पिता माताने प्यार वस इनका नाम अजामिल रक्खा था सो वह आगे चलकर सत्य ही अजा=माया से मिला हुआ, लिपटा हुआ अर्थात् साक्षात् मायारूपिणी वेश्यामें अत्यन्त आसक्त हो गये ॥ कथा इस प्रकारसे है—एक दिन अजामिल अपने पिता के आदेशानुसार वन मे गये और वहाँ से फल-फूल, समिधा तथा कुश लेकर घरको लौट ही रहे थे कि एक अत्यन्त कामी, निर्लज्ज, पतित सुरापी शूद्र को मदिरा पीकर किसी वेश्या के साथ विहार करते देखे। दोनो ही नशे के कारण अपनी सुध-बुध खोये हुये अत्यन्त कामोद्दीपक चेष्टाये कर रहे थे, जिसे देखकर अजामिल सहसा ही मोहित और काम के वश में हो गये।

यहाँ एक प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इतने वड़े विद्वान, सद्गुण सम्पन्न ब्राह्मण अजामिल क्षण मात्र में ही कैसे ज्ञान ध्यान को तिलाजलि देकर विषयवश हो गये। इसका एक समाधान तो यह है कि माया ऐसी वलवती है ही कि—'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआयीं विमोह मन करई ॥' और उसमें भी—'नारि विष्नु माया प्रगट।' श्रीभर्तृहरि जी कहते हैं कि—स्मृता भवति तापाय दृष्टा चोन्मादवर्धिनी। स्पृष्टा भवति मोहाय सा नाम दयिता कथम्॥ अर्थ—जो स्मरण करने पर संताप देती हैं, देखने पर उन्माद को वढ़ाती हैं और छू जाने पर मोह को वढ़ाती है ऐसी स्त्री दयिता (प्यारी) कैसे हो सकती हैं।

पुनश्च—ज्ञान ध्यान वैराग अरु लोक वेद कुल कान। कछु न रहत लागै जवै तरुणी नैना वान ॥
तनक न रहै विरक्तता, लगै दृगन की थाप। कहुँ पूजा माला कहूँ, कहुँ वटुवा कहुँ आप ॥
पण्डित पूजा पाकदिल,यह गुमान मतलाय। लगे जरव अँखियान कै,सकल गरब गरि जाय॥

सोउ सुनि ज्ञान निधान, मृगनयनी विधु मुख निरखि।
विवस होहिं हरिजान, नारि विष्णु माया प्रकट ॥

दृष्टांत—व्यास और जैमिनी का—श्रीव्यासजी ने श्रीमद्भागवत में श्रीययाति जी के प्रसङ्ग में लिखा है—मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। वलवानिन्द्रिय ग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ अर्थ—अपनी माँ, वहिन और कन्या के साथ भी अकेले एक आसन पर सटकर नही वैठना चाहिये। इन्द्रियाँ इतनी वलवान है कि वड़े-वड़े विद्वानों को भी विचलित कर देती हैं। श्रीव्यासजी के शिष्य जैमिनि को यह वात नही जँची। भला विद्वान को इन्द्रियाँ क्या विचलित कर सकती हैं? श्रीगुरु जी ने लिखने में भूल कर दी है। वस जैमिनि ने वह श्लोक वदल दिया 'वलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांस नापि कर्षति।' श्रीव्यासजी ने समझाया भी, परन्तु जैमिनि को वोध नही हुआ। अभिमान में भरकर वोले—गुरुदेव! तुच्छ इन्द्रियो की क्या शक्ति है। मैं तो उनपर सर्वथा विजय प्राप्त कर चुका हूँ। यह सुनकर श्रीव्यासजी जैमिनि की परीक्षा लेने के लिये स्वयं स्त्रीरूप धारणकर अन्धेरी रात मे जव कि कुछ वादल वरस रहे थे जैमिनि के आश्रम मे पहुँच कर वोले—हे मुने! मैं एक अवला स्त्री हूं। मैं अपने साथियोंसे विछुड़ गई हूँ। अत्यन्त व्याकुल एव इस वनमे भयभीत होकर आपके आश्रम मे आई हूँ। आज रात विता कर प्रात. सूर्योदय होते ही अपने साथियों को ढूँढ लूँगी। फिर उनके साथ चली जाऊँगी। स्त्री की प्रार्थना सुनकर महर्षि जैमिनि ने कहा—यहाँ से कही दूर जा। मैं स्त्री को अपने आश्रम मे आश्रय नही देता।

उसने कहा—मैं अकेली इस अँधेरी रात में कहाँ जाऊँगी। शरणागत का परित्याग शास्त्र में नही कहा गया है आप सर्वज्ञ हैं। सब कुछ जानते ही हैं। तब जैमिनि ने कहा कि—अच्छा लो इस कमरे की चाबी। मेरे बगल के कमरे में भीतर से किवाड़ बन्दकर पड़ी रहना। यदि मैं भी किवाड़ खोलने के लिये आग्रह करूँ तो नहीं खोलना। उस स्त्री ने कहा—ऐसा ही करूँगी। उसने ऐसा ही किया पुनः काम की प्रबलता से जैमिनि महर्षि को अपना स्वरूप विस्मृत हो गया। उस निर्जन रात्रि में उस रूपवती युवती के साथ समागम की इच्छा उत्पन्न हो गई। अपनी पर्णकुटी से बाहर आकर उस युवती से किवाड़ खोल देने का आग्रह किया। जब बहुत प्रार्थना करने पर भी नहीं खोली तब उस कमरेकी छत पर जाकर उस पर्णकुटी के काठों को हटाकर कमरे में प्रवेश कर गये। वहाँ उन्होने अपने गुरुदेव श्रीवेदव्यासजी को बैठे देखकर बड़े लज्जित हुये तथा उनको नमस्कार करते हुये बोले—हे गुरुदेव ! आपकी वाणी सत्य है। वास्तव में काम पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। आप मेरे अपराधों को क्षमा करें। श्रीवेद-व्यासजी अपने आश्रम को चले गये।

पुनश्च—**विश्वामित्र पराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशनास्तेऽपिस्त्रीमुख पङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः॥** अर्थ—विश्वामित्र पराशर आदि भी, जो वायु, जल और सूखे पत्ते खाते थे, स्त्रीके मुखकमल को देखकर मोह को प्राप्त हो गये थे॥ दूसरे—विषय भी ऐसे बलवान होते है कि स्त्री-पुरुषो के विहार की तो बात ही क्या, सौभरि ऋषि तो मछलियोंका विहार देखकर विषय-वश हो गये थे। (देखिये छप्पय १६) तीसरे—कथा आती है कि ये पूर्व जन्म में ऋषि थे। सत्यवती के साथ पराशर ऋषि का जो समागम हुआ था उस पर ये पराशर जी का बड़ा उपहास किये थे। तब क्षुभित होकर पराशरजी ने शाप दे दिया कि तुम्हारा तो सारा जन्म ही वेश्या के साथ बीतेगा। अतः महत्पुरुषों का उपहास नहीं करना चाहिये। स्वायम्भुव मन्वन्तर में प्रजापति मरीचिके पुत्र, यह देखकर कि ब्रह्माजी अपनी पुत्री (सरस्वती) से समागम करने के लिये उद्यत है, हँसने लगे। इस परिहासरूप अपराध के कारण उन्हें ब्रह्माजी ने तीन बार जन्म लेने का शाप दे दिया। जिसके फलस्वरूप वे एक बार हिरण्यकशिपु के पुत्ररूप में उत्पन्न हुए। पुनः देवकी के गर्भ से जन्मे, पुनः राजा बलि के पुत्र बने। फिर माता देवकी की प्रार्थना पर भगवान श्रीकृष्ण उन्हें बलि के यहाँ से ले आये और वे माता देवकी का स्तनपान करते ही शाप से मुक्त होकर देवत्व को प्राप्त हो गये। (भा० १०।४७-५७ तक) राजा चित्रकेतु ने भगवान शिव का उपहास किया, जिससे असुर बनना पड़ा। (देखिये कवित्त ६९) जब ये अनुनय विनयकर अपराध क्षमा की याचना किये तो ऋषि ने कहा कि—अच्छा—जब तुम अत्यन्त मोहासक्त हो जाओगे तो मै ही आकर तुम्हारा उद्धार भी करूँगा। इन उपर्युक्त हेतुओं से अजामिल उस कामी शूद्र और वेश्या के काम-विहार को देखते ही व्यामोहित हो गये।

यद्यपि अजामिल ने अपने विवेक बल से काम मोहित मन को रोकने की बहुत-बहुत चेष्टायें कीं, परन्तु सफल न हो सके। इनकी सदाचार और शास्त्र-ज्ञान सम्बन्धी चेतना नष्ट हो गई। अपने धर्म से विमुख हो गये। अहर्निश उस वेश्या का ही चिन्तन करते रहते। सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणों द्वारा उस वेश्या को प्रसन्न करने के प्रयत्न में इन्होंने अपने पिता की सारी सम्पत्ति उस कुलटा पर न्यौछावर कर दिया। घर का धन नष्ट होने पर विषय-विमुग्ध अजामिल न्याय से, अन्याय से जैसे भी, जहाँ कहीं भी धन मिलता वहीं से लाकर वेश्या को रिझाता रहता। अजामिल ने 'यथा नाम तथा गुण' इस कहावतको चरितार्थ कर दिया। इस प्रसङ्ग से यह चेतावनी मिलती है कि माता-पिता को बालकों का नाम विचार कर धरना चाहिये, जैसा-तैसा नाम धरना ठीक नहीं।

लिया छूटी चुभ जाति की—उस स्वच्छन्दचारिणी कुलटा की तिरछी चितवन ने इनके मन को ऐसा लुभा लिया कि इन्होने अपनी कुलीन, नवयुवती और विवाहिता पत्नी तक का परित्यागकर दिया।

कियो मद पान—ब्राह्मण के लिये मद्यपान अति ही निषिद्ध है, परन्तु 'को न कुसङ्गति पाइ नसाई' अजामिल मदिरा भी पीने लगा। **सो सयान गहि दूरि डार्यौ**—'सो सयान'=वह विवेक अर्थात् पूर्व का शास्त्र ज्ञान। कियो मदपान""डार्यो—का दो प्रकार से अर्थ होगा—१—मदिरा पीने लगा अतः वह विवेक नष्ट हो गया २—विषय वस होने से वह विवेक नष्ट हो गया अतः कियो मद पान। मद पान और विषय वश्यता—दोनों में ही विवेक नष्ट हो जाता है। यथा—**यौवन मद, अरु मद पिये, पुनि तरुणी मदमत्त। भूले माता पिता गुरु दया धर्म अरु सत्त॥** विवेक-विनाशरूप अनर्थ केलिये एक ही मद पर्याप्त है—यथा—**मद ते गुनी। नासहिं वेगि नीति अस सुनी॥** (रामा०) और यहाँ तो, यौवन-मद, मदिरा-मद, और तरुणी मद, तीन-तीन मद हैं। अतः सो सयान गहि दूर डार्यौ॥

गार्यो तन वाहा सों—यथा—भर्तृहरि वाक्य—**वेश्यासौ मदनज्वाला रूपेन्धन-समेधिता। कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च॥** अर्थ—यह वेश्या कामरूप अग्निकी ज्वाला है जो रूप रूपी इन्धन से वढ़ाई गई है। कामी लोग इसमे यौवन और धन का हवन करते है। **जो कीन्हीं लै कै पातकी**—पातक तीन प्रकार का होता है। १—उप पातक, २—पातक ३—महापातक। अजामिलसे एक भी पाप वचा नही था। **'जे पातक उपपातक अहहीं। करम वचन मन भव कवि कहहीं'** अजामिल ने सव किये थे। वेश्या-गमन, मद्यपान, आदि कुकर्मो ने उसे महापातकियो की पंक्ति मे वैठा दिया था। महापातकी चार होते हैं। यथा—**ब्रह्महा, मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः। एते महापातकिनो यश्चतैः सह सम्वसेत्॥**

करि परिहास""साधु—सन्तो की एक जमात गांव में आई। वस्तुतस्तु श्रीपराशर जी अजामिल का उद्धार करने के लिये सन्त समाज को साथ लेकर आये थे। गाँव में आकर पूछे—भाई! यहाँ कोई साधु-महात्मा वा सन्त सेवी भक्त हैं। किसी दुष्ट ने कह दिया—हाँ अजामिल वड़े साधु है, वडे सन्त सेवी है, वही चले जाइये॥ **देखि" सातकी**—यह सन्त दर्शन की महिमा है। यथा—**येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुद्धयन्ति वै गृहाः। किं पुनर्दर्शन स्पर्शपादशौचासनादिभिः॥** अर्थ—महात्माओ के स्मरण मात्र से ही गृहस्थों के घर तत्काल पवित्र हो जाते हैं, फिर हृदय के शुद्ध होने की तो वात ही क्या है। फिर दर्शन, स्पर्श, पाद प्रक्षालन और आसन दानादि का सुअवसर मिलने पर तो कहना ही क्या है॥ पुनश्च—**मुख देखत पातक हरें, परसत करम विलाहिं। वचन सुनत मन मोह गत, पूरव भाग मिलाहिं॥ सरदातप निशि शशि अपहरई। सन्त दरस जिमि पातक टरई॥ जब द्रवें दीन दयाल राघव साधु संगति पाइये। जेंहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइये॥**

यही सन्त वैष्णवकी पहचान है कि जिनके दर्शन मात्र से भगवत भागवत में प्रीति हो जाय। एक वार श्रीगौराग महाप्रभुजीसे कुलीन ग्रामवासी भक्तों ने पूछा—प्रभो! वैष्णव की क्या पहिचान है? श्रीमहाप्रभु ने कहा—जिसके मुख से एक वार भी श्रीकृष्ण नाम निकला हो वही वैष्णव है। दूसरी वार पुनः कुलीन ग्राम वासियो ने यही प्रश्न पूछा तो महाप्रभुने कहा—जो निरन्तर श्रीकृष्ण नाम लेता हो वह वैष्णव है। तीसरो वार पुनः जब उन लोगों ने यही प्रश्न किया,तव महाप्रभु ने कहा—जिनके दर्शन मात्र

से ही हृदय में भगवत-भागवत-प्रीतिका समुदय हो और स्वतः मुख में श्रीकृष्ण नाम स्फुरित हो, वे वैष्णव हैं।

अजामिल के घर ऐसे ही सन्त पधारे जिनके दरशन करते ही वेश्या और अजामिल दोनो को ही सात्विक बुद्धि आ गई। अजामिल साधु का पता पूछते-पूछते सन्त लोग जब उनके घर गये तो अजामिल घर पर थे नहीं, वेश्या अपना साज श्रृंगार किये दीख पड़ी। उसके रंग-ढँगको ही देखकर महात्माओं ने तो समझ लिया कि यह तो वेश्या मालूम पड़ती है, अतः लौटकर जाने लगे। परन्तु संत-समाज के दर्शनसे प्राप्त सात्विक बुद्धि की प्रेरणा से वेश्या ने तुरन्त ही आगे वढ़कर वहुत-भाव-भक्ति पूर्वक अनुनय विनयकर रोक ही लिया और 'सेवा करि सावधान संतन रिझाय लियो।' वेश्या की भाव-भक्ति देखकर सन्त बड़े प्रसन्न हुये और जो उन्होंने पहले वेश्या जान कर उसकी उपेक्षा की थी, उसे अपनी भूल समझे। अब सन्त बारम्बार वेश्या से अजामिल साधु को पूछते कि वे कहाँ गये हैं ? कब आवेंगे ? आदि आदि॥

वेश्या ने विचारा—मालूम पड़ता है—किसीने इन महात्माओंसे व्यङ्ग पूर्वक अजामिलको साधु कह दिया है और ये सरल हृदय साधु उसे सत्य ही मान बैठे। अतः अब तो हमें अजामिल को साधु रूप में ही महात्माओंके सामने प्रस्तुत करना चाहिये। बस, तुरन्त ही महात्माओंको सुव्यवस्थितकर बाजारमें जाकर सुन्दर कण्ठी, माला, तिलक, पीताम्वरी धोती खरीद कर मार्ग में अजामिल की प्रतीक्षा करने लगी। वेश्या को भय था कि अजामिल जंगल में शिकार लाने गया है। कहीं नित्यके नियमानुसार वह बहुत से मृत पशु पक्षियों को लेकर सहसा आ गया तो सब बना बनाया खेल मिट्टीमें मिल जायगा। उसे देखकर मुनि-महात्मा निश्चय ही क्रोध करके घोर शाप देंगे जिससे उद्धार असम्भव हो जायगा अतः वह बड़ी सतर्कता से अजामिल को इतस्ततः देख ही रही थी कि अजामिल वन्य मृगों को मारकर कन्धे पर लटकाये, उनके रुधिर से सने हुये आते दिखाई पड़े। झट वेश्या ने आगे बढ़कर वह सब फेंकवा दिया. बोली—घर पर साधु आये है। अजामिल ने कहा—साधु आये है तो उनके पास कुछ माल मत्ता भी है कि केवल लंगोटिया वाबाजी ही हैं। वह जान गई कि अभी इनका मदिरा का नशा उतरा नहीं है।

अतः उसने कहा कि पहले स्नान करो तब सब बात बताऊँगी। अजामिल वेश्याके बड़े आज्ञाकारी थे। तुरन्त मृगादिकों को फेंक कर स्नान किये। वेश्या ने इनका वैष्णव वेष बनाया। कण्ठी, माला तिलक, पीताम्वरी से इनको सुसज्जित किया और समझाया कि संतों ने आज बड़ी कृपा की है जो मुझ अभागिनी के घर पधारे हैं, तो आप भी चल कर उनको भक्ति भाव से दण्डवत करना, और बड़ी नम्रता पूर्वक उनसे वार्तालाप करना। उनसे कहना कि—महाराज ! आप लोगों ने बड़ी कृपा की जो मेरे घर पधारे। मेरे बड़े भाग्य हैं जो आप लोगों के दर्शन हुये, मैं आपका दास हूँ, आप जो आज्ञा करें, में सेवा करने के लिये तैयार हूँ। फिर परीक्षा के लिये वेश्या ने अजामिल से पूछा कि अच्छा बताओ, क्या कहोगे? तो अजामिल बोले—कहूँगा कि मैंने बड़ी कृपा की जो आप लोगों से मिला, आप लोगों के बड़े भाग्य हैं जो मेरे दर्शन हुए, मैं आप लोगों का स्वामी हूं, जो आज्ञा करूँगा वह सब आप लोग करने को तैयार रहेंगे आदि आदि। वेश्या ने देखा कि यह तो सब उलटे ही बोल रहे हैं तब बोली कि अच्छा तुम एक दम चुप रहना, मैं सब कार्य सँभाल लूँगी। मूर्खका तो चुप रहना ही ठीक है। नीतिमें भी लिखा है कि—

आत्मनो मुख दोषेण वध्यन्ते शुकसारिकाः। बकास्तत्र न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थ साधनम् ॥

अर्थ—तोता और मैना सुन्दर वोल लेते हैं अतः लोग पकड़ कर पिंजड़े मे वन्द करके पालते हैं। ये अपने मुखदोप से वन्वन मे पड़ते है और वकुला वन्वन से रहित होता है। अतः लगता है कि मौन ही सभी प्रयाजनों को सिद्ध करने वाला है।

दृष्टान्त—अकवर और वीरवल का—अकवर वादशाह की वीरवल की प्रखर वुद्धि के सामने कुछ नही चलती। वात-वात मे लज्जित होना पड़ता। अकवर इस प्रयत्न मे रहते कि मैं कौन ऐसा उपाय करूँ जिससे वीरवल को कुछ लज्जित होना पड़े। किसी ने वादशाह से कहा कि हुजूर! वीरवलके घरके लोग वड़े मूर्ख है,प्रवीन तो एक वीरवल ही हैं। वादशाह ने यह वात जव वीरवल से कही तो वीरवल ने तुरन्त उत्तर दिया—हुजूर! आपको किसी ने वहका दिया है। वस्तुतस्तु घर के सभी लोग वड़े प्रवीण हैं उनमे मूर्ख तो एक मैं ही हूँ। वादशाह ने कहा—मैं उन लोगो को देखना चाहता हूँ। तव वीरवलने घर जाकर सवको एकत्रित करके सुन्दर-सुन्दर पोशाक धारण कराकर घोडा-पालकीपर वैठाकर वादशाह के दरवार मे उपस्थित किया। वीरवल ने घर वालो को सिखा दिया था कि वादशाह कुछ भी पूछे तुम लोग वोलना मत। वोलोगे और उत्तर ठीक से नही वन पड़ा तो वादशाह मार डालेगा। हुआ भी ऐसा ही। जव वे लोग दरवार मे पहुँचे तो वादशाह देखते ही जान गया कि सचमुच ये हैं तो पूरे गँवार ही, इनके गँवारपन का भण्डाफोड़ करना चाहिये। अतः वादशाह ने वात चलाई—तुम लोग इतनी सुन्दर पोशाक पहने हो यदि कोई छीने तो क्या करोगे? ऐसे ही कई वार पूछा, परन्तु वे तो सिखाये पढ़ाये थे, अतः एक चुप हजार चुप॥ कोई कुछ भी वोले ही नही। वादशाह ने वीरवलसे पूछा—ये वोलते क्यो नही? वीरवल ने कहा—हुजूर! आप समझे नही। इन्होने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मूर्ख से न वोलना ही अच्छा। यह सुनकर वादशाह झेंप गया, साथ ही वीरवल की वुद्धिमानी पर प्रसन्न भी हुआ।

इसी प्रकार वेश्या ने भी अजामिल से कहा कि तुम तो मौन ही रहना। यही हुआ—अजामिल आये, जैसे तैसे संतों को दण्डवत करके एक ओर वैठ रहे। सन्तो ने इन्हें भोला-भाला भक्त समझा।

सेवा करि सावधान—सेवा धर्म वड़ा ही गहन है। यथा—'सेवा धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' अतः इसमें वड़ी सावधानी वर्तनी पड़ती है। सन्त-दर्शन के प्रभाव से सात्विक वुद्धि का उदय होने से वेश्या और अजामिल ने मन वचन कर्म से भाव भक्तिपूर्वक सन्तो की सेवा कर उन्हे रिझा लिया। क्योकि—'सुर साधु चाहत भाव सिन्धु कि तोष जल अंजलि दिये।' 'भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः।' नारायन ''' वातकी।'—सर्वज्ञ सन्तो से अजामिल और वेश्या की वास्तविकता छिपी नहीं रही, और इन दोनों ने भी अपनी शोचनीय दशा सन्तो को कह सुनाई और अत्यन्त ग्लानि मे भरकर सन्तोके चरणो मे लोटकर रोते हुये अपने उद्धारका उपाय पूछा। फिर तो 'लागि दया कोमल चित संता' सन्तो ने कहा—भगवान का भजन करो, कल्याण हो जायेगा। अजामिल वोले—प्रभो! मेने जन्म भर तो पाप किया है, भला भजन में मेरा मन कैसे लग सकता है। यथा—पापवन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ। ऋषियोंने अजामिल को स्वरूपानुरूप औषधि (उपाय) वताया—'नारायन नाम धरो गर्भ वाल वात की।' जैसे चतुर वैद्य रोगी की हैसियत के अनुसार ही दवा वताते हैं।

दृष्टान्त—राजवैद्य का—एक राजवैद्य थे। उन्होंने जिस रोगके लिये राजा को कई हजार की कीमती औषधि वताया था, उसी रोग के लिये एक गरीव को दो-चार आने का नुस्खा वता

दिया और वह उसी से अच्छा हो गया। लोगों ने राजा से शिकायत की। राजा ने वैद्यजी को बुलाकर पूछा—दो-चार आने की जगह आपने मुझसे दो-चार हजार क्यों खर्च करवाये ? वैद्य ने कहा—जैसा रोगी वैसी औषधि। दो-चार आने की औषधि में आपका विश्वास भी तो नही होता।

दृष्टान्त—२—श्रीवाल्मीकिजी को सप्तर्षियों ने उलटा नाम जपने का उपदेश दिया था। (देखिये कवित्त ७४) उसी प्रकार समागत साधुओं ने अजामिल का उद्धार करने के लिये बेटे का नाम 'नारायण' धरवाया॥

आइ गयो काल मोह जाल में लपटि रह्यो महा विकराल यम दूत सो दिखाइये।
वोही सुत नारायन नाम जो कृपाकै दियो लियोसो पुकारि सुर आरत सुनाइये॥
सुनत ही पार्षद आये वाही ठौर दौर तोरि डारे पास कह्यौ धर्म समुझाइये।
हारे लै बिडारे जाइ पति पै पुकारे कही सुनो बजमारे मति जावो हरि गाइये॥२४॥

शब्दार्थ—सुर-आरत=दुःखित स्वर। पास=फाँस, बन्धन, यमपाश। बिडारे=फटकार कर भगाये। बजमारे=नीच, अधम।

भावार्थ—अजामिल स्त्री-पुत्र के मोह जालमें लिपटा पड़ा था, इतने में उसके मरने का समय आ गया। अति भयानक यमदूत दिखलाई पड़े। भय और मोहवश अजामिल अत्यन्त व्याकुल हो गया। सन्तोंने कृपा करके जो बालकका नाम रखवाया था, उसे बड़े दीन दुःखितस्वरसे 'नारायण! नारायण!!' ऐसा पुकारा। भगवन्नाम सुनते ही विष्णुपार्षद उसी समय उसी स्थान पर दौड़कर आ गए। यमदूतों ने जिस फाँसी से अजामिल को बाँधा था उसे पार्षदों ने तोड़ डाला। यमदूतों के पूछने पर पार्षदों ने धर्मका रहस्य समझाया। यमदूत न माने, अजामिल को पापी समझकर ले ही जाना चाहते थे, तब पार्षदों ने डाट-डपटकर भगा दिया। हारकर सब यमदूतों ने धर्मराज के पास जाकर पुकार की। धर्मराजने कहा—अरे नीचो! तुम पर गाज गिरे, तुमने बड़ा अपराध किया है। अब सावधान रहना, जहाँ कोई किसी भी प्रकार से भगवन्नाम का उच्चारण करे वहाँ मत जाना। अपने कल्याण के लिये स्वयं भी तुम लोग हरिके नाम और यशका गान करो॥२४॥

व्याख्या—आय गयौ काल—उस समय अजामिल की आयु अठ्ठासी वर्ष की थी। यथा—कालोऽत्यगान्महान् राजन्नष्टाशीत्यायुषः समाः॥ अर्थ—हे राजन्! इस प्रकार उसकी आयु का बड़ा भाग अठ्ठासी वर्ष बीत गया॥ काल दुर्निवार है। यथा—अण्डकटाह अमितलय कारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥ (रामचरितमानस) जिसने काल को अपने महापराक्रम से बाँध रखा था, अन्त में काल ने उनको भी आत्मसात् कर लिया। यथा—सहस बाहु दशवदन आदि नृप बचे न काल बली ते। फिर अजामिल की तो बात ही क्या है। पुनश्च—

न बचै कोउ पण्डित वेद पढ़े न बचै कोउ ऊंची चिनाये अटा।
न बचै कोउ जंगल बास किये न बचै कोउ शीश बढ़ाये जटा॥

दिन चारि चलाचल यों तुलसी नर नाहक को सब ठाट ठटा।
जो भलाई चहो सियाराम रटो नहिं आय अचानक काल डँटा॥

अजामिल का अन्तिम समय आ गया। मोह जाल में लपटि रह्यो—संसारासक्त प्राणियों की मोह ममता वृद्धावस्था मे और भी अधिक प्रवल हो जाती है। यथा—

देखत ही आई विरुधाई। जो तै सपने हुँ नाहिं बुलाई॥
ताके गुन कछु कहे न जाहीं। सो अव प्रगट देख तन माहीं॥
सो प्रगट तन जर-जर जरावस व्याधि सूल सतावई।
सिर कंप इन्द्रिय शक्ति प्रतिहत वचन काहु न भावई॥
गृह पाल हूँ ते अति निरादर खान पान न पावई।
ऐसि हुँ दशा न विराग तहँ तृष्णा तरङ्ग वढ़ावई॥ (विनय)

ऐसे ही एक वृद्ध को देखकर भगवान शंकराचार्यजी ने कहा था—

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशन विहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्॥

अर्थ— पलित हो गये वाल शीश के गलित हुआ सब गात।
टूट गये त्यों ही क्रम क्रम से मुँह के सारे दाँत॥
पकड़ा हुआ हाथ में कँपता कैसा फवता दण्ड।
फिर भी नहीं छोड़ता आशा भण्ड अहो पाखण्ड॥

पुनः— वालस्तावत् क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणी रक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्न.॥

अर्थ— वालक है तव तक नर रहता क्रीडा में आसक्त।
तरुण हुआ तव तरुणी में ही हो जाता अनुरक्त॥
वृद्ध अवस्था में नाना चिन्ताओं में है मग्न।
हुआ नहीं उस पर ब्रह्म में कोई भी संलग्न॥ (च० प०)

पद— ममता तू न गई मेरे मनते।
पाके केश जनम के साथी लाज गई लोकन ते॥
तन थाके कर कम्पन लागे ज्योति गई नैननते।
सरवन वचन न सुनत काहु के शक्ति गई इन्द्रिन ते॥
टूटे दसन वचन नहिं आवत शोभा गई मुखन ते॥
कफ पित बात कण्ठ पर बैठे सुतहिं बुलावत करते।
भाइ वन्धु सव परम पियारे नारि निकारत घरते॥
जैसे शशि मण्डल विच स्याही छुटै न कोटि जतन ते॥
तुलसिदास वलि जाउँ चरन की लोभ पराये धनते॥

दृष्टान्त-एकवृद्धका-एक वूढा मरण शय्या पर पड़ा हुआ घड़ी-दो घड़ीका महमान था। पित्त-कफ-वातसे कण्ठावरोध हो गया। सगे सम्वन्धी घेरे खड़े थे। अन्तिम घड़ी गिनी जा रही थी। संयोगसे एक

बछिया सामने पड़ी वहारूको चवा रही थी। किसीका भी ध्यान उधर नहीं गया। उस बूढेने देख लिया। वह बोल तो सकता नहीं था, शरीर में थोड़ी-थोड़ी चेतना थी, अतः हाथ से उधर ही संकेत करने लगा। परन्तु सहसा किसीकी समझमे वात आई नही कि यह क्या सकेत कर रहे है? वार-बार हाथ उठानेसे लोगों को शङ्का हुई कि सम्भव है कुछ द्रव्य गड़ा पड़ा हो अथवा किसीको दिये ही हों। क्योंकि प्रायः लोग 'मोह वस जीते जी तो बताते नहीं, जव निश्चित जान जाते है कि अव तो मरना ही है तव वता दें,तो वता दें। अतः हो न हो कुछ ऐसी ही वात है। उसके लड़के तुरन्त ही दौड़कर एक वैद्यजी के पास गये और बोले कि जैसे हो तैसे आप कृपाकर एक वार मेरे पिताजी से बात करा दीजिये। वैद्यजी ने कहा वात तो करा देंगे परन्तु २००) लेंगे और वह भी पहले ही ले लेंगे तव दवा देंगे। क्यों कि ऐसी परिस्थितियों में बादमें लोग देने में आनाकानी करते हैं। इन लोगों को गरज थी अतः प्रथम ही २००) रु०दे दिये वैद्यजी ने ऐसी दवा दी कि कण्ठ खुल गया। बूढा वात करने लगा। लोगों ने पूछा—आप क्या कह रहे थे। उसने झल्लाकर कहा—कह क्या रहा था, देखते नहीं वछिया वहारू खाये जा रही है कोई भी उधर ध्यान नही देता। भला मेरे आँख के सामने यह हाल है तो बाद में क्या होगा। लड़के पूछे कि वस यही कहना था कि और कुछ। उसने कहा और कुछ नही। लड़के झुंझलाये—मर रहे हैं, राम श्याम कुछ भी नही, बहारू का इतना ध्यान। यह है 'तृष्णा तरंग वढ़ावई' का उदाहरण।

महा विकराल—यथा—स पाशहस्तांस्त्रीन्दृष्ट्वा पुरुषान् भृशदारुणान्। वक्रतुण्डानूर्ध्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागतान्॥ अर्थ—इतने मे ही अजामिल ने देखा कि उसे ले जाने के लिये अत्यन्तभयाव ने तीन यमदूत आये है। उनके हाथों में फाँसी हैं, मुँह टेढ़े-मेढ़े विकराल है, और शरीर में रोये खड़े हैं॥ (भागवत)।

वोही सुत''' सुनाइये—बूढ़े अजामिल के दसपुत्र थे, छोटे का नाम था 'नारायण। मां वाप उससे वहुत प्यार करते थे। उस समय वालक नारायण वहाँ से कुछ दूरी पर खेल रहा था। यमदूतों को देखकर अजामिल ने अत्यन्त व्याकुल होकर अत्यन्त आर्त और उच्च स्वर से पुकारा—'नारायण'। 'सुनतेही पार्षद आये'—भगवत्पार्षदों ने पुत्र के नारायण नामोच्चारण को भगवन्नाम सकीर्त्तन माना। यह है पार्षदों की भावुकता, स्वामि-भक्ति॥ पार्षद संख्या में चार थे। यथा—यम दूत वाक्य= 'चतुर्भिरद्भुतैः सिद्धैराज्ञाते विप्रलम्भिता' अर्थ—चार अद्भुत सिद्धों ने आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन कर दिया है॥ (भा०) 'कह्यो धर्म समुझाइये'—जव भगवत्पार्षदों ने यम-पाश को तोड़कर अजामिल को यमदूतों के वन्धन से मुक्त कर दिया तव यमदूतों ने कहा—हम धर्मराज के सेवक है, हमें आप लोग क्यों अपने कार्य से रोक रहे हैं? भगवत्पार्षदों ने कहा—यदि तुम लोग सचमुच धर्मराज के सेवक हो तो हमें धर्मका लक्षण और धर्म का तत्व सुनाओ। यमदूत वोले—वेदों ने जिन कर्मो का विधान किया है वे धर्म हैं और जिनका निषेध किया है वे अधर्म हैं परन्तु इस पापी ने श्रुति शास्त्र की आज्ञा का उल्लङ्घन करके स्वच्छन्द आचरण किया है और अव तक इसने अपने पापों का कोई प्रायश्चित्त भी नहीं किया है। इसलिये हम लोग इसे भगवान यमराज के पास ले जा रहे थे जिससे यह वहाँ अपने पापों का दण्ड भोग कर शुद्ध हो जाय।

इस प्रकार यमदूतों द्वारा सामान्य धर्म का निरूपण किये जाने पर भगवत्पार्षदों ने परमधर्म का विवेचन करते हुए अजामिल को निष्पाप वताया यथा—

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्म कोटचंहसामपि । यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ।।
एतेनैवह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् यदानारायणायेति जगाद चतुरक्षरम् ।।
स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग् ब्रह्महा गुरुतल्पगः । स्त्रीराजपितृ गोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे ।।
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् । नाम व्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ।।
साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा । वैकुण्ठनामग्रहणं अशेषाघहरं विदुः ।।
यथागदंवीर्यतम मुपयुक्तं यदृच्छया । अजानतोऽप्यात्म गुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः ।।

अर्थ—इसने कोटि-कोटि जन्मो की पाप राशिका पूरा-पूरा प्रायश्चित्तकर लिया है । क्योकि इसने विवश हो कर ही सही भगवान के परम कल्याण मय (मोक्ष प्रद) नाम का उच्चारण तो किया है। जिस समय इसने 'नारायण' इन चार अक्षरो का उच्चारण किया, उसी समय केवल उतने से ही इस पापीके समस्त पापोंका प्रायश्चित्त हो गया । चोर, शरावी, मित्र द्रोही, ब्रह्म घाती, गुरुपत्नी गामी, ऐसे लोगों का संसर्गी, स्त्री, राजा, पिता, और गाय को मारने वाला, चाहे जैसा और चाहे जितना वडा पापी हो, सभी के लिये यही—इतना ही सवसे वड़ा प्रायश्चित्त है कि भगवान के नामों का उच्चारण किया जाय; क्योकि भगवन्नामोके उच्चारणसे मनुष्यकी वृत्ति भगवान के गुण, लीला और स्वरूप में रमं जाती है और स्वयं भगवान की उसके प्रति आत्मीय बुद्धि हो जाती है । वड़े-वड़े महात्मा पुरुप यह वात जानते है कि संकेत में (किसी दूसरे अभिप्राय से),परिहास में अथवा किसी की अवहेलना करने में भी यदि कोई भगवानके नामोंका उच्चारण करता है तो उसके सारे पाप नष्ट हो जाते है जैसे कोई परम शक्तिशाली अमृत को उसका गुण न जानकर अनजान मे पीले तो भी वह अवश्य ही पीने वाले को अमर वना देता है, वैसे ही अनजानमें उच्चारण करने पर भी भगवान का नाम अपना फल देकर ही रहता है(वस्तु-शक्ति श्रद्धाकी अपेक्षा नही करती ।। (भा०)

हारे""हरि गाइये—इस प्रकार जब भगवान के पार्षदों ने यमदूतोका प्रयत्न विफल कर दिया, तव उन लोगो ने यमराज के पास जाकर विष्णुपार्षदों की शिकायत की । तव श्रीधर्मराजजी ने दूतों को भागवत धर्म का उपदेश करते हुये आज्ञा की कि—

तानानयध्वमसतो विमुखान् मुकुन्दपादारविंद मकरन्दरसादजस्रम् ।
निष्किञ्चनैः परमहंसकुलैरसङ्गैर्जुष्टाद् गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान् ।।

अर्थ—वड़े-वड़े परम हंस दिव्य रस के लोभ से सम्पूर्ण जगत और शरीर आदि से भी अपनी अहंता ममता हटाकर, अकिंचन होकर निरन्तर भगवान मुकुन्दके पादारविन्द का मकरन्द रस पान करते है । जो दुष्ट उस दिव्यरस से विमुख हैं और नरक के दरवाजे घर गृहस्थी की तृष्णा का वोझ वाध कर उसे ढो रहे हैं उन्हीं को वार-वार मेरे पास लाया करों । (विशेष देखिये इसी छप्पय में वर्णित धर्मराज-प्रसङ्ग) इसके वाद धर्मराज ने भगवान से क्षमा-याचना की । यथा—

तत्क्षम्यतां स भगवान् पुरुषः पुराणो नारायणः स्वपुरुषैर्यदसत्कृतं नः ।
स्वानामहोनविदुषां रचिताञ्जलीनां क्षांतिर्गरीयसि नमः पुरुषाय भूम्ने ।।

अर्थ—आज मेरे दूतों ने भगवान के पार्षदों का अपराध करके स्वयं भगवान का ही तिरस्कार किया है । यह मेरा ही अपराध है । पुराण पुरुष भगवान नारायण हम लोगों का यह अपराध क्षमा करें ।

हम अपराधी होने पर भी है उनके निज जन और उनकी आज्ञा पाने के लिये अञ्जलि बाँध कर सदा उत्सुक रहते है। अतः परम महिमान्वित भगवान के लिये यही योग्य है कि वे क्षमा कर दे। मैं उन सर्वान्तर्यामी एक रस अनन्त प्रभु को नमस्कार करता हूं॥ (भा०)

इधर अजामिल भगवत्पार्षदों द्वारा यमदूतों के फन्दे से छूट कर निर्भय और स्वस्थ होकर भगवत्पार्षदों का दर्शन कर आनन्दमें मग्न होकर उन्हे सिर झुका कर प्रणाम किये। अजामिल के कुछ कहने की इच्छा करते ही भगवत्पार्षद अन्तर्धान हो गये। अजामिल को, जो भगवत्पार्षदों के मुख से विशुद्ध भागवतधर्म सुना था उससे हृदयमें शीघ्र ही भगवद् भक्तिका उदय होनेसे,अब अपने पापोंको याद करके बड़ा पश्चात्ताप होने लगा। फिर तो संसार के प्रति तीव्र वैराग्य हो जाने से सबके सम्बन्ध और मोह को छोड़कर हरद्वार चले गये और शेष जीवन भगवद् भजन में बिताते हुये अन्त में भगवान के पार्षदों के साथ स्वर्णमय विमान पर आरूढ़ होकर आकाश मार्ग से भगवान लक्ष्मीपति के निवास स्थान वैकुण्ठ को चले गये।

१—दृष्टांत चार किरातों का—श्रीअजामिलजीका उद्धार नामाभास मात्रसे हुआ। **'नाम लियो पूत को पुनीत कियो पातकीश॥'** श्लोक—**वने चरामो वसु चाहरामो नदीस्तरामो न भयं स्मरामः। इत्थं वदन्तश्च वने किराताः मुक्तिं गता राम पदानुषङ्गात्॥** भावार्थ—चार किरात वन को गये। वहाँ जाकर एक ने कहा—वने चरामः=वन में विचरूँगा। दूसरे ने कहा—वसु चाहरामः=धन हरण करूँगा। तीसरे ने कहा—नदीस्तरामः=मैं नदी को पार करूँगा। चौथे ने कहा—न भयं स्मरामः=मैं किसी से नही डरूँगा। इतने मे भूकम्प हुआ और पहाड़ गिरा। सहसा चारोंकी मृत्यु हो गई। राम नाम के आभास मात्र से सबकी मुक्ति हो गई। तब उक्त श्लोक देवताओं ने गाया था।

२—दृष्टांत एक यवन का—

कवित्त— **आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जवन, सूकर के सावक ढकाँ ढकेल्यो मग में।**
गिरो हिय हहरि हराम हो हराम हन्यो, हाय हाय करत परीगो काल फगमें॥
तुलसी विसोक ह्वै त्रिलोकपति लोक गयो नाम कै प्रभाव बात बिदित है जगमें।
सोई राम नाम जो सनेह सों जपत जन ताकी महिमा क्यों कही है जात अग मै॥
(कवितावली)

जमनहिं मारी चोट सूकरा ग्राम ने। बोल्यो मारचो हाय हराम हराम नें॥
भयो नाम आभास प्रगट पार्षद भये। जम दूतनि ते छीनि धाम को लै गये॥ (भ०व०टि०)

३—दृष्टान्त—चार चोरों का—एक जंगल में चार चोर ऊँचे टीले पर बैठकर लूटने की घात में यात्रियो को देखा करते। जब कोई यात्री जंगल में ऊँचे नीचे नदी नाले के मार्ग से जाता दिखाई देता तो एक अवाज लगाता 'नारायण'। तात्पर्य पथिक नाले में उतर गया है। तब दूसरा कहता—'वासुदेव'। तात्पर्य—दो-चार वांस (लाठी) मारो। तब तीसरा कहता—'दामोदर' तात्पर्य जो कुछ पैसे हों, उन्हे छीन लो। तब चौथा कहता—'हरि हर'। तात्पर्य—छोड़ दो। इस प्रकार भगवन्नामों के संकेत से यात्रियों को लूटते रहते। एकवार चारों यही कह रहे थे कि उन पर विजली गिरी। सबके सब नामाभास मात्र से दिव्य विमान पर बैठ कर भगवद्धाम को गये तभी तो कहा गया है कि—

कहा व्रत नेम गजेन्द्र करचौ कहा वेद पुराण पढ़ी गनिका ।
अजामिल कौन अचार करचो निसि वासर खान सुरा पनिका ॥
कहा जप जागहिं गिद्ध कियो सुहतो वन जीवन को हनिका ।
तुलसी अघ पर्वत कोटि जरे हरिनाम हुतासन को कनिका ॥

(विशेष देखिये छप्पय ६८ कवित्त ३११)

षोडश पारषद

मो चित्तवृत्ति नित तहँ रहौ जहँ नारायण पारषद ।
विष्वक्सेन, जय, विजय, प्रबल, बल, मंगलकारी ।
नन्द, सुनन्द, सुभद्र भद्र, जग आमय हारी ॥
चण्ड, प्रचण्ड, विनीत, कुमुद, कुमुदाक्ष, करुणालय ।
शील, सुशील, सुषेन, भावभक्तन प्रतिपालय ॥
लक्ष्मीपति प्रीणन प्रवीण भजनानन्द भक्तन सुहृद ।
मो चित्त वृत्ति नित तहँ रहौ जहँ नारायन पारषद ॥८॥

शब्दार्थ—आमयहारी=रोग और शोक हरने वाला, अविद्या माया जन्य दुःखहारी । विनीत= नम्र, सुशील, शासित, संयमी । करुणालय=करुणा=कृपा+स्थान, अति कृपालु । भावभक्तन=प्रेमीजनो को, भक्तो के भावो को । प्रतिपालय=रक्षण-पोषण करते है । प्रीणन प्रवीन=प्रसन्न करने मे चतुर । भजनानन्द=सेवा-भजन का आनन्द लेने वाले । मो=मम, मेरी । चितवृत्ति=मन की गति । पारषद= पार्षद, पास में रहने वाला, सेवक, मन्त्री ।

भावार्थ—मेरी चित्तवृत्ति सर्वदा वहाँ ही रहे, जहाँ नारायण भगवान के पार्षद रहते हैं । विष्व-क्सेन, जय, विजय, प्रवल और वल ये भक्तों का मंगल करने वाले है । नन्द, सुनन्द, सुभद्र, और भद्र ये भवरोगों को हरने वाले है । चण्ड, प्रचण्ड, कुमुद और कुमुदाक्ष ये परम विनीत तथा अति कृपालु हैं । शील, सुशील और सुषेण भावुक भक्तो के प्रतिपालक हैं । ये सोलह प्रधान पार्षद श्रीलक्ष्मीनारायण की सेवा करके उन्हें प्रसन्न करने में परम चतुर हैं और भजनानन्दी भक्तो के हितकारी हैं । सीमा के अर्थात् सर्वश्रेष्ठ भजनानन्दी भक्त है ॥८॥

व्याख्या—श्रीअजामिल जी के प्रसंग में भगवत्पार्षदो की परम कृपालुता देखकर श्रीनाभा जी यह अभिलाषा करते है कि 'मो चित्तवृत्ति ...... पारषद ॥' पार्षद सेवा-आज्ञा मे रहते हैं मेरी चित्त-वृत्ति भी वही रहे ।

नारायण पार्षद—भगवान नारायण के पार्षद असंख्य है, उनमें से सोलह पार्षद प्रमुख है, जिनके नाम छप्पय में स्मरण किये गये हैं । इन पार्षदो का स्वरूप भगवानके ही तुल्य होता है । अन्तर

केवल श्रीवत्स और कौस्तुभ का है। ये दोनों चिन्ह श्रीभगवान के ही होते है, पार्षदों के नही। यथा— **प्रतीच्यां दिश्यभूदाविः शङ्खचक्रगदाधरः॥ आत्मतुल्यैः षोडशभिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ। पर्युपासितमुन्निद्र-शरदम्बुरुहेक्षणम्॥** (भा० ६।९।२८, २९) अर्थ—(जव देवताओं ने इस प्रकार भगवान की स्तुति की) तब शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी भगवान उनके सामने पश्चिम की ओर (अन्तर्देश में) प्रकट हुये। भगवान के नेत्र शरत्कालीन कमल के समान खिले हुये थे। उनके साथ सोलह पार्षद उनकी सेवा में लगे हुये थे। वे देखनेमें सब प्रकार से भगवानके समान ही थे। केवल उनके वक्षःस्थल पर श्रीवत्सका चिन्ह और गलेमें कौस्तुभ मणि नही थी। बल, प्रबल, नन्द, सुनन्द, भद्र, सुभद्र, कुमुद और कुमुदाक्षकी गणना वैष्णव द्वारपालके रूप में की जाती है। यथा—**नन्दादयोऽष्टौ द्वास्थाश्च तेऽणिमाद्या हरेर्गुणाः।** (भा० १२।११।२०) अर्थ—भगवान के स्वाभाविक गुण अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धयोंको ही नन्द-सुनन्द आदि आठ द्वारपाल कहते है। भगवानके प्रधान पार्षद श्रीविष्वक्सेनजी है, वे पांचरात्रादि आगमरूप है। यथा—**विष्वक्सेन-स्तन्त्रमूर्तिविदितः पार्षदाधिपः।**

श्रीवैकुण्ठधाम में भगवान विष्णु के मणिमय प्रासाद के पश्चिम द्वार पर जय-विजय द्वार की रक्षा में तत्पर रहते हैं। पूर्व के दरवाजे पर चण्ड और प्रचण्ड, दक्षिण द्वार पर भद्र और सुभद्र तथा उत्तर के दरवाजे पर धाता और विधाता नाम के द्वारपाल रहते हैं। कुमुद और कुमुदाक्ष की गणना वैकुण्ठ के मध्यमें स्थित अयोध्या नगरीके दिक्पालोमें की भी जाती है। भगवान सर्वशक्तिमान हैं, अजेय हैं पर उनके नित्य पार्षद उनकी रक्षा और सेवा में सदा तत्पर रहते हैं। श्रीमद्भागवत में वर्णन है कि जब वैष्णव पार्षदों ने देखा कि बलि के अनुचर दैत्यों ने वामन भगवान को मारने के लिये शस्त्र-अस्त्र उठा लिये तव उन्होने भी हँसकर अपने अस्त्र उठा लिये, असुरों को रोक दिया। नन्द-सुनन्द, जय-विजय, बल-प्रबल, कुमुद-कुमुदाक्ष, विष्वक्सेन, गरुड़, जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पदन्त, सात्वत आदि भगवत्पार्षद दस-दस हजार हाथियो का वल रखते है। यथा—

> **इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचरासुराः। ते सर्वे वामनं हन्तुं शूलपट्टिशपाणयः॥**
> **अनिच्छतो बले राजन् प्राद्रवञ्जातमन्यवः। तानभिद्रवतोदृष्ट्वा दितिजानीकपान् नृप॥**
> **प्रहस्यानुचराविष्णोः प्रत्यषेधन्नुदायुधाः। नन्दः सुनन्दोऽथजयो विजयः प्रबलोबलः॥**
> **कुमुदः कुमुदाक्षश्च विष्वक्सेनः पतत्त्रिराट्। जयन्तः श्रुतदेवश्च पुष्पदन्तोऽथ सात्वतः॥**
> **सर्वे नागायुतप्राणाश्चमूं ते जघ्नुरासुरीम्॥** (भा०)

जैसे भगवान भक्तों के लिये मंगलकारी (यथा—**मङ्गल भवन अमङ्गल हारी।**) आमयहारी (यथा—**भवरोग महागद मान अरी**), करुणालय (यथा—**अनघ अनेक एक करुनामय**) प्रतिपालक (यथा—**भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि।**) (रा०च०मा०) तथा सुहृद (यथा—**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्ति मृच्छति**) (गीता) अर्थ—जो मुझको सब प्राणियों का हितैषी (मित्र) जानता है वही शान्ति पाता है) है, वैसे ही भगवत्पार्षद भी इन समस्त सद्गुणों से युक्त है। अजामिलजी के प्रसङ्गमें ये सभी गुण चरितार्थ दीखते है। यथा—

> **तस्यात्मतन्त्रस्य हरेरधीशितुः परस्य मायाधिपतेर्महात्मनः।**
> **प्रायेण दूता इह वै मनोहराश्चरन्ति तद्रूपगुणस्वभावाः॥**
> **भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि दुर्दर्शलिङ्गानि महाद्भुतानि।**
> **रक्षन्ति तद्भक्तिमतः परेभ्यो मत्तश्च मर्त्यानथ सर्वतश्च॥**

अर्थ—उन सबके स्वामी, परम स्वतन्त्र, मायापति पुरुषोत्तम के दूत उन्ही के समान परम मनोहर रूप, गुण, और स्वभाव से सम्पन्न होकर इस लोकमें प्रायः विचरण किया करते हैं। विष्णु भगवान के सुर पूजित एव परम अलौकिक पार्षदो का दर्शन बड़ा दुर्लभ है। वे भगवान के भक्तजनों को उनके शत्रुओ से, मुझसे और अग्नि आदि सब विपत्तियो से सर्वदा सुरक्षित रखते हैं॥ (भा०)

पारषद मुख्य कहे सोरह सुभाव सिद्ध सेवा ही कीऋद्धि हिये राखी बहु जोरि कै।
श्रीपति नारायन के प्रीनन प्रवीन महा ध्यान करै जन पालै भाव दृग कोरि कै॥
सनकादि दियो शाप प्रेरि कै दिवायो आप प्रगट ह्वै कह्यौ पियो सुधा जिमि घोरि कै।
गही प्रतिकूलताई जो पै यही मन भाई याते रीति हद गाई धरी रंग बोरि कै॥२५॥

शब्दार्थ—ऋद्धि=सम्पत्ति। जोरिकै=एकत्र करके। भाव=प्रेम। दृगकोरिकै=कृपा कटाक्ष की कोर से। प्रेरिकै=उभाड कर। हद=सीमा।

भावार्थ—श्रीनाभाजीने नारायण भगवानके मुख्य सोलह पार्षद कहे। ये सहज स्वभाव मे ही नित्य सिद्ध एवं नित्यमुक्त हैं। इन्होने भगवत्सेवा रूपी अनन्त सम्पत्तिको हृदय मे एकत्र कर रखा है। ये लक्ष्मीपति नारायण को प्रसन्न करने मे परम चतुर हैं। सदा भगवान के ध्यान में मग्न रहते हैं। प्रेमभाव से पूर्ण दृष्टिकोण से भक्तो का पालन करते हैं। स्वयं नारायण भगवानने प्रेरणा करके सनकादिकोसे जय-विजय को तीन जन्म तक असुर होनेका शाप दिलाया। फिर वहाँ प्रकट होकर बोले कि—'यह शाप मेरी इच्छा से ही हुआ है।' यह सुनकर जय-विजय ने शाप को अमृत पानके समान रुचि पूर्वक स्वीकार किया और कहा कि—'यदि आपको यही अच्छा लगता है तो अनुकूल सेवा-सुख त्याग कर प्रतिकूल शत्रुभाव भी स्वीकार है।' ऐसो रंगीली प्रीति की रीति धारण की, इससे इनकी उपासना की रीति अन्तिम सीमाकी कही गई है॥२५॥

व्याख्या—सुभाव सिद्ध—कहने का भाव यह कि ये किसी साधन अथवा किसी देवताके आशीर्वाद से, वरदानमे सिद्ध भये हो सो बात नही, ये भगवान से अभिन्न होने से नित्यमुक्त एव स्वतः सिद्ध है। सिद्ध कहकर जनाया गया कि समस्त सिद्धियाँ इनके अधीन हैं। तो भी ये सिद्धि-सुखकी उपेक्षा करके सेवा रूपसम्पत्ति का ही संचय करते है।

सेवा ही…… जोरि कै—भगवत्सेवा ही भगवद्भक्तो की सम्पत्ति है। यथा—**कामी धन तरुणी तिया, लोभी को धन दाम। भगवद्दास अनन्य को सेवाधन अभिराम॥** भक्त भगवान की सेवाको छोडकर और कुछ नही चाहते। मोक्ष तक सेवा के समक्ष लघु प्रतीत होता है। यथा—**सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥** (भा०) अर्थ—मेरे भक्त, दिये जाने पर भी, मेरी सेवा को छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्ष तक नही लेते॥ भगवद्भक्तों की दृष्टि में सेवाधन सभी धनो मे प्रधान है। यथा—**'लोकद्वयं सौख्ययुतं सुखेन, चेतोपि सानन्दमयं विभाति। दुःखानि दूरे प्रभवन्ति तेन सेवाधनं सर्वधनं प्रधानम्॥'** अर्थ—सेवा रूपधन से सहज ही दोनो लोक (इहलोक और पर लोक) सुखमय हो जाते हैं चित्त भी परमानन्द से परिपूरित

होकर चमत्कृत हो उठता है। सभी दुख नितान्त निःशेष हो जाते हैं। इसलिये सेवा धन निश्चय ही सभी धनों में प्रधान है ॥

चक्रवर्ती राज्य मिलने पर भी भाव-मूर्ति श्रीभरतजी दुखी ही हैं, क्योंकि उनकी सेवा रूपी सम्पत्ति छीन ली गई है। यथा—हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई ॥ शोक समाज राज केहि लेखे।""॥ भगवद्भक्त सेवा सम्बन्ध शून्य कुछ भी रखना नहीं चाहते। यथा—

न देहं न प्रणान्न च सुखमशेषाभिलषितं,
न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्व विभवात्।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा,
विनाशं तत्सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम् ॥

अर्थ—हे नाथ! आपके दास्य अर्थात् सेवा से भिन्न देह, प्राण समस्त इच्छित सुख एवं आत्मा तथा अन्य कुछ भी यदि मैं चाहूँ तो उसका सर्वथा विनाश हो जाय। हे मधुसूदन! यह मेरी सच्ची घोषणा है ॥

सेवा हित सर्वस्व लहक-लहक कर होम करने पर जीवन रस स्वयं ललक ललक कर, तुम्हारे ना ना करने पर भी छलक-छलक कर तुम्हें भीतर वाहर से आप्लावित कर देगा। सेवा मेवा है। सेवा करो मेवा मिलेगा (कल्याण) सेवा से दुर्लभ भगवान भी सुलभ हो जाते हैं। यथा—सेवत सुलभ सकल सुखदायक (रा० च० मा०) भगवान सेवा से भक्त के वश में हो जाते हैं, बिक जाते हैं, ऋणी हो जाते हैं। यथा—'कपि सेवा बस भये कनौड़ो कह्यो पवन सुत आउ। देबे को न कछू रिनियां हौं धनिक तूं पत्र लिखाउ॥' 'सांची सेवकाई हनुमान की सुजान राय रिनियां कहाने हैं बिकाने ताके हाथ जू।' अतः 'सेवा ही""जोरि कै।' पुनः—सेवा से आत्मा को जैसी शान्ति मिलती है वैसी अन्य साधनों से नहीं। यथा—यमादिभिर्योगपथैः काम लोभ हतो मुहुः। मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माद्धा न शाम्यति ॥ (भा०) अर्थ—काम और लोभ की चोट से वार-वार घायल हुआ हृदय श्रीकृष्ण सेवा से जैसी प्रत्यक्ष शान्ति का अनुभव करता है, यम-नियम आदि योग मार्गों से वैसी शान्ति नहीं मिल सकती। अतः सेवा ""…… जोरि कै ॥

श्रीपति"" महा—प्रीणन=प्रीति जनन (भा०) तर्पणं प्रीणनावनम् (अमरकोश) भगवान की प्रसन्नता, भगवान में प्रीति की उत्तरोत्तरवृद्धि, भगवान की तृप्ति, भगवान की सन्तुष्टि, इन सबमें भगवत्पार्षद परम प्रवीण हैं। यहां यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि भगवत्पार्षद किस साधन से भगवान नारायण का प्रीणन करते हैं? इसका बड़ा ही सुन्दर समाधान भक्त-शिरोमणि श्रीप्रह्लादजी ने किया है। यथा—नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः। प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥ न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च। प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥ अर्थ—दैत्यवालको! भगवान को प्रसन्न करने के लिये ब्राह्मण, देवता, वा ऋषि होना, सदाचार और विविध ज्ञानों से सम्पन्न होना तथा तप, यज्ञ, शारीरिक और मानसिक शौच और बड़े-बड़े व्रतों का अनुष्ठान पर्याप्त नहीं है। भगवान केवल निष्काम प्रेम भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं और सब तो विडम्बना मात्र है। भगवत्पार्षदों की ऐसी ही निष्काम प्रेमलक्षणा भक्ति भगवान में है अतः 'श्रीपति "" "" "" महा' कहा गया है ॥

सनकादि ...... यही मन भाई—सम्पूर्ण आसक्तियो का परित्यागकर समस्त लोकों में विचरण करने वाले श्रीसनकादिक जी एक वार भगवद्दर्शन की लालसा से वैकुण्ठ धाम मे जा पहुँचे। दर्शन की अत्यन्त उत्कट उत्कण्ठावश वे वैकुण्ठ की अन्य दुर्लभ दिव्य दर्शनीय वस्तुओं पर दृष्टिपात न करते हुए छः ड्योढ़ियाँ पार करके जव सातवी पर पहुँचे और सर्वत्र समदृष्टि होनेके कारण निःसंकोच रूप से भीतर प्रवेश करने लगे तव भगवान के पार्षद जय और विजय ने उन पञ्चवर्षीय से दीखने वाले दिगम्बर तेजस्वी कुमारों की हँसी उड़ाते हुए वेंत अड़ाकर उन्हें आगे वढ़ने से रोक दिया। भगवद्दर्शन में व्यवधान होने के कारण उनके नेत्र सहसा कुछ-कुछ क्रोध से लाल हो उठे और वे इस प्रकार कहने लगे—तुम भगवान वैकुण्ठनाथ के पार्षद हो, किन्तु तुम्हारी वुद्धि अत्यन्तमन्द है। तुम तो देवरूपधारी हो, फिर भी तुम्हें ऐसा क्या दिखाई दिया है जिससे तुमने भगवान के साथ कुछ भेदभाव के कारण होने वाले भय की कल्पना करली। तुम अपनी भेदवुदि के दोप से इस वैकुण्ठलोक से निकल कर उन पाप पूरित योनियों में जाओ, जहाँ काम, क्रोध, एवं लोभ प्राणियों के ये तीन शत्रु निवास करते हैं।

शाप सुनकर जय विजय की आँख खुली, अपने अपराध का वोध हुआ, अत अत्यन्त व्याकुल होकर दोनों पार्षद दीनभाव से उनके चरणोमें लोटकर प्रार्थना करने लगे—भगवन्! हमने अपने अपराध का उचित फल पाया, अव आप इतनी कृपा करें कि अधमाधम योनियोंमे जानेपर भी हमारी भगवत्स्मृति वनी रहे।

इधर श्रीभगवान को जव विदित हुआ कि हमारे पार्षदों ने श्रीसनकादिक का निरादर किया है, तव वे तुरन्त श्रीलक्ष्मी जी के सहित वहाँ पहुंच गये। समाधि के विषय त्रिभुवन मोहन श्रीवैकुण्ठनाथ की अचिन्त्य, सौदर्य राशि के दर्शन कर सनकादिक की विचित्र दशा हो गई यथा—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्क मिश्रतुलसी मकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

अर्थ—सनकादिक मुनीश्वर निरन्तर ब्रह्मानन्द में निमग्न रहा करते थे। किन्तु जिस समय भगवान कमल नयन के चरणारविन्द मकरन्द से मिली हुई तुलसी मंजरी की गन्ध से सुवासित वायु ने नासारन्ध्र के द्वारा उनके अन्त करण में प्रवेश किया, उस समय वे अपने शरीर को सँभाल न सके। उम दिव्य गन्ध ने उनके मन में खलवली पैदा कर दी। (भा०) श्रीसनकादिक ऋषियोंने निखिल सृष्टिनायक भगवानकी स्तुतिकर प्रभु के मगलमय चरणकमलोमें प्रणाम किया। भगवान श्रीहरि ऋषियोकी प्रशसाकर उनके शाप का समर्थन करते हुए वोले—ऋपीश्वरो! ये जय विजय मेरे पार्षद हैं। इन्होने आपका अपराध किया है। आपने इन्हे दण्ड देकर उचित ही किया है। ब्राह्मण मेरे परम आराध्य हैं। मेरे अनुचरों के द्वारा आप लोगों का जो अनादर हुआ है, उसे मैं अपने द्वारा ही किया समझता हूं। मैं आप लोगों से प्रसन्नता की भिक्षा माँगता हूँ॥

मुनियों ने कहा—भगवन्! आप साक्षात् धर्मस्वरूप हैं। सत्वगुण की खानि हैं। सर्वेश्वर! इन द्वारपालों को आप जैसा उचित समझें वैसा दण्ड दें अथवा पुरस्काररूप में इनकी वृत्ति वढा दें। हम निष्कपट भावसे आपसे सव प्रकार सहमत हैं। अथवा हमने आपके इन निरपराध अनुचरों को शाप दिया

है, इसके लिये हमी को उचित दण्ड दें। वह भी हमे सहर्ष स्वीकार है॥ श्रीभगवान ने कहा मुनियो! आप सत्य समझिये, आपका यह शाप मेरी ही प्रेरणा से हुआ है। ये दैत्य योनियों मे जन्म तो लेंगे किन्तु क्रोधावेश से बढ़ी एकाग्रता के कारण शीघ्र ही मेरे पास लौट आयेंगे। श्रीसनकादिक ऋषियो ने प्रभु के अमृतमय वचन सुनकर उनकी परिक्रमा कर प्रणाम किया और उनकी महिमा का गान करते हुये वहाँ से लौट गये।

तदनन्तर प्रभुने अपने पार्षदो से कहा—तुम लोग निर्भय होकर जाओ। तुम्हारा कल्याण होगा। मैं सर्व समर्थ होकर भी ब्रह्म तेज की रक्षा चाहता हूँ। यही मुझे अभीष्ट है। एक बार मेरे योगनिद्रा में स्थिर होने पर तुम दोनों ने द्वार मे प्रवेश करती हुई लक्ष्मी जी को रोका था। उस समय उन्होंने क्रुद्ध होकर पहले ही तुम्हें शाप दे दिया था। अब दैत्ययोनि मे मेरे प्रति अत्यधिक क्रोध के कारण तुम्हारी जो एकाग्रता होगी, उससे तुम विप्रतिरस्कार जनित पाप से मुक्त होकर कुछ ही समय मे मेरे पास लौट आओगे। इन शापोंको शाप न समझकर सुधा (अमृत) समझो, क्योंकि इससे अपराधोंका शमन होकर तुम लोगोंकी शुद्धि हो जायगी तथा मेरी भी अवतार लेकर लीला करनेकी इच्छा पूर्ण होगी। अतः पीयो सुधा जिमि ग्रोरि कै॥

सनकादि दियो शाप प्रेरि कै दिवायो आप—शुद्ध सत्वमय वैकुण्ठधाम में जय-विजय के द्वारा श्रीसनकादिक ऋषियों की उपेक्षा तथा इन ऋषीश्वरो का क्रुद्ध होकर जय-विजय को शाप देना, दोनो ही बातें अनमेल हैं। इसकी संगति लगाते हुए-श्रीप्रियादास जी कहते है कि प्रेरिकै ‥ ‥। तात्पर्य दोनो ही कार्य भगवत्प्रेरणा से ही हुए है। भगवान् ने भी इस बात को स्वीकार किया है। यथा—शापो मयैव निमितस्तदवैत विप्रा.। अर्थ—हे मुनिगण! आपने जो इन्हें शाप दिया है, यह मेरी ही प्रेरणा से हुआ है।

प्रश्न होगा—भगवान ने ऐसी प्रेरणा क्यों करी? समाधान—१—भगवान के योग निद्रा में स्थिर होने पर जब जय विजय ने भीतर प्रवेश करती हुई श्रीलक्ष्मी जी को रोका था तब श्रीलक्ष्मी जी ने इन पार्षदों को बहुत समझाया था कि तुम लोग हमको और श्रीप्रभु को पृथक्-पृथक् समझते हो, यह तुम्हारी भूल है। हम तो 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।' अतः मुझे रोकना उचित नही है। प्रभु ने जो आज्ञा करी है कि भीतर कोई न आने पावे तो उससे तात्पर्य अन्य लोगो से है न कि अभिन्न स्वरूपा मुझसे। तब बड़ी मुश्किल से पार्षदो ने श्रीलक्ष्मी जी को भीतर जाने दिया। श्रीलक्ष्मीजी जाकर प्रभु के चरणकमल पलोटने लगी तो प्रभु के श्रीअङ्गो में परम-सुकुमारता देखकर संशयमे पड़ गयी कि प्रभु इतने सुकुमार हैं और ये पार्षद बड़े प्रबल हैं, कही ये प्रभु को हराकर मुझ पर अधिकार न कर ले। 'अधिक प्रीति मन भा सदेहा' अत. श्रीलक्ष्मी जी ने प्रभु से इन पार्षदो की शिकायत की और इनको यहाँ से हटाने को कहा। भगवान ने कहा अभी आप धैर्य धारण करें। क्योकि यदि मैं अभी-अभी इनको यहाँ से हटाता हूँ तो ये कहेंगे कि प्रभु ने घर वाली का पक्षपात किया। अतः मैं ऐसी युक्ति करूँगा कि इनको दण्ड भी मिल जायगा और हम दोषी भी नहीं होंगे। अतः प्रभु ने प्रेरि कै दिवायो आप॥

२—एक बार श्रीलक्ष्मी जी प्रभु की सेवा कर रही थीं। ये तो अपने परम सुकोमल करकमलों से धीरे-धीरे पाँव पलोटतीं, परन्तु इतने पर भी वैकुण्ठनाथ कहते—धीरे-धीरे!! यह सुनकर श्रीलक्ष्मी जी

को शङ्का हुई कि भला मेरे कोमल करारविन्दों के मृदुल संस्पर्श को भी ये सहने मे असमर्थ हैं तो दैत्य-दानवो से कैसे लड़ते हैं। उनके अस्त्र-शस्त्र कैसे सहते हैं। यह देखना चाहिये। सर्वज्ञ-सर्वान्तर्यामी प्रभु तुरन्त इनके मन की जान गये। विचार किये कि श्रीलक्ष्मीजी को मेरा वल पराक्रम देखने की इच्छा है। इसके लिये चाहिये कोई प्रतिद्वन्दी और मेरे सामने साधारण प्राणी टिक नही सकता, अगर मेरा मुकावला कर सकते हैं तो मेरे पार्षद ही। परन्तु ये तो मेरे अपने जो ठहरे। ये मुझसे संग्राम ही क्यो करने लगे। अतः लीला सम्पादनार्थ श्रीसनकादिकों को प्रेरि के दिवायो शाप ॥

श्रीसनकादिक जी ने तीन जन्म का शाप दिया था। यथा—**मुक्त न भये हते भगवाना। तीन जन्म द्विज वचन प्रमाना॥** (रा०च०मा०) अतः जय-विजय को, हिरण्यकशिपु-हिरण्याक्ष, रावण-कुम्भकर्ण शिशुपाल-दन्तवक्त्र, इन तीन रूपों में जन्म लेना पड़ा॥ शापानन्तर जव उद्धार की वात हुई तो श्रीसनका-दिक ने अपने मन मे कहा—धन्य तो ये पार्षद ही हैं जिन्हे भगवान वार-वार अपना कहते हैं और उनके अपराध को अपना अपराध मानते है। प्रभु ने मेरी प्रशंसा तो वहुत की और पूज्य भी कहा परन्तु एक वार भी अपना नही कहा अतः अव हमे भी वही करना चाहिये जिससे भगवान अपनावें, अपना कहे। ऐसा विचार कर सनकादिक ने कहा कि—भगवन्! शाप के हम कारण हैं अतएव एक जन्म मे इनका उद्धार भी मेरे निमित्त से होगा। हम स्वयं इनके पुत्र वनेंगे और मुझे ये सतायेंगे तव आपका अवतार और इनका उद्धार होगा। आगे चलकर श्रीसनकादिक श्रीप्रह्लाद जी के रूप में हिरण्यकशिपु के पुत्र वने जिनके लिये भगवान ने नृसिंह अवतार लिया। श्रीलक्ष्मीजीने कहा—एक जन्ममे इनका उद्धार मेरे निमित्त से होगा। मेरा हरण इनके उद्धार का कारण वनेगा। ऐसा ही हुआ। रावण ने श्रीजानकी जी का हरण किया और श्रीरामजी के द्वारा मारा जाकर शाप से छुटकारा पाया। भगवान ने कहा—एक जन्म मे इनके उद्धार का निमित्त मैं वनूँगा। मुझसे व्यक्तिगत घोर विरोध करेगे और मेरे द्वारा मारे जाकर शाप से सर्वथा मुक्त हो जायेंगे। शिशुपाल-वध ऐसी ही परिस्थिति में हुआ॥

प्रश्न—सनकादिक से ही अपने पार्षदों को शाप क्यो दिलाया? समाधान—भगवत्पार्षद स्वतः सिद्ध हैं समर्थ हैं इन्हे साधारण ऋषि मुनि का शाप लगेगा ही नही। अतः परम सिद्ध, परम समर्थ, स्वरूप भूत श्रीसनकादिको से शाप दिलवाया। समर्थ पुरुषो को साधारण लोगो का शाप नही लगता है।

दृष्टान्त—भृगुजी का—भृगु पत्नी दैत्यो का वहुत पक्ष लेती। उनका अनुचित पक्ष-पात भगवान को असह्य हो उठा अतः चक्र सुदर्शन से उनका सिर काट लिया। महर्षि भृगुजी दुःखित होकर भगवान को भी नारि विरह से दुखी होने का शाप दिये। भगवान परम समर्थ हैं। कह दिये—हम नही स्वीकार करते हैं आपके शापको। तव लाचार होकर श्रीभृगुजी ने वड़ी कठिन तपस्या करके भगवान को प्रसन्न किया और भगवानके वर देनेके लिये उद्यत होने पर यही वर माँगा कि आप हमारे शापको स्वीकार करे। भगवान ने 'एवमस्तु' कहा।

वाही प्रतिकूलताई जो पै यही मन भाई—श्रीसनकादिकजीका शाप सुनकर जय-विजय को प्रथम तो वडा सन्ताप हुआ, परन्तु जव यह जाने कि इसमें तो मुख्य प्रभु की इच्छा है तो वे शाप को भी सुधा सदृश ही समझकर स्वीकार किये। यही वास्तविक सेवक का धर्म है। यथा—

नरक जौ देयँ तौ न निदरि विमुख हूजे स्वरग जो देयँ तौ न हरषि सराहिये।
रङ्क करि डारें तौ न कीजिये कलेश जिय करें नों कबूल तौ न फूलि के उमाहिये॥

जिही अङ्ग रङ्ग होय तिही अङ्ग रङ्ग हूजै ऐ दिल सनेही नेह नीके के निबाहिये।
चित्त क्यों न चाह मरो, आपु चाह चूल्हे परो प्रीतम जो चाहै चाह सोई चाह चाहियें॥

दृष्टान्त—राजाके सेवक का—एक राजाका स्वामिभक्त सेवक अपनी सेवा-सावधानीसे राजाका अत्यन्त प्रिय-पात्र बन गया था। राजा उसे हमेशा सग-सग रखते। बड़ा प्यार करते,अपने जो खाते,उसे भी वही खिलाते। इस प्रकार दोनोंका परस्पर मधुर भाव था। एक दिन राजासाहब ककड़ी खा रहे थे। संयोग से वह कड़वी निकली। उन्होने सेवक के हाथ मे दे दिया। सेवक ने बड़े प्रेम से उसे वैसे ही खाया जैसे पहले राजा के हाथ से मिली मिठाइयाँ खाता था। राजा ने विस्मित होकर पूछा—तुमको ककड़ी कड़वी नही लगी? तुमने उसे फेक क्यों नहीं दिया? तब सेवक ने हाथ जोड़कर कहा—

ज्यहि नित्त लड़ाय खवाय पिवाय दियो सुख सर्व सनेह बड़ाई।
अरु दूरि किये दुख द्वन्द्व सबै हरि लीन अशेष कुरोग खुटाई॥
ज्वहिनाथ सनाथ कियो सबही विधि जाय न वर्णि कृपा बहुताई।
अस ईश रजाय रहै प्रतिकूल तवौ अनुकूलहि जानहु भाई॥

राजा सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—'आज तुमने मुझे यह उपदेश दिया कि जो परमात्मा हमें नित्य अनेक प्रकार का सुख देता है, उसी के हाथसे यदि कभी दुःख भी आवे तो उस दुःखको प्रसन्नता पूर्वक भोग लेना चाहिये। मंगल-भवन अमंगल हारी के प्रत्येक विधान को मङ्गलमय ही मानना चाहिये।' उस दिन से राजा उस सेवक को और भी अधिक प्यार करने लगा। वही सेवक सन्त लुकमान के नाम से प्रसिद्ध हुये। उसी प्रकारसे ये भगवत्पार्षद और भी श्रीहरि वल्लभ हो गए।

यां ले रीति हद्द गाई—सदा सर्वदा अनुकूलभाव से सेवा करने वाले भगवत्पार्षदो ने स्वामी की इच्छा विचारकर सहर्ष प्रतिकूलभाव को भी अङ्गीकार कर लिया, यह आज्ञा पालनरूप रीति की सीमा है। यथा—

हरिलोक निवास कहाँ हरि के संग लंक निशाचर संग कहाँ।
सुखदिव्य सुभोग कहाँ प्रभु धाम के, भक्ष्य अभक्ष्य अभंग कहाँ॥
नित ब्रह्म अनन्द कहाँ तहँ के यहँ द्वेष कुराग कुढंग कहाँ।
हरि आयसु जानि सुमानि लियो असि प्रीति की रीति को रंग कहाँ॥ (भ०व०टि)

हरिवल्लभ सब प्रार्थौं जिन चरण रेणु आसाधरी॥
कमला, गरुड़, सुनन्द आदि षोडश प्रभु पद रति।
हनुमन्त जामवन्त सुग्रीव विभीषण शबरी खगपति॥
ध्रुव उद्धव अम्बरीष विदुर अक्रूर सुदामा।
चन्द्रहास चित्रकेतु ग्राह गज पाण्डव नामा॥
कौषारव कुन्ती वधू पट ऐंचत लज्जा हरी।
हरिवल्लभ सब प्रार्थौं जिन चरण रेणु आसाधरी॥६॥

शब्दार्थ—षोडश=सोलह। रति=प्रीति, अनुराग। कोषारव=मैत्रेयमुनि। ऐंचत=खीचते समय। हरी=भगवान। वल्लभ=प्यारे। प्रार्थौं=प्रार्थना करौ। रेणु=रज।

भावार्थ—श्रीलक्ष्मीजी, गरुडजी, सुनन्द आदि सोलह पार्षद, हनूमानजी,जाम्बवानजी,सुग्रीवजी, विभीषणजी, खगपति जटायुजी, ध्रुवजी, उद्धवजी, अम्बरीषजी,विदुरजी, अक्रूरजी, सुदामाजी चन्द्रहास जी, चित्रकेतुजी गजेन्द्र, ग्राह, पाण्डव (युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव) कुन्तीजी, और द्रौपदीजी, जिनकी लज्जा दुःशासनके वस्त्र खीचते समय भगवान ने रक्खी। इन सबकी प्रभुके पादपद्मोंमें पीति है। इन हरिके प्यारे भक्तों की मैं प्रार्थना करता हूँ। इनके चरणों की रजको प्राप्त करनेकी आशा मनमें धारण की है ॥६॥

व्याख्या—हरिवल्लभ—प्राणि मात्रके वल्लभ अर्थात् अत्यन्त प्रिय भगवान हैं। यथा—'असको जीव जन्तु जगमाही। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं।' पुनश्च—नारद जानेउ नाम प्रतापू।'जगप्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू॥ आदि ऐसे श्रीहरि के वल्लभ (प्रियतम) हैं हरि-भक्त। यथा—शबरीजी से नवधा-भक्ति का वर्णन कर श्रीरामजी कहते हैं कि—'नवमहँ एकउ जिनके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥ सोइ अतिशय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भक्ति दृढ़ तोरे॥ पुनश्च—'पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ। सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥''सोइ सेवक प्रियतम मम सोई।' आदि (रा० च० मा०)

सब प्रार्थौं—प्रार्थना, आराधना का एक मुख्य अंग है। या यो कहे कि 'प्रार्थना, आराधना, उपासना, अर्चा-पूजा, आदि समस्त साधनो का प्राण है' तो भी अत्युक्ति नही होगी। प्रार्थना बिना साधना अधूरी है। परन्तु केवल प्रार्थना से ही साधना पूरी देखी गई। भगवान के जितने भी अवतार होते हैं प्राय. सबमे प्रार्थना से प्रादुर्भाव का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। पुराणो में तो ऐसे प्रसङ्गो का प्राचुर्य है ही, दैनिक जीवन मे भी अन्य साधनो के अभाव मे केवल प्रार्थना से ही अभीष्ट सिद्धि होते देखी जाती है। विशेष विवशता मे, संकट काल में प्रार्थना के सिवा अन्य साधन सम्भव भी नही है। गजेन्द्र ने,द्रौपदी ने केवल प्रार्थना ही की थी, भगवान ने उनका अभीष्ट पूर्ण किया। अतः श्रीनाभाजी भी सबकी प्रार्थना करते है।

जिन चरण रेणु आसाधरी—जिस भक्ति के कारण भक्त भगवान के वल्लभ बन जाते है वह भक्ति भक्तो के चरण रज के सेवन से ही प्राप्त होती है। यथा—रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा। नच्छन्दसा नैव जलाग्नि सूर्यैर्विनामहत्पादरजोऽभिषेकम्॥ (अर्थ—हे रहूगण! महापुरुषो के चरणों की धूलि से अपने को नहलाये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादिके दान, अतिथि सेवा,दीन सेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्य की उपासना आदि किसी भी साधन से यह भगवद् भक्ति प्राप्त नही हो सकती। पुनश्च—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥'भा०)

अर्थ—जो लोग अकिञ्चन भगवत्प्रेमी महात्माओ के चरणो की धूलि मे स्नान नही कर लेते, उन लोगों की बुद्धि,वैदिक कर्मों का पूरा-पूरा अनुष्ठान करने पर भी जन्म मृत्यु रूप अनर्थ का सर्वथा नाश करने वाले भगवान के चरण कमलों का स्पर्श नही कर सकती।

यही कारण है कि उद्धवजी सरीखे परम ज्ञानवान भी परम भागवती व्रज देवियों के चरण रज की अभिलाषा करते हैं। यथा—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥(भा०)

अर्थ—मेरे लिये तो सबसे अच्छी बात यह होगी कि मैं वृन्दावन धाममें कोई झाड़ी,लता अथवा औषधि-जड़ी-बूटी ही बन जाऊँ। अहा! यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा तो मुझे इन व्रजाङ्गनाओं की चरण धूलि निरन्तर सेवन करने को मिलेगी। इनके चरणरज में स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं ये गोपियां। देखो तो सही, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजन-सम्बन्धियों तथा लोक-वेद की आर्य-मर्यादाओं का परित्याग करके इन्होंने भगवान की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है। औरों की तो बात ही क्या-भगवद्वाणी, उनकी निःश्वासरूपा समस्त श्रुतियां, उपनिषदें भी अब तक भगवान के परम प्रेममय स्वरूप को ढूँढ़ती ही रहती हैं प्राप्त नहीं कर पातीं॥

और की तो बात ही क्या, स्वयं भगवान भी भक्तों की चरण रजके लिये लालायित रहते हैं। **यथा—निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्। अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥ (भा०)**
अर्थ—जिसे किसी की अपेक्षा नहीं, जो जगत के चिन्तन से सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन चिन्तन में तल्लीन रहते हैं और राग-द्वेष न रख कर सबके प्रति समान दृष्टि रखते हैं, उन महात्माओं के पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उनके चरणों की धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ। अतः श्रीनाभाजी कहते हैं कि—जिन चरण रेणु आसाधरी।

हरि के जे वल्लभ हैं दुर्लभ भुवन मांझ तिनहीं की पदरेणु आसा जिय करी है।
योगी यती तपी तासों मेरो कछु काज नांहि प्रीति परतीति रीति मेरी मति हरी है।
कमला गरुड़ जाम्बवान सुग्रीव आदि सबै स्वाद रूप कथा पोथिन में धरी है।
प्रभुसों सचाई जग कीरति चलाई अति मेरे मन भाई सुखदाई रस भरी है ॥२६॥

शब्दार्थ—दुर्लभ=अप्राप्त, कठिनता से मिलने वाले। भुवन=चौदहभुवन,संसार। योगी=कोरे योगी, हठ योगी। तपी=तपस्वी, तप करनेवाले।

भावार्थ—जो भगवानके प्यारे भक्त हैं वे चौदहो भुवनों में दुर्लभ हैं, मैंने उन्ही की चरणरेणुको प्राप्त करने की आशा की है। भक्ति हीन जो कोरे योगी, सन्यासी और तपस्वी हैं,उन लोगों से मेरा कुछ भी प्रयोजन नही है। भक्तों की प्रीति, विश्वास और उपासनाकी रीतिने मेरी बुद्धि को अपनी ओर खींच लिया है। लक्ष्मी, गरुड़,जाम्बवान और सुग्रीव आदिकोंकी अति मधुर कथाये पुराण आदि ग्रन्थों में लिखी हैं। जिन भक्तों ने प्रभुसे निष्कपट सच्चा प्रेम किया तथा संसारमें अपनी और भगवानकी कीर्ति फैलाई, उनकी वह रसमयी मधुरगाथा मेरे मनको बहुत अच्छी लगी क्योंकि वह सुनने-सुनाने में हृदयको सुखं देनेवाली है ॥२६॥

व्याख्या—हरि के ...... भुवन माँझ—भगवान को जो प्यारे हैं, ऐसे महाभागवत सुदुर्लभ होते हैं। यथा—मुक्तानामपिसिद्धानां नारायण परायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥ (भा०) अर्थ—हे महामुने! करोडो जीवन्मुक्तों तथा परम सिद्धों में भी परम शान्त चित्त वाला श्रीनारायण परायण भक्त अत्यन्त दुर्लभ है॥ पुनश्च—गिरौ गिरौ न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे। साधवो नहि सर्वत्र चन्दनं न वने वने॥ अर्थ—सभी पर्वतोमे माणिक्य नही होते,सभी हाथियों में मुक्ता नहीं होती, सभी वनो मे चन्दन नही होता और सर्वत्र साधु नही होते हैं। पुनश्च—अमृतसर देखा नहीं, पारस को न पहार। प्रेम छके देखे नहीं मै हरिभक्त हजार॥ (भ०व०टि०) पुनः—सवते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥ (रा०च०मा०)

योगी ...... नाहिं—यथा—जोगी ज्ञानी कर्मठी, तपसी से अति दूर। नागर रसिक अनन्य नित, रहत नैन भरि पूर॥ योगी रोगी भक्त बावरे ज्ञानी पूत निखट्टू। कर्म काण्डी ऐसे डोलै, ज्यों भाड़ेको टट्टू॥ दूधाधारी पर घर चित्त। नागा माँगै लकड़ी नित्त॥ मौनी चहैं मीत की आस। गुदड़िया बावा रहैं उदास॥ अतः इनसे मेरो कुछ काज नाहिं॥ दूसरी बात यह कि इनकी शरण लेने पर ये लोग योग, ज्ञान, जप-तप, सयम-व्रत का ही उपदेश करेंगे और इनकी मुझमें क्षमता नही है। तीसरे—यदि जैसे तैसे कर भी सकूँ, तो इन साधनों से, दैन्य जो भगवान को प्रिय है—वह न होकर अभिमान—जिससे भगवान को चिढ़ है—वह सहज ही हो जाता है।

दृष्टांत—तपस्वी जी का—एक तपस्वीजी वन में निवास करते हुए कठिन तप करते थे। जाड़े के दिनो में जल-शयन, गर्मी में पंचाग्नि, वर्षा में खुले आकाशके नीचे रहकर बूँद-आघात-सहन, इस प्रकार का कठोर साधन करते-करते कई हजार वर्ष वीत गये। जिस पाषाण पर बैठकर ध्यान करते थे वह पाषाण घिस गया था।जहाँ योगासन आदि करते वहाँकी शिलामें अगोंकी गतिविधिके अनुसार गड्ढे हो गये थे। करुणावरुणालय भगवान उनकी इस तितिक्षा पर द्रवित होकर दर्शन देने आये, वरदान देने आये। तपस्वी जी ने भगवान का दर्शन किया, दण्डवत्प्रणामादि शिष्टाचार किये। तदनन्तर भगवान ने कहा—तपस्वी जी! मैं आपके तप से द्रवीभूत होकर यहाँ आया हूँ। आप जो चाहे सो वर मुझसे माँग लीजिए। तपस्वीजी ने—'समझी नहिं हरि गिरा निगूढ़ा।' अपनी तपस्या का अभिमान हो आया कि मेरे तपोवल से भगवान भी खिंचकर आगये और वर देने की सिफारिश कर रहे हैं। अतः अकड़ कर वोले—माँगना क्या है? मेरी साधनाका हिसाव कर लीजिए। आप तो जानते ही हैं कि मैंने इतने हजार वर्ष तप किया है। यह कहकर तपस्वी ने भगवान की कृपा की अवज्ञा की। भगवान हँस गए इनके अभिमान पर, इनकी अज्ञता पर।

सच तो यह है कि जैसे उदार चेता कृपालु स्वामी कभी-कभी सेवक के साधारण कार्य पर भी सन्तुष्ट होकर वड़ा से वडा पुरस्कार दे देता है। इसमे गौरव कार्य का नही, स्वामीके सद्गुणो का होता है। यही हाल भगवान का भी है। परन्तु इनके गर्व को देखकर भगवान ने कहा—तपस्वीजी! आज मैं आपका हिसाव-किताव तो नही लाया हूँ। वैसे आपका प्रतिदिन का लेखा-जोखा मेरे पास है। मैं कल लेकर आऊँगा। ऐसा कहकर भगवान अन्तर्धान हो गए, उन्होने ऐसी माया रची कि सहसा अत्यन्त ताप वढा। जगल के समस्त जलस्रोत, नदी नाले सूख गये। वृक्ष झुलस गये, फल-फूल का नाम नहीं रह गया। जलके विना तपस्वीजी के प्राण कण्ठगत होने लगे। धैर्य छूट गया। उसी समय भगवान वेष वदलकर एक

घड़ा ठण्डा पानी लेकर उसी मार्ग से निकले। तपस्वी की तृषार्त आँखों ने जीवनाधार को देखा। तपस्वी जीके मुँहसे बोल तो निकलता नही था, हाथके सकेतसे ही समीप बुलाकर जल पिलाने को कहा। भगवान ने प्रथम तो आना-कानी करी कि मैं अपने आदमियो (भक्तों) के लिए जल ले जा रहा हूँ तुम्हे कैसे पिलाऊँ परन्तु तपस्वी के अधिक आग्रह करने पर प्रभु ने कहा—वाबा जी ! आपने वहुत तप किया है। वोलो, जल पी लोगे तो मुझे क्या दोगे ? तपस्वी ने कहा—मेरे प्राण बचाओ, मैं अपनी आधी तपस्या तुमको दे दूँगा। भगवान ने जल पिलाया। लगभग आधा घड़ा जल पी गये, आधी तपस्या गई।

दूसरे दिन प्रभु पुनः अपने रूपमें उपस्थित हुये। पूर्ववत् दण्डवत् प्रणामोपरान्त तपस्वीजी बोले-क्यों महाराज ! मेरा हिसाव लाए ? भगवान ने कहा—लाया हूं, आधे घड़े जल में आधी तपस्या तो पूरे घड़े जल में पूरी तपस्या। सो मैं आधे तप का फल आधा घड़ा जल देने के लिये तैयार हूँ परन्तु पहले तुम अव मेरा हिसाव देलो; तव मैं तुम्हारा चुकाऊँगा। जीवन पर्यन्त तुमने मेरा जल पीया है। स्नान किया है, मेरी पृथ्वी पर सोया है, मेरे फल फूल खाये हो। मेरे ही चन्द्रमा और सूर्य के प्रकाश में पले हो। मेरी वायु में श्वास लिये हो। अव तपस्वीजी की अक्ल ठिकाने हुई, लगे काँपने। इधर प्रभु कड़े हुये—हरि जैसें को तैसा। खुरपी में टेढ़ा बैसा॥ वोले—मेरा हिसाव चुकाओ नहीं तो नरक के लिए प्रस्तुत हो जाओ। तपस्वीजी 'त्राहि, त्राहि' करते हुये चरणोंमे गिरकर कृपाकी भीख माँगने लगें। भगवानने कहा—मूर्ख ! मैं तो कृपा करने आया ही था परन्तु तूने मेरी अहैतुकी कृपा को अपनी तपस्या का चमत्कार समझा। फिर प्रभु ने कृपा करके तपस्वी जी को भक्ति दान दिया॥ अतः काज नाहि।

पुनश्च—योगी...... काज नाहिं—का एक हेतु स्वयं भी वताते है कि—प्रीति परतीति रीति मेरी मति हरी है—प्रियतम तो प्रीति से प्रसन्न होते है, मिलते है, सदा-सदा के लिये अपने हो जाते हैं। यथा—प्रीतम प्रीतिही ते पैये। (गोविन्द स्वामी) अतः भक्त भगवानसे प्रीति करते है। यथा—व्रजदेवियों की प्रीति—

> मीन की प्रीति जथा जल में अरु मोर की है घन माल में जैसी।
> प्रीति यथा करि की करमें फणिकी मणि ज्योति विशालमें जैसी॥
> प्रीति विहारी चकोरिनिकी छनदा पति के छबि जाल में जैसी।
> नेही विचारि के नीके लखो व्रजगोपिन प्रीति गुपाल में तैसी॥

पुनश्च— तौंक पहिरावौ पांव बेरी लै भरावो, गाढ़े बन्धन बँधाओ औ खिचावो कांची खाल सों।
विष लै पिआवो, तापै मूठहू चलाओ माझधार में डुवाओ बाँधि पाथर कमाल सों॥
बिच्छू लै बिछावो, तापै मोहि ले सुलावो, फेरि आग भी लगावो बांधि कापर दुसाल सों।
गिरि से गिरावो काली नागसे डसावो हा हा प्रीति ना छुड़ावो गिरिधारी नन्दलाल सों॥

परन्तु ऐसी प्रीति होती है परतीति से। 'विनु परतीति होइ नहि प्रीती।' अतः भक्तोंकी भगवान में दृढ़ प्रतीति होती है। यथा—

> पाप हरे परिताप हरे तनु पूजि भो हीतल सीतलताई।
> हंस कियो बक ते बलि जाउँ कहाँ लौं कहौं करुना अधिकाई॥

काल विलोकि कहैं तुलसी मन में प्रभु की परतीति अघाई।
जन्म जहां तहँ रावरे सों निवहै भरि देह सनेह सगाई।।

दोहा— एक भरोसो एक वल, एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास।

तथा सभी भक्तों की उपासना की अलग-अलग रीति होती है। यथा—

'रसिक मुरारि साधु सेवा विसतार कियो पावै कौन पार रीतिभांति कुछ न्यारियै।'
'रांका पति वांका तिया वसै पुर पण्ढर में उर में न चाह नेकु रीति कुछ न्यारियै।।'
'हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोउ जानि है।'
'वीनै तानोवानो हियें रामै मउरानो कहिं कैसे कै वखानौ वह रीति कछु न्यारियै।'
'औरं एक न्यारी रीति आंसू पिचकारी मानो उभै लाल प्यारी भावसागर समात है।' आदि।

उपर्युक्त भक्तों की प्रीति परतीति, रीति ने मेरी वुद्धि को हर लिया है अतः इनको छोड़ कर अन्य से मेरा कोई प्रयोजन नहीं।

श्रीकमला(लक्ष्मी)जी—भगवानका संग कभी न छोड़नेवाली जगज्जननी श्रीलक्ष्मीजी नित्य है और जिस प्रकार श्रीविष्णु भगवान सर्व व्यापक हैं। वैसे ही ये भी है विष्णु अर्थ है ता लक्ष्मीजी वाणी है, हरि न्याय हैं तो ये नीति है। भगवान विष्णु बोध हैं तो ये वुद्धि है। तथा वे धर्म हैं। तो लक्ष्मी जी सत्क्रिया हैं। यथा--नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी। यथा सर्वगतोविष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम।। अर्थोविष्णुरियं वाणी नीतिरेषा नयो हरिः। बोधो विष्णुरियं बुद्धिर्धर्मोऽसौ सत्क्रिया त्वियम् ।।(वि०पु०) श्रीहरि और श्रीहरि प्रिया का यह तात्विक ऐक्य श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी वर्णन किया है। यथा—गिरा अरथ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। वन्दौं सीताराम पद, जिनहिं परम प्रिय खिन्न।। इन्द्र ने भी लक्ष्मी जी की प्रार्थना करते हुये उपर्युक्त सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। यथा—त्वंमाता सर्व लोकानाँ देव देवो हरिः पिता। त्वयैतद् विष्णुना चाम्ब जगद् व्याप्तं चराचरम्।।(वि० पु०)अर्थ—हे अम्ब! तुम सभी लोको की माता हो तथा देव देवेश्वर विष्णु पिता है। तुमसे और भगवान विष्णु से यह स्थावर-जगम जगत् व्याप्त है।

सर्व शक्तिमान भगवान जव जव लीला-शरीर धारण करते हैं तव तव महाशक्ति भी उनका अनुसरण करके लीला-शरीर धारण करती है और उनकी लीला में सहयोग देती है। यथा—

राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि। अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी।।
देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी। विष्णुर्देहानुरूपां वै करोत्येषाऽऽत्मनस्तनुम्।।

अर्थ—श्रीराम रूप मे अवतार लेने पर श्रीसीता के रूप में अवतरित हुईं। वे ही कृष्णावतार मे रुक्मिणी हुईं। इसी तरह अन्यान्य अवतारों में भी वे प्रभु से पृथक नहीं हुईं। देव वनने पर देवी वनती हैं। मानवावतार ग्रहण करने पर मानवी वनती है। भगवान विष्णु के अनुरूप ही ये भी लीला शरीर धारण करती हैं।

वैसे तो श्रीलक्ष्मीजीका स्वरूप,रूप,गुण,विभव और ऐश्वर्य शील आदि भगवान नारायणके अभिमत और अनुरूप ही है, परन्तु जगत्पिता होने के कारण भगवानमें, जहां कभी-कभी जीवों के कुपथ गामी होने पर पितृसुलभ हितकारी कोप भी दृष्टिगोचर होता है वहां जगज्जननी में तो जीव की अपराध दशा में भी वात्सल्य, क्षमा, करुणा आदि गुण ही देखने में आते हैं। यह वात श्रीजी में विशेष है। जब कभी भगवान अपराधी जीव को दण्ड देकर शुद्ध करने का विचार करते हैं तो जगज्जननी अपने सहज मातृस्वभाव से प्रेरित होकर विविध प्रयत्नों द्वारा जीव को क्षमा दान दिलवाकर उसे दण्ड मुक्त कराती है। यथा—

पितेव त्वत्प्रेयान् जननि परिपूर्णागसि जने,
हित स्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित् कलुषधीः।
किमेतन्निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितै-
रुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः॥ (श्रीगुणरत्नकोश)

अर्थ—हे माता! परिपूर्ण पापी जीव के विषय में हित करने की वृत्ति से पिता के समान आप के स्वामी जब कभी कुपित होते हैं। उस समयमें आप—'यह क्या हुआ?' 'इस जगतमें अपराध रहित कौन है?' आदि इस प्रकार के उपायों से इस जीव के अपराधों को ईश्वरके चित्त से भुलाकर उसे अपनाती हैं। इस कारण से आप हम लोगों की माता हैं।

यह तो रही नित्य धाम की वात। लीलावतारकालमें भी जगज्जननी का करुणा-सागर उमड़ता हुआ ही दिखाई पड़ता है। महापराधी जयन्त के लिये भी आप का वात्सल्य उमड़ पड़ा तो और की तो बात ही क्या? यथा—

पुरतः पतितं देवी धरण्यां वायसं तदा।
तच्छिरः पादयोस्तस्य योजयामास जानकी॥
प्राण संशयमापन्नं दृष्ट्वा सीताथवायसम्।
त्राहि त्राहीति भर्त्तारमुवाच दयया विभुम्॥
तमुत्थाप्य करेणाथ कृपा पीयूष सागरः।
ररक्ष रामो गुणवान् वायसं दययैक्षत॥ (प० पु०)

अर्थ—देवी श्रीजानकीजी ने भूमि पर सामने पड़े हुए काक जयन्त के सिरको श्रीरामजीके चरणों में लगा दिया और प्राण जाने के भय से डरे हुए उस कौवे को देखकर श्रीजानकीजी ने दया करके अपने समर्थ स्वामी से 'इसकी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये,इस प्रकार कहा। कृपा निधान श्रीरामजी ने उस कौवे को अपने हाथ से उठाकर उसकी रक्षा की और फिर वे दया दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे।

पुनः जैसे वालक के कुएं में गिरने पर माता उसे निकालने के लिये स्वयं कूद पड़ती है उसी तरह जगज्जननी ने देवाङ्गनाओं सहित देवताओं को रावणके वन्दीगृह में पड़े देख कर उनको निकालने के लिये स्वयं भी वन्दिनी होना स्वीकार किया और जब तक रावण का नाश करा कर उनको छुडा न दिया तब तक श्रीहनुमानजी के साथ भी लौटना स्वीकार नही किया।

इससे भी अधिक करुणामयी माँकी करुणाका दर्शन तो उस समय होता है जब रावण वधोपरान्त श्रीरामजी ने हनुमन्तलाल को विजय-सन्देश सुनाने के लिये श्रीजानकीजी के पास भेजा। इस सुखद संवाद से हर्षोल्लसित मिथिलेशनन्दिनी ने आनन्दमग्न होकर हनुमान से मन भावता वर माँगने को कहा। तब श्रीहनुमानजी ने उन राक्षसियो के चित्रवध (अङ्ग-अङ्ग टुकड़े-टुकड़े कर डालने की क्रिया) करने की आज्ञा माँगी। यह सुनकर जगज्जननी का हृदय दया से विह्वल हो गया। वे श्रीहनुमानजी को समझाती हुई बोली—

न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम्। समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणाः॥
पापानां वाशुभानां वा वधार्हाणां प्लवंगम। कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति॥

अर्थ—पापियों के पापों की ओर धर्मात्मा पुरुष ध्यान नही देते हैं। तुम्हे तो इस मर्यादा की रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि सतो का भूषण सच्चरित्र ही है। पापी हो, अशुभ आचरण वाला हो और चाहे वह वध करने योग्य ही क्यों न हो, सज्जनों को उस पर करुणा करनी चाहिये। क्यो कि ऐसा कोई भी नही, जो अपराध नही करता हो। यह कह कर फिर श्रीजानकीजी ने हनुमानजी को एक कथा सुनाई—

दृष्टांत—भालू और व्याध का—पूर्वकाल मे किसी जंगल में एक बाघ के खदेड़ने पर एक व्याध वृक्ष पर चढ गया। उस वृक्ष पर ऋक्ष (भालू) निवास करता था। वृक्ष के समीप जाकर बाघ ने भालू से कहा कि तुम इस व्याधको अपने वृक्षपर से नीचे गिरा दो क्योकि यह हम लोगो का शत्रु है। भालू ने कहा—मेरे निवास स्थान पर आये हुए इस व्याध को मैं नही गिराऊँगा, ऐसा करने से शरणागति धर्म मे महान कलङ्क लग जायेगा। ऐसा कहकर भालू सो गया। तव वाघ ने व्याध से कहा कि मैं तुमको छोड दूँगा, तुम सोये हुए भालू को वृक्ष से गिरा दो। दुष्ट व्याध ने सोये हुए भालू को वृक्ष पर से ढकेल दिया, किन्तु पूर्व अभ्यास के बल से भालू वृक्ष की शाखा को पकड़ कर वच गया। नीचे नही गिरा। तव बाघ ने भालू से कहा—देखो कैसा दुष्ट यह व्याघ है। तुम्हारे साथ इसने विश्वासघात किया अतः अव इस विश्वासघाती व्याध को तुम नीचे ढकेल दो। बाघ के इस प्रकार वार-वार कहने पर भी भालू ने व्याध को नीचे नही गिराया और वाघ से कहा कि मैं इस अपराधी की भी रक्षा करूँगा। क्योकि शरणागति धर्म में अपराधियों की भी रक्षा का विधान है।

यहाँ प्रसङ्गवश एक वात और कह दूँ कि श्रीजानकीजी ने राक्षसियों की रक्षा में शरणागति धर्मका हवाला दिया है। प्रश्न होगा कि ये दुष्ट-स्वभावा राक्षसियाँ शरण मे कब आईं? समाधान—सुन्दर काण्ड में जव त्रिजटा ने श्रीराम विजय सूचक अपने स्वप्न का वृत्तान्त राक्षसियों से कहा, तव सभी राक्षसियाँ अत्यन्त भयभीत होकर त्रिजटासे अपनी रक्षा का उपाय पूछने लगी। उस समय त्रिजटा ने कहा कि यद्यपि तुम लोगोने वैदेही को वहुत सताया है परन्तु मैं उनके स्वभाव को जानती हूँ, वह प्रणाम मात्र से ही प्रसन्न हो जाती हैं। अत. सव राक्षसियों के महान भय से रक्षाके लिये श्रीमैथिली की प्रणति-मात्र ही पर्याप्त है। यथा—प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा। अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात्॥ (वा०) राक्षसियाँ आपस में यह विचार विमर्श ही कर रही थी, अभी प्रणाम किया भी नहीं, इधर करुणामयी माता ने केवल प्रणाम करने की वात सुनकर उनकी शरणागति मान ली। यथा—

ततः सा ह्रीमती बाला भर्तु विजयहर्षिता। अवोचद्यदि तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः॥ अर्थ—प्रियतम विजय से हर्षित हृदया श्रीजानकीजीने अपनी ओर से उन राक्षसियों से कहा—यदि सचमुच मेरे प्रियतम विजयी होंगे तो मैं तुम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कर लूँगी। धन्य करुणा। (वा०)

इस प्रकार प्रणाममात्र भी न करने वाली राक्षसियों को स्व-स्वभाववश ही शरणागत मानकर श्रीहनुमानजीसे समझा-बुझाकर रक्षा करायीं। श्रीजानकीजीके इस निर्हेतु-वत्सल स्वभाव पर मुग्ध होकर श्रीभट्टार्क स्वामी कहते है कि—

मातर्मैथिलि ! राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया,
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता।
काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः,
सा नः सान्द्रमहागसः सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी॥

अर्थ—हे माता ! हे मैथिलीजी ! तात्कालिक अपराध करने वाली राक्षसियों की श्रीहनुमान से रक्षा कराने वाली आपकी कृपा ने, 'मैं आपकी शरण हूँ' ऐसा वचन कहने वाले शरणागत जयन्त और विभीषणजी की रक्षा कराने वाली श्रीरामजी की कृपाको अत्यन्त लघु सिद्धकर दिया। वह आपकी निर्हेतु-की कृपा अत्यन्त पापी हम सरीखे आश्रितों को सुखी करे॥ (श्रीगुणरत्नकोश)

ऐसी, भगवान नारायण के समान रूप, गुण, वैभव वाली, कृपा गुणाधिका श्रीलक्ष्मीजी तत्वतः भगवान से अभिन्न होकर भी नित्य पत्नी भावको स्वीकार कर अत्यन्त अनुराग पूर्वक भगवान को भजती हैं। यथा—ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः। सा श्रीः स्ववासमरविन्द-वनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता॥ अर्थ—जिनका कृपा कटाक्ष प्राप्त करने के लिये ब्रह्मादि देवता भगवान के शरणागत होकर बहुत दिनों तक तपस्या करते रहे, वही लक्ष्मी जी अपने निवासस्थान कमलवन का परित्याग करके बड़े प्रेमसे जिनके चरण-कमलों की सुभग छत्र छाया का सेवन करती हैं॥ पुनश्च—'जिनके चरणकमल कमलाके करतल ते न निकलते देखा।'

कोसलेन्द्र पदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावज महेशवन्दितौ। जानकी करसरोज लालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ॥ अर्थ—कोसलपुरी के स्वामी श्रीरामचन्द्र जी के सुन्दर और कोमल दोनों चरणकमल ब्रह्माजी और शिवजीके द्वारा वन्दित हैं, श्रीजानकीजी के करकमल से दुलराये हुए हैं और चिन्तन करने वाले के मनरूपी भौंरे के नित्य संगी हैं। पुनश्च—

चौ०—पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभा खानि सुशील विनीता॥
जानति कृपा सिन्धु प्रभुताई। सेवति चरण कमल मन लाई॥
जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। विपुल सदा सेवा विधि गुनी॥
निजकर गृह परिचर्या करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥
विधि हरि हर ब्रह्मादि बन्दिता। जगदम्बा संततमनिन्दिता॥

जासु कृपा कटाक्ष सुर चाहत चितव न सोइ।
राम पदारविन्दरति, करति सुभावहि खोइ॥ (रामा०)

पुनश्च— र्कहिचित् सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम् ।
पतिं पर्यचरद् भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः ॥(भा०)

अर्थ—एक दिन समस्त जगत के परमपिता और ज्ञान दाता भगवान श्रीकृष्ण रुक्मिणीजी के पलग पर आराम से बैठे थे । भीष्मक नन्दिनी श्रीरुक्मिणीजी सखियों के साथ अपने पतिदेव की सेवा,कर रही थी । उन्हें पङ्खा झल रही थी । वालव्यजनमादाय रत्नदण्डं सखीकरात् । तेन वीजयती देवी उपासाञ्चक्र ईश्वरम् ।। अर्थ—रुक्मिणीजीने अपनी सखी के हाथ से वह चँवर ले लिया, जिसमे रत्नो की डाँडी लगी थी, और परम रूपवती लक्ष्मीरूपिणी देवी रुक्मिणीजी उसे डुला-डुला कर भगवान की सेवा करने लगी ।। यही कारण है कि ईश्वरी होने पर भी श्रीलक्ष्मीजी की भक्तों में भी गणना को जाती है ।

श्रीलक्ष्मीजी की भगवन्निष्ठा का उद्घाटन तो उस समय होता है जब अमृत के उद्देश्यसे समुद्र मन्थन किये जाने पर अन्य विविध रत्नो के साथ वह स्वयं प्रकट होती है । उस समय देवता-दैत्य, मुनि, मानव, सभी ने चाहा कि ये हमको मिल जायँ परन्तु श्रीलक्ष्मीजी तो चाहती थी कि मुझे कोई निर्दोष और सर्व गुण सम्पन्न अविनाशीपुरुष मिले तो मैं उसे अपना आश्रय बनाऊँ, वरण करूँ । परन्तु गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध, चारण, देवता आदि में कोई भी वैसा पुरुष उन्हें न मिला । रहे एक भगवान विष्णु । श्रीलक्ष्मीजीने देखा कि इनमें सभी मङ्गलमय गुणनित्य निवास करते हैं,परन्तु ये तो मुझे चाहते ही नही । मेरी ओर पीठ किये समुद्राभिमुख हो उसकी तरगे गिन रहे है । तो भी श्रीलक्ष्मीजीने अपने चिर अभीष्ट भगवान को ही वर के रूप मे चुना । तो भगवानने भी श्रीलक्ष्मीजीकी इस निष्ठासे प्रभावित होकर उन्हें अपने वक्षः स्थल पर ही सर्वदा निवास करने का स्थान दिया ।। इस प्रसङ्ग से हमें यह शिक्षा मिलती है कि नही चाहने पर भी भजने योग्य भगवान ही है । तथा सर्वतोभावेन भजने वालेको भगवान अपने हृदय में बसाते हैं । यथा—अस सज्जन मम उर बस कैसे । लोभी हृदय बसै धन जैसें॥

श्री गरुड़ जी—

चौ०— गरुड़ महाज्ञानी गुण रासी । हरि सेवक अति निकट निवासी ॥ (रा० च० मा०)

दक्ष प्रजापति की कद्रू और विनता नाम की दो कन्याएँ जो महर्षि कश्यप से व्याही गई थी, पुत्र कामना से वड़े अनुराग पूर्वक पति की सेवा करने लगी । सेवा से सन्तुष्ट महर्षि कश्यप ने जब दोनों को मन भावता वर मागने को कहा । कद्रू ने समान शक्ति वाले एक हजार नागों को पुत्र रूप में पाने का वर मांगा । विनता ने कद्रू के पुत्रो से सभी गुणो मे श्रेष्ठ केवल दो पुत्रों का वर मांगा । ऋषि ने एवमस्तु कहा । फल स्वरूप कालान्तर मे कद्रू ने एक हजार और विनता ने दो अण्डे दिये । पांच सौ वर्ष तक अण्डों का सेवन करने के अनन्तर कद्रू के हजार नाग पुत्र तो अण्डो से वाहर आगये, परन्तु विनता के अण्डे ज्यो के त्यो रहे । अधीर होकर विनता ने एक अण्डा स्वय फोर डाला तो देखा—पुत्र के शरीरका उपरी भाग पूर्णरूपसे विकसित एवं पुष्ट था किन्तु नीचेका आधा अ ग अभी अधूरा रह गया था । माता की इस नादानी से क्रुद्ध होकर पुत्र ने शाप दे दिया कि तूने जिस सौत की ईर्ष्यावश आतुरता के कारण मुझे अधूरे शरीर वाला वना दिया, उसी की पांच सौ वर्षों तक दासी बनी रहेगी,और यह तुम्हारा दूसरा पुत्र तुम्हे दासी भाव से मुक्त करेगा । परन्तु धैर्य रखना, कही आतुरता मे इस अण्डे को भी नही फोड़ देना । तेजोमय अरुण कान्ति के कारण विनता के उस प्रथम पुत्र का नाम अरुण पड़ा और ब्रह्माजी की

आज्ञा से वे सूर्य के सारथी बने। तदनन्तर समय पूरा होने पर श्री गरुड़जी का जन्म हुआ। उस समय वे प्रलय काल की अग्नि के समान प्रज्वलित एवं प्रकाशित हो रहे थे। श्रीगरुड़जी के तेज को न सह सकने के कारण देवताओं ने उनकी स्तुति की तो इन्होंने अपना तेज समेट लिया।

कद्रू और कद्रू-पुत्र नागों के द्वारा बार-बार दासवत् व्यवहार किये जाने पर श्रीगरुड़ जी ने जब इसका हेतु पूछा तो विनता ने कद्रू के कपट की कथा सुनायी। बात यह हुई कि एक बार दोनों में सूर्यके घोड़ेकी, अथवा क्षीरसमुद्र से निकले हुये उच्चैः श्रवा नामक घोड़ेकी पूँछके रंग के विषय में वाद-विवाद हुआ, कद्रू काली बताती और विनता श्वेत। अन्ततो गत्वा यह निश्चय हुआ कि जिसकी बात झूँठी निकले वह दूसरे की दासी होकर रहे। कद्रू की आज्ञानुसार उसके पुत्र नाग घोड़े की पूँछ से जा लिपटे, जिससे वह काली दीख पड़ी। इस चालाकी से कद्रू ने विनताको दासी बनाया और अनेकों कष्ट दिया करतीं थी। यह सब जानकर श्रीगरुड़जी ने नागों से कहा कि हम तुम्हारा क्या काम कर दें जिससे कि मैं और मेरी माता दासभाव से छुटकारा पा जायँ? उन्होंने कहा कि हमें अमृत ला दो।

श्रीगरुड़जी माता को प्रणाम कर, आज्ञा और आशीर्वाद पाकर स्वर्ग में जाकर देवताओं को पराजित कर अमृत के पात्र को लेकर बड़ी तेजी से वहाँ से उड़ चले। अमृत अपने अधिकार में होने पर भी श्रीगरुड़जी स्वयं उसे नही पीये। उनकी यह निस्पृहता देखकर भगवान विष्णु ने प्रसन्न होकर उन्हें बिना अमृत पान के ही अजर-अमर होने का तथा अपनी ध्वजा पर स्थित रहने का एवं अपना वाहन बनने का परम दुर्लभ वरदान दिया। अमृत का अपहरण करके लिये जाते देखकर देवेन्द्र ने रोष में भरकर श्रीगरुड़जी के ऊपर वज्रका आघात किया। परन्तु भगवान से वर पाकर अजर-अमर भये गरुड़-जाने तो वज्रकी मर्यादा रखने के लिये मुस्कराकर अपना एक पंख मात्र गिरा दिया। वैनतेय के इस अद्भुत पराक्रम से प्रभावित होकर इन्द्रने वैरभावका परित्याग कर दृढ़ मैत्री करली। श्रीगरुड़जीने अमृत के सम्बन्ध में अपना भाव व्यक्त किया कि मुझे इसको पीना नही है। माता को दासीपने से मुक्त कराने के लिये मैं इसे सर्पो को सौंपूँगा,आप उनसे ले लेना। इन्द्र ने इस बात से सन्तुष्ट होकर गरुड़जी को,सर्पों को भक्षण करने में समर्थ होने का अभीष्ट वर प्रदान किया।

श्रीगरुड़जी ने अमृत पात्र सर्पो को प्रदान किया। माता को दासीपने से मुक्त किया, स्वयं स्वच्छन्द हुये। सर्प अमृत को कुशों में छिपाकर स्नान करने चले गये इसी बीच में इन्द्र वह अमृत लेकर पुनः स्वर्ग को चले गये। अमृत के अभाव में सर्पों ने लोभवश कुशों को ही चाटना शुरू किया जिससे उनकी जीभ के दो भाग हो गये। तभी से सर्प द्विजिह्व हो गये। तथा तभी से कुशा अमृतका स्पर्श होनेके कारण परम पवित्र हो गया।

श्रीगरुड़जी भगवान सूर्य के पास जाकर वेद पढ़ाने की प्रार्थना किये। परन्तु इन्हें पक्षी होने के कारण अनधिकारी जानकर सूयने वेद पढाने से इन्कार कर दिया। ये बड़े ही उदास तथा अप्रसन्न होकर वहाँ से लौटे। इनकी अप्रसन्नता देखकर सूर्य डर गये कि इनके बड़े भाई अरुण मेरे सारथी हैं, कहीं यह उन्हें भी लेकर चले गये तो मेरा सब काम ही बन्द हो जायगा अतः पुनः गरुड़जी को बुलाये परन्तु इन्होंने तो तपके द्वारा वेद-ज्ञान प्राप्त करने का निश्चय कर लिया था अतः नही लौटे। तब सूर्य ने स्वयं बिना तप किये ही तप-फल-समस्त वेद का बोध होने का वरदान दिया और यह भी कहा कि आपके पङ्खों से निरन्तर-साम-गान की ध्वनि होती रहेगी।

श्रीगरुड़जी सर्वात्मना भगवान की सेवा मे तत्पर रहते हैं। आपकी सेवाओं का स्मरण करते हुये श्रीस्वामी यामुनाचार्य जी कहते हैं कि—

दासः सखा वाहनमासनं ध्वजो यस्ते वितानं व्यजनं त्रयीमयः।
उपस्थितं तेन पुरो गरुत्मता त्वदङ्घ्रि सम्मर्द्दकिणाङ्कशोभिना ॥(आलवन्दार स्तोत्र)

अर्थ—ऋक्, यजुः, सामवेद स्वरूप, आपके चरणकमलों के सघर्ष के चिन्हसे अङ्कित शरीर वह गरुड़जी उचित समयपर आपके दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वजा, वितान तथा पंखा बनकर आपकी सेवा करने के लिये, सदा आपके आगे खड़े रहते हैं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने भी श्रीगरुड़जी को महाज्ञानी गुणराशि, हरि-सेवक, हरि के अत्यन्त निकट निवास करने वाला कहा है। यथा—गरुड़ महाज्ञानी गुणराशी। हरि सेवक अति निकट निवासी॥ भगवान ने अपनी विभूतियों का उल्लेख करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में अपने आपको पक्षियोमें वैनतेय बताया है। यथा—'वैनतेयश्चपक्षिणाम्।'

श्रीनन्दसुनन्द आदि सोलह प्रधान पार्षदों के सम्बन्ध में छप्पय ८ में लिखा जा चुका है।

श्रीहनुमानजी—

सुमिरि पवन सुत पावन नामू। अपने वस करि राखे रामू॥

स्वर्ग की परम सुन्दरी पुञ्जिकस्थला नाम की अप्सरा एक ऋषि का उपहास करने के कारण शाप वश कुञ्जर वानर की कन्या अञ्जना नाम की वानरी के रूप में जन्मी। (कहीं-कहीं अञ्जना को गौतम की पुत्री लिखा है) अञ्जना का विवाह वानरराज केशरी से हुआ। वानर योनि मे भी वह ऋषि के अनुग्रह से इच्छानुसार रूप धारण कर सकती थी। एक बार वह मानवी रूप धारण कर सुन्दर वस्त्र, आभूषण, माला आदि से विभूषित हो पर्वत शिखर पर खड़ी होकर प्राकृतिक सौन्दर्य देख रही थी। पवनदेव ने उसके रूप पर मोहित होकर मन से उसका आलिङ्गन किया। अञ्जना ने अनुभव किया, जैसे मुझे कोई स्पर्श कर रहा हो। फिर तो वे अपने वस्त्रों को सँभालती हुई, अपने स्पर्श करने वाले को डाँट कर बोली—कौन ढीठ मेरे सतीत्व को भङ्ग करना चाहता है ? वे शाप देने के लिये प्रस्तुत ही हुई थी कि सहसा पवनदेव ने प्रकट होकर अञ्जना को आश्वासन देते हुये कहा—मैंने अव्यक्तरूपसे तुम्हारा आलिंगन करके मानसिक सकल्प द्वारा अपने समान बल पराक्रम से सम्पन्न एवं परम बुद्धिमान पुत्र प्रदान किया है। पुत्राभिलाषिणी अञ्जना प्रसन्न होगई पुत्रका वरदान पाकर। जिसके प्रभावसे सब प्रकारसे पवनके समान श्रीहनुमानजी पवन के औरस और केसरी के क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न हुये। (वा०रा०)

चौपाई—पवन तनय बल पवन समाना। बुधि विवेक विज्ञान निधाना॥

दूसरी कथा—एक समय की बात है जब अत्यन्त अद्भुतलीला करने वाले भगवान शिव को श्रीविष्णु के मोहिनीरूप (दैत्यो को मोहित कर उनसे अमृत लेकर देवताओं को पिलानेके लिये भगवान ने यह रूप धारण किया था) का दर्शन प्राप्त हुआ, तब वे कामदेव के बाणो से आहत हुये की तरह क्षुब्ध हो उठे। उस समय उन महेश्वर शिवने भविष्य में श्रीराम कार्यकी सिद्धिके लिये अपना वीर्यपात किया। तब सप्तर्षियों ने उस वीर्य को पत्रपुटक (दोना) मे रख लिया, पश्चात् श्रीरामकार्यार्थ शम्भु के उस वीर्य को अञ्जना में कर्ण मार्ग से प्रवेश करा दिया। उसके फलस्वरूप श्रीहनुमान जी प्रकट हुये। यथा—

'शङ्कर-सुवन केशरी नन्दन। तेज प्रताप महा जगवन्दन ॥'
रुद्र देह तजि नेह बस वानर भे हनुमान। (शिव पुराण शतरुद्र संहिता अध्याय २०)

तीसरी कथा—ब्रह्मलोक की दिव्य अप्सराओं में से सुवर्चला नामक अप्सरा की कुचेष्टा से क्रुद्ध होकर ब्रह्माजीने उसे मर्त्यलोकमें गृध्री हो जानेका शाप दे दिया। अनुग्रहके लिये प्रार्थना करने पर ब्रह्माजीने कहा—राजा दशरथके पुत्रेष्टियज्ञमें अग्निदेव चरुके साथ प्रकट होगे। वह चरु तीनों रानियों में वितरित होगा। तू कैकेयीके भागका चरु लेकर उड़ जायगी। चरु तो तू खा नहीं सकेगी किन्तु उसके स्पर्श-मात्रसे शापसे मुक्त होकर स्व स्वरूप प्राप्त करके ब्रह्मलोकमें आ जाएगी। ब्रह्माजीके वचनानुसार वैसी ही घटना घटी। महारानी कैकेयी जी अपने भाग का पायस हाथ में लिए हुए पाने का विचार ही कर रही थीं कि सहसा आकाश से एक गृध्री झपट कर चरु को अपनी चोंचमें भरकर आकाशमें उड़ चली।

इधर अञ्जनाने पुत्रकी प्राप्तिके लिए सात हजार वर्षो तक आशुतोष भगवान शिवकी उपासना की। प्रसन्न होकर भोलेनाथने कहा—एकादशरुद्रोंमेंसे मेरा अंश ग्यारहवाँ रुद्रही तुम्हारे पुत्रके रूपमें प्रकट होगा। मेरी प्रेरणासे पवन देवता तुम्हें प्रसाद देंगे उस प्रसादसेही तुम्हें सर्वगुण सम्पन्न पुत्रकी प्राप्ति होगी। अञ्जना अञ्जलि पसारे प्रसादकी प्रतीक्षा करती हुई शिवमन्त्रका जपकर रही थीं। उसी समय उक्त गृध्री कैकेयी के भाग का पायस लिए आकाश में उड़ती हुई जा रही थी। सहसा झंझावात आया, पायस उसकी चोंच से गिर गया। पवनदेव ने उस पायस को अञ्जना की अंजलिमें डाल दिया। अंजना ने तुरन्त उस पवन-प्रदत्तचरु को अत्यन्त आदर पूर्वक ग्रहण कर लिया और उसके फलस्वरूप रुद्रावतार श्रीहनुमानजी प्रकट हुए। यथा—

जेहि सरीर रति रामसों, सो आदरहिं सुजान।
रुद्र देह तजि नेह बस, वानर भे हनुमान॥ (~~आनन्द रामायण~~)

श्रीहनुमानजी का जन्म कार्तिक कृष्ण १४ मंगलवारको स्वाती नक्षत्र और मेष लग्नमें हुआ था। *यथा*—ऊर्जे कृष्णचतुर्दश्यां भौमे स्वात्यां कपीश्वरः। मेषलग्नेऽञ्जनीगर्भात् प्रादुर्भूत शिवः स्वयम्॥ कल्प-भेद से चैत्र की पूर्णिमा के दिन श्रीहनुमानजी का शुभ जन्म कहा जाता है। यथा—

महाचैत्री पूर्णिमायां समुत्पन्नोऽञ्जनीसुतः। वदन्ति कल्पभेदेन बुधा इत्यादि केचन॥
(आनन्द रामायण)

हनुमानजी की माता अंजना एक दिन फल लाने के लिए वन में गयीं। उस समय माता के चले जाने से और भूख के कारण बालक हनुमान बहुत रोए। इतने में ही उन्हें जपाकुसुम के समान उदय होता हुआ सूर्य दिखायी दिया। उसे फल समझकर ये उसकी ओर दौड़े। यह देखकर देवता, दानव और यक्षों को बड़ा विस्मय हुआ। अपने पुत्र को सूर्य की ओर जाते देख उसे दाह से बचाने के लिए उस समय वायु-देव भी वर्षा के समानशीतल होकर उसके पीछे-पीछे चल रहे थे। इस प्रकार बालक हनुमान कई हजार योजन आकाश पार करके सूर्य के पास पहुँचे। जिस दिन ये सूर्य को पकड़ने के लिए उछले थे उसी दिन राहु भी सूर्य को ग्रसने के लिए चला था। जब इन्होंने सूर्य के रथ पर पहुँचकर सूर्य को पकड़ने की चेष्टा की तब वह वहाँ से भागकर क्रोध में भरा हुआ इन्द्रके पास आकर बोला—तुमने मेरी भूख मिटाने के लिये सूर्य और चन्द्रमा को मुझे दिया था तब इस समय तुमने उन्हें दूसरे के अधीन क्यों कर दिया।

आज मेरा पर्वकाल था, पर वहां तो एक दूसरे राहु ने आकर सूर्य को ग्रस लिया। राहु के वचन सुनकर इन्द्र घवड़ाकर ऐरावत पर चढ़ राहुको आगे कर वहां पहुंचे।

राहुको भी फल समझ वे सूर्यको छोड़ पुनः उसकी ओर दौड़े। तव वह डर कर चिल्लाने लगा, 'इन्द्र! मुझे वचाओ। इन्द्रने यह कहते हुये कि 'डरोमत, मैं इसे मारता हूँ, ऐरावत को वढ़ाया। इन्होने ऐरावतको भी विशाल फल ही समझा और ये उसे पकड़ने दौड़े।उस समय कुछ देरके लिये उनका रूप और भी भयङ्कर हो गया। उससे इन्द्र को भी क्रोध आया और उन्होने इनपर वज्र का प्रहार किया। वज्र की चोट खाकर ये पर्वत पर गिरे जिससे इनकी वायी 'हनु' (ठुड्डी) कुछ टूट गयी। अपने पुत्रको वज्रके आघात से विह्वल हो गिरते देख वायुदेवने उनको गोद मे लेकर गुफा मे घुसकर समस्त प्रजाके भीतर से अपनी गति समेट ली जिससे सवको प्राणान्त कष्ट होने लगा तव देवताओ को लेकर ब्रह्माजी पवनदेव के पास गये। चरणों पर गिरते देख वायुको उन्होने उठाया और वालक हनुमानजी पर भी हाथ फेरा। वे स्वस्थ हो गये और वायुदेव भी प्रसन्न हो पूर्ववत् सव प्राणियों में सचार करने लगे।

तव वायु का प्रिय करने की इच्छा से ब्रह्माजी वोले, 'इन्द्र, अग्नि, वरुण, महेश्वर और कुवेर! आप सव लोग यद्यपि जानते हैं, तो भी मैं आपके हित की वात कहता हूँ। इस वालक के द्वारा आपके वहुत से कार्य होगे। अतः वायुदेव की प्रसन्नता केलिये आप इसे वर दें।' तव इन्द्र ने इनके गले मे सुनहरे कमलों की माला डालकर कहा, 'मेरे वज्र से इनकी हनु टूट गयी थी इसलिये इस कपि श्रेष्ठ का नाम हनुमान होगा। इसके अतिरिक्त मैं इसको वर देता हूँ कि आज से यह मेरे वज्र के द्वारा भी नही मारा जा सकेगा।' सूर्यभगवान वोले कि—'मैं इसे अपने तेज का शतांश देता हूं और मैं इसे शास्त्रो का ज्ञान कराऊँगा।' वरुण ने वर दिया कि 'हमारे पाश या जल से इसकी मृत्यु कभी भी न होगी।' यमने अपने दण्ड से अभय किया और निरोगता का वर दिया। कुवेरने वर दिया कि, 'इसे युद्ध मे कभी विषाद न होगा और मेरी गदा इसका वध न करेगी।' महादेवने वर दिया कि, 'यह मेरे और मेरे आयुधोंके द्वारा भी अवध्य होगा।' विश्वकर्मा ने अपने वनाये समस्त दिव्यास्त्रोसे अवध्य होने और चिरकाल तक जीवित रहने का वर दिया। अन्त में ब्रह्माजी ने कहा कि, 'यह दीर्घायु, महात्मा तथा सव प्रकार के ब्रह्मदण्डो से अवध्य होगा।' फिर पवन देवसे वोले कि, 'तुम्हारा पुत्र शत्रुओं के लिए भयङ्कर होगा। इसे कोई न जीत सकेगा। यह इच्छानुसार रूप धारण कर सकेगा और जहाँ चाहेगा जा सकेगा। इसकी अव्याहत गति होगी। यह वड़ा यशस्वी होगा।'

स्वकीय स्वाभाविक महावल के साथ-साथ वरदान जनित शक्तिसे सम्पन्न अञ्जनानन्दन कपि सुलभ चञ्चलस्वभाव वश महर्षियो के आश्रमों में जाकर उपद्रव किया करते थे। ये शान्त चित्त महात्माओं के यज्ञोपयोगी पात्र फोड़ डालते थे, अग्निहोत्र के साधनभूत स्रुक्, स्रुवा आदि को तोड़ डालते, वल्कलों को चीर-फार देते थे। यद्यपि माता-पिता ने इन्हें समझाने का प्रयत्न वहुत किया परन्तु सव व्यर्थ गया। चपलता वढती ही गई। फलतः भृगु और अंगिरा वंश मे उत्पन्न हुये ऋषियों ने हनुमानजी को शाप दे दिया। 'वानर वीर! तुम जिस वलका आश्रय लेकर हमें सता रहे हो, उसे हमारे शापसे मोहित होकर तुम दीर्घकाल तक भूले रहोगे। तुम्हे अपने वल का पता नहीं चलेगा। जब कोई तुम्हे तुम्हारी कीर्ति का स्मरण दिलायेगा तभी तुम्हारा वल वढ़ेगा॥ महर्षियों के इस वचन के प्रभाव से श्रीहनुमानजी उन्हीं आश्रमो में शान्त भाव से विचरण करते। (वाल्मीकि रामायण)

विधि पूर्वक उपनयन संस्कार होने के बाद हनुमानजी ने माता-पिता के चरणों में प्रणाम कर, आशीर्वाद लेकर वेदाध्ययनार्थ भगवान सूर्य के पास जाकर निवेदन किया। सूर्यने अपनी स्थिति निवेदन की। अहर्निश मेरा रथ चलता ही रहता है, वेगभी सामान्य नहीं, एक मुहूर्त में चौतीस लाख आठ सौ योजन की दूरी तय करता है। ऐसी दशामें मैं तुम्हें शास्त्रका अध्ययन कैसे कराऊँ? तुम्हीं सोच कर कहो, क्या किया जाय? इस प्रकार यह कह कर सूर्य ने टालने का प्रयत्न किया। परन्तु पवन कुमारको इसमें कोई कठिनाई नहीं जान पड़ी। वे तो सूर्य भगवानको प्रणाम कर उनकी ओर मुख करके, आगे-आगे चलने लगे। श्रीहनुमानजी में तो स्वतः सभी विद्यायें निवास करती थीं परन्तु मर्यादाका पालन करते हुये भगवान सूर्यसे अत्यन्त अल्प कालमें ही साङ्गोपांग वेद शास्त्र और स्मृति प्रभृति धर्म ग्रन्थ पढ़कर, सबमें पारंगत हो गये। गुरु दक्षिणा लेने का आग्रह करने पर सूर्य ने स्वांशसे उत्पन्न सुग्रीवकी रक्षाका भार सौंपा। श्रीहनुमानजी ने आज्ञा शिरोधार्य की। सदा सर्वदा सुग्रीव की रक्षा करते रहे। (हनुमान बाहुक)

एक बार नव-नील-सरोरुह शिशु श्रीराम एक मदारी को बन्दर नचाते हुये देखकर बन्दर के लिये मचल गये। बहुतसे बन्दर मँगाये गये, परन्तु, किसी से भी लालकी ललक मिटी नहीं तब श्रीवशिष्ठ जी बुलाये गये। उन्होने ध्यान धर कर देखा, प्रभु किस बन्दर की इच्छा करते हैं। ध्यान में शिवावतार श्रीहनुमानजी आये। मन्त्रिवर्यसुमन्त्र को बुलाकर कहा कि ये अञ्जना नन्दन को पाकर सन्तुष्ट होगे। सुमन्त्रजी जाकर अञ्जना से हनुमानजी को मांग लाये। इनको देख कर प्रभु बहुत प्रसन्न हुये। हनुमानजी, अपने आराध्य श्रीरामलाल को जैसे सुख मिले उनका जैसे मनोरञ्जन हो, वही करते थे। जब श्रीविश्वामित्र जी के साथ श्रीराम के जाने का अवसर आया तब प्रभु ने उनसे यह कह दिया था कि तुम चलो हम किष्किन्धा में आकर फिर मिलेंगे। (पद्म रामायण)

ललित-नर-लीला का अभिनय करते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामजी जब अपनी प्राणवल्लभा श्रीसीताजी को ढूँढते हुये किष्किन्धा पहुँचे तो सर्व प्रथम हनुमानजी ही मिले। इसके बाद सुग्रीवसे श्रीराम की मैत्री कराकर श्रीसीता शोध से लेकर रावण विजय पर्यन्त श्रीराम कार्य में जो योगदान श्रीहनुमानजी का रहा उसके सम्बन्ध में स्वयं भगवान श्रीराम कहते हैं कि—

चरिष्यति कथा यावदेषा लोके च मामिका।
तावत्ते भविता कीर्तिः शरीरेऽप्यसवस्तथा॥
लोका हि यावत् स्थास्यन्ति तावत् स्थास्यति मे कथा।
एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे॥
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥
मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

अर्थ—हनुमान! इसलोक में जब तक मेरी कथा रहेगी तब तक तुम्हारी कीर्ति और तुम्हारा जीवन रहेगा। और जब तक जगत रहेगा तब तक मेरी कथा रहेगी। वानर वर! तुमने जो उपकार किये हैं, उसमें से एक-एक के लिये मैं प्राण निछावर कर सकता हूँ। तुम्हारे शेष उपकारों के लिये तो मैं ऋणी ही रहूंगा। कपिश्रेष्ठ! मैं तो यही चाहता हूँ कि तुमने जो, जो उपकार किये है वे सब मेरे शरीर में

ही जीर्ण हो जाँय। उसका वदला चुकाने का मुझे कभी अवसर न मिले। क्योकि पुरुषमे उपकारका वदला पाने की योग्यता आपत्तिकाल में ही आती है। मैं नही चाहता कि तुम सकट मे पड़ो और मैं तुम्हारे उपकार का वदला चुकाऊँ। (वा०रा०)

पुनश्च—सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सन्मुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उऋण मैं नाहीं। करि देखा विचार मन माहीं॥
(रामचरितमानस)

समुद्रलंघन, लङ्कादहन, द्रोणाचल आनयन आदि कार्य श्रीहनुमानजी की अघटित-घटन सामर्थ्य के सूचक हैं। आपके अतुलित वल के सम्वन्ध में श्रीरामजी कहते हैं कि—सीतान्वेषण के समय समुद्र को देखकर समस्त वानर वीर घवरा उठे। यह देख महावीर हनुमान वानरोंको धैर्य वँधाकर एक ही छलाग में सौ योजन समुद्र को लाँघ गये। सुरसा और सिंहिका से जिस प्रकार ये पार पाये वह विवेक और वल भी अद्भुत ही रहा। फिर लङ्किनी को परास्त कर देवताओ के लिये भी दुष्प्रवेश्य रावण के अन्त.पुर में गये, सीताजी से मिले, उनसे वात-चीत की और उन्हे धैर्य वँधाया। वहाँ अशोक वन मे इन्होने अकेले ही रावण के सेनापतियों, मन्त्रिकुमारों, किंकरों तथा रावण पुत्र अक्ष को मार गिराया। फिर ये मेघनाद के नागपाश से वँधे और स्वयं ही मुक्त हो गये। तत्पश्चात् इन्होने रावण से वार्तालाप किया। जैसे प्रलयकाल की आग से समस्त व्रह्माण्ड भस्म हो जाता है उसी प्रकार लङ्का को जलाकर भस्म कर दिया। युद्ध में हनुमान जी के जो पराक्रम देखे गये हैं वैसे वीरतापूर्ण कर्म न तो काल के, न इन्द्र के, न भगवान विष्णु के और न वरुण के ही सुने जाते है। मुनीश्वर! मैंने तो इन्ही के वाहुवल से विभीषण के लिये लङ्का, शत्रुओं पर विजय, अयोध्या का राज्य, तथा सीता लक्ष्मण, मित्र और वन्धुजनों को प्राप्त किया है। श्रीरामजी कहते हैं कि—शूरता, दक्षता, वल, धैर्य, वुद्धिमत्ता, नीति पराक्रम और प्रभाव—इन सभी सद्गुणों ने श्रीहनुमानजी के भीतर घर कर रक्खा है।(वा०रा०)

सेतु वन्धन के समय सुमेरगिरि तक से गिरि शिखर लाये गए थे। श्रीहनुमान जी द्रोणाचल के एक शिखर के रूप में स्थित, गोलोक से अवतरित प्रेमपुंज गोवर्धन गिरि को भगवद्दर्शन कराने का प्रलोभन देकर लिए चले आ रहे थे। व्रज वसुन्धरा मे पहुंचे ही थे कि प्रभु का आदेश पहुँचा कि जिनके हाथमें जो पर्वत या वृक्ष जहाँ कही हों, वे वही उन्हे छोड़कर तुरन्त प्रभु के समीप पहुँच जाँय। श्रीगोवर्धन अत्यन्त उदास हो गये। श्रीहनुमानजीने प्रभुसे गिरिराजकी व्यथा निवेदन की। भगवान ने वचन दिया—अगले अवतार मे मैं गिरि गोवर्धन को सिर माथे पर धारण करूँगा। परमपूज्य पद प्रदान करूँगा। श्रीहनुमानजीने जव यह शुभ सन्देश गिरिराज को सुनाया तो उनके मुँह से वरवस निकल पडा—

मो पहिं होइ न प्रत्युपकारा। वन्दउँ तव पद वारहिं वारा॥
(श्रीकृष्णावतार मे इसकी पूर्ति हुई।)

युद्ध के समय रावण के कहने पर पातालवासी अहिरावण विभीषण का वेष वनाकर रात्रि में वानर-भालुओ के वीच निश्चित सोए हुये श्रीराम-लक्ष्मण को चुरा ले गया। यद्यपि श्रीहनुमान जी जग रहे थे परन्तु विभीषण का वेष देख कर कुछ कह नहीं सके। भगवान की इच्छा ही मुख्य है। प्रभु को न देखकर सेना में कुहराम मच गया। श्रीहनुमानजी के वताये हुए सूत्रों से विभीषण ने तुरन्त ही इसे अहि-

रावण की चाल समझकर उसके यहाँ तक पहुँचने का सब भेद बताकर महावीरको तत्काल भेजा। पाताल में पहुँच कर मुख्य द्वार पर एक अपने समान आकार वाले वानर को द्वार रक्षक देखकर हनुमानजी को आश्चर्य हुआ और महान आश्चर्य तो तब हुआ जब सुने कि यह वानर हनुमानका पुत्र है। नाम मकरध्वज है। पूछने पर मकरध्वज़ ने लङ्कादाह के समय सम्भूत हनुमत स्वेद से अपनी उत्पत्ति बताई। जिसे पूँछ की अग्नि बुझाने के लिये समुद्र मे कूदने पर एक मछली ने जल के साथ पी लिया था। हनुमानजी साम-नीति से भीतर प्रवेश करना चाहे, परन्तु अपने धर्ममें स्थित मकरध्वज ने जब जाने से रोका तो बल पूर्वक उसे मूर्छित कर देवी के मन्दिर में पहुँचे अति लघुरूप से। देवी पाताल मे धँस गई। अहिरावण के अर्पित समस्त नैवेद्यको सानन्द पाकर हनुमानजी अहिरावण वधके लिए प्रभुका रुख देख रहे थे। उधर अहिरावण ने श्रीराम और लक्ष्मणको बलि वेदी पर प्रस्तुत कर अपने संरक्षक का स्मरण करने को कहा और ज्यों ही श्रीराम ने हनुमानजी की ओर देखा, श्रीहनुमानजी ने अहिरावणके हाथसे तलवार छीनकर अहिरावण के साथ-साथ पातालवासी समस्त निशाचरो का क्षण मात्र में संहार कर श्रीराम लक्ष्मण को कन्धे पर बैठाकर तुरन्त सेनामें आ उपस्थित हो गये। देखकर सबने कहा—'जय हनुमान ! श्रीहनुमानजीने कहा—जय श्रीराम !'

युद्ध समाप्त हुआ। यत्र-तत्र सर्वत्र श्रीरामका जय-घोष सुनाई पड़ रहा है परन्तु श्रीराम अत्यन्त कृतज्ञतापूर्वक हनुमान की ओर देख रहे हैं। यथा—

पुनि पुनि कपिहिं चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता ॥

रतन अपार सार सागर उधार किये लिए हित चाय कै बनाय माला करी है।
सब सुख साज रघुनाथ महाराज जू को भक्तिलों विभीषणजू आनि भेट धरी है ॥
सभा हो की चाह अवगाह हनुमान गरे डारि दई सुधिभई मति अरबरी है।
राम बिन काम कौन फोरि मनि दीन्हे डारि खोलि त्वचा नामही दिखायो बुद्धिहरी है ॥२७

शब्दार्थ—रतन=मणि, जवाहरात। अपार=बहुत। सार=उत्तम। चाय=चाव, प्रेम। चाह=पाने की इच्छा। अवगाह=गहरा, अथाह। अरबरी=घबड़ाई, डावाँ डोल। त्वचा=खाल।

भावार्थ—देवता और दैत्योंके द्वारा क्षीरसागरका मन्थन करने पर बहुतसे अमूल्य रत्न निकले। सबको जीतकर रावण ने वे रत्न छीन लिए और अपने कोष में रक्खे। विभीषण ने बड़े प्रेम से उन रत्नों की एक माला बनाई। राज्याभिषेकके समय सभी सुखके साज समाज से युक्त श्री रघुनाथजी को विभीषण जी ने वही रत्नमाला भक्तिपूर्वक भेंट की। उसे देखकर सभाके सभी लोगों को लेने की बड़ी भारी इच्छा हुई। रघुनाथ जी ने वह माला हनुमानजी के गलेमें डाल दी। हनुमानजी श्रीचरण सेवा में मग्न थे, माला के स्पर्श से उन्हें होश हुआ। माला देखकर बुद्धि घबरा गई। रामनाम हीन रत्नमाला किस काम की। एक-एक करके मणियाँ फोड़ कर देखी; भीतर भी रामनाम न पाकर डाल दी। पूछने पर कहा कि—रामनामहीन माला किस कामकी। विभीषणने पूछा—आपके शरीरमें रामनाम कहाँ है जिसे आपने धारण कर रक्खा है। तब हनुमानजी ने शरीर की खाल के एक पर्त को खोलकर भीतर लिखे रामनाम का दर्शन कराया। देखकर सभी की बुद्धि खो गई, लोग आश्चर्य से चकित हो गए ॥२७॥

व्याख्या—सभा ही की चाह अवगाह—श्रीसुग्रीवजी अपने मनमे सोच रहे थे कि हम मित्र हे. हमने श्रीजानकीजी को मिलाया है अतः हमे ही मिल जाय तो अच्छा हो। श्रीअंगदजी विचारते कि मैंने रावण से शास्त्रार्थ किया, उसके चार मुकुट चलाये, पांव रोपा, युद्धमें घोर संग्राम किया अतः हमको मिलना चाहिये। जाम्ववान जी के मनमें यह हो रहा था कि हम युद्ध मन्त्री हैं, और पराक्रम भी अद्भुत किया कि मेघनाद का पांव पकड़ कर लका में फेंक दिया था और सवमे वृद्ध भी तो मैं ही हूं अत मुझे ही क्यों न मिल जाय। नल नील इसी उधेड़-बुन में पड़े थे कि हमने सेतु बांधा है। यदि हम यह कार्य न करते तो सवका पुरुषार्थ धरा ही रह जाता अतः हमको ही मिलेगी। इस प्रकार सभाही की चाह ...। और की तो वात ही क्या स्वयं विभीषण तक के मन में यह चाह थी कि श्रीप्रभु तो पूर्ण काम है, उन्हे भला माला में क्या ममता। तो हमें ही यदि प्रसाद रूप में मिल जाती तो वड़ा अच्छा होता। एक श्रीहनुमानजी सर्वथा निष्काम थे। सर्वज्ञ श्रीप्रभुने विचारा-माला एक है, चाहने वाले अनेक है, सेवा सवने की है। यदि एक को देता हूं तो शेप अप्रसन्न होते हैं। पक्षपात की कल्पना होगी। अतः श्रीप्रभुने माला श्रीजानकी जी को दे दिया। इसमे किसी को एतराज नही हुआ, क्यों कि वल्लभा है, और श्रीजानकी जी ने हनुमानजी को पहना दिया। इसमे भी किसी को एतराज नही, इसलिये कि श्रीजानकी माता के लड़ैते जो हैं। मां निरन्तर आशीर्वादो की वर्षा करती रहती हैं अपने आंजनेय पर। यथा—

चौ०— आशिष दीन्ह राम प्रिय जाना। होहु तात बलशील निधाना॥
अजर अमर गुन निधि सुत होहू। करहु बहुत रघुनायक छोहू॥

पुनश्च— सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदयँ बसहुँ हनुमन्त।
सानुकूल कोसलपति, रहहु समेत अनन्त॥ (रा०च०मा०)

इसका आध्यात्मिक अभिप्राय-युगल सरकार सम्मुख विराजमान है। उन्हे न चाहकर माला की चाह होना मानसिक दुर्वलता है सर्वान्तिर्यामी प्रभु ने सवके हृदय की इस कमजोरी को दूर करने के लिये ही श्रीहनुमानजी के माध्यम से सवको उपदेश दिया। श्रीहनुमानजी की निष्ठा से प्रभु परिचित हैं कि इनके 'रोम रोममें नाम है।' अत. श्रीजानकीजी को दे दिया और श्रीजानकीजी ने श्रीहनुमानजी के गले में डाल दिया।

सुधि भई—गलेमें माला पड़ी तव सुधि भई। इससे जनाया गया कि अव तक इन्हे सुधिही नही थी कि कैसी माला है और कैसी लोगों की चाह है। वे तो युगल सरकार के श्रीचरण-कमल के दर्शन में तल्लीन थे। अव सुधि भई कि यह क्या है। मति अरवरी है—असमञ्जसमें पड़ गये कि इसे क्या करूँ। तत्काल विचार आया।

राम विन काम कौन—तात्पर्य—भगवत्सम्बन्ध शून्य वस्तु भक्तो के किसी काम की नही होती। यथा—

न तत्पुराणो नहि यत्र रामो यस्यां न रामो नहि संहिता सा।
स नेतिहासो नहि यत्र रामो काव्यं न तत्स्यान्नहि यत्र रामः॥
शास्त्रं न तत्स्यान्नहि यत्र रामस्तीर्थं न तद्यत्र न रामचन्द्रः।
यागः स यागो न हि यत्र रामो योगः स रोगो नहि यत्ररामः॥

न सा सभा यत्र न रामचन्द्रः कालोऽप्यकालः कलिरेव सोऽस्ति।
संकीर्त्यते यत्र न रामदेवो विद्याऽप्यविद्या रहिताह्यनेन ॥
स्थानं भयस्थानमरामकीर्तिरमिति नाम्ना मुखशून्यमस्य।
सर्पालयं प्रेतगृहं गृहं तद्यत्रार्च्यते नैव महेशपूज्यः ॥
उक्तेन किं स्यात्बहुनाति विश्वं सर्वं मृषा स्याद्यदिरामशून्यम्।
एतच्चकृष्णः पुनराह नोऽसौ स्पृष्ट्वोपवीतं जपमालिकाञ्च ॥ (कोसलखण्ड)

पुनश्च- नाम्नः पराशक्तिपतेः प्रभावं प्रजानते मर्कटराज राजः।
यद्र परागीश्वरवायुसूनुस्तद्रोमकूपे ध्वनिमुल्लसन्तम् ॥ (प्रमोद नाटक)

दृष्टान्त—श्रीअर्जुनजी का—(देखिये—आगे पाण्डवों की व्याख्या)

फोरि मनि दीन्हें डारि—श्रीहनुमानजी ने हार को उलट-पलट कर देखा, मणि के प्रकाश में झांका, परन्तु कही भी भगवान के दर्शन नही हुये। बस फिर क्या था, दूसरे ही क्षण मणिमाला की एक-एक मणि को अपने वज्र तुल्य दांतों से फोड़-फोड़कर उसके भीतर बड़े ध्यान से देखते और फेंकते जाते। उस समय युगल सरकार श्रीसीतारामजी मुसकुरा रहे थे। सभासद चकित तथा विभीषण क्षुभित हो रहे थे। आखिर विभीषण पूछ ही बैठे-हनुमानजी ! आप इन्हे तोड़ फोड़ कर बरबाद क्यों कर रहे है ? हनुमान–मैं यह देख रहा हूँ कि इसमें बाहर वा भीतर कहो भी मेरे प्यारे प्रभु भी हैं। यदि हैं तो हार मेरे सिर माथे पर है अन्यथा मेरे किसी काम का नही। विभीषन–तो क्या आपके इस शरीर मे भगवान विराजमान है, जो कि इसे सुख पूर्वक आप धारण किये हैं ? हनु०– निश्चय। यदि विश्वास नही हो तो देख लो। इतना कह कर श्रीहनुमानजीने तत्काल ही अपना वक्षःस्थल विदीर्ण कर दिखा दिया अपने परमाराध्य श्रीरामको सपरिकर हृदय सिंहासन पर विराजमान। श्रीरामने सिंहासनसे उठकर हनुमानका आलिङ्गन किया। प्रभुका संस्पर्श होते ही उनका शरीर पूर्व से भी अधिक दृढ़ एवं दिव्य हो गया। सबने श्रीहनुमानजी की वन्दना की–

दोहा– प्रनवउँ पवन कुमार, खलबन पावक ज्ञानघन।
जासु हृदय आगार, बसहि राम सर-चाप-धर ॥

खोलि त्वचा नाम ही दिखायो--हृदयमें युगल छविका दर्शन कराया और त्वचा को उधेड़ कर रोम रोम में रामनाम का दर्शन कराया। यथा–

राम माथ मुकुट राम राम सिर नयन राम राम कान नासा राम ठोढ़ी रामनाम है।
राम कण्ठ कन्ध राम राम भुजा बाजूबन्द राम हृदय अलङ्कार हार रामनाम है ॥
राम उदर नाभि राम राम कटि कटि सूत्र राम बसन जंघ राम जानु पैर राम है।
राम मन वचन राम राम गदा कटकराम मारुति के रोम रोम व्यापक रामनाम है ॥

दृष्टान्त-लैला-मजनू का—एकबार एक साहूकार बलख-बुखारे से दिल्ली को आ रहा था। रास्ते में उसे मजनू मिला। मजनू को जब यह मालूम हुआ कि साहूकार दिल्लीको जा रहा है तो उसने कहा कि लैला से मेरा एक सन्देश कह देना। साहूकार सन्देश सुनने के लिये रथ रोकने लगा तो

मजनू ने कहा—रोकने की जरूरत नही है। मैं साथ-साथ चल रहा हूँ। मजनू को अपना प्रेम सन्देश सुनाते-सुनाते कई दिन कई रातें बीत गयी। लेकिन सन्देश पूरा नही हुआ। साहूकार सुनते-सुनते अपने गन्तव्य पर पहुँच गया। दिल्ली पहुँच कर साहूकार ने लैला को मजनूका सन्देश देने के साथ-साथ उनकी दुर्दशा का भी वर्णन किया और अन्त में बोला कि मजनू तो तुम्हारे विरह में सूख कर ठठरी हो गया है, परन्तु तुम इतनी प्रसन्न किस कारण से हो ? लैला बोली—मजनू मुझे अपने से पृथक् समझता है इससे दुखी रहता है और मेरे तो रोम रोममें मजनू रमा है अतः मैं प्रसन्न हूँ। यह कहकर लैलाने विश्वासके लिये अपनी एक अँगुली चीर कर सादे कागज पर जितनी खून की बूँदे गिराईं, उतनी मजनू की तस्वीरें बन गईं। जब लौकिक प्रेम में तन्मयता के कारण यह स्थिति सम्भव है तो श्रीहनुमानजी का तो श्रीराम जी में अलौकिक प्रेम है। फिर रोम-रोमसे श्रीराम नाम की स्फूर्ति होना कौन आश्चर्य जनक है।

बुद्धि हरी है—श्रीहनुमानजी की इस भगवन्निष्ठा को देखकर सबकी बुद्धि हर गई अर्थात् श्रीहनुमानजी की निष्ठा सबकी बुद्धि से परे की वस्तु है। अब लोगों को अपनी भूल मालूम हुई कि हम राम-भक्त कहा करके भी श्रीराम को न चाह कर मणिमाला को चाहने लगे थे। श्रीहनुमानजी के द्वारा सबको उपदेश हुआ कि भगवत्पादारविन्दानुराग को छोड़ कर अन्यत्र रति करना उचित नही है। श्री-अग्रदासजी कहते है कि—

राम चरण तजि आन रति गज तजि नर गदहा चढ़ै।
वहै नीच वहै पोच वहै आतम हन पापी। वहै अविद्या मूल वहै गुरुद्रोहि सुरापी॥
वहै दीनमति हीन वहै नरकिनमें नामी। वहै कृतघ्नी कुटिल वहै बड़ लोन हरामी॥
अगर कहैं गति ताहि नहि तीनि ताप सो हिय डढ़ै।
राम चरण तजि आन रति गज तजि नर गदहा चढ़ै॥

श्रीहनुमानजी के सम्बन्ध में सन्त महानुभावों से सुने हुये कुछ प्रसङ्ग—

१—एक दिन जगज्जननी श्रीजानकीजी की मांग में सिन्दूर देख श्रीहनुमानजी ने सिन्दूर धारण का रहस्य पूछा। मां ने सरलभाव से कहा—हनुमान ! इसके धारण करने से प्रभुकी आयु वृद्धि होती है और वे इसे देखकर प्रसन्न होते हैं। बस फिर क्या था। हनुमानजी को भी तो ये दोनों ही बाते अभीष्ट हैं। सोचे—जब तनिक सी सिन्दूर रेखा धारण करने से आयु बढ जाती है तो हम अधिकाधिक आयु वृद्धि के लिये तथा परमप्रसन्नता के लिये सर्वांग में ही क्यो न सिन्दूर धारण कर ले। विचार कार्य रूप मे परिणत हो गया। सिन्दूर पूरितांङ्ग श्रीहनुमानजी को देखकर सभा में जोर का अट्टहास हुआ। श्रीराम सर्वाधिक प्रसन्न हैं। हनुमान के हर्ष का ठिकाना नही है। सोचते हैं—अहो ! इतने प्रसन्न तो प्रभु कभी नही हुये थे जितने आज है। अब तो मैं हमेशा सिन्दूर धारण करूँगा। हनुमानजी के सरल भाव पर प्रसन्न होकर प्रभुने घोषणा करदी—आज मंगलवार है। इस दिन जो हनुमानजी को सिन्दूर चढायेंगे उनके समस्त मनोरथ पूर्ण होगे।

२—हनुमानजी की सेवापरायणतासे भरतादिक भाइयो को भी सेवाका संयोग ही नही मिल पाता था। श्रीजानकीजी भी यथेच्छ सेवा नही कर पाती थीं। परिणाम यह हुआ कि एक दिन सभी भाइयों एवं सेवको ने मिलकर प्रातःकाल से लेकर शयन पर्यंत को सभी सेवाओ का आपस में बँटवारा करके श्रीजानकी माता के माध्यमसे प्रभुके हस्ताक्षर करा लिये। हनुमानजी ने देखा मेरे नाम कोई सेवा है ही

नही। पूछने पर लोगों ने कहा—तालिका के अतिरिक्त जो सेवा है वह आप की है। सेवा व्रतैकनिष्ठ हनुमान ने सेवा ढूँढ़ ही ली। बोले—भगवानको जँभाई आने पर चुटकी बजाने की सेवा मेरी होगी। सबने हामी भर ली। भक्त वत्सल प्रभु ने हनुमानजी के सेवा पत्र पर भी हस्ताक्षर कर दिया। बस हनुमानजी प्रभु के सम्मुख चुटकी बजानेकी मुद्रा में वीरासन से बैठ गये। पता नहीं कब जँभाई आ जाय इसलिये सतत् सावधानी पूर्वक एक क्षण के लिये भी प्रभु से पृथक् नहीं होते। उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते जागते खाते-पीते हमेशा हनुमान प्रभु के सम्मुख। सब लोग एक ही दिन में मुँहकी खा गये इस सेवा-व्रती के सामने। रात्रि में शयन-कक्षमें भी श्रीहनुमानजी पहुँचे। माता जानकीका संकेत पाकर शयनागार के कंगूरे पर बैठकर प्रभुका नाम संकीर्तन करते हुये लगातार चुटकी बजाने लगे कि कही मैं सेवा से चूक न जाऊँ। परिणाम यह हुआ कि कही सेवक की सेवा व्यर्थ न जाय, प्रभु बार-बार जँभाई लेने लगे। अन्त में तो ऐसी स्थिति हो गयी कि प्रभु का मुँह खुला का खुला ही रह गया। श्रीजानकी जी घबड़ा गयीं। माताओं के पास सन्देश गया। महल में शोर मच गया। अनेक औषधि-उपचार किये गये। परन्तु सब व्यर्थ। तब गुरु वशिष्ठजी बुलाये गये। गुरुदेव ने आते ही एक दृष्टि से सबको देखा परन्तु हनुमान नहीं दीखे। पूछ ताछ करने पर रहस्योद्घाटन हुआ। तत्काल श्रीवशिष्ठजी ने हनुमानजी को प्रभु के सम्मुख उपस्थित किया। सेवाव्रती ने युगल चरणों में अपना मस्तक रख दिया। प्रभुका वरद हस्त कपि के सिर पर फिरने लगा। माता ने स्नेह भरा आश्वासन दिया—हनुमान! प्रभु सेवा का सर्वाधिकार तुम्हें दिया जा रहा है। हनुमान माता-पिता की ममता और प्यार पाकर कृत्य कृत्य हो गये॥

३—परम कौतुकी नारदजी के कहने से दर्शनार्थ आये हुये काशी नरेशने श्रीराम को तो प्रणाम किया परन्तु समीप में ही विराजमान विश्वामित्रजी को हाथ भी नहीं जोड़ा। मौका पाकर श्रीविश्वा-मित्रजी ने काशीनरेश के इस असद्व्यवहार की श्रीराम से शिकायत किया और मर्यादा पुरुषोत्तम ने भी इसे अपनी मर्यादा में कलंक मानकर सायंकाल तक काशीनरेश का वध करने की प्रतिज्ञा कर तीन बाण निकाल कर अलग कर लिये। जब यह प्रतिज्ञा काशीनरेश सुने तो उनके होश उड़ गये। आर्त काशीनरेश नारदजी के निर्देशानुसार माता अञ्जना की शरण गये। सरल हृदया माँ ने अभय वरदान दिया, परन्तु जब स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ तो वह एक क्षणके लिये असमंजस में पड़ गयीं। तब तक माताके दर्शनके लिये आये हुए हनुमान ने माँ का चरण स्पर्श किया। माँ ने प्रथम हनुमान को वचन-बद्ध करा लिया तब सब हाल-हवाल निवेदन किया। हनुमानजी प्रथम तो कुछ झिझके परन्तु पुनः कुछ विचार कर रक्षा के लिए दृढ़ सकल्प हो गये। श्रीरामसे बे श्रीरामनाम की शरण लिए। काशी नरेश को निरन्तर नाम जप का उपदेश दिए। राजा हनुमानजी के कहने से श्रीसरयूजी में कटिपर्यन्त जल में खड़े होकर—राम-राम-राम-राम का अनवरत जप कर रहे थे। प्रभु प्रेरित प्रथम बाण नाम-श्रवण कर राजा का स्पर्श किए बिना लौट गया। श्रीहनुमानजी ने दूसरे बाण को 'जैसियाराम जै जै सियाराम' इस युगल मन्त्रका जप करा कर लौटने के लिए बाध्य कर दिया। तीसरी बार जब प्रभु ने बाण छोड़ना चाहा तो श्रीहनुमानजी ने राजा से 'जै सियाराम जै जै हनुमान' इस मन्त्रका जप करने को कहा। परिस्थिति की विषमता को विचार कर श्रीवशिष्ठजी ने काशी नरेश को प्रेरणा दी—'महर्षि विश्वामित्र को प्रणाम करो।' राजाने तत्काल मन्त्र जप करते हुए मुनि को प्रणाम किया। कोमलचित्त मुनि ने क्षमा कर दिया। श्रीराम के बाण तरकश में पहुँच गये। सर्वत्र ध्वनि छा गयी—'जय हनुमान।'

४—जगज्जननी श्रीजानकी जी आज अपने लड़ैते हनुमन्तलाल को स्वयं **'व्यञ्जन विविध नाम को जाना'** परोसंकर भोजन करा रही थीं। भावविभोर हनुमानने माताके हाथों से परोसा हुआ अमृतमय

भोजन कितना खा लिया, इसका कोई अन्दाज नही। इधर माँ का चौका भी धीरे-धीरे खाली हो चला था। श्रीजानकी जी घवडायी। क्या किया जाय। तत्कालही 'सुमिरत राम हृदय अस आवा।' श्रीजानकी जी ने देखा हनुमान के रूप मे साक्षात् शिव भोजन कर रहे हैं जो कि प्रलयकाल मे समस्त ब्रह्माण्ड को ही उदरस्थ कर लेते हैं। भला थोड़े से भोजनों से वे कैसे पूर्ण हो सकते हैं। वस तुरन्त ही उन्होने उनके सिर पर लिख दिया—'ॐ नम: शिवाय' फिर क्या था। हनुमान जी तुरन्त ही तृप्त हो गये।

५ क—द्रौपदीजी का प्रिय करने के लिये भीमसेन सौगन्धिकनामवाले सहस्रदल कमलो को लाने के लिये वद्रिकाश्रम से ईशानकोण की ओर गये। गधमादन पर्वत पर कई योजन लम्वा चौडा एक केले का वन उनको मिला। गर्जना करते हुये ये उसके भीतर घुस गये। इसी मे हनुमानजी रहते थे। उनको भीमके आने का पता लग गया था। अत: वे कदली वन से होकर स्वर्गको जाने वाले सँकरे मार्ग को रोक कर एक मोटी शिलापर लेट गये। वहाँ लेटे-लेटे जँभाई लेते हुये जव वे अपनी पूँछ फटकारते थे तो उसकी प्रतिध्वनि सव ओर फैल जाती थी। इससे वह महापर्वत डगमगाने लगता था। उस शव्दको सुनकर भीमसेन के रोये खड़े हो जाते थे। ढूँढ़ते-ढूँढते वे वहाँ तक पहुंचे। हनुमानजीको अकेले देख वे उनके पास चले गए। हनुमानजी ने उपेक्षापूर्वक उनकी ओर देखा और मुस्कराते हुए कहा, "मैं रोगी हूँ, यहाँ आनन्दसे सो रहा था, तुमने मुझे क्यो जगा दिया ? तुम्हे जीवों पर दया करनी चाहिए। तुम्हारी प्रवृत्ति क्रूर कर्मो मे क्यो होती है ? मालुम होता है तुमने विद्वानोकी सेवा नही की है। तुम हो कौन ? यहाँ क्यों आये हो ? आगे यह पर्वत अगम्य है। तुम यही से लौट जाओ। भीमसेन के अपना परिचय देने पर हनुमान जी ने कहा कि—"मैं तो वन्दर हूँ। तुम्हे इधर होकर नही जाने दूँगा। यही से लौट जाओ, नही तो मारे जाओगे 'भीमसेनवोले—तुम्हारी वलासे मै मरूँ या जीऊँ।मै तुमसे इस विषयमे तो कुछ पूछता नही। तुम जरा उठकर मुझे रास्ता दे दो। हनुमानजी वोले—"मैं रोगसे पीड़ित हूँ। यदि तुम्हे जाना ही है तो मुझे लाँघकर चले जाओ" भीमसेन वोले कि—"भगवान् सब शरीरों मे व्याप्त है इसलिए मैं लाँघकर उनका अपमान नही करूँगा। यदि मुझे यह ज्ञान न होता तो मैं तुम्हे क्या, इस पर्वत को भी लाँघ जाता, जैसे हनुमान जी समुद्र को लाँघ गए थे। मैं वल, पराक्रम और तेज मे उन्ही के समान हूँ। इसलिए तुम खड़े हो जाओ और मुझे रास्ता दे दो। यदि मेरी आज्ञा नही मानते हो तो मैं तुम्हे यमपुरी मे भेज दूँगा।"

हनुमानजी वोले कि—"वुढापेके कारण मुझमे उठने की शक्ति नही है। इसलिए कृपा करके मेरी पूँछ हटाकर निकल जाओ।" यह सुनकर भीमसेन अवज्ञापूर्वक हँसकर अपने वायें हाथ से पूँछ उठाने लगे, किन्तु वह टससे मस न हुई। तव उन्होने दोनों हाथ लगाये। फिर भी उसके उठाने मे असमर्थ रहे। तव उन्होने लज्जासे सिर नीचा कर लिया और दोनो हाथ जोड़कर प्रणाम कर अपने कटु वचनो के लिए क्षमा प्रार्थी हुए और वोले कि कृपा करके आप अपना परिचय दीजिए कि वानरशरीरधारी आप कौन हैं ? श्रीहनुमानजी का परिचय पाने पर भीमसेन ने प्रार्थना की कि—"हे वीरवर ! समुद्रोल्लङ्घन समय के आपके अनुपम रूप का मैं दर्शन करना चाहता हूँ।" हनुमानजी ने कहा कि—"उस रूपके देखने को तुम समर्थ नही हो। कोई भी उसे नही देख सकता। दूसरे युग के अनुसार वल विक्रम घटता वढता रहता है। व्यर्थ आग्रह न करो।"

भीमसेन का हठ देखकर हनुमानजी ने अपना रूप वढ़ाया। वह विशाल विग्रह देखकर भीमसेन विस्मित हो गये। उनके रोगटे खड़े हो गये। वह विग्रह तेज मे सूर्य के समान था और सोने का पर्वत ही

ज्ञान पड़ता था। उसकी विशालता का क्या वर्णन किया जाय। मानो देदीप्यमान आकाश ही हो। उसे देखते ही भीमसेन ने आँखें वन्द कर ली। भयानक विशाल देह को देखकर वे डर गये और हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे कि—"अब आप अपने इस स्वरूप को समेट लीजिए। आप मैनाकपर्वत के समान परिमित और दुराधर्ष जान पड़ते हैं। मैं आपकी ओर देख नहीं सकता हूँ।"

५ ख—एक वार छोटे वड़े अनेक ऋषि रत्न की थालियोमे देव दुर्लभ षटरस भोजन कर रहे थे। उस समय भीम ने ब्राह्मणों से इस प्रकार कठोर वचन कहे, 'हे ब्राह्मणो! देखिये, पात्र मे आप लोग कुछ भी उच्छिष्ट न छोड़ सकेगे। यदि ऐसा हुआ तो वह जूठा मैं आपकी चोटियो मे वाँध दूँगा। जितना आप लोगों के पेटमें अँटै उतना माँग ले। थाली में अधिक लेकर छोड़ देना ठीक नही होगा। मेरा स्वभाव आप लोग अच्छी तरह जानते ही हैं।' भीम के डर से वे ऋषि अत्यल्प आहार करने लगे, जिससे वे विचारे दुर्वल हो गये। यह वात श्रीहरि ताड़ गए और भीमसेन से वोले, तुम शीघ्र जाकर गन्धमादन से ऋषियों को वुला लाओ। उनकी वड़ी आवश्यकता है। भीम के मन में अपने वल पर बड़ा गर्व था। अतः वे तेजी से ऋषियों को लाने चले। मार्ग में वृद्ध वानर के वेश में महान पर्वत की तरह अपनी पूँछ मार्ग में अड़ाकर हनुमानजी वैठे थे। भीम ने गर्जकर कहा—'रे वानर! रास्ते से पूँछ हटा।' शेष कथा पूर्ववत् ही है। (रामायणाङ्क)

६ क—अर्जुन ने एक बार बात ही बात में श्रीकृष्णजी से कहा कि आपने रामावतार में पुल बाँधने के लिए इतना वड़ा आयोजन क्यों किया? वाणों से पुल वाँध देते? बेचारे वानरों को झूठमूठ क्यों परेशान किया? भगवान ने हँसकर कहा—अच्छा तुम बाणो से समुद्र के एक छोटे से अंशपर पुल वाँधो। मैं तुम्हें वताता हूँ। अर्जुन ने आनन-फानन में पुल वाँध दिया। भगवान ने हनुमानजी का स्मरण किया। वे तुरन्त पहुँचे और भगवान की आज्ञा से वे बाणों के उस पुलपर चढे। उनके चढते ही वह पुल चरचराकर टूटने लगा। तव वे उस पर से उतर आये। अर्जुन ने देखा भगवान की पीठ पर खून लगा हुआ है। समुद्र का जल लाल हो गया है। पूछनेपर मालूम हुआ कि यदि भगवान कच्छपरूपसे अपनी पीठ लगाकर उस पुल को न रोकते तो वह हनुमान जी को लिए हुए रसातल को चला जाता और अर्जुन की वड़ी हँसी होती। भगवानने कहा—वहाँ ऐसे-ऐसे अनेकों वानर थे। वे वाणके पुल पर कैसे जाते। इस तरह भगवान ने हनुमानजी के द्वारा अर्जुन का गर्व भङ्ग किया।

अर्जुन ने भगवान की आज्ञा से हनुमानजी की वड़ी आराधना की। हनुमानजी ने वर दिया कि मैं सर्वदा तुम्हारी सहायता करूँगा और भावी युद्धमें तुम्हारे रथ पर वैठ कर तुम्हारी रक्षा करूँगा।

६ ख—एक वार अर्जुन अकेले ही रथ पर चढ़कर शिकार खेलते हुये दक्षिण समुद्रपर पहुँच गए वहाँ धनुष कोटि तीर्थ में स्नान करके मध्यान्ह की क्रिया कर रथ पर वैठकर कुछ गर्व मे भरे हुये समुद्र तट पर घूमने लगे। इसी वीच मे वन में पर्वत के ऊपर सामान्य वानर के रूप में हनुमानजी को राम राम कहते हुए देखकर पूछा—हे कपे! तुम्हारा क्या नाम है? हनुमानजी ने कहा—मैं रामदूत हनुमान हूँ। अर्जुन ने गर्व से हँसकर कहा—'राम ने सेतु वाँधने में व्यर्थ परिश्रम किया। उन्होने वाणों से ही क्यों न पुल वाँध दिया?' इस पर हनुमान जी ने कहा—वड़े-वड़े वानरों के भार से वाण का सेतु समुद्र में डूव जाता यही विचार कर श्रीरामचन्द्रजी ने समुद्र पर वाण से पुल नही वाँधा। यह सुनकर अर्जुन ने कहाकि

यदि वानरों के भार से ही सेतु डूब जाय तो उस धनुर्धारी की धनुर्विद्या ही क्या ? मैं अभी तुम्हारे सामने ही वाणों का पुल बाधे देता हूँ। तुम उस पर जी भर के उछलो, कूदो। आज मेरी धनुर्विद्या को देखो।' हनुमानजी बोले कि, यदि मेरे पैर के अँगूठे के भार से ही तुम्हारा सेतु जलमे डूब जाय तो तुम क्या हारते हो।' अर्जुन ने कहा, 'यदि तुम्हारे भार से मेरा वाणो का सेतु डूब जाय तो मैं अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा। यदि न टूटा तो तुम क्या हारते हो।' हनुमानजी ने कहा कि 'यदि मेरे अंगुष्ठ भार से तुम्हारा सेतु न टूट जाय तो मैं तुम्हारी ध्वजा पर रहकर तुम्हारी सहायता किया करूँगा।

अर्जुन ने 'तथास्तु' कहकर अपने महान धनुष का टङ्कार किया और क्षणमात्र में समुद्रके ऊपर सौ योजन विस्तार वाला दृढतर और सघन पुल बाँध दिया। उसे देखकर हनुमानजी ने अपने अँगूठे की नोक से उसको लीलापूर्वक दवा दिया जिससे वह क्षणमात्र में समुद्र मे डूब गया।

उसी क्षण आकाश से देवता, गन्धर्व, किन्नर, उरग, राक्षस, विद्याधर, अप्सराएँ और सिद्ध आदि हनुमानजी के ऊपर पुष्पों की वृष्टि करने लगे। अर्जुन उसी समय चिता बनाकर, हनुमानजी के रोकने पर भी देह छोड़ने को तैयार हो गए। उसी समय भगवान कृष्ण वटुरूप में आकर उपस्थित हो गए और अर्जुन के मुखसे दोनों की प्रतिज्ञाएँ सुनकर बोले कि—विना साक्षी के तुम दोनो का कर्म व्यर्थ गया। अब मैं साक्षी हूँ मेरे सामने अपना अपना करतब दिखाओ। तब मैं जानू कि कौन सच्चा है, कौन झूठा ? तब अर्जुन ने फिर वैसा ही वाणों का सेतु वाध दिया। उसी समय श्रीकृष्णजी ने अपने चक्र को सेतुके नीचे रख दिया। हनुमानजी ने अपने अंगुष्ठके भारसे सेतुको दवाया। पर अबकी बार सेतुको दृढ़ देखकर उन्होने उसे फिर अपने पैर,घुटने और हाथके सम्पूर्ण बलसे दवाया। परन्तु सेतु हिला भी नहीं।

तब हनुमानजी चुपचाप होकर मन में विचार करने लगे कि पहले तो यह सेतु मेरे अँगूठे के भार से ही डूब गया था और इस समय हाथ पैर के सम्पूर्ण भार लगाने पर भी क्यो नही चलायमान होता है ? इसका कारण यह वटु ही मालूम होता है। यह वटु नही है। स्वय भगवान ही हैं। अब मुझे पूर्व का वरदान याद पड़ता है। भला, भगवान के सामने मुझ वानर का पुरुपार्थ कितना ? ऐसा विचार-कर वे अर्जुन से बोले कि—"इस वटु की सहायता से तुमने मुझे जीत लिया है। यह वटु नही है, स्वयं श्रीकृष्ण है, जिन्होने तुम्हारी सहायता के लिए वटु रूप धारण कर चक्र को सेतु के नीचे रख दिया है। इन्होने त्रेता मे रामरूप से मुझे वरदान दिया था कि द्वापर मे तुम्हें मैं कृष्णरूप से दर्शन दूँगा। उसी वचन को आज उन्होने सेतु के बहाने यहाँ आकर पूरा किया।" इतना कहते ही वटु ने कृष्णरूप धारण कर हनुमानजी को आलिंगन दिया और साथ ही वह सेतु भी जल में डुवा दिया। तब अर्जुन का गर्व टूट गया और वे समझ गये कि हमारे प्राणो की रक्षा श्रीकृष्ण ने ही की।

७—श्रीसत्यभामा को अपने सौन्दर्य का, चक्रसुदर्शनको अपने तेजका, गरुड़को अपने बल और वेग का गर्व हो गया था। इसे दूर करने के लिये भगवान के संकल्प करते ही हनुमानजी द्वारकाके पास ही एक उपवन मे आ विराजे। भगवन्नाम सकीर्तन करते हुये फ़ल खाने लगे,डालियाँ तोड़ने लगे। भगवान ने गरुड को बुलाकर आज्ञा दी कि "शीघ्र जाकर वन्दर को पकड़ लाओ। तुम बड़े पुरुपार्थी हो। त्रैलोक्य मे तुम्हारे समान कोई नही है। अकेले ही जाओगे या कुछ सेना भी लेजाओगे ?" ये वचन सुनकर गरुड बड़े आवेश में आकर बोले, "मैं तो गिरते हुए आकाश को अपने बल से धारण कर सकता हूँ। मुझे यही

आश्चर्य है कि आप मुझे एक साधारण बन्दर को पकड़ने के लिए न जाने क्यों भेज रहे हैं ?" अच्छा, मैं अभी उसे पकड़ लाता हूँ। यह कहकर वे शीघ्र वन में पहुँचे और वहाँ बन्दर (हनुमानजी) को अपनी ओर पीठ किये बैठे, कौतुकसे फल खाते और श्रीरामनाम का कीर्तन करते देख बोले—'रे बन्दर ! तूने सारा वन नष्ट कर डाला, सारे वनचरों को भगा दिया और सब फल भी खा डाले। तू बड़ा अन्यायी है। मैं तुझे दण्ड दूँगा।' हनुमानजी ने मुस्कराकर पूछा कि—तुम कौन हो, तुम्हारा क्या नाम है और तुमको किसने भेजा है ? तव गरुड़ ने अपने को कश्यपपुत्र, श्री हरिदूत पक्षिराज गरुड़ वताया और कहा कि—'मैंने समस्त देवताओं को परास्त कर अपने पुरुषार्थ से अमृत प्राप्त किया। मेरे भय से नागराज पृथ्वी के नीचे जा छिपे हैं।' इस पर हनुमानजी ने कहा कि 'जो अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करता है वह सैकड़ों मूर्खों से भी अज्ञानी है। अपनी प्रशंसा करने वाला वस्तुतः वैसा नही होता।" क्रोध में आकर गरुड़ ने कहा कि 'रे बन्दर ! मालूम होता है कि तू अब मरनहार है। इसीसे मरते समय तेरी तूती बोलने लगी है। हनुमानजी ने भी वैसा ही उत्तर दिया। तब गरुड़ सहसा आकाशमें उड़कर गरजकर एकदम से श्रीहनुमानजी पर टूट पड़े और उन्हें चोंच से मारने लगे। परन्तु हनुमानजी को उनकी चोटें और उनका मारना ऐसा मालूम होता था जैसे पर्वत पर भ्रमरका, वडे पेड़ पर मक्खी का या हाथी के कन्धे पर चीटी का भार हो। क्षणभर यह लीला करके हनुमानजी ने गरुड़ को अपनी पूँछ में लपेट कर तनिक सा कस दिया। वे छटपटाने लगे। तव उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण का नाम बताकर कहा कि उनकी आज्ञा से मैं आया हूँ। उन्होंने तुम्हें बुलाया है। हनुमानजी ने गरुड़ को छोड़कर कहा कि मैं सीतानाथ राम का उपासक हूँ, मैं श्रीकृष्ण के पास क्यों जाऊँ ? ऐसा कहकर मानो उन्होंने भगवान की लीला में सहयोग दिया।

अभी गरुड़का गर्व टूटा न था। वे सोचते थे कि अगर मैं पकड़ न गया होता तो हनुमान को बलात् ले चल सकता था। उन्होंने दुवारा आक्रमण किया। अभिमान अन्धा बना देता है। श्रीकृष्णका दूत समझकर हनुमानजी ने उन पर जोर से आघात नहीं किया पर हल्के हाथ से पकड़ कर समुद्र की ओर फेंक दिया। वे श्रीकृष्ण के पास आये। सब बात सुनकर श्रीकृष्ण बहुत हँसे। अभी गरुड़ के मन में तेजी से उड़ने का गर्व वाकी ही था। सोचते थे कि उड़ने में मेरा मुकाबला वायु भी नहीं कर सकते हैं। भले ही हनुमान मुझ से वल में वड़े हों। भगवान ने उनको फिर भेजा और कहा कि इस बार जाकर कहो कि तुम्हारे इष्ट देव भगवान श्रीराम तुम्हे बुला रहे है। शीघ्र ही चलो। उन्हे अपने साथ ही ले आना। अब वे तुम्हें कुछ न कहेंगे। तुम्हारा बड़ा आदर करेंगे। गरुड़ ने जाकर संदेशा कह कर यह भी कहा कि यदि मेरे साथ ही आप चल सकें तो चले, नही तो मेरे कन्धों पर वैठ लें. मैं लेता चलूं। हनुमान जी ने कहा तुम चलो, मैं आता हूँ। गरुड़ को श्रीहनुमानजी की बात काटनेका साहस डरके मारे न हुआ, वे चले गये।

इधर भगवान ने चक्र को फाटक पर पहरा देने की आज्ञा दी जिसमें कोई भीतर न आ सके। हनुमानजी गरुड़ से बहुत पहले द्वारका पहुँच गये। उनकी दृष्टि में वह द्वारका न थी अयोध्या थी। फाटक पर चक्र ने उन्हें जाने से रोका। तव हनुमानजी ने यह कहते हुये कि तू भगवान के दर्शनमें विघ्न डालता है, उसे पकड़ कर मुँह में डाल लिया। श्रीभगवान ने सत्यभामाजी से कहा—श्रीरामोपासक हनुमान के लिये मैं राम रूप धारण करता हूँ तुम सीता का रूपधारण कर मेरे समीप बैठ जाओ। महल में जाकर हनुमानजीने भगवानके चरणों में साष्टांगदण्डवत् प्रणाम करके पूछा—प्रभो! माताजी कहां हैं ?

आज आपने किस दासी को इतना आदर दे रक्खा है ? सत्यभामा लाज के मारे वहाँ से हट गयी। श्रीरुक्मिणी जी ने सीतास्वरूपधर कर अभाव की पूर्ति की। वर्णन आया है श्रीहनुमानजी नख शिख प्रभु का दर्शन कर रहे थे, इधर जल्दवाजी में श्रीकृष्ण को ध्यान नही रहा कि मैंने रामरूपधारण तो कर लिया परन्तु मुरली तो कटिमे फेट से कसी ही है। श्रीहनुमानजीकी दृष्टि पड़ी,बोले—जै जै–यह मुरली कब से? भगवान ने तुरन्त ही उसे छिपा लिया। हनुमानजी ने युगल का दर्शन किया, कृत-कृत्य हो गये। भगवान के यह पूछने पर कि किसी ने तुमको रोका नही ? हनुमानजी ने चक्र को मुँह मे से निकाल कर सामने रख दिया। तव तक दौड़ते हाँफते गरुड़ पहुँचे, हनुमान को पहिले ही पहुँचा देखकर तेज हत हो गये। मस्तक नत हो गया। इस प्रकार प्रभु ने श्री हनुमानजी के द्वारा तीनो का गर्व दूर किया।

'राम काज कीन्हे विनु, मोहिं कहाँ विश्राम' सेवा धर्म के इस उच्चतम आदर्श के साकार विग्रह श्रीहनुमानजी की अनन्य भक्ति से रीझकर जगज्जननी श्रीजानकी जी एव जगत्पिता भगवान श्रीरामजी ने श्रीमुख से इन्हे आत्मतत्व का उपदेश किया है। (अध्यात्म रामायण) इसलिये श्रीहनुमान जी भक्ति के आचार्य हैं, परमभागवत हैं। भक्तों के सर्वस्व है। किम्पुरुष वर्ष मे श्रीलक्ष्मणाग्रज, श्रीसीता हृदयाभिराम भगवान श्रीराम के अनन्य भक्त श्रीहनुमानजी अविचल भक्तिभावसे उनकी उपासना करते हुये इस प्रकार स्तुति करते हैं—

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं, रक्षो वधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥ (भा०)

अर्थ—प्रभो ! आपका मनुष्यावतार केवल राक्षसों का वध करने के लिये नही हुआ है। इसका मुख्य उद्देश्य तो मनुष्यो को शिक्षा देना है। अन्यथा अपने स्वरूप मे ही रमण करने वाले साक्षात् जगदात्मा को सीताजी के वियोग मे इतना दुख कैसे हो सकता है। पुन—

न जन्म नूनं महतो न सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्ये वत लक्ष्मणाग्रजः ॥ (भा०)

अर्थ—लक्ष्मणाग्रज ! उत्तमकुल मे जन्म, सुन्दरता, वाक्चातुरी, बुद्धि और श्रेष्ठ योनि, इनमें से कोई भी गुण आपकी प्रसन्नता का हेतु नही हो सकता है, यह वात दिखानेके लिये ही आपने इन सव गुणो से रहित हम वनवासी वानरो से मित्रता की है ॥

हनूमान सम नहिं वड़भागी। नहिं कोउ राम चरण अनुरागी ॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। वार-वार प्रभु निज मुखगाई ॥

श्रीजाम्ववन्तजी—

जानि राम सेवा सरस, समुझि करव अनुमान।
पुरुषाते सेवक भये, हर ते भे हनुमान ॥ (दोहावली)

श्रीरामजी की सेवा को परम आनन्दमय जानकर पितामह ब्रह्माजी जाम्ववान वन गए और श्रीशिवजी हनुमान हो गए।

निरन्तर सृष्टि विस्तारमें व्यस्त ब्रह्माजीको एक वार बड़ी ग्लानि हुई कि—'बीत गये दिन भजन बिना रे।' हृदयमें भगवद्भजनके भाव उमड़ ही रहे थे कि ब्रह्माजी को जँभाई आई मानो उनका भाव ही साकार होकर ऋक्षराज जाम्बवान के रूपमें प्रकट हो गया। यथा—

पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्ष पुङ्गवः। जृम्भमाणस्य सहसा मम वक्त्रादजायत॥

अर्थ—मैंने पहले से ही ऋक्षराज जाम्ववान की सृष्टिकर रक्खी है। एकवार मैं जँभाई ले रहा था उसी समय वह सहसा मेरे मुँह से प्रकट हो गये। यह जाम्ववानजी ब्रह्माजी के ही अंशावतार हैं। श्रीब्रह्माजी इस रूपसे भगवद्भजनका रसास्वादन करते हैं।

श्रीजाम्ववानजी अपने जीवन का एक मधुर संस्मरण स्वयं वर्णन करते हैं कि—

जबहिं त्रिविक्रम भये खरारी। तब मैं तरुण रहेउँ बल भारी।
बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ, सो तनु बरनि न जाय।
उभय घरी महँ दीन्हीं सात प्रदक्षिण धाय॥ (रामायण)

बात सतयुग की है। जब वामन भगवान ने तीन पग में ही वलि का सर्वस्व ले लेने का संकल्प कर विराट्रूप धारण किया था, दो ही पग में वलि का सर्वस्व लेकर तीसरे पग की पूर्तिके लिये वलि को बाँधा था। उस समय श्रीजाम्ववानजी की तरुणावस्था थी, वलका पारावार नही था अतः दो ही घड़ी में प्रभु की सात परिक्रमायें की थी तथा मनके वेग के समान दौड़कर सब दिशाओ में भेरी वजा-बजाकर भगवान की मङ्गलमय विजय की घोषणा कर आये। यथा—

जाम्बवानृक्षराजस्तु भेरीशब्दैर्मनोजवः। विजयं दिक्षु सर्वासु महोत्सवमघोषयत्॥ (भा०)

जाम्ववानजी के वल-बुद्धि-विवेक आदि अनुपम गुणों से आकृष्ट होकर वानरराज सुग्रीव ने इन्हें अपना प्रधानमन्त्री वनाया था। समय-समय पर इनकी दूर दर्शिता का अद्‌भुत दर्शन होता है। जिस समय श्रीजानकी जी का पता नही लगने तथा सुग्रीव की वताई हुई अवधिके बीत जाने से अंगदादि वानर वीर बहुत दुःखी हो रहे थे उस समय श्रीजाम्ववानजी ने ही परिस्थिति को सँभाला था। यथा—

चौपाई— **जामवंत अंगद दुख देखी। कही कथा उपदेश विशेषी॥**
तात राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥
हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥

दोहा— **निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि।**
सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोक्ष सब त्यागि॥ (रामायण)

पुनश्च—जव समुद्र पार जाने की समस्या थी। सभी वानर **'पार जाइ कर संशय राखा।'** उस समय श्रीजाम्ववानजी ने श्रीहनुमानजी को वल का स्मरण कराकर पार भेजा था। यथा—

चौपाई— **कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना।**
पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिवेक विज्ञान निधाना॥

कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं॥
राम काज लगि तव अवतारा। ……	॥

पुनश्च—आवेश में श्रीहनुमानजी वहुत कुछ कह गये। यथा—सहित सहाय रावनहिं मारी। आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी॥ आदि। अतः जाम्ववान जी से पूँछते हैं—चौ०—जामवन्त मैं पूछउँ तोहीं। उचित सिखावन दीजै मोहीं॥ तव जाम्ववानजी ने कहा—

चौपाई— एतना करेहु तात तुम्ह जाई। सीतहिं देखि कहहु सुधि आई॥
तव निज भुजवल राजिव नैना। कौतुक लागि संग कपि सैना॥

छन्द— कपि सेन संग संघारि निशिचर राम सीतहिं आनि हैं।
त्रैलोक पावन सुजस सुर मुनि नारदादि वखानि हैं॥

जाम्ववानजीकी सलाह हनुमानजीको वहुतही सुहाई। यथा—जामवन्त के वचन सुहाये। सुनि हनुमान हृदय अति भाये॥ यही कारण है कि जव हनुमानजी श्रीजानकीजीका पता लगाकर आये तो वहाँ का सव समाचार स्वयं न कहकर जाम्ववानजीसे कहवाया। तो जाम्ववानजीकी वातें प्रभुको वहुत सुहाईं। यथा—पवन तनय के चरित सुहाये। जामवन्त रघुपतिहिं सुनाये॥ सुनत कृपानिधि मन अति भाये।

जिस समय समुद्र पर सेतु वाँधने के लिये श्रीराम अत्यन्त व्यग्र थे। जाम्ववानजी ने कहा—सुनहु भानुकुलकेतु, जामवन्त कर जोरि कह। नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ि भवसागर तरहिं॥ यह लघु जलधि तरत कति वारा॥ इससे प्रभुको वड़ा सन्तोष हुआ, अतः श्रीरामजीने जाम्ववानजीको अपना समर-मन्त्री वनाया।

समुद्र पर सेतु वाँधा जा रहा था। उदधि की उत्ताल तरंगें पर्वतों को स्थिर नहीं रहने देती थीं। नल-नील उपाय करके हार गये। तव यह विचार हुआ कि सम्भव है प्रभुका स्पर्श पाकर पर्वत खण्ड स्थिर रहे, अतः प्रभु से निवेदन किया गया। श्रीराम ने एक पत्थरका टुकड़ा हाथ में लिया और उसे समुद्र में फेंक दिया। वह तत्काल ही जलमें डूव गया। किसी से कुछ कहते नहीं वनता था। जाम्ववान जी ने हाथ जोड़कर कहा—प्रभो! आप जिसको छोड़ देंगे वह तो डूव ही जायगा। जीव तो पार होता है आपके ही आश्रय से।

लङ्का में सुवेलशैल पर प्रभुका पड़ाव पड़ा है। श्रीराम जी ने अपने सभी मन्त्रियों से पूछा—आगे का कार्यक्रम क्या होना चाहिये? तव—जामवन्त कह पद सिर नाई। सुनु सर्वग्य सकल उरवासी। वुधि वल तेज धर्म गुन रासी॥ मन्त्र कहउँ निजमति अनुसारा। दूत पठाइय वालि कुमारा॥ श्रीजाम्ववानजी की इस मन्त्रणा का सवने समर्थन किया। यथा—नीक मन्त्र सवके मनमाना॥

अङ्गद-रावण सवाद मे रावण ने जाम्ववानजी को वूढा कहकर इनकी उपेक्षा की थी। अतः युद्ध में जाम्ववानजी ने ऐसा अद्भुत पराक्रम दिखाया कि अप्रतिम योद्धा रावण और मेघनाद को भी मुँह की खानी पडी। यथा—जिस समय मेघनाद ने अपनी माया से सभी को व्याकुल कर दिया था। और की तो वात ही क्या? मायापति तक नाग-पाशमें वँधे पृथ्वीपर पड़े-पड़े ऊर्ध्वश्वांस लेरहे थे। परन्तु जाम्ववान जी को वह माया छू भी नही गई थी। उस समय—

चौपाई—जामवन्त कह रहु खल ठाढ़ा । सुनिकरि ताहिं क्रोध अति बाढ़ा ।।
बूढ़ जानि शठ छाँड़ेउँ तोहीं । लागेसि अधम पचारै मोहीं ।।
अस कहि तरल त्रिशूल चलायो । जामवन्त कर महि सोइ धायो ।।
मारेसि मेघनाद की छाती । परा भूमि घुमित सुरघाती ।।
पुनि रिसान गहि चरन फिरायो । महि पछारि निजबल देखरायो ।।
वर प्रसाद सो मरइ न मारा । तव गहिपद लङ्का पर डारा ।

इस प्रकार मेघनाद को बूढ़ा कहने का परिणाम भुगताया ।

श्रीलक्ष्मणजी को शक्ति लगने के समय जब सब लोग किं कर्तव्य-विमूढ़ हो रहे थे, उस समय श्रीजाम्बवानजी ने धैर्यधारण कर समयोचित परामर्श दिया । यथा—जामवन्त कह वैद सुषेना । लङ्का रहइ को पठइअ लेना ।। श्रीहनुमानजी के द्वारा सब कार्य सिद्ध हुआ ।

जिस समय राक्षसेन्द्र रावण ने समस्त वानर भालु वीरों की तो बात ही क्या महावीर हनुमान तक को मूर्च्छित कर दिया था । उस समय अकेले जाम्बवान ने रावण को मौत की घाटी का दर्शन करा दिया ।। यथा—

चौपाई—देखि भालुपति निजदल घाता । कोपि माँझ उर मारेसि लाता ।

छन्द—
उर लात घात प्रचण्ड लागत विकल रथ ते महि गिरा ।
गहि भालु बीसहुँ कर मनहुँ कमलन्हि बसे निसि मधुकरा ।।
मुरछित विलोकि बहोरि पद हति भालुपति प्रभु पहिं गयो ।
निसि जानि स्यन्दन घालि तेहि तब सूत जतन करत भयो ।।

लङ्का के युद्ध में जाम्बवान की युद्ध की अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई । क्योंकि रावण और मेघनाद जैसे वीर भी एक लात और एक घूसे में ही धूल चाटने लगे । जब कभी श्रीराम के करि-कर-सरिस-सुभग भुजदण्डों को जाम्बवान देखते तो इच्छा होती कि यदि इन भुजाओं से दो-दो हाथ होते तो मेरा मनोरथ पूर्ण हो जाता । सर्वान्तिर्यामी भगवान ने इनके मन की जानकर द्वापर में कृष्णावतार में इच्छापूर्ति का वरदान दिया ।

चौदह वर्ष के पश्चात् वनसे आने पर राज्याभिषेक होने के बाद महारानी सुनयना के निमन्त्रण पर श्रीप्रभु राघवेन्द्र, मिथिलेशनन्दिनी श्रीजानकीजी के साथ जब ससुराल जाने को प्रस्तुत हुये तो जाम्बवान,हनुमान,नलनीलादि सखा भी प्रभुकी ससुराल देखने को मचल गये । प्रभुने मुस्कराकर कहा कि आप लोग चलना तो चाहते हैं परन्तु ससुराल की टकसाल भी कुछ मालूम है ? घर सरीखे मन-माना घर-जाना वहाँ नहीं हो सकता है । आप लोग स्वतंत्र स्वभावके हैं, यदि कहीं वहाँ चलकर स्वभाववश कुछ चंचलता कर बैठे तो मेरी हँसी होगी । सबने एक स्वर से कहा—प्रभो ! आपका इतना सावधान कर देना हम लोगों के लिये पर्याप्त है । अब हम सब खूब सतर्क रहेंगे, फिर भी हमारी एक प्रार्थना है कि आप वयोवृद्ध श्रीजाम्बवानजीको ससुरालके रेक टेक अच्छी तरहसे समझा दें, फिर तो हम सब इन्हीं का अनुकरण करेंगे । यह बात प्रभु को भी जँच गई अतः जाम्बवान जी को समझाकर सभी सखाओं का मुखिया बना

दिया। जाम्ववान जी वड़ी दक्षतापूर्वक सुव्यवस्थितरूप से सवका संचालन करते। एक दिनकी वात है—भोजन के समय विविध व्यञ्जनों के साथ कटहल के कोये भी परसे गये थे; जाम्ववान जी ने सर्वप्रथम कोया ही हाथ में लिया, परन्तु चिकना होने के कारण हाथ का तनिकसा दाव पड़ते ही वह ऊपरको उछल गया, फिर तो उसे सँभालने के लिये जाम्ववानजी भी उछले। उधर सभी सखाओं का ध्यान जाम्ववानजी की ओर था। उनके उछलतेही सवके सव उछलने लगे। महलमें हास्यका अद्भुत ठहाका गूँज गया। नारी-समुदाय में से किसी ने व्यङ्ग किया—ननदोई जी को अच्छे सखा मिले। किसी ने कहा—आखिर वानर-भालू ही तो ठहरे। आदि।

इस प्रकार मधुर हास परिहास में भोजन-कार्य समाप्त हुआ। जव सव लोग निवास स्थान पर गये तो प्रभुने सवको वुलाकर उछल कूद का कारण पूछा। सवने सरल भाव से उत्तर दिया कि प्रभो! हम लोगो ने तो जाम्ववानजी का अनुसरण किया, हमने समझा कि यह भी कोई राजकीय भोजकी परिपाटी होगी और आपने इन्हें वताया होगा, वही यह कर रहे है। प्रभु ने जाम्ववानजी से पूछा—नेताजी! यह कौन सी लीला थी? जाम्ववानजी ने वड़े अदव से हाथ जोड़कर निवेदन किया—प्रभो! जव मैंने कटहल का कोया हाथ में लिया तो वह मेरे हाथ से छिटक कर ऊपर को उछला। आप जानते ही हैं; युद्ध में एक भी असुर मेरे हाथ से सुरक्षित नहीं जा सका, फिर यह कोया निकल जाय, यह मैं कैसे सहन कर सकता था। मैंने उछल कर उसे पकड ही तो लिया। यह कहकर जाम्ववानजी ने प्रभु के चरण पकड़ लिये और प्रार्थना किये कि यदि इसमें मेरी कुछ भूल भई हो तो आप क्षमा करेंगे। वानरों के तथा विशेष कर जाम्ववानजी के इस भोलेपन पर प्रभु वहुत प्रसन्न हुये।

वात द्वापर युग की है। भगवान सूर्य की आराधना से प्राप्त स्यमन्तक मणि को अर्थलोलुप सत्राजित ने भगवान श्रीकृष्ण के कहने पर भी महाराज उग्रसेन को देना स्वीकार नही किया। विधिका विधान वड़ा विचित्र होता है। एक दिन उस मणिको गलेमें वाधकर सत्राजित का भाई प्रसेनजित शिकार खेलने वन मे गया। वनमे प्रसेनजित को मार कर एक सिहने उस मणि को लिया और सिहको मार कर जाम्ववान ने वह मणि लेली। अव वह मणि जाम्ववान के वच्चों का खिलौना वन गई। कलंक श्रीकृष्ण को लगा। क्षुद्र हृदय सत्राजित ने प्रसेन को मारकर मणि ले लेने का लाञ्छन श्रीकृष्ण पर लगाया। इस कलक-पंक प्रक्षालन के लिये श्रीकृष्ण, नगर के कुछ सभ्य पुरुषों को साथ लेकर जव वनमें मणि खोजने के लिये निकले तो प्राप्तचिन्हो के आधार पर जाम्ववान की गुफा में अकेले ही प्रवेश किये। गुफा में एक अपरिचित का आगमन भयावह जान कर वच्चो की धाय चिल्ला उठी। जाम्ववानजी का क्रोध भडका, फिरतो जाम्ववान और श्रीकृष्ण(भक्त और भगवान)मे सत्ताईस दिनतक घोर द्वन्द्व युद्ध होता रहा। अट्ठाइसवें दिन युद्ध प्रसङ्ग समाप्त करने की इच्छा से जव श्रीकृष्ण ने जाम्ववान पर कठिन घूसे का प्रहार किया तो जाम्ववान के अंग अंग ढीले पड़ गये। तत्काल वोध हुआ कि विना भगवान के इस प्रकार मुझे शिथिल करने वाला दूसरा कोई देव-दानव-मानव हो नही सकता। पुनः तुरन्त ही पूर्व वरदान की स्मृति भी हो आई। अतः जाम्ववानजी ने युद्ध छोडकर भगवान की स्तुति की, भगवान ने उन्हे श्रीरामरूपका दर्शन कराया और उनके शरीर पर अपना वरद हस्त फिराया—'तन भा कुलिस गई सव पीरा।' गुफा मे भगवानके प्रवेश करनेका अभिप्राय जानकर जाम्ववानने भगवत्सेवार्थ अपनी कन्या जाम्ववती को मणि के साथ श्रीकृष्ण चन्द्र के चरणों में समर्पित कर दिया।

श्रीजाम्ववानजी ऐसे महाभागवत हुये कि जिन्होंने भगवानके विविध अवतारोंका दर्शन किया। प्रसङ्ग आता है, जिस समय विभीषणजी ने पुष्पक विमान में बहुत सी बहुमूल्य वस्तएं भर कर प्रभु श्रीरामको भेंट किया तो श्रीप्रभु ने जाम्बवानजी से पूछा कि—मैं इनमेंसे क्या लूँ? तब जाम्बवानजीने अपनी अतिकालीनता का परिचय देते हुए कहा कि प्रभो! मैंने सृष्टि के कितने ह्रास-विकास देखे हैं। कितने मनु और मन्वन्तर, कितने देव और देवेन्द्र देखे हैं। कितने समुद्र-नदी-नद नारे और चन्द्रमा-सूर्य-सितारे देखे हैं जो मेरे सामने बने और बिगड़े। आपके भी कितने अवतार-दर्शन का सौभाग्य मुझे मिला, परन्तु यह मैंने कभी नहीं देखा कि आप स्वयं देकर फिर ले भी लेते हों। यह तो मैं आज ही सुन रहा हूँ। श्रीरामजी हँस गये। बोले—जाम्ववानजी! आपके श्रीमुखसे हमें अपने इस स्वभाव की प्रतिष्ठा करानी थी, इसलिये मैंने आप से यह बात पूछी थी। प्रतिष्ठा प्रामाणिक जनों द्वारा ही होती है और आप से बढ़कर प्रमाण रूप दूसरा मुझे मिलेगा नहीं। श्रीजाम्बवानजी प्रभु के चरणों में लोट-पोट हो गये। भगवान ने उठाकर हृदय से लगा लिया॥

श्री सुग्रीवजी—एक बार मेरु पर्वत पर तपस्या करते हुए ब्रह्माजी की आँखों से गिरे हुये आंसुओं से एक प्रतापी वन्दर उत्पन्न हुआ जिसका नाम ऋक्षराज था। एक बार ऋक्षराज शापित सरोवर के पानी में अपनी छाया देखकर उसमें कूद पड़ा। पानी में गिरते ही उसने एक सुन्दर स्त्री का रूप धारण कर लिया। एक बार उस स्त्री को देख कर इन्द्र और सूर्य मोहित हो गये। इन्द्र ने अपना वीर्य उसके मस्तक पर और सूर्य ने अपना वीर्य उसके गले पर डाल दिया। इस प्रकार उस स्त्री को इन्द्र के वीर्य से वालि और सूर्य के वीर्य से सुग्रीव नामक दो वानर उत्पन्न हुये। इसके कुछ दिनों के बाद उस स्त्री ने पुनः अपना पूर्वरूप धारण कर लिया। ब्रह्माजी की आज्ञा से उसके पुत्र किष्किन्धा में राज्य करने लगे।

कालान्तर में इन दोनो भाइयों में विरोध हो गया। विरोध का कारण यह बना कि एक दिन आधीरात को मायावी नामक असुर के ललकारने पर महावली वालि ने उसका पीछा किया। सुग्रीव भी भ्रातृ स्नेह वश संग-संग लग गये। वह दैत्य भाग कर एक गुहा में घुस गया। तव वालि ने सुग्रीव से कहा कि—'परिखेसु मोहिं एक पखवारा। नहिं आवउं तव जानेसु मारा।' और स्वयं गुफा में प्रवेश कर गया। सुग्रीव एक महीने तक गुहा द्वार पर उपस्थित रहे, अन्त में क्या देखे कि रक्त की एक बड़ी धारा उस गुफा से निकल रही है। उसमें वालि के रोम-समूह देखकर सुग्रीव ने अनुमान किया कि वालिका ही वध हुआ है। ऐसा सोचकर गुहा का द्वार एक शिला से वन्द कर वह किष्किन्धा वापस लौट आये। मन्त्रियों ने नगरको राजा-विहीन देखकर सुग्रीवको ही वरवस राज्य दे दिया। पीछे वालि उसका वध करके आकर, सुग्रीव को गद्दी पर बैठा देखकर उसने मनमें बड़ा भेद माना और सुग्रीव को वैरी की भांति मारा और स्त्री तथा सर्वस्व हरण कर लिया। प्राणरक्षार्थ सुग्रीव समस्त भुवनोमें भागते फिरते रहे परन्तु कहीं ठौर नहीं मिला तब श्रीहनुमान जी के संकेत पर श्रीमतंग ऋषि के आश्रम ऋष्यमूक पर्वत पर हनुमान, जाम्बवान, नल, नील-इन चार मन्त्रियों को साथ लेकर रहने लगे।

श्रीसीतान्वेपण के सिलसिले में जव श्रीराम, शवरी के वताने पर ऋष्यमूक पर्वत पर आये तो प्रथम तो सुग्रीवजी को इन्हें वालिका भेजा हुआ जानकर वड़ा भय हुआ, परन्तु बादमें जव सुग्रीव के भेजे हुये हनुमानजी ने वटुरूप धर कर पूर्ण परिचय प्राप्त कर दोनों भाइयों को पीटपर चढ़ाकर सुग्रीव को

यह इशारा किया कि ये तो परम अनुकूल हैं तो सुग्रीव ने सन्तोष की साँस ली। हनुमानजी ने वड़े ही आदर पूर्वक दोनो भाइयो को पर्वत पर लाकर अग्नि को साक्षी देकर श्रीराम और सुग्रीव मे दृढ़ मैत्री करा दी। सुग्रीव ने श्रीजानकी जी का पता लगाने का आश्वासन दिया। यथा—कह सुग्रीव सुनहु रघुवीरा। तजहु सोच आनहु मन धीरा॥ सव प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि विधि मिलिहि जानकी आई॥

उपर्युक्त वातो से सुग्रीव की अपनी सेवा में परायणता और तत्परता देखकर कृपासिन्धु भगवान श्रीराम ने प्रसन्न होकर सुग्रीव से भी वन में वसने का कारण पूछा और वालि की अनीति जान लेने पर—

सुनि सेवक दुख दीन दयाला। फरकि उठी द्वौ भुजा विसाला॥

सुनु सुग्रीव मारिहौं, वालिहि एकहि वान।
व्रह्म रुद्र सरनागत, गये न उवरिहि प्रान॥

सखा सोच त्यागहु वल मोरे। सव विधि घटव काज मैं तोरे॥

इस प्रकार श्रीराम ने सुग्रीवका सहयोग किया और सुग्रीवने श्रीराम का सहयोग किया। फलतः दोनो ही पूर्ण काम हुए। इस पर—

दृष्टांत—देवता और दैत्यों का—एक वार दैत्यों ने व्रह्माजी से शिकायत की कि यद्यपि हम लोग सव प्रकार से देवताओं से चढ-वढकर ही है तो भी स्वार्थ साधन में पीछे ही रह जाते हैं। हाथ मे आये हुये लाभ से भी वचित रह जाते हैं। क्या वात है? व्रह्माजी ने मुस्कराकर कहा—इसका समाधान कल किया जावेगा। दूसरे दिन व्रह्माजी ने दैत्यों और देवताओ का नेवता किया। भोजन लड्डू का था। वड़े-वड़े लड्डू वने थे। चूँकि दैत्य अपने को देवताओ से श्रेष्ठ मानते हैं। अतः उन्हें भोजन के लिये पहले वैठाया गया। जव लड्डू परस दिये गये तो व्रह्माजी ने दैत्यों के हाथो में एक-एक सीधी लकड़ी वँधवा दी जिसमें उनका हाथ मुडकर मुँह के पास न आ सके, विल्कुल सीधा रहे। और खाने का आदेश दिया। दैत्य वड़ी कठिनाई में पड गये। वे पत्तलसे लड्डू उठाते, मुँह तक पहुँचता नही, ऊपरको उछालते इधर अपना मुँह फैलाकर ऊपर देखते। कोई लड्डू तो निशाने से मुँह मे पड़ता, कोई नाक पर गिरता, कोई माथे पर गिरता, कोई ठुड्डी पर गिरता एव प्रकारेण सामान सव वरवाद हो गया और पेट किसी का नही भरा। इसके वाद व्रह्माजीने देवताओ को भोजन करनेके लिये वैठाया, और वही वात इनके साथ भी की गई। देवताओं ने वुद्धिसे काम लिया। वे लड्डू उठाते और दूसरे के मुँह मे डाल देते। इस प्रकार परस्पर के सहयोग से देवताओ ने वड़े आनन्दपूर्वक भोजन किया और सामान किंचितमात्र भी वर्वाद न हुआ। दैत्य देखकर भौचक्के से रह गये। व्रह्माजी ने उनको समझाया—तुम लोगो मे स्वार्थ-साधन के लिये, जो परम आवश्यक एक दूसरेका सहयोग है, उसका अभाव है इसीसे स्वार्थ सिद्धि में विफल हो जाते हो। श्रीरामजीके लिये तो कहा है कि—नीतिप्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥ अतः पहले सुग्रीव का कार्य कर दिये, पश्चात् अपने कार्य का ध्यान दिलाया।

सुग्रीव को अत्यधिक प्रीति के कारण प्रभु के वल में संदेह हो गया अतः परीक्षा के लिये दुन्दुभि दैत्य की हड्डियाँ और सप्ततालो को दिखाया। श्रीरघुनाथजी ने अस्थियों को तो पैर के अंगुष्ठमात्रसे दवा

योजन दूर फेंक दिया और सप्ततालों को भी एक ही बाण से गिरा दिया। सुग्रीव को—**देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन्ह भै परतीती॥** हुआ भी ऐसा ही वालि मारा गया। किष्किन्धा का राज्य सुग्रीव को और यौवराज्य बालि पुत्र अगद को मिला। भगवान की माया अतिशय प्रवल है। जो सुग्रीव पूर्व भगवान से प्रतिज्ञा किये थे कि **'सुख सम्पति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करि हौं सेवकाई।'** वे ही राज्य पानेपर सेवा करना तो दूर रहा भगवान को ही एक दम भूल गये। यथा—**'सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी।'** श्रीहनुमानजी ने सुग्रीव को सावधान किया। श्रीरामजी ने भय दिखाकर पुनः अपने सखा को अपनी ओर आकृष्ट किया। तदनन्तर सुग्रीव ने श्रीजानकीजी का पता लगाने के लिये चतुर्दिक वानरों को भेजा। पता लगने पर सुग्रीव असंख्य-असंख्य वानर भालुओं को साथ लेकर श्रीरामजीके संग लंका पर चढ़ गये।

जिस समय श्रीरामजी सुवेल शैलपर सेना सहित उतरे और राक्षसेन्द्र रावण अपने महलमें बैठा-बैठा-नृत्य-गान का अखाड़ा देख रहा था। सुग्रीवजी वीर रसावेश में उछल कर रावण के यहां पहुँचकर घोर संग्राम करते हैं और रावण को नीचा दिखाकर पुनः विजयोल्लास में भरे हुए प्रभु के श्रीचरणों में आ विराजते हैं। युद्ध में भी सुग्रीव ने अद्भुत पराक्रम दिखाया। श्रीरामने—**सुग्रीवः पञ्चमो भ्राता** कहकर सुग्रीव का सम्मान किया। श्रीअयोध्या में आकर तो श्रीरामजी ने श्रीसद्गुरुदेव वशिष्ठजी से इनका परिचय देते हुये यहां तक कहा कि—**ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ बेरे॥ मम हित लागि जनम इन हारे। भरतहुँ ते मोहि अधिक पियारे॥**

श्रीसुग्रीवजी की श्रीराम-सेवा-निष्ठाका परिचय तो उस समय मिलता है जब वे वानर भालुओं को श्रीसीतान्वेपणार्थ यत्र-तत्र भेजते हुये चेतावनी देते हैं। यथा—

चौ०— **मन क्रम वचन सो जतन विचारेहु। रामचन्द्र कर काज सँवारेहु॥**
भानु पीठ सेइअ उर आगी। स्वामिहि सर्व भाव छल त्यागी॥
तजि माया सेइय परलोका। मिटहिं सकल भव संभव सोका॥
देह धरे कर यह फल भाई। भजिअ राम सब काम विहाई॥
सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥

श्रीसुग्रीवजी का समस्त जीवन ही श्रीराम सेवामय रहा॥

श्री विभीषण जी—पुलस्त्यजी ब्रह्माजी के परमप्रिय मानसपुत्र थे। पुलस्त्यजी की स्त्री का नाम 'गौ' था, उससे वैश्रवण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वैश्रवण पितामह ब्रह्माकी सेवामें रहने लगा। इससे पुलस्त्यजीको बहुत क्रोध आगया। उन्होंने (वैश्रवणको दण्ड देने के लिए) अपने आपको ही दूसरे शरीर से प्रकट किया। इस प्रकार अपने आधे शरीर से रूपान्तर धारणकर पुलस्त्यजी विश्रवा नाम से विख्यात हये। विश्रवाजी वैश्रवण पर सदा कुपित रहा करते थे। किन्तु ब्रह्माजी उनपर प्रसन्न थे, इसलिये उन्होंने उसे अमरत्व प्रदान किया, समस्त धनका स्वामी और लोकपाल वनाया, महादेवजी से उनकी मित्रता करादी और नलकूवर नामक पुत्र प्रदान किया। साथ ही ब्रह्माजी ने उनको राक्षसों से भरी लंका का आधिपत्य और इच्छानुसार विचरनेवाला पुष्पकविमान दिया तथा यक्षों का स्वामी बनाकर उन्हें 'राजराज' की उपाधि भी दी।

कुवेर जी (वैश्रवणजी) पिता के दर्शन को प्रायः जाया करते थे। विश्रवामुनि उनको कुपित दृष्टि से देखने लगे। कुवेर को जब मालूम हुआ कि मेरे पिता मुझसे रुष्ट हैं तब उन्होंने उनको प्रसन्न करने के लिये पुष्पोत्कटा, राका और मालिनी नामकी परमसुन्दरी तथा नृत्यगानमे निपुण तीन निशाचर-कन्याये उनकी सेवामें नियुक्त कर दी। तीनों अपना-अपना स्वार्थ भी चाहती थी, इससे तीनो लाग-डांट से विश्रवामुनिको सन्तुष्ट करने मे लग गयी। मुनि ने सेवासे प्रसन्न होकर तीनोंको लोकपालो के सदृश पराक्रमी पुत्र होने का वरदान दिया। पुष्पोत्कटा के दो पुत्र हुये—रावण और कुम्भकर्ण। मालिनी से एक पुत्र विभीषण हुए। राकाके गर्भ से खर और शूर्पणखा हुये। यथा—

'पुष्पोत्कटायां जज्ञाते द्वौ पुत्रौ राक्षसेश्वरौ। कुम्भकर्णदशग्रीवौ वलेनाऽप्रतिमौ भुवि।
मालिनी जनयामास पुत्रमेकं विभीषणम्। राकायां मिथुनं जज्ञे खरः शूर्पणखा तथा (महाभारते)।'

पुनश्च—वाल्मीकीय के अनुसार राजातृणविन्दु अपनी कन्या को पुलस्त्यको सौंप गये। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर महर्षि ने आशीर्वाद दिया कि तूने मेरी वेदध्वनि सुनकर गर्भ धारण किया है। अतः तुझे मैं अपने तुल्य पुत्र देता हूँ, जिसका नाम विश्रवा होगा। विश्रवाजी वड़े चरित्रवान पुत्र हुये। वे पिता के समान तपमें सलग्न रहने लगे। यह देखकर श्रीभरद्वाजजी ने अपनी देववर्णिनी नामकी कन्या उनको व्याह दी। इसीके पुत्र वैश्रवण हुये। पुलस्त्यजी ने नाम करण किया और कहा कि यह वालक धनाध्यक्ष होगा। वैश्रवणजी ने एक हजार वर्ष कठोर तप किया। कभी जल पीकर, कभी पवन पानकर और कभी निराहार रहकर तप करते थे। ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर वर मांगने को कहा। उन्होने लोकपालत्व और धनाध्यक्षत्व मांगा। ब्रह्माने इन्हे यम, इन्द्र और वरुण के समान चौथा लोकपाल और निधियो का स्वामी वना दिया और पुष्पक विमान दिया। वैश्रवण ने पिताजी से जाकर सब वृत्तान्त वताकर कहा कि पितामह ने मेरे रहने का प्रवन्ध कुछ नही किया। तव विश्रवाजी ने उनको विश्वकर्मा द्वारा निर्मित लंका में निवास करने को कहा। यथा—'शून्या सम्प्रति लङ्का सा प्रभुस्तस्या न विद्यते। स त्वं तत्र निवासाय गच्छ पुत्र यथा सुखम्॥ (वाल्मीकि रामायणे)'

उसी समय विष्णु भगवान के भय से राक्षसराज सुमाली परिवारसहित रसातल में रहने लगा था। एकवार जव वह अपनी कुमारी कन्या कैकसीसहित मर्त्यलोकमे विचर रहा था, उसी समय कुवेरजी पिता विश्रवा के दर्शनोंको जा रहे थे। उनका देवताओं और अग्नि के समान तेज देखकर वह रसातल को लौट आया और राक्षसो की वृद्धि का उपाय सोचकर उसने अपनी कन्या कैकसी से कहा कि तुम पुलस्त्यके पुत्र विश्रवाको स्वयं जाकर वरण कर लो। इससे कुवेर के समान तेजस्वी पुत्र तुम्हे प्राप्त होगे। पिता की आज्ञा मानकर कैकसी विश्रवामुनि के पास गयी। सायकाल का समय था वे अग्निहोत्र कर रहे थे। दारुण प्रदोषकाल का उसने विचार न कर वहाँ जाकर उनके समीप खड़ी हो गयी। उसे देखकर उन्होने पूछा कि तुम कौन हो और क्यो आई हो? उसने उत्तर दिया कि आप तपः प्रभाव से मेरे मनकी वात जान सकते है। मैं केवल इतना वताये देती हूँ कि मैं केवल अपने पिता की आज्ञा से आयी हूं और मेरा नाम कैकसी है। विश्रवा मुनि ने ध्यान के द्वारा सब जानकर उससे कहा कि तू दारुण समयमे आयी है इससे तेरे पुत्र वडे क्रूर-कर्म करने वाले और भयङ्कर आकृति के होगे। यह सुनकर उसने प्रार्थना की कि—आप ऐसे ब्रह्मवादी से मुझे ऐसे पुत्र न होने चाहिये। आप मुझपर कृपा करें। मुनिने कहा—अच्छा, तेरा पिछला पुत्र वंशानुकूल धर्मात्मा होगा। कैकसी के गर्भ से क्रमश: रावण, कुम्भकर्ण, शूर्पणखा उत्पन्न हुये। सवके पीछे विभीषण हुये। (वाल्मीकीयरामायणे)'
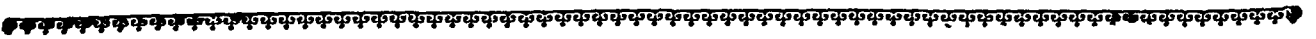
विभीषणजीने गोकर्ण क्षेत्र में जाकर धर्म पूर्वक पवित्रता से एक पैर पर खड़े होकर पाँच हजार वर्ष तक तप किया। इस नियम को समाप्त करके जब ऊर्ध्व वाहु होकर सिर ऊपर किये हुये, सूर्य पर दृष्टि जमाये हुये पांच हजार वर्ष तक वेद पाठ करते रहे। इस तरह दस हजार वर्ष तप करने पर ब्रह्माजी ने सन्तुष्ट होकर इनके समीप आकर वर मांगने को कहा तो इन्होंने भगवानके श्रीचरण कमलों में निश्चल, निश्छल प्रेम माँगा। यथा—'गये विभीषन पास पुनि, कहेउ पुत्र वर मांग। तेहि मांगेउ भगवन्त पद कमल अमल अनुराग। श्रीब्रह्माजी ने 'एवमस्तु' कहा। यद्यपि श्रीविभीषणजी रावण के साथ लंका में निवास करते थे परन्तु रावणका संगदोष विभीषन को छू भी नहीं गया था। वे निरन्तर भगवद्भजन में ही अपना समय विताते थे। तभी तो कहा गया है कि—बिधि बस सुजन कुसङ्गति परहीं। फनिमनि सम निज गुन अनुसरहीं॥ विभीषन की इस रहनी पर स्वयं भगवान श्रीरामभी आश्चर्य चकित थे। यथा—कहु लंकेश सहित परिवारा। कुशल कुठाहर वास तुम्हारा॥ खलमण्डली बसहु दिन राती। सखा-धर्म निबहै केहिभांती॥ यद्यपि रावण स्वयं भगवान से, भगवद्भक्तों से, देवताओं से वैर मानता था परन्तु विभीषण के भजन पूजन में कोई वाधा नहीं देता था। लंका जैसी राक्षसों की नगरी में भी भगवान का मन्दिर तुलसी वाटिका, कथा-कीर्तन, शंख ध्वनि विभीषण की भक्ति-भावना के प्रतीक हैं। यथा—

चौ०— भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि मन्दिर तहँ भिन्न बनावा॥
रामायुध अंकित गृह, सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका वृन्द, तहँ, देखि हरष कपिराइ॥

श्रीविभीषण जी के हरि मन्दिर के सम्बन्ध में रीवाँ नरेश महाराज रघुराज सिंह जी लिखते हैं—

चौ०— रावण जीत्यौ इन्द्रहिं जाई। लूटि भण्डार लंक महँ लाई॥
नाती सुतन वस्तु सब दीन्हों। प्रभु वराह मूरति एक चीन्हों॥
दियो विभीषण काहि बुलाई। कही विभीषण तब सिर नाई॥
जो मोहि देहु तो अस कहि दीजै। अपने मनकी सब करि लीजे॥
दो—० रावण कह्यौ करहु चित चाहा। तुम्है न होई कछु दुख दाहा॥
तबहिं विभीषण मुदित ह्वै, नव मन्दिर बनवाय।
रामायुध अंकित भवन, दिय वराह पधराय॥
धरम अनेक करन सो लाग्यो। रह्यो न रावण के भय पाग्यौ॥(राम रसिकावली)

जब श्रीहनुमानजी श्रीजानकी माता को खोजते हुये विभीषण के भवन के पास पहुँचे तो, उन्हें प्रथम तो अद्भुतसा लगा परन्तु तत्काल ही जब विभीषण जी ने जगकर—'राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा'। तो हनुमानजी को वड़ा हर्ष हुआ सज्जन पहचान कर। यथा-'हृदय हरष कपिसज्जन चीन्हा।' फिरतो हनुमानजी इन महाभागवत से मिले विना नही रह सके। वड़ा ही सुख-सम्मिलन रहा इन महानुभावों का। परस्पर भगवत्स्मृतिमें विभोर हो गये। यथा—एहि विधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य विश्रामा॥ श्रीविभीषणजी के वताये हुये संकेतों से ही हनुमानजी श्रीजानकीजी का पता लगाने में सफल हो सके।

विभीषणजी रावणकी नगरी मे रहकर भी रावणकी दुर्नीतियोका हमेशा विरोध करते हुए उसे सन्मार्ग प्रदर्शन ही करते थे। जिस समय श्रीराम दूत हनुमानको राक्षसेन्द्र रावणने प्राण दण्डकी घोषणा की और राक्षस मारने के लिये दौड़े ही थे कि— सचिवन्ह सहित विभीषण आये ॥ नाइ सीस करि विनय बहूता। नीति विरोध न मारिय दूता ॥ आन दण्ड कछु करिय गुसाईं। सबही कहा मन्त्र भल भाई। रावणकी अनीति से लका जल गई। राक्षस जीवन से निराश हो गये। कुछ चापलूस मन्त्रियो के बहकावे में आकर रावण को भावी विनाश की किंचित् चिन्ता नही रही। उस समय विभीषणजी ने अपना कर्तव्य विचारकर रावणको श्रीराम तत्व का बोध कराते हुये वैर विरोध छोडकर भगवद्भजन का सुझाव दिया। परन्तु काल विवश रावणने विभीषणका तिरस्कार कर लकासे निष्कासित कर दिया। लेकिन इतने पर भी विभीषणजी हितोपदेश ही करते रहे। यथा—मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती ॥ असकहि कीन्हेसि चरण प्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा ॥ उमा संत की इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई ॥ तुम पितु सरिसभले मोहि मारा। रामभजे हित नाथ तुम्हारा ॥ रावण को यह संदेश देकर विभीषण ने स्वयं श्रीराम की शरण ली।

श्रीनारद पांचरात्रान्तर्गत शरणागति षड्विधा कही गई है। यथा—आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीतिविश्वासो गोप्तृत्ववरणंतथा। आत्मनिक्षेप कार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः ॥ अर्थात् भगवान की शरण प्राप्ति में जो जो बात अनुकूल हों उसकी प्रतिज्ञा करना, प्रतिकूल का त्याग करना, रक्षा में दृढ विश्वास हो अर्थात् प्रभु मेरी रक्षा अवश्य करेंगे यह दृढ विश्वास रहे। रक्षक रूप से भगवान को वरण करना, अर्थात् आप ही एक मात्र रक्षक है इस भावसे उनको स्वीकार कर लेना। अपनी आत्मा को प्रभु को समर्पण कर देना। अपनी दीनता निवेदन करना। श्रीविभीषणजीने इन छओ प्रकारसे शरणागति की यथा—

१- अनुकूलता का संकल्प—चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माही ॥
देखिहउँ जाइ चरन जल जाता ॥

२- प्रतिकूलता का त्याग—मै रघुबीर सरन अब, जाउँ देहु जनि खोरि ॥
अस कहि चला विभीषन।

३- रक्षा में विश्वास— सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा॥

४- गोप्तृत्ववरण— श्रवन सुजस सुनि आयऊँ, प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर ॥

५- आत्म निवेदन— अस कहि करत दण्डवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष विशेषा ॥

६- कार्पण्य— नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर वंस जन्म सुरत्राता।
सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहिं तम परनेहा ॥
(रा० च० मा०)

शरणागत वत्सल भगवान श्री राम ने सब प्रकार से विभीषण को अपनाया और तत्काल ही तीर्थपति समुद्रके जलसे लंकेश पद पर अभिषिक्त कर उन्हें अपना समर मन्त्री बनाया। श्रीरामजी विभीषण की मन्त्रणाओ का आदर करते थे। समुद्र सन्तरण के समय इनके कहने पर तीन दिन तक समुद्र

तट पर सत्याग्रह भी किये थे। युद्ध काल में विभीषण की मन्त्रणायें बड़ी महत्व पूर्ण है। रावण, कुम्भ-कर्ण और मेघनाद के बल के रहस्योंका बोध इन्होंने समय-समय पर बड़ी चातुरी से कराया है और जब अनेक प्रयत्न करने पर भी रावण को मरते न देखकर श्रीरामजी ने विभीषण की ओर देखा तो विभीषण ने ही रावण वध की युक्ति बताई। यथा—**मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा। राम बिभीषन तन तब देखा॥** तो विभीषण ने कहा—**नाभिकुंड पियूष बस याके। नाथ जियत रावन बलताके॥** युद्धके समयका सबसे महत्वपूर्ण प्रसङ्ग तो वह है जब श्रीरामजी ने अति प्रेम के कारण अधीर विभीषण को धर्म रथका उपदेश दिया। यथा—

चौ०—
रावन रथी विरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा॥
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा॥
नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥
सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। क्षमाकृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म सन्तोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जस नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

दो०—
महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥
सुनि प्रभु बचन बिभीषन हरषि गहे पदकंज।
एहि मिस मोहि उपदेसेहु रामकृपा सुखपुंज॥

विजय श्रीराम की हुई। लङ्काधिपति विभीषण बने। सर्वस्व श्रीराम को सौंपा। श्रीरामने सर्वतो भावेन विभीषण को अपना करके माना। श्रीराम के साथ विभीषण भी अयोध्या आये। श्रीमद्राघवेन्द्र आनन्दकन्द कौसलचन्द्र श्रीरामजीका राज्याभिषेक हो जाने पर प्रभु से बहुत-बहुत प्यार पाकर जब विदा होने लगे तो उन्हें विरह व्याप गया। तब श्रीरामजी ने अपने कुल देवता 'श्रीरंगजी' को देकर कहा कि **'आराधय जगन्नाथं इक्ष्वाकु कुल दैवतम्।'** तुम इनकी आराधना करना परन्तु मार्ग में कहीं रखना नहीं, पृथ्वी पर रख दोगे तो ये फिर वहाँ से उठेंगे नहीं। विभीषणजी कावेरी तट पर चन्द्र पुष्करणी क्षेत्र में पहुँचे तो उन्हें लघुशंका लगी तब इन्होने श्रीठाकुरजी का विमान वहाँ रख दिया, फलस्वरूप विमान वहाँ से न उठा, तब श्रीविभीषणजी ने भगवान की बहुत अनुनय विनय की तो भगवान ने आज्ञा करी कि—

थापहु मोहिं कावेरीतीरा। नित पूजन आवहु मतिधीरा॥
जो हमको लंकहिं लै जैहौ। तो इक तुमहीं दरसन पैहौ॥

कलि में जो मम दरसन करिहैं। बिनु प्रयास भव सागर तरिहैं॥
भरत खण्डजन लंक न जैहैं। तौ केहि विधि मम दरसन पैहैं॥
ताते करहु जगत उपकारा। यहि थल मन्दिर रचहु उदारा॥
रङ्गनाथ के वचन सुनि, हर्षि निशाचर पाल।
विशकर्मा को तेहि थलहिं बुलवायो तत्काल॥
तुरत महा मन्दिर बनवायो। तामें रङ्गनाथ पधरायो।
लंका ते नित पूजन हेतू। आवन लग्यो निशाचरकेतू॥
यहि विधि वीति गयो बहु काला। भयो इतै कोऊ नर पाला॥
रङ्गनाथ के मन्दिर माहीं। राखौ कोउ इक पूजक काहीं॥
सो पूजक आंगन इक राती। उपटी लख्यौ चरण की पांती॥
इक इक पद इकइस कर केरे। तेहि अचरज लाग्यो दृग हेरे॥
छिपि बैठ्यौ ताकन के काजा। सो तहँ लख्यो निशाचर राजा॥
पूछ्यौ कौन अहो तुम देवा। करियत रङ्गनाथ की सेवा॥
कह्यो विभीषण मैं लंकेशा। मेरे इष्टदेव रंगेशा॥
तुम हो सेवक मम प्रभु केरे। ताते चलहु विप्र घर मेरे॥
अस कहि विप्रहिं कन्ध चढ़ाई। गवन्यो भवन निशाचर राई॥
तहँ वहु मणि दै पूजन कीन्हो। पुनि पहुँचाय रग ढिग दीन्हों॥
(राम रसिकावली)

कथा आती है एक ब्राह्मण को श्रीविभीषणजी के दर्शन की इच्छा हुई तो वह श्रीरङ्गनाथ जी के मन्दिर मे प्रसादी फूलो के ढेर में छिप रहा। जब श्रीविभीषणजी पूजन करके जाने लगे तो सेवकों ने प्रसादी माला फूल रथ मे धर लिया। बलवान राक्षसो को पण्डितजी भी माला-फूल से ही लगे। लंका पहुँचने पर जब प्रसाद वितरण होने लगा तब पण्डित जी प्रगट हुए। विभीषणजी ने बड़ा आदर सत्कार किया और पूछा—मैं आपकी क्या सेवा करूँ। तब पण्डितजी ने कहा—लंका में जो दुर्लभ वस्तु हो वह मुझे आप दीजिये। विभीषणजी ने मन्त्रियो से परामर्श किया तो मालूम हुआ कि लंका मे लोहा और फटे-चीथड़े दुर्लभ हैं। विभीषणजी ने मणिजटित स्वर्ण पेटिका मे बन्द कर यही उपहार रूप मे दिया। पण्डित के भाग्य का दोष। स्वर्ण मणिमयी लङ्का से लोहा और चीथडा लेकर चला। विभीषणजी ने सँभाल दिया, पेटिका रत्नमयी प्रदान करी जिसमें घर जाकर ब्राह्मण को अधिक पश्चात्ताप न हो।

आज भी श्रीरङ्गनाथ जी वही विराजमान हैं। आज भी श्री विभीषणजी भगवान का पूजन करने के लिये नित्य आते हैं। एक बार श्रीविभीषणजी रथ पर चढकर श्रीरगजी के पूजन निमित्त आ रहे थे। विप्रघोष नाम के गाँव में गली के एक मोड़ पर संयोग वश एक धर्मात्मा वृद्ध ब्राह्मण इनके रथ के नीचे दबकर मर गया। विभीषणजी कि कर्तव्य विमूढ हो वही रुक गये। वहाँ के ब्राह्मणों ने इन्हे बहुत मारा पीटा परन्तु प्राण नही निकले। तब इन्हे जंजीरो से जकड कर जमीन के अन्दर एक कोठरी में बन्द कर दिया। श्रीनारदजी के द्वारा जब यह समाचार श्रीरामजी को मिला तो वे तत्काल पुष्पक विमान से वहाँ आये। वहां ब्राह्मणो ने श्रीरामजी का बड़ा स्वागत किया और विभीषण को समुचित दण्ड देकर धर्म की रक्षा करने की अपील किया। उस समय शरणागत वत्सल श्रीराम ने जो कुछ कहा है

उससे, भगवान की भक्तों के प्रति कितनी ममता है, इस तथ्यका उद्‌घाटन होता है। श्रीरामजी ने बडी विनम्रता पूर्वक कहा—

वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्। राज्यमायुर्मयादत्तं तथैव स भविष्यति॥
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड इष्यते। रामवाक्यं द्विजाः श्रुत्वा विस्मयादिदमब्रुवन्॥

अर्थ—द्विजवरो ! विभीषण को तो मैं कल्पपर्यंत तक के लिए अखण्ड राज्य और आयु दे चुका हूँ वह तो मर नही सकता। फिर उसके मरने की जरूरत ही क्या? वह तो मेरा भक्त है। भक्त के लिये मैं स्वयं मरने को भी उद्यत हूँ। सेवक के अपराध की जिम्मेवारी तो वास्तव में स्वामी पर ही होती है। नौकर के दोष से मालिक ही दण्डका पात्र होता है, अतएव विभीषण के बदले आप लोग मुझे ही दण्ड दीजिये।' अहा ! **अस सुभाउ कहुं सुनेउं न देखउं। केहि खगेश रघुपति समलेखउं॥** तभी तो श्रीतुलसी दासजी कहते है कि—**हरि तजि और भजिये काहि। नाहिनै कोउ रामसों ममता प्रणत पर जाहि॥** श्रीरामने अपने हाथ से विभीषण के बन्धन खोले, उन्हें हृदय से लगाया। यह सब सुन-देखकर ब्राह्मण बड़े ही विस्मित हुये और सबके सब ऐसे करुणामय स्वामी की शरणग्रहण किये। (स्थल-पुराण)

एक बार भगवान श्रीराम, भरतादिक भाइयों एवं सुग्रीवादिक सखाओं को साथ लेकर पुष्पक विमान पर आरूढ़ होकर विभीषण का शासन प्रबन्ध देखने के लिये लंका गये। विभीषणजी के हर्षका ठिकाना नही रहा। परम प्रेमोल्लास में भर कर प्रभुका बड़ा भारी स्वागत-समारोह किया। प्रभुका दर्शन कर साष्टांग प्रणाम कर अपने जीवनको, जन्म को सफल समझा। उत्तम, उच्चतम रत्न जटित स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान कराकर षोडशोपचार विधि से पूजन किये। युद्धके समय लङ्का निवासी श्रीराम का दर्शन नहीं कर पाये थे अतः आज दर्शन के लिये समस्त लंका नगरी उमड़ पड़ी। श्रीराम की आज्ञा पाकर विभीषण ने प्रजाके लिये दर्शनार्थ द्वार खोल दिया। लोग निहाल हो गये भुवनमोहिनी श्री-राम-भरतकी जोड़ी देख कर। चौथे दिन विभीषणने श्रीरामसे निवेदन किया—प्रभो ! रावण की, कुम्भ-कर्ण की तथा मेरी माता कैकसी आपके श्रीचरण कमलों का दर्शन करने के लिये आना चाहती हैं। आप कृपा करके उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ करे। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने कहा—भैया विभीषण। जैसे वह तुम्हारी माँ हैं वैसे ही मेरी भी माता ही हुई। मैं स्वयं उनका दर्शन करने के लिये चलता हूं। जाकर मां से निवेदन करो। इतना कह कर प्रभु तुरन्त ही उठकर चल दिये और जाकर कैकसी को देखकर—'आप मेरी धर्ममाता हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ।' यह कहकर मस्तक झुका कर प्रणाम किया और विभीषण सरीखे पुत्रको जन्म देने वाली जननी को बधाई दी। कौसल्याके समान मानकर सत्कार किया। कैकसी ने भी वात्सल्य भाव से भावित्त होकर आशीर्वाद दिया।

पश्चात् विभीषण पत्नी सरमा ने श्रीराम की स्तुति की। श्रीरामने भरत को सरमा का परिचय देते हुये कहा कि—'यह महाभागवत विभीषणकी साध्वी भार्या हैं। इनका नाम सरमा है। ये परम साध्वी सीता की प्रिय सखी हैं। इनकी सखिता बहुत ही दृढ़ है। लंकामें अशोक वनमें निवास काल में इन्होंने अपनी पुत्री कला के साथ सीता की बहुत सेवा की है। तदनन्तर श्रीराम ने विभीषण, सरमा, एवं समस्त लकानिवासियोंको समयोचित उपदेश दिया। कुछ दिन रहकर जब श्रीराम चलनेको प्रस्तुत हुये तो विभीषण ने समुद्र पर स्थापित सेतु के सम्बन्ध में आपत्ति की कि यदि यह बना रहा तो अवांछनीय लोग भी लंका में आकर शान्ति भंग करेंगे। आप जैसा उचित समझें वैसा करे। श्रीराम ने उस सेतुको तोड़ कर

टुकड़े-टुकडे कर दिया। अब लका पुनः—खाई सिन्धुगँभीर अति चारिहुँ दिसि फिरि आव।' के रूप मे स्थित हो गई ॥ श्रीराम अयोध्या आ गये। इस प्रसङ्ग से भगवान श्रीरामका विभीषण एव उनके कुटुम्ब के प्रति भी अगाध अनुराग दर्शित होता है।

श्रीभक्तमालजीके टीकाकार श्रीप्रियादासजी ने भी विभीषणजी के जीवनका एक मधुर संस्मरण प्रस्तुत किया है। जिससे उनकी भगवन्निष्ठा का पता चलता है। वह प्रसङ्ग इस प्रकार है—

भक्ति जो विभीषण की कहै ऐसो कौन जन ऐ पै कछु कही जाति सुनो चितलाय कै।
चलत जहाज परी अटकि विचार कियौ कोऊ अङ्गहीन नर दियौ लै वहाय कै॥
जाय लग्यौ टापू ताहि राक्षसनि गोद लियो मोद भरि राजा पास गये किलकाय कै।
देखत सिंहासन ते कूदि परे नैन भरे याही के आकार राम देखे भाग पाय कै॥२८॥

शब्दार्थ—अटक=रोक, बाधा। अङ्गहीन=दुर्बल, पंगु। किलकाइ=प्रसन्न, उमङ्ग।

भावार्थ—ऐसा कौन कवि है जो विभीषणजी की भक्तिका वर्णन कर सके। फिर भी यथामति कुछ कहा जाता है, उसे चित्त लगाकर सुनिये। समुद्र में एक जहाज जा रहा था, वह किसी कारण से अटक गया। अनेक उपाय करने पर भी जब जहाज न चला, तब समुद्र ने रोका है और भेंट चाहता है, ऐसा मानकर नाविको ने एक दुर्बल पंगु मनुष्य को बलिदानकी तरह समुद्र मे बहा दिया। वह मरा नही, तरङ्गोमे बहते-बहते लङ्का टापूमे जालगा। राक्षसोने उसे गोदमे उठा लिया और आनन्दसे हँसते-किलकाते उसे राजा विभीषणजीके पास ले गए,उसे देखतेही विभीषणजी सिंहासनसे कूदपडे,उनके नेत्रोसे आँसू बहने लगे। उन्होने कहा—श्रीरामचन्द्रजी भी इसी आकारके थे,बड़े भाग्यसे आज इनका दर्शन हुआ है।॥२८॥

व्याख्या—भक्ति······ जन—लङ्का में रहकर भगवद्भक्ति करना, निश्चय ही श्रीविभीषणजी की भक्ति की वह अद्भुत विशेषता है जो कही नही जा सकती। जहां शास्त्रों का यह उद्घोष है कि एक कुसंगीका भी एक क्षण का कुसंग भी पतनके लिये पर्याप्त है वहाँ विभीषण जी का असंख्य-असंख्य दुष्टोके बीच नित्य निवास करते हुए धर्म निर्वाह कर लेना लोकोत्तर बात है। श्रीहनुमानजी सरीखे परम भागवतको विश्वास ही नही हो रहा था कि लङ्का मे भी कोई भक्त हो सकता है। यथा—लङ्का निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर वासा॥ मन महँ तरक करैं कपि लागा। स्वयं भगवान श्रीराम जी को भी असम्भवसा प्रतीत हो रहा है। तभी तो पूछते हैं—कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥ खल मण्डली बसहु दिन राती। सखाधर्म निबहै केहि भाँती॥ इस बात को विभीषणजी भी समझते है। यथा—सुनहु पवन सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी॥ ऐसे कुसमाज मे रहकर भी अपनी निष्ठा मे अविचल है अतः भक्ति ········ कौन जन' कहा।

कोऊ अङ्गहीन·····बहाय कै—ऐसी लोक प्रसिद्धि है कि नदी समुद्रादि बलि लेने के लिये कोप करते हैं और बलि पा जाने पर शान्त हो जाते हैं। अतः नाविको ने जहाज के मालिक को बलिदान की सलाह दी। जहाज मे वैसे तो बहुत लोग थे परन्तु एक पंगु को बलि के नाम पर समुद्र मे

बहा दिया गया। प्रश्न—अङ्गहीन की बलि क्यो ? इसकी तो रक्षा करनी चाहिए। समाधान—**वनानि दहतो वह्नेः सखा भवति मारुतः। स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदम्॥** अर्थ—वनको जलाते हुये प्रचण्ड अग्निका तो लपटको वढ़ानेमें पवन सहायक सखा बन जाता है और वही दीपककी लौको बुझा देता है। ठीक कहा है—दुर्बल का कौन सहायक है। दैव भी तो दुर्वलका ही घातक है। यथा—**अश्वं नैव गजं नैव, सिंहं नैव च नैव च। अजापुत्रं बलिं दद्यात् दैवो दुर्बलघातकः॥ सबै सहायक सबल के, निवल न कोउ सहाय।** दूसरी बात यह कि—स्वार्थी दोष को नहीं देखता है, यथा—

नहि पश्यति जन्मान्धो, कामान्धो नैव पश्यति।
न पश्यति मदोन्मत्तो, अर्थी दोषं न पश्यति॥

अर्थ—जैसे जन्मान्ध, कामान्ध एवं मदान्ध को कुछ नही दिखाई देता है। वैसे ही कार्यार्थी भी अपने कार्य साधन में दोष पाप नही देखता है।

जाय लग्यौ टापू—जाको राखै साइयाँ मारि सकै नहि कोय।
बाल न बांका करि सकै जो जग वैरी होय॥

पुनश्च—**चारि भुजा के जो राखन हार [तो] कहा बिगरै द्वै भुजा के बिगारे॥**

भवसागर में डूवते हुये को वचाने वाले भगवान के लिये इस समुद्र से बचा लेना कौन वड़ी बात है। समुद्र की तरंगों का कन्दुक (गेंद) बना वह पंगु बहते-वहते लङ्का के टापू से जा लगा। **ताहि..........किलकाय कै**—समुद्रतट पर विचरने वाले राक्षसो ने देखा तो उन्हे यह पंगु नर अद्‌भुत जन्तुसा लगा। वे मनुष्य देखे नही थे, कोई जलचारी जीव समझकर कुतूहलवस उसे गोद मे उठा लिये और यह विचारकर कि इसे देख हमारे महाराज (विभीषणजी) वहुत प्रसन्न होंगे, वे राक्षस भी आनन्द में भरकर उछलते-कूदते उस पंगु को भी उछालते-कुदाते विभीषणजी के पास ले आये।

देखत ही.......भाग पाय कै—भक्तोंका स्वभाव होता है कि इष्ट की स्मृति दिलाने वाली वस्तु भी उन्हे इष्टवत् प्रिय लगती है। यथा—**कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आज मोहि राम पिरीते॥** अपने प्रियतमके नाम, रूप लीला, धामसे सम्वन्धित किसी भी वस्तु को देखकर प्रेमियोंका प्रेम उद्दीप्त होता है। यथा—

नील कंज फूल देखि जमुनाको कूल देखि श्याम सुधि आवै सुख सिन्धु सरसाय जात।
गुंजन से गुञ्जमाल मोर पंख पुंजन से मुकुट सुकुञ्जनि से ख्याल दरसाय जात॥
ग्वाल कवि गैयन से, ग्वालनकी गोलन से पिक की सुवोलन से वही छवि छाय जात।
मठा से मथानी से मन्थन सुमाखन से मोहन की मेरे मन सुधि आय आय जात॥

रचि कै सिंहासन पै लै बैठाये ताही छन राक्षसन रीझि देत मानि शुभ घरी है।
चाहत मुखारबिन्द अति ही आनन्द भरि ढरकंत नैन नीर टेकि ठाड़ो छरी है॥
तऊ न प्रसन्न होत छन छन छीन ज्योति हूजिये कृपाल मति मेरी अति हरी है।
करो सिन्धु पार मेरे यही सुख सार दियो रतन अपार लाये वाही ठौर फेरी है॥२९॥

शब्दार्थ—रचिकैं—रचना करके, सजाय कर। छीन=क्षीण, मलीन। ज्योति=कान्ति। हूजिए=होइए।

भावार्थ—विभीषणजी ने उस मनुष्यको वस्त्र और अलंकारों से सजाकर सुसज्जित सिंहासन पर वैठाया और अनेक प्रकार से उसका सम्मान किया। उस घड़ी को शुभ माना और प्रसन्न होकर राक्षसो को पुरस्कार दिया। अति आनन्दमे मग्न होकर विभीषणजी उस मनुष्यके मुखारविन्दको रुचि पूर्वक देखने लगे, उनके नेत्रो से नीर वहने लगा। आज्ञाकारी सेवक की भाति वे छड़ी लेकर सामने खड़े हो गये। फिर भी वह मनुष्य प्रसन्न नही हो रहा था। क्षण-क्षणमें उसकी कान्ति क्षीण हो रही थी। तव विभीषणने प्रार्थना की कि—प्रभो! कृपा कीजिये, सेवाके लिए मुझे आज्ञा दीजिए। आपको उदास देखकर मेरी वुद्धि जाने कहा चली गई है। यह सुनकर उस मनुष्यने कहा—मुझे समुद्र के उस पार पहुँचा दो, इसी में मुझे वड़ा भारी सुख होगा। वहुमूल्यवान अपार रत्नराशि भेंट मे उसे देकर उसी ठौर समुद्र तट पर फिर ले आये ॥२६१।

व्याख्या—लङ्क ···· ··· ज्योति—पंगु ने राक्षस कभी देखा नही था। जैसे राक्षसो के लिए पंगु कौतूहल था वैसे ही पंगु के लिए राक्षस अत्यन्त भयावह थे। पंगु ने विभीषणजी के पूजोपचारको वलिका विधान माना। उसने विभीषणकी भक्ति भावना तो समझी नही, समझा कि ये लोग मुझे माला फूल पहना कर फिर अपने देवता को वलि देंगे, अतः 'न प्रसन्न होत'। पगु को स्वर्णमयी लङ्का, स्वर्ण सिंहासन, अर्चन-वन्दन, जै जैकार आदि मत्यु भयके कारण विल्कुल विपरीत लगते थे। 'करो ····· सुखसार'—सुख सार-शारीरिक सुख सुख है। आत्मिक सुख सुख-सार है 'मेरे यही सुखसार'—पगुको श्रीविभीषणजी सरीखे सन्त का सत्संग सुख अच्छा नही लगा, उसे अपना घर याद आ रहा था। जवकि कहा गया है कि —'सन्त मिलन सम सुख जग नाहीं।' 'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला एक अङ्ग। तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्सङ्ग ॥' इसका कारण यह है कि जैसे–विषका कीड़ा विष ही खाय। मिश्री सूंघत ही मरि जाय॥ श्रीविहारीदास जो जाहि सुहाइ। ता विन तापै रह्यो न जाय॥ उसी प्रकार माया-मोहित जीव भी सत्संग सुधा को छोड़कर विषय-विष की विशेष चाहना करता है। उसे तो देह-गेह-सुत-वित-कलत्र ही सुखमय प्रतीत होते है।

दृष्टांत—वृद्ध वणिक का—ससार के जीवों को दुखी देखकर नारदजी ने भगवान से शिकायत किया कि आप इन्हे अपने धाम में क्यों नही वसाते हैं। भगवानने कहा—नारदजी! कोई आना नही चाहता है। नारदजी ने कहा—मैं अभी लिवा लाता हूँ, भला वैकुण्ठ में कौन नहीं आना चाहेगा। नारदजी ने एक नगर में एक अतिवृद्ध वणिक को देखा। यद्यपि वह धन सम्पत्ति, पूत्त-पोतो से भरा पूरा था परन्तु कुत्तेसे भी अधिक तिरस्कार मय जीवन विता रहा था। पेटको भोजन नही मिलता, तन ढकने को वस्त्र नही पाता। कटु वचन अलग से सहने पडते। नारदजी को दया आई और उससे वैकुण्ठ चलने को कहे तो वह अत्यन्त कुपित होकर वोला—तुम्ही वैकुण्ठ जावो, मेरे तो सव कुछ है। मेरे वैकुण्ठ तो मेरे नाती-पोते ही हैं। नारदजी अपना सा मुँह लेकर चलते वने। कुछ दिन वाद फिर उसी नगर मे आये तो देखा वह वणिक मर कर उसी घर में भैंसा होकर भार ढो रहा है। उसके लड़के अति निर्दयता पूर्वक उससे काम लेते हैं। नारदजी ने समीप जाकर पुनः चलने को कहा तो मारने के लिए सींग चलाया। वोला—मैं अपने वच्चों की वचत करता हूँ, काम अधिक भोजन कम करता हूँ। कुछ दिन वाद

फिर आये तो देखे भैंसा मर कर कुत्ता भया है। कभी टुकड़ा मिलता कभी नही भी। अतः नारदजी पुनः अपनी वात दुहराए तो वह काटने को दौड़ा। वोला—मैं रखवाली करता हूँ। नही रहूंगा तो कौन रखावेगा। कुछ दिन वाद फिर आये तो वह मर कर सर्प भया था, नावदान में रहता। पुनः नारदजी ने कहा तो वोला—रात में चोरों की निगरानी करता हूँ। मैं नहीं जाने का। तव नारदजी ने उसका पता वताकर पुत्रों से ही मरवा कर जवर्दस्ती वैकुण्ठ ले गये। भगवान ने हँसकर कहा—नारदजी! एक को लाने में जब आपको भी लोहे के चने चवाने पड़ गये तो भला अपने से कौन आता है। यही कारण है कि पंगु भी कहता है कि मेरे यही सुखसार""""।

दियो रत्न अपार—विभीषण के यहाँ रत्नों की कमी नहीं है। त्रैलोक्य के रत्न रावण ने जीतकर अपने कोश में रक्खा ही था, डर के मारे रत्नाकर (समुद्र) भी रावण को नित्य भेंटमें रत्न देता था, और अव प्रेम वस समुद्र विभीषण को रत्नोपहार देता है अतः रतन अपार दिये।

राम नाम लिखि सीस मध्य धरि दियो याको यही जल पार करै भाव सांचो पायो है।
ताही ठौर बैठ्यौ मानो नयो और रूप भयो गयो जो जहाज सोई फिरि करि आयो है।।
लियो पहिचानि पूछ्यो सब सौ बखान कियो हियो हुलसायो सुनि बिनै कै चढ़ायो है।
पर्यो नीर कूदि नेकु पांय न परस कर्यो हर्यो मन देखि रघुनाथ नाम भायो है ।।३०।।

पाठांतर—'पांय न परस कियो' के स्थान पर 'मायाने प्रवेश करचौ'

शब्दार्थ—हुलसायो=प्रसन्न भयो। विनै=विनती।

भावार्थ—विभीषणजी ने उस मनुष्य के शिरमें श्रीरामनाम लिखकर रख दिया और कहा कि—'यही राम नाम तुम्हें समुद्र से पार कर देगा।' विभीपणकी कृपा से उस मनुष्यने भी सच्चा प्रेम और विश्वास पाया। रामनामके प्रतापसे उसका नया दिव्य रूप हो गया और वह उसी ठौर वैठ गया। संयोग वश वही जहाज फिर लौटकर आया जिससे इसे गिराया गया था। जहाज पर के लोगों ने इसे पहचान लिया। पूछने पर उसने उल्लास पूर्वक सव वृत्तान्त वताया। सुनकर लोगों को वड़ी प्रसन्नता हुई। उन लोगों ने वड़ी अनुनय-विनय करके उस मनुष्य को जहाज पर चढ़ा लिया। लोभवश नाविकों ने उससे रत्नराशि छीननी चाही, तव वह जल में कूद पड़ा और थल की तरह जलमें चलने लगा। उसके पैरों में जल छू तक नही जाता था। यह देखकर सभी को श्रीरामनाम अति प्रिय लगा। नाम मे सवका अपार प्रेम हो गया ।।३०।।

व्याख्या—राम नाम—

मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां सकलनिगमवल्ली यत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलयावा स भवति भवपारं रामनामानुभावात् ।।

अर्थ—मधुर से भी मधुर, मंगलों का भी मंगल करने वाले, सम्पूर्ण वेद रूपी लता का फल एवं चैतन्य स्वरूप श्री भगवन्नाम का भाव से अभाव से अथवा कुभाव से किसी प्रकार भी एक वार भी यदि किसी ने गायन कर लिया तो वह श्रीहरिनाम के प्रभाव से अनायास संसार सागर से पार हो जाता है।

पुनश्च—रामचन्द्र तव नाम जपन्तः पामरा अपि तरन्ति भवाब्धिम्। अङ्ग सङ्ग भवदंगुलिमुद्रः किन्नु चित्रमतरत्कपिरब्धिम् ॥ अर्थ—हेरामजी ! आपका नाम जपकर तो नीच भी भव सागर से पार हो जाते हैं तो आपकी श्रीरामनामाङ्कित मुद्रिकाके आश्रयसे श्रीहनुमानजी समुद्र पार हो गये तो इसमें क्या आश्चर्य है ॥ पुनः—प्रभु मुद्रिका मेलि मुख माहीं। जलधि लांघिगये अचरज नाहीं ॥ मुद्रिका रामनामाङ्कित थी। यथा—तव देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर ॥ श्री विभीषणजी ने ऐसे श्रीरामनाम को स्वर्ण पत्र पर लिखकर उसके सिर पर स्थापित कर दिया। 'याको यही जलपार करै' भवसागर पार करने वाले श्रीभगवन्नाम के लिये साधारण समुद्र पार करना कौन वड़ी वात है।

दृष्टान्त १—तुलसीदास के रामनाम का—गोस्वामी तुलसीदासजी काशी मे विराजते थे। नित्य सत्संग होता था अस्सी घाट पर। कथा सुनने के लिये गंगा पार से एक महानुभाव आते थे। नित्य प्रति कथा सुनकर सायकाल नाव से घर चले जाते थे। एक दिन कथा में प्रसग वश विलम्व हो जाने से इन्हे पार जाने के लिये नाव नही मिली तो ये वहुत घवडाये, आकर गोस्वामीजी से निवेदन किये। उन्होंने कहा कि आज यही विश्राम करो प्रातःकाल चले जाना। परन्तु वह तो घर जाने के लिये ही उतावला हो रहा था। गोस्वामीजी ने पूछा—तुम घर जाने के लिये इतने उत्सुक क्यो हो ? उसने कहा—महाराज ! यहाँ रहूगा तो घर की याद आयेगी जो ठीक नही, और घर चला जाऊँगा तो यहाँ का स्मरण होगा, इस लाभ के लिये जाने को समुत्सुक हूँ। गोस्वामीजी उसके उस कथन से प्रभावित हुये और तुलसी दल पर श्रीरामनाम लिखकर दे दिये। वह मुट्ठी में धरे उस महामन्त्र को, जल पर भी थल की तरह जाने लगा। लगभग गंगा पारकर चुका था, थोडी दूर हो किनारा था, उसने सोचा जरा देख तो लूँ वावाजी ने इसमे कौन-सा मन्त्र लिखा है? खोलकर देखा तो रामनाम लिखा था, मन ही मन कहने लगा यह तो मैं भी जानता हूँ वस तुरन्त ही गंगा मैया ने उसे एक गोता लगवा दिया। वह वहुत रामनाम कहा परन्तु डूवने से वच नही सका तव घवड़ाकर कहा—हे तुलसीदास के रामनाम ! मुझे वचाइये। वस तुरन्त ही लहरों का एक झोका आया और इसे किनारे की रेत में ला पटका। श्रीरामनाम के प्रभाव से गङ्गाजी ने पार तो कर दिया परन्तु दो चार डुवकी और एक पटक तो लगा ही दी। क्योंकि इसने महत्पुरुष की निष्ठा से स्पर्धा की थी।

२—दृष्टान्त गूजरी का—जमुना पार से एक गूजरी श्रीवृन्दावन में दही दूध वेचने आया करती थी। उसे नित्यप्रति नाव वालों की सिफारिस करनी पड़ती, पैसे अथवा दूध दही ही देने पड़ते। एक दिन उसने कथा में सुन लिया कि श्रीकृष्ण-नाम लेने से जीव भवसागर से पार हो जाता है तो उसने विचार किया कि तव क्या हम श्रीकृष्ण नाम लेकर यमुना पार नही हो सकती हैं। वस विश्वास पूर्वक वह सायकाल को जाते समय श्रीयमुनाजी को प्रणाम कर श्रीकृष्ण-नाम लेकर जमुना में जल में थल की तरह चलकर पार हो गई। अव तो वह रोज इसी प्रकार से आती जाती। एक दिन उसने विचार किया कि पंडितजी ने वडा उपकार किया है तो उनका एक दिन नेवता करना चाहिये। फिर तो उसने पडितजी को निमन्त्रण दे ही दिया। पंडितजी भी वड़े प्रसन्न मन से गूजरी के साथ-साथ चल दिये। वह तो नित्य नियम के अनुसार पूर्ववत् जाने लगी परन्तु पडितजी तो प्रथम नाव के लिये आग्रह किये। फिर गूजरी के वल देने पर वैसे ही चलने तो लगे लेकिन निज के विश्वास विना डूवने की नौवत आई तो चिल्लाने लगे। गूजरी वड़ी चकित हुई कि इन्ही के वताये मन्त्र से तो मैं निर्भय हो गई हूं और ये डूव रहे हैं, यह क्या वात है ? फिर वह पडितजी को अपने आधार से पार ले गई। तात्पर्य यह है कि—कॉनिउ-

सिद्धि कि बिनु बिश्वासा। श्रीतुलसीदास जी को, गूजरी को, जैसे भगवन्नाम में विश्वास था वैसे ही विभीषणजी को दृढ़ विश्वास था कि श्रीरामनाम इसे समुद्र से पार कर देगा। अतः रामनाम…भाव साँचो पायो है ।। (नाम महिमा पर विशेष देखिये श्रीनामदेवजी और पद्मनाभजी का प्रसंग)

न्यो और रूप भयो—श्रीविभीषणजी के स्पर्श से तथा श्रीरामनाम के प्रभाव से पंगु का पगुत्व दूर हो गया। इस पर दृष्टान्त—श्रीचरणव्रत जी का। देखिये छप्पय १६। **बिनै कै चढ़ायो**—जहाज के लोगो ने पंगु के साथ जो प्रथम अन्याय किया था उसके प्रायश्चित्त के लिये तथा उसके ऊपर भगवत्कृपा विचार कर उसकी बड़ी विनती की, अपराध-क्षमा-याचना की और सहानुभूति दिखलाते हुये उसे जहाज पर भी बैठा लिया। उसने अपने भोलेपन में सब बात तो बताया ही, रत्नराशि 'भी' खोलकर दिखा दिया। जहाज मालिक ने देखा तो विचार किया कि मेरा तो सम्पूर्ण व्यापार भी इसके एक रत्नके मोल के बराबर नही है। यह अकेला है, करेगा ही क्या ? छीन लूँ इसके समस्त रत्न। उसके मन में दुर्भाव आते ही यह समुद्र में कूद गया। 'परचो नीर…कियो' प्रश्न इसने यह कैसे जान लिया कि हमारे रत्नों को छीनना चाहते हैं ? समाधान-उर प्रेरक रघुवंश विभूषण। इस पर—

दृष्टांत—बुढ़िया एवं घुड़सवार का—एक बुढिया मुहरों की [illegible] पर धरे कही जा रही थी। गठरी वजनी थी। बुढिया थक गई थी, विश्राम की इच्छा हो र[illegible] इतने में एक घुडसवार उसी मार्ग से बुढ़िया की गन्तव्य दिशा की ओर जा रहा था। बुढिया ने [illegible] गठरी घोड़े की पीठ पर धर लेने की प्रार्थना किया। सवार अभिमान में भरकर बोला—तेरी ग[illegible] ढोने के लिये ही मैंने घोड़ा रक्खा है। घोड़े को एड़ लगाई, घोड़ा सपाटे से भगा, दूर निकल गया। कुछ दूर जाने पर सवार ने विचारा कि गठरी तो देखने मे छोटी थी परन्तु वजन उसमें अधिक था, बुढ़िया वजन से दबी जा रही थी। लगता है गठरी में द्रव्य है। मैंने भूल किया जो धर नहीं लिया। धर लेता, घोड़े को भगा देता, बुढ़िया करती ही क्या ? बस सवार फिर बुढियाकी ओर मुड़ा और इधर बुढिया ने भी घोड़े की सरपट चाल देखकर सोचा कि भला हुआ जो उसने गठरी ली नहीं, नही तो लेकर भाग जाता, मैं कर ही क्या सकती थी। अतः जब वे घुड़सवार लौट कर बड़ी सहानुभूति दिखाते हुये गठरी माँगने लगे तो बुढ़िया ने कहा—जाओ भैया। अब मैं अपनी गठरी नही देने वाली। जिसने तुम्हें मेरी गठरी का भेद बताया उसी ने मुझे तुम्हारे हृदय का भेद बता दिया है। इसी प्रकार भगवान ने इसे भी प्रेरणा करदी, बस तुरन्त ही समुद्र में कूद गया।

नेकु पाँय न परस कियो—श्रीरामनाम के प्रभावसे यह जल में भी थल की तरह चलने लगा। इस पर दृष्टान्त पीपाजी का समुद्र में से सूखे वस्त्र सहित निकलने का कवित्त-२८९॥ 'हरयो मन देखि'—यह चमत्कार देखकर सबका मन हर गया। लोगों ने पूछा— १—तुमको यह अद्भुत कौशल कैसे प्राप्त हुआ जो कि जल में चलने पर भी जल का स्पर्श तक तुमको नही होता है। २—तुम्हारा पंगुपन कैसे दूर हुआ। इसने भगवन्नाम की महिमा को ही मुख्य हेतु बताया। तब सभी को **'रामनाम भायो है'**-अर्थात् सबके सब श्रद्धा विश्वासपूर्वक श्रीभगवन्नाममें निष्ठा करने लगे सच्चे हृदयसे भक्त होगये। परम भागवत श्रीविभीषणजी के सत्सङ्ग का यह प्रभाव है कि देह-गेह-सुत-वित-कलत्रादि में आसक्त पंगु तथा जहाज का मालिक और नाविकादि सभी को रघुनाथ नामभायो है। तभी तो कहा गया है—**कह न होइ सत्सङ्ग ते, देखहु तिल अरु तेल। तोल मोल सब बढ़ि गयो पायो नाम फुलेल ॥** फिर तो इसे बहुत विश्वास

दिलाकर कि आपके ऊपर भक्त विभीषण की, भगवान की बड़ी कृपा है। आपका कोई बाल भी बाँका नही कर सकता, आओ जहाज पर बैठ जाओ। जहाज पर बैठाकर पार किये।

श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी महाराज ने विभीषण शरणागति बावन बार गुरु श्रीशैलपूर्ण स्वामी जी से सुना था। आचार्यपाद श्रीरामायणजी के इस प्रसंग से बड़े प्रभावित थे। हृदय में बारम्बार इस प्रसङ्ग का चिन्तन करते, उपदेश काल में भी जिस समय शिष्य परिकर विराजमान होते तो आप यह प्रसग बड़े ही भाव मे भरकर सुनाते। एक बार यही प्रसङ्ग सुना रहे थे। कथा के सिलसिले मे जब आपने कहा कि विभीषणजी शरण आये तो प्रभु ने मन्त्रियो से इनके सम्बन्धमें पूछ-ताछ की। सुग्रीव ने सलाह दिया कि— …… सुनहु रघुराई। आवा मिलन दशानन भाई॥ जानि न जाइ निशाचर माया। काम रूप केहि कारन आया। भेद हमार लेन शठ आवा। राखिअ बांधि मोहि अस भावा॥ तो यह सुनकर श्रीस्वामीजीके परम कृपापात्र धनुर्दासजी तुरन्त ही कथा छोडकर वहाँ से चल दिये। स्वामीजीने पूछा तो धनुर्दासने प्रथम तो आनाकानी की बताने में, परन्तु जोर देकर पूछने पर बोले कि प्रभो ! जा, इसलिये रहा हूँ कि मैं इस दरबार के लायक नहीं हूँ। जहा शरणागत की जाँच पड़ताल की जाती है वहाँ हम सरीखे अधमोंका निर्वाह कैसे होगा अतः मैं चल दिया कि कही ऐसा न हो कि 'दुविधा मे दोनो गये, माया मिली न राम।' चल कर घर ही सम्हालूँ। श्रीआचार्यपाद ने समझाया—धनुर्दास ! तुमने पूरा प्रसङ्ग तो सुना नही, बीच मे ही चल दिये। प्रभु तो इतने दयालु है कि हजार मन्त्रियो के कहने पर भी अपने विरद के अनुसार विभीषण को शरण ले ही लिये तथा उनके समस्त परिवार एवं अनुगत जनो को भी शरणागत मान लिये केवल विभीषण के नाते। क्यो कि 'प्रणत कुटुम्ब पाल रघुराई' प्रभु का विरद जो ठहरा। अतः तुम्हे क्यो चिन्ता है? जब प्रभु ने मुझे शरण मे लिया है तो मेरे पीछे तुम सब स्वतः प्रभुके शरणागत हो गये, प्रभु के द्वारा अपना लिये गये हो। तब श्रीधनुर्दासजी को सन्तोष हुआ॥ विभीषण शरणागति का ऐसा दिव्य महत्व है॥

श्रीशबरीजी—पूर्व जन्म की कथा—एक बड़े ही त्यागी, तपस्वी, भजन परायण महात्मा थे। उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर स्वयं भगवान विष्णु भी कभी-कभी उनसे सतसग करने आते थे। एक दिन श्रीलक्ष्मी जी को भी ऐसे भक्त के दर्शन की इच्छा हुई, अतः वह भी भगवान के साथ आई, दर्शन कर बडी प्रसन्न हुईं और तपस्वीजी को अपने यहां प्रसाद पाने का निमन्त्रण दे दिया। त्यागीजी महाराज समय पर वैकुण्ठ पहुँचे। श्रीलक्ष्मीजी ने बडे उत्साह से खूब तैयारी की थी। मेवा-मिष्ठान्न, पूआ-पक्वान्न, कढी-भात आदि व्यञ्जन विविध नाम को जाना, सब सङ्कल्प से ही तैयार करदी। जब त्यागीजी पाने बैठे तो कच्ची रसोई देखकर बिगड़ पड़े—बोले—हम दुनियाँ के हाथ की कच्ची रसोई नही पाने वाले हैं और उठ खड़े हुये। श्रीलक्ष्मीजी की समझ मे त्यागी की बात नही आई। भगवान से पूँछी। भगवान ने बताया कि ये हम लोगो को गृहस्थी मानते हैं अत. अपनी टकसाल के अनुसार हमारे यहाँ का कच्चा भोजन (कढी-भात-आदि) नही खा सकते हैं। यह सुनकर श्रीलक्ष्मीजी बड़ी नाराज भई कि तुम हमे दुनियाँ कह कर हमारे परोसे गये भोजन की अवहेलना करते हो। हमारा ही भजन कर महात्मा बने और हमारा ही निरादर। मैं शाप देती हूं कि तुम्हे रोटी पर रोटी धर कर खाने को नही मिलेगी। त्यागी जी बोले—रोटी नही मिलेगी तो हलुवा पूरी-तस्मई खानिया करेंगे। कभी-कभी बाटी दाल बना लेंगे, नही तो रोटी ही एक सेर की एक ही बना लेंगे, रोटी पर रोटी धरने की नौबत ही

नहीं आयेगी। (आज भी त्यागियों का यही ठाट है।) परन्तु ध्यान रखना-तुमने मुझे विना अपराध के शाप दिया है, यह उचित नही किया अतः मैं भी शाप देता हूँ कि तुम भी नीच कुल मे जन्म लोगी और हमारे भेष की अर्थात् सन्तों की शरण में जाने पर हो तुम्हारा उद्धार होगा। इसी शापसे श्रीलक्ष्मी-जी शवरी हुईं।

२—शवरीजी पूर्वजन्म में रानी थीं, वड़ी रूपवती थी। महल में सदा परदे में रहतीं। परतु हृदय सात्विक था अतः साधु सन्तों में वड़ा भाव था। लेकिन एक तो रूपवती, दूसरे रानी, तीसरे लौकिक मर्यादा, चौथे उच्चकुल में जन्म इन हेतुओं से वाहर निकल कर सन्तो का दर्शन नही कर पाती थीं। यह वात इन्हे वहुत खलती थी। तीर्थराज प्रयाग का कुम्भपर्व आया। सोची कि वहां चलकर खूत्र जी भरकर सन्तों का दर्शन करूँगी, परन्तु संयोग ऐसा वना कि वहाँ भी वही परदा। यहां तक कि श्री-त्रिवेणी स्नान करते समय भी परदे में ही स्नान करना पड़ा। तव रानी को वड़ा दुख हुआ और अपने रूप, रानीपने तथा लौकिक वन्धनों को वहुत धिक्कारते हुये श्रीत्रिवेणीजी से वर माँगी कि अगला जन्म मेरा नीचकुल में हो, कुरूपा होऊँ, भगवत्-भागवत चरणों में प्रेम हो। वही रानी दूसरे जन्म में शवरी हुईं।

३—एक व्राह्मण दम्पति वन में निवास करते हुये भजन-साधन करते थे। एक वार व्राह्मण कही चले गये थे, कुछ दिन वाद जव लौटे तव स्त्री से वोले—मुझे वड़े जोर की भूख लगी है। शीघ्र कुछ खिलाओ। तव स्त्री ने भोजन वनाकर खिलाया। व्राह्मण भोजन कर ही रहे थे कि—

रोय उठो जब शिशु तेहिं काला। मुनि पूछो यह का कर बाला॥
तिय कह आजु भयो यह मेरे। सुनि मुनि तिय पै नैन तरेरे॥
अरी अशौच न मोहिं वतायो। कस पूजन भोजन करवायो॥
शबरी होइ महावन जाई। सुनि पति शाप महा दुख पाई॥
कीन्हों तैं पातिव्रत धर्मा। ताते तें ह्वै है शुभ कर्मा॥
तैं करिहै सन्तन की सेवा। ऐहैं तव घर रघुकुल देवा॥ (रामरसिकावली)

काल पाकर वह व्राह्मणी ही शवरी हुई॥ भगवान की तरह भक्तों के भी कल्पभेद सव चरित सुहाये एवं सत्य समझना चाहिये॥

शवरी का गृह त्याग—इनके विवाहके अवसर पर माता-पिता ने वरातियोंके स्वागत के लिये एक सौ जंगली जानवरों को पकड़ कर वांध रखा था वध करने के लिये। वे निरीह वन्यपशु कातर दृष्टि से शवरी की ओर देख रहे थे। भोली भाली वह शवर-किशोरी शवरी मातासे पूछी—माँ! ये जानवर क्यों वांधे गये हैं? मां ने सहज भाव से सव वात वता दी। शवरी का सात्विक हृदय दयार्द्र हो उठा। शवरीने आधीरात को सभी जानवरों का वन्धन काट दिया तो वन्धन मुक्त पशु भी शवरीको हृदय से आशीर्वाद दिये कि तुमने हमारे वन्धन काटे तो भगवान तुम्हारा भव वन्धन काटेंगे, तुमने हमारी रक्षा करी है तो भगवान तुम्हारी रक्षा करेंगे। तुमने हमारे ऊपर कृपा की है तो भगवान तुम्हारे ऊपर कृपा करेंगे। क्योंकि परोपकारी जीव भगवान को वहुत प्रिय लगते हैं। यथा—उपकारप्रियो विष्णुः, जलधारा शिवप्रियः। भानुप्रियनमस्कारो व्राह्मणो मधुरप्रियः॥ शवरी का पुण्य उदय हुआ। घर से वैराग्य हुआ, उसी रात्रिको स्वयं भी भाग निकली॥ आगे का प्रसङ्ग श्रीप्रियादासजी वर्णन करते हैं कि—

वन में रहति नाम सवरी कहत सब चाहत टहल साधु तनु न्यूनताई है।
रजनी के शेष ऋषि आश्रम प्रवेश करि लकरीन वोझ धरि आवै मन भाई है॥
न्हाइवे को मग झारि कांकरनि वीनि डारि वेगि उठि जाइ नेकु देति न लखाई है।
उठत सवारे कहैं कौन धौं बुहारि गयो भयौ हिये सोच कोऊ वड़ो सुखदाई है॥३१॥

शब्दार्थ—शवरी=शवर एक जंगली जाति है, उस कुल में जन्मी। न्यूनताई=हीनता, कमी। रजनी के शेष=थोड़ी रात रहे।

भावार्थ—वे वन मे निवास करती थी, सव लोग इन्हें शवरी कहते थे। इनके मन में साधु-सन्तो की टहल करने की वडी इच्छा थी, पर शरीर नीच जाति का है, साधु-सन्त सेवा स्वीकार नही करेगे इसलिए उनके समीप नही जाती थी। थोडी रात रहने पर वह ऋषियो के आश्रम में छिपकर जाती और लकडियोके वोझ रख आती। यह सेवा उन्हे वहुत अच्छी लगती थी। प्रातःकाल शीघ्रही उठकर सरोवरपर जाने आने के मार्ग को झाड़ वुहारकर उसकी ककड़ियो को वीनकर अलग डाल देती थीं। यह सेवा करते हुए इनको कोई भी नही देख पाता था। सवेरे उठकर ऋषि लोग आपस में कहते कि—मार्गको नित्य कौन झाड़ जाता है और लकड़ियो के वोझ कौन रख जाता है। सभी मन में सोचने लगे कि-कोई वड़ा भारी सुख देने वाला सेवक है॥३१॥

व्याख्या-वन में रहति—वन में वसते हुये अनुराग पूर्वक भजन का अभ्यास करने से भजन में वृद्धि होती है। यथा—नदी किनारो गिरिशिखर, वाग इकौसो देस। भगवत जन विलमे तहां, वाढ़ै भजन विशेष॥ इतने स्थानों में भक्तिकी वृद्धि होती है। गीताजी मे भी कहा गया है—'विविक्त-देशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।' (१३।१०) पुनः—परधन कुल अभिमान तजि, वसत जवै वनमाहिं। संग-संग श्रीहरि भजन, राम कृपा वनि जाहिं॥ (भ०व०टि०) अतः साधको को जगत्प्रपञ्च से दूर ही रहना चाहिए। जहाँ वहुत जनो का आना जाना होता है वहाँ भजन की हानि होती है। यथा—घाट वाट चौपाल चुरी, देवल हाट मसान। भगवत वसि न सराय में, भाड़ै भजन निदान। दूसरी वात यह भी कि संसार में रहने से उसका थोड़ा घना रग लग ही जाता है। यथा—

जाइये न तहाँ जहाँ संगति कुसंगति है कायर के संग सूर भागि हैं पै भागि है।
फूलन के पास वसे फूलन की वास होति कामिनी के संग काम जागि है पै जागि है॥
घर वसे, घर वसे, घर में वैराग कहा माया मोह ममता में पागि है पै पागि है।
काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाइ काजर की एक रेख लागि है पै लागि है॥

दृष्टांत—खटके का—एक वार एक धनी के वगीचे का पक्षी वन में रहने वाले अपने मित्र पक्षी के पास गया। उसने वन मे ऋतु के अनुसार प्राप्त फल-फूलो से मित्र का स्वागत किया परन्तु इसको वन के फल-फूल रुचे नही। एक-दो दिन रहकर जव यह अपने निवास को आने लगा तो वनवासी मित्र पक्षी को भी साथ ले आया। वगीचे मे सुन्दर-सुन्दर फलो के फूलो के वृक्ष लगे थे। वड़े ही स्वादिष्ट सुमधुर तथा सरस थे वहां के फल। वाग की रक्षा के लिये माली नियुक्त था, वह फलो को पक्षियों

से बचाने के लिये बीच-बीच में टीन बजाया करता था। वनबासी पक्षी ने ज्यों ही किसी फल पर चोंच मारा, त्योंही माली ने टीन खटखटाया, वह चौक गया। दो चार बार यह क्रिया हुई तो वह अपने वगीचे वाले मित्र को रामराम कहकर वन को चलने लगा तो उसने जब जाने का कारण पूछा तो इसने कहा कि यहाँ और सब कुछ ठीक है परन्तु खटका होता रहता है और मुझे खटका अच्छा नहीं लगता। हमारे वन में खटका नहीं हैं। यह है दृष्टांत। दार्ष्टान्त में भाव यह कि संसार में खटका है भजन में बहुत से व्यवधान हैं अतः भजन परायण लोग वन का आश्रय लेते हैं।

सिद्धावस्था में इन विधि-निषेधों का वन्धन नहीं रह जाता है। यथा—

निसि वासर वस्तु विचारो करै सुख साँच हिये करुणा घन है।
अघ निग्रह से ग्रह धर्म कथा सुपरिग्रह साधन को गन है॥
कहि केशव भीतर जोग जगै अति ऊपर भोगन में तन है।
मन हाथ सदा जिनके तिनको वन ही घर है घर ही वन है॥

पुनः—**जे जन रूखे विषय रस, चिकने राम सनेह। तुलसी ते प्रिय राम को, कानन बसहिं कि गेह।**
जथा लाभ सन्तोष सुख, रघुवर चरन सनेह। तुलसी जौ मन खूँद सम, कानन बसहुं कि गेह॥

ज्ञातव्य—घोड़ा एक ही स्थान पर खड़ा हुआ टाप चलाता रहता है। परन्तु स्थान नहीं छोड़ता है। उस स्थिति को खूँद कहते हैं। इसी प्रकार सब कुछ करते हुए भी जिनका मन प्रभु प्रेम में अचल रहता है उनके लिये घर और वन का वन्धन नहीं है। पुनः 'वन में रहति' का भाव यह कि जैसे कर्णफूल कान में ही शोभा देता है वैसे ही वैराग्यवान भक्त भी कानन (वन) मे ही शोभा पाते है। यथा—
लाल पदन सौं जे भरे, उघरे डाक लगाइ। कर्णफूल झूलत रहैं कानन में ही आइ॥

'नाम शवरी'—यह उस महाभागवती की जातिवाचक संज्ञा है। नाम तो कुछ और ही रहा परन्तु इसी नाम से विख्यात भई। कहत सब-का भाव यह है कि वह कहने मात्र को शवरी थी, नहीं तो वस्तुतः **'कैऊ कोटि विप्रताई यापै वारि डारियै।'**

चाहत टहल साधु—भगवान में भाव होना भगवत्कृपा है और भक्तों में भाव होना विशेष भगवत्कृपा है। यह वास्तविक भक्त का लक्षण है। यथा—**हरि गुरु दासनि सों साँचो सोई भक्त सही।** प्रश्न— हरि की टहल (सेवा) न चाहकर, 'चाहत टहल साधु' क्यों? समाधान—**सिद्धिर्भवति वा नेति संशयोऽच्युत सेविनाम्। निःसंशयस्तु तद्भक्त परिचर्यारतात्मनाम्॥** अर्थ—जो श्रीहरि की सेवा करते हैं, उनको चाहे भले यह संदेह हो कि मेरा कार्य सिद्ध होगा वा नही परन्तु हरि भक्तों की सेवा करने वाले को कभी भी स्वकार्य सिद्धि में संदेह नही होता। (गरुड़ पुराण) अतः चाहत " साधु।

तनु न्यूनताई है—कोल, किरात, भील आदि वर्णाधम माने गये है। यथा—**'जे वर्णाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥' 'लोक वेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा॥' 'अधम जाति शवरी जोषित जड़ लोक वेद ते न्यारी।'** अतः शवरी ने विचारा कि मै समीप की सेवा करने की तो अधिकारिणी नहीं हूँ, हाँ दूर-दूर की सेवा भले करलें, तो करलें। फिर तो उसने सेवा सोच ही ली—लकड़ो, दोना, पत्तल, एवं मार्ग झाड़ने-बुहारने की सेवा। सेवानिष्ठ के लिये सेवा की कमी नहीं रहती। कोई न कोई सेवा मिल ही जाती है। इस पर दृष्टांत—श्रीहनुमानजी

की चुटकी बजाने की सेवा (देखिये हनुमान प्रसंग) 'भयो हिये सोच'—सोच का एक कारण तो यह है कि दूसरे से सेवा लेने से सुकृत बँट जाता है। (साधक को हलुआ, पूरी, तस्मई खिलाने वालों से सावधान रहना चाहिये) तपस्वी को तो अपनी सेवा स्वयं करनी चाहिये क्योंकि 'स्वयं दासास्तपस्विनः' दूसरा कारण यह है कि 'कोऊ बड़ो सुखदाई है' अर्थात् ऐसे सुखदाईका तो दर्शन करना चाहिये, परन्तु ऋषियोंके दृष्टिपथ में शवरी आती ही नहीं अतः भयो हिये सोच कि कब और कैसे इस महाभाग के दर्शन होंगे? कोऊ बड़ो सुखदाई है—जासों सब कोउ सुख लहैं, सोई हरि को दास। जो काहू दुख देत है, सो न दास रैदास। तन से, मन से, वचन से, देत सबहिं जो सुख। तुलसी पातक मिटत है, देखत तिनको मुख॥

बड़ेई असंग वे मतंग रस रंग भरे धरे देखि बोझ कह्यो कौन चोर आयो है।
करै नित चोरी अहो गहो वाहि एक दिन बिना पाये प्रीति वाकी मन भरमायो है॥
बैठे निशि चौकी देत शिष्य सब सावधान आय गई गहि लई कांपै तनु नायो है।
देखत ही ऋषि जलधारा बही नैनन तें बैनन सों कह्यो जात कहा कछु पायो है॥३२॥

शब्दार्थ—असंग=विरक्त। रसरङ्ग=भक्ति रसका आनन्द। चौकी=पहरा। नायो=झुकायो, डाल दियो।

भावार्थ—वनवासी ऋषियो मे एक मतङ्ग नामक ऋषि थे वे परम विरक्त और भक्ति रसके आनन्द से परिपूर्ण थे। लकड़ियो के बोझ रक्खे देखकर वे कहने लगे कि—इस तपोवन मे कौन-सा चोर आ गया? जो नित्य चोरी से सेवा करता है। उसे एक दिन पकड़ो, उस प्रेमी के प्रत्यक्ष दर्शन किये बिना प्रीतिवश मन चञ्चल रहता है। आज्ञा पाकर मतङ्गजी के शिष्य सावधानी से पहरा देने लगे, जैसे ही शवरीजी ने लकडियो का बोझ रक्खा वैसे ही शिष्यो ने उसे पकड लिया। वह बेचारी भय और सकोच वश कापने लगी और पैरो पर गिर गई। उसे देखते ही मतङ्गजी के आँखो से आँसुओ की धारा बहने लगी। शवरी के मिलने का ऐसा अलभ्य लाभ हुआ मानों कोई मनचाही दुर्लभ वस्तु मिल गई हो, जिसे वे वाणी से वर्णन नही कर सकते॥३२॥

व्याख्या—बड़ेई असङ्ग—संग (आसक्ति) समस्त अनर्थों की जड़ है। यथा—

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ (गीता)

अर्थ—आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अविवेक अर्थात् मूढभाव उत्पन्न होता है और अविवेक से स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है और स्मृति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश होने से पुरुष अपने श्रेय-साधन से गिर जाता है। इसी से कहा गया है कि—'सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः।'

मतङ्ग रस रंग भरे—पूर्व कहा गया है कि मतंगजी बडे असंग थे। अब असंगता का हेतु बताते है—'रस रंग भरे।' अर्थात् रस स्वरूप परमात्मा के रंग(अनुराग)से भरे थे पगे थे। 'रसो वैसः।

रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽऽनन्दीभवति।' अर्थात् वह परमात्मा अनन्त रसमय हैं यह जीव इस अनन्त रसको प्राप्त करके ही आनन्दयुक्त होता है। भगवत्स्वरूपानन्द में छके रहने वाले ही असंग होते हैं। यथा-**जो मोहि राम लागते मीठे। तौ नव रस षट रस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥** (विनय) साथ ही असङ्ग होने पर ही रस रंग चढता है। यथा—**मन मतंग को वश करे, जगते रहे असंग। तिनही पै आछो चढ़ै हरि रति रसको रङ्ग॥** (भ० व० टि०)

दृष्टांत—श्री शुकदेव जी का-आप असङ्गता की सीमा होकर भी ऐसे रस रङ्ग भरे थे कि श्रीमद्‌भागवतजी में वेणुगीत और रासपञ्चाध्यायी आदि प्रसङ्गोको बड़े ही शृङ्गार भाव के साथ वर्णन किया है। अतः यह शंका नहीं करना चाहिये कि असङ्ग रस रङ्ग भरे कैसे हो सकते है ? और जो असङ्ग तथा रसरङ्ग भरा है वही मतङ्ग हो सकता है अर्थात् उसके अंग-अंग में प्रेमोन्मत्तता होती है।

कौन चोर आयो है—संतों की बड़ी विचित्र रीति होती है। शबरी करती है सेवा, देती है सुख, उसे कहते हैं चोर। तभी तो नाभाजी ने कहा है—'नहिं पाऊँ भक्ति दात्र को' यहाँ चोर कहने के दो भाव—१- सेवा करने वाला भजनरूप पूँजी को हड़प लेता है। तथा एक भाव यह भी कि नित्य प्रति की सेवासे वंचित हो जाना भी सेवा-धन का चोरी चला जाना है। यथा—**'कौन चोर आयो मेरी सेवा लै चुराइये'** (कवित्त ४६) २- उसकी निष्काम सेवाने मन को चुरा लिया है। यथा—**'विना पाये प्रीति वाकी मन भरमायौ हैं।'** अतः कौन चोर आयो कहा।

गहो वाहि एक दिन—इसके दो भाव—एक तो स्पष्ट है कि उस चोर को एक दिन पकड़ो। दूसरा भाव यह भी कि ऐसा चोर और ऐसी चोरी तो गहने योग्य अर्थात् दृढता पूर्वक ग्रहण करने योग्य, अपनाने योग्य है। **विना ... पाये भरमायो है**—भाव यह कि मनुष्य की कौन कहै, देवता-मुनि भी विना पाये कुछ देने वाले नहीं है। यथा-**सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिनु पाये॥**(विनय) **सुर नर मुनि सबकी यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥** फिर यह बिना कुछ पाये ही क्यों और कैसे सेवा करता है ? निष्काम सेवा, हेतु रहित उपकार, यह तो हरि और हरि सेवकों से ही सम्भव है। यथा—**हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी॥** तो क्या—स्वयं हरि ही हैं अथवा कोई हरि भक्त है ? गहो वाही एक दिन॥

आय गई—सिर पर लक्कड़ का गट्ठर, बगल में पत्तलों का वंडल, एक हाथ में वहारू, यह है उस समयका शबरी का ध्यान।

देखत......पायो है—श्रीमतङ्गजी ने दर्शन किया भक्तिमती शबरी का, प्रेम से विह्वल हो गये—**भरे विलोचन प्रेम जल, पुलकावली शरीर।** धैर्य धर कर पूछे—आश्रम से तो तुझे कुछ मिलता नही, अन्यत्र से तुझे कुछ जात=धन (द्रव्य) मिला है, जो कि तुम इतनी सेवा करती हो। ऋषिका दर्शन कर शबरी की भी आँखें सावन-भादों बनी अश्रुवरसा रही थी।

डीठि हू न सोहीं होत मानि तन गोत छोत परी जाय सोच सोत कैसे कै निकारिये।
भक्ति को प्रताप ऋषि जानत निपट नीके कैऊ कोटि विप्रताई यापै वारि डारिये॥

दियो वास आश्रम में श्रवन में नाम दियो कियो मुनि रोप सबै कीनी पांति न्यारिये।
सवरी सों कह्यो तुम राम दरसन करो मैं तो परलोक जात आज्ञा प्रभु पारिये ॥३३॥

शब्दार्थ—डीठि=दृष्टि, निगाह। सोही=सन्मुख, सामने। गोत=गोत्र, कुल। छोत=छूत, अपवित्र वा छोटा, नीच। सोच=चिन्ता, सोचविचार। सोत=झरना, नदी। निपट=अत्यन्त। पारिये =पालिये।

भावार्थ—अपने शरीर और कुलको अछूत मानकर शवरीजी की दृष्टि मतङ्गजी के सामने नही हो रही थी। उसकी ऐसी दशा देखकर मतङ्गजी मन में विचारने लगे कि—अपने को अपवित्र समझकर यह चिन्ता के प्रवाह में पड़ी है, इसे कैसे निकाला जाय। मतङ्गजी भगवद्भक्तिके प्रभावको वहुत अच्छी तरह से जानते थे। वे सोच विचार कर शिष्यों से बोले कि—भक्ति के प्रताप से यह इतनी पवित्र है कि इसके ऊपर कई कोटि ब्राह्मणता न्योछावर कर देना चाहिये। मतंगजी ने शवरीको अपने आश्रम की एक पर्णकुटी में रहने के लिए स्थान दिया और उसके कानमें श्रीसीताराम मन्त्र दिया। यह सुनकर तपोवन के दूसरे ऋषियोंको वड़ा क्रोध हुआ और उन लोगों ने मतङ्गजी को अपनी जाति-पाँति से अलग कर दिया। इससे मतङ्गजी को कोई कष्ट नही हुआ वरन् प्रसन्नता ही हुई। वहुत दिनों के वाद जब मतङ्गजी की तपस्या पूर्ण हो गई तो उन्होने शवरी जी से कहा कि–मैं प्रभुकी आज्ञासे उनके धाम को जा रहा हूँ। तुम इसी आश्रम में रहकर भजन करो। यही श्रीरामजीका दर्शन प्राप्त करोगी ॥३३॥

व्याख्या—डीठि""""छोत—शवरीकी दृष्टि मुनि के चरणों पर थी। मानो चरणो में आश्रय देने की मूक प्रार्थना कर रही हों। 'परी"" " सोत'-सोच इस वात का कि मैं अव सेवा से वचित हो जाऊँगी। ये अव हमारी सेवा नही स्वीकार करेंगे आदि आदि।

भक्ति को प्रताप—

भक्तिवन्त अति नीचउ प्रानी। सोंहि प्रान प्रिय असि मम वानी॥
भक्ति हीन विरंचि किन होई। सब जीवहुँ सम प्रिय मोहि सोई॥(रा०च०मा०)
किरात हूणांध्रपुलिदपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादय.।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥ (भा०)

अर्थ—किरात, हूण,आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि नीच जातियां तथा दूसरे पापी जिन भगवान के शरणागत भक्तों की शरण ग्रहण करने से ही पवित्र हो जाते हैं उन सर्व शक्तिमान भगवान को वार-वार नमस्कार है। पुनश्च—

'भक्ति अवसहि वस करी।'
जप तप तीरथ दान व्रत, जोग जग्य आचार।
भगवत भक्ति अनन्य विनु जीव भ्रमत संसार॥ (भगवत रसिक)

तथा– व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का,
कुब्जायाःकिमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्।
वंशः को विदुरस्य यादवपते रुग्रस्य किं पौरुषः,
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैः,भक्ति प्रियो माधवः॥

अर्थ—व्याधका आचरण, ध्रुवजीकी अवस्था गजेन्द्र की विद्या, सुदामाजी का धन, कुब्जाका रूप, विदुरजी का वंश और उग्रसेनजी का बल कुछ भी नहीं था। फिर भी इन सबके ऊपर भगवान प्रसन्न हुए इससे सिद्ध हुआ कि केवल धन, बल, विद्या आदि गुणों से भगवान प्रसन्न नही होते है। वे केवल भक्ति से प्रसन्न होते हैं क्योंकि उन्हें भक्ति ही प्रिय है।

कौन कोटि...... वारिये—यथा—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादर विन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पित मनोवचनेहितार्थ प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥ (भा०)

अर्थ—प्रह्लादजी कहते हैं कि—मेरी समझ से (धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग) इन बारह गुणों से युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान कमलनाभ के चरण कमलों से विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण भगवानके चरणों में समर्पित कर रक्खा है। क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुल तक को पवित्र कर देता है और वड़प्पन का अभिमान रखने वाला वह ब्राह्मण अपने को भी नही पवित्र कर सकता है। पुनश्च—**चाण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तो द्विजाधिकः। विष्णुभक्ति विहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिकः॥** (वृहन्नारदीयपुराण) अर्थ—ईश्वर के प्रति एकान्तिक भक्ति के कारण भक्तिमान चाण्डाल भी ब्राह्मण से बढ़कर है और ईश्वर भक्तिविहीन होने पर ब्राह्मणभी चाण्डालाधम है। पुनश्च—नाल द्विजत्वमित्यादि देखिये पृष्ठ १८२।

पुनश्च—

तुलसी भगत सुपच भलो, जपै रैन दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम का, जहाँ न हरि को नाम॥
ऊँचे कुल का जनमिया, करनी ऊँच न होय।
सुबरन कलससुरा भरा, साधो निन्दा सोय॥
व्यास कुलीननि कोटि मिलि, पण्डित लाख पचीस।
श्वपच भक्त रैदास पर, तुलै न तिन को शीश॥
व्यास वड़ाई छोड़ि कै, हरि चरणनि चित जोरि।
एक भक्त रैदास पर, वारौं वांभन कोरि॥

भारतेन्दु वावू हरिश्चन्द्रजी ने लिखा है-**इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये॥**

दियो वास आश्रम में—क्योंकि इस प्रकार का निष्काम सेवक मिलना दुर्लभ है। पुनः ऐसी भावमयी भागवती का तो सामीप्य होना चाहिये। पुनश्च—**यश्चाण्डालोऽपि रामेति वाचं वदेत् तेन सह संवदेत् तेन सह भुञ्जीयात्** (अथर्व)अर्थ—सो चण्डाल पुनीत अति, रामनाम मुख जासु। ताके सग नित कीजिये, भाषण भोजन वास॥ **न मे भक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः। तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथास्म्यहम्॥** अर्थ—चारों वेदों को जानने वाला ब्राह्मण, यदि भक्ति हीन है तो वह मुझे प्रिय नही है। मुझे तो भक्तिमान श्वपच प्रिय है। अतः मेरे भक्तों से देने-लेने का व्यवहार करना चाहिये। वह तो मेरे समान पूज्य है।

श्रवण में नाम दियो—श्रीमतङ्गजी ने स्वयं दीक्षा दी। यहाँ यह वात चरितार्थ हुई कि अधिकारी शिष्यको गुरुकी खोज नहीं करनी पड़ती है। गुरु स्वयं ऐसे शिष्य को खोजते रहते है।

अधिकारी शिष्य पाकर विना कहे ही उपदेश देने लगते हैं। यथा—ब्रह्मज्ञानरत मुनि विज्ञानी। मोहि परम अधिकारी जानी। लागे करन ब्रह्म उपदेशा। पुन.—सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई। मम परितोष विविध विधि कीन्हा। हरिषत राम मंत्र तब दीन्हा॥ मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। राम चरित मानस तब भाषा॥ अर्थात् महर्षि लोमशजी ने कागभुसुण्डीजी को परम अधिकारी जानकर स्वत. ब्रह्मोपदेश किया, स्वतः श्रीराममन्त्र दिया, स्वतः श्रीरामचरित्र मानस सुनाया। इसी प्रकार श्रीमतङ्गजी भी शवरी को श्रवण मे नाम दिये। यावद् गुरुर्न क्रियते सिद्धि स्तावन्न लभ्यते। तस्माद् गुर्वाह कर्तव्यो नैव सिद्धि र्गुरुं विना॥ (पञ्चरात्र) सुपात्र को दान देने से वह वढता है। यथा—जले तैलं, खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि। शास्त्रं सुधियि श्रद्धालौ दीक्षा शिक्षा विवर्द्धति॥श्रीराम नाम धन है। यथा-'वडो धन हरिजन को हरिनाम।' उसे शवरी सा सुपात्र पाकर प्रदान किया, जिसने नाम की महिमा वढाई।

किये सुनि ...... न्यारिये—जाति, विद्या, महत्व, गुण-गौरव-गुमानी ऋषियो ने श्रीमतङ्गजी की इस दीनवत्सलता पर रोष किया। महाभागवती शवरी मे जाति बुद्धि करके शवरी को अपनाने के नाते मतङ्गजी को अपने खान-पान की पंक्ति से अलग कर दिया। परन्तु भक्त-वत्सल भगवान ने इन्हे धन्य माना। रहीमजी कहते है—'जो दीनन कूँ लखत हैं, धनि रहीम वे लोग। कहा सुदाना वापुरो, कृष्ण मिताई जोग॥ दीन सबहि को लखत हैं, दीनहिं लखै न कोय। जो रहीम दीनहिं लखै, दीनवन्धु सम होय।' श्रीमतङ्गजी ने दीन शवरी को आश्रय दिया, सव प्रकार से अपनाया, भक्ति की महिमा वढाई, इस महान सुकृत के फलस्वरूप तत्काल ही आकाशवाणी हुई कि हे मुनि! आपने गरीबिनी शवरी का उद्धार किया है अतः आपके लिये दिव्य विमान जा रहा है इस पर आरूढ होकर आप शीघ्र ही मेरे धाम को चले आइये। तव तक देखते हैं कि विमान आ ही गया। श्रीमतङ्गजी उस पर चढकर चलने को प्रस्तुत हुये तो शवरी अत्यन्त व्याकुल हुई तव श्रीगुरुदेवने कहा कि शवरी! अधीर मतहो, मैं तो भगवद्धाम जाकर प्रभु का दर्शन करूँगा परन्तु तेरी भक्ति पर रीझकर भगवान स्वय यहाँ दर्शन देने आयेंगे (सच तो यह है कि तेरा दर्शन करने आयेंगे।) 'परलोक'—न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ (गी०) अर्थ—उस स्वयं प्रकाशमय परम पद को न सूर्य प्रकाशित करते हैं न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है। तथा जिस परम पद को प्राप्त होकर मनुष्य पीछे ससार मे नही आता। वही मेरा परम धाम है।

आज्ञा प्रभु पारिये—इससे जनाया गया कि श्रीमतङ्गजी को शवरी को छोडकर भगवद्धाम जाने की इच्छा नही है। क्योकि भागवतो के सत्सङ्ग-सुख के सामने वैकुण्ठ सुख भी कोई चीज नही। यथा—राम बुलावा भेजिया, दिया कवीरा रोय। जो सुख यहँ सत्सङ्ग मे, सो वैकुण्ठ न होय। परन्तु विवशता यह है कि प्रभुकी आज्ञा हो रही है। भगवानकी आज्ञा अनुल्लघनीय है। यथा—'प्रभु अग्या अपेल श्रुति गाई।' 'राम रजाइ मेटि मनमाहीं। देखा सुना कतहुं कोउ नाहीं।' मेटि जाइ नहि राम रजाई।' 'विधि हरि हर ससि रवि दिसिपाला। मायाजीव करम कुलि काला॥ अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥ करि विचार जिय देखहु नीके।राम रजाइ सीस सवही के॥' अत. आज्ञा प्रभु पारिये॥

गुरू को वियोग हिये दारुन लै शोक दियो जियो नहीं जात तऊ राम आसा लागी है।
न्हाइवे की वाट निशि जात ही वुहारि सब भई यौं अवार ऋषि देखि व्यथा पागी है॥

छुयो गयो नेकु कहूं खीझत अनेक भांति करिकै विवेक गयो न्हान यह भागी है।
जल सो रुधिर भयो नाना कृमि भरि गयो नयो पायो सोच तौ हू जानै न अभागी है ॥३४॥

शब्दार्थ—दारुन=कठिन, असहृच। वाट=रास्ता। अवार=विलम्व, देर। व्यथा=दुःख। पागी=डूवी। खीझत=अप्रसन्न होत। कृमि=कीड़े।

भावार्थ—गुरुदेव श्रीमतङ्गजी के वियोग ने शवरीजी के हृदय को वड़ा कठोर कष्ट दिया, उनसे जीवित नहीं रहा जाता था, पर श्रीरामजी के दर्शनों की आशा लगी थी इसलिये जीवित रही। मुनियों के स्नान-मार्ग को थोड़ी रात रहे झार-वुहार आती थीं। एक दिन विलम्व हो गया। स्नान के लिए ऋषि आने जाने लगे, उन्हे देखकर शवरीजी को अति कष्ट हुआ। मार्ग सँकरा था कोई ऋषि शवरीजी से किंचित् छू गये। तव वे अनेक प्रकार से शवरीजी को डाँटने फटकारने लगे। शवरीजी भागकर अपनी कुटी में चली आई। वे ऋषि सोच विचार करके पुनः स्नान करनेके लिए गए। सरोवर में प्रवेश करते ही उसका जल अनेक कीड़ों से भरा हुआ रुधिर के समान हो गया। इससे ऋषिजी को एक नया दु.ख उत्पन्न हो गया। भक्त स्पर्श से अपने को अपवित्र समझने वाले मुनिके अपराध से ही सरोवर का जल अपवित्र हुआ था, पर उस अभागी ने यह रहस्य नहीं जाना। उलटे ऐसा समझा कि शवरीके स्पर्श जन्य दोप से ही जल दूषित हो गया है ॥३४॥

व्याख्या—गुरु को वियोग—कृपासिंधु श्रीसद्गुरुदेव मतङ्गजी ही शवरी के एक मात्र परमाश्रय थे, वह अहर्निश श्रीगुरुजी के दर्शन करते हुये जीवन धारण करती थी। यथा—गुरु मूरति मुख चन्द्रमा, सेवक नयन चकोर। अष्ट प्रहर निरखत रहौं गुरु चरनन की ओर॥ अव गुरुदेव का अदर्शन उसे असहृच कष्टकर हो गया। जियो नहीं जात—इस पर दृष्टान्त श्रीविट्ठलविपुलदेवजीका—

स्वामी हरिदासजू के दास दास बीठल हैं गुरुसे वियोग दाह उपज्यो अपार है।
रासके समाजमें विराज सव भक्तराज वोलिकै पठाये आये आज्ञा वड़ौ भार है॥
युगल स्वरूप अवलोकि नाना नृत्यभेद गान तान कान सुनि रही न संभार है।
मिलिगये वाहीठौर पायौ भावतन और कहे रससागर सो ताको यो विचार है॥

(विशेष देखिये कवित्त ३७७ की व्याख्या)

नख रोम आशा लागी है—जैसे श्री अयोध्यावासी श्रीरामजी के वन-गमन काल में 'अवधि आस सव राखहिं प्राना।'

दृष्टांत—विल्ली को—एक वड़े ही सदाचारी भगवद् भक्त ब्राह्मण थे। थे अकेले। गङ्गा-स्नान का कोई पुण्य पर्व लगा। घर में ताला वन्दकर गङ्गा-स्नान करने चले गये। घर के भीतर विल्ली वन्द थी। छीके पर डलिया में धुनी हुई श्वेत रुई धरी थी। विल्ली ने उसे मक्खन समझा और उसे प्राप्त करने के लिये उछल कूद मारना शुरू किया, घर खुद गया, पर छीके तक पहुंच नही पायी। तीन-चार दिन वाद पंडितजी आये। अत्यन्त श्रान्त, क्लान्त, विना कुछ खाये पिये मरणासन्न विल्ली कोने में पड़ी-पड़ी छींके की ओर ताक रही थी। फाटक खोलते ही घर की स्थिति देखकर पंडितजी समझ

गये और एक लाठीसे डाली गिरा दिये, रुई लुड़क पड़ी, बिल्ली झपटी, उसे सूंघी और तत्काल मरगई। क्योंकि उसकी मक्खन वाली आशा टूट गई। अब तक तो वह आशावश जीती थी। इसी से कहावत है आसा में सांसा।

म्हाइवे''' सब—इससे शवरी की सेवा निष्ठा दिखाई गई। वह अब भी पूर्ववत् ही अपनी सेवा सावधानी से करती जाती थी। 'भईयो अबार'—देर का कारण, इधर गुरुका वियोग उधर श्रीराम-दर्शन की प्रतीक्षा, इस द्वन्द्व में शवरी सुधि-बुधि खो बैठी थी अतः देर सबेर का ध्यान जाता रहा। ऋषि —पापी है—व्यथा यह विचार कर भई कि मेरे कारण से ऋषिको रोष-क्षोभ हुआ, मैं कुछ सुख तो दे नही सकी दुखका हेतु बन गई। यह शवरीका नीचानुसन्धान है। छुयो गयो नेकु-झाड़ू से उचट कर एक कंकड़ी ऋषि के पावों से जा लगी। खीझत अनेक भांति—इस पर—

दृष्टान्त—क्रोधी ब्राह्मण का—एक ब्राह्मण स्नान करके आ रहे थे। मार्ग में एक भंगिन की छाया इनके ऊपर आ पड़ी। ब्राह्मण उस भगिन पर बहुत नाराज भये। बेचारी भंगिन ने अनेक प्रकार से अनुनय विनय किया कि महाराज! मुझसे चूक हो गई, आप पुनः स्नान कर लीजिये, यदि आप के वस्त्र, लोटा, आदि काम के न रह गये हों तो इन्हे दूर कर दीजिये मैं दाम देती हूँ आप नये खरीद लीजिये,आदि-आदि। परन्तु वह ज्यौ-ज्यौ विनय करती त्यों-त्यों ब्राह्मणका क्रोध बढ़ता जाता था। भगिन ने देखा कि यह शान्त होने के बजाय और भी क्रुद्ध होते जा रहे है, तब उसने ब्राह्मणका हाथ पकड़ लिया और बोली कि तुम तो हमारी बिरादरी के हो हमारे पति हो चलो हमारे घर, कैसी भूली-भूली बाते कर रहे हो। ब्राह्मण और भी झुंझलाया और वहाँ एकत्रित लोगों से कहने लगा कि देखो! एक तो इसने हमको अपवित्र कर दिया,उस पर भी हाथ पकड़ लिया और अपनी बिरादरी का, अपना पति कहती है। तब लोगोने भंगिन को समझाने का प्रयत्न किया कि ये तेरे पति कैसे हैं। हम लोग इन्हे जानते हैं। ये तो ब्राह्मण हैं। भंगिन बोली—नही,ये मेरे पति ही हैं,तुम लोग जिसको जानते हो वे ये नही हैं। ऐसे ही झगड़ते-झगडते दोनों राजा के पास गये। राजा के सामने भी भंगिन ने यही बात कही। तब राजा ने विचार किया कि है तो ये ब्राह्मण ही, परन्तु यह जो ऐसा कह रही है उसका कुछ कारण अवश्य होगा। तब उससे पूछे कि तुम सही-सही कहो,ये तुम्हारे पति कैसे भये। तब भगिनने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि महाराज! मैंने इनसे प्रथम बहुत अनुनय विनय किया, पर सब व्यर्थ गया तो मैने विचार किया कि ब्राह्मण की सतोगुणी वृत्ति तो इनमे है नही, चाण्डाल रूप क्रोध इनमें भरा है सो चाण्डाल मेरी बिरादरी है मेरा पति है, इसलिए मैंने इनसे ऐसा कहा। यह सुनकर राजाने भंगिन की सराहनाकी और पण्डितजी को समझा-बुझाकर विदा किया कि अब क्रोध नही करना, नही तो ब्राह्मणत्व से हाथ धोना पड़ेगा, फिर हम नही जानते॥

इसी प्रकार वह ऋषि भी,अनेक प्रकार से क्रोध करने लगे। अनेक भाँति खीझना यह कि ऋषि ब्राह्म मुहूर्तमें स्नान करके आरहे थे, शवरीको देखकर मन ही मन झुंझला रहे थे कि प्रातःकालमे अशुभ मूर्ति का दर्शन हुआ, भीलनी है, नीच है माया है, बड़ी भक्तिन बनी है। सबेरे-सबेरे आकर रास्ते में डट गई, कितनी ढीठ है, ना समझ है आदि आदि। सत्य ही कहा है कि जिसके प्रति द्वेष बुद्धि हो जाती है उसके गुण भी दोष ही समझ पड़ते हैं, शवरी की सेवा भी इन्हे अपराध ही मालूम पड़ती है।

करिकै विवेक—यह कि भीलनीसे छू गया हूँ अब तो पुनः स्नानसे ही शुद्धि हो सकती है। यथा-जासु छांह छुइ लेइअ सींचा॥ यहाँ पहिले 'खीझत' कहकर फिर'करिके विवेक'कहकर जनाया गया

कि ऋषि ने अपनी समझ से विवेक किया परन्तु रोष में विवेक कहाँ सम्भव है ? उस समय तो अज्ञानका वोल-वाला होता है । यथा—क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान ॥(रा० च०मा०)महाभागवती शवरी के स्पर्श से अशुद्धि की कल्पना महा अविवेक है । ऐसे ही लोगों को चेतावनी देते हुये श्रीभगवत रसिकजी कहते हैं कि—

जासों सपरश चाहिये तासों अपरस नित्त ।
जासों अपरस चाहिये तासों चिपुको चित्त ॥
तासों चिपुको चित्त भई विपरीत बुद्धि अब ।
असन-वसन आचार कनक कामिनि रांचे सब ॥
भगवत रसिक अनन्य करें स्पर्धा तासों ।
पतित होय गिरि परें परमपद हूँ सो जासों ॥

दृष्टांत—श्रीवल्लभ कुल में अपरस सपरस का वहुत विचार है । एक बार गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी स्नान करके अपरसमें श्रीठाकुरजीकी सेवामे जा रहे थे उसी समय इनका भान्जा आया और इन्हें चरण छूकर प्रणाम किया । गोसाईं जीने पूछा-तुम कौन हो ? वोला-आपका भान्जा । तीन वार पूछे तीनों वार वही उत्तर । तव जाकर पुनः स्नान करके तब सेवा में गये । कुछ दिन वाद ऐसे ही मार-वाड़के एक वैश्यने चरण छूकर प्रणाम किया तो आपने उससे भी पूछा-तुम-कौन हो? उसने उत्तर दिया—मैं वैष्णव हूँ । इससे भी तीन बार पूछे,तीनों वार वही उत्तर । तो गुसाईं जीने पुनः स्नान नहीं किया । भला कही वैष्णव के स्पर्श से अशुद्धि होती है । वैष्णवोंकी चरणरजको धारण करके तो स्वयं भगवान अपने को पावन बनाते हैं ।

यह भागी है—इसलिये कि कहीं दूसरे महर्षि न आजायें । पुनः—कोई क्रोध करता हो तो उसके सामने से हट जाना चाहिये । हट जाने से क्रोध कम हो जाता है, सामने रहने से अधिक बढ़ता है । इसीलिये तो श्रीपरशुरामजी श्रीलक्ष्मणजी के लिये कहते हैं कि—'बेगि करहु किन आंखिन ओटा ।'

नयो पायौ सोच—शवरी से छू जाने का तो सोच था ही, शुद्धि के लिये सरोवर में स्नान करने आये तो उसका जल भी अशुद्ध हो गया । अतः अपनी शुद्धि एव सरोवर की शुद्धि कैसे होगी, यह नया सोच है । तौहू जानै न अभागी है—ऋषि ने समझा कि शवरी के स्पर्श से उसका पाप हमें लगा और हमारे जल स्पर्श करने से वह जल को लग गया उन्होंने यह नहीं जाना कि यह भागवत अपराध का दुष्परिणाम है ।

अभागी है—श्रीप्रियादासजी को ऋषि का यह असद्व्यवहार असह्य हो रहा है अतः झुंझला कर कह रहे हैं—'अभागी है ।' ठीक भी है भक्तमें अभाव होना अभाग्यका ही लक्षण है । यथा—

भागी बुद्धि कुसङ्ग ते कर्म करें सह गर्व ।
मिथ्या फल ताको मिलै, सहसा नाशै सर्व ॥
सहसा नाशै सर्व दोष तब दूजेंहि देहीं ।
करि निन्दा अपराध दून शिर पर धरि लेहीं ॥
मलते साबुन धोय रहे यों अन्ध अभागी ।
जिनते मिलते ईश ताहि निदरत दुर भागी ॥(भ०व०टि०)

लावैं वन वेर लागी राम की अवसेर भल चाखैं धरि राखैं फिर मीठे उन जोग हैं।
मारग में जाइ रहै लोचन विछाइ कभूं आवैं रघुराई दृग पावैं निज भोग हैं॥
ऐसे ही वहुत दिन वीते मग जोहत ही आय गये औचक सो मिटे सब सोग हैं।
ऐ पै तनु नूनताई आई सुधि छिपी जाय पूछैं आप सवरी कहां ठाढ़े सब लोग हैं॥३५॥

शब्दार्थ—अवसेर=चिन्ता, ध्यान। जोहत=देखत, प्रतीक्षा करते हुए। औचक=एकाएक, अचानक। सोग=शोक।

भावार्थ—शबरीजी को श्रीरामजी की वड़ी भारी चिन्ता रहती, वे आगमन की प्रतीक्षा मे अति व्याकुल रहती। वन से वेर वीन-वीनकर लाती, चाखकर देखती (जिस वृक्ष के) जो फल मीठे होते उन्हे श्रीराम के योग्य समझकर उनके लिए रखती थी। उत्कण्ठावश अपने प्रभु के आगमन के मार्ग मे जाकर उसे स्वच्छ एव कोमल वनाती एव अपने नेत्रो के पाँवडे विछाकर विचारा करती कि—राघवेन्द्र सरकार कव आवेंगे? जव मेरे नेत्र उनके दर्शनरूपी अमृत का आस्वादन करेंगे। इसी प्रकार प्रभु के आगमन की वाट देखते-देखते जव वहुत दिन वीत गए तव एक दिन अचानक हो श्रीरामजी आ गये। उनके शुभागमन से सभी शोक मिट गए। परन्तु उसे अपने शरीर के नीचकुल में उत्पन्न होने की वात याद आ गई, इसलिए वह सकोचवश भागकर कहीं छिप गई। श्रीरघुनाथजी स्वयं सवसे पूछने लगे कि—शवरी कहाँ है, शवरी कहाँ है? ऋषि-मुनि शवरी का छिपना और प्रेमविवश प्रभु का पूछना देखकर स्तब्ध खडे रहे॥३५॥

व्याख्या-राम की अवसेर—शवरी मन अवसेर अति, पुलक गात चषनीर। कव प्रभु दरशन पाइहौं, कव हरि है हरि पीर॥ प्रभु दर्शन की प्रवल लालसा को हृदय में, सँजोये हुये शवरी अत्यन्त आर्त होकर पुकार उठती है—

पद—कर्बाहि देखाइहौ हरि चरन।
समन सकल कलेस कलिमल, सकल मङ्गल करन॥
सरद भव सुन्दर तरुणतर अरुन वारिज वरन।
लच्छि लालित ललित करतल छवि अनूपम धरन॥
गंग जनक अनंग अरि प्रिय कपट वटु वलि छरन।
विप्रतिय नृग वधिक के दुख दोष दारुन दरन॥
सिद्ध सुर मुनि वृन्द वन्दित सुखद सव कहँ सरन।
सकृत उर आनत जिर्नाहि नर होत तारन तरन॥
कृपा सिंधु सुजान रघुवर प्रनत आरति हरन।
दरस-आस-पियास तुलसीदास चाहत मरन॥ (विनय)

पुनश्च—थाकी गति अंगन की मति परि गई मन्द सूखो झांझरी सी ह्वै कै देह लागी पियरान।
वावरी सी वुद्धि भई, हँसी काहू छीनि लई सुख के समाज जित तित लागे दूर जान॥

हरीचन्द रावरे विरह जग दुःखमयो भयो कछु और होन हार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे बैनहू अथान लागे आओ प्राणप्यारे अब प्राण लागे मुरझान ॥

चाखै……जोग हैं—वाल्मीकि, अध्यात्म और मानस में कहीं जूठे फलों का खाना नहीं लिखा है। परन्तु श्रीभक्तमाल में जूठे फलों का खाना कहा है। यथा—'**लावै वन बेर लागो रामकी अवसेर फल चाखै धरि राखै फिरि मीठे उनजोग हैं।**' कुछ लोगों का मत है कि वृक्ष का एक वेर लेकर चखती थी, यदि वह मीठा होता तो उसीके वेर रख लेती थी और वही वेर प्रभु को खिलाये। जूठे में यह आपत्ति है कि मर्यादा पुरुषोत्तम ऐसा नहीं करते। यह कहना भी उचित है पर साथ ही यह भी है कि शवरीजी इनको राजकुमार नही समझती थीं, भगवान ही समझती थीं—यह सभी रामायणों से सिद्ध है और भगवान प्रेम के भूखे हैं, उनके लिये क्या जूठा क्या अनूठा। प्रेमी ही इस बात को समझ सकता है, दूसरा नहीं। दूसरे, इसका उत्तर क्या है कि जिस हाथ से वेर खाया उसी जूठे हाथ से फिर तोड़े, तव ये फल भगवान के योग्य रहे ? क्या वे भी जूठे नही तो अनूठे कहलायेगे ? क्या शवरी वार-वार वन में हाथ धोने के लिये जल लिए रहती थीं। कदापि नही। इस प्रश्न का उत्तर प्रेमियों को क्या दिया जावेगा ? हमारी समझ में नहीं आता। यह कहना पड़ता है कि प्रेम की गली कुछ और ही है। आज भी जहाँ कट्टर कर्म काण्डी उपासक भगवान को विना चखे भोग लगाते हैं वहाँ हम देखते है कि प्रेमी विना चखे कभी प्रभु को कोई पदार्थ अर्पण नहीं करते, यद्यपि लोक व्यवहार में तो किञ्चित भी चख लेने से वह पदार्थ भगवान के योग्य नही समझा जाता है।

प्रेम पन्थ में अधर्म भी धर्म में गिना जाता है। यथा—**यत्राधर्म एव धर्मःस्थापितः** ॥ (प्रेम पत्तनम्) जैसे श्रीवसुदेवजी ने कंस से प्रतिज्ञा की थी कि सव लडके दे देंगे, परन्तु प्रतिज्ञा छोड़कर नन्दजी के यहाँ कृष्ण को पहुंचा दिया। यह अधर्म भी धर्म ही माना जाता है। कहा जाता है कि पद्मपुराण में लिखा है कि शवरी वेरों की परीक्षा कर, उनका स्वाद चखकर मीठे-मीठे वेर रखती थीं। यथा—**फलंमूलं समादाय परीक्ष्य परिभक्ष्य च। पश्चान्निवेदयामास राघवाय महात्मने ॥** अर्थ—फल और मूल लाकर उनकी परीक्षा करके तदनन्तर रघुपतिजी को निवेदन किया। पुनः—**प्रेम्णावशिष्टमुच्छिष्टं भुक्त्वा फल चतुष्टयम्। कृता रामेण भक्तानां शवरी कवरी मणिः** ॥ (प्रेमपत्तनम्) अर्थ—प्रेम से अवशिष्ट जूठे चार फलों को भोजन करके श्रीरघुनाथजी ने शवरी को भक्तों की चूड़ामणि बनादी ॥ गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने भी इस विषय में 'सुरस' पद देकर जूठे का भी भाव गुप्त रीति से दरसा दिया है। प्रभु में शवरी का वात्सल्य भाव था, जैसा कि गीतावली से स्पष्ट है। इस भाव से तो जूठे फल खिलाने में कोई आपत्ति ही नहीं रह जाती है। फिर आगे प्रभु स्वयं उसी से कहते हैं कि मैं तो केवल भक्ति का नाता मानता हूँ। मुझे जाति-पांति से सरोकार नहीं है ॥ (मानस पीयूष)

पुनः—शवरी आश्रम रघुवर आये। अर्घ्यासन दै प्रभु बैठाये ॥
खाटे तजि फल मीठे लाई। जूठे भये सु सहज सुनाई ॥ (सूर)
झूठे फल शवरी के खाये ऋषि स्यान विसराये।(नाम देव)

पद—मीठे मीठे चाखि चाखि बेर लाई भीलनी।
कौन सी आचार वती, नहीं रूप रंग रती जाति हू में कुल हीन बड़ी ही कुचीलनी ॥

जूठे फल खाये राम सकुचे न भाव जानि तुम तो प्रभु ऐसी करी रस की रसीलानी।
सांची प्रीति करे कोई 'अमर दास' तरे सोई प्रीतिही सो तरि गईं गोकुल अहीरनी॥

दृष्टांत—धोंगारी छॉंछ का—व्रजेन्द्र नन्दन श्रीकृष्णके वाल सखा अत्यन्त प्रेम करते थे अपने श्याम सुन्दर से। उन्हे कोई भी अच्छी वस्तु मिलती, वह कन्हैया भैया को देते, दिखाते, खिलाते, पिलाते। एक दिन की वात है वन में सबके घर-घर से छाक आई। ग्वाल वाल भोजन करने वैठे। एक की मैयाने धोगारी छाँछ भेजी थी। उसने ज्यों ही छाँछको एक घूँट पीया, तो वडी ही अच्छी लगी, तुरन्त ही अपने मुँह से हटा लिया और वोला—दादा कन्हैया! यह छाँछ तो वड़ी ही वढिया है, तेरे लायक है, इसे तूँ पी ले, वस यह कहते हुये उसने छाँछ की मलरिया को कन्हैया के मुँहसे लगा दिया और कन्हैया भी अपनी मैयाका भेजा हुआ मिष्ठान्न एक ओर कर उसे गट-गट एक ही सांसमें ऐसे पी गये जैसे कोई जनम का भूखा हो। ऐसे ही किसी का कुछ, किसी का कुछ जूठा, अनूठा विना विचारे प्रेम से खाते।

प्रेमियों को शरीर की ही सुधि-वुधि नही रहती फिर आचार-विचार को वे निवाह ही कैसे सकते हैं—

पद— जाहि लगन लगी घनश्याम की।
धरत कहूँ पग परत है कितहूं भूल जाय सुधि धाम की॥
छवि निहारि नहिं रहत सार कछु घरि पल निशिदिन जाम की॥
जित मुँह उठै तितै ही धावै सुरति न छाया घाम की॥
अस्तुति निन्दा करौ भले ही मेंड़ तजी कुल गाम की।
नारायन वौरी भई डोलै रही न काहू काम की॥

पुनः— 'जड़ चैतन्य कछू नहि सूझत विधि निषेध सव रहे धरे।
नर हरिदास ते भये वावरे जो कोउ प्रेम प्रवाह परे॥

दृष्टांत—श्याम सखी का—कुसुम सरोवर पर एक वड़े ही सिद्ध महात्मा रहते थे। इनके शिष्य थे श्रीश्याम सखीजो। एक वार श्रीगुरुदेव जी ने कहा कि श्रीठाकुरजी के सामने चौका लगा आओ। ये वड़े ही अनुराग पूर्वक चौका लगा रहे थे। उसी समय श्रीठाकुरजी खूव वने ठने छम-छम करते हुये उनके सामने से निकले। ये दर्शन कर स्तव्ध से रह गये, शरीर की सुधि-वुधि भूल गये, अपना गोवर से सना हाथ गाल पर धरे हुए सुवह के वैठे शाम तक उसी भावावेश में मग्न रहे। कुछ देर वाद, श्रीगुरुजी ने समझा कि चौका लग गया होगा, इनको वुलाए, परन्तु ये वोले ही नही तव आकर देखे तो इनकी यह दशा। जव शाम को इनको कुछ सुधि भई तो पूछने पर सव वृत्तान्त वताये। यही श्रीश्याम सखीजी एकवार सन्तों की जमात लिए व्रजके एक गाव मे पहुँचे। ग्वारिया घर पर नहीं था। ग्वान्निनी को भी खेत पर जाना था अतः वह सन्तो के लिए भोजन की सव सामग्री देकर चली गई। रसोई वनी। पगति वैठ गई थी, पारस हो रहा था तव तक वह आ गई तो देखा कि वूरा तो अभी धरा ही है। यद्यपि सन्त अपनी आवश्यकता भर ले चुके थे, परन्तु उने इतने से सन्तोप नही हुआ। पूछा—वावा! वूरा क्यों नही लिये? सन्तोने कहा—मैया हम सव ले चुके हैं। यह तो वचा हुआ है, ले जावो घर। लेकिन वह तो

सब सन्तों के लिए ही दी थी। मारे प्रेम के वह जूता पहने ही स्वयं बूरा परोसने लगी। प्रेम में उसे इस बात का ध्यान नहीं रहा। यह देख कर सब सन्त आपस में काना फूसी करने लगे, भोजन छोड़कर उठने का विचार करने लगे तब श्रीश्याम सखीजी ने समझाया कि यह इस समय प्रेम मे विभोर है, बिना प्रेम के भला अपनी वस्तु कोई इस प्रकार लुटाता है। आप लोग आचार-विचार न देख कर इसके प्रेम को देखें। तब सबने प्रसाद पाया।

मारग ""नें भोग हैं—

जब ते सुनी शबरी कि रघुबर चित्रकूट हि छाय हैं।
तहँ वास करि सानन्द पुनि युत बन्धु इहि दिशि आय हैं॥
तब ते सदा उठि प्रात ही बहु दूरि लौ मग झार हीं।
पुनि धाय छिन छिन जाय उर उमगाय पंथ निहार हीं॥
कबहूं सुनितंत मगन मन सियाराम गुण गण गाय कैं।
कबहूं दुहूं दृग मूँदि बैठत श्याम ध्यान लगाय कैं॥
कबहूं अनेक विचार करि करि हीय होत हरास हैं।
कबहूं मुदित मन हँसत सबरी लगी दरशन आस है॥
कबहूं विचारत राम मेरे भवन किहि विधि आय हैं।
जो आय हैं तो भीलनी गुनि मोहि न पद परसाय हैं॥
कबहूं कहत मन माँहि यों रघुवीर परम दयाल हैं।
लखि दीन दैहैं दरस मोकहँ सत्य जन प्रण पाल हैं॥
कबहूं विपिन बिच जाय बीनत बेर हिय हुलसाय कैं।
तिन चीखि मीठे जानि रघुबर हेत धरत सुखाय कैं॥
कबहूं निहोरी मुनिन भाषत नाथ नहिं बिसराइयो।
तब धाम आवहिं राम तो मोहिं दूरते दरसाइयो॥ (राम रसायन)

दृग पाव निज भोग हैं—नेत्रों का अपना निजी भोग भगवत्स्वरूप दर्शन है न कि सांसारिक, प्राकृतिक मायिक मिथ्या रूप दर्शन। यथा—'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः' (भा०) इहै परम फल इहै बड़ाई। नखशिखरुचिर बिन्दु माधव छवि निरखहिं नयन अघाई।। (विनय)। 'होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन।''निज परमप्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइ हौं' 'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी।' आदि। क्योंकि श्याम की श्यामता से ही तो नैन नैन बने हैं— यथा—कोटि भानु ज्यों ऊगवें, तऊ उज्यार न होइ। तनक श्यामकी श्यामता ज्यों दृग परी न होइ। अतः निज भोग कहा।

ऐसे ही """जोहत ही—शबरीको प्रभु दर्शन की प्रतीक्षा करते सहस्रों वर्ष बीत गये। प्रश्न होगा—शबरी की बेर अबेर क्यों? समाधान—प्रतीक्षाका अद्भुत सुख देनेके लिये। प्रियतम मिलन की प्रतीक्षा में भी अलौकिक सुख होता है। रसिक महानुभावोंका तो कहना है कि दर्शन से भी अधिक सुख दर्शनकी प्रतीक्षामें होता है। यथा—है वस्ल से ज्यादा मजा इंतजार का।' 'खुदा करे मजा इंतजार का न मिटे।' अतः आने में अबेर भी करुणासिन्धु की कृपा ही है। पुनः विरह अवस्था में जब प्रेम परिपक्व हो जाता है तब संयोग सुख स्थायी बन कर रहता है।

आइ गये औचक—भक्ति समानी भाव में, भक्तन में भगवान।
श्रीविहारीदास सांची कहैं, श्रीभागवत प्रमान ॥
नारायण मैं सच कहूं, भुज उठाइ के आज।
जों जिय बने गरीब तो, मिलें गरीब निवाज ॥

औचक कहने का भाव यह है कि शबरी इस आशा में थी कि प्रभु पहले ऋषियों के यहाँ आवेंगे, अत. वह बार बार ऋषि आश्रमों की ओर ही निहारती रहती परन्तु प्रभु तो उनके आश्रम के रास्ते को छोडकर अन्य मार्ग, अनन्य मार्ग (प्रेम मार्ग) से शवरी के यहाँ एकाएक आ गये। जैसे भगवान श्रीकृष्ण दुर्योधन द्वारा सजाये गये राजमार्ग को छोड़कर अन्य गली (प्रेम गली) से श्रीविदुरजी के घर चले गये।

मिटे सब सोग हैं—'सब दुख मिटहिं राम पग देखे।' सब सोग-गुरु का वियोग शोक, ऋषियो के दुखित-कुपित होने का शोक, आयु बीत गई, प्रभु के दर्शन नहीं हुये, इस बात का शोक, इस तरह कई प्रकार का शोक है अतः सब शोक कहा। 'एपै ·· 'छिपी जाय'—यह है शबरी का 'तृणादपि-सुनीचेन' का नीचानुसन्धान, दैन्य, कार्पण्य। जो कि भगवान को अतिप्रिय है। यथा—'राई ते वीसो बिसे, ता वीसे पुनि वीस। ताते नान्हे ह्वै रहै, तब मिलि है जगदीश ॥ 'छिपी जाय'—इसका एक कारण तो स्पष्ट है कि—'तन न्यूनता विचारि' भाव यह है कि 'तुम प्रिय पाहुनें वन पगु धारे। सेवा जोग न भाग हमारे।' दूसरे-ऋषियों को और भी अधिक दुःख होगा कि इसने एक तो मतङ्गजीकी चेली बनकर उनका स्थान दखल कर लिया, दूसरे सरोवर का जल बिगाड़ा अब भगवान पर भी भुरकी डाल दिया भगवान को भी वश मे कर लिया।

पूछे आप ·· ·· लोग हैं—यथा—

पथिकन ते पूछत सप्रेम प्रभु पेखि पेखि शबरी हमारी प्यारी बसै केहि ठौर है।
कौन वाको ग्राम इहाँ कौन वाको नाम कहैं कौन वाको धाम जासों काम एक मोर है ॥
कौन घरी ऐहै जामें नयननि निहारिहौं मैं खैहौं फल सुधा स्वाद सरिस अथोर हैं।
रघुराज जै छिन विलोकिना विलोचन सों बीतत पलक सम कलप करोर हैं ॥
(राम रसिकावली)

पूछि पूछि आये तहाँ शबरी स्थान जहां कहाँ वह भागवती देखौ दृग प्यासे है।
आय गई आश्रम में जानि कै पधारे आप दूर ही ते साष्टांग करी चख भासे हैं ॥
रवकि उठाय लई बिथा तनु दूर गई नई नीरझरी नैन परे प्रेम पासे है।
वैठे सुखपाइ फल खाइकै सराहे वेई कह्यो कहा कहौं मेरे मग दुख नासे हैं ॥३६॥

शब्दार्थ—भागवती=भगवद्‌भक्ता, भाग्यशालिनी। भासे=प्रकाशे, प्रफुल्लित। रवकि=लपकि। पासे=फन्दा, जाल। गोट, पासे पड़े=भाग्य अनुकूल हुए।

भावार्थ—भगवान् श्रीराम वनवासी लोगों से और ऋषियो से पूछते-पूछते वहाँ आए जहाँ शबरी जी का स्थान था। वहाँ शबरी को न देखकर भगवान् कहने लगे कि वह भाग्यशालिनी हरिभक्ता यहाँ

है ? मेरे नेत्र उसके दर्शनरूपी सुधाके प्यासे है। स्वयं सरकार मेरे आश्रम में पधारे, यह जानकर शबरीजी भी आश्रम की ओर दौड़ीं। दूर—जहाँ से प्रभुको देखा वहीं से सप्रेम साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। शबरी के नेत्र प्रफुल्लित हो गए। भगवान् ने समीप जाकर शीघ्रता से ललककर उठा लिया। कोमल करकमलके स्पर्श से तन-मन की सब व्यथा दूर हो गई। नेत्रों से आनन्द के आँसुओं की झरी लग गई। प्रेम के पाशे भाग्यवश अनुकूल पड़ गए। भगवान् श्रीराम परम सुखी होकर आसन पर विराजे। शबरीजी ने अर्घ्य-पाद्य पूर्वक बेर आदि फल अर्पण किये। श्रीरामजी ने उन्हें प्रेम से खाकर उनके अद्भुत सुन्दर स्वाद की बार-बार प्रशंसा की और कहा कि—मैं क्या कहूँ, आज सुमधुर फल खाकर मार्ग का श्रम और दुःख सब मिट गए ॥३६॥

व्याख्या—पूछि पूछि आये—वनमार्ग में ऋषि-मुनियों के कोल-भीलों के पते पूछ-पूछकर उनसे शबरी के आश्रम का पता बार-बार पूछकर आये। इस प्रकार प्रभु ने शबरी के प्रति अपने प्रेम का प्रचार किया। सभी लोगों को जनाने के लिए बार बार पूछा, अन्यथा एक बार पूछकर सीधे चले आते। 'कहाँ वह''''''''प्यासे हैं—जैसे भक्त कहते है कि—**अँखियाँ हरि दरशनकी प्यासी।' दरसन तृषित न आज लगि प्रेम पियासे नैन ॥'** वैसे ही भगवानके नेत्र भी भक्त दर्शन के लिये प्यासे हैं। जैसे भक्त के हृदय में भगवद्दर्शन की उत्कण्ठा होती है वैसे ही भगवान के हृदय में भक्त दर्शन की। भक्त भगवान्का दर्शन करते हैं, भगवान भक्त का। यथा—**सहस्रशीर्षापि ततो गरुत्मता मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षयागतः** ॥(भा.) अर्थ—तदनन्तर विराट स्वरूप भगवान गरुड पर चढ़कर अपने भक्त को देखने के लिये मधुवनमें आये ॥ धन्य शबरी ! तेरे दर्शनके लिये श्रीरामके नेत्र प्यासे है। तरस रहे हैं। यथा—**दुर्लभ भक्त अनन्य अति, प्रेमी अरु निष्काम। नर बपुरे को कहाँ मिलै, तरसत राजाराम ॥** (भ०व०टि०) **'चख भासे हैं'—मिले वारि चष प्रेम ते भयो तबहिं उजियार। मूरति सूरति हिय बसी, मिल्यौ सकल सुखसार ॥** (भ०व०टि०)

विथा''''''गई—पूर्व कहा गया है कि 'विथा पागी है' (कवित्त ३४) अब प्रभु के दर्शन स्पर्शसे समस्त व्यथा दूर हो गई। यथा—**निरखि राम छविधाम मुख विगत भई सब पीर।' ,कर परसा सुग्रीव सरीरा। तन भा कुलिस गई सब पीरा ॥' 'रवकि उठाइ लई'**—इससे जनाया गया कि शबरी ने जहाँ से प्रभु को देखा वही से दण्डवत् प्रणाम किया। शबरी और श्रीरामके बीच कुछ दूरी थी, उस दूरी को भगवान ने दौड़कर दूर किया, भला प्रेम और परमात्मा में दूरी कैसी? इसी प्रकार जब श्रीचित्रकूट में श्रीरामजी ने श्रीवशिष्ठजी को प्रणाम किया था तो मुनि ने भी दौड़कर हृदय से लगा लिया था। यथा—**गुरहिं देखि सानुज अनुरागे। दण्ड प्रनाम करन प्रभु लागे ॥ मुनिवर धाइ लिये उरलाई ॥** (रा०च०मा०)

नई नीर झरी—कहने का भाव यह है कि पहले तो श्रीसियाजी के वियोग में नेत्र आँसू बहाते थे। अब शबरी के प्रेमवश आँसुओं की झड़ी लग गई। यह शबरी के पक्ष में भी लगता है। शबरी के भी नेत्रों से प्रथम वियोग दुःखके कारण अश्रुधारा चलती थी अब संयोग सुख के कारण। दुःख और सुख दोनों ही दशाओं में अश्रु पुलकादि होते हैं। **'परे प्रेम पासे हैं'—चौपड़ खेलूँ पीव सों बाजी राखूँ जीव। हारूँ तो मैं पीव की, जीतूं तो मम पीव ॥** (मीरा) प्रेम पासे भी भक्त और भगवान दोनों के परे हैं यह अद्भुत बात है। नहीं तो पासा एक ही ओर पड़ता है। शबरी समझती है मेरा अभीष्ट पूर्ण हो गया, श्रीराम समझते हैं मेरा अभीष्ट पूर्ण हो गया। दोनों ही दोनों को पाकर अपने को जीता हुआ समझते है अतः परे प्रेम पासे हैं।

बैठे ...... दुखनासे हैं—यथा—

चौ०— सबरी देखि राम गृह आये। मुनि के वचन समुझि जिय भाये॥
सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर वन माला॥
स्याम गौर सुन्दर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥
प्रेम मगन मुख वचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥
सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुन्दर आसन बैठारे॥
कंद मूल फल सुरस अति, दिये राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाये, बारम्बार बखानि॥ (रा० च० मा०)

श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'श्रीराम गीतावली' में इस प्रसङ्ग को बड़ी भावुकताके साथ वर्णन किया है। यथा—

सबरी सोइ उठी फरकत बाम बिलोचन बाहु। सगुन सुहावनें सूचत मुनिमन अगम उछाहु॥
मुनि अगम उर आनन्द लोचन सजल तन पुलकावली।
तृनपर्न साल बनाइ जल भरि कलस फल चाहन चली॥
मंजुल मनोरथ करति सुमिरति बिप्रवर बानी भली।
ज्यो कल्पवेलि सकेलि सुकृत सुफूल फूली सुख फली॥
प्रान प्रिय पाहुने ऐहैं राम लखन मेरे आजु। जानत जन जियकी मृदुचित राम गरीब नेवाज॥
मृदुचित गरीबनिवाज आज बिराजिहैं गृह आइकै।
ब्रह्मादि शङ्कर गौरि पूजित पूजिहौं अब जाइकै॥
लहि नाथ हौं रघुनाथ बानो पतित पावन पाइकै।
दुहुँ ओर लाहु अघाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइकै॥
दोना रुचिर रचे पूरन कन्द मूल फलफूल। अनुपम अमियहु ते अम्बक अवलोकत अनुकूल॥
अनुकूल अम्बक अम्ब ज्यौं निर्जडिभहित सब आनिकै॥
सुन्दर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानिकै॥
छन भवन छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानि कै।
दोउ भाइ आये शबरिका के प्रेम पन पहिचानि कै॥
स्रवन सुनत चली आवत देखि लखन रघुराउ। सिथिल सनेह कहै है सपना बिधि कैधों सतिभाउ॥
सतिभाउ कै सपनो निहारि कुमार कोसल राय के।
गहे चरन जे अघ हरन नतजन बचन मानस कायके॥
लघु भाग भाजन उदधि उमग्यो लाभ सुख चितचायके।
सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय के॥
प्रेम पट पांवड़े देत सुअरघ बिलोचन वारि। आश्रम लै दिये आसन पंकज पांय पखारि॥
पद पंक जात पखारि पूजे पंथ श्रम बिरहित भये।
फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि भरि दोना नये॥

प्रभु खात पुलकित गात स्वाद सराहि आदर जनु जये ।
फल चारिहू फल चारि दहि पर चारि फल सवरी दये ॥
सुमन वरसि हरखे सुर मुनि मुदित सराहि सिहात । केहि रुचि केहि छुधा सानुज मांगि मांगि प्रभुखात ॥
प्रभु खात मागत देत सवरी रामभोगी जागके ।
पुलकत प्रसंसत सिद्ध शिव सनकादि भाजन भाग के ॥
वालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल साग के ।
सुनि समुझि तुलसी जानु रामहि वस अमल अनुराग के ॥
रघुवर अँचइ उठे सवरी करि पनाम कर जोरि । हौं वलि वलि गई पुरई मंजु मनोरथ मोरि ॥
पुरई मनोरथ स्वारथहु परमारथहु पूरन करी ।
अघ अवगुनन्हि की कोठरी करि कृपा मुद मंगल भरी ॥
तापस किराततिनि कोल मृदु मूरति मनोहर मनधरी ।
सिर नाइ आयसु पाइ गवने परम निधि पाले परी ॥

सराहे—पद—शवरी थारा मीठा लागे री वोर ।
इन वोरन में कोउ अति मीठे जिनकी खाड़ी है कोर ॥
कवहुँक मैया हमहि लै देती इनमें स्वाद कछु और ।
खात सराहत दोऊ भैया कोसल राज किशोर ॥
तुलसीदास यह प्रभु की करुणा हिये वसो निसि भोर ॥

श्रीरघुनाथजी ने कहा—शवरी ! कितने दिनों के वाद जैसे मैया के हाथ से भोजम करके मैं तृप्त होता था वैसे ही आज तृप्त हुआ हूँ । गोस्वामीजी ने भी लिखा है कि— 'शवरी के दिये विन भूख न भाजी ।' पूरा पद इस प्रकार है—

दानव देव अहीश महीश महामुनि तापस सिद्ध समाजी ।
जग जाचक दानि दुतीय नहीं तुम्ह ही सवकी सव राखत आजी ॥
एते वड़े तुलसी तऊ सवरी के दिये विनु भूख न भाजी ।
राम गरीव नेवाज भये हो गरीव नेवाज गरीव नेवाजी ॥ (कवितावली)

वैसे तो प्रभु नित्य पाते हैं और भक्तजन नित्य भाव पूर्वक पवाते हैं परन्तु माता का भाव तो और ही होता है । अन्य को तो भोजन कराने के समय मातृभाव की भावना करनी पड़ेगी और माता को वह भाव सहज ही प्राप्त है तो भला भावित भाव सहज भाव की वरावरी कैसे कर सकता है ।

वेर वेर वेर लै साराहैं वेर वेर बहु 'रसिक विहारी' देत वन्धु कहँ फेर फेर ॥
चाखि चाखि भाखै वह वाहू ते महान मीठो लेहु तौ लखन यों बखानत हैं हेर हेर ॥
वेर वेर देवै वेर शवरी सुवेर वेर तऊ रघुवीर वेर वेर तेंहि टेर टेर ॥
वेर जनि लावो वेर वेर जनि लावो वेर वेर जनि लावो बेर लावो कहैं वेर वेर ॥
(राम रसायन)

गीतावली के 'बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल साग के ।' इस उद्धरण के अनुसार शबरी के यहाँ श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाइयों का ही फल-साग-पाना सिद्ध होता है। परन्तु कोई-कोई महानुभाव यह भी कहते हैं कि प्रभु तो प्रेमवश पाने लगे परन्तु लक्ष्मणजी तो समझ गये कि ये तो जूठे हैं, तो विचारे कि—'प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उनहिं सब छाजा॥' लेकिन मुझसे लोग पूछेंगे तो कहना पडेगा ही। तो प्रभुको तो कोई कुछ कहेगा नही, पर मेरी लोग हँसी उड़ायेंगे। बस यह विचारकर पाने का स्वाग करते हुये पीछे फेक देते,, पाते नही। वही वेर द्रोणगिरिपर सजीवनी होकर जमे। प्रेमीका प्रेमोपहार था, प्रेमसे नही पाये तो वेवशी में पाना ही पड़ा।

वड़े-वड़े योगी-यति, जपी, तपी ऋषियों के यहाँ न जाकर प्रभु के दीना शवरी के यहाँ जाने पर—

दृष्टांत – विष्णुदत्त ब्राह्मण का—अनन्त शयनतीर्थ में निवास करते हुये महाराज चोल भगवद्विग्रहको स्वर्ण, मणि, रत्नो की मालाओं से समलकृत कर फूले नही समाते थे साथ ही धनहीन किन्तु भाव धनी विष्णुदत्त के द्वारा केवल तुलसी-पुष्प से भगवान का पूजन उनके लिये अकारण ईर्ष्या का विषय वन गया। निदान एक दिन धन-मद-माते राजाने ब्राह्मण का तिरस्कार करते हुए कहा—आप तुलसी-पुष्प चढाकर भगवान के वस्त्राभूषणो की शोभा नष्ट करते है, यह उचित नहीं। विष्णुदत्त ने शास्त्रोक्त प्रमाणों से जव तुलसी-पुष्प की स्वर्ण-मणियो से अधिक महत्ता प्रतिपादित की तो राजा खीझ उठे और बोले यदि ऐसी वात है तो देखे भगवान तुमको पहले मिलते है या मुझे। इस प्रकार एक गरीब ब्राह्मण को चुनौती देकर राजा तो मुद्गल ऋषि के आचार्यत्व में विष्णु यज्ञ करने लगे। इधर ब्राह्मण के पास सिवा तुलसी-पुष्प के और था ही क्या? हाँ भाव था, उसने भाववश्य भगवान को भाव से ही प्रसन्न करने की ठानी। वे सारा समय भगवत्स्मरण में व्यतीत करते हुये पत्र-पुष्पार्पण पूर्वक भगवदाराधन करने लगे। दिन में एक वार भोजन वनाते, पाते। एक बार ऐसा हुआ कि सात दिन तक लगातार भोजन चोरी चले जाने से विष्णुदत्त निराहार ही रहकर भगवत्स्मरण करते रहे। आठवे दिन देखे कि एक दुवला पतला चाण्डाल भोजन लेकर भगा जा रहा है तो वे पीछे से घृत लेकर दौड़े। चाण्डाल मूर्छित होकर गिर पड़ा तो ये अपने वस्त्र से हवा करने लगे। इनके इस भव्यभाव पर रीझकर चाण्डाल के स्थान पर भगवान विष्णु साक्षात् प्रकट हो गये। विष्णुदत्त दर्शनकर कृतकृत्य हो गये। भगवान् ने ब्राह्मण को अपना रूप प्रदान किया। देवताओ ने पुष्प-वृष्टि की। विष्णुदत्त दिव्य विमानपर वैठकर वैकुण्ठ को गये। चोल-नरेश यह देखकर भक्ति को श्रेष्ठ माने। राजा यज्ञ वन्दकर ग्लानि मे भरकर यज्ञकुण्ड मे कूदने को प्रस्तुत हुये तो भगवान विष्णुने उन्हे भी दर्शन दिया और वैकुण्ठ को ले गये।

करत हैं सोच सव ऋषि वैठे आश्रम में जल को विगार सो सुधार कैसे कीजिये।
आवत सुने हैं वन पथ रघुनाथ कहूं आवैं जव कहै याको भेद कहि दीजिये॥
इतने ही मांझ सुनी सवरी के विराजे आनि गयो अभिमान चलो पग गहि लीजिये।
आय खुनसाय कही नीर कौ उपाय कहौ गहौ पग भीलनी के छुये स्वच्छ भीजिये॥३७॥

शब्दार्थ—विगार=विगाड़, अपवित्रता। खुनसाय=रिसाय। गहौ=पकड़ो। भीलिनी=भील जाति की स्त्री, शवरी। स्वच्छ=शुद्ध। भीजिए=प्रसन्न हुए, प्रेमार्द्र हुए।

भावार्थ—सभी ऋषि लोग आश्रम में बैठकर सोच-विचार कर रहे थे कि—सरोवर का जल बिगड़ गया है उसे शुद्ध करने के लिये यज्ञ-याग, सर्वतीर्थजल निक्षेप आदि सब उपाय हमने कर लिये पर वह शुद्ध नहीं हुआ, अब बताओ वह कैसे सुधरे। सबों ने परस्पर विचार कर निश्चय किया कि—बनके मार्ग से श्रीरघुनाथजी आ रहे हैं, यह सुना है। जब वे आवें तब हम लोग उनसे कहें कि—आप इसका भेद बताइये। इतने में ही उन ऋषियों ने सुना कि श्रीरामजी तो शवरी के आश्रम में आकर विराजे हैं। तब सबका ब्राह्मणत्व का अहंकार दूर हो गया और वे कहने लगे कि—चलो, वहीं चलकर उनके चरणोंमें प्रणाम करें। अप्रसन्न वे ऋषिगण शवरी के आश्रम में आकर बोले—प्रभो श्रीराम ! आप सरोवरके जल को शुद्ध करने का उपाय बताइये। भगवान् ने उत्तर दिया कि—शबरी के चरणों का स्पर्श करो, उसके बाद सरोवर के जलसे इसके चरणों का स्पर्श कराओ। जल तुरत पवित्र हो जायेगा। भगवान्‌की आज्ञा से ऋषियों ने ऐसा ही किया। सरोवरका जल अति निर्मल हो गया। भक्ति की ऐसी महिमा देखकर ऋषियोके हृदय प्रेमभावसे द्रवित हो गए ॥३७॥

व्याख्या—याको भेद कहि दीजिये—इसके कई भाव हैं। १. शवरी—मतङ्ग की चुगली करेंगे। २. कहेंगे कि शवरी के पाप से सरोवर का नीर बिगड़ा है। ३. यह कैसे शुद्ध होगा। नीच पापी को भी तीर्थ पवित्र करता है, पापीसे तीर्थका अपवित्र होना सुना नहीं गया है। तो फिर यह सरोवर कैसे अशुद्ध हुआ इसका रहस्य आप बतावें। **सुनै शबरी के बिराजे आन**—तो बहुत से महात्मा तो ऐसा कहने लगे कि मालूम पड़ता है कि धर्मशास्त्र नहीं पढ़े हैं। इसी से तो पहले हम लोगों को छोड़कर भीलनी के यहाँ गये। अच्छा, जो हुआ सो हुआ। **'गयो अभिमान'—जाति, विद्या, महत्वं च रूप यौवनमेव च। यत्नेन परितस्त्याज्या पञ्चैते भक्तिकण्टकाः॥ 'चलो''''लीजिये'**—दण्डवत् प्रणाम नहीं, पग गहने को कहते हैं, एक रस्म अदायगी मात्र। परन्तु जब यही महात्मा शवरीके आश्रम में पहुंचे तो श्रीरामजी देखते ही उठ खड़े हुए और आगे बढ़कर साष्टांग दण्डवत प्रणाम किये, तब मुनि लोग आपस में कहने लगे कि यह देखकर तो लगता है कि धर्मशास्त्र भी पढ़े हैं। तभी तो मर्यादा का पालन करते हैं। **आय खुनसाय कही**—रोष के कारण ऋषि पग गहना भी भूल गये आते ही बरस पड़े श्रीरामजी पर। बोले—

नीर को उपाय कहो—श्रीरघुनाथजी से सर शुद्धि का उपाय इसलिये पूछते हैं कि सुन चुके है कि **'रिषि तिय तरी लगत पग धूरी।'** तथा **'दण्डक पुहुमि पाय परस पुनीत भई उकठे विटप लागे फलन फरन।'** अतः सर भी अवश्य शुद्ध कर सकते हैं। भगवान ने कहा—हम तो क्षत्रिय हैं। वेष मात्र विरक्तों का धारण किया हूँ, वह भी थोड़े ही दिनों से। नया नया वैराग्य है। आप लोग ब्रह्मर्षि हैं। बहुकालीन महात्मा हैं, आप लोगों की महिमा हमसे अधिक है। अतः यह तो आप लोगों से ही सम्भव है। यह सुनकर कई एक बड़े भारी डम्बूधारी ऋषि फूलकर कुप्पा हो गये, सोचे कि सचमुच, मैंने तो परीक्षण किया नहीं। नहीं तो कबका शुद्ध हो गया होता। बस यह सोचकर सरोवर में कूद गये, बहुत हिले डोले, हाथ, पाव हिलाये परन्तु हुआ कुछ नही। लज्जित लौट आये।

फिर भगवान से ही उपाय करने को कहने लगे। प्रभु ने अपने को सर शुद्ध करने में अशक्य बताया कारण कि यह भागवत अपराध का परिणाम है और भागवत अपराध प्रभु नही क्षमा करते हैं। दृष्टांत—अम्बरीष दुर्वासा का। (कथा आगे है।) परन्तु जब ऋषि लोग अत्यन्त आग्रह करने लगे तो भगवान ने जाकर पांव से जल स्पर्श किया तो कीड़े और भी अधिक एवं मोटे हो गये तथा जल भी

अधिक सगाव हो गया। इसके दो कारण—१ 'कोटि विष्णु सम पालन करता' हैं। २. 'संतत दासन्ह देहि बड़ाई।' शबरी को बड़ाई देने के लिये प्रभु ने ऐसा किया। परन्तु इस बात को तो लोग समझे नहीं, कोई-कोई कहने लगे कि जैसे हम वैसे ही यह भी निकले। जिनको अवतार में सन्देह था उन्हें एक बात कहने को मिल गई कि हम तो पहिले ही कहते थे कि ये भगवान नहीं हो सकते, राजकुमार ही हैं। देखो अब परीक्षा हो गई। तभी तो श्रीकागजी ने कहा है कि—'निरगुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।' तब ऋषियों ने कहा कि कोई उपाय ही बता दीजिये तो भगवान ने कहा कि यदि शबरीजी के चरण का स्पर्श हो जाय तो मेरा विश्वास है कि सरोवर शुद्ध हो जायेगा। यह सुनकर ऋषियों ने शबरी से प्रार्थना किया तो शबरी भला भगवान और बडे-बडे ब्रह्मर्षियों के सामने कब चरण स्पर्श कराने लगी, उसने अपनी अधमता सुनायी। यथा-'अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँमैं मति मन्द अघारी। आदि तब प्रभु ने कहा—हाथ जोडने से काम नहीं चलेगा—

गहो पग भीलनी के—जैसी व्याधि,वैसी औषधी। जाति कुल महत्वादिके अभिमानी ऋषियों के अभिमान को दूर करने का यही समुचित उपचार है।

दृष्टांत—चोखा मेला का—यह जातिके चमार थे, परन्तु थे बड़े भागवत। एकबार बाजार मे बढिया केला के फल देखे तो जी मे आया कि ले चलूँ श्रीठाकुरजी को भोग लगाने के लिये। बस जिस कार्य से बाजार गये थे, वह तो विस्मृत हो गया, केला खरीद लाये और लाकर श्रीपण्ढरीनाथ भगवान के पुजारी को भोग लगाने को दिया। पुजारी ने धोखे मे ले तो लिया। परन्तु जब देने वाले को देखा तो झल्ला कर फेक दिया—बोला— अरे! तुझ चमार का केला भगवान को भोग लगेगा? चोखा मेला केला उठाकर घर आये, डूब गये सोच सागर मे, रात्रिमे नीद नहीं आई। चिन्ता अपने तिरस्कार की, चमार कहे जाने की नही थी, चिन्ता तो थी 'सेवा जोग न भाग हमारे।' इस बात की। उधर जब भगवान को शयन करा कर पुजारी अपने-अपने घर गये तो प्रभु को नीद नही आई। वे चोखामेला के घर आकर बोले—भक्तजी! लाओ अपने केले। मुझे केला खाने की बडी इच्छा है। प्रेमविभोर चोखा मेला प्रभु की इस अहैतुकी कृपा पर बार-बार बलि जाते हैं, जैसे तैसे प्रभु के चरणों में मत्था टेके पुनः हाथ जोडकर बोले-प्रभो! मैं तो नीच हूँ। मेरे केले आप कैसे पाइयेगा। भगवान ने कहा—भक्तजी! मैंने तो नही फेंका था, मैं तो मांग रहा हूँ लाओ, दो। चोखामेला ने प्रभुको केले अर्पण किये। प्रभुने कुछ तो पाया और कुछ श्रीरुक्मिणीजीके लिये लेते गये। बोले—पाकर देखो, इन केलोमे कैसा स्वाद है? श्रीरुक्मिणीजी भी कुछ तो खाई और कुछ रखली। प्रातः जब पट खुला तो मन्दिर में केलेके छिलके एव कुछ फलो को भी देखकर पुजारी जान गये कि यह केला तो चोखा मेला के है। ओहो! लगता है उसने हमारे भगवान को बहका लिया है। चलो उसकी खबर ले। फिर तो चोखा मेला के घर आकर पुजारियो ने बहुत मार लगाई। भला भक्त वत्सल भगवान यह अनीति कैसे सह सकते हैं। जब पुजारी पूजा करने गये तो प्रभुने भीतर से किवाड़ बन्द कर लिये। कितनी हू प्रार्थना किये परन्तु खोले नही। जब बहुत रोने गिड़गिड़ाने लगे तो बोले—जाओ चोखा मेलाको कन्धे पर बैठाकर मेरे पास ले आओ, तब तुम्हारी पूजा स्वीकार करेंगे अन्यथा नही। तब तो इन लोगों की आख खुली-अरे! चोखा मेला ऐसा भक्त है? हम लोग तो आज जाने। फिर कन्धे पर बिठाकर ले आये प्रभु पास। प्रभुने हृदयसे लगाया चोखामेला को। इसी प्रकार श्रीरामजी ने ऋषियो से कहा—गहो पग भीलनी के।

पुनश्च—नीति में लिखा है कि—'शठ प्रति शाठ्यं कुर्यादादरं प्रति चादरम्। त्वयामे लुञ्चिते पक्षे मया तेमुण्डितं शिरः ॥

दृष्टान्त—तोता और वेश्या का—दोनों एक राजा के यहाँ रहते थे। वेश्या तो नगर नारि होती है। उसकी राजा के अतिरिक्त और भी लोगों से यारी थी। वे लोग भी मौका देखकर वेश्या के पास आते जाते थे। तोता राजा से सब बता देता, जिससे राजा वेश्याको ताड़ना करता। राजा चाहता कि यह केवल हमसे ही सम्बन्ध रखे, परन्तु वेश्या अपने स्वभाव से विवश थी। बस एक दिन वेश्या ने झुंझला कर तोते का पङ्ख नोच दिया। वह तो चाहती थी मार डालना ही परन्तु तोता पङ्ख फड़-फड़ा कर भाग गया। जाकर शिवालय की मोरी में घुस गया, जहां राजा रोज दर्शन करने जाया करता था। आज जब राजा दर्शन करने आया तो तोता ने खूब आशीर्वाद दिया और आज्ञा करी कि वेश्या का मूड़ मुड़ाकर फटे वस्त्र पहना कर नगर से बाहर निकाल दो तो तुम्हारे सुख समृद्धि की वृद्धि होगी अन्यथा सर्वनाश हो जाएगा। राजा ने इसे शिवाज्ञा समझकर वैसा ही किया। कुछ दिन बाद जब तोता के पङ्ख जम आये तो वह उड़कर वेश्या के पास गया। वेश्या वृक्ष के नीचे रो रही थी। तोते ने पूर्वोक्त श्लोक सुनाया। जिसका भाव यह कि शठके साथ शठता, एवं आदर करने वाले के साथ आदर व्यवहार करना चाहिये। यह नीति है। तुमने मेरे पङ्ख नोचे तो मैंने तेरा सिर मुड़ा दिया। 'वैसे हो—हरि जैसे को तैसा। खुरपी में टेड़ा बैसा॥ तथा—नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥' अतः कहा कि गहो पग ''' । गोस्वामी श्री तुलसीदासजी ने लिखा है—

दोहा— **तुलसी जो कीरति चहैं, पर की कीरति खोय।**
तिनके मुह मसि लागि हैं, मिटहि न मरि हैं धोय॥

जब ऋषि लोग अभिमान छोड़ कर शबरी के चरण पकड़ने को उद्यत हुये तो शबरी भगी। तब भगवान ने कहा कि इसकी चरणरज ही लेजाकर सरोवर में छोड़ो। रज डालते ही सरोवर शुद्ध हो गया। यथा—'अधिक बढ़ावत आप ते,जन महिमा रघुबीर। शबरी पद रज परस ते शुद्ध भयो सरनीर॥' यहां 'राम से अधिक राम कर दासा' चरितार्थ हुआ। अन्यत्र भी 'साहिब ते सेवक बड़ो, जे निज धर्म सुजान। राम बाँधि उतरे जलधि,कूदि गयो हनुमान।' अतः भगवान से भी अधिक भगवद्भक्तोंका आदर करना चाहिए। भगवानकी आज्ञा भी है। यथा—'मोते संत अधिक करि लेखा।' पुनश्च—**ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः। मद्भक्तानां च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः॥** (आदि पुराण) अर्थ—हे पार्थ! जो केवल मेरे भक्त हैं, वस्तुतः वे मेरे भक्त नहीं है। जो मेरे भक्तों की भक्ति करते है, वास्तव में मेरे भक्त तो वेही हैं। प्रभु का स्वभाव है—'मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक वैर वैर अधिकाई।' अतः—'जो दोषी है संत के, हरि दोषी सौ बार। भजन करत सेवा करत डूबैगो मझधार॥' संत की सेवासे अपने आप भगवन्त सेवा हो जाती है। यथा—'अन्तर्यामी गर्भगत, सन्त सुन्दरी माँहि। तुलसी पूजे सन्त के दोऊ पूजे जाहि।

छुये स्वच्छ भीजिये—छूने से स्वच्छ हो जायगा, छूने से स्वच्छ हो गया, एवं छूने से आप लोग भी स्वच्छ अर्थात् अभिमान रूपी मलसे रहित होकर प्रेम रस में भीज जाइयेगा। सभी अर्थ सुसंगत हैं।

दृष्टान्त—गंगा और भगीरथ का—जब श्रीभगीरथजी ने श्रीगङ्गाजी से अपने पूर्वजोंका उद्धार करने के लिये पृथ्वी पर अवतरित होने की प्रार्थना किया तो श्रीगङ्गाजी ने दो कठिनाइयाँ बताईं। एक तो यह कि जब मैं स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरूँगी तो मेरे वेग को धारण करने वाला कोई परम समर्थ होना चाहिये, अन्यथा मैं पृथ्वी को फोड़कर रसातल को चली जाऊँगी। दूसरी यह कि लोग मुझमें अपने पाप धोयेंगे, फिर मैं उस पाप को कहाँ धोऊँगी ? श्रीभगीरथजी ने प्रथम समस्या के समाधान मे सहज समर्थ भगवान शंकर को स्मरण कराया तथा दूसरी के समाधान में कहा—जिन्होने लोक परलोक, धन-सम्पत्ति, और स्त्री-पुत्रादिकी कामनाओं का सर्वथा त्याग कर दिया है, जो संसार से उपरत होकर अपने आप में शान्त है, जो ब्रह्मनिष्ठ एवं लोगो को पवित्र करने वाले परोपकारी मत हैं वे अपने अङ्ग स्पर्शसे तुम्हारे पापों को नष्ट कर देंगे। क्योकि उनके हृदय में अघरूप अघासुर को मारने वाले भगवान सदा निवास करते हैं। यथा—साधवोन्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोक पावनाः। हरन्त्यघं तेऽङ्ग सङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ।। (भा०)

शबरीजी की महामहिमा का प्रत्यक्ष अनुभव कर ऋषि लोग वस्तुतः प्रेममें भीज गये। आखिर हैं तो ऋषि मुनि, ज्ञानी-विज्ञानी। अपने पूर्व के कृत्यो का स्मरण कर लोगो को बहुत पश्चात्ताप हुआ, प्रभु से पूछे—प्रभो ! हम लोगों ने मिथ्याभिमानवश महाभागवती शबरी की जो अवहेलना की है उसका प्रायश्चित्त कैसे होगा ? जैसे आपने कृपा करके सर-शुद्धिका उपाय बताया वैसे ही इसका भी समाधान करें। भगवानने ऋषियो को भक्ति का प्रताप सुनाकर आज्ञा किया कि आप लोग शबरी—नारायण का मन्दिर बनवाइये और शबरी के नाम सहित मेरी पूजा कीजिये तभी इसका प्रायश्चित्त सम्भव है अन्यथा और कोई उपाय नही है। ऋषियों ने प्रभु की आज्ञा का पालन किया। अद्यापि शबरी नारायण का मन्दिर वर्तमान है।

श्रीरघुनाथजी ने शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश दिया—यथा—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता ।।
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुण चतुराई ।।
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल वारिद देखिअ जैसा ।।
नवधा भगति कहउँ तोहिं पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं ।।
प्रथम भगति संतन्ह कर सङ्गा। दूसरि रति मम कथा प्रसङ्गा ।।

दो०— गुरु पद पङ्कज सेवा, तीसरि भक्ति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान ।।

चौ०— मन्त्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा ।।
छठ दमसील विरति बहुकर्मा। निरत निरन्तर सज्जन धर्मा ।।
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोते संत अधिक करि लेखा ।।
आठवँ यथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखहि परदोषा ।।
नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिय हर्ष न दीना ।।
नव महुँ एकउ जिनके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ।।

सोइ अतिशय प्रिय भामिनि मोरे । सकल प्रकार भगतिदृढ़ तोरे ॥
जोगि वृन्द दुर्लभ गति जोई । तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई ॥

इसके पश्चात् शवरीजी ने सीताजी का समाचार कहा—यथा—

सियसुधि सबकही, नखशिख निरखि निरखि दोउभाइ । दै दै प्रदच्छिना करति प्रनाम न प्रेम अघाइ ॥
अति प्रीति मानस राखि रामहिं रामधामहिंसोगई । तेहि मातुज्यौं रघुनाथ अपनेहाथजल अंजलिदई ॥
तुलसी भनितसवरी प्रनति रघुवरप्रकृति करुनामयी। गावतसुनत समुझतभगति हियहोइप्रभुपदनितनई ॥

श्रीराम राज्याभिषेक होने के बाद एक दिन श्रीप्रभु का दरबार लगा था। श्रीवशिष्ठजी ने चर्चा चलायी । वन में तो आपको वहुत से प्रेमी मिले होंगे तो क्या जैसे श्रीअवध में भरतजी आपके परमानुरागी हैं वैसे ही वन में भी कोई भक्त मिला था । श्रीरघुनाथजी. क्रमशः मुनिगण-मिलन प्रसग वर्णन करते-करते, जब शवरी का प्रसङ्ग आया तो हा शवरी ! कहकर मूर्छित हो गये । बहुत उपचार करनेके बाद जब मूर्छा दूर हुई तो पुनः पूछने पर प्रभु शवरी प्रेम का वर्णन करते अघाते हीनही थे । चौदह वर्ष बाद वनसे आने पर—

घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई ।
तब तहँ कही शबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई ॥ (विनय)

श्रीजटायुजी—

जानकी हरण कियो रावण मरण काज सुनि सीतावाणी खगराज दौरयो आयौ है ।
बड़ी ये लड़ाई लीन्ही देह वारि फेरि दीन्ही राखे प्राण राममुख देखिबो सुहायौ है ॥
आये आपु गोद शीश धारि दृग धार सींच्यो दई सुधि लई गति तनहू जरायो है ।
दशरथ वत मान कियो जल दान यह अति सनमान निज रूपधाम पायो है ॥३८॥

शब्दार्थ—खगराज=पक्षिराज, जटायु । वारि फेरि=न्यौछावर । वत=तरह ।

भावार्थ—रावणने जब श्रीरघुनाथजी के हाथोंसे मरनेके लिये वनमें श्रीजानकीजी का हरण किया । उस समय सीताजी का आर्तवाणी से विलाप सुनकर पक्षियों के राजा जटायुजी दौड़कर आये । उन्होने रावण के साथ वड़ा भारी युद्ध किया और उसी मे अपना शरीर न्यौछावर कर दिया । श्रीरामजी के दर्शनों की लालसा से अपने प्राण नही छोड़े । श्रीजानकीजी को खोजते हुए श्रीरामजी आए और प्यारसे जटायु के शिर को गोद में रख लिया । जटायु की दशा देखकर प्रभु इतने दुःखित हुए कि उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धार वहचली । उससे जटायुका शरीर भीग गया । जटायुजीने रावणके द्वारा सीताहरण का समाचार सुनाया और मुनि दुर्लभगति प्राप्तकी । भगवान्‌ने जटायुजी के शरीर का दाहसंस्कार किया । और अपने पिता राजा दशरथ के समान उनको माना, अत्यन्त सनमानके साथ जलसे तर्पण तथा पिण्डदान किया । इस प्रकार जटायुजी ने दिव्य चतुर्भुजरूप तथा वैकुण्ठधाम पाया ॥३८॥

व्याख्या—पक्षिराज जटायुजी, गरुड़जी के ज्येष्ठ भ्राता अरुणजी के पुत्र थे । अद्भुतसाहस, अपरिमित पराक्रम, अतुल वल, विवेक शीला बुद्धि ये समस्त विशेषतायें जटायुजी में एक साथ वर्तमान थी । इनके ज्येष्ठ भ्राता सम्पाती ने इनके जीवनके संस्मरण में एक प्रसङ्ग युवावस्थाका वर्णन किया है ।

यथा—हम द्वौ बन्धु प्रथम तरुणाई। गगन गये रवि निकट उड़ाई। तेज न सहि सक सो फिरि आवा। मैं अभिमानी रवि निअरावा॥ जरे पङ्ख अति तेज अपारा। परेउँ भूमि करि घोर चिकारा॥ सूर्य तक पहुँचने की उडान में इनके साहस, पराक्रम, और बल तथा असह्य तेज के कारण लौट आने में विवेक बुद्धि का परिचय मिलता है। यही कारण है कि इन्हें सम्पाती जैसी दुर्दशा नही भोगनी पड़ी। ये लौटकर दण्डकारण्य मे पचवटी के वनों में निवास करने लगे।

इनकी अयोध्यानरेश चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी के साथ मित्रता थी। एक बार की बात है कि जब शनि कृत्तिका नक्षत्र के अन्त में थे तब ज्योतिपियों ने राजा दशरथजी को बताया कि अब शनैश्चर रोहिणी नक्षत्र को भेदकर (जिसे शकट भेद भी कहते हैं) जाने वाले हैं, जिसका फल देव दानवो को भी भयंकर है और पृथ्वी पर तो बारह वर्षका भयङ्कर दुर्भिक्ष होना है। यह सुनकर सब लोग व्याकुल हो गये। तब राजा ने श्रीवशिष्ठादि ब्राह्मणो को बुलाकर उनसे इसके परिहार का उपाय पूछा। वशिष्ठजी ने कहा कि यह योग ब्रह्मादि के लिये भी असाध्य है। इसका कोई परिहार नहीं। यह सुनकर राजा परम साहस धारण कर दिव्यरथ मे अपने दिव्यास्त्रों सहित बैठकर सूर्य के सवा लक्ष योजन ऊपर नक्षत्र मण्डल में गये और वहाँ रोहिणी नक्षत्र के पृष्ठ भाग में स्थित होकर उन्होने शनिको लक्षित करके धनुप पर संहारास्त्र को चढाकर कर्णपर्यन्त खीचा। परन्तु वाह रे शनि ! शनिकी दृष्टि पडते ही राजाका रथ भस्म हो गया। राजा आकाश से गिरने लगे। इतने मे जटायू पहुँचे और राजा को अपनी पीठ पर बैठा लिया। तब फिर राजाने धनुष बाण लेकर सामना किया तब शनि हृदय से डर गये कि ऐसा पराक्रमी तो हमने नही देखा। फिर उन्होने राजा से कहा कि हम तुम पर प्रसन्न हैं वर माँगो। राजाने यही माँगा कि आप अब कभी शकट भेदन नही करना। शनि ने एवमस्तु कहा।

तब श्रीदशरथजीने शनि की, स्तुति की, जिसे सुनकर शनि बड़े ही प्रसन्न हुए और यह वर दिये कि जो कोई तुम्हारी की हुई इस स्तुति को पढ़ेगा उसे मेरी बाधा नही होगी। फिर श्रीदशरथजी को जटायुजी ने सकुशल पृथ्वी पर पहुँचा दिया तो श्रीदशरथजीने जटायु का बहुत उपकार माना और बोले--गीधराज जो! देखिये, मैं भूमण्डल का चक्रवर्ती राजा हूं मेरा नाम दशरथ है,आपने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है। अतः आप बोलिये मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ। 'यह राजा दशरथ है।' यह सुनकर श्रीजटायुजी ने अपना बड़ा भाग्य माना। क्यो कि वे ऋषियो, मुनियो, देवताओ से सुन रखे थे कि श्रीदशरथजी के यहाँ परात्पर ब्रह्म का चतुर्व्यूह रूप से अवतार होने वाला है। अतः इन्होने यही मागा कि आप का ज्येष्ठ पुत्र मेरा रहे। यह सुनकर श्रीदशरथजी उदास होकर बोले—जटायुजी ! आपने तो ऐसी वस्तु मांगी कि वचन खाली ही जायगा। क्योंकि मेरे तो छोटा बड़ा कोई पुत्र है ही नहीं। जटायुजी ने मुस्करा कर कहा—अभी नही है न सही, जब होवै तो इस बात का ध्यान रखना कि ज्येष्ठ पुत्र मेरा है। श्रीदशरथजी ने 'एवमस्तु' कहा और घर चले आये।

अवतार का समय उपस्थित होने पर जब श्रीदशरथजी के यहाँ प्रभु का प्राकट्य हुआ तो जटायु ने आकाश में देवताओं को दुन्दुभि बजाते, स्तुति करते हुए देखकर जान लिया कि प्रभु का प्रादुर्भाव हो गया है, अतः चलूँ मैं भी दर्शन कर आऊँ। फिर क्या था? उड़े और आ विराजे श्रीदशरथजीके राजद्वार पर। इनका बडा विशाल कलेवर था अतः इन्हे देखकर श्रीअयोध्या वासियो को बडा कुतूहल हुआ। श्रीदशरथजी को खबर पड़ी तो उन्होने जाकर देखा तो ये मित्र जटायु थे। जटायुजी ने सादर अभिवादन

किया और बोले कि राजन्! आपको अपने वचन याद है? राजाने कहा—हां मित्र वर! याद तो हैं। जटायु-तब लाओ हमारी थाती। श्रीदशरथजी ने महाभाग जटायु को सूतिका गृह के द्वार पर ले जाकर श्रीरामलाल का दर्शन कराया। जटायु धन्य-धन्य हो गये दर्शन पाकर। बोले कि ये अभी बहुत छोटे है अतः अभी आप ही इनका लालन-पालन करें; बड़े होने पर हम ले जायेंगे। यह कह कर जटायुजी चले गये। एव प्रकारेण जटायुजी प्रति पक्ष इसी बहाने श्री अवध आते श्रीरामलाल का दर्शन कर, श्रीदशरथ जी को चैतन्य कर चले जाते। अन्ततोगत्वा श्रीराममें श्रीदशरथजीकी ममता समझ कर इन्होने कह दिया कि अच्छा, आप इनको अपने पास ही रक्खे, हम तो पक्षी ठहरे, कहाँ रखेंगे, परन्तु ध्यान रखना इन पर स्वत्व हमारा ही है। श्रीदशरथजी बड़े ही प्रसन्न हुये। प्रभु श्रीरामजी ने जटायुजी के इस भाव को अन्त तक निवाहा। तभी तो कहा गया है कि—'को रघुवीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहन हारा।'

वन-वास काल में जब श्रीरघुनाथजी महर्षि अगस्त्यजी के संकेतानुसार पंचवटी पहुँचे है तो रास्ते में विशालकाय जटायुको देखकर उनका परिचय पूछा है तो वह बहुत ही मधुर वाणी से बोले— वत्स! मुझे अपने पिता का मित्र जानो।'यथा-'उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः।'(वाल्मीकि०) यह सुनकर भावग्राही प्रभु ने विना कुछ और पूछे प्रथम जटायुजी की पूजा की, पश्चात् नामादि पूछा। तदनन्तर जटायुजी ने कहा कि तुम्हारे यहाँ रहने से मैं यथा शक्ति सहायता करूँगा। इससे प्रभु को बड़ा सन्तोष हुआ यथा—गीधराज सै भेट भइ, बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ। गोदावरी निकट प्रभु रहे परन गृह छाइ॥ (रा० च० मा०) अब कवित्त का भाव कहते हैं।

जानकी ···· ···· काज—यथा—

चौ०— सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहं कोउ नाहीं॥
खर दूषन मोहि सम बलवन्ता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥
सुर रंजन भंजन महि भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥
तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ।
होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम वचन मन्त्र दृढ़ एहा॥

सुनि ···· ···· आयो है—यथा—

आरत वचन कहति वैदेही।
विलपति भूरि विसूरि दूरि गये मृग सँग परम सनेही॥
कहे कटु वचन रेखनांघी मैं तात छमा सो कीजै।
देखि बधिक बस राज मरालिनि लखन लाल छिनि लीजै॥
वनदेवनि सिय कहन कहति यौं छल करि नीच हरी हौं।
गोमर कर सुरधेनु नाथ ज्यौं त्यौं पर हाथ परी हौं॥
तुलसीदास रघुनाथ नाम धुनि अकनि गीध धुकि धायो।
पुत्रि-पुत्रि जनि डरहि न जैहैं नीचु मीचुहौं आयो॥ (गीतावली)

पुनः— गीध राज सुनि आरत वानी। रघुकुल तिलक नारि पहिचानी॥
अधम निशाचर लीन्हे जाई। जिमि मलेछ वस कपिला गाई॥
सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहौं जातुधान कर नासा॥
धावा क्रोधवन्त खग कैसे। छूटइ पवि पर्वत कहुँ जैसे॥(रामा०)

वड़ी ...... दीन्हीं—

फिरत न वारहिं वार प्रचारयौ।
चपरि चोच चंगुल हय हति रथ खण्ड खण्ड करि डारयौ॥
विरथ विकल कियो छीन लीन्ह सिय घन घायनि अकुलान्यो।
तव असि काढ़ि काटि पर पाँवर लै प्रभु प्रिया परान्यो॥
राम काज खग राज आज लरचौ जियत न जानकि त्यागी।
तुलसिदास सुर सिद्ध सराहत धन्य विहँग वड़ भागी॥ (गी०)

राखे ...... सुहायो है—यथा—

मेरे एकौ हाथ न लागी।
गयो वपु वीति वादि कानन ज्यों कलपलता दव दागी॥
दसरथ सों न प्रेम प्रतिपाल्यो हुतो जो सकल जग साखी।
वरवस हरत निशाचर पति सौं हठि न जानकी राखी॥
मरत न मैं रघुवीर विलोके तापस वेप वनाये।
चाहत चलन प्रान पांवर विनु सिय सुधि प्रभुहिं सुनाये॥
वार—वार कर मीजि सीसधुनि गीधराज पछिताई।
तुलसी प्रभु कृपाल तेहि औसर आइ गये दोउ भाई॥ (गी०)

आये ...... सींच्यो—यथा—

राघौ गीध गोद करि लीन्हों।
नयन सरोज सनेह सलिल सुचि मनहु अरघ जल दीन्हों॥
सुनहु लखन! खग पतिहिं मिले वन मैं पितु मरन न जान्यौ।
सहि न सक्यौ सो निठुर विधाता वड़ो पछ आजुहिं भान्यौ॥
वहु विधि राम कह्यौ तन राखन परम धीर नहिं डोल्यौ।
रोकि प्रेम अवलोकि वदन विधु वचन मनोहर वोल्यौ॥
तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं।
जाको नाम मरत मुनि दुर्लभ तुमहिं कहां पुनि पैहौं॥

श्रीजटायु जी अपने भाग्य को सराहना करते हुये कहते हैं कि—'श्रवन वचन मुख नाम रूप चख राम उछंग लियो हौं। तुलसी मो समान वड़भागी को कहि सकै वियो हौं॥ (गी०) श्रीरघुनाथजी ने जटायुजी से शरीर रखने का वहुत अनुरोध किया, परन्तु जटायु ने आज अपना प्रेम-पासा पड़ा हुआ देख जीवन धारण करना स्वीकार नहीं किया। यथा—

मेरे जान तात कछुक दिन जीजै।
देखिय आप सुवन सेवा सुख मोहि पितु को सुख दीजै॥
दिव्य देह इच्छा जीवन जग विधि मनाइ मँगि लीजै।
हरि हर सुजस सुनाइ दरसदै लोग कृतारथ कीजै॥
देखि वदन सुनि वचन अमिय तन राम नयन जल भीजै।
वोल्यो विहँग विहँसि रघुवर वलि कहौं सुभाय पतीजै॥

मेरे मरिबे सम न चारिफल होंहि तो क्यों न कहीजै।
तुलसी प्रभु दियो उतरु मौनहीं परी मानो प्रेम सहीजै ॥ (गी०)

भाववश्य भगवान ने 'जटायु की धूरि जटान सों झारी।' यथा—

दीन मलीन अधीन हैं अङ्ग विहंग परे छिति खिन्न दुखारी।
राघव दीन दयाल कृपाल को देखि दुखी करुना भइ भारी॥
गीध को गोदमें राखि कृपा निधि नैन सरोजनमें भरे बारी।
बारहिं बार सुधारत पंख जटायु की धूरि जटान सों झारी ॥१॥
श्रीरघुनाथ जू लै खग हाथ निहारै औ नैनन सों जल डारै।
टूक ह्वै जात है सीता विथा 'केसौ' याकी सनेह कथाको विचारै॥
तजि मोहिं चले लगे नीको तुम्हें,हमे सौंह तिहारी हौं संग तिहारै।
यों कहि राम गरो भरि फेरि जटायुकी धूरि जटान सों झारै ॥२॥
गोद धरे अखियां जु भरे प्रभु छाँह करै छबि ओर निहारै।
पोछत पच्छन से छत हू तन बाहू सों चंगुल चोंच सुधारैं॥
सोचत राम सकोचत आँसू सहो दुख मो हित गीध बिचारैं।
श्रीरघुनाथजू आपने हाथ जटायु की धूरि जटान सों झारै ॥३॥

दई ... ... गति—

चौ०— तव कह गीध वचन धरि धीरा। सुनहु राम भंजन भव भीरा॥
नाथ दसानन यह गति कीन्हीं। तेहिं खल जनक सुता हरि लीन्हीं॥
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं। विलपति अति कुररी की नाईं॥
दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना। चलन चहत अब कृपा निधाना॥
जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निजते गति पाई॥
पर हित बस जिन्हके मनमाहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरन कामा॥

श्रीजटायुजी गीध शरीर का परित्याग कर भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर, अविरल भक्ति का वर पाकर जब भगवद्धाम को जाने लगे तो श्रीरामजीने पिता श्रीदशरथजी के लिये सन्देस भेजा। यथा—

मेरो सुनियो तात संदेशो।
सीयहरन जनि कहेहु पिता सों ह्वै है अधिक अँदेसो॥
रावरे पुन्य प्रताप अनल महँ अलप दिननि रिपु दहि हैं।
कुलसमेत सुर सभा दसानन समाचार सब कहि हैं॥
सुनि प्रभु वचन राखि उर मूरति चरन कमल सिर नाई।
चल्यो नभ सुनत राम कल कीरति अरु निजभाग बड़ाई॥
पितु ज्यौं गीध क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो।
ऐसो प्रभु बिसारि तुलसी सठ तू चाहत सुख पायो॥(गी०)

तनहू ..... पायो है—जटायु के शरीर छोड़ने पर श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी से कहा कि जैसे महाराज दशरथ हमारे पूज्य और मान्य हैं वैसे ही ये पक्षिराज भी है। यथा—राजा दशरथः श्रीमान् यथा मम महायशाः।पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः॥ अतः लक्ष्मण ! लकड़ी एकत्र करो, मैं इस गृध्रराजका, जो मेरे लिये मारे गये हैं, अग्नि सस्कार करूंगा। 'यज्ञ करने वालोको, युद्धमें सन्मुख लडने वालो और पृथ्वी दान करने वालों को जो गति प्राप्त होती है, तुम उसी को प्राप्त हो, मैं तुम्हारा सस्कार कर रहा हूँ।' ऐसा कहकर अपने वान्धवोकी तरह दुखीहोकर उनका दाह-संस्कार किया। उनको पिण्डदान दिया। उनके लिये उन मन्त्रोंका जप किया जो ब्राह्मण मृतप्राणी को स्वर्ग प्राप्ति के लिये जपा करते हैं। गोदावरी मे स्नान करके उनके लिये जल दिया। यथा—'ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ। उदकं चक्रतुस्तस्मै गृध्रराजाय तावुभौ॥ (वाल्मी०)

श्रीजटायुजी के इस मङ्गल-मरण पर उनके-भाग्य की सराहना करते हुए श्रीतुलसीदास जी कहते हैं कि—

दो०— रघुवर विकल विहंग लखि, सो विलोकि दोउ वीर।
सिय सुधि कहि सियराम कहि, देह तजी मति धीर॥
दशरथ ते दश गुन भगति, सहित तासु करि काज।
सोचत बन्धु समेत प्रभु, कृपा सिन्धु रघुराज॥
प्रभुहिं विलोकत गोद गत, सिय हित घायल नीच।
तुलसी पाई गीधपति, मुकुति मनोहर मीच॥
विरत करमरत, भगत, मुनि, सिद्ध ऊँच अरु नीच।
तुलसी सकल सिहात सुनि, गीधराज की मीच॥
मुये, मरत, मरिहैं सकल, घरी पहर के बीच।
लही न काहू आज लौं, गीधराज सी मीच॥
मुये मुकुत, जीवत मुकुत, मुकुत-मुकुत हूं बीच।
तुलसी सबही ते अधिक, गीधराज की मीच॥ (दोहावली)

जिस समय हनुमानजी लङ्कामें श्रीजानकीजी को श्रीराम, लक्ष्मण, एवं सुग्रीवादि सखाओं का समाचार सुना रहे थे, श्रीजानकीजी अपने परम हितैषी जटायुकी सुधिकर प्रेमविभोर होकर पूछनेलगीं—

कहौ कपि हैं केहि भाँति जटाई।
घायल परे दुष्ट के करते तवते सुधि नहिं पाई॥
करति विलाप रही नभमें मैं पुत्रि-पुत्रि कहि धाई।
तोरि दशन दशवदन वदन के लीन्हो मोहि छोड़ाई॥
परहित साधन बलिवेदी पर जिन निज देह चढाई।
सूरदास मैं करि न सकी कछु निज करते सेवकाई॥१॥
प्रभु सों कहियो कपि समुझाई।
ऐसो नाहिं मिलो तुलना में जैसो कियो जटाई॥

मेरे विषम विरह वियोग में जब फिरि हैं दोउ भाई।
तब परि पांय प्राणधन प्रभुसों कहियो विसरि न जाई॥
सूर श्याम मम विनय मानि तेहि कोसलपुर लै जाई।
सिंहासन बैठारि प्रेम सों करिहैं प्रभु सेवकाई॥२॥

श्रीहनुमानजी ने कहा—

माता गीध परम बड़भागी।
करि प्रभु दरस रूप धरि हरि को धाम गयो अनुरागी॥
पितु की अन्त क्रिया करिवे को बड़ो पुत्र अधिकारी।
सो पितु क्रिया भरत को सौंपी प्रभु खग क्रिया सँवारी॥
सीता की सेवा बिन पाये खग सुरधाम सिधारी।
सूर गिरी भू सुता धरनि पर मनहु सक्र सर मारी॥

पुनः—मूर्च्छा दूर होने पर वार-वार श्रीजानकीजी ने जटायुजी की प्रेम-प्रशंसा किया। धन्य जटायु॥

श्रीध्रुवजी—स्वायम्भुव मनु के पुत्र उत्तानपाद थे जिनकी दो रानियाँ थी—एक सुनीति, दूसरी सुरुचि। छोटी रानी सुरुचि पर राजाका बड़ा प्रेम था, उससे उत्तम नामक पुत्र हुआ और सुनीति से ध्रुवजी हुये। राजा प्रायः सुरुचि के महलमें रहते थे। एक दिन राजा उत्तानपाद सुरुचि के पुत्र उत्तम को गोद में बिठाकर प्यार कर रहे थे उसी समय ध्रुवजी वालकों के साथ खेलते-खेलते वहाँ पहुंच गये और पिताकी गोद में बैठना चाहे परन्तु सुरुचि के भयसे राजा ने इनकी ओर देखा भी नहीं। ये वालक थे इससे सिंहासन पर स्वयं चढ़ सकते नही थे, अतः इन्होने कई वार पिता को पुकारा परन्तु राजा ने ध्यान नही दिया। तव सुरुचि राजाके समीप ही बड़े अभिमानपूर्वक वोली—'वत्स! तूँ राजाकी गोद में सिंहासन पर बैठने की इच्छा करता है, तू उसके योग्य नही है। तू यह इच्छा न कर, क्योंकि तू हमारे गर्भ सेनही उत्पन्न हुआ है। तू राजसिंहासनका अधिकारो तभी होता जब हमारे उदरसे तेरा जन्म होता। तू वालक है, तू नहीं जानता है कि तू अन्य स्त्रीका पुत्र है। जा, पहिले तपके द्वारा भगवान् को सन्तुष्ट कर उनसे वर माँग कि मेरा जन्म सुरुचि से हो तव हमारा पुत्र होकर राजा के आसन का अधिकारी हो सकता है। अभी तेरा या तेरो माँ का इतना पुण्य नहीं है।' अपने और अपनी माताके विषयमें ऐसे निरादरके और हृदय में विधने वाले विषैले वचन सुन ध्रुवजी स्तब्ध से रह गये और लम्बी-लम्बी सांसें भरने लगे।

राजा यह सव देखता सुनता रहा परन्तु कुछ न वोला। वालक ध्रुव चीख मारकर रोते, ऊर्ध्व सांस लेते, ओठ फड़फड़ाते हुये अपनी मांके पास आये। माँने यह दशा देख तुरत गोदमें उठा लिया। संग के वालकों ने समस्त वृत्तान्त सुनाया। तव वह वोलीं—वत्स! तू किसीके अमङ्गल की इच्छा न कर, कोई दु.ख दे तो उसे सह लेना चाहिये। सुरुचि के वचन वहुत उत्तम और सत्य हैं। वस्तुतः हम दुर्भगा, हतभाग्याही हैं। ध्रुवने पूछा—मां! मै और उत्तम दोनों समानरूप से राजकुमार हैं, तव उत्तम क्यों उत्तम है और क्यों मैं अधम हूँ? राजसिंहासन क्यों उत्तमके योग्य है और क्यों मेरे योग्य नहीं है? सुनीति

ने उत्तर दिया—बेटा ! सुरुचि और उसके पुत्र उत्तम ने पूर्वजन्म में बड़ा भारी पुण्य किया है, इसीने वे राजाके विशेष प्रेमभाजन हैं, राजसिंहासनासीन होनेके अधिकारी हैं। पुण्यसेही राज-सिंहासन मिलता है। यदि तुझे भी राजसिंहासन पर बैठने की इच्छा है तो विमाता ने जो यथार्थ बात कही है उसीका द्वेषभाव छोड़कर पालनकर और श्रीअधोक्षज भगवान के चरण कमलों की आराधना कर। देख, उन श्रीहरि के चरणकमलोंकी आराधना करनेसे ही श्रीब्रह्माजीको भी वह सर्वोत्तमपद प्राप्त हुआ है जिसकी मुनिजन भी वन्दना करते हैं।

इहै कह्यौ सुत वेद चहूं।
श्रीरघुनाथ चरण चिन्तन तजि नाहिन ठौर कहूं॥
जाके चरण विरंचि सेइ सिधि पाई संकर हूं।
सुक सनकादि मुकुत विचरत तेउ भजन करत अजहूं॥
जद्यपि परम चपल श्रीसंतत थिर न रहति कतहूं।
हरिपद पङ्कज पाइ अचल भइ करम वचन मनहूं॥
करुनासिंधु भगत चिन्तामणि सोभा सेवत हूं।
और सकल सुर असुर ईस सब खाये उरग छहूं॥
सुरुचि कह्यौ सोइ सत्य तात अति परुषवचन जवहूं।
तुलसिदास रघुनाथ विमुख नहिं मिटै विपति कवहूं॥ (वि०)

माताके ऐसे मोहतमनासक वचन सुन बालक ध्रुव यही निश्चयकर, माताको प्रणामकर और आशीर्वाद लेकर चलदिये। श्रीनारदमुनिने जब यह सब सुना तो बड़े विस्मित हुये कि—'अहो! क्षत्रियोंका कैसा अद्‌भुत तेज है ? वे थोडा-सा भी मान-भग नही सह सकते। पाँच वर्षका बालक, इसको भी सौतेली मां का कटुवचन नही भूलता है।' प्रथम तो श्रीनारदजी ने इन्हे आकर समझाया-बुझाया कि घर लौट चलो, हम तुम्हे आधा राज्य दिला देंगे। भगवान की आराधना क्या खेल है ? योगी-मुनि से भी पार नही लगता। (इत्यादि वचन परीक्षार्थ कहे) ध्रुवजी ने उत्तर दिया—'मैं घोर क्षत्रिय स्वभावके वश में हूँ। सुरुचि के वचन रूपी बाणो से मेरे हृदय में छिद्र हो गया है। आपके वचन इसी से उसमे नही ठहरते हैं। आपने कृपा करके दर्शन दिया तो अब ऐसी कृपा करिये कि मैं शीघ्र ही श्रीहरिको सन्तुष्ट कर वह पद प्राप्त करलूँ जो त्रिलोकी मे सबसे श्रेष्ठ है तथा जिस पर मेरे बाप दादे और दूसरे कोई भी आरूढ नही हो सके है।' देवर्षि ने कृपा करके द्वादशाक्षर मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) का उपदेश किया। और मधुवन मे जाकर आराधना करने का आदेश दिया।

ध्रुव ने मधुवन मे पहुँचकर आराधना आरम्भ करदी। आराधना कालमे ध्रुव ने शरीर निर्वाहार्थ तीन-तीन रात्रि के अन्तर से केवल कैथा और बेर पाकर एक मास व्यतीत किया। दूसरे महीनेमे छ-छ दिनके अन्तर से सूखे पत्ते और घास खाकर भगवद्भजन किया। तीसरे मे नौ-नौ दिन पर केवल जल पीकर आराधना करते रहे। चौथे महीने में बारह-बारह दिनके अनन्तर केवल वायु पीकर भगवद्-ध्यान करते रहे। पांचवे महीने में तो उन्होंने श्वास लेना भी बन्द कर दिया। भगवानकी अतिशय प्रबला माया ने इसी बीच विविध विघ्न किये, परन्तु ध्रुव की ध्रुवनिष्ठा के सामने उसे पराजित ही होना पड़ा। (देखिये कवित्त ६—ताहि विघ्नडर छेरीहू को) ध्रुवके तप से तप्त देवताओं ने भगवान श्रीहरि

से पुकार की। भगवान तो ऐसे महाभागवतका दर्शन करने के लिये लालायित हो उठे और गरुड पर आरूढ़ होकर मधुवन में आ गये। प्रभु का दर्शन पाकर बालक ध्रुव को परम आनन्द हुआ, वह प्रेमसे अधीर हो उठा, उसने पृथ्वी पर दण्ड के समान पड़ कर उन्हे प्रणाम किया। हाथ जोड़े हुये, सिर झुकाये, विनयावनत वालक ध्रुव प्रभु के सामने खड़े होकर स्तुति करना चाहकर भी नहीं कर पाते थे। सर्वान्तिर्यामी श्रीहरि ने कृपा करके अपने वेदमय शङ्खको उनके कपोल से छुआ दिया। ध्रुवको तत्काल दिव्य वाणी प्राप्त हो गई और भगवान की स्तुति करने लगे।

श्रीप्रभुने ध्रुव को ध्रुव पद प्रदान किया जो कल्पपर्यन्त रहने वाले अन्य लोकोंका नाश हो जाने पर भी स्वयं स्थिर रहता है तथा तारागण के सहित धर्म अग्नि, कश्यप और शुक्र आदि नक्षत्र एवं सप्तर्षिगण जिसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं। साथ ही ३६००० (छत्तीस हजार) वर्ष तक के लिये पृथ्वीका राज्य भी प्रदान किया।

ध्रुवके वन चले जाने पर राजा उत्तान पाद को अपनी भूलों पर बड़ा पश्चात्ताप हो रहा था। देवर्षि श्रीनारदजी ने आकर ध्रुवके उज्ज्वल भविष्य की मङ्गल-कथा सुनाकर उनको आश्वासन दिया। फिर तो वे अहर्निश ध्रुवमिलन की प्रतीक्षा करते हुए संसारसे सर्वथा उदासीन रहने लगे। भगवत्कृपा पाकर ध्रुव घर को लौटे, महाराज उत्तान पाद के हर्षका ठिकाना नही रहा इस शुभ सन्देश को सुनाने वाले को वहुमूल्य हार दिया, ध्रुवके स्वागत की वहुत बड़ी तैयारी की। पुत्र को देखने के लिये वे वहुत दिनों से उत्कण्ठित हो रहे थे। प्रेमातुर उत्तान पाद जी ने ध्रुवको देखते ही उन्हें भुजाओं में भर कर वहुत-वहुत प्यार प्रदान किया। माता सुरुचिने भी भूरि-भूरि आशीर्वाद दिया। माता सुनीति का हर्ष वाणी से परे का है, उसे वर्णन ही कौन कर सकता है। नगरमें परम हर्षोल्लास छा गया श्रीउत्तानपादजी ने शुभ मुहूर्त में ध्रुवजी को निखिल भूमण्डल के राज्य पर अभिषिक्त कर दिया और स्वयं आत्म स्वरूप का चिन्तन करते हुए संसार से विरक्त होकर वन को चल दिये। सर्वोपाधि शून्य सर्वात्मा अच्युतमें अतिशय भक्ति भाव रखते हुए श्रीध्रुवजीने छत्तीस हजार वर्ष तक पृथ्वी का शासन किया।

एक वार शिकार खेलते हुए उत्तमको एक यक्षने मार डाला। उसके वियोग में उसकी माता भी दावानल में जल मरी। यह सुनकर ध्रुवजी ने यक्षों से भरी अलकापुरी पर चढाई कर दी। भयङ्कर संग्राम हुआ। तेरह अयुत यक्ष सेनाका सत्यानाश देखकर यक्षोंने आसुरी मायाका प्रयोग किया। मुनिगण मङ्गल कामना करते हुए कहने लगे,'वत्सध्रुव! शरणागतरक्षक नारायण तुम्हारे शत्रुओंका संहार करें।' ध्रुवजी ने नारायणास्त्र से माया नष्ट कर दी। यक्षोंका विध्वंश देखकर श्रीमनुजीने आकर समझाया—'तात! बस, बस। निरपराध यक्षोंका वध न करो। प्रभु तुम्हें अपना प्रिय भक्त समझते है तथा भक्तजन तुम्हारा वड़ा आदर करते हैं। तुम साधुजनों के पथ प्रदर्शक हो अतः क्षमा करो।' ध्रुवजी ने श्रीमनुजी को प्रणाम किया और शान्त हो गए। यह जानकर सभी यक्ष चारण किन्नर लोग उनकी स्तुति करने लगे। ये भी हाथ जोड़कर खड़े हो गए। तदनन्तर कुवेर ने आकर कहा—मैं प्रसन्न हूँ वरदान मांगो। ध्रुवजी के मन में पछतावा था कि मैंने सकाम आराधन कर भगवान से श्रेष्ठ पद चाहा अतः प्रेमाभक्ति की कामना करते हुए इन्होने कहा—हे शंकर सखा कुवेर जी! आप हमें यह वर दे कि मुझे श्रीहरिकी अखण्ड स्मृति वनी रहे।' एवमस्तु कहकर कुवेर समेत सभी देवगण ध्रुवजी पर पुष्प वृष्टि करने लगे।

इनके भक्तिभाव पर रीझ कर भगवान विष्णु नित्य इनके साथ बैठकर सत्संग करते। एक दिन श्रीध्रुवजो और श्रीभगवान विष्णु नौका-विहार कर रहे थे। अत्यन्त भावमे भर कर कभी तो श्रीध्रुवजी नाव खेते, कभी स्वयं भगवान खेते, कभी एक डांड ध्रुवजी अपने हाथ में लेते और एक डांड भगवान अपने हाथ मे लेते, और नाव चलाते। इस प्रकार अत्यन्त आनन्दमय जल विहार हो रहा था। इसी बीच ध्रुवजी ने कहा—प्रभो! एक संशय मेरे मन में है, आप कृपा कर उसे दूर करे। प्रभु की अनुमति मिलने पर ध्रुवजी ने पूछा—जब मैं विमाता के वाग्वाणो से विद्ध होकर आपके आराधन के लिये उन्मुख हुआ तो मार्ग में श्रीनारदजी मिले और कहे कि बड़े-बड़े ऋषीश्वरो मुनीश्वरों को भी, करोड़ों कल्पों मे भी भगवान का दर्शन दुर्लभ है। तो नारदजी के वचन तो झूठे हो नही सकते। यथा—'मृषा न होइ देवरिषि भाषा।' फिर आप मुझे पाच महीने में ही कैसे मिल गये? भगवान ने कहा—ध्रुवजी! यह तो कहने कहाने की बात है कि पाच महीने में ध्रुव को भगवत्प्राप्ति हो गई। वस्तुतस्तु यह तुम्हारी करोडों वर्षों की तपस्याका फल है। ध्रुवको कुतूहल-सा हुआ कि इस बातको हम कैसे समझें तो भगवान ने उनको दिव्य दृष्टि प्रदान किया तो ध्रुवको अपने पिछले जन्मोकी तपस्याका अनुभव हुआ। ध्रुव ने देखा—हमारे करोड़ों शरीर कही गुफाओ में, कही कन्दराओं में, कही नदी के कछारो में, कही घोर जंगलों में तप करते-करते सूख गये है। तब ध्रुवकी आंख खुली। भगवान ने कहा कि इतना अवश्य है — यदि करोड़ कल्पमे भी मेरी प्राप्ति हो जाय तो उसे सुलभ ही समझना चाहिये। सच तो यह है कि भगवान कृपा से ही मिलते है। साधन तो एक निमित्त है।

अन्तमे ध्रुवजी अपने पुत्र उत्कलको राज्य देकर स्वयं वदरिकाश्रमको चले गये और उन्होंने गङ्गा तट पर निवास करते हुये भजन करनेका निश्चय किया। गङ्गातट पर श्रीध्रुवजी को और तो सब प्रकार का सुख था,परन्तु गङ्गाजी के बहुत ऊँचेसे गिरनेसे वहां शोर बहुत होता था अत: श्रीध्रुवजीका मन वहाँ नहीं लगा क्योकि शोरगुल से ध्यान मे विक्षेप पड़ता था। इसलिये दो चार दिन रहकर फिर वे वहाँ से चल दिये। जब श्रीगङ्गाजी ने ध्रुवजीको जाते देखा तो बड़ी ही दुखी हुईं और बालिकाका रूप धर कर उनसे मिली। जब ध्रुवने जाने का हेतु पूछने पर गङ्गाका शोरगुल करना बताया। तब तो और भी दुखी हुई कि मेरे कारण से दुखी होकर जा रहे हैं। अत. साक्षात् प्रगट होकर प्रार्थना करने लगी कि—आप के आनेसे हमें बडा सुख हुआ, क्योकि'सन्तमिलन सम सुख जग नाही।' तथा जानेसे दुख भी बहुत हुआ। यथा—'बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं।' परन्तु अब तो मेरे दुःख का ठिकाना नही रहा जो आप मुझसे दुःख मानकर जा रहे हैं, सुखसे जाते तो कोई बात नही थी, अत: आप यही रहे, मैं अब कुछ भी शोरगुल नही करूँगी। तब श्रीध्रुवजी रुक गये। श्रीगङ्गाजी अब तक वहाँ शान्त हैं।

जिस समय भगवान की आज्ञासे भगवत्पार्षद दिव्य विमान लेकर आये और श्रीध्रुवजी से भगवद्धाम को चलने की प्रार्थना किये, ध्रुवजी वदरिकाश्रम मे निवास करने वाले मुनियो को प्रणाम कर, दिव्य रूप धारण करके उस पर चढनेको तैयार ही हुए थे कि देखा कि काल मूर्तिमान होकर उनके सामने खड़ा है। कालने प्रार्थना किया—महाराज! जगतमे जन्म लेने वाले सभी प्राणी मेरे द्वारा ग्रास किये जाते है, परन्तु आपके भजन के प्रभावसे आपको ग्रसने की शक्ति मुझमें नही है। लेकिन यदि आप हमसे सर्वथा असंस्पृष्ट ही चले जाते हैं तो मेरी मर्यादा जाती है अत: आप ऐसा कीजिए कि मेरी मर्यादा भी बनी रहे और आपका प्रभाव भी बना रहे। श्रीध्रुवजी ने पूछा कि तो हम क्या करें? काल ने कहा—देखिये! विमान पृथ्वी से ऊपर है। यह दिव्य होने से पृथ्वी का स्पर्श नही कर सकता है, अत: मैं यहा बैठ जाता हूँ

आप मेरे सिरपर पैर रखकर चढ़ जाइए। इससे मेरी मर्यादा भी रह जाएगी कि ध्रुवकोभी कालका स्पर्श हुआ और आपका प्रभाव भी बना रहेगा कि ध्रुवजी कालके सिर पर पांव रखकर भगवद्धाम को गये। ध्रुवजी ने ऐसा ही किया। विमान पर आरूढ़ होकर ध्रुवजी ज्यों ही चलने को प्रस्तुत हुये त्यों ही उन्हें अपनी माता सुनीति का स्मरण हो आया। वे सोचने लगे— क्या मैं विचारी अपनी माता को छोड़कर अकेला ही दुर्लभ वैकुण्ठधाम को जाऊँगा। ध्रुवके मनके भावको जानकर भगवत्पार्षदों ने उन्हें दिखाया कि देवी सुनीति आगे-आगे दूसरे विमानपर जारही हैं ध्रुवने भगवत्कृपा से ध्रुवपद पाया।

श्रीध्रुव-चरित्र का आध्यात्मिक रहस्य—महत्वाकांक्षी जीव ही उत्तानपाद है (ऊपर पैर बढ़ाने वाला) सुरुचि और सुनीति, ये दो वृत्तियां ही तत्तत् नामवाली रानियाँ हैं। सुरुचिके प्रति जीवका सहज आकर्षण होता ही है यही उत्तानपादका छोटी रानीमें प्रेम है। रुचिकी अपेक्षा नीति बड़ी है अतः सुरुचि छोटी रानी, और सुनीति बड़ी रानी हैं। उपेक्षित होनेपर भी सुनीति में शान्ति है। सुरुचि का पुत्र उत्तम और सुनीतिका पुत्र ध्रुव। वृत्तियों का भी यही परिणाम है, सुरुचि उत्तम भोगों को जन्म देती हैं। जो कि क्षयिष्णु हैं। सुनीति ध्रुवपद प्रदान करने वाली होती है। यही कारण है कि उत्तम मारा गया और सुरुचि भी समाप्त हो गई और ध्रुव आज भी ध्रुवपद पर प्रतिष्ठित हैं। अत. जीवको चाहिये कि सुरुचि से रुचि हटाकर सुनीतिसे प्रेम करे।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

ध्रुव सगलानि जपेउ हरिनाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥ (रा०च०मा०)

श्रीअम्बरीषजी

अम्बरीष भक्त की जो रीस कोऊ करै और बड़ो मति बौर किहूँ जान नहिं भाखिये।
दुरबासा रिषि सीष सुनी नहीं कहूँ साधु मानि अपराध सिर जटा खैंचि नाखिये॥
लई उपजाय काल कृत्या विकराल रूप भूप महाधीर रह्यो ठाढ़ो अभिलाखिये।
चक्र दुख मानि लै कृशानु तेज राख करी परी भीर ब्राह्मण को भागवत साखिये॥३९॥

शब्दार्थ—रीस=स्पर्धा, ईर्ष्या, बराबरी। मतिबौर=बुद्धिका पागलपन। नाखिये=फेंकदिया। कालकृत्या=कालाग्नि; राक्षसी। विकराल=भयंकर। कृशानु=अग्नि। तेज=प्रभाव। भीर=संकट। साखिये=प्रमाण-साक्षी है।

भावार्थ—राजऋषि भक्त अम्बरीष से ईर्ष्या करके यदि कोई उनकी बराबरी करना चाहे तो वह महामूर्ख और पागल है क्योंकि उनकी भक्तिको कोई नहीं जान सकता है वह अपार है, उसका किसी प्रकार भी वर्णन नहीं किया जा सकता है। दुर्वासा ऋषिके समान किसी तपस्वी साधु का रोष नही सुना गया। भक्तोंके साथ स्पर्धा और बराबरी नही करना चाहिये। इस उत्तम शिक्षाको भी उन्होंने नहीं माना। अम्बरीषजी को अपराधी मानकर उनके ऊपर कुपित हो गये। सिरकी जटा खींचकर पृथ्वी पर पटक दी। उससे भयंकर रूपवाली कालकृत्या शक्ति उत्पन्न करके उसे आज्ञा दी कि—इस राजा अम्बरीष को भस्म करदो। वह अम्बरीषकी ओर चली। वे महा धैर्यवान थे, भयभीत नही हुए। हाथ जोड़कर ऋषि को प्रसन्न करने की अभिलाषा से खड़े ही रहे। चक्रसुदर्शन भगवान राज्य समेत राजाकी रक्षामें

सदा तत्पर थे। उन्होंने दुःख मानकर कालकृत्या की अग्निको राख कर दिया। पश्चात् वे दुर्वासाकी ओर चले। ब्राह्मणपर भारी संकट पड़ा। श्रीमद्भागवत में सविस्तार वर्णन है ॥३९॥

व्याख्या—वैवस्वत मनुकेपुत्र हुये नभग और नभगके हुये महाभाग नाभागजी। इन्ही नाभाग जी के पुत्र हुये परम भागवत श्रीअम्बरीपजी। वर्णन आया है कि राजर्पि नाभाग अपनी पत्नीके सहित दीर्घकाल तक पुत्रकी कामना से भगवदाराधन करते रहे। एक वार की वात है, दम्पत्ति रात्रिमे शयनकर रहे थे, उसी समय भगवान ने प्रसन्न होकर कहा—अम्ब ! वे वोली—कौन ! प्रभुने कहा—ईश। यह सुन कर राजर्पि दम्पत्ति तत्काल उठ वैठे, प्रभुके दर्शन किये तथा स्तुति करने के वाद वरदोन्मुख प्रभुसे पुत्रका वर माँगा। भगवान अपने ही अंशसे पुत्र होनेका वरदान देकर अन्तर्धान हो गये। समयपर जव नाभाग के पुत्र हुआ तो नाम रखा गया –'अम्बरीष'। कारण यह है कि दम्पतिने भगवान्‌के श्रीमुखसे अम्ब-ईश यह शब्द सुना था। श्रीअम्बरीपजी का भगवान श्रीकृष्णमे तथा उनके प्रेमी सन्त-महात्माओ मे परम प्रेम था। यथा—

> स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
> करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
> मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
> घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
> पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
> कामं च दास्येनतु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोक जनाश्रया रतिः॥ (भा०)

अर्थ—उन्होने अपने मनको श्रीकृष्णके चरणारविन्द युगल में, वाणीको भगवद् गुणानुवर्णन मे, हाथोंको श्रीहरि-मन्दिर मार्जन सेवनमें और अपने कानोंको भगवान अच्युतकी मङ्गलमयी कथाके श्रवण मे लगा रखा था। उन्होने अपने नेत्र मुकुन्द मूर्ति एवं मन्दिरोके दर्शनोमे, अङ्ग-सङ्ग भगवद्-भक्तोके शरीर स्पर्श मे, नासिका उनके चरणकमलो पर चढी श्रीमती तुलसीके दिव्य गन्ध मे और रसना (जिह्वा) को भगवान्‌के प्रति अर्पित नैवेद्य प्रसादमे संलग्न कर दिया था। अम्बरीपके पैर भगवान्‌के क्षेत्र आदिकी पैदल यात्रा, करने मे ही लगे रहते और वे सिरसे भगवान् श्रीकृष्णके चरण कमलोकी वन्दना किया करते राजा अम्वरीपने समस्त भोग सामग्रीको भगवान्‌की सेवामे समर्पित कर दिया था। भोगने की इच्छा नही, वल्कि इसलिये कि इससे वह भगवत्प्रेम प्राप्त हो, जो पवित्र कीर्ति भगवान्‌के निजजनो मे ही निवास करता है। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि—

अम्वरीष " भाखिये—वडोकी वरावरी नही करनी चाहिये।

दृष्टान्त—हंस और काग का—समुद्रतट के किसी निकटवर्ती नगरमे एक धन वैश्यके पुत्रोने एक कौआ पाल रखा था। मनमाना पुष्टिकर भोजन मिलने से अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट कौआ अपने सामने किसी पक्षीको कुछ समझता ही नही था। एक दिन समुद्र तटपर कुछ हंस आकर उतरे हंसोकी प्रशंसा सुनकर उस मन्दमति अभिमानी कौवेने उनके पास जाकर प्रतियोगिता करके उनको चुनौती दी। हंसोने वहुत समझाया कि भला मानसरोवर निवासी हम हंसोंके साथ तुम कैसे उड़ पाओगे

हो ? मिथ्याभिमानी कौए ने अपनी उड़ने की सैकड़ों गतिविधियोंका वर्णन करते हुये कहा-बताओ इनमें से तुम किस गति से उड़ना चाहते हो ? हँसने हँसकर कहा—भैया ! मैं तो एक ही गति जानता हूँ जो हम लोगों की स्वाभाविक गति है। नहीं मानते हो तो तुम अपनी गति से उड़ो मैं अपनी गति से उड़ूँगा। उस समय वहाँ और भी पक्षी यह प्रतियोगिता देखने के लिये आ गये। उड़ान समुद्रकी ओर लगाई गई। प्रारम्भ में कौआ अपनी कला दिखाता हुआ हंस के आगे—आगे उड़ता था और हंस अपनी स्वाभाविक सामान्य गतिसे उड़ रहा था। थोड़ी देर बाद ही कौआ थक गया, विश्राम-स्थलकी तलाश करने पर भी उसे जब कहीं आश्रय नहीं मिला तो हृदयसे हारकर समुद्रके जलके ऊपर तैरने लगा, उसके चोंच और पंख बार-बार जलमें डूबने लगे। इधर हंस बहुत आगे निकल गया। जब उसने पीछे मुड़कर देखा तो कौए की दुर्दशा पर उसे बहुत तरस आया अतः समीप आकर पूछा—भैया ! उड़ने की विविध गतियों में यह कौनसी गति है ? कौए को अब मालूम हो गया था कि हम कितने पानी में हैं। अतः बड़ी दीनता पूर्वक बोला-हंसराज ! यह बड़ों से स्पर्धा करने वालों की जो गति होती है वह गति है। भला, काँव-काँव करने वाले तुच्छ पच्छी हम काग आप हंसों की बराबरी क्या कर सकते है। अब कृपा करके मेरे प्रान बचाओ। हंस ने उस कौए को उठा कर उस स्थान पर पहुँचा दिया जहाँ से उड़ा था। अतः बड़ो मतिबौर कहा।

किहूँ जान नहिं भाखिये- किहूँ=कोई भी, किसी प्रकार भी। जान नहिं=जानने में नहीं आती, अतः नहिं भाखिये=कही नही जाती। (यहाँ 'नहि' शब्द दीप देहरी न्याय से जान और भाखिये दोनों शब्दों के साथ है।) यहाँ दो बातें कही गई हैं—१- बड़ों की बराबरी नहीं करना चाहिये। २—अम्बरीषजी की भक्तिको जाना ही नही जा सकता है तो भला किया कैसे जा सकता है अतः 'बड़ो मति बौर' कहा। 'भाषिये'—का भाव यह कि यद्यपि यायार्थ्येन श्रीअम्बरीषजी की भक्ति नही कही जा सकती तो भी अपनी वाणीको पवित्र करने के लिये मैं यथा मति वर्णन करता हूं। यथा—तेहि ते मै कछु कहा बखानी। करन पुनीत हेतु निज बानी॥ निजगिरा पावनि करन कारन राम जस तुलसी कह्यौ। रघुबीर चरित अपार बारिधि पार कवि कौने लह्यौ॥

दुरवासा...... साधु—श्रीदुर्वासाजी ने तीर्थराज प्रयाग में मकरसंक्रान्ति के समय, सन्त समाज के बीच श्रीनारदजी के द्वारा अम्बरीषजी की बड़ी बड़ाई सुनी। चूँकि श्रीअम्बरीषजी श्रीनारदजी के कृपापात्र थे। अतः दुर्वासाजी को ऐसा लगा कि मानो ये शिष्य होने के नाते राजाकी तो इतनी बड़ाई कर रहे हैं और हम ऋषियों की कोई चर्चा नही। अतः वहाँ से उठकर चल दिए। परन्तु आश्चर्य! दुर्वासा जी जहाँ ही जाते वहीं महाराज अम्बरीषकी प्रशंसा सुनने को मिलती। तब तो दुर्वासाजी के मन मे राजाकी भक्ति को देखने की इच्छा हुई। फिर तो चल ही पड़े। उन दिनों महाराज अम्बरीषने अपनी धर्मशीला पत्नी के सहित भगवान श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए एक वर्ष तक द्वादशी-प्रधान एकादशी व्रत करने का नियम लेकर विधि पूर्वक व्रत किया। व्रत की समाप्ति पर कार्तिक महीने में मधुपुरी में निवास करते हुये नित्य यमुना स्नान कर भगवान श्रीकृष्णका महाभिषेक पूर्वक पूजन करते। शुक्ल पक्ष की हरि प्रबोधिनी एकादशीको निर्जल व्रत करके विधि पूर्वक रात्रिमें जागरण किया, प्रातः काल द्वादशी के दिन स्नान और पूजन करके ब्राह्मणों को भोजन कराकर दान-मानसे सन्तुष्ट कर स्वय भी ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेकर व्रत का पारण करने के लिये भोजन करने को बैठे ही थे कि शाप और वरदान देने में समर्थ श्रीदुर्वासाजी अपने दश हजार शिष्यों के सहित वहाँ आ पहुँचे।

राजा ने उठकर महर्षिका यथोचित सत्कार किया और भोजनके लिये प्रार्थना की। दुर्वासाजी स्वीकृति देकर आवश्यक कृत्य करने के लिये यमुना तट पर चले गए। इधर द्वादशी केवल घड़ी भर शेष रह गयी थी। राजाकी 'भइ गति साँप छछुन्दर केरी।' यदि ऋषिकी प्रतीक्षा करता हूँ तो व्रत खण्डित होता है और यदि पारण कर लेता हूँ तो ऋषिकी अवज्ञा होती है। अतः श्रीवशिष्ठजी प्रभृति धर्मनिर्णायक ब्राह्मणों से पूछे, तब उन लोगोंने विचार कर भगवत् चरणामृत ग्रहण करने की आज्ञा दी। 'श्रीअम्बरीपजी ने श्रीकृष्ण चरणारविन्दोंका चिन्तन करते हुए चरणामृत पी लिया। इतने में ही दुर्वासाजी आ गये और वे सर्वज्ञ तो थे ही सब जानकर, अपना अपमान समझकर, राजाका अपराध मानकर कुपित हो उठे। 'मानि अपराध' से जनाया गया कि राजाका अपराध है नही, वे तो शास्त्र सम्मत कार्य ही किये परन्तु इन्होने अपनी जोरावरी वस उसे अपराध मान लिया। यद्यपि ब्राह्मण-साधुओंने मुनिजीको समझाने का बहुत प्रयत्न किया कि राजाका कोई दोष नही है। परन्तु ये तो किसी की शिक्षा सुने ही नही।

भूप महाधीर—राजाको महावीर कहने का भाव यह कि दुर्वासाजी मुनि होकर भी विना अपरावके अपराध मानकर कुपित हो गये परन्तु राजाको मुनिके इस विपरीत व्यवहार पर किंचित् मात्र भी रोष-क्षोभ नही हुआ। जो किसी प्रकार भी विचलित न हो वही तो परमधीर है। यथा–'परम धीर नहिं चलहिं चलाये।' नही तो राजा स्वयं भी समर्थ थे, चाहते तो बड़ासे बड़ा, कड़ा से कडा प्रतिकार कर सकते थे। इस पर दृष्टान्त श्रीवशिष्ठजी और निमिजी का (देखिये छप्पय १२) 'रह्यो ...... अभिलापिये—'भाव यह कि यद्यपि राजाका कोई अपराध नही था तो भी ऋषिको कैसे भी मेरे निमित्त से क्रोध हो गया, यह मेरा अपराध ही है यह मानकर इसके प्रायश्चित्त के लिये आप अभिलाषा कर रहे थे कि अवश्य ही मुझे कृत्या जला दे जिससे मेरा प्रायश्चित्त एवं मुनिको सन्तोष हो जायेगा। इस पर दृष्टान्त श्रीपरीक्षितजी का। (देखिये छप्पय १०)

चक्र...... साखिये—अम्बरीपजी की अनन्य प्रेम लक्षणा भक्ति से प्रसन्न होकर तथा भगवदाराधन मे अत्यन्त तन्मय होने के कारण राज्य-शासन-व्यवस्थाकी ओर से एक दम उदासीन जानकर भगवान ने उनकी रक्षाके लिये तथा शासन व्यवस्था के लिए सुदर्शन चक्र को नियुक्त कर दिया था, जो विरोधियो को भयभीत करने वाला एव भक्तो की रक्षा करने वाला है। ऐसे सुदर्शन चक्रजी ने जब सर्वथा निर्दोष राजा पर मुनि को कुपित होकर कृत्याका प्रयोग करते देखा तो बड़ा ही दुःख हुआ। फिर तो अपने प्रचण्ड तेज से कृत्या को भस्म कर मुनि पर भी झपटे। यह कथा श्रीमद्भागवतजी मे विस्तार से है।

भाज्यो दिशा दिशा सब लोक लोक पाल पास गयो नयो तेज चक्र चून किये डारे हैं।
ब्रह्मा शिव कही यह गही तुम टेव बुरी दासनि को भेद नहिं जान्यो वेद धारे हैं॥
पहुंचे वैकुण्ठ जाय कह्यौ दुःख अकुलाय हाय हाय राखौ प्रभु खरो तन जारे हैं।
मैं तौ हौं अधीन तीनि गुन को न मान मेरे भक्तवात्सल्य गुन सबही को टारे हैं॥४०॥

शब्दार्थ—चून किए=जलाये, पत्थर से चूना चूर्ण। टेव=आदत, स्वभाव। वेदधारे हैं=वेदोंमें लिखा है—गाते हैं। खरो=उत्तम ब्राह्मण।

भावार्थ—दुर्वासाजी चक्र सुदर्शन के भय से भागे। सभी दिशाओं में सभी लोकों में और सभी लोकपालों के पास गये। पर किसीने भी उनकी रक्षा नहीं की। चक्र का असह्य तेज बढता ही जा रहा था, वह ऋषिको जलाकर पत्थर से चूना की तरह तप्त कर रहा था। वे ब्रह्मा और शंकर के लोकों को गए। उन्होने भी रक्षा नही की और कहा कि-भक्तोंकी परीक्षा लेने की तुम्हारी यह आदत बड़ी बुरी है। भक्तों की महिमा और उनका भेद तो आपने बिल्कुल ही नही जाना, जिसका सभी वेद वर्णन करते हैं। तब दुर्वासाजी वैकुण्ठ लोक में भगवान के पास पहुँचे और व्याकुल होकर बोले कि—हाय-हाय प्रभो! रक्षा करो,रक्षा करो। मुझ ब्राह्मणके उत्तम शरीरको आपका चक्र जला रहा है। भगवन्! आप शरणागत रक्षक, भक्त आर्ति नासक और ब्रह्मण्यदेव हैं। आपके इन तीनों गुणोके प्रताप से मैं रक्षा के योग्य हूं, क्योंकि मैं शरणागत, दुःखी और ब्राह्मण हूँ। भगवान ने कहा कि—मैं तो अपने भक्तों के अधीन हूं, स्वतन्त्र नही हूँ। आपके बताए हुए तीनों गुणों को मैं उतनी मान्यता नहीं देता हूँ जितनी कि भक्तवत्सलता को। एक दास वात्सल्य गुणने उन तीनों गुणों को दूर कर दिया है ॥४०॥

व्याख्या—भाज्यो—'भूप रह्यो ठाढो' और 'ऋषि भाज्यो' यही अन्तर है भक्ति और तप में। अनन्य गतिक भक्त राजा अम्बरीष भगवानका स्मरण करते हुये अपने स्थान पर अचल है, परम तपस्वी महर्षि दुर्वासा भागे-भागे फिर रहे हैं। कृत्या ऋषि प्रयुक्त है, राजाने अपनी रक्षाके लिए प्रार्थना नही की चक्रका प्रयोग नही किया वह भगवत्प्रयुक्त है। दुर्वासा कृत कृत्या-प्रयोग को श्रीचक्रने विफल कर दिया परन्तु चक्रकृत कोपको तप निवारण करने में असमर्थ है। भक्तका बालभी बांका नहीं हुआ और तपस्वीजी चूने हुये जा रहे है। इसीसे भक्तिको सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यथा—**सातु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा** ॥(ना० भ० सू०) अर्थ—वह प्रेमरूपा भक्ति तो कर्म, ज्ञान, और योग से भी श्रेष्ठतर है। स्वयं श्रीभगवान कहते है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥(भा०)

अर्थ—जिस प्रकार मेरी दृढ़भक्ति मुझे वश करती है उस प्रकार मुझको योग, ज्ञान, धर्म स्वाध्याय, तप और त्याग वश में नहीं कर सकते हैं ॥

पुनः—**नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥**
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥(गीता)

अर्थ—हे अर्जुन! जैसा तुमने मुझको देखा है वैसा वेद,तप, दान, यज्ञ आदि से मैं नहीं देखने में आता हूँ। हे परन्तप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा ही इस प्रकार से मुझे देखा जाना, मुझे तत्वसे जानना और मुझ मे प्रवेश पाना सम्भव है।

भाज्यो दिशा दिशा—इस पर दृष्टान्त जयन्त का—

चौ०— सुरपति सुत धरि वायस वेषा। सठ चाहत रघुपति बल देखा ॥
सीता चरन चोंच हति भागा। मूढ़ मन्द मति कारन कागा ॥
चला रुधिर रघुनायक जाना। सींक धनुष सायक संधाना ॥
प्रेरित मंत्र ब्रह्म सर धावा। चला भाजि वायस भय पावा ॥
धरि निज रूप गयउ पितु पाहीं। राम विमुख राखा तेहिं नाहीं ॥

भा निरास उपजी मन त्रासा। यथा चक्र भय रिषि दुर्वासा ॥
ब्रह्म धाम सिव पुर सब लोका। फिरा श्रमित व्याकुल भयशोका ॥
काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही ॥
मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ विष सुनु हरि जाना ॥
मित्र करइ सत रिपुकर करनी। ताकहँ विबुध नदी बैतरनी ॥
सब जग ताहि अनलहुँते ताता। जो रघुवीर विमुख सुनु भ्राता ॥(रा० च० मा)

ब्रह्मा वाक्य—

स्थानं मदीयं सह विश्व मेतत् क्रीडावसाने द्विपरार्धसंज्ञे।
भ्रू भङ्ग मात्रेण हि संदिधक्षोः कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति॥ (भा०)

अर्थ— जब मेरी दो परार्धकी आयु समाप्त होगी और कालस्वरूप भगवान अपनी यह सृष्टि लीला समेटने लगेंगे और इस जगत्को जलाना चाहेंगे उस समय उनके भ्रू भङ्ग मात्रसे यह सारा संसार और मेरा यह लोक भी लीन हो जायेगा तो भला उनके भक्तके द्रोहीको उनके महास्त्र से बचानेमें हम कैसे समर्थ हो सकते है।

शिव वचन—

वयं न तात प्रभवाम भूम्नि यस्मिन् परेऽन्येऽप्यजजीवकोशाः।
भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशाः सहस्रशो यत्र वयं भ्रमामः॥ (भा०)

अर्थ—दुर्वासाजी! जिन अनन्त परमेश्वरमे ब्रह्मा जैसे जीव और उनके उपाधिभूत कोश,इस ब्रह्माण्ड के समानही अनेकों ब्रह्माण्ड समयपर पैदा होते और समय आनेपर फिर उनका पता भी नही चलता, जिन मे हमारे जैसे हजारोचक्कर काटते रहते है—उन प्रभुकेसम्बन्धमें हम कुछ भी करनेकी सामर्थ्य नही रखते॥ तस्य विश्वेश्वरस्येदं शस्त्रं दुर्विषहं हि नः। तमेव शरणं याहि हरिस्ते शं विधास्यति॥ (भा०) अर्थ—यह चक्र उन विश्वेश्वर का शस्त्र है, यह हम लोगोके लिये असह्य है। तुम उन्हीकी शरणमें जाओ। वे भगवान ही तुम्हारा मङ्गल करेंगे॥

गाड़ी ''''छुरी—से जनाया गया कि श्रीदुर्वासाजी का स्वभाव सा बन गया है, जहाँ तह भक्तोसे उलझ जानेका। प्रश्न—श्रीशिवावतार दुर्वासाजीका जहाँ तहाँ अकारण भी क्रोध करना तथ भक्तोसे भी भिड जाना कहाँ तक संगत है? समाधान—१. रुद्रावतार होनेसे स्वाभाविक ही तेज-तल तो है ही, साथ ही परम समर्थ भी हैं अत. सामान्य, क्षम्य भूलो को भी बडा अपराध मानकर दण्ड दे को उद्यत हो जाते हैं। २ श्रीदुर्वासाजी ने इतना आतक मचा रक्खा है कि मारे डरके संसारी लो इनके पास कम जाते है जिससे प्रापञ्चिक विघ्न इनके पास नही फटक पाते हैं। श्री शिवजी भी तो जगत् से बचनेके लिये अमङ्गल साज-सज रखे हैं यद्यपि हैं मङ्गल राशि। यथा—'स अमङ्गल मङ्गल रासी' ३. भक्तिका एव भक्तोंका उत्कर्ष सिद्ध करनेके लिये मुनि जान-बूझकर, स्वयं दु अपमान सहकर भी ऐसी लीला करते है। इससे मुनिकी आन्तरिक भक्तिमें निष्ठा समझनी चाहिये

४. हरेरिच्छा बलीयसी। स्वयं भगवान भी भक्ति तथा भक्तोंकी महिमा बढ़ानेके लिये ऋषि को ऐसी प्रेरणा ही कर देते हैं। एक बात स्मरण रखनेकी है कि भक्तोंसे भिड़नेमें दुर्वासा जैसे परम तपस्वी ही समर्थ हो सकते हैं, सर्वसाधारण नहीं, अतः इन्हें उपयुक्त पात्र जानकर भगवान इन्हें ऐसी प्रेरणाकर देते हैं। परन्तु व्यावहारिक रूपमें यह भक्तोंके साथ प्रतिकूल वर्ताव अच्छा नहीं है अतः कहते हैं 'गहो—बुरी।'

दासनिको भेद—तात्पर्य भगवद्दासोंकी महिमा—यह कि दास भगवानको अत्यन्त प्यारे हैं। यथा—कांता प्राणाधिका शश्वन्न हि कोऽपि ततोऽधिकः। भक्तान् द्वेष्टि स्वयं साचेत् तूर्णं त्यजति तां विभुः॥ अर्थ—श्रीलक्ष्मी भगवान्‌को प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं। उनसे अधिक प्रिय कोई नहीं है। परन्तु वह भी यदि भक्तोंसे द्वेष करें तो भगवान् उन्हें भी अविलम्ब छोड़ देंगे परन्तु भक्तका परित्याग नहीं करेंगे॥ क्योंकि भक्त अति प्यारे हैं। पुनः—

सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सबते अधिक मनुज मोहिं भाये॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रियविरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहुं ते अति प्रिय विज्ञानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहिं प्रियनिज दासा। जेहिं गति मोरि न दूसरि आसा॥

पुनः— मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परै सुरराया॥
मानत सु सेवक सेवकाई। सेवक वैर वैर अधिकाई॥ (रा०)
पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौं सकल सभा पतिआउ।
नहिं कोऊ प्रिय मोहिं दास सम कपट प्रीति बहि जाउ॥ (वि०)

वेद धारे हैं—भाव-वेद भी सन्तोंकी महिमाका गान करते हैं। यथा—संतन्ह की महिमा रघुराई। बहु विधि वेद पुराणन गाई॥ वेद धारे हैं का दूसरा भाव यह है कि आपने वेद तो धारणकर लिया है अर्थात् पढ़ लिया है परन्तु वेदका तात्पर्य 'दासनिको भेद' नहीं जाना॥

मैं तो हौं अधीन—भगवान् ने कहा—

'अहं भक्त पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्त हृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
येदारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्ध हृदयाः साधवः समदर्शनाः। वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतियथा॥ (भा०)

अर्थ—दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ। मुझमें तनिकभी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे सीधे-साधे भक्तोंने मेरे हृदयको अपनेहाथमें कररखा है। भक्तजन मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे॥ ब्रह्मन्! अपने भक्तोंका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ, इसलिये अपने साधु स्वभाव भक्तोंको छोड़कर मैं न तो अपने आप को चाहता हूँ और न अपनी अर्द्धाङ्गिनी, विनाश रहित लक्ष्मीको ही॥ जो भक्त स्त्री,पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आगये हैं, उन्हें छोड़नेका संकल्प भी कैसे कर सकता हूँ॥ जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्य से सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको प्रेम-बन्धन से बाँध रखने वाले समदर्शी साधु भक्तिके द्वारा मुझे अपने वश में कर लेते हैं।

तीन गुन ··· टारे हैं—आर्तिहरणत्व, ब्रह्मण्यत्व, शरणागत रक्षकत्व। भाव यह कि दुर्वासाजीने वैकुण्ठमे जाकर भगवानके यहाँ दुहाई दी थी कि आप आर्तिहरण हैं मैं आर्त हूं. आप ब्रह्मण्य-देव हैं, मैं ब्राह्मण हूँ, आप शरणागतपालक हैं मैं शरणागत हूँ। यह सुनकर श्रीभगवान बोले—मैं तो टारे है। तात्पर्य यह कि भक्त वात्सल्य गुण ने इस देशकाल में उन तीनो गुणोंका तिरस्कार कर दिया है इस समय वे गुण गौण हो गये है वर्णन आया है—जिस समय दुर्वासाजी वैकुण्ठ मे पहुंचे उस समय श्रीभगवान विष्णु, भगवती लक्ष्मीजी से अम्बरीषजी की भक्तिकी ही चर्चा कर रहे थे। महाराजकी भक्तिसे तो प्रभु पूर्वसे ही प्रभावित थे, भला इस स्थितिमे दुर्वासाजी की सुनवाई ही कैसे होती। भगवानने कान मूंद लिया। यथा—

दोहा— लात हनी भृगु हृदय में, हरि कीन्हों सन्मान।
अम्बरीष अपराध ते भगवत मूँदे कान॥

मोको अति प्यारे साधु उनकी अगाधमति करयो अपराध तुम सह्यो कैसे जात है।
धाम धन वाम सुत प्राणतनु त्याग करैं ढरै मेरी ओर निशिभोर मोसों वात है॥
मेरेउ न सन्त विनु और कछु सांची कहौं जाओ वाही ठौर जाते मिटै उत्पात है।
बड़ेई दयाल सदा दीन प्रतिपाल करै न्यूनता न धरै कहूं भक्ति गात गात है॥४१॥

शब्दार्थ—अगाध=अति गंभीर। ढरै=चलें, ढरकें।

भावार्थ—भगवानने दुर्वासाजीसे कहा—मुझे साधु-सन्त अत्यन्त ही प्यारे है क्योंकि उनकी अपार श्रद्धा और प्रीति है। तुमने उन्ही भक्तोंका अपराध किया है, यह मुझसे कैसे सहा जा सकता है। वे मेरे भक्त मेरे लिये घर, धन, तन, स्त्री, पुत्र और अपने प्रिय प्राणोंका भी परित्याग करके मेरी ओर आते हैं। दिन-रात मुझसे ही मेरी ही वाते करते हैं। दूसरोसे उन्हे कोई प्रयोजन ही नही। मैं सत्य कहता हूँ, मेरे भी उन सन्तोंके लालन-पालनके सिवा और कोई काम नही है। इसलिए अव तुम अम्बरीषकी ही शरणमे जाओ, जिससे यह तुम्हारा दुःख मिटे। वे मेरे भक्त बडेही दयालु हैं, सदा दीनोका प्रतिपाल करते है। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें मेरो भक्तिही भक्ति भरी है। दूसरे द्वेष आदि भावोको वहाँ स्थान नही है। तुम निःसंकोच उनकी शरणमें जाओ॥४१॥

व्याख्या—मोको अति प्यारे साधु—इसके भाव पूर्व कवित्तमे आ चुके है। सांची कहौं—यथा—पुनि पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाही॥ निशि···वात है—तात्पर्य—उन्हे—'हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं'। वा ऐसे भक्तोसे और भगवान से नित्य साक्षात्कार वना रहता है। सत्सङ्गवार्ता होती रहती हैं। जाओ ··· उतपात है—भगवानने स्वयं तो मुनिकी रक्षा में असमर्थता दिखाई परन्तु भगवत शरणागति व्यर्थ नही जाती है इसलिये प्रभुने उपाय बता दिया कि—ब्रह्मंस्तद् गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्। क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति॥ (भा०) अर्थ—दुर्वासाजी! आपका कल्याण हो, आप नाभागनन्दन परम भाग्यशाली राजा अम्बरीषके पास जाये और उनसे क्षमा मागिये। तव आपको शान्ति मिलेगी। भगवानने साफ संकेत कर दिया कि आपने अपराध किया है। अतः आपको राजासे क्षमा-याचना करनी होगी। केवल हाथ जोड़नेसे काम नही चलेगा।

दुर्वासाजीका अपराध–निरपराध राजाको अपराधी मानना, एक तो यही अपराध है, उसपर भी निरपराधपर दण्ड विधान महापराध है। दुर्वासाजीने कहा—मैं कौन-सा मुँह लेकर अम्बरीषके पास जाऊँगा। मैंने तो उनका वहुत बड़ा अनिष्ट करनेका उद्योग किया था। भगवानने कहा—

वड़े ई दयाल—भाव यह है कि दयालु तो भगवान भी हैं परन्तु भक्त वड़े अर्थात् भगवान से भी वढ़कर दयालु होते हैं। तभी तो कहा गया गया है—**'राम ते अधिक राम कर दासा।'** **सदा....करें**—सदा प्रतिपालका भाव यह कि सन्त अनुग्रह ही करते है, निग्रह नहीं, भगवान अनुग्रह-निग्रह दोनों करते है। **न्यूनता न धरें**—पूर्व कहे कि संत अनुग्रह ही करते है, दया ही करते हैं, अव उसका हेतु वताते हैं—न्यूनता न धरें–भगवान तो कभी-कभी जीवके महदपराधपर कुपित हो जाते हैं दण्ड भी देते है। यथा—**तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेवयोनिषु॥** (गी०) अर्थ—उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मा नराधमोको मैं ससारमें वारम्वार आसुरी योनियोंमें गिराता हूं। परन्तु सन्त तो–**'सपनेहुँ नहि देखहि पर दोषा।'** अतः कुपित होने, दण्ड देने का कोई प्रश्न ही नही उपस्थित होता है। अव अदोष-दर्शनका हेतु वताते है कि **'भक्ति गात गात है'**—भाव यह है कि सन्तोंके रोम रोममें भक्ति समायी हुई है अतः दोषानुसंधानके लिये जगह ही नही, अवकाश ही नही है। इस पर दृष्टांत–१–श्रीजयदेवजी और चोरों का (देखिये कवित्त १५२-१५५)

दृष्टांत—एक संत का—एक सन्त वनपथसे जारहे थे। कुछ लोगोने मना किया कि इस मार्गमें एक महादुष्ट रहता है जो साधु-महात्माओंको पत्थर मारता है। अतः आप न जावें। सन्त नही माने। गये उसी मार्गसे, और उस दुष्टनें भी अपनें स्वभाववश सन्तको पत्थर मारा, सिर फूट गया तो भी सन्त विना कुछ कहे आगे वढ़ गये। कुछ दिन वाद फिर उसी मार्गसे लौटे तो देखे—वह दुष्ट अत्यन्त ज्वरके वेगमें मूर्च्छित पड़ा हुआ था, सन्तको दया आई, उसका सिर गोदमें धरकर सहलाने लगे, मुँहमें कमण्डलका जल थोड़ा-थोड़ा करके डालने लगे तो उसको आराम मिला। मूर्च्छा दूर हुई तो देखा, जिस सन्तको मैंने पत्थर मारा था वही मेरे जीवनदाता निकले। उसका हृदय भर आया, आँखोंसे झर-झर अश्रुपात होने लगा, चरणोपर गिरकर अपराधके लिये क्षमा माँगने लगा। सन्त ने उसको धैर्य वँधाते हुये कहा—भैया! तुम अपने ही तो हो, अपने दांतों से जिह्वा कट जाती है तो क्या उन्हे निकालकर फेंक दिया जाता है, फिर तुमने तो कुछ किया भी नहीं—**काहु न कोउ सुख दुखकर दाता। निजकृत कर्म भोग सव भ्राता॥**

ह्वै करि निरास ऋषि आयो नृप पास चल्यो गर्व सों उदास पग गहे दीन भाष्यो है।
राजा लाज मानि मृदु कहि सनमान कर्‌यो ढर्‌यो चक्र ओर करजोरि अभिलाष्यो है॥
भक्त निष्काम कभूं कामना न चाहत हैं चाहत हैं विप्र दुख दूरि करो चाख्यो है।
देखि कै विकलताई सदा सन्त सुखदाई आई मन माँझ सबतेज ढाँकि राख्यो है॥४२॥

शब्दार्थ—निसकाम=निष्काम, कामना, इच्छा रहित। ढाँकिराख्यो=छिपा लिया।

भावार्थ—भगवानके ऐसे वचन सुनकर दुर्वासाजी वहाँसे निराश होकर तथा अभिमानको त्यागकर राजा अम्वरीषके पास आये। उनके चरण पकड़कर क्षमा माँगी। राजाने लज्जित होकर अति कोमल

वचनों से ऋषि का सन्मान किया फिर चक्र सुदर्शन की ओर हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि—हे चक्र सुदर्शन ! भक्त सदा निष्काम रहते हैं, उन्हें कभी कोई कामना नहीं होती है, तथापि मैं चाहता हूँ कि-आप इस ब्राह्मणका दुःख दूर करें, इसने बड़े कष्टका अनुभव किया है । राजाकी प्रार्थना सुनकर और ब्राह्मणकी व्याकुलता देखकर सदा सन्तों को सुख देने वाले चक्र भगवानके मनमें दया आ गई और उन्होंने अपना सब तेज छिपा लिया ॥४२॥

व्याख्या—ह्वै करि"""भाख्यो है—यथा—

पद— हम भक्तनि सों भूलि बिगारी ।
जान्यौ नहीं इतो बल इनको ये हरि के अधिकारी ॥
कमल पराग भँवर भल जानै वह वासना विहारी ।
निपट नाल के निकट मेढुका भयो कीच को चारी ॥
काम क्रोध मद अतिशै जड़मति तप बल बढ़ो विकारी ।
अङ्गीकार कियो हरि इनको यह कछु हम न विचारी ॥
दुर्वासा अम्बरीष के आगे करी दीनता भारी ।
अग्रदास अभिमान पोटरी रिषि सिर ते तब डारी ॥

पुनः— हरि भक्तन सों गर्व न करिवो ।
यह अपराध परम पद हूंते उतरि नर्क में परिवो ॥
गज सिंहासन अश्व ऊँट चढ़ि भवसागर नहि तरिवो ।
यह मति भली नहीं आपुन बड़ नर कूकर अनु सरिवो ॥
हरि-सेवी जस-गायक को लघु मानत नेकु न डरिवो ।
अपनै दोष निपट आंधे पर दोष कुतर्कन जरिवो ।
वृथा चातुरी वादि जनमते भलो गर्भ में गरिवो ॥
खान-पान ऐंडान भले जू वदन पसार न मरिवो ।
कृष्ण दास हित धर विवेक चित साधुन सङ्ग उवरिवो ॥

राजा लाज मानि—इतने बड़े ऋषीश्वर चरणो में पड़े, दीन वचन कह रहे हैं, इससे 'सर्वाहि मानप्रद आपु अमानी ' महाराज अम्बरीष को लज्जाका अनुभव हुआ । 'मृदु"""कर्यो—यह सन्त स्वभाव है । ये कठोर वचन तो कभी बोलते ही नही—सम दम नियम नीति नहि डोलहिं । परुष वचन कबहूं नहि बोलहि ॥ तथा—सदा सर्वदा प्राणि मात्रमें आदर बुद्धि रखते हैं । यथा—सब सन प्रीति सर्वाहि आदरहीं । हरि गुरु संत भाव मन भरहीं । (सन्त-वाणी) ढर्यो"""है—राजा ने प्रथम सुदर्शन चक्रजी को हाथ जोड़ा-जिसका अभिप्राय था कि अब आप अपने तेज को समेट कर ब्राह्मण के ऊपर कृपा करे । परन्तु इसका कोई प्रभाव नही पड़ा तब राजा ने श्रीचक्रजी की बडी विनती की । परन्तु तब भी तेज शान्त नही हुआ । क्योकि बडो को प्रथम तो शीघ्र क्रोध होता नही है,और जब हो जाता है तो शीघ्र शान्त नही होता है । दृष्टान्त श्रीनृसिंह भगवानका (देखिये प्रह्लाद प्रसङ्ग कवित्त ९९, १००) तब अन्त श्रीअम्बरीषजी ने कहा—

दुर्वासाजीका अपराध-निरपराध राजाको अपराधी मानना, एक तो यही अपराध है, उसपर भी निरपराधपर दण्ड विधान महापराध है। दुर्वासाजीने कहा—मैं कौन-सा मुँह लेकर अम्बरीषके पास जाऊँगा। मैंने तो उनका वहुत वड़ा अनिष्ट करनेका उद्योग किया था। भगवानने कहा—

वड़े ई दयाल—भाव यह है कि दयालु तो भगवान भी है परन्तु भक्त वड़े अर्थात् भगवान से भी वढकर दयालु होते हैं। तभी तो कहा गया गया है—**'राम ते अधिक राम कर दासा।'** **सदा····करें**—सदा प्रतिपालका भाव यह कि सन्त अनुग्रह ही करते है, निग्रह नहीं, भगवान अनुग्रह-निग्रह दोनों करते है। **न्यूनता न धरें**—पूर्व कहे कि संत अनुग्रह ही करते है, दया ही करते हैं, अब उसका हेतु वताते हैं—न्यूनता न धरें-भगवान तो कभी-कभी जीवके महदपराधपर कुपित हो जाते हैं दण्ड भी देते हैं। यथा—**तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेवयोनिषु॥** (गी०) अर्थ—उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मा नराधमोको मैं संसारमें वारम्वार आसुरी योनियोंमें गिराता हू। परन्तु सन्त तो-**'सपनेहुँ नहि देखहि पर दोषा।'** अतः कुपित होने, दण्ड देने का कोई प्रश्न ही नही उपस्थित होता है। अव अदोष-दर्शनका हेतु वताते हैं कि **'भक्ति गात गात है'**—भाव यह है कि सन्तोके रोम रोममें भक्ति समायी हुई है अतः दोपानुसंधानके लिये जगह ही नही, अवकाश ही नहीं है। इस पर दृष्टांत-१-श्रीजयदेवजी और चोरों का (देखिये कवित्त १५२-१५५)

दृष्टांत—एक संत का—एक सन्त वनपथसे जारहे थे। कुछ लोगोंने मना किया कि इस मार्गमें एक महादुष्ट रहता है जो साधु-महात्माओंको पत्थर मारता है। अतः आप न जावे। सन्त नहीं माने। गये उसी मार्गसे, और उस दुष्टनें भी अपने स्वभाववश सन्तको पत्थर मारा, सिर फूट गया तो भी सन्त विना कुछ कहे आगे वढ़ गये। कुछ दिन वाद फिर उसी मार्गसे लौटे तो देखे—वह दुष्ट अत्यन्त ज्वरके वेगमें मूर्च्छित पड़ा हुआ था, सन्तको दया आई, उसका सिर गोदमें धरकर सहलाने लगे, मुँहमे कमण्डलका जल थोड़ा-थोड़ा करके डालने लगे तो उसको आराम मिला। मूर्च्छा दूर हुई तो देखा, जिस सन्तको मैंने पत्थर मारा था वही मेरे जीवनदाता निकले। उसका हृदय भर आया, आँखोंसे झर-झर अश्रुपात होने लगा, चरणोपर गिरकर अपराधके लिये क्षमा माँगने लगा। सन्त ने उसको धैर्य वँधाते हुये कहा—भैया! तुम अपने ही तो हो, अपने दांतों से जिह्वा कट जाती है तो क्या उन्हें निकालकर फेंक दिया जाता है, फिर तुमने तो कुछ किया भी नहीं—**काहु न कोउ सुख दुखकर दाता। निजकृत कर्म भोग सव भ्राता॥**

ह्वै करि निरास ऋषि आयो नृप पास चल्यो गर्व सों उदास पग गहे दीन भाख्यो है।
राजा लाज मानि मृदु कहि सनमान करयो ढरयो चक्र ओर करजोरि अभिलाख्यो है॥
भक्त निष्काम कभू कामना न चाहत हैं चाहत हैं विप्र दुख दूरि करो चाख्यो है।
देखि कै विकलताई सदा सन्त सुखदाई आई मन माँझ सवतेज ढाँकि राख्यो है॥४२॥

शब्दार्थ—निसकाम=निष्काम, कामना, इच्छा रहित। ढाँकिराख्यौ=छिपा लिया।

भावार्थ—भगवानके ऐसे वचन सुनकर दुर्वासाजी वहाँसे निराश होकर तथा अभिमानको त्यागकर राजा अम्वरीपके पास आये। उनके चरण पकड़कर क्षमा माँगी। राजाने लज्जित होकर अति कोमल

वचनों से ऋषि का सन्मान किया फिर चक्र सुदर्शन की ओर हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि—हे चक्र सुदर्शन ! भक्त सदा निष्काम रहते हैं, उन्हे कभी कोई कामना नहीं होती है, तथापि मैं चाहता हूं कि–आप इस ब्राह्मणका दु.ख दूर करें, इसने बड़े कष्टका अनुभव किया है । राजाकी प्रार्थना सुनकर और ब्राह्मणकी व्याकुलता देखकर सदा सन्तों को सुख देने वाले चक्र भगवानके मनमें दया आ गई और उन्होंने अपना सब तेज छिपा लिया ॥४२॥

व्याख्या—ह्वै करि······भाख्यो है—यथा—

पद— हम भक्तनि सों भूलि बिगारी ।
जान्यो नहीं इतो बल इनको ये हरि के अधिकारी ॥
कमल पराग भँवर भल जानै वह वासना विहारी ।
निपट नाल के निकट मेंढुका भयो कीच को चारी ॥
काम क्रोध मद अतिशै जड़मति तप बल बढ़ो विकारी ।
अङ्गीकार कियो हरि इनको यह कछु हम न विचारी ॥
दुर्वासा अम्वरीष के आगे करी दीनता भारी ।
अग्रदास अभिमान पोटरी रिषि सिर ते तब डारी ॥

पुनः— हरि भक्तन सों गर्व न करिवो ।
यह अपराध परस पद छूते उतरि नर्क में परिवो ॥
गज सिंहासन अश्व ऊँट चढ़ि भवसागर नहिं तरिवो ।
यह मति भली नहीं आपुन बड़ नर कूकर अनु सरिवो ॥
हरि-सेवी जस-गायक को लघु मानत नेकु न डरिवो ।
अपनै दोष निपट आंधे पर दोष कुतर्कन जरिवो ।
वृथा चातुरी वादि जनमते भलो गर्भ में गरिवो ॥
खान-पान ऐंडान भले जू वदन पसार न मरिवो ।
कृष्ण दास हित धर विवेक चित साधुन सङ्ग उवरिवो ॥

राजा लाज मानि—इतने बडे ऋषीश्वर चरणो में पड़े, दीन वचन कह रहे है, ऐसे 'सबहिं मानप्रद आपु अमानी' महाराज अम्बरीष को लज्जाका अनुभव हुआ । 'मृदु······करयो—सन्त स्वभाव है । ये कठोर वचन तो कभी बोलते ही नही—सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं । ··· वचन कबहूं नहिं बोलहि ॥ तथा—सदा सर्वदा प्राणि मात्रमे आदर बुद्धि रखते हैं । यथा—सब तन ··· सबहिं आदरहीं । हरि गुरु संत भाव मन भरहीं । (सन्त-वाणी) ढरयो ······है—राजा ने प्रथम ··· चक्रजी को हाथ जोड़ा–जिसका अभिप्राय था कि अब आप अपने तेज को समेट कर ब्राह्मण के ऊपर करे । परन्तु इसका कोई प्रभाव नही पड़ा तब राजा ने श्रीचक्रजी की बड़ी विनती की । परन्तु तब तेज शान्त नही हुआ । क्योकि बडो को प्रथम तो शीघ्र क्रोध होता नही है,और जब हो जाता है तो ··· शान्त नही होता है । दृष्टान्त श्रीनृसिंह भगवानका (देखिये प्रह्लाद प्रसङ्ग कवित्त ६६, १००) तब ··· श्रीअम्बरीषजी ने कहा—

भक्त .... राख्यो है—तात्पर्य यह है कि आज तक मैंने आपकी निष्काम आराधना की है, मैंने कभी भी आपसे किसी कामना की पूर्ति नही चाही है। अतः यदि मैं सचमुच मन वचन कर्म से निष्काम भक्त हूँ, तो हे चक्र सुदर्शन ! आज हमारी यह अभिलाषा, चाहना, कामना पूर्ण की जाय कि ब्राह्मण का शीघ्र ही दुःख दूर हो यथा—**यदि नो भगवान् प्रीत एकः सर्व गुणाश्रय.। सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः॥** (भा०) अर्थ—भगवान समस्त गुणों के एक मात्र आश्रय है। यदि मैंने समस्त प्राणियों के आत्मा के रूपमें उन्हे देखा हो और वे मुझपर प्रसन्न हों तो दुर्वासाजी की सारी जलन मिट जाय ॥ जैसे श्रीभरतलालजी ने हनुमानजीकी मूर्च्छा को दूर करनेके लिये प्रेमका प्रयोग किया था। यथा—**जो मोरे मन वच अरु काया। प्रीति राम पद कमल अमाया॥ तौ कपि होउ विगत श्रमसूला। जो मोपर रघुपति अनुकूला॥** तो—'**सुनत बचन उठ बैठ कपीसा**।' उसी प्रकार अम्बरीषजी ने यहाँ अपनी निष्कामता का प्रयोग किया। रीति है—जो सर्वदा निष्काम सेवा करते है—उदार स्वामी उनका मुँह जोहा करते हैं कि यह कभी कुछ कहें, मांगें और यदि कदाचित् वह कभी कुछ कामना करते हैं तो उसे तत्काल पूर्ण करते हैं। यहाँ भी एसा ही हुआ।

देखि.........राख्यो है—श्रीचक्रजी ने देखा कि ऋषि तो तेज से व्याकुल हैं ही, इनकी व्याकुलता से महाराज अम्वरीप भी व्याकुल हो रहे है, और मेरा उद्देश्य है—सदा सन्तों को सुख देना, तथा इनको सुख देनेके लिये ही प्रभुने मुझको यहाँ नियुक्त कर रखा है अतः मेरे किसी भी व्यवहारसे राजा को दुःख, शोक, व्याकुलता हो यह उचित नहीं, अतः आई मन मांझ कि अव तो ठण्डा ही हो जाना चाहिये। वस तुरन्त ही—सव तेज ढांकि राख्यो है—श्रीचक्रजी ने अपना समस्त तेज समेट लिया। ऋषि की रक्षा हो गई।

श्रीअम्वरीषजी के इस सद्व्यवहार से दुर्वासाजी वड़े ही प्रभावित हुये। उनके मुँह से वरवस निकल पड़ा—

अहो अनन्त दासानां महत्वं दृष्टमद्यमे। कृतागसोऽपि यद् राजन् मङ्गलानि समीहसे॥
दुष्करः कोनु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम्। यैः संगृहीतो भगवान् सात्वतामृषभो हरिः॥
राजन्ननुगृहीतोऽहं त्वयाति करुणात्मना। मदघं पृष्ठतः कृत्वा प्राणा यन्मेऽभिरक्षितः॥(भा०)

अर्थ—अहो ! आज मैंने भगवान के प्रेमी भक्तों का महत्व देखा। राजन् ! मैंने आपका अपराध किया फिर भी आप मेरे लिये मङ्गल कामना ही कर रहे हैं॥ जिन्होंने भक्तवत्सल भगवान श्रीहरिके चरणकमलों को दृढ़ प्रेम भाव से पकड़ लिया है, उन साधु पुरुषों के लिये कौन-सा कार्य कठिन है, जिनका हृदय उदार है वे महात्मा भला किस वस्तुका परित्याग नही कर सकते हैं॥ राजन्! आपका हृदय करुणा भाव से परिपूर्ण है। आपने मेरे ऊपर महान अनुग्रह किया। अहो ! आपने मेरे अपराधों को सर्वथा भुलाकर मेरे प्राणों की रक्षा की है।

चौ०— सुनि दुर्वासा की असि वानी। मुनि पद गह्यो भूप दोउ पानी॥
मुनिहिं भवन महँ गयउ लिवाई। शिष्यसहित भोजन करवायो॥
वार वार पद महँ धरि शीशा। कियो मुनीशहिं विदा महीशा॥
चक्र त्रास भागत दुर्वासै। वीत्यो एक वर्ष युत त्रासै॥

तब लौं रह्यो भूप तहँ ठाढ़ो। सोइ चरणामृत लै मति गाढ़ो॥
जब दुर्वासा सुखित सिधारा। अम्बरीष तब कियो अहारा॥(राम रसिकावली)

वर्णन आया है कि वैसे तो श्रीअम्बरीषजी के शरणागत होने से, दुर्वासाजी की प्राण रक्षा हो गई परन्तु उनके मनका अमर्ष गया नहीं। कारण कि चक्रने बहुत पीछा किया था अतः उनकी पीठ झुलस गई थी। यथा—'नयो तेज चक्र चून किये डारे हैं।' 'खरो तन जारे हैं।' शरीर भस्म तो नही हुआ परन्तु गर्मी अधिक बढ गई, जिसे शान्त करने के लिये इन्हें उत्तराखण्ड जाना पड़ा। उसी अमर्ष में भरकर इन्होने दीर्घकाल तक कठोर तप करके भगवान को प्रसन्न किया। भगवानने दर्शन दिया—वर मांगने को कहा—तो इन्होने यह वर मांगा कि अम्बरीषजी मुक्त होने के लिये साधन कर रहे हैं तो उनको मुक्त होनेके बजाय दश हजार बार जन्म लेना पड़े। भगवान भीतरसे बड़े ही नाराज हुए और बोले—मुने! मैंने आपको वर देने का वचन दे दिया है अतः यद्यपि आप जो माँग रहे हैं वह है तो बड़ा ही अनुचित, परन्तु मैं उसे इस प्रकार पूर्ण करूँगा कि अम्बरीषजी तो मुक्त होंगे ही, उनकी जगह पर मैं स्वयं दशबार जन्म लूँगा। भक्तका हजार जन्म और मेरा एक जन्म बराबर है अतः भगवानने अम्बरीष के लिये दशावतार धारण किया यथा—जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुख भार। अम्बरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनम्यो दस बार॥ (वि०) इसलिए श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि—अम्बरीष………भाखिये॥ (कवित्त ३६)

एक नृप सुता सुनि अम्बरीष भक्ति भाव भयो हिय भाव ऐसो वर कर लीजिये।
पिता सों निशङ्क ह्वैकै कही पति कियो मैं ही विनय मानि मेरी वेगि चीठी लिख दीजिये॥
पाती लैके चल्यो विप्र छिप्र वही पुरी गयो नयो चाव जान्यो ऐ पै कैसे तिया धीजिये॥
कहो तुम जाय रानी बैठी सत आय मोको बोल्यो न सुहाय प्रभु सेवा मांझ भीजिये॥४३॥

शब्दार्थ—निशक=निःशंक, निःसङ्कोच। छिप्र=क्षिप्र, शीघ्र। चाव=चाह, लालसा। धीजिए =मानूं, विश्वास करूँ। सत=सौ।

भावार्थ—राजा अम्बरीष के भक्ति भाव की प्रशंसा सुनकर एक राजा की लडकी के मन में यह भाव आया कि इसी राजा के साथ विवाह करना चाहिये। यह निश्चय करके उसने बिना किसी संकोच के अपने पितासे कहा कि—आप मेरी प्रार्थना मानकर राजा अम्बरीषको शीघ्र ही एक पत्र लिख दीजिये। मैं उनके साथ अपना विवाह करना चाहती हूँ। पिता ने पत्र लिखकर एक ब्राह्मण को दिया। वह पत्र लेकर राजा अम्बरीष की पुरी में गया और राजाको पत्र दे दिया। उसे पढ़कर राजा नें कहा कि—मैंने राज्यकन्या की नवीन लालसाको समझ लिया, पर मैं उसे अपनी स्त्री कैसे बनाऊँ क्योकि मेरे राजमहल मे मेरी सौ रानियां बैठी हैं और उनसे बोलना भी मुझे अच्छा नही लगता है। तो मैं दिन-रात भगवान की सेवा में ही लगा रहता हूँ। हे विप्रदेव! मेरी यह बात आप उस राजकन्या से जाकर कह दीजिये॥४३॥

व्याख्या—एक नृप सुता—मिथिला प्रान्तके एक राजा राममोहनकी पुत्री, जिसका नाम सुबुद्धिनी था। 'सुनि………भाव'—पूर्व कहा जा चुका है कि इनकी भक्तिकी सर्वत्र चर्चा चलती थी,

राजा के यहाँ भी भई, राजकुमारीने सुन लिया, और अन्य सम्वन्ध सूत्रोंसे भी जान कारी भई पुनः श्री-दुर्वासाजी के प्रसङ्गसे आपकी अति प्रसिद्धि होगई, श्रीदुर्वासाजीने एक तरह से त्रैलोक्य में महाराज अम्व-रीष को भक्ति पताका फहरा दी। श्रीनारदजी तो ऐसे प्रसङ्गों के प्रचारक हैं ही। तथा साथ ही कौतुकी भी है अतः स्वयं ही जाकर राजकुमारी को अधिकारी जान कर तथा भावी सम्वन्ध विचार कर सुना आये। आगे के कथा प्रसङ्ग में भी इनकी उपस्थिति पाई जाती है। 'भयो......लीजिये'-राजकुमारी भी वड़ी भागवती थीं अतः उसने ऐसो अर्थात् परम भागवत वर को वरण करने का निश्चय किया। क्यों कि 'सर्वं पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं, समन्ततः पातिभयातुरं जनम्।'(भा०) अर्थ—सच्चा पति वही है जो स्वयं सर्वथा निर्भय हो और दूसरे भयभीत लोगों की सव प्रकार से रक्षा कर सके। भगवद्भक्त स्वयं निर्भय होते हैं। यथा—'त्वयाभि गुप्ता विचरन्ति निर्भयाः।' अर्थ—आप परमात्माके द्वारा रक्षित भक्त-गण निर्भय विचरते हैं। पुनः—तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै॥ (वि०) तथा-जीवों के भव-भयको दूर करने वाले होते हैं। यथा—सन्त सरन अति ही सुखदाई। छिन में दें भव-भीति मिटाई॥(सन्त वाणी) अतः ऐसो पति करि लीजिये।

पिता......दीजिये—निशंङ्क कहने का भाव यह कि—यद्यपि कन्या का पिता से पतिके सम्वन्ध में वार्ता करना लज्जा का विषय है माता से चाहे कह भी दें, परन्तु प्रवल प्रेम में प्रेमी लज्जाकी परवाह नही करता। यथा—

चन्दन पंक गुलाब सुनीर सरोज की सेज उठाय धरौरी।
तूल भयो तनु जात जरो येहि वैरि दुकूलहिं दूरि करौरी॥
लोकहु वेद की कानि तजौ अरु धर्महु के सिर भार परौरी।
लाज के ऊपर गाज परौ व्रजराज मिलै सोइ काज करौरी॥१॥
आये हैं भाव भरे नन्दलाल सुवाल करै गृह काम सुभावै।
झांकी दै नैननि सैन कह्यौ हरि आवौ जू कुंज सुखेल खिलावैं॥
त्यौं तरुणी वरुणी न परै पल घूंघट खैंचन सासु सिखावै।
ताहि न लाज सो काज कछू जर जाइ सो लाज जो काज नसावै॥२॥
पंकजके दलसों दृगदेखि भई वस स्याम स्वरूप महा है।
जाको जोई सोइ ताहि चहै विनु देखे महा दुख देह दहा हैं।
सङ्गति सङ्ग भयो जेहि ते तेहि ते कछु नाहिं विवेक रहा है।
तू जो कहै सखि लाज करौ जब लागि गई तव लाज कहा है॥

पुनः— चाखा चाहै प्रेम रस, राखा चाहै लाज।
नारायन प्रेमी नहीं बातन को महराज॥

अतः निसंक कही। 'पति कियो मैं ही'—भाव-लोक व्यवहार के अनुसार माता-पिता कन्याके लिये सुयोग्य वर ढूंढ़ते हैं। परन्तु यहां तो राजकुमारी ने स्वयं वरण कर लिया। राजकुमारी की निष्ठा पर पिता वड़े ही प्रसन्न हुये। दूसरे इस सम्वन्धसे स्वार्थ और परमार्थ दोनों की सिद्धि है। परमभागवत से सम्वन्ध होने से परमार्थ सिद्धि और चक्रवर्ती महाराजसे सम्वन्ध होने से स्वार्थ सिद्धि है।

नयो चाव जान्यो-नई भक्ति नौ दिना। खैंची खैंचा दस दिना।

दृष्टांत—एक हलवाहे का—गाँव में सन्तोंकी जमात पड़ी थी पूआ तस्मई की रसोई थी। सामान बहुत बचा था, जो भी जाता, सन्त खूब प्रसाद देते। एक हलवाहा आया, उसे तो महापूर्ण करा दिये। उसने पूछा क्यों महाराज ! ऐसे ही रोज माल घुटता है ? संतने कहा—हाँ बच्चा ! फिर तो वह घर गया ही नहीं, सन्तोंके साथ लग गया। कुछ सेवा करदेता खाने पीनेको खूब माल मिलता। संयोगकी बात, दो चार दिनोंके बाद ही वर्षा की झड़ी लग गई, ठीकसे रोटी दाल बनना भी मुश्किल पड़ गया, महात्माओंको तो अभ्यास होता है, दो एक दिन न भी कुछ मिले तो कोई बात नही परन्तु जो खाने के लिये ही साधु बना है उसे तो ऐसे समयमें मुश्किल पड़ जाती है। हलवाहे को एक दिन बालभोग नही मिला, इतनेमे ही घबड़ाने लगा, संयोगसे राजभोगका भी ठिकाना नही लगा, तबतो उसे बड़ी विकलता हुई। दैवेच्छासे शामको भी कोई समुचित व्यवस्था नही हुई, बस वह अधोर हो गया। एक परिचयका व्यक्ति मिला, उससे घर संदेश भिजवाया कि बूढ़े बैलको बेचेगे नहीं वैराग्यमें अभी कच्चाई है। दूसरेदिन तो वह जमात छोड़कर घर भाग ही गया तब एक महात्माने कहा—भाई—नई भक्ति नौ……दिना ॥

कैसे लिया कीजिये—**नखीनां च नदीनां च भृङ्गीणां शस्त्रपाणिनाम्। विश्वासो नैवकर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥ (चाणक्य नीति) अर्थ—नखवाले सिंह, व्याघ्रादिकों का, नदियोका, सींग वाले जानवरोंका, हाथमे शस्त्र लिये हुएका, तथा स्त्रियों एवं राजकुलोंका विश्वास नही करना चाहिये ॥ पुनः शरत्पद्म लसद् वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम्। हृदयं क्षुरधारामं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम् ॥**

दृष्टांत—पण्डित और राजा का—एक पण्डितजी बड़ी सुन्दर कथा कहते थे। खूब प्रसिद्धि हुई। सुजस सुनकर वहाँके राजाभी कथा सुनने आने लगे। और कथाके प्रभावसे धीरे-धीरे विषयोसे वैराग्य हो गया। सब ओरसे आसक्ति हटाकर भगवद्भजनमें प्रवृत्त हो गये। रानीको यह बात खटकी। यह जानकर कि राजाके ऊपर कथाका रङ्ग चढ़ गया है एक दासीसे राजाकी मति फेरनेके लिये उपाय करनेको कहा। तब वह दासी रानीसे सुन्दर वस्त्रा-भूषण लेकर अपनेको सुसज्जित कर पालकीमे बैठकर कथा सुननेको आने लगी। पाँच मुहरे नित्य भेंट करती। लोभी कथा वाचकोका स्वभाव होता है कि जो भेंट पूजा विशेष देते हैं उनका विशेष ध्यान रखते हैं परन्तु इन पण्डितजी पर दासीकी माया नही चली, उसके हाव-भाव, झनक-मनक एवं भेंट-पूजाका प्रयोग निष्फल गया तब वह एक दिन रात्रिमें प्रेत का स्वागकर पण्डितजीके पास आकर डराने लगी। पण्डितजीके पूछने पर उसने अपनेको प्रेत कहा और कहा कि मेरा निवास राजाके महलके पिछवाडे पीपलके वृक्षपर है। तुम्हारी स्त्रीने मानता की थी परन्तु उसने हमारा पूजन किया नही तो यदि तुम अपनी खैर चाहते हो तो आज रातके बारह बजे अपनी स्त्रीको कन्धेपर बिठाकर पूजाकी सामग्री लेकर मेरे स्थानपर आकर मेरा पूजन करो अन्यथा मैं सर्वनाश कर दूँगा। राजमहलके पिछवारे वाली बात सुनकर तो पण्डितजी को शंका हुई कि कही रानीका कोईषडयंत्र तो नही है। परन्तु फिर जैसी हरिकी इच्छा-यह विचारकर स्वीकारकर लिये और निश्चित समय पर वहाँ पहुंच ही गये। उधर रानी अवसरकी प्रतीक्षामे थी, उसने तुरत ही राजाको यह कौतुक दिखाया। राजा कुतूहलवश जब समीप गये तो देखे वही पण्डितजी हैं जो नित्य उपदेश करते हैं। बड़ा आश्चर्य हुआ इस 'कहनि आन विधि रहनि आन विधि' पर। आखिर पूछ ही बैठे—पण्डितजी ! यह सब मैं क्या देख रहा हूँ। पण्डितजी ने कहा—राजन् ! देख लो मायाकी प्रबलता, हमेशा चरणोमें रहनेवाली आज सिरपर चढ़ी है। भला विचारो तो सही, जब मुझ सरीखे पण्डितकी भी यह दशा हो रही है तो अन्यकी तो बात ही क्या ? अतः इससे दूर ही रहना चाहिये। इन कर संग सदा दुखदाई। इस पर—

दृष्टांत—छोटे हरिदासजी का। (देखिये गौराङ्ग चरित्र) राजाकी समझ में बात आगई। भगवत्कृपा से रानीका यह भी षड़यंत्र निष्फल चला गया। अतः कैसे तिया धीजिये कहा।

कौंको......धीजिये—

जलको सनेही मीन विछुरत तजै प्रान मनि बिनु अहि जैसे जीवत न लहिये।
स्वाति बिन्दुको सनेही प्रगट जगतमांहि एकसीप दूसरो सुचातकहू कहिये॥
रविको सनेही पुनि कमल सरोवरमें शशिको सनेही हूं चकोर जैसे रहिये।
तैसे ही सुन्दर एक प्रभुसों सनेह जोरि और कछू देखि काहू ओर नहिं बहिये॥

पुनः जाको मन लागो गुपाल सों ताहि और नहिं भावै।
लैकर मीन दूध में राखो जलबिनु नहि सचुपावै॥
ज्यौं गूँगो गुड़ खाय रहत है स्वाद न काहु बतावै।
जैसे सूरमा घायल घूमत पीर न काहु जनावै॥
जैसे सरिता मिली सिंधु महँ उलटि प्रवाह न आवै।
तैसे सूर कमल मुख निरखत चित इत उत न डुलावै॥

कह्यो नृप सुता सों जु कीजिये जतन कौन पौन जिमि गयो आयो काम नाहीं बिया को।
फेरिकै पठायो सुख पायो मैं तो जान्यो वह बड़े धर्मज्ञ वाके लोभ नाहीं तिया को॥
बोली अकुलाय मन भक्ति ही रिझाय लियो कियो पति मुख नहीं देखौं और पिया को।
जायके निशंक यह बात तुम मेरी कहो चेरी जो न करौ तौपै लेवो पाप जियाको॥४४॥

शब्दार्थ—बिया=विय, जोड़ा, ब्याह, रंचमात्र भी। जिया=जीव। चेरी=दासी, पत्नी।

भावार्थ—ब्राह्मणने आकर राजाकी लड़कीसे कहा कि—मैं हवाकी तरह शीघ्रतासे गया और आया पर विवाह सम्बन्धी कार्य थोड़ा-भी नहीं बना। अब बताओ, और कौन-सा उपाय किया जाय। राजकन्या ने ब्राह्मणको फिर भेजते हुए कहा कि—उनके मना करनेसे मुझे बड़ा सुख हुआ और मैं जान गई कि वे परम विरक्त और धर्मज्ञ है। उनके मनमें स्त्रीका लोभ नाममात्र भी नही है। फिर वह प्रेमातुर होकर बोली कि—उनकी भक्तिने ही मेरे मनको मोहित करलिया है। मैं उन्हें अपना पति बना चुकी। अब किसी दूसरे मनुष्यकामुख नहीं देखूंगी। ब्राह्मणदेव! आप फिर जाइये,और मेरी यहबात राजासे निडर होकर कहिए कि—यदि आप उसे चरणों की दासी न बनाइयेगा तो उसके प्राण त्यागके पापको लीजियेगा॥४४॥

कही विप्र जाय सुनि चाय महराय गयो दयो लै खड़ग यासों फेरी फेर लीजिये।
भयो जू विवाह उत्साह कहूँ मात नाहिं आई घर अम्बरीष देखि छबि भीजिये॥
कह्यौ नव मन्दिर में झारिकै बसेरो देवो देवो सब भोग विभौ नाना सुख कीजिये।
पूरब जनम कोऊ मेरे भक्ति गन्ध हुती याते सनबन्ध पायो यहै मानि धीजिये॥४५॥

शब्दार्थ—चाय=चाव, चाह। महराय=रोमांचित, अपने निश्चयसे डिग गये। फेरी=भांवर। मात=समात, अमात। हुती=थी। गन्ध=वासना। सनवन्ध=सम्बन्ध।

भावार्थ—ब्राह्मणने जाकर राजाअम्बरीषसे राजकन्याकी सबबात कहदी। उसके प्रण, प्रणय और पातिव्रतको सुनकर राजाअम्बरीष पुलकित होगये और व्याह न करनेके अपने निश्चयसे डिगगये। सम्बन्ध स्वीकार करके राजाने अपनी तलवार देदी और कहा कि—इसीसे भांवर डाल लाइये। इसप्रकार विवाह हो जानेपर राजकन्याके मनमें आनन्द नहीं समा रहा था। वह पतिके नगरमें आई। राजा और नई रानी दोनो परस्पर एक दूसरेकी भक्तिमयी छवि देखकर आनन्दमग्न होगए। राजाने रनिवासकी दासियों को आज्ञा दी कि—नये सुन्दर भवनको झाड़-बुहारकर उसमें नई रानीको निवास दो और भोग-विलासके विविध वैभव दो, जिससे सब प्रकारके सुख प्राप्त करें। इस नई रानीके साथ पूर्व जन्मकी कोई मेरी भक्ति वासना थी, इसीसे यह विवाह सम्बन्ध हुआ है; ऐसा मानकर राजा अम्बरीष मनमें प्रसन्न हुए ॥४५॥

व्याख्या—पूरब जन्म०—

दोहा— अम्बरीष को कहत हौं पूर्वजन्म इतिहास।
रह्यो विप्रवर एक कोउ वेदशास्त्र अभ्यास॥

नृपकी नई नारि जो आई। रही एक द्विज सुता सुहाई॥
रज वश भई सुता एक काले। सोइ वेद गवन्यौ तेहि आले॥
भई कामवश परसत नारी। कछू काल में मरी कुमारी॥
फेरि वेद यमलोक सिधारा। बहुरि भयो सो आइ सोनारा॥
गणिका भइ सो विप्र कुमारी। मैं सोनार वेश्या की यारी॥
वारवधू धन संचित कीन्हों। शिव मन्दिर सुन्दर रचि दीन्हों॥
सो सुनार वैष्णव कछु रहेऊ। शिव मन्दिर कलसा रचिलयऊ॥
चढ़ि मन्दिर में कलश लगाई। उतरत गिरचो मरचो महि आई॥
गणिका जरी सङ्ग महँ ताके। आये गण हरि हर ब्रह्मा के॥
निज निज लोक चहै ले जाना। झगरो मांचि रह्यो विधिनाना॥
तव विधि आइ कह्यो असन्याऊ। स्वर्णकार ह्वै हैनृप राऊ॥
गणिका ह्वै हैं ताकरि रानी। पतिव्रता सुशील मति खानी॥
स्वर्णकार सोइ होत भो, अम्बरीष महाराज।
गणिका सोइ रानी भई, हरिपुर गे सुखसाज॥ (रामरसिकावली)

रजनी के सेस पति भौनमें प्रवेश कियो लियो प्रेम साथ ढिग मन्दिर के आइये।
बाहिरी टहलपात्र चौका करि रीझि रही गही कौन जाय जामे होत न लखाइये॥
आवत ही राजा देखि लगै न निमेष किहूँ कौन चोर आयो मेरी सेवा लै चुराइये।
देखो दिन तीनि फेर चीन्हिके प्रवीन कही ऐसो नम जो पै प्रभुमाये पधराइये॥४६॥

शब्दार्थ—निमेष=पलक।

भावार्थ—नई रानीने एक दिन कुछ रात्रि शेष रह जानेपर केवल प्रेमके सहारेसे पतिके भवनमें प्रवेश किया और भगवानके मन्दिरमें जाकर बाहरी सेवा चौका पार्षद मज्जनादि करके परम प्रसन्न हुई फिर अपने महलमें चली आई। किसीने आते-जाते या सेवा करते नही देखा। जब राजा स्नानादि करके मन्दिर में सेवा करनेके लिये आए,तो चौका पार्षदकी सेवा हुई देखकर आश्चर्य चकित होगए। सेवाको बिना पलक मारे टकटकी लगाकर देखने लगे फिर मनमें विचार करने लगे कि—यह कौन चोर आया ? जिसने मेरी सेवारूपी सम्पत्तिकी चोरी की। इसी प्रकार तीन दिन सेवाकी चोरी होती देखकर चौथे दिन छिपकर देखा और नई रानीको पहचानकर प्रेम प्रवीण राजाने कहा कि—यदि भगवानकी सेवामें ऐसा प्रेम है तो सम्पूर्ण सेवा अपने सिरपर लीजिए। अपने महलमें मन्दिर बनवाकर प्रभुको पधराइये और अष्टयाम सेवा कीजिये ॥४६॥

व्याख्या—रजनी……लखाइये—नई रानी ने दासी से पूछा कि मैं महाराज की कुछ सेवा करना चाहती हूँ तो कैसे करूँ ? दासी ने कहा—महारानी जू ! महाराजजी न तो किसी रानी के यहां जायँ न कोई रानी उनके यहाँ जा सके। बड़ा सख्त पहरा रहता है। बड़ी कठोर आज्ञा है। तब रानी ने पूछा—अच्छा, बताओ श्रीठाकुरजी की सेवा कहाँ करते हैं ? दासी ने कहा—श्रीठाकुरजी का मन्दिर आपके महलके बिलकुल पास ही है। आप जो नित्य प्रति घण्टा घड़ियाल की ध्वनि सुनती हैं वह वहीं की है। रानी ने महाराज की दिन चर्या पूछी तो दासी ने कहा—वैसे तो हर समय मन्दिर के घेरेमें ही रहते हैं, केवल प्रातःकाल श्रीसरजू स्नान करने तथा श्रीठाकुर सेवाके लिये जल लाने के लिये निकलते हैं। यह कह कर दासीने रानीको मन्दिर दिखा भी दिया। थोड़ी-सी दूरी थी रानी के महल और मन्दिर में। रानी ने पेंचदार सीढ़ी बनवाया,जब जी चाहै फैलालें जब जी चाहे समेट ले। बस प्रातः ब्राह्म वेलामें रानी ने 'लिये प्रेम……आइये—' रानी ने अपने साथ किसी अन्य दास दासीको न रखकर प्रेम को साथ लिया। क्यों कि—'रामहिं केवल प्रेम पियारा।' 'बाहिरीटहल'—चौका, पार्षद, तुलसी, फूल और चन्दन आदि की सेवा करके रानीने अपने को कृतार्थ माना। **मन राखै नित ध्यान में,तन ते टहल कराय। बाणी ते गुण गाय के, प्रभु को लेय रिझाय ॥** दृष्टान्त—रसायनीका (देखिये क० १०) श्रीठाकुरजीको दण्डवत कर पुनः अपने महल में लौट आईं। 'कौन चौर आयो'—(देखिये कवित्त ३२)

मेरी सेवा लै चुराइयै—महाराज श्रीअम्बरीषजी समस्त कैंकर्य अपने हाथसे करते थे यहाँ तक कि भोग सामग्री के लिये आटा-चावल तक स्वयं तैयार करते। पूर्व जो कहा गया है कि—'करौ हरेर्मन्दिर मार्जनादिषु' उसमें आदि शब्दान्तर्गत सभी प्रकार की सेवायें आजाती हैं। कथा आती है कि एकबार गर्मी के दिनों में श्रीअम्बरीषजी चक्की चला रहे थे, पसीने में भीग रहे थे तो स्वयं श्री-ठाकुरजी पीछे से पंखा झलने लगे। राजाने पीछे मुडकर देखा तो भगवान को देखकर अत्यन्त दीन होकर बोले—जै, जै प्रभो ! क्या आपको यह शोभा देता है ? भगवान ने कहा—तो क्या आपको चक्की चलाना शोभा देता है ? श्रीअम्बरीषजी ने कहा—प्रभो ! यह तो मेरा कर्तव्य है। प्रभुने कहा कि—हमारा भी तो यह विरद है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' (गीता) बोलिये भक्त भगवान की जय।

देखि……कही—जब तीन दिन तक लगातार यह क्रम जारी रहा, राजाने बहुत पता लगाया परन्तु पता नही लग सका तो चौथे दिन महाराजने एक युक्ति करी। राजाने अनुमान कर लिया कि सेवा करने वाला, जब हम स्नान करने जाते हैं उसी समय भीतर प्रवेश करता है, अतः जब स्नानको जानेका समय हुआ तो नित्य नियमके अनुसार सेवकोंने जय जय कार किया बाजे-बजने लगे तब महाराज

ने सबको तो श्रीसरजू तट पर भेज दिया परन्तु स्वयं लौट आये और भीतर महल में छिप रहे। रानी ने समझा, महाराज चले गये, वह पूर्ववत महल मे प्रवेश कर समस्त सेवा सम्पन्न कर जब श्रीठाकुरजी को प्रणाम कर जाने लगी तो महाराज प्रगट हो गये और 'कीन्हि के प्रवीन कही'—यहाँ प्रवीन शब्द राजा और रानी दोनोंके लिये ही प्रयुक्त है अर्थ होगा—प्रवीण राजाने रानीको कहा—तुम प्रवीण हो। वस्तुतस्तु दोनो ही प्रवीण हैं। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दोमे प्रवीणकी परिभाषा—अस विचारि तजि संशय रामहिं भजहिं प्रवीण॥ इस कसौटी पर दोनो ही खरे उतरते हैं। रानी को प्रवीण कहने का एक हेतु यह भी कि आप बडी विधि से सब सेवा-कार्य करती जिसे देखकर यह स्वतः अनुमान होता कि यह प्रवीन हैं। बात यह थी कि इनके घरमे भी ठाकुर सेवा थी अतः सब सेवा-विधि जानती थी। 'ऐसो मन''' पधराइये—राजाने पूछा-ऐसा क्यों करती हो ? रानी ने कहा—मैं आपकी अर्धांगिनी हूँ। अत हमे भी आप के साथ कम से कम आधी सेवा तो करने का अवसर मिलना ही चाहिये। राजाने कहा—अर्द्ध सेवा की तो बात ही क्या ? स्वयं ठाकुरजी को पधरा कर पूरी सेवा करो, मैं कब रोकता हूं।

लई बात मानि मानो मन्त्र लै सुनायो कान होत ही विहान सेवा नीकी पधराई है।
करति सिंगार फिर आपु ही निहारि रहै लहै नहीं पार दृग झरी सी लगाई है॥
भई बढ़वार राग भोग सों अपार भाव भक्ति विस्तार रीति पुरी सब छाई है।
नृप हू सुनत अब लागि चोप देखिवे की आये ततकाल मति अति अकुलाई है॥४७॥

शब्दार्थ—विहान=सवेरा। चोप=उमंग, रुचि।

भावार्थ—रानीने राजा की बात इस प्रकार आदर पूर्वक मानी, जैसे गुरुदेवके द्वारा कान में सुनाया गया मन्त्र भावुक शिष्य स्वीकार करता है। प्रातः काल होते ही रानी ने अपने मन्दिर में विधि समेत श्रीठाकुरजी की सेवा को पधराया। नई रानी श्रीठाकुरजी की सेवा और शृङ्गार करके फिर उनकी सुन्दर शोभा को एकटक निहारती रहती और अपार प्रेममें मग्न हो जाती। नेत्रों से प्रेमके आंसुओंकी झडी सी लग जाती। रानी के अपार प्रेम भावसे दिन प्रतिदिन भोग रागमें बढती होती चली गई। इस प्रेम भक्ति की तथा भोगराग आदि के विस्तार की बात सारे नगर में फैल गई। राजा अम्बरीषने भी बडी भारी प्रशंसा सुनी तो उन्हें भी दर्शन करने की बड़ी भारी अभिलाषा हुई। दर्शनों की उत्सुकतासे वे अति अधीर हो गए और उसी समय शीघ्र रानी के मन्दिर मे आये॥४७॥

व्याख्या—लई बात मानि— इससे जनाया गया कि रानी के हृदय में भक्ति के संस्कार पूर्व से विद्यमान हे। निश्चय ही उसने अनेको जन्मो तक विविध साधनों के द्वारा अपने समस्त कल्मष नष्ट कर डाला है। तभी भगवत्सेवा मे इतना अनुराग है यथा—जन्मान्तर सहस्रेषु तपोध्यान समाधिभि.। नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥

निहारि''' लगाई है—छवि निहारि गोपाल की,जेहि न होइ आनन्द। नारायन तेहि जानिये, यहो चौथ को चंद॥ 'भई बढ़वारि''' छाई है'—

रंगी प्रेम रंग सों नृपरानी। तजी लाज अरु कुल की कानी॥
बोलि सकल पुर के हलवाई। लगी रचावन ढेर मिठाई॥

प्रति दिन हरि को लागत भोगू। आवैं सकल नगर के लोगू॥
पावहिं सकल कृष्ण परसादा। गावहिं सुजस सहित अहलादा॥
पुनि डौंड़ी पुर महँ पिटवाई। आवै इत पुरजन समुदाई॥
जो ऐहैं प्रसाद सो पैहैं। विमुख कोउ इत ते नहिं जैहैं॥

यह सुनि पुरजन दिवस प्रति, हरि दरशन को लेन।
रानी मन्दिर आवहीं, पावहिं अतिशय चैन॥ (रा० र०)

अब तो श्रीअयोध्या में सबके घर चूल्हा-चक्की चेतना बन्द हो गया। लोग प्रसाद से ही तृप्त हो जाते अखण्ड नाम-संकीर्तन, कथा-सत्सङ्ग का अलौकिक आनन्द उमड़ता रहता।

नृपहू सुनत—पुरवासियोंके मुँखसे तो सुनेही, विशेषकर नारदजी के द्वारा सुने। बात यह हुई कि रानीके भक्तिभावकी चर्चा नारदजीके भी कान पड़ी तो वे कौतुकी तो ठहरे ही, चलपड़े, रानीकी भक्ति-भावनाको देखनेकेलिये॥ सर्वप्रथम तो नारदजी राजाके पास गये। राजाने वड़े प्रेमसे बैठनेको आसन दिया, तथा कुछ मेवा-मिष्ठान्न प्रसाद दिया। तब तक श्रीनारदजीको कीर्तनकी ध्वनि सुनाई पड़ी तो पूछे—यह कीर्तनकी आवाज कहाँसे आ रही है। राजाने सब बात बताग्री। श्रीनारदजी वोले—अच्छा तो मैं रानीजीके भी ठाकुरजीका दर्शनकर आऊँ। यह कहकर चल दिये। श्रीनारदजी जब वहाँ पहुँचे तो वहाँ का आनन्द देखकर मुग्ध हो गये। जाते ही रानीने वड़ी श्रद्धासे अर्घ्य पाद्यादि से देवर्षिका पूजन किया, फिर छप्पन भोग प्रसाद सामने आया। श्रीनारदजीने कुछ खाया और कुछ रख लिया राजाको दिखानेके लिये। थोड़ी देर रहकर श्रीठाकुरजीको प्रणामकर वहाँसे पुनः राजाके पास आये। सोचते हुये आ रहे हैं कि राजा तो थोड़ेसे किसमिस वादामपर ही हम लोगोंको टाल देते है, परन्तु यहाँ तो वड़े भावकी सेवा है रानीने तो वाजी मारली है। इस प्रकार रानीकी भक्तिसे प्रभावित मुनिराज राजाके पास आकर रानीकी सेवा-पूजा, भक्ति-भावकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुये वोले कि महाराज! आज तक तो मैं सभाओंमें, समाजमें आपकी भक्तिको ही सराहता था परन्तु आज तो मैंने आँखों देखा—रानी आपसे भी आगे निकल गईं।

तब लागी चोप देखिवे की—क्योंकि जब नारदजी प्रशंसा कर रहे हैं तो अवश्य ही भक्ति विशेष है। क्योंकि 'मृषा न होइ देवरिषि भाखा।' अतः 'अवसि देखिअहि देखन योगू।' आये ...... अकुलाई है—राजा वड़ी शीघ्रतासे अपना दैनिक सेवाकार्य सम्पन्नकर, रानीके यहाँ जानेका उचित समय शोधकर वड़ी उतावली से चले। एकबात यहाँ ध्यान रखनेकी है कि राजाका यह जाना रानीके यहाँ नहीं वल्कि प्रभु अनुरागिणी वड़भागिनी भागवतीके यहाँ समझना चाहिये। राजा रानियोंसे उदासीन हैं न कि भगवद्-भक्तों से। भक्तोंमें तो अगाधभाव है।

हरे हरे पांव धरै पौरियान मने करै खरे अरबरै कब देखौं भागभरी को।
गये चलि मन्दिर लौं सुन्दरी न सुधि अङ्ग रङ्ग भीजि रही दृग लाइरहे झरी को॥
बीन लै बजावै गावै लालन रिझावै त्योंत्यों अति मनभावै कहैं धन्य यह घरीको।
द्वार पै रह्यो न जाय गये ढिग ललचाय भई उठि ठाढ़ि देखि राजा गुरु हरीको॥४८॥

शब्दार्थ—हरे-हरे=धीरे-धीरे। पौरियान=द्वारपालोंको। भागभरी=भाग्यशालिनी। खरे=चोखे, प्रेम विशुद्ध, खड़े। अरवरे=आतुर विशेष।

भावार्थ—मेरे आनेका पता रानीको न लगे, उनके कीर्तनमें बाधा न हो, उनको प्रेममग्न दशा को मैं छिपकर देखूं इसलिये धीरे-धीरे पैर रखते हुए राजा अम्बरीषजी द्वारपर पहुंचे। द्वारपाल राजाकी जय-जयकार करके आनेकी सूचना रानीको देना चाहतेही थे कि राजाने उनको इशारेसे मना कर दिया। विशुद्ध प्रेमातुर राजाने थोडी देर वहीं खडे रहकर प्रेमगानकी ध्वनि सुनी। उसके बाद वे ललचाये कि सौभाग्यशालिनी भक्ताको कब देखूं। राजासे रहा न गया। भीतर मन्दिरके द्वारपर जाकर देखा कि—उस प्रेमवती रानीको अपने शरीरकी सुधि नही है क्योकि वह प्रेमके आनन्दमे मग्न हैं। उसके नेत्रोंने आँसुओकी झडी लगा रक्खी है। रानी वीणा बजाते हुए गा-गाकर अपने प्यारे लालको ज्यो-ज्यों प्रसन्न करती है, त्यों-त्यों रानीकी वह दशा राजाके मनको बहुत प्यारी लग रही है। अपना अहोभाग्य मानकर राजाने मनमे कहा कि—इस घड़ीको धन्य है अब राजासे मन्दिरके द्वारपर न रहा गया, ललचाकर रानी के समीप गये। रानी अपने भक्तराज राजा, गुरु और हरिको आया देखकर उठ खड़ी हुई ॥४८॥

व्याख्या—हरे'' धरें—जिससे रानीको आनेकी आहट न मिले। **पौरियान मनें करें**—वे नित्यके अभ्यासवश महाराजकी जयजयकार करनेलगे तो आपने मनाकरदिया। 'देखों भाग भरीको'—सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी ॥ **सुन्दरी'''' झरी को**—यह सब प्रेमके सात्विक-भाव हैं। भगवानका दर्शनकर प्रेममें शरीरकी सुधि नही रह जाती है। यथा—'राम देखि मुनि देह बिसारी।' 'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ विदेह विदेह विशेषी।' 'भये मगन सब देखन हारे। जनक समान अपान बिसारे।' 'देखि भानुकुल भूषनहिं, बिसरा सखिन्ह अपान॥' धन्य यह घरी—'धन्य घरी सोइ जब सत्सङ्गा।'

भई उठि''''हरी को—महाराज अम्बरीषजी रानीके लिये सब विधि सम्मान्य हैं। एक तो पति है,दूसरे राजा हैं, तीसरे श्रीठाकुर-सेवाका उपदेश दिये हैं यथा—'मानो मन्त्र लै सुनायो कान' अतः गुरु है यथा—एकाक्षर प्रदातारं गुरुं यो हि न मन्यते। श्वानजन्म शतं लब्ध्वा नरकेषु पतन्ति वै॥ अर्थ—मात्र एक अक्षरके उपदेशक भी माननीय हैं, जो उपदेशक गुरुको नही मानता है वह सौ बार कुत्ते की योनि पाकर नरक मे गिरता है। चौथे पति होनेसे, राजा होनेसे, गुरु होनेसे तथा ईश्वरांग होनेसे एव परम भागवत होनेसे श्रीहरि भी हैं। स्त्रीके लिये उसका पति परमेश्वर ही होता है। यथा—भर्ता-नाथो गुरुर्भर्ता देवता दैवतैः सह। भर्ता तीर्थश्च पुण्यश्च नारीणां नृपनंदन॥ (प०पु०) राजाभी ईश्वररूप होता है। यथा—'नाराणां च नराधिप.।' गुरु तो ईश्वररूप है ही। यथा—'गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।' श्रीअम्बरीषजी ईश्वराग है। देखिये जन्म प्रसग। तथा परम भागवत और भगवन्त एक ही है। यथा—'भगत भगति भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक।' पुन. 'संत भगवंत अन्तर निरंतर नहीं किमपि मति विमल कह दास तुलसी।' अतः हरीको कहा।

वैसेही बजाओ बीन तानिनि नवीन लैके झीन सुर कान परैं जाति मति खोइये।
जैसे रङ्ग भीजि रही कही सो न जात मोपैं ऐपैं मन नैन चैन कैसे करि गोइये॥
करिकैं अलापचारी फेरिकैं सँभारितान आइगयो ध्यान रूपताहि मांझ भोइये।
प्रीति रस रूप भई राति सब बीति गई नई कछु रीति अहो जामें नहिं सोइये॥४६॥

शब्दार्थ—वीन=वीणा। झीन=महीन, मधुर, कोमल। सुर=स्वर। रङ्ग भीजि=प्रेम में सरावोर। गोइये=छिपाइये। अलापचारी=संगीतमें सातों स्वरोंका राग सहित उच्चारण। भोइये=भीजिए, लीन होइये।

भावार्थ—रङ्गको भङ्ग होते देखकर राजाने कहा कि—तुम जिसप्रकार नई-नई विचित्र तानों को लेकर वीणा बजा रही थी उसी प्रकार वजाओ। झीना मधुर स्वर कानमें पड़नेसे इतना आनन्द आता है कि मति विभोर हो जाती हैं। तुम जिस प्रकार आनन्दमें मग्न हो रही थीं, उसका वर्णन मुझसे नही हो सकता है। मधुर कीर्तन सुनकर और प्रेमविभोर भक्त-भगवत्का दर्शनकर मेरे कान, नैन तथा मनको जो अपार सुख हुआ है उसे मैं कैसे छिपाऊँ। यह सुनकर रानीने सावधानीसे फिर वीणा सँभाली और स्वरोंको साधकर गाना आरम्भ किया, जिससे दोनों श्यामसुन्दरकी रूप माधुरीके ध्यानमें मग्न होगये। हृदयमें प्रेमरस रूपा भक्ति भर गई। अनुराग रङ्गमें आनन्द लेते हुए सारीरात वीतगई। अहो! प्रीति की रीति वड़ी ही विचित्र है, इसमें तमोगुणी निद्राका अभाव है। यहाँ तो प्रेम समाधि है ॥४९॥

व्याख्या—कही सो न जात गोपै—अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम् ॥ मूकास्वादनवत् ॥ (ना०भ०सू०) अर्थ—प्रेमका स्वरूप अवर्णनीय है। जैसे गूँगे का गुड़ ॥

करि कै ... भोइये—

बसो मेरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनि मूरति साँवरी सूरति नैना बने विशाल।
अधर सुधारस मुरली राजत उर वैजन्ती माल ॥
क्षुद्र घंटिका कटि तट शोभित नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भक्त वछल गोपाल ॥

प्रीति रस रूपभई राति—तमोमयी राति प्रेमियोंके सम्मिलनसे प्रेमरूपा होगई 'जामें नहिं सोइये'—अजव प्रीति की रीति है, गजव करै सव ठौर। क्षुधा नींद आशा नसी, विनु हरि रहा न और ॥

बात सुनी रानी और राजा गये नई ठौर भई सिर मौर अब कौन वाकी सर है।
हमहूं लै सेवा करैं पति मति वशकरैं धरैं नित्य ध्यान विषय बुद्धि राखी धर है ॥
सुनिकै प्रसन्न भये अति अम्बरीष ईस लागी चोप फैलि गई भक्ति घर घर है।
बढ़ै दिन दिन चाव ऐसोई प्रभाव कोई पलटै सुभाव होत आनँद को भर है ॥५०॥

शब्दार्थ—सिरमौर=श्रेष्ठ। सर=समान। धर=दूर। चोप=इच्छा, उत्साह, शौक। भर=पूर्णता।

भावार्थ—दूसरी रानियोंने जव यह वात सुनी कि—राजा नई रानीके मन्दिरमें गए। और भगवद् गान सुनते-सुनते उन्होंने सारी रात वहीं विताई। वे आपसमें कहने लगीं कि—अव तो नई रानी हम सवोंमें श्रेष्ठ हो गई। उसके समान राजाकी कृपापात्र कौन-सी रानी है अर्थात् कोई नहीं। फिर सवों

ने यह निश्चय किया कि—हम लोग भी सभी इन्द्रियोंके संसारी विषयोंको मनसे दूर हटा दें और भगवान श्याम सुन्दरकी सेवा करें। नित्य प्रेमसे उनका ध्यान धरें। इस प्रकार अपनी भक्तिसे भक्तराज अपने पति के मनको हम भी अपने वशमें करें और उनकी कृपा प्राप्त करें। अपने इन विचारोंके अनुसार सभी रानियां तन-मन-धन से सेवा करने लगी। यह सुनकर राजा अम्बरीष अति प्रसन्न हुए और उनके मन्दिरों में जा-जाकर उनके प्रेम के दर्शन करने लगे। इससे प्रभावित होकर राज्य की समस्त प्रजा भी अपने-अपने घरों में भगवान की सेवा करने लगी। इस प्रकार घर-घरमें भक्ति फैल गई। यह भक्ति की रुचि दिन-दिन बढ़ती ही जाती थी। जैसे एक प्रेमवती रानी के प्रभावसे भक्तिका विस्तार हुआ, इसी प्रकार जब किसी भक्तका प्रभाव होता है, तब लोगोंका विषयी स्वभाव बदल जाता है और लोग प्रेम के आनन्दसे परिपूर्ण हो जाते हैं ॥५०॥

व्याख्या—जिस दिन से राजाने छोटी रानीका भक्ति भाव देखा उसी दिनसे अब नित्य ही रानीके यहाँ कीर्तनका आनन्द लेने के लिये जाने लगे। इस नई लगन में अब अपने श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजामे भी शीघ्रता होने लगी। राजाको सदा रानी के यहाँ जाकर पद-कीर्तन सुनने की त्वरा बनी रहती अतः जल्दी-जल्दी श्रीठाकुरजी को नहला-धुलाकर, चन्दन-तिलक लगाकर, कुछ भोग अर्पित कर आरती-स्तुति भी शीघ्रता पूर्वकही करके सेवा-पूजासे निवृत्त होकर रानीके यहाँ जा विराजते। परिणाम यह हुआ कि एक दिन श्रीठाकुरजी को कहना पड़ा कि महाराज! यदि आपसे सेवा नही बन रही है तो हमें भी वहीं पहुँचा दीजिये फिर तो आप निश्चिन्त होकर वहीं रहिये। सच बात तो यह थी कि श्रीठाकुरजी की भी इच्छा हो रही थी ऐसी महाभागवतीका दर्शन करने की। जैसे शबरी और ध्रुवजीके दर्शनके लिये आप लालायित भये थे उसी प्रकार रानी के भी भक्ति भाव से आकर्षित होकर दर्शनार्थ त्वरित हो रहे थे। 'बात सुनी·· ·····ठौर'—'छन महँ व्यापेउ सकल पुर घर घर यह सम्वाद।'

भई-सिरमौर—छोटी थी बड़ी हो गई। यह भक्ति की महिमा है। भगवत् कृपा है। सत्सङ्ग का प्रभाव है। यथा—

> सो सुकृती सुचिमन्त सुसन्त सुजान सुशील सिरोमनि स्वै।
> सुर-तीरथ तासु मनावत आवन पावन होत हैं ता तनु छ्वै॥
> गुन गेह सनेह को भाजनसो सबहीं सो उठाइ कहौं भुज द्वै।
> सतिभाँय सदा छल छांड़ि सबै तुलसी जो रहै रघुवीरको ह्वै॥ (कवि०)

पुनः—'जो बड़ होत सो राम बड़ाई।' 'केहि न दीन्ह रघुबीर बड़ाई।' 'संतत दासन्ह देहि बड़ाई।' पुनः—'केहि न सुसङ्ग बड़प्पन पावा।' अतः भई सिर मौर।

विषय बुद्धि टारी घर है—क्यों कि— जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम। तुलसी कबहुँकि रहि सकै, रवि रजनी एक ठाम॥ 'सुनि कै·· ·· ·· चोप'—अब तो महाराज को सभी रानियों के यहाँ से कीर्तनका निमन्त्रण आता और आप सहर्ष उनके यहाँ जाते। सबके महल मन्दिर हो गये, सर्वत्र ठाकुर सेवा का साज सज गया। 'फैलि······ ··· घर है'—धीरे धीरे समस्त नगर में घर-घर भक्ति महारानी का साम्राज्य हो गया। यह सब छोटी रानी की भक्ति का प्रताप है। कोई आश्चर्य नहीं। भक्तिमान तो त्रैलोक्यको पुनीत करनेमें समर्थ होता है। यथा—'मद्भक्ति युक्तो भुवनं पुनाति' (भागवत)

पलटै सुभाव—वैसे तो स्वभावको अमिट कहा गया है। यथा—'स्वभावो दुरति क्रमः।' 'अतीत्य हि गुणान्सर्वान् स्वभावो मूर्ध्निवर्तते।''स्वभावो यादृशो यस्य न जहाति कदाचन।' सदृश चेष्टते स्वस्याःप्रकृतेर्ज्ञानवानपि।' पुनः—कोटि जतन कीजै तऊ प्रकृतिहिं परै न बीच। नलबल जल ऊँचो चढ़ै, अन्त नीच को नीच ॥ (विहारी) परन्तु भक्ति प्रताप स्वभाव को भी वदलने में समर्थ है।

दृष्टान्त—राज कन्या और श्वपच का—एक श्वपच राजकुमारी के रूप लावण्य को देख कर अत्यन्त आसक्त हो गया। परन्तु उसकी प्राप्ति को परम दुर्लभ जानकर चिन्ता मे अन्न जल ग्रहण करना छोड़ दिया। खाट पर पड़ा-पड़ा आहें भरता रहता। तब उसकी स्त्री ने उससे जव दुःख का कारण पूछा तो प्रथम तो उसने टाल-मटोल किया परन्तु हठ करने पर अपनी मानसिक व्यथा को व्यक्त करते हुए जीवन को राजकुमारी के आधीन वताया। 'अर्थात् 'मैं न जियव विनु राज-कुमारी।' उसकी स्त्रीने उसे आश्वासन दिया और स्वयं राजकुमारी के पास जाकर हाथ जोड़ कर खड़ी भई। पूछने पर जव उसने अपने पति का सव हाल-हवाल वताया तो राजकुमारी वड़े धर्म सकट मे पड़ गई। एक ओर तो अपने चरित्र की रक्षा, दूसरी ओर उसके प्राण की रक्षा। उसने भगवानका स्मरण किया, प्रभुने प्रेरणा की, राजकुमारी को उपाय सूझ गया—भक्ति में स्वभाव सुधारने की अद्भुत शक्ति है—अतः उसने भंगिन से कहा कि तुम अपने पतिसे कह दो कि वह वनमे जाकर भगवानके चरणारविन्दों का ध्यान करे, जव वह ध्यान में निरन्तर मग्न रहने लगेगा तव मैं उसके पास चलूँगी। पत्नी की वात सुनकर भंगी ने वैसा ही किया। फल स्वरूप उसकी वड़ी प्रसिद्धि भई। नगरके सब लोग दर्शनार्थ आने जाने लगे। परन्तु वह तो किसी की ओर देखे ही नहीं। उसे ध्यानका सुख मिलने लगा था। निदान एक दिन राजकुमारी भी पिताकी आज्ञा लेकर दर्शनका वहाना वनाकर उसके पास गई। संग में वहुत से पक्कवान मिठाइयां ले गई थी। सामने धर कर प्रसाद ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगी परन्तु उसने तो आंख ही नहीं खोला। तव उसने वहाँ उपस्थित सभी लोगों को हटाकर एकान्त में कहा–मैं वही हूँ जिसके लिये तुम श्रीकृष्ण-चरणारविन्दों का ध्यान कर रहे हो। जव दो-चार वार राजकुमारी ने यह वात कहा तो वह धीरे-धीरे आंख खोलकर मुस्करा कर वोला—राजकुमारी! यह तुमने ठीक कहा है कि मैं वही हूँ परन्तु ध्यान रखो अव मैं वह नही हूं। तो राजकुमारीने उसकी वड़ी प्रशसा किया और कहा कि इसीलिये तो मैंने यह उपाय कहा था। सो वह उपाय सफल हुआ। विषयोंकी ओर से मन हटकर भगवान में लग गया यह वड़े हर्ष की वात है। उसने भी राजकुमारी को गुरु मानकर प्रणाम किया।

इसी प्रकार श्रीअम्वरीपजीकी रानियों ने जो राजाको वशमे करनेके लिये भक्तिका स्वाँग किया था वह भक्ति के प्रताप से सत्य हो गया, रानियोंका मन भगवानमें लग गया। विषय-वुद्धि दूर हो गई। तभी तो कहा गया है—'स्वांगहु करत सांच होइ जाय' 'झुठ-मुठ खेलै सच-मुच होय। सच मुच खेलै विरला कोय।' अतः पलटै सुभाव कहा।

दृष्टांत—कालूधीमर का—जंगलमें एक सुन्दर सरोवर था। जिसके लिये राजाज्ञा थी कि इसमे कोई मछलियों का शिकार न करे। एक दिन कालू नामका धीमर चोरी से सरोवर मे जाल डालकर मछलियों का शिकार कर रहा था। इतने मे राजा की सवारी उधर को ही आती दिखाई पड़ी। धीमर डर गया। वचाव का और कोई उपाय न देखकर तत्काल जाल समेट कर कीचड़ में गाड़ दिया और स्वयं धूल-मिट्टी लपेट कर साधु का स्वाँग करके ध्यान लगाकर वैठ गया। राजाने देखा तो वड़े

प्रभावित हुये कि कैसे एकान्तवासी महात्मा हैं। परम अकिंचन हैं। राजा ने प्रणाम किया और बहुत से मणिरत्न भेंट किये। राजा की देखा-देखी सभी लोगों ने प्रणाम किया और यथा शक्ति भेंट की। जब सब लोग चले गये तो कालू ने आँख खोला सामने रजत-स्वर्ण-मणियों की ढेरी देखकर विचार करने लगा कि जब एक क्षण के साधु वेष धारण करने का यह फल है तो सदा सर्वदाकी तो बात ही क्या कहनी है? बस, उसका भी पलट्यौ स्वभाव। साधु ही हो गया॥

श्रीभगवत रसिकजी कहते हैं कि—तात ऋषभ सों होय मात मंदालस जानौ। पुत्र कपिल सो मिलै मित्र प्रहलादहिं मानौ॥ भ्राता विदुर दयाल योषिता द्रुपददुलारी। गुरु नारद सों मिलें अकिंचन पर उपकारी॥ भर्तानृप अम्बरीष सों, राजा पृथु सों जो मिलै। भगवत भवनिधि उद्धरैं चिदानंद रसमें झिलै॥

श्री विदुरजी—महात्मा माण्डव्य के शापसे साक्षात् धर्मराज ही विदुर रूप मे उत्पन्न हुये थे। कथा इस प्रकार है—एकबार राज पुरुषों द्वारा पीछा किये जाने पर बहुत से चोर चोरी का माल महर्षि माण्डव्यजी के आश्रम में रखकर अपने भी वही छिप गये। मुनि ध्यानस्थ थे। उन्हें इस बात की किंचित जानकारी नही थी। अतः राज पुरुषों के पूछने पर उन्होंने कुछ नहीं कहा। तब उन राज पुरुषों ने आश्रम मे खोज-बीन प्रारम्भ की तो चोर एवं चोरी का माल, दोनो ही बरामद हुये। फिर तो उनका मुनि पर भी सन्देह हो गया। और चोरों के साथ उन्हें भी राजा के सम्मुख पेश किया गया। राजाने शूली पर चढा देने का हुक्म दे दिया। अन्य चोर तो तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो गये परन्तु महामुनि माण्डव्य शूली के अग्रभाग पर बैठे हुये तप ही करते रहे। बहुत दिनों तक इस प्रकार तपोधन मुनि को शूली पर बैठे देख कर राज कर्मचारियो ने जाकर राजा से यह सब समाचार निवेदन किया। राजा तत्काल ही दौड़े आये और विविध प्रकार से अनुनय विनय कर अपराध के लिये क्षमा याचना करते हुये मुनि को शूली से उतार दिया। शूलकी किंचित अनी शरीर में प्रविष्ट हो गई थी जो निकालने का प्रयत्न करने पर भी नही निकल सकी तो उसे उतना काट दिया गया। शूलकी अनीको शरीर में धारण करने से आगे चलकर इनका नाम अणिमाण्डव्य पड़ गया।

एक बार महर्षि ने धर्मराज के पास जाकर उन्हें उलाहना देते हुये कहा—मैंने अनजानमें कौन-सा ऐसा पाप किया है जिसके फलका भोग मुझे इस रूप मे प्राप्त हुआ? मुझे शीघ्र इसका रहस्य बताओ और फिर मेरी तपस्या का बल देखो। धर्मराज ने कहा—आपने बाल्यावस्था में एक पतिंगे के पुच्छभाग में सीक घुसेड़ दिया था उसी का यह फल मिला। ऋषि ने कहा—एक तो बाल्यावस्था मे, धर्मशास्त्रका ज्ञान नही होता, दूसरे तुमने थोड़े से अपराध मे मुझे बहुत बड़ा दण्ड दिया है अतः मैं तुम्हे शाप दूँगा। धर्मराजने कहा कि यदि आप मुझे शाप ही देना चाहते हैं तो कृपा कर राजा, दासी पुत्र एवं चाण्डाल होने का शाप न दीजियेगा। मुनि ने क्रुद्ध होकर कहा—तुम तीनों हो जाओ। इसी शापके फल स्वरूप धर्मराजने राजा युधिष्ठिर,दासीपुत्र विदुर एवं श्वपच भक्त वाल्मीकके रूपमें जन्मलेकर मुनिके शाप को सफलकिया। माता सत्यवतीकी आज्ञा होने पर भगवान वेद व्यासजीने नियोग विधिसे अम्बिकाकी दासीके गर्भ से महामना विदुरजी को जन्म दिया। इनको अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, स्वार्थ तथा परमार्थादिका सम्यक् बोध था। आत्मकल्याणको आप जीवन का परम लक्ष्य मानते थे इस सम्बन्ध में आपका कथन है कि—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् । ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥
(म० भा०)

अर्थ—कुल के हित के लिए एक व्यक्ति को त्याग दें, गांव के हित के लिये एक कुल को छोड़ दें, देशके हितके लिये एक गांव का परित्याग कर दें, और आत्मा के कल्याण के लिये सारे भूमण्डल को त्याग दें ॥

धर्मावतार श्रीविदुरजी सदा धर्मका समर्थन करते थे। यही कारण था कि अधर्मरत धृतराष्ट्र पुत्रों से इनकी नहीं पटती थी। धर्मपरायण पाण्डु पुत्रों में इनका सहज स्नेह था। समय-समय पर कौरवों के कुचक्र से बचने के लिये इन्होंने पाण्डवों को बराबर आगाह किया। लाक्षा गृहका भेद, वहाँ से बचकर निकल भागने के लिये प्रथम से ही सुरङ्ग व्यवस्था, नदी पार करने के लिये नाव और नाविकका भेजना, पाण्डवों को आधा राज्य देकर सन्तुष्ट रखने के लिये धृतराष्ट्रसे अनुरोध, श्रीयुधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञ में दान-धर्माध्यक्षता, द्यूत क्रीडा के प्रस्तावका घोर विरोध, जूए के अवसर पर धृतराष्ट्र, दुर्योधन, कर्ण, दुःशासनादिको चेतावनी देना, द्रोपदी को सभा-भवन में लाने के सम्बन्ध में दुर्योधन के आदेश की भर्त्सना, सभासदों को द्रोपदी के प्रश्नों का समुचित उत्तर देने के लिये प्रेरित करना, वनवास के समय पाण्डवों को धर्म पूर्वक रहने का उपदेश देना, समय-समय पर वनमें जाकर पाण्डवोंको सान्त्वना देना, धृतराष्ट्रको नीति-धर्मका उपदेश देना (जिसे विदुर नीति कहते हैं) कौटुम्बिक कलह एवं लोभ से हानि बताते हुए धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णकी बात मान लेने के लिये समझाना श्रीकृष्णका स्वरूप प्रतिपादन करते हुए उनकी भक्ति करने का अनुरोध करना आदि श्रीविदुरजी की धर्मपरायणता के सूचक कार्य हैं। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी श्रीविदुर एवं विदुरानी के श्रीकृष्ण-प्रेम का एक मधुर प्रसंग वर्णन करते हैं—

न्हात ही विदुर नारि अंगन पखारि करि आइ गये द्वार कृष्ण बोलिकै सुनायो है।
सुनत ही स्वर सुधि डारी लै निदरि मानो राख्यो मद भरि दौरि आनिकै चितायो है॥
डारि दियो पीतपट कटि लपटाय लियो हियौ सकुचायो वेष वेगि ही बनायो है॥
बैठी ढिग आइ केरा छीलि छीलका खवाइ आयो पति खीझयो दुःख कोटि गुनो पायो है।५१।

शब्दार्थ—निदरि=निरादर करके। मद=नशा, हर्ष। चितायौ=चितयो, देख्यौ।

भावार्थ—जिस समय विदुर की स्त्री हाथ पैर धोने के बाद मात्र एक ही वस्त्र होने के कारण नग्न स्नान कर रही थीं उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण आये और उन्होंने द्वार परसे ही पुकारा। भगवान का मधुर स्वर सुनते ही वे मानो हर्ष से भरी मतवाली हो गईं। इसलिए उन्होंने शरीरकी स्मृतिका निरादर करके उसे फेंक दिया अर्थात् उन्हें शरीर का होश नहीं रहा। वे दौड़कर आईं, किवाड़ खोलकर उन्होंने श्रीकृष्ण के दर्शन किए। भगवान ने उन्हें प्रेम विह्वल देखकर अपना पीताम्बर उनके ऊपर डाल दिया। तब विदुरानीजीको कुछ होश आया और उन्होंने पीताम्बरको कमरसे लपेट लिया। उनके मनमें बड़ा संकोच हुआ। शीघ्र ही उन्होंने भीतर जाकर वस्त्र धारण कर लिए। फिर आकर भगवानके निकट

वैठ गईं। भगवान्ने कहा कि—काकी! मुझे तो भूख लगी है। तव वे केला लेआईं और पुनः प्रेम विवश वेसुध होकर केला छील-छीलकर छिलका खिलाने लगीं। भगवान् वड़े चावके साथ छिलके खा रहे थे। इतनेमे विदुरजी आगए और इस दृश्यको देखकर वहुत झुँझलाए। विदुरानीजीको जव अपनी भूलका पता चला तव उन्हें विदुरजी से कोटि गुना अधिक दुःखहुआ ॥५१॥

व्याख्या—भगवान् श्रीकृष्ण जव कौरव-पाडवोमें सन्धि स्थापनके लिये शान्ति दूत वनकर हस्तिनापुर गये, दुर्योधनने स्वागतकी वड़ी भारी तैयारी की थी। श्रीकृष्ण, भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्रादिसे मिलकर दुर्योधनके आग्रह पर उसके महलमे गये। उस समय दुर्योधनने हृदयमें प्रीतिका अभाव होनेपर भी ऊपर से वहुत-वहुत प्रेमका प्रदर्शन करते हुये श्रीकृष्णको भोजनके लिये आमन्त्रित किया; परन्तु केशव ने उस निमन्त्रणको स्वीकार नही किया। जव दुर्योधनने इसका कारण पूछा तो भगवान्ने कहा—सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः। न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥(म०भा०) अर्थ—किसीके घरका अन्न या तो प्रेमके कारण भोजन किया जाता है या आपत्ति पड़नेपर। नरेश्वर! तुम तो प्रेम नही रखते और हम किसी आपत्तिमें नही पड़े है॥ पुनः—

द्वै विध भोजन कीजै राजा विपति परे कै प्रीति।
तेरी प्रीति न मोहि आपदा यहै वड़ी विपरीति॥
ऊँचे मन्दिर कौन काम के कनक कलशजु चढ़ाये।
भक्त भवन में मै जु वसत हौं यद्यपि तृणकरि छाये॥
अन्तर्यामी नाम हमारो हौं अन्तर की जानौं।
तद्यपि सूर, भक्त वच्छल हौं भक्तन हाथ विकानो॥

दूसरा कारण यह है कि इस समय मैं दूत वनकर आया हूँ और नियम यह है कि दूत अपना प्रयोजन सिद्ध होनेपर ही भोजन और सम्मान स्वीकार करते हैं। तुम भी मेरा उद्देश्य सिद्ध होजाने पर ही मेरा और मेरे मन्त्रियोंका सत्कार करना। तीसरा कारण यह है कि—द्विपदन्नं न भोक्तव्यं द्विषंतं नैव भोजयेत्। पाण्डवान् द्विषसे राजन् मम प्राणाः हि पाण्डवाः॥ (म०भा०) अर्थ—जो द्वेष रखता हो उसका अन्न न तो खाना चाहिये और न उसे खिलाना चाहिये। राजन्! तुम पाण्डवोसे द्वेष रखते हो और पाण्डव मेरे प्राण हैं। ऐसा कहकर महावाहु श्रीकृष्ण उसके भव्य भवनसे वाहर निकलकर ठहरनेके लिये महात्मा श्रीविदुरके घर गये। संयोगकी वात—श्रीविदुरजी उस समय श्रीकृष्णसे ही मिलनेके लिये धृतराष्ट्रके महलमे गये थे। यथा—

हरि ठाढे रथ चढ़े दुवारे।
तुम दारुक आगे ह्वै देखहु भक्तभवन किधौं अनत सिधारे॥
सुनि सुंदरि उठि उत्तर दीन्हों कौरवसुत कछु काज हुंकारे।
तहँ आये यदुपति कहियत हैं कमलनयन हरि हितू हमारे॥
तिहि को मिलन गयो मेरो पति ते ठाकुर हैं प्रभू हमारे॥
सूर सुप्रभु सुनि संभ्रम धाये प्रेममगन तन वसन विसारे॥

श्रीविदुरानीजी उस समय स्नानकर रही थी। श्रीप्रभु द्वार पर खड़े पुकार रहे हैं—

खोलो विदुरजी ! विदुरजी ! पट कृष्ण यों रटने लगे।
भव बंध मानो विदुर के तत्काल ही कटनें लगे॥
भगवान खोलो कह रहे यह बँध गये किस डोर से।
सत्प्रेम की जँजीर से जकड़े हुये चहुं ओर से॥

सुनत……खिलायो है—विरहिनि के श्रवननि परैं, जो प्रियतम के बैन। सुधि बिसरै तन भवन की, ऐसो आवत चैन॥ 'छीलिका खवाय'—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्यु पहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ (गीता) अर्थ—हे अर्जुन ! पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है उस शुद्ध बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र पुष्पादिक मैं प्रीति सहित खाता हूँ॥ पुनश्च—

रहिमन रहिला की भली, जो परसत मन लाय।
परसत मन मैला करे, सो मैदा जरि जाय॥
तत्ववेत्ता तिहुं लोक में भोजन कियो अपार।
कै शबरी कै विदुर घर, रुचि मानी दुइ बार॥

प्रेम को विचार आपु लागे फलसार दैन चैन पायो हियो नारि बड़ी दुखदाई है।
बोले रीझि श्याम तुम कीनो बड़ोकाम ऐपै स्वाद अभिराम वैसी वस्तुमें न पाई है॥
तिया सकुचाय कर काटि डारौं हाय प्राणप्यारेको खवाई छीलि छीलिका न भाई है।
हित ही की बातें दोऊ पार पावैं नाँहि कोउ नीकेकै लड़ावै सोई जानै यह गाई है॥५२

शब्दार्थ—फलसार=गूदा, गिरी। लड़ावै=प्यार करै।

भावार्थ—विदुरजीने विचारा कि प्रेमवश वेसुध होकर ही भूलसे उसने छिलके खिलाए और इन्होंने भी खा लिये। अब आप अपने हाथसे केला छील-छीलकर गूदा खिलाने लगे। मनमें कुछ सुख और शान्ति आई। भगवान्‌से बोले कि—प्रभो ! यह स्त्री बडा दुख देने वाली है जिसने आपको छिलके खिला दिये। भगवान् प्रसन्न होकर बोले कि—काकाजी ! आपने यह बड़ा भारी काम किया कि मुझे फलसार खिलाया। पर जैसा सुन्दर स्वाद उस वस्तु में था, वैसा इसमें नहीं है। वैसी वस्तु तो मैंने कभी कहीं नहीं पाई है। विदुरानीजो संकुचित होकर कह रही थीं—हाय ! मैं क्या करूँ, इन हाथोंको काट डालूँ, जिनसे अपने प्राणप्यारे लालको मैंने छिलके खिलाये। छिलके प्रभुको कैसे लगे होंगे। यह बात मुझे अच्छी नहीं लगी। प्रियादासजी कहते हैं कि—विदुरानीजी का छिलके खिलाना तथा विदुरजीका केलाकी गिरी खिलाना ये दोनों बातें प्रेमकी ही हैं। उसका कोई पार नहीं पा सकता है। जो कोई श्यामसुन्दरसे भली-भाँति प्रेमकरे वही रहस्यको जान सकता है। यह बात प्रेमकी पोथियोंमें गाई गई है। मैंने तो यहाँ केवल चरित्रका गान किया है, भला मैं प्रेमको क्या जानूँ॥५२॥

व्याख्या—बोले रीझि…… पाई है—भगवान्‌ने केलेके छिलकोंमें विदुरानीके हृदय में उमड़ते हुए अनुरागको देखा, पाया, खूब तृप्त होकर पाया। बादमें श्रीविदुरजीने फलसार खिलाया,

और फिर बादमे रसोई भी तैयार करायी। भगवान्‌ने उसे भी पाकर बड़ी सराहना किया कि 'तुम कीनो बड़ो काम' लेकिन इसमें वह स्वाद नही आया, जो छिलकोमें था। श्रीप्रभुके यह वचन सुनकर विदुरानी का संकोच तो दूर हो गया परन्तु विदुरजी संकुचित हो गये। तव भक्त वत्सल भगवान उनका संकोच मिटानेके लिये उनके जंघापर सिर रखकर उनकी गोदमें सो गये। विदुरजीके जंघेपर भगवानके कुण्डल की अमिट छाप लग गई। हरद्वारमें जव श्रीमैत्रयजी ने देखा तो इनके भाग्यकी वड़ी सराहना किये। हित ही की वातें दोऊ—इस पर दृष्टांत-दो भक्तोका। (देखिये कवित्त ११)

सोई जानै—

जो जानै मानै सोई मानै क्यों विन जान। पीर प्रसूती की कहा जानत वांझ अजान॥
जानत वांझ अजान नपुंसक रति सुख नाहीं। ऐसे नीरस पुरुष कहा समुझै रसमाहीं॥
भगवत नित्यविहार रसिकअनुभव उरआनै। गूढ़ वात नभजाति जाति वरही जोजानै॥

श्रीविदुरजी ने कहा—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥

अर्थ—जिस सभामे बड़े-बूढे नही, वह सभा नही, जो धर्मकी वात न कहें वे वूढे नही, जिसमें सत्य नही, वह धर्म नही, और जो कपटसे पूर्ण हो, वह सत्य नही।

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः। प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान्॥

अर्थ—राजन्! ये दोप्रकारके पुरुष स्वर्गके भी ऊपर स्थान पाते हैं-शक्तिशाली होनेपर भी क्षमा करनेवाला, और निर्धन होनेपर भी दान देनेवाला॥

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले वद्ध्वा दृढां शिलाम्। धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्॥

अर्थ—जो धनी होने पर भी दान न कर सके और दरिद्र होने पर भी तप नही कर सके इन दो प्रकार के मनुष्योंको गलेमें मजवूत पत्थर वाँधकर पानीमें डुवो देना चाहिये॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता। सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यंते कदाचन॥

अर्थ—तृणका आसन, पृथ्वी, जल, और चौथी मीठी वाणी—सज्जनोके घरमें इन चार चीजो की कभी कमी नही होती॥ (वि०नी०) एक समय धृतराष्ट्रको रातमें नीद नही आ रही थी, तव उन्होंने रातमें ही श्रीविदुरजी को वुलाकर उनसे शान्तिका उपाय पूछा। उस समय विदुरजीने धृतराष्ट्रको धर्म और नीतिका जो सुन्दर उपदेश दिया वह विदुर नीतिके नामसे प्रसिद्ध है। उपर्युक्त श्लोक वहींसे उद्धृत किये गये हैं। इसके वाद श्रीविदुरजीने ब्रह्माजीके पुत्र सनत्सुजात जैसे सिद्धयोगी एवं परमर्षि द्वारा धृतराष्ट्रको तत्वका उपदेश कराकर उनके कल्याणका मार्ग प्रशस्त किया।

सन्धिका प्रस्ताव लेकर आये हुए शान्तिदूत श्रीकृष्णके प्रयत्नो के विफल होनेपर, दुर्योधन के— पाँच गांवकी तो वात ही क्या—विना युद्धेन दातव्यं सूच्यग्रं नैव केशव।' अर्थ—हे केशव! विना युद्धके

सुईके नोक बराबर जमीन भी हम नहीं देसकते है।' इस दुराग्रहके फलस्वरूप दोनों ओरसे युद्धकी तैयारी होनेपर, चूँकि विदुरजीको युद्धमें किसीका पक्ष लेना नही था अपनी आँखोंसे अपने कुलका सर्वनाश देखना अभीष्ट नही था अतः शस्त्रका परित्यागकर वे तीर्थाटनको चले गये। अवधूत वेषमें वे तीर्थोंमे घूमते रहे। विचरते-विचरते जब मथुरापुरीमें आये तो जमुनातट पर इन्होंने परम भागवत श्रीउद्धवजी का दर्शन किया। उनसे महाभारतके युद्ध, यदुकुलके क्षय तथा भगवानके स्वधाम गमनका समाचार मिला। भगवानने स्वधाम पधारते समय महर्षिमैत्रेयको आदेश दिया था कि वे मेरे द्वारा कहे गये तत्वज्ञानका विदुरजीको उपदेश करें। उद्धवजीसे यह समाचार पाकर विदुरजी हरद्वार गये। वहाँ मैत्रेयजीसे उन्होने भगवदुपदिष्ट तत्वज्ञान प्राप्त किया और फिर हस्तिनापुर आये। हस्तिनापुर विदुरजी केवल बड़े भाई धृतराष्ट्रको आत्म-कल्याणका मार्ग प्रदर्शन करने आये थे। वे नित्य धृतराष्ट्रके समीप रहकर उन्हें धर्मचर्चा सुनाया करते थे। जिससे धृतराष्ट्रके प्रज्ञाके नेत्र खुल गये और वे गान्धारीके सहित वन जानेका निश्चय कर लिये तो श्रीविदुरजी भी उनके साथ हो लिये।

कुछ काल वाद जब धृतराष्ट्र और गान्धारी परलोक सिधार गये तो विदुरजीने घोर तपस्याका व्रत ले लिया। वे निराहार रहकर निर्जन वनमें एकान्तवास करने लगे। शून्य वनमें कभी-कभी लोगोंको दर्शन हो जाया करता था। कुछ दिनों वाद जव महाराज युधिष्ठिर अपने समस्त परिवार और सेनाको साथ लेकर वनमें अपने ताऊ-ताईको देखने गये थे, उसीसमय उन्हें विदुरजी दूरपर दिखाई दिये। वे सिर पर जटा धारण किये हुये थे, मुखमें पत्थर दवाये थे और दिगम्वर वेष वनाये हुये थे। वे आश्रमकी ओर देखकर लौटे जारहे थे। युधिष्ठिरजी उनसे मिलनेके लिये उनके पीछे दौड़े और जोर-जोरसे अपना नाम वताकर उन्हे पुकारने लगे। घोर जंगलमें पहुँचकर विदुरजी एक वृक्षका सहारा लेकर स्थिर भावसे खड़े होगये। राजा युधिष्ठिरने देखा कि विदुरजीका शरीर अस्थिपञ्जर मात्र रह गया है। वे बड़ी कठिनाईसे पहचाने जाते थे। युधिष्ठिरने उनके सामने जाकर उनकी पूजाकी, विदुरजी समाधिस्थ होकर निर्निमेष नेत्रोसे युधिष्ठिरकी ओर देखने लगे। इसके वाद वे योगवलसे अपने अङ्गोंको युधिष्ठिरके अंगोमें, इन्द्रियोंको उनकी इन्द्रियोंमें, तथा प्राणोंको प्राणोंमें मिलाकर उनके शरीर में प्रवेश कर गये। विदुरजीका शरीर निर्जीव होकर उसी भाँति वृक्षके सहारे खड़ा रह गया। इसप्रकार साक्षात् धर्मके अवतार महात्मा विदुर धर्ममय जीवन विताकर अन्तमें धर्ममूर्ति महाराज युधिष्ठिरके ही शरीरमें प्रवेशकर गये।

श्रीअक्रूरजीका प्रसङ्ग देखिये कवित्त १०१ में।

श्रीसुदामाजी

वड़ो निसकाम सेर चूनहू न धाम ढिग आई निजभाम प्रीति हरिसों जनाई है।
सुनि सोचपरचो हियोखरो अरबरचो मन गाढ़ो लैकै करचो बोल्यो हाँजू सरसाई है॥
जावो एक बार वह वदन निहार आवो जोपै कछु पावो ल्यावो मोको सुखदाई है।
कही भली बात सात लोकमें कलंक ह्वै है जानियत याही लिये कीन्ही मित्रताई है॥५३॥

शव्दार्थ—भाम=स्त्री। गाढो=दृढ़। सरसाई=सरसता, अधिकता।

भावार्थ—भगवान् श्रीकृष्णके सखा श्रीसुदामाजी ऐसे निष्काम भक्त थे कि उनके घरमें कभी सेर भर आटा एकत्र नहीं हो पाया। वे ब्राह्मण-वृत्तिसे कष्टपूर्वक अपनी जीविका चलाते थे। एक दिन उनकी ब्राह्मणीने समीप आकर स्मरण कराया कि—आपकी तो द्वारकानाथ श्रीकृष्णसे वड़ी भारी मित्रता है।

स्त्रीकी बात सुनकर तथा उसका आशय समझकर सुदामाजी सोच-विचार में पड़ गए। उनका विशुद्ध निष्काम हृदय आतुर हो गया फिर उन्होंने मनको दृढ़ करके कहा—हाँ, अवश्य हमारी और उनकी गहरी मित्रता हैं। तब सुदामाजीकी स्त्री सुशीलाने कहा—तो आप एक बार उनके समीप द्वारकापुरीको चले जाइये। उनके सुन्दर वदनका दर्शनकर आइए और जो कुछ भी मिले उसे ले आइए। उनके द्वारा दी गई वस्तु मुझे परम सुख देनेवाली होगी। सुदामाजी ने कहा—तुमने बात तो बहुत अच्छी कही परन्तु इससे सातो लोकोंमे बड़ी बदनामी होगी। लोग यही कहेगे कि—मालूम पड़ गया, सुदामाने इसीलिए मित्रता की थी ॥५३॥

व्याख्या—जो दीनन सूं हित करै, धनि रहीम वे लोग। कहा सुदामा बापुरो कृष्ण मिताई जोग ॥ स्कन्द पुराण रेवाखण्ड सत्य नारायण व्रत कथानुसार सत्यनारायण का व्रत-पूजन करने वाला शतानन्द नामक निर्धन ब्राह्मण दूसरे जन्ममे सुदामा ब्राह्मण हुआ यथा—शतानन्दो महाप्राज्ञः सुदामा ब्राह्मणो ह्यभूत्। तस्मिन् जन्मनि श्रीकृष्णं ध्यात्वा मोक्षमवाप ह ॥ श्रीसुदामाजीने पोरबन्दरके निकटवर्ती ग्राम मे, जिसे वर्तमान में सुदामापुरी कहते हैं, ब्राह्मणकुल मे जन्म लिया था। आपका परिचय देते हुये श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—

> कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः।
> विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥ (भागवत)

अर्थ—एक ब्राह्मण भगवान श्रीकृष्ण के परम मित्र थे। बड़े ब्रह्मज्ञानी, विषयों से विरक्त, शान्त चित्त, और जितेन्द्रिय थे। श्रीप्रियादासजी भी कहते हैं कि—

'बड़ो निसकाम'—अर्थ, धर्म, काम, की कामनासे रहित होना निष्कामता है, मोक्ष की भी इच्छा का न होना बडी निष्कामता है। भगवान के भक्त मोक्ष की भी कामना नही करते हैं, जबकि मोक्ष को परम पुरुपार्थ कहा गया है। यथा—

> अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहौं निर्वान।
> जनम जनम रति राम पद, यह बरदान न आन ॥(रामा०)

पुनः—

> न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
> न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥ (भा०)

अर्थ—मुझ मे चित्त लगाये रखने वाले मेरे प्रेमी भक्त मुझको छोड़कर ब्रह्मा का पद, चक्रवर्ती-राज्य, लोक-लोकान्तरो का आधिपत्य, योग की सब सिद्धियां और मोक्ष आदि कुछ भी नही चाहते हैं। एक भक्त कहते हैं कि—

> रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनो नन्दितं,
> प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदाः।
> नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वतां,
> मुक्तिद्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्याय लोलायते ॥ (बोधसार)

अर्थ—प्रियतम श्रीकृष्णकी पूजा करते समय शरीर पुलकित हो गया, भक्तिमे मन प्रफुल्लित हो गया। प्रेमाश्रुओ ने मुख को और गद्गद वाणीने कण्ठ को सुशोभित कर दिया अब तो हमे एक क्षणके

लिये भी फुरसत नही है कि हम दूसरे विषय को स्वीकार करें। इतने पर भी सायुज्य आदि चारों प्रकार की मुक्तियां न जाने क्यों हमारे दरवाजे पर खड़ी हमारी दासी बनने के लिये आतुर हो रही हैं। ऐसे भक्तों का हृदय कमल भगवान का विश्राम स्थल है। यथा—**बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निष्काम। तिनके हृदय कमल महँ, करउँ सदा विश्राम।** ऐसे भक्त भगवानको बड़े प्यारे लगते हैं। यथा-**'ते तुम राम अकाम पियारे।'**(रामा०)ऐसे भक्तों को भगवान अपना सर्वस्व देदेते हैं। यथा—**'अकामिनां स्वधामदं।'** श्रीसुदामाजी ऐसे ही भक्त थे।

सेर चून्हू न धाम—संग्रहके नाम पर एकसेर आटा भी घरमें नहीं रखते थे। जबकि ब्राह्मण के लिये एक वर्ष तक के लिये संग्रह करने की विधि है। परन्तु ये तो बड़े निष्काम थे अतः एक वर्ष की कौन कहे एक दिन के लिये भी संग्रह नहीं करते थे। इनके सम्बन्धमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—**यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी।।** अर्थ—वे गृहस्थ होने पर भी किसी प्रकार का संग्रह—परिग्रह न रखकर प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जाता उसी में सन्तुष्ट रहते थे। भगवानको ऐसे भक्तोंकी चिन्ता रहती है। यथा—**गांठी में बांधे नहीं, मांगत में सकुचायँ। पीछे पीछे हरि फिरैं, भूखे ना रहि जायँ।।** लौकिक दृष्टि से सुदामाजी दीन थे, एक टूटी झोंपड़ी, टूटे-फूटे दो चार पात्र, और तन ढकने के लिये कुछ फटे-चिथड़े, यही सुदामा की सम्पत्ति थी। किसी कविने लिखा है—कि विधि की बिडम्बना तो देखो—

चन्द को मित्र चकोर सदा तेहिभोजन आगि विरञ्चि ने दीन्हों।
पंकज को हितू द्यौसपती हिम जारत ताहि यहै प्रन लीन्हों।।
कर्म बली सुन री अवला नितसंग रहैं सबके पुर तीनो।
लच्छिमी नाथ सखा जिनके तिनके घर वास दरिद्र नें कीनो।।

कोई कोई कहते हैं कि श्रीलक्ष्मीजी ब्राह्मणोंसे अप्रसन्न रहती हैं, इसलिये ब्राह्मण दरिद्र होते है। यथा—

पीतः क्रुद्धेन तातः चरणतल हतो वल्लभोयेन रोषात्।
द्वार्वेत्यां विप्रवर्गः शुभमुख विवरे धारिता वैरिणी मे।
गेहंमे छेदयन्तः प्रतिदिवसमुमाकांत पूजा निमित्तं।
तस्माच्छिन्ना सदाहं द्विज प्रति निलयं नाथ नित्यं त्यजामि।।

अर्थ—श्रीलक्ष्मीजी कहती हैं—ब्राह्मण (अगस्त्य)ने मेरे पिता (समुद्र)को पी डाला, पति(विष्णु) को ब्राह्मण (भृगु) ने लात मारी, तथा ब्राह्मण मेरी सौत सरस्वती को मुखमें बसाये रहते है, श्रीशिवजी की प्रसन्नता के लिए मेरे निवास स्थान(विल्व-पत्र)का निरन्तर छेदन करते रहते हैं। अत: मै इन ब्राह्मणों से खेद खिन्न होकर हमेशा इनके घर से दूर ही रहती हूँ। परन्तु श्रीसुदामाजी की दरिद्रता का हेतु श्री-लक्ष्मीजी का अभिशाप नहीं, बल्कि उनकी परमनिष्कामता है। परन्तु वस्तुतस्तु इसे भगवत प्रेम-धन-धनी के सामने देवराज इन्द्र भी नगण्य थे। यथा—**आठ गांठ कौपन में, औ भाजी बिनुलोन। तुलसी रघुबर उर बसैं, इन्द्र बापुरो कौन।।**

तिय आई निजधाम—सुदामाजी की पत्नी का नाम सुशीला था, वह सुशीला थी भी। परन्तु दारिद्रयने उन्हें ऐसा झकझोरा कि एक दिन उन्होंने विवश होकर अपने पति देव से निवेदन

किया—ननु ब्रह्मन् भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः । ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान् सात्वतर्षभः ॥(भा०)
अर्थ—हे भगवन् ! साक्षात् लक्ष्मी पति भगवान श्रीकृष्ण आपके सखा हैं वे भक्तवांछाकल्पतरु हैं, शरणागत वत्सल और ब्राह्मणो के परम भक्त हैं। इस प्रकार 'प्रीति हरि सो जनाई है।'

मित्रता प्रसङ्ग-श्रीकृष्ण जब उज्जैनमें श्रीसान्दीपनिजीके यहां शिक्षा प्राप्त करने जा रहे थे तब सुदामाजी भी वहीं पहले से ही गुरु के आश्रम में रहते हुये विद्याध्ययन कर रहे थे। एक दिन सुदामाजी जंगलमें कुशा, समिधा आदि लेने गये थे, पांवमें कांटा लग गया। कोमल हृदय ब्राह्मण कुमार अधीर होकर रोने लगे। स्वय काटा निकालने का साहस नही हो रहा था, दूसरा कोई दिखाई नही पड़ रहा था, अत्यन्त विकल, निरुपाय सुदामाने निरवल के वलराम का स्मरण किया, तब तक तुरन्त ही श्रीकृष्णचन्द्रका रथ वहाँ आ पहुँचा। वह आज ही विद्यालय मे प्रवेशका मुहूर्त करने जा रहे थे। ब्रह्मण्य देवने ब्राह्मण कुमार की विकलता देखा, रथसे उतर पड़े वड़ी सान्त्वना दिये अपने श्रीकर कमलों से कांटा निकाल कर अपना पीताम्बर फाड़कर पट्टी वाँधे और रथ पर वैठाकर विद्यालय लिवा लाये। विना किसी पूर्व परिचय के इस सद्व्यवहार से सुदामाजी वड़े प्रभावित हुये, परस्पर मित्रता हो गई। संग-सग अध्ययन प्रारम्भ हुआ।

विद्यालय का नियम था—पाठ भूलने वाले को जंगल से लकड़ियाँ लाना पड़ता था। एक पन्थ दो काज था, सेवा की सेवा, और दण्ड का दण्ड। एक दिन सुदामाजी पाठ भूल गये, अतः इन्हें लकड़ी लाने का आदेश हुआ। परम सुहृद भगवान मित्र वियोग से अधीर हो गये, मुझे मित्र के विना कैसे अच्छा लगेगा ? मित्र अकेले कैसे वन में जायगा ? यह विचार कर सर्वज्ञ प्रभुभी जान बूझकर अपना पाठ भल गये। इन्हे भी वही आदेश हुआ। प्रसन्नमन दोनों मित्र वनको गये। संयोग की वात, वन में पहुँचने पर वर्षा वहुत जोर की हुई। प्यारे श्यामसुन्दर परम सुकुमार है, ये वर्षा के झकोरे कैसे सह सकेंगे ? यह विचार कर सुदामाजी ने इन्हें गोदमे दुवका लिया, अपने शरीर से,एवं वस्त्रोंसे चारो ओर से आच्छादित कर लिया। जिसमें मित्रको वात-वर्षाका कष्ट न हो। स्वयं सम्पूर्ण कष्ट सहकर मित्र की रक्षा किए। इधर कोमल हृदय गुरुदेव देर भई जानकर वर्षा वन्द होने पर शिष्यों को साथ लेकर खोजने को निकले। जब वनमें आकर सुदामा-कृष्णकी दशादेखे तो वहुत प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिए कि तुम दोनों की मित्रता अचल वनी रहे।

ऐसे ही एक वार श्रीकृष्ण-सुदामा जंगल में लकडी लेने गए। श्रीगुरुमाता ने कलेऊ के लिए एक एक मुट्ठी चने दिया था। दोनों भागके चने सुदामाके ही पास थे। वन में पहुँचने पर वड़े जोर की वर्षा के साथ-साथ हवा भी बड़ी तेजी से चलने लगी। दोनों मित्र एक वृक्ष के नीचे वैठे हुये खुलने की प्रतीक्षा कर रहे थे। इसी वीच सुदामाजी को वड़े जोर की भूख लगी। पास में चना था ही, धीरे-धीरे मित्र की आँख वचाकर पाने लगे, और अपना भाग तो पाये ही, श्रीकृष्णके भागके चने भी पागये। चना पाने की आहट पाकर एक वार श्रीकृष्ण ने पूछा भी कि मित्र ! तुम्हारा मुँह क्यों वोल रहा है ? इन्होंने वात वदल दी—भैया! सर्दी के कारण दांत वज रहे हैं। श्रीकृष्ण चुप हो गये। कुछ देर वाद वर्षा वन्द हुई तो श्रीकृष्ण ने अपने भाग का चना मागा तो सुदामा अत्यन्त सकुचाते हुए वोले—मित्र मैंने क्षुधा से पीड़ित होकर तुम्हारे चने भी खा लिये। श्रीकृष्णने सहज ही विनोद भाव से कहा—अरे मित्र ! तुमने यह क्या किया ? क्या तुम भूल गये कि दूसरे का भाग खाने वाले को दरिद्रताका दुःख भोगना पड़ता है। सुदामाने

कहा—भैया श्रीकृष्ण ! क्षुधा-पीड़ाने मेरे विवेक को एकदम हर लिया था, इसी से मैंने तुम्हारे चने भी खाये और तुमसे झूठ भी बोल दिया। नीतिकारों ने ठीक ही कहा है कि—'बुभुक्षितः किं न करोति पापं' भैया ! मेरा कोई अदृष्ट ही ऐसा था जिसने मुझसे ऐसा कर्म करा लिया। परन्तु भैया ! अब ऐसी कृपा करो कि दरिद्रावस्था में मैं तुझे भूलूं नहीं। सर्वभूत सुहृद श्रीकृष्ण ने मित्रको हृदय से लगा लिया।

प्रश्न—सुदामा पत्नी को बालपन की श्रीकृष्ण मित्रता का प्रसंग कैसे मालूम हुआ ? समाधान- प्रथम तो बाल सखा, मोर-मुकुट-धारी,मुरलीधर श्रीकृष्ण ने सुदामा के मनको एकदम हर लिया था। वे अहर्निश उन्ही का निरन्तर ध्यान करते, उन्ही का गुणगान करते। पत्नीसे भी वे अपने सखा के रूप, गुण, शील, स्वभाव, औदार्य आदि का बखान करते अघाते नहीं थे। यथा—'पढ़े एक चटसार कह्यौ तुम कैयो बार' 'कहत नरोत्तम संदीपनि गुरू के पास तुमही कहत हम पढ़े एक साथ हैं। (सुदामा चरित) इस प्रकार सुशीला जानती थी। दूसरे स्वयं भगवानने ही सुशीलाको सुदामाकी श्रीकृष्णसे मित्रता का प्रसङ्ग सुना कर ऐसे समय में मित्र के पास भेजने के लिए प्रेरित किया। कथा इस प्रकार है—भक्तवत्सल भगवानने विचारा कि सुदामा स्वयं कुछ चाहने वाले नहीं, बेचारी ब्राह्मणी दारिद्रय दुःख से तो दुःखी है ही, उसे विशेष दुःख होता है अत्यन्त कृश काय पति की कृशता, दुर्बलता, और उसमें भी होने वाले कई-कई दिन के लगातार उपवास को देखकर दुःख बढ़ता ही जा रहा है। एक दो दिन का हो तो कोई बात नहीं, रोज का दुःख दुःसह होता है अतः अब हमें इनका दुःख दूर करने के लिये कमर कसनी पड़ेगी।

फिर तो एक दिन ब्राह्मणका रूप धर कर द्वार पर आकर आवाज लगाये- 'भवतिभिक्षां देहि' ब्राह्मणी के पास तो कुछ था नहीं,वह देवे क्या? उसने कहा—विप्रवर ! मेरे घर सूतक पडा है। भगवान- कितने दिनका है ? ब्राह्मणी—दिनका नही, पक्षका नही, मासका नहीं, बर्ष का नही, जीवन भर का है। भ०—सूतककी तो अधिक से अधिक एक महीने मे निवृत्ति हो जाती है। ब्रा०—महाराज ! मेरे तो ऐसा सूतक लगा है जो मरण पर्यन्त छूटने वाला नहीं। भ०—(मनमे) आश्चर्य है, ब्राह्मणी तो देखने में प्रसूती सी लगती भी नही, फिर ऐसा कौन-सा सूतक है जो जीवन भर लगा रहता है(प्रगट) क्या मैं जान सकता हूं कि आपको कैसा सूतक लगा है। ब्रा०—मेरे दारिद्रय नामक पुत्र पैदा हुआ है। भ०—तो इसके दूर करने का कोई उपाय आपने किया ? ब्राह्मणी—मेरी तो समझ में नहीं आता कि मैं क्या करूँ ? भ०- ऐसे समय में इष्ट-मित्रों से सहायता ली जाती है। तो आप अपने पतिदेवको भी कहीं क्यो नही भेजतीं हैं ? ब्रा०—हमें तो मालूम नहीं कि ऐसा कौन मित्र है जो इस समय हम लोगों की सहायता कर हमारे दारिद्रय को हर सके। भ०—आपको नहीं मालूम है परन्तु मैं जानता हूँ, आपके पतिदेव के बाल सखा द्वारका नाथ श्रीकृष्ण हैं और वे है परमोदार। यदि उन्हें किंचित भी आप की दशा का बोध हो जाय तो बिना मांगे ही जनम-जनम की दरिद्रता दूर हो जायगी। इतना कहकर भगवान वहां से चल दिये। तब ढिग आई निजभाम प्रीतिहरि सो जनाई है। श्रीसुदामाजी को—

सुन्सिोच—इसलियें कि मेरी गुप्त प्रीतिको यह कैसे जान गई, एक बात, दूसरी बात यह कि यह मेरी निष्काम प्रीति में वासना का बीज बो रही है रीति यह है कि स्वार्थ आते ही स्नेह समाप्त हो जाता है। तो इसे मैं मित्रता वाली बात बताऊँ या नहीं तीसरे—यह मांगनेके लिये मित्रके पास भेज- कर मुझ विप्रसुदामाको, भक्त सुदामाको, तपस्वी सुदामाको दरिद्र सुदामा बनाना चाहती है। क्योंकि मांगने से बड़े भी छोटे हो जाते हैं। यथा—रहिमन याचकता गहे, बड़े छोटे ह्वै जात। नारायन हू को भयो बावन अंगुल गात॥ अतः सोच परयो।

'हियो खरो अरवरचो'—आज सुदामाजीको अपनी दीनता पर पश्चात्ताप हुआ वे मनही मन भगवान से प्रार्थना करने लगे कि—

हे करतार हौं तोसों कहौं कबहूं जनि दीजिये काहू को टोटो।
और लिखो जिनि काहू के भाग में माल के काज महीपनि मोटो ॥
तू हू तो जानत ही अपने जिय मागिवे ते कछु और न खोटो।
जो गयो मागन तूं बलि द्वार तो याही ते ह्वै गयो बावन छोटो ॥

फिर मन को दृढ़ करके आपने कहा—हाँ जू "' । परन्तु मैं कुछ भी याचना करने के लिये मित्र के पास नही जा सकता। ब्राह्मणी तो श्रीद्वारकानाथका औदार्य सुन चुकी थी अतः उसने कहा कि बहुत अच्छा—आप मागने मत जावो परन्तु एकबार अपने मित्रका दर्शन तो कर आवो और सहज रूप में वह जो भी दे दें वह मेरे लिये परम सुखदाई होगा। सुदामाजीने कहा कि तुमने जो दर्शनकी बात कही वह तो बहुत अच्छी है, परन्तु 'पावो ल्यावो' वाली बात उत्तम नही। इससे तो सात लोक में कलक ह्वै है—यथा—भक्ति करैं धनफल चहै, ताको बनिया जान। देत लेत जो तौलि के लाभहिं के परमान ॥ पुनः—फल कारन प्रीती करैं, जाँचै त्रिभुवन राव। 'दादू' सो सेवक नहीं, खेलै अपनो दाव ॥

जानियत "" मित्रताई है—फिरतो हमारी मित्रता कलियुगी मित्रता अर्थात् मतलब की यारी हो जायेगी। एक महात्मा चारों युगों के चार नाम बताते। सत युग का नाम धर्मसिंह, त्रेता का वीर सिंह, द्वापर का धीर सिंह और कलियुग का मतलब सिंह। भाव यह कि कलियुग में प्राय. सभी लोग मतलब का ही व्यवहार करते हैं। हमारी प्रीति भी वैसी ही समझी जायेगी। अतः—

बोल्यो मुसकाइ नारि बावरी कहां धौं आई मीतनि पै मांगै सो कपूतनको राव है।
गिरि हूं ते भारे ऐसे, दारिद हमारे भाग दई फटकारे तिन्हें कहो कहां ठांव है ॥
खैवे को न रोटी ऐसी आपदा है मोटी सात थेगरी कछोटी सो सुदामा मेरो नांव है।
जौ लौं गावे श्याम घन मांगे पावे भीख कन तौलों मानि लीजै शिर छत्रनकी छांव है॥

पुनः—आवति है लाज भारी जात ब्रजराज जू पै बसन समाज देखि खरो मरि जाइये।
एक ही पिछौरी सो तो ठौर ठौर फाटि रही ओढ़िये निशाको जासों प्रात उठि न्हाइये॥
भेंट ऐसी नाही जो लै जाइये भगवन्त जू पै अंतक भई है नारि कौलौं समझाइये ॥
देह पर मास जौ लौं नासिका में सास तौं लौं बड़ो उपहांस मांगि मीत न सताइये ॥

पुनः—सिच्छक हौं सिगरे जगको तिय तांको कहा अब देति है सिच्छा।
जे तपकै परलोक सुधारंत सम्पति की तिनके नहि इच्छा ॥
मेरे हिये हरि के पद पंकज बार हजार लै देखु परिच्छा।
औरन को धन चाहिये बावरि बांमन कोधन केवल भिच्छा ॥
कह्यो सुदामा वामसुनु, वृथा और सब भोग।
सत्यभजन भगवान को धर्म सहित जप जोग ॥ (सुदामा चरित)

तिया सुनि कहै कृष्ण रूप क्यों न चहै ? जाय दहै दुख आप ही सो वचन सुनाये है।
आई सुधि प्यारे की विचारे मति टारे सब धारे पग मग झूमि द्वारावती आये हैं ॥

देखि के विभूति सुख उपज्यो अभूत कोऊ चल्यो मुख माधुरी के लोचन तिसाये हैं।
डरपत हियो डयोढ़ी लांघि मन गाढ़ो कियो लियो कर गहि चाह तहाँ पहुँचाये हैं ।।५४।।

शब्दार्थ—द्वारावती=द्वारकापुरी। विभूति=ऐश्वर्य। अभूत=अपूर्व, विलक्षण। तिसाये=प्यासे।

भावार्थ—यह सुनकर सुशीला ने कहा—श्रीकृष्णके मधुर रूपके दर्शन करनेका भी मन नही चाहता है क्या ? उनके दर्शनों से सभी दुःख अपने आप जलकर भस्म हो जायँगे। आप केवल दर्शन कर आइये। कुछ भी याचना न कीजियेगा। उसने जब ये वचन सुनाये तब प्यारे श्रीकृष्णके सुन्दर स्वरूपका स्मरण हो आया। सोच-विचार कर विचारे सुदामाजी की बुद्धि दर्शनों की लालसा से चञ्चल हो गई। वे अपने प्रियमित्र से मिलने चले। मार्गमें आनन्दसे पग-पग पर झूमते हुए वे द्वारका पुरी को आये। वहां का अपार ऐश्वर्य देखकर उनके हृदयमें अपूर्व सुख उत्पन्न हुआ। आश्चर्य चकित द्वारकापुरीको देखते हुए वे आगे चले। उनके नेत्र श्रीकृष्णचन्द्र की रूपसुधाके प्यासे थे। कोई राजपुरुष महलों में जानेसे रोक न दे, इसलिए श्रीसुदामाजी मन में डर रहे थे। किसी तरह मनको मजबूत करके सुदामाजी ने राजद्वार लाँघकर राजभवनमें प्रवेश किया। मानो प्रभुदर्शन की तीव्र अभिलाषा ने ही हाथ पकड़कर उन्हें प्रभुके निकट पहुँचा दिया।।५४।।

व्याख्या—कृष्ण रूप क्यों न चहै—जब सुदामाजी मित्र के पास जाकर कुछ माँगने को प्रस्तुत नही हुये तब ब्राह्मणी ने कहा—अच्छा आप मांगों मत, जो पावो सो लावो मत, परन्तु दर्शन तो कर आओ। क्यों न चहै—का भाव यह कि जिनका थोड़ा भी प्रेम प्रभुमें होता है वे दर्शन के लिये तड़पते रहते हैं और आप तो अहर्निश मित्र प्रेम में मग्न रहते हैं फिर भी दर्शन करने की इच्छा नहीं होती। तो क्या बस ऊपर-ऊपर की ही भक्ति है कि कुछ भीतर भी भाव है। तात्पर्य यह कि यदि हृदय में कुछ भी अनुराग होगा तो आपको स्वत. विना दर्शनके चैन नहीं पड़ेगी। 'दहै दुःख आप ही'—सुदामाजी की पत्नी ने तीन बात कही— १- जाकर मित्र से मागों। २- यदि मांग न सको तो स्वयं वे जो कुछ दे दें वह ल्यावो। ३- यह भी न कर सको तो केवल दर्शन ही कर आओ, अपने आप दुःख नष्ट हो जायगा।

> विप्र के भगत हरि जगत विदित वन्धु लेत सवही की सुधि ऐसे महादानि हैं।
> पढ़े एक चटसार कही तुम कैयो वार लोचन अपार झट तुम्हें पहिचानि हैं।।
> एक दीनवन्धु कृपासिन्धु फेरि गुरुवन्धु तुमसम कौन दीन जाको जिय जानि हैं।
> नाम लेत चौगुनी, गये ते द्वार सौगुनी सो देखत सहसगुनी प्रीति प्रभुमानि हैं।।

आई...... टारे सब—सुदामाजी को तो प्यारे श्रीकृष्ण की अखण्ड स्मृति वनी रहती है, फिर आई सुधि क्यों कहा ? समाधान—आई सुधि से तात्पर्य प्यारे की विविध लीलाओं की, विलोकनि, बोलनि, चलनि, हँसनि, मिलन की सुधि आई। यथा—राम विलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी ॥ (रा० च० मा०) विचारे-विचार.कर किया गया कार्य परिणाम में मङ्गलकारी होता है। इसीसे बुद्धिमताँ वरिष्ठ श्रीहनुमानजी—'पुर रखवारे देखि वहु कपि मन कीन्ह विचार।' 'सब

पल्लव महँ रहा लुकाई । करइ विचार करौं का भाई ।''कपि कर हृदय विचार दीन्ह मुद्रिका डारि तब ।' 'ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा कपिमन कीन्ह विचार ।' आदि । विना विचारे सहसा कार्य करने वाले अबुध होते है । यथा—'सहसा करि पाछे पछिताहीं । कहहि वेद बुध ते बुध नाहीं ।' पुनः— 'विना विचारे जो करै. सो पाछे पछिताय । काम विगारै आपनो जग मे होत हँसाय ।। अतः विचारे ।

मति टारे सब—विचार करने पर यह निश्चय हुआ कि-'अयं हि परमो लाभ उत्तम श्लोक दर्शनम् ।। (भा०) अर्थ—(द्वारकापुरी जाने से)भगवान श्रीकृष्णका दर्शन हो जायेगा, यह तो जीवन का परम लाभ है । फिर तो पूर्व की समस्त बाते 'सात लोकमें कलंक ह्वै है' 'याही लिये कीन्ही मित्रताई है' आदि दूर हटा दिया, भाव इनकी परवाह नही किये । प्रेमी लोक-लाज, कुल-कानि, विधि-निषेध, मान-अपमान आदि की परवाह नही करते । यथा—

> व्रज के वनितान की रीति यही, उन्हें आपुस में वतरान दैरी ।
> वहि 'ज्योति सी'माधुरी मूरति पै विनुमोलहि प्रान विकान दैरी ।।
> अस ऐहैं न अवसर फेरि भटू उरझौं अँखियां अरुझान दैरी ।
> मन मोहन मीत के हेतु अरी कुल कानि नसाय नसान दैरी ।।

> पुनः— नैनन को तरसैये कहां लौंकहां लौं हियो विरहाग मे तैये ।
> एकौ घरीन कहूं कल पैये कहां लगि प्राननको कलपैये ।।
> आवै यही अव जी में विचार सखी चलि सौतिहुं के घर जैये ।
> मान घटै तो कहा घटिहै जो पै प्रान पियारे को देखन पैये ।।

सुदामाजी ने भी लोकापवादकी परवाह नही किया । संसार का तो स्वभाव है,कोई कैसा हू दूध का धोया क्यों न हो, कुछ न कुछ ऊल्टा-सीधा कह ही डालता है ।

दृष्टान्त—बूढ़े और वालक का—एक वूढा साथ में एक वालक लिये हुये कहीं जा रहा था । वूढा घोड़े पर सवार था, वालक पैदल चल रहा था । रास्ते में कुछ लोगो ने देखा तो आपस में कहने लगे—देखो! वुड्ढा कितना निर्दयी है,अपने तो घोड़े पर चढा है और वालक वेचारा पैदल चल रहा है । वुड्ढे ने सुनलिया, वस वह स्वयं घोड़े से उतर कर उस पर वालक को वैठा दिया । कुछ दूर जाने पर पुनः कुछ लोग मिले तो कहने लगे—देखो ! वालक कैसा मूर्ख है अपने घोडे पर जा रहा है और वेचारा वूढा पैदल । अरे ! वालक तो वैसे ही दौड़ा-दौडा चला जाता है वूढे ने विचारा कि लगता है हम दोनों को ही घोड़े पर चढकर चलना आवश्यक है अतः दोनों घोड़े पर वैठ गये । आगे चलकर, यह देखकर फिर कुछ लोगो ने वचन मारा कि देखो तो इन वेपीरों को । दोनों के दोनो घोडे पर लदे चले जा रहे हैं, इन्हे तनिक भी घोड़े की पीर नही है । वस दोनो ही उतर कर स्वयं पैदल चलने लगे । घोड़ा कसा कसाया खाली जा रहा था । यह देखकर फिर कुछ लोगों ने कहा कि देखो तो ये दोनो कैसे ना समझ हैं कि सवारी साथ है और पैदल चल रहे हैं । अव तो वूढा झुंझलाया जगत के इस रवैये पर कि यह तो कैसे भी रहें कुछ न कुछ विना कहे मानने वाले नही अतः अपने विचारानुसार दोनों वारी-वारीसे जव थकते तो घोड़े पर चढ कर चलते । अतः ये भी मति टारे सव ।।

सुदामाजी चलनेके लिये प्रस्तुत हो गये परन्तु मित्र के पास खाली हाथ कैसे जायं ? यह विचार जब ब्राह्मणीको सुनाये तब उस ब्राह्मणीने पास पड़ोसके घरसे चार मुट्ठी चिउड़े मांगकर एक कपड़ेमें बांध

कर भगवान को भेंट देनेके लिये अपने पतिदेव को दे दिया। सुदामाजी चिउड़ेकी पोटली वगल मे दवाये चल पड़े द्वारकापुरी को। कुछ दूर जाने पर इन्होंने किसी राहगीरसे पूछा—भैया! द्वारकापुरी कितनी दूर है? इनकी अत्यन्त कृश काया को देखकर उसने कह दिया—पण्डितजी! इस शरीर से तो वहाँ पहुँचना असम्भव है। द्वारका पुरी तो वहुत दूर है। यह सुनकर सुदामाजी की सुधि वुधि जाती रही, अचेत से हो गये। हाथ से लोटा-सोटा गिर गया। परन्तु प्रभु प्रेरणासे तत्काल ही आत्म वल-जागृत हुआ, प्रेमने प्रोत्साहन दिया—निराश मत होओ—'जो जाही को भावता सो ताही के पास।' 'यदि प्रेम है तो प्रभु पासमें हैं।' ये पुनः साहस करके चल पड़े। मार्ग में समुद्रकी खाड़ी पड़ी। नाव नदारत थी। रात्रि हो रही थी। सुदामाजी घवड़ाये कि 'कैसे जैयेपार।' निरुपाय हो कर 'हारे को हरिनाम' का स्मरण किया। तत्क्षण भगवान ही स्वयं नाव और नाविक दोनों ही वनकर आ गये। आश्चर्य नही। स्वयं भगवानके श्रीमुख के वचन हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसारसागरात्। भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम्॥ (गी०)

अर्थ—हे अर्जुन! उन मुझमें चित्तको लगाने वाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार समुद्रसे उद्धार करने वाला होता हूं। फिर समुद्र की खाड़ीकी तो वात ही क्या है।

सुदामाजी को कुछ धैर्य हुआ। नाविकको वुलाये। और नाव समीप आने पर चढ़ने लगे तो नाविकने रोका—ठहरो! चढ़तो रहे हो,उतराई क्या दोगे? तव तो ये सकुचाये। वोले—भैया नाविक! तुम्हें देने लायक तो मेरे पास कुछ है नहीं, मैं तुम्हें क्या दूँ? नाविक—ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि तुम्हारे पास कुछ भी न हो। सुदामा—भैया! मैंने तो पहले ही कहा तुम्हारे लायक नही है, मेरे पास जो है उसे कोई ले नही सकता। ना०—अच्छा-तुम मुझे वही देदो। सु०—भैया! उसे तो भगवान ही स्वीकार करने में समर्थ हैं। भला दारिद्रय लेकर तुम क्या करोगे? सुदामाजीको नही मालूम कि स्वयं श्रीहरि ही आज हमारा दारिद्रय हर रहे है। कृपा करके ढरे हैं। 'मैंने स्वीकार किया' यह कह कर प्रभुने सुदामाका दरिद्रताका काला कलंक सदा सर्वदा के लिये मिटा दिया। खाड़ी पार कर सुदामाजी पुनः आगे वढ़े। दिन भर चलते-चलते थक कर चूर हो गये थे, एक वृक्षके नीचे भगवत्स्मरण करके सो गये। दीनवन्धु द्वारका नाथने अपनी योगमायाको सुदामाजी को शीघ्र द्वारका पुरी ले आनेके लिये भेजा।(कोई कोई महानुभाव गरुड़जीको भेजना कहते हैं) उसने तत्काल सुदामाजी को सोये हुये ही प्रभुके वागमें पहुँचा दिया। जव सुदामाजी जगे तो उन्हें यह जानकर वड़ा कुतूहल हुआ कि मैं द्वारका पुरी आ गया। सोचने लगे कि वहुत नजदीक है द्वारकापुरी। लोग कहते हैं कि वहुत दूर है परन्तु यह तो वस खाड़ी पार है। दृष्टान्त—जापरे का—(देखिये सिलपिल्ले भक्ता उभय वाई प्रसङ्ग कवित्त १६८)

देखिकै .... अभूत—भगवद्धाम भी भगवानके समान ही सच्चिदानन्दरूप होता है। यथा—रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥ (वशिष्ठ-संहिता) अर्थ—भगवानके नाम, रूप, लीला,धाम, चारो ही सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। अतः जैसे भगवद्दर्शन से अभूत सुख उत्पन्न होता है वैसे ही भगवद्धाम दर्शनसे भी। अतः सुख उपज्यो अभूत कहा। द्वारकापुरी के सुखको देखकर सुदामाजीका मन मुग्ध तो हुआ ही लुब्ध भी हो गया। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिये कि वड़े निष्काम सुदामा को यह कामना कैसी? सुदामाजी भगवानके नाम, रूप, लीला, धाम से निष्काम थोड़े ही हैं। दूसरी वात यह भी कि भगवानके नाम, रूप, लीला, धामका प्रभाव ही ऐसा है कि—आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्य हैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ (भा०)

अर्थ—जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गई है और जो सदा आत्मामें रमण करते हैं वे भी भगवान्के गुणोंसे आकर्षित होकर भगवान्की अहैतुकी भक्ति करते हैं अतः सुदामाजी यदि धाम-सुन्दर लुभाये तो आश्चर्य ही क्या ?

चले ··· सिखाये हैं—जैसे श्री सनकादिकजी वैकुण्ठकी अलौकिक शोभा देखकर भी भगवान् वैकुण्ठेशके दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहे थे। 'डरपत हियो'—इसलिये कि कहीं मुझे कोई रोक न दे।

चक्कवै चौंकि रहे चकिसे तहाँ भूले से भूप अनेक गनाऊँ।
देव गन्धर्व औ किन्नर यक्ष से साँझ लौं देखे खरे जेहिं ठाऊँ॥
तं दरबार बिलोक्यो नहीं अब तोहि कहा कहिकै समुझाऊँ।
रोकिये लोकनके मुखिया तहँ हौं दुखिया किमि पैठन पाऊँ॥

मन गाढ़ो कियो—यह विचार किया कि चाहे जो भी हो, मुझे तो प्रभुको छोडकर दूसरी कोई गति ही नहीं है। अत. दीनबन्धु मुझ दीनपर कृपा करेंगे ही। यथा-मो मरने को नेम है, मरौं तो हरिके द्वार। कबहूं तो हरि बूझिहैं, कौन मरचो दरबार।। 'लियो ···पहुंचाये हैं'—दरिद्रताने डरवाया, तब प्रभु मिलनकी चाहने सुदामाजीका हाथ पकडकर प्रभु तक पहुँचा दिया। चाह दूती प्रेमीको प्रियतम तक पहुँचाने वाली है, मिलाने वाली है। भक्तिमें चाहकी बहुत बडी महिमा है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—निगम अगम साहब सुगम राम सांचिलीचाह। (दोहावली) श्रीप्रियादासजी कहते हैं-भक्ति महारानी को सिंगार चारु बीरी चाह रहै जो निहारि लहै लाल प्यारी गाइये॥ (कवित्त ३)

देख्यो श्याम आयोमित्र चित्रवत रहे नेकु हितको चरित्र दौरि रोइ गरे लागे हैं।
मानो एकतन भयो लयो ऐसे लाइ छाती नयो यह प्रेम छूटै नाहिं अङ्गपागे हैं॥
आई दुबराई सुधि मिलन छुटाई तानै आनै जल रानी पग धोए भाग जागे हैं।
सेज पधराइ गुरु चरचा चलाइ सुख सागर बुड़ाइ आपु अति अनुरागे हैं॥५५॥

शब्दार्थ—चित्रवत=स्तब्ध।

भावार्थ—श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि—हमारे परम मित्र श्रीसुदामाजी पधारे हैं। इनके अचानक आजानेसे वे प्रेमवश कुछ देरके लिए चित्रकी तरह स्तब्ध खडे रहे फिर सावधान होकर दौड़े और रोते हुए उनको गलेसे लगा लिया। यह प्रेमकी अद्भुत लीला है। कुछ देर तक वे दोनों मित्र परस्पर छातीसे छाती लगाकर इस प्रकार मिले रहे कि मानो दोनोंका शरीर एक हो गया है। यह ऐसा विलक्षण प्रेम था कि दोनोंके शरीर आपसमें इसप्रकार मिल गये थे कि छुडानेसे भी न छूटे। इतनेमें भगवान्को सुदामाजीकी दुर्बलताका स्मरण हो आया, सोचा कि मेरे गाढालिङ्गनसे इन्हें पीड़ा होरही होगी। इधर सुदामाजी को भी अपने देह दौर्बल्यकी स्मृति हुई. इन्होंने सोचा कि मेरा अस्थिपंजर कोमल श्रीअङ्गमें चुभरहा होगा। इन विचारोंने दोनोंका मिलन छूटा। इतनेमें ही भगवान्के सङ्केतसे श्रीरुक्मिणी जी सोनेकी झारीमें जल ले आईं। भगवान्ने अपने श्रीहस्तकमल से सुदामाजीके चरण धोये। आज तक

शुभअवसर प्राप्त हुआ है, इससे मालूम पड़ता है कि मेरे भाग्य जाग गये हैं। ऐसा कहकर उन्हे शय्यापर पधराया। फिर उस समयकी चर्चा चलाई जव दोनों उज्जैनमें सान्दीपनि मुनिके आश्रममे अध्ययन करते थे। भगवान्ने पुरानी चर्चा चलाकर उन्हें सुखके समुद्रमे डुवा दिया और स्वयं भी अत्यन्त प्रेममें मग्न होगए ॥५५॥

व्याख्या—श्रीसुदामाजीने अपने को श्रीद्वारकानाथ का मित्र वताकर द्वारपालसे श्रीकृष्ण को अपने आनेकी सूचना देनेके लिये कहा। द्वारपालके आश्चर्यका ठिकाना नही रहा कि देवराज इन्द्र भी जहाँ अपनेको दास कहने में भी संकोच मानते है, वहाँ यह दरिद्रताकी प्रतिमूर्ति ब्राह्मण निःसंकोच अपने को श्रीकृष्णका मित्र कह रहा है। भला राजा और भिखारीकी मित्रता कैसी ?

दृष्टान्त—द्रुपद और द्रोणका—वाल्यावस्थामें राजाद्रुपद और द्रोणाचार्य में वडी मित्रता थी। संग-सग अध्ययन और आनन्दमयी वाल-क्रीडाये हुयी थी। आगे चलकर द्रुपद पाञ्चाल देशके राजा हो गये और द्रोण अस्त्र-शस्त्र विद्यामें पारङ्गत होकर भी अकिञ्चन ब्राह्मण ही रहे। एक वार द्रोणाचार्य अपने वाल-सखा राजा द्रुपदसे मिलनेकी अभिलाषा लेकर उनके यहाँ गये और द्वारपालसे अपने आनेकी सूचना दिये। राजाकी अनुमति मिलने पर उनके समीप जाकर इन्होने पूर्वकी मित्रता वाली बात कही। यद्यपि आचार्यद्रोणने वड़े स्नेहके साथ वार्तालाप किया परन्तु पाञ्चालनरेश द्रुपद इनकी इस वातसे खीझ उठे, क्रोध और अमर्षसे उनकी भौहे टेढ़ी हो गई, आँखोंमें लाली छागयी, धन और ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त होकर वे द्रोणसे यों वोले—व्रह्मन्! तुम्हारी वुद्धि सर्वथा संस्कार शून्य और अपरिपक्व है, तभी तो तुम धृष्टतापूर्वक मेरे मित्र वनरहे हो। अरे मूढ़! वड़े-वड़े राजाओंकी तुम्हारे जैसे श्रीहीन और निर्धन मनुष्यों से मित्रता कभी नहीं होती। ऐसेही वहुत से कटुवचन कहे। आचार्य द्रोण उलटे पाँव वहाँसे लौट पड़े। वादमें इन्होने द्रुपद से इस तिरस्कारका वदला चुकाया। परन्तु श्रीकृष्ण द्वारकानाथ होनेके साथ-साथ दीनवन्धु भी तो हैं अतः आश्चर्य भी नहीं। द्वारपालने जाकर सूचना दी—

> सीस पगा न झँगा तनमें प्रभु जानेंको आहि वसै केहि ग्रामा।
> धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पाँय उपानह की नहिंसामा ॥
> द्वार खड़ो द्विज दुर्वल देखि रह्यो चकिसो वसुधा अभिरामा।
> पूछत दीनदयाल को धाम वतावत आपनो नाम सुदामा ॥ (सु०च०)

अपने रङ्गमहल में महारानी श्रीरुक्मिणीजीके साथ शय्यापर विराजमान प्रभु विविध विनोद-वार्ताके वीच ज्योंही 'सुदामा' यह नाम सुने, प्रेमवश अत्यन्त अधीर हो पाव-प्यादे 'मित्र सुदामा' यह कहते हुये, मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर हो दोनों भुजा फैलाये हुए दौड़ पड़े।

देख्यो..... लागे हैं—प्रथम तो मित्रको देखकर चित्रवत हो गये। तात्पर्य अति प्रेमने शरीरको जड़ वना दिया, लगता था मानो श्रीकृष्ण नही है, श्रीकृष्णकी तस्वीर सामने खड़ी है। 'हितको चरित्र'-भाव यह कि प्रेममें ऐसा ही हो जाता है। प्रथम क्षणमें चित्रवत् रहे, दूसरे ही क्षण रोइगरे लागे हैं। छूटें नाहि अङ्गपागे है—जैसे चासनीमें कोई वस्तु पागी जाती है तो चासनी भीतर-वाहर सव ओरसे ओत-प्रोत हो जाती है। वैसे ही यहाँ दोनोंके हृदयमें तो दोनों रहे ही, वाहर भी एक दूसरेसे लिपटे हैं अतः 'पागे हैं' कहा। आई दुवराई सुधि .....ताने—वहुत देर तक मिलनेके वाद श्रीप्रभुने विचारा कि

ये अति दुर्बल हैं, कहीं मेरे बलिष्ट पुष्ट शरीरसे आलिङ्गित होनेसे इन्हें किसी प्रकारका श्रम न होजाय। इधर सुदामाजी ने विचार किया कि कहीं मेरे इस अस्थिपंजर मात्र सूखे शरीरकी ग्रन्थियाँ प्रभुके परम सुकोमल श्रीअङ्गमें गड़कर पीड़ा न पहुँचाये अत. मिलन छुटाई।

पश्चात् श्रीकृष्णने मित्र सुदामाको लेजाकर अपने पलङ्गपर बैठाया। पाद प्रक्षालनके लिये 'आने जल रानी'—श्रीरुक्मिणीजी को जल-कलश लाते देखकर सभी रानियो का भाव उमड़ पड़ा अतः सबने सब एक-एक कलश जल लाईं। सोलह हजार एक सौ आठ रानियां है, उतने ही जल भरे कलश आये। सर्दीका समय था, सुदामाजी घबडाये कि यह सब क्या हो रहा है। पूछे—भैया कृष्ण! क्या किसी देवता का महाभिषेक होना है? भगवानने कहा—नहीं, आपके स्नानके लिये आया है। मित्रवर! आपका दर्शन कर सभी रानियो की श्रद्धा हो गई है। ये सब आपका विधिवत पूजन करेगी। सुदामा बोले—भैया! तेरी विनोद की बानि अभी राजा होने पर भी बनी ही है। भला मैं दुर्बल ब्राह्मण इतने जलमे कैसे स्नान करने में समर्थ हो सकता हूँ। भगवानने मुस्करा कर कहा—तो क्या आप किसीकी श्रद्धा की अवहेलना करेंगे? भला राजा-रानी को कब किसमे भाव भक्ति होने लगी। यह तो आपके दर्शन की महिमा है जो इनको सेवा सूझी है, तो भला आप पीछे हटेंगे तो ये महारानियाँ क्या कहेंगी? इनको दुःख होगा कि मेरी सेवा स्वीकार नहीं भई। आदि आदि। सुदामाजी को समझमे नहीं आ रहा है कि यह कैसी सेवा है?

दृष्टांत—गुरु भक्त का—एक गांव मे किसी सज्जनके घर उनके गुरुजी आये। गर्मी का दिन था, अतः उन्होने नये घड़े मँगवाकर उसमें स्नान-पानके लिये जल भरवाकर रखा। गुरुजी शीतल जल मे स्नान करते, शीतल जल पान करते। पड़ोसमें एक दूसरा भोला-भाला गुरुभक्त था। उसने जब सेवा की यह सुव्यवस्था देखी तो मन ही मन संकल्प किया कि हमारे गुरुजी आयेंगे तो मैं भी ऐसी ही सेवा करूँगा। सयोग की बात—इसके गुरुजी ठण्डी के दिन में आये। इसने बड़े उत्साहसे कुम्हारके घर से कई नये घड़े लाकर उनमे जल भरकर छत पर रक्खा जिसमें खूब शीतल हो जाय। गुरुजीने यह सब देखकर पूछा कि यह क्या कर रहे हो? उसने मनकी बात बताया। श्रीगुरुजीने बहुत समझाया कि बच्चा! आजकल तो गर्म जलसे सब कृत्य करने चाहिये, शीतल जल अनुकूल नही पड़ता है। परन्तु वह भला कब मानने लगा—बोला—नहीं गुरुजी! मैंने अपनी आँखों देखा, पड़ोसीके गुरुजी आए थे तो उसने ऐसे ही सेवा की थी, तो भला मै उनसे कुछ कम हूं कि आप उनके गुरुजीसे कम हैं? अत. मैं तो उनसे भी बढ़-बढ कर आपकी सेवा करूँगा। गुरुजीको मुश्किल पड़ गई। जैसे तैसे समझा पाये।

कौतुकी प्रभुने यह कौतुक कर फिर सभी कलशों में से एक-एक आचमनी जल निकाल कर एक कलश रखा, सोनेकी परात मँगवायी। महारानी श्रीरुक्मिणीजी जल डालती, प्रभु पाद प्रक्षालन करते। जिस समय श्रीप्रभुकी दृष्टि बिवाइयों से विदीर्ण सुदामाजीके पैरो पर पडी, करुणामय श्रीकृष्ण अत्यन्त अधीर हो उठे। कविवर श्रीनरोत्तमदासजी ने इसका बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है यथा—

ऐसे बेहाल बिवाइन सो पग कण्टक जाल लगे पुनि जोये।
हाय महा दुख पायो सखा तुम आये इतेन किते दिन खोये॥
देखि सुदामाकी दीन दशा करुणा करि कै करुणा निधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहीं नैननके जलसों पग धोये॥ (सु० च०)

पावनको भी पावन बनाने वाले श्रीप्रभुने मित्र ब्राह्मण सुदामाके पांव पखार कर उनका चरणोदक अपने सिर पर धारण किया, पश्चात् षोडशोपचार विधिसे पूजन किया। भगवान्‌ने अपने श्रीकर कमलों से इनके माथे पर तिलक लगाया मानो इसी व्याजसे इनके लिलारमें लिखे कुअंकोंको मिटा दिया। चन्दन छिड़कनेके व्याजसे प्रभुने दारिद्रचको भगा दिया। पूजा-आरती के उपरान्त प्रणाम क्रिया प्रारम्भ हुई। प्रथम श्रीप्रभुने फिर श्रीरुक्मिणीजी ने फिर एक एक करके सभी रानियो ने प्रणाम करना शुरू किया। श्रीसुदामाजी प्रथम तो मुख से आशीर्वाद देते रहे, परन्तु जब मुख दुखने लगा तो हाथ से आशीर्वाद देने लगे, जब हाथ भी दुखने लगा तो सिर झुकाने लगे, परन्तु जब गर्दन भी दुखने लगी तो बड़े असमञ्जसमें पड़ गये कि अब क्या करूँ। उधर प्रणाम करनें वालोका तांता ही नही टूटता। सोलह हजार एक सौ आठ तो रानियाँ ही रही, फिर सखियाँ सहेलियाँ दास, दासियां, फिर जब पुर वासियोंको पता लगा कि हमारे महाराज श्रीद्वारकानाथजीके परम मित्र पधारे हैं,तो वे भी दर्शन-प्रणामके लिये उमड़ पड़े। तब भगवानने सबसे कहा कि भाई! आप सब लोग एक साथ प्रणाम करले। ऐसा ही हुआ। तदुपरान्त नानाप्रकार के सुधा-स्वादु सुन्दर भोजन कराकर, आचमन कराकर पान देकर अपनी शैय्या पर बैठाया। श्रीरुक्मिणीजी पङ्खा झल रही थी। हाथमें हाथ लिये हुये श्रीकृष्ण-सुदामा बचपनकी आनन्ददायिनी स्मृतियों में डूब गये।

मुख......अनुराग्यो है—द्वारकेश भगवान श्रीकृष्णके द्वारा अत्यन्त सत्कृत होने पर सुदामा जीको मोह हो गया कि कही ऐसा तो नहीं कि प्रभु किसी अन्य बहुत बड़े महामुनि के धोखे में मेरी पूजा कर रहे हों और बाद मे पता लगने पर इन्हें पछताना पड़े, क्योंकि मै तो इस लायक हूँ नही और इनके यहाँ तो बड़े-बड़े लोग आया करते है। सर्वान्तिर्यामी प्रभु इनके मनका असमञ्जस जानकर तुरन्त ही 'गुरुचर्चा चलाइ'—इससे प्रथम संशय तो दूर हो गया परन्तु एक नया पुनः उत्पन्न हो गया कि प्रभु तो बड़े विनोदी है,कही चने वाली बात न कहने लगें। फिर तो मेरी बड़ी बदनामी होगी। अतः सुदामाजी मन ही मन सत्य नारायण की कथा कहने लगे। मित्रका संकोच समझकर प्रभुने वह प्रसङ्ग ही नही छेड़ा।

सुख सागर खुड़ाइ—पढ़ाई लिखाई के बाद विवाह की चर्चा चली। भगवानने उलाहना दिया कि मित्र! सुना है कि आपका विवाह भी हो गया है, परन्तु आपने मुझे निमन्त्रण नही दिया। सुदामाजी बोले—भैया कृष्ण! मैं तो गरीब ब्राह्मण, आपको बुलानेकी सामर्थ्य नही रहने से नहीं बुलाया। बुलाकर कैसे सत्कार करता? परन्तु आप तो समर्थ थे, सोलह हजार एक सौ आठ विवाह किये। परन्तु मुझे एक में भी नहीं बुलाया। बुलाना तो दूर रहा चार बताशे भी तो नही मिले। क्या बात है। इस प्रकार से विविध सुखमय विनोद हुआ।

चिउड़ा छिपाये कांख पूछै कहा ल्याये मोंको अति सकुचाये भूमि तकै दृग भीजे हैं।
खैंचि लई गांठि मूठि एक मुखमांझ दई दूसरी हूं लेत स्वाद पाइ आपु रीझे हैं॥
गह्यो कर रानी सुख सानी प्यारी वस्तु यह पावो बांटि मानो श्रीसुदामा प्रेम धीजे हैं।
श्याम जू विचारि दीनी सम्पति अपार बिदा भये पै न जानीं सार बिछुरनि छीजे है॥५६॥

शब्दार्थ—चिउड़ा=चूरा चिरवा। कांख=बगल। तकै=देखें। धीजे=प्रसन्न-सन्तुष्ट हुए। सार=तत्व। छीजे=दुखी हुए।

भावार्थ—सुदामाजी पुराने फटे से वस्त्रमें बँधे चिउड़ा की छोटी सी पोटलीको बगल में छिपाये हुये थे। भगवानने पूछा—प्रिय मित्र ! मेरे लिए क्या लाये हो ? उस भेंटको तुच्छ जानकर सुदामाजी उसे दें या न दें, यह निश्चय नहीं कर पा रहे थे। भगवानका प्रेम और अपनी दीनता देखकर वे बहुत सकुचा गए। भूमि की ओर देखने लगे। आखों में आंसू आ गए। भगवान ने पोटली खींच ली और उसमें से एक मुट्ठी अपने मुखमें डाल ली। उसके बाद दूसरी और ली। उस प्रेमोपहारका स्वाद पाकर आप अति प्रसन्न हो गये और तीसरी मुट्ठी लेना चाहते ही थे कि श्रीरुक्मिणीने भगवानका हाथ पकड़ लिया और कहने लगी। कि—ऐसी सुखद स्वादिष्ट वस्तुको आप अकेले ही न खाइये। इसमें से थोड़ी-थोड़ी हम सबों को भी बांट दीजिये। तब शेष एक मुट्ठी चिउड़ा भगवानने रुक्मिणीको दे दिया। वे सुदामाके प्रेम से अति ही सन्तुष्ट थे। प्रभुने सुदामाकी धर्मपत्नीके भावोंको विचारकर अपार सम्पत्ति देदी, पर सुदामा जी को इस तत्वका कुछ भी पता नहीं। सात दिन तक रहकर मित्र सत्कारसे सन्तुष्ट होकर विदा हुए। प्रिय मित्रके वियोगमें सुदामाजीको बड़ा कष्ट हुआ। यह मित्रताका रहस्य है ॥५६॥

व्याख्या—चिउड़ा छिपाये—तन्दुल तिय दीन्हे हते, आगे धरियो जाय। देखि राज सम्पत्ति विभव, दै नहिं सकत लजाय ॥ पुनः यह भी विचार कर कि प्रभु का स्नेहिल स्व-भाव है, विना खाये मानेंगे नहीं और यदि इस रूखे चूड़ेको खानेसे प्रभुके पेटमें दर्द होने लगा तो लोग कहेंगे कि ब्राह्मणने न जाने क्या खिला दिया ? प्रभुको कष्ट हो गया। फिर तो उन्हें भी दुख और हमें भी दु:ख। अतः छिपा लिये। प्रगट ही नही करना चाहते हैं।

पूछैं...... भीजे हैं—श्रीसुदामाजी लेटे हुए थे, प्रभु चरण सेवा कर रहे थे और पूछ भी रहे थे—'कहो मित्र क्या है दिया, भाभी ने सौगात।' ये अपनी दीनता निवेदन कर रहे थे। तब प्रभुने कहा कि जरा करवट बदलें तो इधरके अङ्गोंकी भी सेवा करदूँ। परन्तु ये करवट लेना नहीं चाहते थे। क्योंकि इधर ही तो वह तन्दुलकी पोटली छिपाये हुये थे अतः बोले कि इधरके अङ्ग नहीं दुख रहे हैं, बस आप रहने दीजिये। जब प्रभुने करवट बदलनेके लिये बड़ा जोर दिया तो ये गंठरीको संभालते हुए उठ बैठे। प्रभुने देख लिया पोटलीको और पूछने लगे कि मित्र ! यह क्या है ? ये बोले कि—इसमें ठाकुरपूजा की सामग्री है, ठीक भी है, है तो श्रीठाकुरजी का भोग ही। और कुछ गोली, चूर्ण है। आदि आदि प्रभुने हँसकर कहा—

आगे चना गुरु मात दये ते लये तुम चाबि हमैं नहिं दीने।
स्याम कह्यो मुसुकाय सुदामा सौं चोरीकी बानिमें हौजु प्रवीने ॥
पोटरी कांखमें चापि रहे तुम खोलत नाहिं सुधारस भीने।
पाछिली बानि अजौं न तजी तुम तैसेई भाभीके तन्दुल कीने ॥

यह कहते हुए खैंचि लई गाठि...... रीझे हैं—

खोलत सकुचत गांठरी, चितवत हरि की ओर।
जीरन पटफटि छुटि परे, बिखिरि गये तेहिठौर ॥

इसमें सुदामाजीकी दीनताकी पराकाष्ठा दिखाई गई है जिस वस्त्रमें चिउड़ा बँधा था वह इतना जीर्ण-शीर्ण था कि गाठ खोलते-खोलते फट गया।

एक मुठी हरि भरि लई, लीन्ही मुख में डारि।
चवत चबाव करन लगे चतुरानन त्रिपुरारि॥

कांपि उठी कमलामन सोचति मोसों कहा हरि को मन औंको।
रिद्धि कँपी सब सिद्धि कँपी, नव निद्धि कँपी बह्मना यह धौंको॥
सोच भयो सुरनायक कौ जब दूसरि बार लियो भरि झौंकौ।
मेरु डरचो बकसैं जनि मोहिं कुवेर चबावत चाउर चौंको॥ (सु०च०)

स्वाद ..... रीझे हैं-यथा—

खायो अनेकन जागन भाग न मेवा रमाकर वागन दीठे।
देव समाज के साधु समाज के, लेत निवेदन नाहिं उबीठे॥
मीत जु सांची कहौं रघुराज इतेक सवै भये स्वाद ते सीठे।
पायौं नहीं कतहूं अस मै जस राउर चाउर लागत मीठे॥ (रा०र०)

पुनः स्वाद पाइका भाव यह है कि आज बहुत दिनोंके बाद जैसा स्वाद शबरीके बेरोंमे मिला था, जैसा स्वाद विदुरानीके केलेके छिलकोमें मिला था वैसा स्वाद सुदामाके तन्दुलोंमें पाये अत: रीझे हैं-पुनः भाव यह कि, विधि है जब किसीके यहाँ से सौगात आती है तो उसे कुटुम्ब, परिवार, परिचित प्रेमीजनों में बाँटकर खाया जाता है। परन्तु प्रभु तो विना किसीको बाँटे अकेले ही सब पाये जारहे थे। श्रीप्रियादास जी कारण बताते है कि-रीझे है। इसपर दृष्टात श्रीशिवजीका—श्रीरामार्चाका प्रसाद विना पार्वतीजीको दिये ही पा लेनेका। (देखिये छप्पय-१५) तभी तो कहागया है—भाववश्य भगवान। सम्पूर्ण श्रीभक्तमाल में भगवानकी इसी भाववश्यताका ही उद्घोष है।

गह्यो कर रानी—

मुठी तीसरी भरत ही, रुकमिनि पकरी बाँह।
ऐसी तुम्हें कहा भई, सम्पत्ति की अनचाह॥
कहीं रुकमिनी कान में यह धौं कौन मिलाप।
करत सुदामहिं आपसो, होत सुदामा आप॥

हाथ गह्यो प्रभुको कमला कहैं नाथ कहा तुमने चितधारी।
तन्दुलखाय मुठी दुइ दीन कियो तुमने दुइ लोक विहारी॥
खाइ मुठी तिसरी अवनाथ कहाँ निज वासकी आस विचारी।
रंकहि आप समान कियो तुम चाहत आपहिं होन भिखारी॥ (सु०च०)

श्रीप्रभुने कहा—

क्यों रसमें विष वाम कियो अव और न खान दियो एक फंका।
विप्रहिं देत तृतीयक लोक करी तुम क्यों अपने मन शङ्का॥
भामिनि मोहिं जिमाय भलो विधि कौन रह्यो जगमें नररङ्का।
लोक कहै हरि मित्र दुखी हमसों न सह्यो यह जात कलङ्का॥

गह्योकर रानीके चार हेतु—१—क्या सब खाकर सर्वस्व देदेंगे। २—कहीं अधिक खा लेनेसे पेट में दर्द न होजाय। ३—यह प्रेमोपहार है, सबको मिलना चाहिये। ४—

पावो बांटि—बांटिके खाना वैकुण्ठ जाना।

दृष्टांत-फकीर का—एक बार दो फकीर मिले। एक ने पूछा—कहिये साहब ! कैसे चल रही है? उन्होने कहा—अच्छी बीत रही है। साहब देते हैं, खूब मौजसे खाता पीता हूँ। पहले फकीर ने कहा कि यह कौन अच्छा बीतना है। यह तो कुत्ता भी करलेता है। उसे भी तो साहब देता है और वह खाता है। तब फिर आप में और उसमें अन्तर ही क्या रहा। दूसरे फकीर ने पूछा—आपकी कैसे बीतती है ? तो इन्होंने कहा—मेरी अच्छी बीतती है। साहब जो कुछ देता है उसे बांटकर खाता हूँ। अतः पावो बांटि कहा। फिर तो भगवानने वह चिउड़ा अपनी समस्त रानियों, मित्रों, एवं पुरवासियोंको बांट दिया।

स्याम जू·····सार—सात दिवस यहि विधि रहे, दिन दिन आदर भाव। चित्त चल्यो घर चलन को, ताकर सुनो बनाव॥ भगवान श्रीकृष्णने विचार किया कि यद्यपि सुदामाके मनमे कोई कामना नहीं है, परन्तु इनकी पत्नीने धन पानेकी इच्छासे ही इन्हें यहाँ भेजा है अत भक्तवाञ्छा कल्पतरु भगवानने विश्वकर्माको भेजकर उनके ग्रामको द्वारका जैसी भव्य सुदामापुरी बनवा दिया, एक रातमे ही झोपड़ीके स्थान पर देवदुर्लभ ऐश्वर्यसे परिपूर्ण मणिमय भवन खड़े हो गये। लेकिन महत्वकी बात तो यह है कि सुदामाजीको इसकी गन्ध तक मिलने नही दी। प्रभुके इस महादानसे वे सर्वथा अपरिचित ही रहे। प्रश्न—इतना अपार ऐश्वर्य देकर भी प्रभुने इसे प्रकट क्यों न किया ? समाधान—भावग्राही जनार्दन भगवान श्रीकृष्णको सुदामाजीके तन्दुलोंकी तुलनामें द्वारकाका ऐश्वर्य भी हीन ही दिखाई पड़ा अतः मारे संकोचके प्रभुने जनाया नहीं, कि मैंने दिया ही क्या ? जनाया तो तब जाता है जब अधिकाधिक करके दिया जाता है। यहाँ तो अधिक की कौन कहे बराबरीका भी नही है। कम है, नितान्त कम है अत: प्रगट नही किया, यह है सार और यह है भगवानके यहाँ भावका सम्मान। इसपर दृष्टांत—श्रीरामजीका सकोचपूर्वक विभीषणको लंकाका राज्य देनेका। यथा—जो सम्पत्ति शिव रावनहिं, दीन्ह दिये दस माथ। सो सम्पदा विभीषनहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥

बिदा भये—लीलाविहारी श्रीकृष्ण मित्रको पहुँचाने चले, मुट्ठी बांधेहुए आरहे थे, सुदामा जीने समझा कि होगा मुट्ठीमें कोई हीरा-जवाहरात, पन्ना-पोखराज, मणि-माणिक्यादि, विदा होते समय देंगे। अगर एक भी बढिया रत्न मिल जायेगा तो पण्डितानीके दिन सुखसे बीत जायेंगे। परन्तु यह तो केवल लीला ही थी। नगरके बाहर जाकर प्रभुने अपनी बँधी मुट्ठी खोलकर संकेत किया कि बस यही मार्ग है, आप चले जाइये। मानो इसी संकेतके व्याज से प्रभुने इनके यहाँ अनन्त वैभव इनके पहुँचने से पहले ही पहुँचा दिया। सुदामाजी मनमें सोचने लगे कि यह मार्ग तो मैं भी जानता हूँ, यह कौन नई बात बता रहे हैं, मै तो समझता था कि कुछ देंगे परन्तु यह तो खाली खाली मार्ग बताकर ही रह गये। एक बार जी मे आया कि ब्राह्मणीकी बात निवेदन करूँ, परन्तु सकोचवश कह न सके। दोनों मित्रोंने परस्पर राम राम कहा और अपनी-अपनी राह लिये।

सुदामाजी मार्गमें सोचते है कि ब्राह्मणी पूछेगी तो क्या कहूँगा ? क्या कह दूँगा कि मित्रने कुछ दिया नही। नहीं, नहीं, ऐसा कहनेसे मित्र के विरदमे बट्टा लग जायगा। तो मेरा क्या यही कर्तव्य है कि

मित्रकी वदनामी कराऊँ। नहीं, कदापि नहीं। तो फिर ? कह दूँगा कि उन्होंने दिया तो वहुत था परन्तु मार्गमें चोरोंने लूट लिया, इस तरह बात बनाकर कह दूँगा। और यदि फिर दुबारा ब्राह्मणी तङ्ग करेगी तो कह दूँगा कि मेरे मित्र कहते थे कि मैंने भाभीको नहीं देखा है अतः अवकी वार तुम्हीं जावो। (लीला में दिखाते है कि प्रभुने सुदामाजीको खूब वहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे समलकृत करके विदा किया था, परन्तु मार्गमें चोरोने वह भी छीन लिया, ये जैसे आये थे वैसे ही घरको गये।) परन्तु सर्वथा निष्काम हृदय सुदामाजीके मनमें इस वातकी किञ्चित भी हानि ग्लानि नहीं थी कि लक्ष्मीपतिके यहाँ से भी मैं खाली हाथ ही लौटा। मेरे राजराजेश्वर मित्रने मुझ दरिद्रकी दरिद्रताका समाधान नही किया। वे सोचते जा रहे थे कि—अहो ! आज मैंने अपने परम सुहृद श्रीकृष्णकी ब्राह्मण भक्ति देखा, कहां अत्यन्त दरिद्र, पाप निवास मैं, और कहाँ लक्ष्मीपति, पुण्य निवास प्रभु। परन्तु उन्होने मुझे अपनी भुजाओं में भरकर हृदय से लगाया। यथा—

क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः। ब्रह्मवन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः (भा०)

अपनी प्रियाके पलंग पर वैठाया। मेरे चरण धोये। देवताके समान मेरी पूजाकी। परम दयालु ब्रह्मण्य देव श्रीकृष्णने यह सोच कर मुझे थोड़ा सा भी धन नही दिया कि कही यह दरिद्र धन पाकर विल्कुल मतवाला न हो जाय और मुझे भूल न वैठे। यथा—**अधनोऽयं धनं प्राप्तो माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्। इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात्॥** (भा०) 'विछुरनि छीजे है'—यदि इन्हे दुख है तो प्रभु वियोग का। 'प्रभु वियोग लवलेस समाना। सव मिलि होहिं न कृपा निधाना॥

आये निजग्राम वह अति अभिराम भयो नयो पुर द्वारका सों देखि मति गई है।
तिया रंग भीनी संग सतनि सहेली लीनी कीनी मनुहारि यों प्रतीति उर भई है॥
बहै हरि ध्यान रूप माधुरी को पान तासों राखै निज प्रान जाके प्रीति रीति नई है।
भोग की न चाह ऐसे तनु निरबाह करै ढरै सोई चाल सुख जाल रसमई है॥५७॥

शब्दार्थ—सतनि=सैकड़ों। मनुहार=अनुनय-विनय।

भावार्थ—जव श्रीसुदामाजी द्वारका से अपने ग्राम को आये तो उन्होने देखा कि वह नया और अत्यन्त सुन्दर नगर हो गया है। उसकी रचना और उसका ऐश्वर्य द्वारकाके समान है, उसे देखकर उनकी वुद्धि आश्चर्य चकित हो गई। वे विचारने लगे कि मेरी झोंपड़ी और ब्राह्मणी कहाँ गई ? क्या यहाँ किसी राजाने नगर वसा दिया ? इतने मे ही भगवत्कृपासे प्राप्त ऐश्वर्य और पति दर्शनके आनन्दसे मग्न हुई सुदामाजी की स्त्री सैकड़ो सखी सहेलियों को साथ लेकर आई। उसने सादर अपने पतिदेवका स्वागत कर उनकी अनुनय-विनय की। श्रीकृष्ण कृपासे प्राप्त ऐश्वर्यका समाचार सुनाया तव उन्हें विश्वास हुआ। अपार वैभवको पाकर सुदामाजी उसके मोह और भोगोमे आसक्त नहीं हुए। वे सदा श्रीकृष्णकी रूपमाधुरी का ध्यानरूपीअमृत पानकरके अपने प्राणोंका पोषण करते थे। न कि खान पानसे शरीरका। उनकी प्रीति की रीति ही निराली थी। उन्हें संसारी भोगोंकी चाह विल्कुल नही थी। अन्न वस्त्र आदिका उतना ही प्रयोग करते थे कि जितनेसे शरीरका निर्वाह हो जाय वे उसी अपनी पुरानी चालसे चलते थे। जो सात्विक सुख और प्रेमके रससे परिपूर्ण थी॥५७॥

व्याख्या—आये " ' मानि गई है-

बैसेइ राज समाज बने गज वाजि घने मन सम्भ्रम छायो।
कैधो परचो कहुं मारग भूलिके कै अब फेरि हौं द्वारिकै आयो॥
भौन विलोकिबे को मन लोचत सोचत ही सब गांव मझायो।
पूछत पांडे फिरें सबसों पर झोपड़ी को कहुं खोज न पायो॥१॥

पद— सुदामा मन्दिर देखि डरे।
यहां तो रहो मेरी ठाकुर सेवा कञ्चन महल खरे॥
यहाँ तो रही मेरी नारी सुशीला दासी झुण्ड खड़े।
यहाँ तो रह्यो मेरो तुलसी बिरवा अब गज वाजि खड़े॥
कनक झरोखा निरखे सुशीला बाहर कन्त खड़े।
ऐसी हरी करी मेरे संग जात गलानि गरे॥
सुदामा मन्दिर देखि डरे॥२॥

याही ते जनम भरि गयो नहीं श्याम जू पै मेरो कह्यो वचन पड़ाइनि न मानै हो।
काहु जाहु लै रह्यो न मानति अनाज खाइ ऐंड़ी मैंड़ी बातें तो गोविन्दकी न जानै हो॥
द्रोपदीको चीर दिये गोपिन को छीन लिये ग्राह ते बचायो गज रंगभूमी भानै हो।
ब्राह्मणी समेत कहूं खेत ते उखारचो घर, केते समझायों तिया समझ न आनै हो॥३॥

चौतरा उजारि काहू चामीकर धाम कीन्हों, छानि को हटाय हाय छाई चित्र सारी जू।
जौ हौं होतो घर तो पै काहेको बनन देतो होनहार ऐसी खोटी दशा ही हमारी जू॥
गयो हौं दरन दुख दीनता अधीनता पै आई सिर आफत हमारे बड़ी भारी जू।
लोभ की सवारी, दुख भूख की दलन हारी भैया बनवारी काहू सोऊ मारि डारी जू॥४॥

इतने में बहुत से सेवको ने आकर श्रीसुदामाजीका अभिवादन कर भीतर भवनमें पधारने को प्रार्थना किया। उधर श्रीसुशीलाजी झरोखे से अपने पतिदेवको देखकर सैकड़ो सखियों को संग लेकर अगवानी हेतु आगे आई। यथा—'तियारंग भीनों'—

दूरि ही ते चीन्हि कह्यो आयो पिय द्वारका सों साजिके सुदामा वाम उठी अतुराइ कै।
उर्वशी तिलोत्तमासी पूर्व चित्ति मेनकासी सेविका हजार लीनी चली संग चाइ कै।
पान दान वारी केती पीक दान वारी चौंर पङ्खावारी पटवारी चलीं अति धाइ कै।
आरती उतारें गाय मङ्गल मनावें विप्र अति सकुचाय वह फूलै सुख पाइकै॥

सेवको ने निवेदन किया।

सखिन संग श्रीस्वामिनी, आवति है तुव पास।
सुनत सुदामा सहमिगे, मानि हृदय अतित्रास॥

आलिन के जूप ज्यों ज्यों आदर सों बोलें आइ त्यों त्यों डरपाइ पग आगे को न देत हैं।
पण्डित न जोतिषी न वैदवा न कौतुकी हौं रानी जू बुलावती हैं कहो कौन हेत हैं॥

द्वारकाके राजा से मिले ते घर छीनो गयो रानी कहा छीनैगी फल्यो न मेरो खेत है।
मोसों कहा नातो तुम जाइ कहो वाते मोहि भूलि ना सुहातो कोउ सांची कहे देत है॥

तव तक श्रीसुशीला जी समीप आ गई। सुदामाजी पहचान नही पा रहे थे। तब सुशीलाजीने कहा—मैं तो नारि तिहारिये, सुधि सँभारिये कन्त। प्रभुता सुन्दरता दई, अदभुत श्रीभगवन्त॥ तव सुदामाजीको विश्वास हुआ। महलमें आये, अनन्त वैभव देखकर चकित हो गए, तथा प्रभुको कृपा पर बार-बार वलिहार गये कि देखो तो मेरे तनिक से तुच्छ चिउड़े को तो लोक प्रसिद्ध कर दिये और स्वय इतनी अपार सम्पत्ति दिये, परन्तु और की कौन कहै, मैं स्वयं तक नहीं जान पाया। 'ऐसो को उदार जग माहीं।' 'अस सुभाव कहुँ सुनेउँ न देखेउँ' पुनः दूसरे ही क्षण सुदामाजी को यह विचार आया कि भला इस वैभवमें फँस कर कौन नही भगवानको भूल जायगा ? हाय ! हाय! मैं तो लुट गया, प्रभुका भजन छूट जायगा, क्योकि सुख, ऐश्वर्य को तो भगवद् भजनमें वाधक कहा गया है। यथा—

सुख सम्पति परिवार बड़ाई। सव परिहरि करिहौं सेवकाई॥
ए सव राम भक्तिके बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥ (रा० च० मा)

सुदामाजी मूर्च्छित हो गये। भक्तवत्सल भगवान तत्काल वहीं प्रगट हो गये और इन्हें समझाये कि सुदामाजी ! आप चिन्ता न करें, इससे आपको मेरे भजनमें वाधा नहीं पडेगी, यह तो मेरी प्रसादी है। कृपा द्वारा प्राप्त वैभव वाधक नहीं होता। दूसरी बात यह है कि जो भगवद्विमुखप्राणी हैं उनको ये सव वाधक है, आप तो परम भागवत हैं, अतः आपको कोई चिन्ता नहीं। जैसे पारसके स्पर्शसे स्वर्ण भाव को प्राप्त लोहा पुनः लोहा नही होता वैसे ही मुझको प्राप्तकर जीव पुनः संसारमें नही पड़ता है यथा—मम दरशन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥ (रा०च०मा०) तव सुदामाजी को धैर्य हुआ।

जाके प्रीति⋯⋯नई है—प्रेमका यही वास्तविक रूप है कि वह नित्य नव-नवायमान ही वना रहता है। यथा—सोई पिरीति अनुराग वखानिवे तिल-तिल नूतन होय॥ (विद्यापति) रटत-रटत रसना रटी, तृषा सूखि गये अङ्ग। तुलसी चातक प्रेमको नित नूतन रुचिरंग॥ (दोहावली) श्रीसुदामा जीकी श्रीकृष्णमें ऐसीहो प्रतिक्षण वर्द्धमान नितनूतन प्रीति है। तथा जन्म-जन्ममें इसी प्रीतिकी अभिलाषा करते हैं। यथा—

तस्यैव मे सौहृद सख्यमैत्री दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्।
महानुभावेन गुणालयेन विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः॥ (भा०)

अर्थ—मुझे जन्म जन्ममें उन्हींका प्रेम, उन्हीकी हितैषिता, उन्हीकी मित्रता, और उन्हींकी सेवा प्राप्त हो। मुझे सम्पत्तिकी आवश्यकता नहीं, सदा सर्वदा उन्हीके गुणों के एकमात्र निवासस्थान महानुभाव भगवान श्रीकृष्ण के चरणोमें मेरा अनुराग वढ़ता जाय और उन्हीके प्रेमी भक्तोंका सत्सङ्ग प्राप्त हो।

भोग की न चाह—

अवध राज सुरराज सिहाई। दशरथ धन सुनि धनद लजाई॥
तेहिपुर भरत वसत विनुरागा। चंचरीक जिमि चंपक वागा॥

रमा विलास राम अनुरागी। तजत वमन जिमि जन बड़भागी ॥
पुन: 'सुमिरत रामहिं तजहिं जन, तृणसम विषय विलास।'
'रामचरन पंकजप्रिय जिन्हहीं। विषयभोग वसकरहिं कि तिन्हहीं ॥' (रा०)

'जे रघुवीर चरन अनुरागे। ते सब भोग रोग सम त्यागे ॥'
ब्रह्म पियूष मधुर शीतल जो पै मन सो रस पावै।
तौ कत मृग जल रूप विषय कारन निशि वासर धावै ॥
जेहि के भवन विमल चिन्तामनि सो कत कांच बटोरै ॥ (वि०)

श्रीविहारी दास रस मत्त जे ते न विषयखर खांइ ॥

दृष्टांत—त्यागी के राजा बनने का—एक नगरके राजाका देहावसान होगया था। वहाँ नये राजाके चुनावका यह नियम था कि प्रात:काल नगर द्वारपर जो कोई प्रथम मिल जाता उसे ही राजा बना दिया जाता। सयोगसे एक बड़े त्यागी महात्मा कहीं बाहर से आये, नगरमे प्रवेश नही कर पाये थे, तब तक नगर-द्वार बन्द हो गया। अत: रात्रिमें द्वारपर ही पड़े रहे। प्रात काल जब द्वार खोला गया तो सर्वप्रथम त्यागीजी ही मिले, मन्त्रियोने इन्हीको राजसिंहासनपर बैठा दिया। त्यागीजी को राजोचित पोशाक धारण कराई गई। परन्तु त्यागीजीने अपना आडबन्द-लँगोटी, कमण्डलु-कौपीन-सुरक्षित रक्खा। उसकी उपेक्षा नही किया। अनासक्तभाव से राजकी देखभाल करते। हुक्म देदिया कि खूब सन्तसेवा होने दो, ब्राह्मणभोज कराओ, गरीबों, दीन-दुखियोंको अन्न-वस्त्र बाटो, घोटो-छानो। नगर मे अमन-चैन छागया। पड़ोसी राजाको जब यह सब मालूम हुआ कि महात्यागी इस नगरके राजा बनाये गये हैं, वे स्वयं रात-दिन भजन-पूजनमे मग्न रहते हैं, प्रजाको खूब घोटने-छाननेकी आज्ञा दे दिये है तो भला ये राज्य कैसे सम्भाल सकते हैं अत: उसने अवसरका लाभ उठानेकी सोची। राज्यपर सहसा आक्रमण करदिया। मन्त्रियोने जब इस बातकी सूचना दी, तो उन्होने कहा—लाओ हमारा आड़-बन्द, लँगोट कमण्डलु-कौपीन, इतने दिन तक हमने घोटछान किया अब वह घोटे-छाने, अपने राम जंगलकी राह लेते हैं। ऐसा कहकर कमण्डल उठाया और चल दिये। क्योंकि त्यागीजीके हृदयमें भोगोकी तो चाह थी नहीं जो राजसे चिपके रहते, परमानन्दमें मग्न रहने वाले भला तुच्छ लौकिक सखोको समझे ही क्या? ऐसे ही श्रीसुदामाजीको भी भोग की न चाह।

तनु निर्वाह करें—भाव यह है कि पूर्ववत् केवल शरीर निर्वाह मात्र खान-पानसे प्रयोजन रखते। इतना भी इसलिए कि—'तनु बिनु वेद भजन नहिं बरना।' हरें······रसमई है—सोइ चाल अर्थात् पूर्ववत् संतोषपूर्वक जीवनयापन करना। सुखजाल कहने का भाव यह कि 'सन्तोषादनुत्तमसुख लाभ.।' (पा०यो०द०) अर्थ—सतोषसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। बिनु सन्तोष न काम नसाहीं। 'काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।' कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु ॥(रा०च०म०)

दृष्टांत—सन्तोषी ब्राह्मण का—एक ब्राह्मण थे। बड़ी सुन्दर कथा कहते थे। सन्तोषकी साकार प्रतिमा थे। कथामें भी प्रसन्न पाकर सन्तोषकी बड़ी महिमा वर्णन करते। गोधन, गजधन, बाजिधन, और रतनधन खान। जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान।' तथा—'सन्तोषी ब्राह्मण सदासुखी।' ये दो वाक्य तो ये बात बात मे दुहराया करते थे। एक बार एक राजाके यहां कथा

हो रही थी। इनकी इस बातको सुनकर राजाके मनमे परीक्षाकी बात आई कि देखें तो ये कहते ही भर है, कि है भी सन्तोषीं। फिर तो पण्डितजीने एक महीना कथा कहा और राजाने कुल दो रुपये चढ़ाये। (राजाने सोचा था कि परीक्षा के बाद फिर पण्डितजी को अच्छी भेंट कर दूँगा) पण्डितजी ने वड़ी प्रसन्नतापूर्वक वे दो रुपये लेकर पोथी बांधकर चल दिये। राजा ने देखा—वास्तव में पण्डितजी को **'मन महँ तनिक विषाद न आवा।'** नहीं तो कथा वाचक को दक्षिणा कम मिलने पर वड़ा दुख होता है। कथा आती है कि एक पण्डितजी बड़ी रसमयी कथा कहते थे, करुण प्रसङ्गों पर श्रोताओंको आँसुओं की झड़ी लग जाती, परन्तु पण्डितजी को कभी एक बूँद भी आंसू नही गिरते।

एक दिन एक व्यक्ति ने पूछा—पण्डितजी ! आपके श्रीमुखसे कथा सुनकर दूसरे तो प्रेम विह्वल होकर आंसू बहाने लगते हैं। परन्तु आपके नेत्र कभी गीले भी नही होते है। क्या बात है ? पण्डितजी वोले—भैया ! मेरे भी आंसू आवेंगे, पर अभी नहीं, जव दक्षिणा कम मिलेगी तो देखना मेरे आंसूओं का प्रवाह। तात्पर्य ब्राह्मणोंको प्रायः दक्षिणा पर बडा ध्यान रहता है। परन्तु सब एक से नही होते हैं ये पडितजी तो वड़े सन्तोषी थे। दक्षिणा के दो रूपये ही लेकर चल दिये। मार्ग में एक वैश्य मिला, वह व्यापार के लिये विदेश जा रहा था। उसने सुन रखा था कि पण्डितजी राजाके यहाँ कथा बाँच रहे है, अपनी सहज वणिक वृत्तिसे उसने कहा—पण्डितजी!अगर आपके पास भी कुछ रुपये हों तो मुझे दे दीजिए, मैं आपके पैसे भी व्यापार में लगा दूँगा और जो भी मुनाफा होगा वह मूल धनके सहित आपको लौटा दूँगा। उसने सोचा था कि राजाके यहाँ कमसे कम दस-पांच हजार तो चढ़े ही होगे। पण्डितजी दो रुपया उसके हाथ पर धरते हुये वोले—आज की दक्षिणा तो यही है। वणिक ने वह दो रुपया ही ले लिया और विदेश जाकर अपना कारोवार किया। पण्डितजी के दो रुपयेका कौन व्यापार करूँ यह उसकी समझ में नही आया। कुछ दिन वाद जव लौटा तो रास्तेमें उसका जहाज एक समुद्री टापू के पास रुका था, वहाँ उसने विल्ली के दो वड़े ही तेज-तलव, अद्भुत अनोखे वच्चे देखे। दो रुपये में दोनों को खरीद लिया और अपने देश आ गया।

संयोग वस वही राजा समुद्र तट पर एक वहुत वडा यज्ञानुष्ठान कर रहे थे। वैश्यको पता चला तो वह अपने मित्र राजासे मिलने गया, देखा तो राजा वडे ही उदास वैठे थे। कारण पूछने पर राजाने वताया कि मित्र! कुछ पूछो मत। इस समय मैं चूहोके उपद्रवसे वहुत ही हैरान हूँ। मैं यज्ञ कर रहा हूँ,यहाँ और तो सव ठीक है परन्तु चूहे इतना वढ गये है कि ब्राह्मणों को भोजन तक नही करने देते है। पत्तलों पर से परसा-परसाया सामान उठाकर, देखते-देखते चले जाते है। यज्ञमे हिंसा निषेध है अतः मारे जा नहीं सकते, विचारे ब्राह्मण भूखे ही रह जाते है। मुझे इसका कुछ उपाय नही सूझना है। वैश्यने कहा—महाराज ! इसका उपाय तो मेरे पास है, मैं अभी किये देता हूँ। फिर तो उसने दोनो विल्ली के वच्चों को लाकर खडा कर दिया। डरके मारे चूहोंका आना जाना एक दम वन्द हो गया। राजाने जवरदस्ती वैश्य को दो हजार रुपया दिया। वैश्यने वह रुपये पण्डितजी को देते हुये कहा—महाराज ! आपके ये दो रुपये तो वड़ी कमाई के निकले। पण्डितजीने तुरन्त साधु ब्राह्मणों का वडा वढ़िया भण्डारा किया। उधर राजा यज्ञानुष्ठान पूर्ण कर पण्डितजीका पता लगाने के लिये उनके घर गये तो देखा खूब जय घोष पूर्वक महात्माओं की पंक्ति हो रही है। पूछा—पण्डितजी ! वड़ी धूम-धाम है। क्या वात है ? पण्डितजी ने समस्त वृतान्त कह सुनाया। सुनकर राजा वड़ा लज्जित हुआ, चरणों में पड़कर पांच हजार रुपया और भेंट किया और वोला—सचमुच—'सन्तोषी विप्र सदा सुखी।' अतः सुदामाजी भी ढरे सोई चाल।

अब श्रीसुदामाजी कभी-कभी स्वेच्छा से परम सुहृद श्रीकृष्णसे मिलने द्वारकापुरी जाया करते थे। एक बार की बात है—ये सखा श्रीकृष्णसे मिलने द्वारका को गये हुये थे। दोनो मित्र स्नानार्थ सरोवर पर जा रहे थे। मार्ग में सुदामाजी ने कहा—भैया श्रीकृष्ण ! मैंने सुना है, तेरी माया बड़ी प्रबल है। क्या कभी मुझे भी उसका चमत्कार दिखा सकते हो ? श्रीकृष्णने कहा-चलो मित्र मैं अभी दिखाता हूँ। माया-नाट्य दिखानेके लिए प्रभुको कुछ रंग मंच, परदा, सीन (दृश्य) थोड़े ही तैयार करना पड़ता है। तालाबमें पहुँच कर दोनो मित्र ज्यों ही जलमें डुबकी लगाये,तो सुदामाजी तो तुरन्त ही एक विलक्षण देशमें जा पहुँचे। देश बड़ा रमणीक था। वहाँ का राजा मर गया था। लोग एक योग्य राजाकी तलाशमे थे। तब तक जनता की दृष्टि इन पर पडी। इनके देवोपम स्वरूपको देखकर सब लोगो ने सर्व सम्मति से इनको ही राजगद्दी पर बिठा दिया। ये भी सुख पूर्वक राज-काज करने लगे। इनका एक रूपवती कन्यासे विवाह हुआ। बहुत से बाल बच्चे हुये। इस प्रकार बड़े ही सुखमें मानो कई वर्ष बीत गये।

एक दिन दैव दुर्विपाक वश इनकी पत्नी मर गई, ये बड़े ही दुखी हुये और उस दुःख मे भी बड़ा दुःख यह हुआ कि उस देश की प्रथा थी कि स्त्रीके मरने पर पुरुषको उसके साथ आत्म-दाह करना पड़ता था अतः वहाँ के लोग इन्हे भी स्त्रीके साथ जल मरनेको विवश करने लगे। पर ये तैयार नही हो रहे थे। तब अन्तमे लोग जबर्दस्ती इन्हें पकड़ कर जलती हुई चिता में डाल देना चाहे, उस समय ये घबड़ाकर बल पूर्वक उनसे छुडाकर भागे तब तक जल से बाहर आगये। श्रीकृष्ण मुस्करा रहे थे। प्रभुने पूछा—कहो मित्रवर ! इतने व्यग्र क्यो हो ? श्वास साध कर ये बोले—भैया ! तुम्हारी कृपासे बचकर आ गया, नही तो लोग जिन्दा ही जला देते। श्रीप्रभु बोले—भैया ! बस यही हमारी दुरत्यया माया है। सुदामाजी ने हाथ जोड़कर कहा—'अब जनि कबहू प्यारे, प्रभु मोहिं माया तोरि।' इस प्रकार भगवान श्रीकृष्णके प्यारे सखा सुदामाने उन्ही के ध्यानमें निरन्तर तन्मय रहते हुये, थोड़े ही समयमें सन्तोंके एक मात्र आश्रय भगवद्धाम को प्राप्त किया।

श्री चन्द्रहास जी

हुतो एक नृप ताके सुत चन्द्रहास भयो परी यों विपति धाई लाई और पुर है।
राजा को दीवान ताके रही घर आन बाल आपने समान संग खेलैं रस ढुर है।
भयो ब्रह्मभोज कोई ऐसोई संयोग बन्यो आये वै कुमार जहाँ विप्रन को सुर है।
बोलि उठे सबै तेरी सुता को जु पति यहै हुवो चाहै जानि सुनि गयो लाज घुर है।५८।

शब्दार्थ—धाई=धाय, पालन करने वाली मां। और पुर=दूसरे नगर। आन=आकरके। रस ढुर=प्रसन्न, भक्तिरस प्रवृत्त। सुर=देव, प्रधान। घुर=घुल।

भावार्थ—केरल में एक सुधार्मिक नामका राजा था उसी के पुत्र भक्त चन्द्रहासजी हुये। जन्मके थोडे दिन बाद ही इनके पिता संग्राम मे वीरगति को प्राप्त हो गये और माता सती हो गई। शासन शत्रुओ के हाथमे चला गया। इस प्रकार बड़ा भारी सकट पड़ा। तब धाय मां बालक चन्द्रहास को लेकर कुन्तलपुर चली गई और वहां के मन्त्री धृष्ट बुद्धिके यहा रहने लगी तथा चन्द्रहासको अपना बालक बना-कर उसका पालन पोषण करने लगी। चन्द्रहास अभी पांच ही वर्ष के हुये थे कि उस धाय मां का भी

स्वर्गवास हो गया। अब वे अनाथ हो गए। चन्द्रहास अपने समान अवस्था वाले वालकों के साथ भक्ति-रसवर्द्धक खेल खेला करते थे। [एक दिन कृपालु श्रीनारदजी ने आकर दर्शन दिया और एक शालग्रामकी छोटी सी मूर्ति समेत भगवन्नामका उपदेश दिया, चन्द्रहासजी नित्य उसकी पूजा करके उसे मुखमें रख लेते थे] एक दिन धृष्टवुद्धि के यहाँ व्राह्मण भोज हुआ, संयोगवश चन्द्रहासजी वहीं खेल रहे थे जहां व्राह्मणों में प्रधान विद्वान् वैठे थे। उसी समय धृष्टवुद्धिने वहाँ आकर पूछा कि—मेरी कन्या का कैसा भाग्य है, इसे कैसा पति प्राप्त होगा। तव वे सब चन्द्रहासकी ओर संकेत करके वोल उठे कि—यही तेरी कन्याका पति होना चाहिये। दासी पुत्र मेरी कन्या का पति होगा, यह जानकर वह लज्जा से घुल गया ॥५८॥

व्याख्या—हुतो एक …… भयो—

केरलाधिपतिः पूर्वमासीद् राजा सुधार्मिकः। राज्यं चकार मेधावी विधिवत् पालयन् महीम्।
तस्य पुत्रोऽभवन्मूलनक्षत्रे बहुभाग्यवान् ॥ (जैमिनीयाश्वमेध पर्व ५५। २१-२२)

अर्थ—प्राचीनकालकी वात है, केरल देशमें एक परममेधावी (वुद्धिमान) राजा राज्य करता था। उसका नाम था सुधार्मिक। वह शास्त्र विधिके अनुसार पृथ्वीकी रक्षा करता हुआ राज्य-कार्य सँभालता था। उसके एक महान भाग्यशाली (चन्द्रहास नामक) पुत्र हुआ, जिसका जन्म मूलनक्षत्रमें हुआ था। **परीयों विपति**—शत्रुराजाओंने मिलकर एक वारगी केरल देशपर चढ़ाई करदी. राजा सुधार्मिक युद्धमें मारे गये, उनकी रानी, पुत्र चन्द्रहासको धायके हाथों सौपकर पतिके साथ सती होगई। शैशवावस्था में ही मातृ-पितृ हीन हो जाना भारी विपति है। प्रश्न—ऐसे महाभागवतके ऊपर शैशवावस्थामें ही इतनी वड़ी विपत्ति क्यो? समाधान—भगवानके श्रीमुखका वचन है—

यस्य तुष्टो ह्यहं पार्थ वित्तं तस्य हराम्यहम्। करोमि वन्धुविच्छेदं स च कष्टेन जीवति ॥

अर्थ—हे पार्थ ! जिसपर मैं प्रसन्न होता हूँ उसका मैं धन हर लेता हूं, वन्धु-वान्धवोसे वियोग करा देता हूँ। वह वड़े कष्टके साथ जीता है ॥ पुनः—

जाको करत स्याम सहाइ। प्रथम वरनौं कृपा क्रम हौं विषै मूल गमाइ ॥
कुल कुटुम्व वल वित्त हीनो दीनकै दुखदाइ। आपनेको करि जु लीन्हों आपुही अपनाइ॥

धाई ल्याई और पुर है—विपक्षियोंने राजवंशका सर्वथा विनाश करनेके लिये महल को घेर लिया, कि जिसमें कोई भी पुरुष, स्त्री वा वच्चे वँच न पावें, सवको एक एक करके खोजकर मार दिया जाये। क्योकि नीति है—'रिपुरिन रंच न राखव काऊ।' 'रिपुरुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिय न छोट करि।' परन्तु 'जाको राखै साइयाँ मारि सकै नहिं कोय।' धायने भगिनका वेश वनाया, शिशु चन्द्र-हासको टोकरीमें रखकर ऊपरसे दोना-पत्तल रखकर महलसे वाहर निकली, पहरेदारों में से किसी ने इच्छा किया कि देखें भंगिनकी टोकरीमें क्या है, परन्तु भगवत्प्रेरणा से किसीने घृणा भी उत्पन्न करदी अतः तलाशी नही ली गई, वह वचकर निकल गई।

दृष्टान्त—पन्ना धाय का—चित्तौड़के महाराणा संग्रामसिंहके वीरगति प्राप्त करने पर, उनका ज्येष्ठपुत्र विक्रम गद्दीपर वैठा। परन्तु उसको राज्य-कार्यमें अयोग्य जानकर राजपूत सरदारों

ने महाराणा के छोटे पुत्र षट् वर्षीय उदयसिंह को गद्दी पर बैठाकर उनकी सुरक्षा का भार दासी-पुत्र बनवीर को सौंपा। बनवीर के मनमें राज्य का लोभ हो आया। अतः उस नर-पिशाच ने एक दिन, यह सोच कर कि यदि मैं महाराणा के दोनों पुत्रों को मार डालूँ तो राज्य का सर्वेसर्वा मैं ही हो जाऊँगा, रात्रि में नंगी तलवार लेकर सोते हुए विक्रम का वध कर उदयसिंह की ओर आ ही रहा था कि महल में जूठे पत्तलों को साफ करने के लिए आई हुई वारिन के द्वारा बनवीर के कुकृत्य एवं उसके हृदय की दुर-भिसन्धि को जान कर, उदयसिंह की धाय पन्ना ने तत्काल अपना कर्तव्य विचार कर, बालक राणा उदयसिंह को वारिन को देकर, वीरा नदी के तट पर मिलने का सकेत कर, तुरन्त वहाँ से चले जाने को कहा। वारिन टोकरी में उदयसिंह को रखकर पत्तलों से ढककर महल से बाहर निकल गई। इधर पन्ना धाय ने अपने पुत्र चन्दन को उदयसिंह के पलँग पर लिटा दिया। तब तक बनवीर ने आकर उदय का पता पूछा। धाय ने अँगुली से अपने सोते हुए पुत्र की ओर संकेत कर दिया। बनवीर की तलवार उठी तत्काल बालक का शिर धड़ से अलग हो गया। उस धर्मनिष्ठ धाय ने उफ तक नहीं किया। बनवीर के चले जाने पर वह पुत्र का शव लेकर महल से बाहर निकली, वीरा नदी के तट पर उसने पुत्र का अन्तिम संस्कार किया। वारिन से उदयसिंह को लेकर यत्र-तत्र भटकती हुई देवरा के आशाशाह की शरण ग्रहण की। समय आने पर बनवीर को अपने दुष्कर्म का समुचित दण्ड मिला, महाराणा उदयसिंह जब सिंहासन पर बैठे तो पन्ना धाय को चरण-धूलिको मस्तक पर चढ़ा कर उन्होने अपने को धन्य माना।

ऐसे ही चन्द्रहासजी की धाय ने भी अपना कर्तव्य निबाहा। चन्द्रहासजी को लेकर कुन्तलपुर में राजा कुन्तलक के मन्त्री धृष्टबुद्धि के घर रहने लगी। विधि का विधान बड़ा विलक्षण होता है। जब बालक चन्द्रहास तीन साल का हुआ तो वह सती-साध्वी धाय भी परलोक सिधार गई। यथा—सोऽर्भकस्त्र्याब्दिको गौरो लक्षणैरभिलक्षित। ततः स पञ्चत्वमगमद् धात्री बालं विना सती॥(जै०५५।२७) तब उस शुभ लक्षणों से लक्षित गौर वर्ण, परम सुन्दर बालक चन्द्रहास का पालन-पोषण उस नगर की वात्सल्यमयी माताएँ करने लगी। कोई नहला देतीं, कोई बढ़िया शृङ्गार कर देती, कोई भोजन कराती, कोई चन्दन लगा देती, कोई टोपी बनवा देतीं, कोई गोद में उठाकर बहुत-बहुत प्यार करतीं। इस प्रकार बालक चन्द्रहास का जीवन बड़ा ही आनन्दमय हो गया। सत्य ही कहा है—जापर कृपा राम कै होई। तापर कृपा करैं सब कोई॥

खेलैं रस छ्वर है—जन्म से ही भक्ति के शुभ संस्कार थे अतः बालकों के साथ खेलते भी तो रसमय अर्थात् भगवत्सम्बन्धी खेल खेलते। यथा—खेलउँ तहूं बालकन मीला। करउँ सकल रघुनायक लीला॥ (कागभुसुण्डीजी)

चौदहों भुवनों में अव्याहत गति से परिभ्रमण करने वाले देवर्षि नारदजी एक बार कुन्तलपुर में आये तो देखा एक नन्हा-सा बालक आंख बन्द कर ध्यान मुद्रा में बैठा है। त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ नारदजी को समझते देर नही लगी। भविष्य मे यह बालक भक्त भूप होगा अतः उसकी भक्ति को प्रोत्साहन देना चाहिए, यह विचार कर देवर्षि ने उस परम अधिकारी बालक को एक शालग्राम भगवान की मूर्ति देते हुए संक्षेप में पूजन की विधि (धो के पी लेना, दिखा के भोजन पाना) बता कर भगवन्नाम का उपदेश कर दिया तथा श्रीशालग्रामजी को कपोल-मध्य में रखने की युक्ति बता कर वहाँ से प्रस्थान किये। अब तो बालक की दशा कुछ और ही हो गई। चन्द्रहास एकान्त में बैठकर भगवान का पूजन करते, ध्यान करते,

भाव विभोर होकर भगवन्नामका गान करते हुये नृत्य करने लगते। उस समय उनकी वह भाव दशा ऐसी मनोहारिणी होती कि नगरके लोग उनका दर्शन कर अपनी सुधि वुधि खो वैठते। वर्णन आया है कि जव वालक चन्द्रहास तन्मय होकर कीर्तन करने लगते तो उस समय उन्हे प्रत्यक्ष दीखता कि एक नील सरोरुह-नीलमणि नील नीरधर-श्याम-सलोना वालक मधुर-मधुर मुरली वजाते हुये मेरे साथ नृत्य कर रहा है, इससे चन्द्रहास की तन्मयता और भी गाढ़ हो जाती।

ऐसोई संयोग वन्यौ—भाव यह कि धृष्टवुद्धि तो 'यथानाम तथा गुण' के अनुसार धृष्ट वुद्धि वाला ही था, उसके यहाँ कहा साधु-व्राह्मणोंका सत्कार, उसका पुत्र मदन भागवत था, वह कभी कभी कोई उत्सवादिका व्याज (वहाना) वनाकर साधु-व्राह्मणों की सेवा करता था। आज भी ऐसे ही व्रह्मभोज रहा। 'कोई ...... कुमार'—उसी समयमें कोई ऐसा संयोग वना कि चन्द्रहास समवयस्क वालकों को साथ लिये भगवन्नाम संकीर्तन करते हुए उधर ही जा निकले, नही तो ये प्रायः एकान्तमें ही स्मरण कीर्तन करते थे। परन्तु तुलसी जस भवितव्यता तैसी मिलै सहाय। आपु न आवै ताहिं पै, ताहि तहां लै जाय। वालकों की, विशेष कर चन्द्रहासकी अत्यन्त मधुर कीर्तन ध्वनि से आकृष्ट होकर व्राह्मण मण्डली मन्त्रमुग्ध होकर कीर्तन सुनने लगी। कीर्तन समाप्त होने पर व्राह्मणों ने स्नेहवस चन्द्रहासको साथ लेकर भोजन किया और वड़ी सूक्ष्मता से उसके शुभ लक्षणों को देखते रहे। भोजनोपरान्त जव मन्त्री ने अपनी लाड़िली वेटी विषयाको व्राह्मणों के चरणों में माथानवाकर प्रणाम कराकर उसके वरके सम्वन्धमें जिज्ञासा की तो सभी व्राह्मणों ने एक स्वर से कहा—'तेरी सुता को जु पति यहै।' सुनि गयो लाज धुर है—का भाव यह कि क्या सचमुच मेरी वेटीका व्याह इस अनाथ वालकसे होगा। यदि ऐसा हुआ तो वड़ी लज्जा की वात होगी। लोग क्या कहेगे।

परचो सोच भारी कहा करौं यौं विचारी अहो सुता जो हमारी ताको पति ऐसो चाहिये।
डारौं याहि मार याको यहै है विचार तव वोलि नीच जन कह्यो मारो हिय दाहिये॥
लैके गये दूर देखि वाल छवि पूर हम योनि परै धूर दुःख ऐसो अवगाहिये।
वोले अकुलाय तोहिं मारेंगे सहाय कौन मागौं एक वात जव कहौं तव वाहिये॥५६॥

शव्दार्थ—योनि=जाति, देह। धूर परै=धिक्कार है। अवगाहिये=भोगिये। वाहिए=तलवार चलाइये।

भावार्थ—धृष्टवुद्धि वड़े शोच विचार में पड़ गया कि—अहो! अव मैं क्या करूँ? कहां यह हमारी पुत्री और कहाँ वह अनाथ दासी पुत्र। सम्राट् के मन्त्री को कन्या को क्या ऐसा ही पति चाहिए, कदापि नही। यदि ऐसा हुआ तो मेरी वड़ी अपकीर्ति होगी। इसलिए अव यही विचार ठीक है कि इस लड़के को ही मरवा डाला जाय। ऐसा निश्चय करके उसने नीच वधिकों को वुलाकर कहा कि—'इसे मार डालो, यह मेरे हृदय को जला रहा है।' धृष्टवुद्धि की आज्ञासे वधिक लोग चन्द्रहास को दूर निर्जन वन मे ले गये। उन्होंने देखा कि वालक वड़ा सुन्दर है। वे अपने को धिक्कार कर कहने लगे कि—हमारी इस देह और जाति पर धूल पड़े जो अवध्यों का वध करके दुःखका अनुभव करना पड़ता है। फिर वे घवड़ाकर चन्द्रहास से वोले कि—हम तुम्हें मारेंगे वताओ, अव तुम्हारा रक्षक कौन है? चद्रहास ने

कहा कि—मैं तुमसे केवल एक बात मांगता हूं कि तुम लोग थोड़ी देर रुको, जब मैं कहूं तब मुझ पर हथियार चलाना ॥५९॥

व्याख्या—सुता ......चाहिये—'हमारी सुता' इस शब्द से धृष्टबुद्धिका मन्त्रीपनेका अभिमान द्योतित होता है। ताको पति ऐसो अर्थात् सर्वथा अनाथ, सब प्रकारसे दीन हीन नहीं होना चाहिये। शास्त्र की आज्ञा है—

जो घर वर कुल होय अनूपा। करिय विवाह सुता अनुरूपा।

पुनः— कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥ (सुभाषित)

अर्थ—कन्या रूपवानपति, माता धन, पिता विद्या, बन्धु वर्ग उत्तम कुल, और अन्य लोग (बराती) सुन्दर भोजन और सत्कार चाहते हैं। पुनः—समाने सदृशे वरे अर्थात् योग्य वरको कन्या देनी चाहिये। 'डारौं याहि मार' अर्थात् न रहै बांस न बाजै बाँसुरी।

देखि......अवगाहिये—'ततो देवः स भगवांश्चाण्डालांस्तानमूमुहत्। मोहितास्त्वन्त्यजा वाक्यमब्रुवन्कीदृश. शिशुः॥' अर्थ—तदनन्तर भगवान श्रीकृष्णने उन चाण्डालों को मोह में डाल दिया। तब मोह के वशीभूत हुए वे—चाण्डाल यों कहने लगे—भाइयो! यह कैसा सुकुमार बालक है, इसके नेत्र विशाल हैं, भुजायें घुटनो तक लटक रही हैं, और इसका रूप मन को चुराये लेता है। न जाने धृष्टबुद्धिने इसे मारने की आज्ञा क्यों दी है। हम लोग तो वैसे ही पूर्वजन्मके नाना प्रकार के पाप कर्मों के परिणाम स्वरूप चाण्डाल होकर उत्पन्न हुये हैं, फिर यदि हम इस बालकका वध करेंगे तो हमारी कौन दारुण दशा होगी। अथवा न जाने इस बालकने ही कौनसा ऐसा कर्म किया है कि जन्मसे ही मातृ-पितृ हीन होकर इस अल्प वयमें ही मृत्युका ग्रास हो रहा है।

बोले अकुलाय—इधर 'बाल छवि पूर' देखकर हृदय कहता है कि 'वध लायक नहिं बाल अनूप।' उधर मन्त्रीकी आज्ञा। क्या करें। यह समझमें नहीं आता परन्तु मन्त्रीके भय से आज्ञा पालनकी अनिवार्यता विचार कर बड़े ही विकल होकर बोले। 'तोहि मारेंगे सहाय कौन,यह रीति है,जिसका वध किया जाता है उसे अपने सहायक के स्मरणका मौका दिया जाता है। अहिरावणने श्रीराम-लक्ष्मणजी ने भी यही बात कहा था। (देखिये हनुमत्प्रसङ्ग) जो अनाथ हो जाता है, जिसका कोई सहारा नहीं होता उसके लिये अनाथ-नाथ, सर्वाधार श्रीहरि ही नाथ बन जाते हैं, आश्रय हो जाते हैं। फिर चन्द्रहास के तो वे सर्वस्व है। अतः चन्द्रहास को विश्वास है कि—

जो प्रभु भारत युद्ध में, राखे भरुही अण्ड।
सोई मोकूं राखि हैं जो राखत ब्रह्माण्ड॥

तथा— जिन राखो ऋषि यज्ञ जनक नृप को पन राखो।
जिन राखो पितु बोल काक कपटी जिन राखो॥
जिन राखो ऋषि सकल विकल दण्डक वन वासी।
जिन राखो सुग्रीव वसत गिरि ग्रसित उदासी॥
दनुज विभीषण पग परत लंक दई सन मानिकै।
सो प्रेम सदा पति राखि है दीनबन्धु जन जानि कै॥

मानि लीन्हों बोल वे कपोल मध्य गोल एक गंडकी को सुत काढ़ि सेवा नीकी कीनी है।
भयो तदाकार यों निहार सुख भार भरि नैननि की कोर ही सों आज्ञा बध दीनी है॥
गिरे मुरझाइ दया आइ कछु भाय भरे ढरे प्रभु ओर मति आनन्द सों भीनी है।
हुती छठी आंगुरी सो काटि लई दूषन हो भूषन ही भयो जाइ कही सांच चीन्हीं हैं ॥६०॥

शब्दार्थ—गण्डकी को सुत=शालग्राम। तदाकार=तल्लीन।

भावार्थ—वधिकों ने बात मान ली, चन्द्रहासने अपने गाल से एक गोल शालग्रामकी मूर्तिको निकाल कर वनके पत्र-पुष्पोंसे उसकी प्रेमपूर्वक सेवाकी। मूर्तिको पुनः गाल में रखकर ध्यानमें तल्लीन हो गए। समस्त सुखों से परिपूर्ण प्रभुकी छवि को देखकर हृदयमें धारण कर नेत्रों के इशारे से मार डालने की आज्ञा दे दी। वधिक मूर्छित होकर गिर पड़े। थोड़ी देर बाद वे सावधान हुए, उनके हृदयमें दया आ गई। भक्त बालककी दशा देखकर वे भी भगवान्की ओर झुके। 'उनका हृदय आनन्दसे विभोर हो गया। चन्द्रहासके बायें पैर में छः अँगुलियां थीं जो एक दोष था। वधिकों ने छठी अँगुली धृष्टवुद्धिको दिखाने के लिए काट ली। जो अच्छा ही हुआ। वधिकों ने जाकर कटी अँगुली धृष्टवुद्धिको दिखाकर कहा कि-हमने उसे मार डाला। उसने भी अँगुली पहचान कर उनकी बात को सत्य मान लिया॥६०॥

व्याख्या—गोल गंडकी सुत— 'वृत्ता सुवृत्तदा प्रोक्ता' अर्थ—शालग्रामकी गोल प्रतिमा का पूजन करने से सुन्दर आचरण की प्राप्ति होती है। (शालग्राममाहात्म्य) 'भयो तदाकार'—चन्द्र हासजी ने पूजा करके भगवान की स्तुति की। यथा—

> कृष्ण कृष्ण जगन्नाथ वासुदेव जनार्दन। चाण्डालाः शित धारैश्च खड्गैर्घ्नन्ति जगत्पते॥
> पाहि मां परमानन्द सर्वव्यापिन् नमोऽस्तुते। ध्रुवश्च रक्षितोयेन प्रह्लादो गजराट् तथा॥ (जै०)

अर्थ—हे भक्तोंका चित्त आकर्षित करने वाले श्रीकृष्ण! जगदीश्वर! वासुदेव! जनार्दन! जगत्पते! ये चाण्डाल अपनी तीखीधार वाली तलवारोंसे मुझे मार डालना चाहते हैं अतः परमानन्दस्वरूप भगवन्! मेरी रक्षा कीजिये। जिन्होंने ध्रुव, प्रहलाद तथा गजराजको संकटसे बचाया था। उन सर्वव्यापी नारायणको मेरा प्रणाम है। इस प्रकार स्तुति करते करते भगवद्ध्यानमें तल्लीन होगये। भगवान के श्रीमुखका वचन है—

> अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं यातिनास्त्यत्र संशयः॥
> यं यं वापि स्मरन् भावंत्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
> ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं सयाति परमां गतिम्॥
> (गी० ८। ५,६,१३)

अर्थ—जो पुरुष अन्तकालमें मेरेको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! सदा उसी भावमें पगे रहने से यह मनुष्य अन्तकालमें जिस जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है उस उसको ही प्राप्त होता है। जो ओम् ऐसे इस एकाक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थ

स्वरूप मेरे को चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है वह पुरुष परमगतिको प्राप्त होता है।

गिरे…… भीनी है—प्रश्न—सर्वथा निर्दय हृदय क्रूरकर्मी वधिकोंका चन्द्रहासके दर्शन बात विचारकर मूच्छित होना, दया आना, भावमें भरना, प्रभुकी ओर ढरना, और आनन्दयुक्त होना, ये सभी बातें इनके स्वभावके प्रतिकूल हैं। सहसा इतना स्वभाव परिवर्तन क्यों? समाधान-मुख्य तो भगवत्प्रेरणा ही है, अपने भक्तकीरक्षा करनेकेलिए भगवानने वधिकोको मोहितकर दिया, उनका स्वभाव ही बदल गया (श्लोकपूर्व आ चुका है।) नही तो भला इनके हृदय मे दया, भगवत-भागवत मे प्रीति, श्रद्धाभक्ति? त्रिकालमें असम्भव है। इनकी तो 'हिंसा पर अति प्रीति' होती है। इनके पापोका कोई ठिकाना नही, 'तिनके पापन कवन मिति।' फिर ये भगवानकी ओर कब उन्मुख होने लगे-यथा—पापवन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहिं भाव न काऊ॥

दूसरे इन्होंने परम भागवत श्रीचन्द्रहासजी का दर्शन किया, पश्चात् श्रीशालग्राम भगवानका दर्शन किया, भगवानकी सेवा-पूजाका अवलोकन किया, जिससे पाप नष्ट हुआ, बुद्धिशुद्ध हुई, शुभ संस्कारोदय हुआ,-वधिकोने भगवानसे प्रार्थना किया-प्रभो! हम लोग इस समय कि कर्तव्य विमूढ हो रहे हैं, एक ओर राजाज्ञा, दूसरी ओर बालक पर भी दया, हम करें तो क्या करे? भगवानने प्रेरणा दी—वे चाण्डाल उस बालकके शरीरकी ओर निहारने लगे। तब तक उनकी दृष्टि उनके बाँयें पैरके उस छोटी सी छठी अँगुलीपर पड़ गई। फिर तो उन चाण्डालों ने उस छठी अँगुली को काट लिया और बालक चन्द्रहास को मुक्त करदिया। धृष्ट वुद्धिको प्रतीतिके लिये वह अँगुली दिखादी। दूषण भूषण हो गया—भगवत्कृपाका यह सुफल है यथा—कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर। दूषण भे भूषण सरिस, सुजस चारु चहुंओर॥ (श्रीभरतवाक्य) पुन:—राम कीन्ह आपन जवहीं ते। भयउँ भुवन भूषण तबहीं ते॥ (श्रीनिषाद राजवाक्य)

दृष्टांत—गन्ने से राजा का हाथ कटने का—एक राजा का मन्त्री बातबातमे कहा करता कि भगवान जो करते हैं, सो अच्छा ही करते हैं। एक दिन संयोगसे राजा साहबकी गन्ना चोखते समय अँगुली कट गई। यह देखकर और लोग तो समवेदना प्रकट करते, परन्तु मन्त्री महोदय बोले—भगवान जो करते हैं वह अच्छा ही करते हैं। मन्त्रीकी यह बात सुनकर राजाने क्रुद्ध होकर उसे कारागारमे बन्द करादिया। कुछ काल बाद एक दिन राजा साहब शिकार खेलनेके लिये वनमे गये। किसी शिकारका पीछा करते हुये निर्जन वनमें जा पहुँचे। सभी साथी छूट गये। भीलराजके पुत्रकी आरोग्यताके लिये अपने इष्ट देवको बलिदानके लिये भीलोको एक पुरुषकी तलाश थी। उन्होंने अकेले पाकर राजाको ही पकड़ लिया। अपने इष्टदेवके समक्ष बलि चढ़ानेको ले गये। जब बलिकी तैयारी पूरी होगई तो एक भील खांडा लेकर राजाके सामने आया उसी समय एक वृद्ध भीलकी दृष्टि राजाकी उस कटी अँगुली पर पड गई। उसने तत्काल मना करते हुए कहा कि यह अङ्ग-भङ्ग बलि देवता कभी भी स्वीकार नही करेंगे, राजाको छोड़ दिया गया। राजाको मन्त्रीकी बात याद आई। राजधानीमें आकर तुरन्त ही मन्त्री को मुक्त कर दिया और अब उसे भी दृढ प्रतीति होगई कि वस्तुतस्तु भगवान जो करते हैं वह अच्छा ही करते हैं। परन्तु अभी भी राजाके मनमे एक शङ्का शेष थी। उसके निवारणार्थ उसने मन्त्रीसे एक दिन पूछा—मन्त्रीजी! हमारे लिये तो भगवानने अँगुली कटाकर अच्छा किया परन्तु आपको कारागार मे डालकर क्या अच्छा किया। मन्त्रीने कहा—महाराज! हमारे लिये भी भगवानने अच्छा इस प्रकार किया कि यदि आप मुझे कैदमें नही डालते तो मैं आपके साथ अवश्य रहता और आप तो कटी हुई अँगुली

के कारण बच जाते, मैं मारा जाता अतः भगवानने पहले ही आपको प्रेरित कर मुझे कैदमें डलवा दिया। यह सुनकर राजाको अविचल विश्वास होगया कि भगवान जो करते है वह अच्छा ही करते है। चन्द्रहास की भी जो छठी अँगुली अमङ्गल मानी जाती थी वही आज प्राण बचानेमे सहायक हुई ॥ श्रीचन्द्रहासजी का 'अँगुरीकटि माथो बच्यो।' भाव यह कि जहाँ सिर कटनेका दुर्योग था वहाँ भगवत्कृपासे केवल अँगुरी ही कटकर रह गई। इस पर—

दृष्टान्त—दैवज्ञ ब्राह्मण का—एक ब्राह्मणने अपनी जन्म पत्री देखी तो उसमें एक ऐसा योग पड़ा था कि अमुक समयमें राजा तुम्हें गधे पर चढ़ाकर मुख काला करके नगर से बाहर निकाल देगा। पण्डितजी भयभीत होकर अपने सत-सद्गुरुके पास गये। श्रीगुरुजीने इन्हें प्रेमपूर्वक भगवत्स्मरण करनेको कहा। फिर तो ये अहर्निश भगवन्नामकी रट लगाते रहते। एक दिन वे किंचित निद्रावस्थामें थे तो स्वप्नमें इन्हें वह सब दृश्य दिखलाई पड़ा—राजाने इन्हें पकड़वाया—मुँह काला किया—गधेपर बैठाया, नगर से बाहर निकाला—लड़के इनके ऊपर धूल मिट्टी फेकने लगे—तव तक इनकी नीद खुल गई। इन्होंने श्रीगुरुजी से यह सब बात, कही तो गुरुजी हँसकर बोले—पण्डितजी! भगवत्कृपा से आपका वह प्रबल भोग स्वप्न मात्रही होकर निवृत्त हो गया।

वहै देश भूमि में रहत लघुभूप और और सुख सबै एक सुत चाह भारी है।
निकस्योविपिन आनि देखि याहि मोदमानि कीन्हीं खगछांह घिरी मृगीपांति सारीहै॥
दौरिकै निशंक लियो पाइ निधि रंक जियो कियो मनभायो सो बधायो श्रीहुवारी है।
कोऊ दिन बीते नृप भये चित चीते दियो राजको तिलक भावभक्ति विसतारी है॥६१॥

शब्दार्थ—सारी=समस्त। चित चीते=मनके सोचे।

भावार्थ—कुन्तलपुरके राजाके राज्य में एक छोटा राज्य और था जिसकी राजधानी चन्दनावती नगरी थी। वहाँ का राजा कुन्तलपुरके राजाको प्रतिवर्ष कर देता था। वह सब प्रकार के सुखों और सम्पत्तियों से सम्पन्न था, पर उसके कोई पुत्र नही था। उसे एक पुत्रकी बड़ो भारी अभिलाषा थी। वह उसी जंगल से होकर निकला और उस बालक चन्द्रहास को देखकर अति प्रसन्न हुआ क्योंकि जिस पक्षीकी छाया पड़नेसे मनुष्य चक्रवर्ती सम्राट हो जाता है, उस पक्षी ने अपने पक्ष से छाया कर रक्खी थी और हिरनियाँ चारों ओर से घेरे खड़ी थी। चन्दनावतीके राजा ने निःसंकोच दौडकर बालक को गोदमें उठा लिया और जैसे दरिद्र खजाना पाकर आनन्दित हो, इस प्रकार आनन्दित हुआ। घरमें चन्द्रहासको लाकर पुत्र जन्मके समान आनन्द मङ्गल मनाया। बधाइया बजने लगी और राजाने बहुत सी सम्पत्ति न्योछावर कर दी। कुछ दिनों के बीत जानेके बाद राजाने सोच-विचार करके चन्द्रहास को राजसिंहासन पर बैठाकर राजतिलक कर दिया। चन्द्रहास ने राज्य पाकर अपने राज्य में भाव भक्तिका बड़ा भारी [प्रचा]र-प्रसार किया॥६१॥

व्याख्या—सुत चाह भारी है—

सुत वित लोक ईषना तीनी। केहि कर मति इन कृत न मलीनी॥ (रामचरितमानस)

धिग्जीवितं प्रजाहीनं धिग्गृहं च प्रजां विना । धिग्धनं चानपत्यस्य धिक्कुलं संतति विना ॥ (भा. मा)

अर्थ—सन्तानहीन जीवन को धिक्कार है, सन्तानहीन गृह को धिक्कार है। संतानहीन धन को धिक्कार है, और संतानहीन कुल को धिक्कार है।

नरस्य पुत्रहीनस्य नास्ति वै जन्मतः फलम् । अपुत्रस्य गृहं शून्यं हृदयं दुःखितं सदा ॥

पितृदेव मनुष्याणां नानृणत्वं सुतं विना । तस्मात् सर्वं प्रयत्नेन सुतमुत्पादयेन्नर ॥ (ब्र०पु०)

अर्थ—पुत्रहीन मनुष्य को जन्म का फल कुछ नहीं है। अपुत्र का घर शून्य लगता है जिससे उसका हृदय सदा दुःखी रहता है। पितर, देव और ऋषियों के ऋण से पुत्र के बिना उद्धार नहीं होता है। इसलिए मनुष्य को पुत्रोत्पत्ति का प्रयत्न करना चाहिए। चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी कहते हैं कि—

मम तातप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम् । पुत्रार्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम ॥ (वा० रा०)

अर्थ—महर्षियो ! मैं पुत्र के लिए निरन्तर संतप्त रहता हूँ। उसके बिना इस राज्य सुखादि से भी मुझे सुख नहीं मिलता। अतः मैंने यह विचार किया है कि पुत्र के लिए अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करूँ। तथा देखिये चित्रकेतु की कथा क० ६६।

चन्दनावती के राजा कुलिन्दक ने भी पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था। आज ही यज्ञ की पूर्णाहुति थी। ब्राह्मणों ने यज्ञावशेष अभिमन्त्रित पायस प्रसाद राजा को प्रदान किया और आशीर्वाद दिया कि इसके प्रभाव से आपको अवश्यमेव परम भाग्यशाली पुत्र की प्राप्ति होगी। राजा ब्राह्मणों का आशीर्वाद शिरोधार्य कर, उनके वचनों में दृढ विश्वास कर अपने देश की देख-भाल करते हुए उस गहन में जा पहुँचे, जहाँ चन्द्रहास कटी हुई अँगुली की पीड़ा से व्याकुल, शरीर से अधिक रक्त निकल जाने से निरबल तथा अबोध बालक होने से अत्यन्त अधीर हो करुण स्वर से भगवान को पुकार रहे थे। यथा—

त्राहि मां करुणासिन्धो द्रौपदी च यथा पुरा । किमुपेक्षसि मां बालं वने मात्रा विवर्जितम् ॥ [जै०]

अर्थ—हे करुणासिन्धो ! जैसे पहले आपने द्रौपदी को संकट से उबारा था, उसी तरह आज मेरी भी रक्षा कीजिये। भगवन् ! मैं मातृ-पितृहीन बालक वन में छोड दिया गया हूँ। ऐसी दशा में आप मेरी उपेक्षा क्यों करते हैं ? बालक की बात सुनकर कुलिन्द आश्चर्यचकित हो गये। तुरन्त ही घोड़े से उतर कर उस ओर चल पड़े तो देखे कि एक चन्द्रमा की सी कान्ति वाला सुघर बालक रो रहा है, उसके कपोल अश्रुओं से भीग रहे हैं, शिशु मृगी अपनी कोमल जिह्वाओं से उसके घाव तथा शरीर को भी चाट रही हैं। बहुत-से पक्षी छत्रवत् छाया कर रहे हैं।

सहचरि शरण किताबो में एक हुमा विहँग कहा है।
जा शिर परत छाँह वर ताकी साहेब होत महा है॥
आशिक रसिक जहाँ बिच त्यौंही तिनते लाहु लहा है।
ये अनुकम्पा करत निकर पति नहिं सन्देह रहा है॥

राजा कुलिन्द ने देखा ऐसे पक्षी भी अपने पङ्ख फैलाये हुए बालक के भविष्य की शुभ सूचना दे रहे हैं। मृग-मृगियों का झुण्ड मण्डलाकार हो बालक की रक्षा में तत्पर है। बालक मधुर-मधुर ध्वनि से

भगवन्नाम संकीर्तन कर रहा है। चन्दनावती नरेश ने समीप आकर वालक से माता-पिता का परिचय तथा रोने का कारण पूछा। चन्द्रहासने कहा—

मम माता पिता कृष्णस्तेनाहं परिपालितः। तमपश्यन् महाराज रोदनं क्रियते मया॥ (जै०)

अर्थ—हे महाराज! मेरे माता-पिता तो श्रीकृष्ण हैं, उन्होने ही अब तक मेरा पालन पोषण किया है, परन्तु आज मुझे उनका दर्शन नही हो रहा है। इसी कारण से मैं रोता हूँ। वालक की यह बात सुनकर राजाकुलिन्द विचार करनेलगे कि मैं पुत्रहीन हूं अतः यदि यह विष्णुभक्त शिशु मेरा पुत्र होजाय तो वड़ा अच्छा हो। मन ही मन ऐसा विचारकर राजा कुलिन्द उस वालक को हृदय से लगाकर घोड़े पर विठाकर अपने नगर को चले आये और इस दैवेच्छा से प्राप्त पुत्र को अपनी रानीकी गोद मे डाल दिया।

जव चन्द्रहास की अवस्था सात वर्ष की हुई तो ये पढने के लिये गुरु-कुल में भेजे गये परन्तु इन्होने तो जन्मसे ही "श्रीहरिः शरणं मम" इस सर्व श्रुति-शास्त्र-सार-सिद्धान्त को पढ रक्खा था अतः अन्य अध्ययन इनको भाता ही नही। अतः विद्या-गुरुने आकर राजा कुलिन्दसे शिकायत किया कि तुम्हारे पुत्र को कोई पिशाच लगा है जो कि हरि-नाम छोड़कर और वर्णोका उच्चारण ही नही करता है। राजा तो चन्द्रहास की भक्ति-निष्ठा से परिचित थे, अतः ब्राह्मण देवता को धन-मान देकर विदा करके चन्द्रहास को हृदय से लगाकर अपने जीवन-जन्म को धन्य माने। चन्द्रहासजी के शास्त्र और शस्त्र, दोनों विद्याओं में पारङ्गत होने पर चन्दनावती नरेश इनका राजतिलक कर स्वयं भगवद्भजन में लग गये।

भाव भक्ति विस्तारी है—प्रथम तो पुरवासियोंको उपदेश देकर भजनोन्मुख किया, जिनको उपदेश नही लगा उनको आदेश द्वारा वलपूर्वक भजनकी ओर लगाया गया। वाद में तो भजन में सुख मिलने पर सव लोग सहज ही, विना उपदेश और आदेश के ही भगवद् भजन में प्रवृत्त होने लगे। चन्द्रहासजी का पुरवासियों को उपदेश—आयुष्यं चपलं तादृग् जलवुद्वुद संन्निभम्। चिन्तयध्वं जनामूढ़ा माधवं वर्ष्म,सुस्थिरम्॥ (जै०) माया मोह मे पड़े हुए मनुष्यो! यह आयु जलके वुलवुले के समान क्षण-भंगुर है। अतः तुम लोग इस शरीर में सुस्थिर रहने वाले माधव का ध्यान करो। आदेश—अतः प्रभृति **भोः पौराः प्राप्ते याम्ये दिने शुभे। उत्सवं चैकभक्तं यो न करोति स मे रिपुः। तथा विष्णोस्तिथौ चान्नं यो भुङ्क्ते स महानरिः॥** (जै०) अर्थ—हे मेरे पुरवासियों! आज से लेकर दशमी का शुभ दिन आने पर जो नागरिक एक समय भोजन करके उत्सव नही करेगा वह मेरे लिये शत्रु के समान होगा तथा विष्णु की तिथि एकादशी के दिन जो अन्न खायगा उसे मैं अपना महान शत्रु समझूँगा॥ इस पर दृष्टात—श्रीरुक्मांगदजी का। (देखिये कवित्त ८४)

रहै जाके देश सो नरेश कछु पावै नाहीं वांह वल जोरिदियो सचिव पठाइकै।
आयो घर जानि कियो अति सनमान सो पिछान लियो वहै वाल मारो छलछाइ कै॥
दई लिखि चीठी जाओ मेरेसुत हाथ दीजै कीजै वहीवात जाको आयो लै लिखाइकै।
गये पुर पास वाग सेवा मति पाग करि भरी दृग नींद नेकु सोयो सुख पाइकै॥६२॥

शब्दार्थ—वाँहवल=सेना। जोरि=एकत्र कर। पिछान=पहचान। छाइकै=फैलाकर।

भावार्थ—(चन्द्रहास में चक्रवर्ती सम्राट के लक्षण थे इसलिए स्वभावत:) जिस राजाके राज्य में रहते थे उसे अब कुछ भी वार्षिककर नही मिलने लगा। तब उस राजा ने कर वसूल करने के लिये सेना एकत्र कर मन्त्री धृष्टवुद्धि के साथ भेज दिया। मन्त्री को अपने घर आया जानकर चन्दनावती के राजा ने उसका वड़ा सम्मान किया। मन्त्री ने चन्द्रहासको पहचान लिया कि यह वही बालक है। मन में खीझकर निश्चय किया कि कपट का जाल फैलाकर अब इसे मारूँगा। कर लेने की बात पीछे पड़ गई। धृष्टवुद्धि ने एक चिट्ठी लिखकर चन्द्रहास को दिया और कहा कि—इसे मेरे लड़के मदनसेन के हाथ मे दे देना और कहना कि इसमें जो लिखाकर लाया हूँ उस कार्य को जल्दी ही कर दीजिए। चन्द्रहासजी पत्रलेकर कुन्तलपुरको चले। नगर के समीप एक बाग मे सेवा समय जानकर रुके। आनन्द मग्न होकर शालग्राम भगवान की सेवा की फिर विश्राम करने लगे। उन्हे ऐसा सुख मिला कि आंखो मे नींद भर गई, वे वही सो गये॥६२॥

व्याख्या—चन्दनावती नगरी कुन्तलपुर नरेश के आधीन थी। कुन्तलपुर नरेशके द्वारा राजा कुलिन्द को सौ गांव मिले थे और इन्हें वार्षिक करके रूप में दश हजार स्वर्ण मुद्रायें देनी पड़ती थी। परन्तु जब से चन्द्रहासजी का राज्य हुआ तब से यह देय बन्द हो गया। कारण यह कि चन्द्रहासमें चक्रवर्ती राजा के लक्षण थे। चक्रवर्ती किसी को कर नहीं देता है अतः इनके राजतिलकके बाद स्वाभाविक रूपसे कर नही दिया गया। दूसरा कारण यह कि चन्द्रहास इतने उदार थे कि नगरमें आये हुए याचकों को 'भगवान अधोक्षज प्रसन्न हो' इस बुद्धि से इतना धन देते थे कि वह अर्थार्थी कुवेर का उपहास करने लगता था। यथा—

यस्यां समागतश्चार्थी कुवेरं हसति श्रिया। दत्तया चन्द्रहासेन प्रीयतामित्यधोक्षजः॥(जै०)

तथा राज्य में कुँवा, बावली, विष्णुमन्दिर, शिवालय, साधु-ब्राह्मणों की सेवा, आदि शुभ कर्मों में अपना समस्त धन व्यय कर देते थे। साथ ही 'सम्पति सब रघुपति कै आही।' का निरन्तर अनुसन्धान करने से इन्हे, जो सम्पत्ति संत-भगवन्त की, दीन दुखियों की सेवा मे लगती है उसे राजाको देना उचित भी नही जान पड़ा अतः 'सो नरेश कछु पावै नाहि।'

कियो अति सनमान—इसलिये कि एक तो इनके अधीन रहते थे, दूसरे इन्हों ने विपत्ति में आश्रय दिया था, इनके यहां पालन-पोषण हुआ था, तीसरे अपने घर आये हैं। शिष्टाचार है, घर पर आये हुये शत्रुका भी सत्कार करना चाहिये ये तो सब प्रकार से सम्मान्य हैं अत: अति सम्मान किया।

मारो छल छाइ कै—भाव यह कि धृष्टवुद्धि ने युद्ध में इन्हे बलसे पराजित करना, व मारना असम्भव समझा अतः छलका आश्रय लिया। 'मुखमें राम बगल मे छूरी' यह छल की परिभाषा है। धृष्टवुद्धि ने भी ऊपर से चन्द्रहास एवं कुलिन्दके प्रति वड़ा भाव दिखाया और बोला—यद्यपि चन्दनावती नरेश ने आपको राज्य पद प्रदान कर दिया है परन्तु जब तक हमारे महाराजकी सहीं नहीं हो जाती है तब तक आपका राज्य पक्का नही है—क्योकि आप उनके आधीन हैं। २—आप कुलिन्दजी के औरस पुत्र भी नही हैं अतः उनकी स्वीकृति आवश्यक है। ३—हमारे महाराजकी अनुकूलता प्राप्त होने पर आप निर्भय हो जावेंगे। वे समय पड़ने पर धन-दल से आपकी सहायता करते रहेंगे, अन्यथा अन्य प्रबल राजा आपको हानि पहुँचा सकते हैं। आदि।

खेलति सहेलिन सों आई वाहि बाग मांझ करि अनुराग भई न्यारी देखि रीझी है।
पाग मधि पाती छबिमाती झुकि खैचि लई बांची खोलि लिख्यो विषदैन पिता खीझी है॥
विषया सुनाम अभिराम दृग अञ्जन सों विषया बनाइ मन भाइ रस भीजी हैं।
आइ मिली आलिन में लालन को ध्यान हिये पिये मद मानो गृह आइ तब धीजी है॥६३॥

शब्दार्थ—पाती=पत्रिका, चिट्ठी। माती=मतवाली। धीजी=प्रसन्न।

भावार्थ—उसी बागमें धृष्टबुद्धि मन्त्री की लड़की अपनी सहेलियों के साथ खेलती हुई आई। चन्द्रहास के सौंदर्य को देखकर उसे बड़ा अनुराग हुआ फिर निकट से देखने के लिए अपनी सहेलियों से अलग होकर चन्द्रहास के समीप आई और इनकी रूपमाधुरी को देखकर उनमें प्रेमासक्त हो गई। शोभा सौदर्य के मदसे मतवाली उस लड़की ने चन्द्रहासकी पगड़ी में रक्खी हुई चिट्ठी को झुक कर धीरेसे खीच लिया। उसे वांचा तो उसमें लिखा था कि—पुत्र मदन! विना कुछ सोच-विचार किये इस चिट्ठी लाने वाले बालक को शीघ्र विप दे दो। यह बांच कर मंत्री की लड़की अपने पिता पर नाराज हुई (कि मेरा नाम लिखते-लिखते ऐसी भूल की)। उसका सुन्दर नाम 'विपया था। उसने आंख के काजल से विष के आगे 'या' और वना दिया, फिर मन माने आनन्द की उमंग मे मग्न अपनी सहेलियों में आ मिली। प्रिय तम चन्द्रहास का ध्यान करती हुई वेहोश सी मानो कोई नशीली वस्तु पान करली हो, वह घर आकर प्रसन्न हुई॥६३॥

व्याख्या—भई न्यारी—वागकी, विहंगों की, वृक्षों की, वल्लरियों की, विविध मृग-वृन्दों की शोभा देखते-देखते दूर चली गई। 'छवि-माती—के दो अर्थ—१- अपनी छवि से माती, वा २- चन्द्रहास की छवि देखि मत वाली भई।

लिख्यो विष दैन—यथा—

विषमस्मै प्रदातव्यं त्वया मदन शत्रवे। कार्याकार्यं न दृष्टव्यं कर्तव्यं खलु मे प्रियम्॥

अर्थ—मदन! तुम इस शत्रु को विष दे देना। यह कार्य उचित है अथवा अनुचित, इसका विचार नही करना, मेरा प्रिय करना अर्थात् ऐसा करने से हम कृतार्थ हो जायेगे॥(जै०)पत्र पढ़कर प्रथम तो मन्त्री-पुत्री अपने पिता पर खीझी, फिर उसने यह विचार किया कि मेरे पिता तो मेरे लिये सुन्दर वर की तलाश में थे और इससे सुन्दर वर हो ही कौन सकता है अतः सम्भव है इन्हें पसन्द करके यहां भेजा हो, स्वयं किसी विशेष कार्य वश नही आसके और अत्यन्त आनन्दातिरेक में 'विषया' का 'विषम्' लिख गया हो।

विषया सुनाम—अव तक मन्त्री कुमारी को इस वातका वड़ा खेद था कि हमारी सखियों के वड़े सुन्दर सुन्दर नाम हैं। यथा—चम्पक मालिनी, हेमलता, कनकप्रभा, शशिकला आदि। परन्तु मैं इतने वड़े वाप की वेटी और मेरा नाम ठीक नही रखा गया। परन्तु आज उसे यह नाम वहुत ही अच्छा लगा, क्योंकि विषम् से विषया सहज वना दिया गया, यदि अन्य सुन्दर नाम होते तो उसे परिवर्तित करने में वड़ी कठिनाइ पड़ती। विपया वनाइ—विपयाने लिख दिया—'विषयास्मै प्रदातव्या त्वया मदन-शत्रवे। अव अर्थ हो गया कि—मदन है शत्रु अर्थात् पराजित जिससे ऐसे इस सुन्दर वालक को विपया दे देना॥

उठ्यो चन्द्रहास जिहि पास लिख्यो ल्यायो आयो देखि मन भायो गाढे गरे सों लगायो है।
दई कर पातीं बात लिखी मो सुहाती बोलि विप्र घरी एक मांझ व्याह उमगायो है॥
करी ऐसी रीति डारे बड़े नृप जीति श्री देत गई बीति चाव पार पै न पायो है।
आयो पिता नीच सुनि घूमि आई मीच मानो बानो लखि दूलह को शूल सरसायो है॥ ६४

शब्दार्थ—गाडे=दृढ़ता से, प्रेम से। मीच=मौत। बानो=वेष। शूल=दुःख।

भावार्थ—चन्द्रहासजी उठे और जिसको चिट्ठी लिखी गई थी उस मन्त्री-पुत्र मदनसेन के पास आये। चन्द्रहास उसे बहुत प्रिय लगे। उसने चन्द्रहास को प्रेमपूर्वक गले से लगा लिया। चन्द्रहास ने उसके हाथ मे पत्र दिया जिसे पढ़कर उसने कहा कि—इसमें तो मेरे मन को अत्यन्त प्रिय लगने वाली बात लिखी है। उसने जल्दी से ब्राह्मण को बुलवा कर एक ही घड़ी में चन्द्रहास के साथ अपनी बहन विषया का व्याह कर दिया। विवाह में उसने इतना धन खर्च किया कि जितना बड़े-बड़े राजा भी नही कर सकते थे। दान और न्योछावर देते-देते सम्पत्ति समाप्त हो चली पर उसके मन की उमङ्ग कम न हुई। कुछ समय बाद नीच धृष्टबुद्धि आ गया। व्याह की बात सुन कर उसे ऐसा लगा मानो इधर-उधर घूम-घामकर मौत ही उस पर आ गई हो। चन्द्रहास को दूलह के वेष में देख कर उसके मन में बड़ा भारी दुःख हुआ॥६४॥

व्याख्या—घरी एक माँझ व्याह—'शुभस्य शीघ्रं', इस शास्त्राज्ञा वश तथा संयोग से विवाह का मुहूर्त भी मानो पहिले ही से प्रतीक्षा मे बैठा था अतः सुन्दर मङ्गल मूल गोधूलि बेला में विवाह कार्य सम्पन्न हुआ। **डारे बड़े नृप जीति**—का भाव यह कि यद्यपि है तो मन्त्री, परन्तु इतना दान-दहेज दिया कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी उतना नही दे सकते। 'चाव पार पै न पायो है'—मन्त्री पुत्र मदन ने मारे उल्लास के पूर्वजों की पृथ्वी मे गड़ी सम्पत्ति भी निकाल कर लुटा दिया। परन्तु इतने पर भी मदन को सन्तोष नही हुआ तब उसने सब लोगो के सामने ही इस प्रकार कहा—चन्द्रहास के निमित्त मेरा यह शिर-कमल भी काल के हवाले किया जा सकता हैं। जब कभी भी ऐसा अवसर आवेगा मैं अपने इस सिर को क्रीड़ा के लिए इनके कर-कमल में अर्पित कर दूंगा।

पिता नीच—कहने का भाव यह है कि जो पिता धर्मतः रक्षक है वही भक्षक का कृत्य कर रहा है। रक्षक होकर भक्षक का सा कृत्य करना नीचता है। पुनः 'तकै नीच जो मीच साधु की, सो पामर तेहि मीच मरै।' (वि०) तात्पर्य—साधु की मृत्यु का उद्यम करना नीचता है अतः नीच कहा। **सुनि घूमि आई मीच मानो**—नगर में प्रवेश करते ही जो भी मिलता जुहार करता और बधाई देता कि महाराज! आपने बहुत सुन्दर, बहुत सुशील वर भेजा है। धृष्टबुद्धि की समझ मे बात नहीं आती कि ये लोग क्या कह रहे है। अतः उसने पूछा तो लोगों ने विस्तार से विवरण दिया। फिर तो मानो घूमि आई मीच—तात्पर्य यह कि इसने जो मृत्यु का प्रयोग चन्द्रहास के लिए किया था मानो वह [illegible] उलटे उसी के माथे पर आ गई। ठीक भी है—मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥ आगे चलकर इनकी मृत्यु भी हो ही गई। बानो "सरसायो है—[illegible] सुनकर ही हुआ था, अब दूलह वेष देखकर तो वह शूल और भी [illegible]। [illegible] नहीं मालूम कि—'आपन सोची होय नहिं, हरि सोची तत्काल।'

दृष्टान्त—गरुड़जी का—एक वार भगवान् विष्णु गरुड़जी पर आरूढ़ होकर कैलाश पर जा रहे थे। गरुड़जी ने देखा, एक जगह दो वरातें ठहरी थीं। पूछ वैठे प्रभु से। प्रभो! यह एक ही द्वार पर दो दूलह, दो वरातें कैसी? भगवान् ने कहा—गरुड़जी! एक ही कन्या को व्याहने के लिये दो वरातें आई हैं। माता किसी और वर से, पिता किसी और वर से कन्या का विवाह करना चाहते हैं अत: दो जगह से दो वरातें आई हैं। ग०—आखिर विवाह किस वर से होगा? भ०—माता ने जिसे वुलाया है। गरुड़जी चुप हो गये, फिर भगवान् को कैलाश से वैकुण्ठ पहुँचा कर, सोचे कि जरा देखूँ तो वहाँ क्या हो रहा है? इस कुतूहलवश गरुड़जी वहां आये, फिर विचार आया कि यदि मैं माता के वुलाये वर को यहाँ से हटा दूँ तो कैसे विवाह होगा? फिर तो भगवद्विधान का चमत्कार देखने के लिये तुरन्त ही उस वर को उठाये और ले जाकर समुद्र के एक टापू मे धर दिये। पुन: सोचे कि वेचारा यहाँ खायेगा क्या? वहाँ तो वराती लोग विविध पकान्न खायेंगे और यह उपवास करे, यह उचित नही अतः फिर आये।

इधर स्थिति यह थी कि वर के लापता हो जाने से माता वड़ी निराश हो रही थी, परन्तु अपने हठ पर अडिग थी अत: कन्या को एक भारी टोकरी में वैठा कर ऊपर से फल-फूल, मेवा-मिष्ठान्न सजा दिया, जिसमें कि भोजन-सामग्री ले जाने के व्याज से वरपक्ष के लोग कन्या को घर ले जाकर वर को खोज कर व्याह कर दें। माता ने अपना यह भाव समधी को सूचित कर दिया। संयोग की वात गरुड़जी ने आंगन में धरी उसी टोकरी को उठाया और ले जाकर वर के सम्मुख धर दिया। जव वह वर भोजन के लिये टोकरी में से फल-फूल निकालने लगा तो उसने देखा—टोकरी में वैठी है षोड़श श्रृङ्गार किये षोडशी कुमारिका। गरुडजी देखकर दङ्ग रह गये। निश्चय हो गया—'**हरि इच्छा वलवान।**' "राम कीन्ह चाहँ सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥" फिर तो मुहूर्त विचार कर श्रीगरुड़जी ने ही पुरोहिताई की। वेदमन्त्रों से विधि पूर्वक विवाह करा कर वर-वधू को घर पहुँचाया। पुन: प्रभु के पास जाकर सव वृत्तान्त निवेदन कर झुँझला कर वोले—प्रभो! आपने अच्छी लीला करी। सारा व्याह कार्य हमी को करना पड़ा। भगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे थे।

वैठ्यो लै इकान्त सुत करी कहा भ्रान्त यह कह्यो सो नितान्त कर पाती लै दिखाई है।
वाँचि आंच लागी मैं तो वड़ोई अभागी ऐ पै मारो मति पागी वेटी रांड़ हू सुहाई है॥
वोलि नीच जाति वात कही तुम जावो मठ आवै यहां कोऊ मारि डारौ मोहि भाई है,
चन्द्रहास जू सों भाख्यो देवी पूजि आवो आप मेरी कुल पूज सदा रीति चलि आई है॥६५

शब्दार्थ—भ्रान्त=भूल, भ्रान्ति। नितान्त=विल्कुल, सव वात। रांड=विधवा।

भावार्थ—धृष्टवुद्धि ने एकान्त में वैठ कर अपने लड़के से पूछा कि—तुमने यह भूल कैसे की? मदनसेन ने कहा कि—मैंने विल्कुल वही सव काम किया जो कि आपने अपने हाथ से पत्र में लिखा था। ऐसा कह कर उसने वह पत्र पिताजी को दिखा दिया। उसे पढ़ कर उसके शरीर में आग-सी लग गई अर्थात् हृदय वड़ा दु:खी हुआ। वह मनमें विचारने लगा कि—मैं तो वड़ा ही अभागी हूँ, अव भी मैं इसे

मरवा डालूँगा। वह मरवाने के विचार में मग्न हो गया—सोचा कि—दासी-पुत्र में मनियागी (अनन्य) बेटी से तो बेटी का विधवा हो जाना ही अच्छा है। ऐसा विचार कर उस दुष्टबुद्धि ने क्रूर-क्रूर नीच वधिकों को बुलाकर कहा कि—तुम देवीके मठ में जाकर बैठो वहाँ जो कोई पूजा करने आवे उसे मार डालना। फिर वह चन्द्रहास से बोला कि—आप जाकर देवी का पूजन कर आइये। वह मेरी कुल पूज्या हैं। विवाह के बाद अकेले ही जाकर वर द्वारा देवी पूजन की रीति मेरे वंश में सदा से चली आ रही है ॥६५॥

व्याख्या—बांचि आंच लागी—क०—

दूलह सङ्ग दुलहिनि बनाये वेद रङ्ग भरे देखि धृष्ट बुद्धि दुःख सागर डुबायो है।
गीतगान मङ्गल सुमण्डप सजाये देखि फिरचो शीश मानो काहु आरा सो चलायो है॥
अङ्ग अङ्ग लागि आग मन ही मन दुःख पागि पुत्र मदन पै रिसाय अतिशय अकुलायो है।
चीठी लेत हाथ माथ ठोकि पछतात अत विषया के बांचे विष याके चढ़ि आयो है॥

बेटी रांडहू सुहाई है—

अगर दुष्टता जीव की, सिर तजि अप जस लेइ।
सन तन खाल कढ़ाइ कैं पर तन बन्धन देइ॥
सन इव खल पर बन्धन करई।
खाल कढ़ाइ विपति सहि मरई॥

'मारि डारौ मोहि भाई है'—

सुकृत न सुकृती परिहरै, कपट न कपटी नीच। मरत सिखावन दे गये, गीधराज मारीच॥ (दो०)
लखि परिचौ खल हठ करै, नहि छांड़ै दुर्भाव। हरि हारैं तबहूं नहीं, पलटै दुष्ट स्वभाव
(भ०व०टि०)

खलउ करैं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाव अभंगू॥

चन्द्रहास ··· आई है—

यथा— चन्द्रहास महाप्राज्ञ शृणु मे वचनं हितम्।
अस्माकं हि कुले देवि चण्डिका पूज्यते किल।
कृतोद्वाहो भवानद्य तां नमस्कुरु तारकाम्॥ (जै०)

अर्थ—महाबुद्धिमान चन्द्रहास! तुम मेरे हितकारी वचनों पर ध्यान दो। हमारे कुल में विवाहादि मांगलिक अवसरों पर चण्डिकादेवी के पूजन की प्रथा है और तुम्हारा अभी अभी विवाह हुआ है अतः आज तुम भी संकट से तारने वाली उन भगवती को नमस्कार करने जाओ॥

चल्योई करन पूजा देशपति राजा कही मेरे सुत नाहीं राजवाही को लै दीजिये।
सचिव सुवनसों जु कह्यो तुमलावो जावो पावो नहि फेरि समय अब काम कीजिये॥
दौरयौ सुखपाइ जाइ मगही में लियोजाय दियो सोपठाइ नृप रंगमाहि भीजिये।
देवी अपमानते न डरो सनमानकरौं जातमारि डारयौ यातों नाभ्योनृप लीजिये॥६६॥

भावार्थ—धृष्टवुद्धि के कथनानुसार चन्द्रहासजी देवीका पूजन करने चले। इसी वीच कुन्तलपुर के राजाने सभा में कहा कि—मेरे कोई लड़का नही है, इसलिए मन्त्री के दामाद चन्द्रहास को ही राज्य दे दूँ। सर्व सम्मति से निश्चय करके राजाने मदनसेन से कहा कि—तुम शीघ्र ही चन्द्रहासजी को जाकर ले आओ। अभी शुभ घड़ी है फिर ऐसा समय नही मिलेगा। इसलिए यह काम अभी कीजिए। यह सुन-कर मदनसेन सुखपाकर शीघ्र ही दौड़े। मार्ग में ही चन्द्रहास को पाकर प्रसन्न हुए और बोले कि-आप शीघ्र ही राजसभा में चले जाइये। इस समय राजा आपके प्रेमरङ्गमें डूबे हैं आपको राज्य देना चाहते हैं। आप देवी के अपमान से मत डरिये। उनका मानसिक ध्यान कर लीजिये। मैं आपके वदले जाकर देवी का पूजन करुँगा। यह कहकर मदनसेन देवी के मठ में गए। वहाँ जाते ही पहले से वैठे हुए वधिकों ने उन्हें मार डाला। इधर चन्द्रहासजी के राजसभा में पहुँचते ही राजा ने कहा कि—राज्य लीजिये। उन्हें राजसिंहासन पर वैठाकर राजा ने राज्याभिषेक करदिया। सभी लोग सम्राट चन्द्रहास की जय-जय कार करने लगे ॥६६॥

व्याख्या—जिस समय चन्द्रहास देवीकी पूजा करने के लिए प्रस्थान किए उसी समय कुन्तल-पुर नरेश अपने पुरोहित गालव मुनि को वुलाकर उनसे अपने शरीर की दशा का वर्णन करते हुए कहने लगे कि निःसन्देह मेरी मृत्यु का समय निकट आ गया है क्योंकि मुझे निकट मृत्यु सूचक वहुत से लक्षण लक्षित हो रहे हैं अतः आप मुझे ऐसे योग्य पुरुष का निर्देश करे जिसके ऊपर राज्य-कार्य-भार सौपकर मैं निश्चिन्त होकर कुछ काल तक भगवद्भजन कर सकूँ। श्रीगालवजी ने कहा—राजन्! श्रीव्रह्माजी के द्वारा प्राप्त संकेतानुसार मैं यही कहनेके लिए आ ही रहा था। अव तो तुम धृष्टवुद्धिके जामाता, चन्दना-वती नगर के अधिपति श्रीचन्द्रहासजी को वेद विधि से अपनी कन्या चम्पक मालिनीका विवाहकर राज्य भार सौपकर शेष जीवन भगवदाराधना में व्यतीत करो। दौरयो सुख पाइ-इसलिये कि अव अपना वह-नोई ही महाराज वनने जा रहा है। नृप रङ्ग मांहि भीजिए—भाव यह है कि ऐसा भाव हर समय नहीं होता है, इस समय भाव उमड़ा है अतः शीघ्र ही वहाँ पहुँचना चाहिए।

जाल मारि डार्यो—कैसा विलक्षण विधि का विधान है कि मृत्यु का उद्यम किया गया चन्द्रहास के लिये, मारा गया मन्त्रीपुत्र मदन। ठीक ही कहा है—जाकोराखै साइयां मारि सकै नहिं कोय। वाल न वांको करि सकै जो जग वैरी होय॥

पुनः— जो पै कृपा रघुपति कृपालु की वैर और की कहा सरै।
होइ न वांको वार भगत को जो कोइ कोटि उपाय करै॥
तकै नीच जो मीच साधु की सो पामर तेहिं मीच मरै।
वेद विदित प्रह्लाद कथा सुनि को न भगति पथ पाँव धरै॥
गज उधारि हरियप्यो विभीषन ध्रुव अविचल कवहुं न टरै।
अम्वरीष की शाप सुरति करि अजहुं महामुनि ग्लानि गरै॥
सोधो कहा जो न कियो सुयोधन अवुध आपनें मान जरै।
प्रभु प्रसाद सौभाग्य विजय जस पाण्डवनै वरि आइ वरै॥
जोइ जोइ कूप खनैगो पर कहँ सो सठ फिरि तेहिं कूप परै।
सपनेहुं सुख न सन्तद्रोही कहँसुर तरु सोउ विष फरनि फरै॥

है काके द्वै शीश ईश की जो हठि जन की सीम चरै।
तुलसिदास रघुवीर बाहु बल सदा अभय काहू न डरै॥

काहू आनि कही सुत तेरो मारयो नीचनि ने सींचन शरीर दृग नीर झरी लागी है।
चल्यो ततकाल देखि गिरयो ह्वै विहाल सिर पाथर सों फोरि मरयो ऐसो ही अभागी है॥
सुनि चन्द्रहास चलि वेगि मठ पास आये ध्याये पग देवता के काटे अङ्ग रागी हैं।
कह्यो तेरो द्वेषी याहि क्रोध करि मार्यो मैं ही उठैं दोऊ दीजै दान जिये वड़भागी है।६७।

भावार्थ—किसी ने आकर धृष्टवुद्धि से कहा कि—देवी के मठमें तुम्हारे पुत्रको वधिकों ने मार डाला। सुनते ही वह रोने लगा उसकी आंखों से आसुओं की धार वहने लगी जिससे उसका शरीर भीगने लगा। तुरन्त ही वह दौड़कर देवी के मठ मे गया। मृतक पुत्रको देखते ही व्याकुल होकर गिर पडा और पत्थर पर शिर पटक-पटक कर मर गया। किसी का क्या वश, वह ऐसा ही अभागी था। जब राजा चन्द्रहासने यह समाचार सुना तो वे भी देवी के मठ में आये। देवी के चरणो का ध्यान करके स्वय अपना शिर काट कर अर्पण करने के लिए तैयार हो गए। तव देवी ने कहा कि—यह धृष्टवुद्धि तो तुम्हारा द्रोही है। इसे तो क्रोध करके मैंने ही मारा है। चन्द्रहासजी ने कहा कि मृत्यु तो मेरी थी, मेरे वदले मदनसेन आये और मारे गए। पुत्रवध सुनकर पिताजी आये और मरे। ये दोनों निरपराध है। इसलिए दोनों जीवित हो जांय, कृपा करके ऐसा वरदान दीजिये। चन्द्रहास के प्रार्थना करते ही दोनों जीवित हो गए। धृष्टवुद्धि को सात्विकी वुद्धि आ गई। भक्त महिमा समझकर दोनो वड़भागी हो गये॥६७॥

व्याख्या—ऐसो ही अभागी है—सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं विषय अनुरागी॥ (रा० च० मा०) ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजन पद विमुख अभागी॥(विनय) भगवत-भागवत विमुख अभागी हैं, और विमुख रहने के साथ-साथ निन्दक, द्रोही, घातक वड़े अभागी हैं। धृष्टवुद्धि वड़ा अभागी है। यथा—'मैं तो वडोई अभागी।' (धृष्टवुद्धि वाक्य) 'ऐसो ही'—कहने का भाव यह कि जैसे इसने अपने से अपना सिर फोडकर मृत्यु को प्राप्त किया है वैसा ही अभागा यह था भी। यथा—मंथरा वाक्य—'फोरै जोगु कपार अभागा॥

सुनि चन्द्रहास—चन्द्रहास का देवी पूजन के लिये जाना, कुन्तलपुर नरेश का चन्द्रहास को वुलाकर राज्य देना, मदन का, एवं धृष्टवुद्धि का मारा जाना एव मरना ये सब कार्य सन्ध्या से लेकर कुछ रात्रि वीतने तक के हैं। चन्द्रहासजी को दूसरे दिन प्रात: एक तपस्वी मुनि ने, जो जल और पुष्प लेकर देवी का पूजन करने के लिये गये थे, मदन और धृष्टवुद्धि को मरा हुआ देखकर, सूचना दी।'चलि' से जनाया गया कि नगे पांव पैदल चल कर देवी के पास आये। यथा—तस्य वाक्यं समाकर्ण्य पद्भ्यामेवागतो नृप॥ (जै०)

उठैं दोऊ दीजै दान—चन्द्रहास के साधु स्वभाव पर सन्तुष्ट होकर देवी ने दो मनोऽभिलषित वर मागने को कहा। तव चन्द्रहास ने यह वर मांगा यथा—

हरौ भक्तिः सदा भूयान्मम जन्मनि जन्मनि।
वरोऽयं प्रथमो मार्तर्द्वितीयेन मृतौ त्विमौ॥
पिता पुत्रौ प्रजीवेतां जगत्पावनि ते नमः॥ (जै०)

अर्थ—जगत को पवित्र करने वाली देवि ! आपको प्रणाम है। माता ! मेरा पहला वर तो यह है कि प्रत्येक जन्ममें मेरी सदा श्रीहरिके चरणों में भक्ति बनी रहे और दूसरे वर के रूप में मैं यह याचना करता हूँ कि ये मरे हुये दोनो पिता पुत्र जीवित हो जाये। 'वड़ भागी है—इसलिये कि परम भागवत चन्द्रहास ने अपना मान लिया है। निश्चय ही परम धन्य है वे लोग जिन्हें भगवान और भक्त अपना करके मानते हैं। पुनः वड़ भागी कहने का भाव यह है कि चन्द्रहास की प्रार्थना पर देवी की कृपासे इनका पुनर्जन्म होने पर ये भी समस्त वैर भाव का परित्याग कर सर्वभूत सुहृद भाव को अपना कर भगवान के भक्त हो गये अतः वड़भागी कहा। यथा—सोइ गुनग्य सोई वड़भागो। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥ पुनः—परम अभागी दुष्टहू, बड़भागी सो जान। साधु संग सुधरै सहमि, ताहि सन्त ही मान। (भ०व०टि०)

करयो ऐसो राज सव देश भक्तराज करयो ढिग को समाज ताकी वात कहा भाखिये।
हरि हरि नाम अभिराम धाम धाम सुनैं और काम कामना न सेवा अभिलाखिये॥
काम क्रोध लोभ मद आदि लै कै दूरि किये जिये नृप पाइ ऐसो नैननि में राखिये।
कही जितौ वात आदि अन्त लौं सुहाति हिये पढ़ै उठि प्रात फल जैमिनिमें साखिये।६८।

भावार्थ—चन्द्रहासजी ने ऐसा राज्य किया था-देशके सभी लोग भक्तराज हो गए। जो समाज-राज्य कर्मचारी मन्त्री आदि चन्द्रहास के समीप रहते थे उनकी भक्ति के सम्बन्ध में क्या कहें ? वह तो अवर्णनीय है। घर-घरमें जन-जन के मुख से सुन्दर हरि-हरि नाम सुनाई देता था। भगवत् सेवा की ही कामना सबके मन में थी। दूसरी वस्तुओं की किसी को इच्छा ही नहीं होती थी। काम, क्रोध, लोभ, अहंकार आदि मायिक विकारों को लोगों ने दूर कर दिया था। ऐसे राजा को पाकर सभी ने जीवन का फल पाया। प्रेमवश लोग राजा चन्द्रहास को सदा आंखों के सामने ही रखना चाहते थे। राजा चन्द्रहास का चरित्र आदि से अन्त तक हृदयको आनन्दित करने वाला है। प्रातःकाल उठकर पठन स्मरणसे हरि-भक्ति प्राप्त होती है। यह जैमिनि संहिता में व्यास जी ने लिखा है॥६८॥

व्याख्या—सव देश भक्त राज करयो—

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः। राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा॥

अर्थ—राजाधार्मिक हो तो प्रजा धार्मिक होती है। राजा पापी हो तो प्रजा पापी होती है, राजा सम हो तो प्रजा सम होती है। प्रजा राजाका अनुसरण करती है। जैसा राजा होता है वैसी प्रजा होती है।

पुनः—अश्वायां जायते वत्सो मिथ्या वदति भूपतिः। वस्त्रं जलाग्निना दग्धं यथाराजा तथा प्रजा॥

दृष्टांत—यथा राजा तथा प्रजा—एक राजा के दरवार में ज्योतिष शास्त्र-पारङ्गत एक विद्वान ब्राह्मण रहते थे। राजा अपने समस्त कार्य उनसे पूछ-पूछ कर करता और सफलता

भी मिलती थी. वह श्रीपण्डितजी का बड़ा आदर करता। अन्य दरबारियों को पण्डितजी का यह उत्कर्ष सहा नहीं गया। वे किसी भी प्रकार से पण्डितजी को दरबार से बहिष्कृत करवाने के प्रयत्न में थे। एक दिन राजा ने ज्योतिषीजी से पूछा—पण्डितजी! निकट समय में बच्चा देने वाली हमारी गाय और घोड़ी को कौन-सा बच्चा होगा? पण्डितजी ने गणित करके बताया कि दोनो को बछड़ा और बछेड़ा ही होगा। द्वेषियो ने पण्डितजी की बात झूँठी करके उन्हे दण्डित कराने के लिये चाल यह चली कि घोड़ी का बछेड़ा तो गोशाला मे गाय के पास कर दिया और गाय का बछड़ा घुड़साल मे घोडी के पास रख दिया और जाकर राजा से शिकायत की कि पण्डितजी की बात झूठी निकली। आप भोले-भाले है, आपको बहका कर पण्डितजी खूब धन-मान कमाते हैं। साधारण-सी बात मे ही परीक्षा हो गई। यदि इनके विश्वास पर कोई बड़ा कार्य किया जाय और विपरीत परिणाम निकला तो कितनी बड़ी हानि होगी।

विना सोचे-समझे राजा ने रञ्ज मे आकर पण्डितजी को अपने राज्य से निकल जाने को कहा। पण्डितजी ने तीन दिन की मोहल्लत मागी। घर का सामान संभाले, धोबी को धोने के लिए वस्त्र देने गये। इनकी विकल दशा देखकर धोबी ने परिस्थिति को जानना चाहा। पण्डितजी ने समस्त वृत्तान्त वर्णन किया। तीन दिन पूरे हो गये, धोबी ने वस्त्र धोकर नही दिया, पण्डितजी घबड़ाये। उधर राज-कर्मचारी आ धमके। अब तक नही जाने का कारण पूछने पर पण्डितजी ने धोबी को दोषी ठहराया। धोबी राज-दरबार मे पेश किया गया। राजा ने धोबी से जवाब-तलब किया—तुमने पण्डितजी का वस्त्र धोकर क्यो नही दिया? धोबी ने आश्चर्य की मुद्रा बना कर कहा—हुजूर! पण्डितजी के वस्त्र जल में डालते ही जल गये। राजा ने झुँझला कर कहा—भला कही जल मे आग लगती है जो कि वस्त्र जल गये। धोबी ने कहा—तो भला कही गाय बछेड़ा और घोड़ी बछड़ा जनती है? जब राजा ही मिथ्या बोलते हैं तो प्रजा कब सत्य बोलने लगी। यह कह कर धोबी ने पूर्वोक्त श्लोक सुनाया। राजा की समझ मे बात आ गई। पता लगाने पर षडयन्त्रकारियो के षडयन्त्र का भी भण्डाफोड़ हो गया। वे दण्डित हुए और पण्डितजी पूर्व से भी अधिक सम्मान पाये।

और काम कामना न—'कामं च दास्ये' तथा देखिये कवित्त २५—सेवा ही की ऋद्धि॥ 'काम" दूर किये'—मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहुं ओरा॥ काम क्रोध कैरव सकुचाने। अघ उलूक जहँ तहाँ लुकानें॥ आदि। (रा०च०मा०) 'जिये नृप पाइ'—वैष्णव राजा बडे भाग्य से प्रजा को मिलते हैं। यथा—दुर्लभा वैष्णवी नारी, दुर्लभो विप्रवैष्णवः। दुर्लभो वैष्णवो राजा प्रजा भाग्येन लभ्यते॥ बर्षत हर्षत लोग सब, कर्षत लखै न कोय। तुलसी प्रजा सुभाग ते, भूप भानु सो होय॥ माली भानु किसान सम, नीति निपुन नर पाल। प्रजा भाग बस होहिंगे, कबहुं-कबहुं कलिकाल॥ (दोहावली। माली—मुरझाये हुए पौधो को सींचता है, बहुत बडे हुओं को काटता-छाँटता है, झुके हुए कमजोर पौधों को लकड़ी का टेका देकर उठाता है, और तब फल-फूलो का सग्रह करता है। सूर्य—किसी को भी बिना बताये, सर्वथा अव्यक्त रूप से नदी, समुद्रादि जलाशयो मे जल खींच कर और फिर उसे अमृत-सा बना कर यथायोग्य बरसा देते है। किसान—खेत तैयार करता है, खाद देता है, बीज बोता है, सींचता है, रक्षा करता है, फिर फसल पकने पर काटता है। उत्तम राजा भी इसी प्रकार से प्रजा के साथ व्यवहार करते हैं, प्रजा का रञ्जन करते हैं।

नैननि में राखिये—से अति प्रियत्व जनाया गया है। यथा—'जो मांगा पाइय विधि पाही। ए रखिअहिं सखि आंखिन माहीं॥' 'आंखिन में सखि राखिबे जोग इन्हें किमि कै बनवास दियो है।'

'पढ़ै""साखिये'—इतिहासमिमं भक्त्या यः शृणोति पठत्यपि।
स भुक्त्वा विविधान् भोगान् विष्णुलोके महीयते ॥(जै०)

अर्थ—जो मनुष्य भक्ति पूर्वक इस इतिहास को पढ़ता अथवा सुनता है, वह इसलोक मे नाना प्रकार का सुख भोग कर पश्चात् विष्णु लोक में प्रतिष्ठित होता है।

पुनः— इदं चरित्रं चन्द्रहासस्य भक्त्या नरः पठेच्छृणुयाद् यः समग्रम्।
स चाप्नुयाद् बलमायुश्च पुत्रान् सदाचारान् विष्णुभक्तांश्च दातॄन्।
कृष्णे भक्तिः सुदृढ़ा ह्यन्तकाले संसाराब्धेस्तारयेद् वासुदेवः ॥(जै०)

अर्थ—जो मनुष्य चन्द्रहास के इस सम्पूर्ण चरित्र को भक्ति पूर्वक पढ़ेगा। अथवा सुनेगा उसे बल, आयु तथा सदाचारी, दाता एवं विष्णु भक्त पुत्रों की प्राप्ति होगी। अन्त समय में उसकी भक्ति भगवान श्रीकृष्णके चरणो मे सुदृढ़ हो जायगी जिससे भगवान वासुदेव भवसागर से उद्धार कर देंगे॥

श्रीयुधिष्ठिरजी महाराज का अश्वमेघ यज्ञ में छोड़ा गया घोड़ा जब कुन्तलपुर में आया तो यह सुनकर कि अश्वके संरक्षण में अर्जुन के साथ स्वयं भगवान श्रीकृष्ण भी हैं, दर्शनकी अभिलाषा से श्रीचन्द्रहासजी ने अपने पुत्र मकरध्वज और पद्माक्ष से घोड़ा पकड़वा लिया और स्वयं सेना सजाकर युद्ध में आ डटे। तब भगवान श्रीकृष्णजीने अर्जुनजी को श्रीचन्द्रहासजी की भक्तिकी प्रशंसा करके, उनसे मेल-मिलाप करने को कहा। श्रीअर्जुनजी ने चन्द्रहासजी का आलिङ्गन किया, भगवान श्रीकृष्णने चतुर्भुजरूप से उनको दर्शन दिया, श्रीचन्द्रहासजी ने अपना समस्त राज्यैश्वर्य भगवान के श्रीचरण कमलों में अर्पित कर दिया। भगवान श्रीकृष्ण ने चन्द्रहासजी के ज्येष्ठ पुत्र मकरध्वज का राज्याभिषेक कर दिया। फिर श्रीचन्द्रहासजी ने श्रीकृष्णके साथ यज्ञीय अश्वकी रक्षामें रहते हुये प्रभुका सानिध्य-सुखपाकर अपने जीवन-जन्म को सफल माना।

कौषारव नाम सो बखान कियो नाभा जू ने मैत्रेय अभिराम ऋषि जानि लीजै बात में।
आज्ञा प्रभु दई जाहु विदुर है भक्त मेरौ करौ उपदेश रूप गुण गात गात में॥
चित्रकेतु प्रेम केतु भागवत ख्यात जाते पलट्यो जनम प्रतिकूल फल घात में।
अक्रूर आदि ध्रुव भये सब भक्तभूप उद्धव से प्यारेन की ख्याति पात पात में॥६९॥

शब्दार्थ—प्रेम केतु=प्रसिद्ध प्रेमी। ख्याति=प्रसिद्धि। जाते=जिससे पलट्यौ=बदल्यौ। प्रतिकूल=विरुद्ध। घात=मारण तन्त्र, मारण यज्ञ, हत्या।

भावार्थ—श्रीनाभाजी ने कौषारव नाम से जिनका वर्णन किया है वे परम श्रेष्ठ ऋषि मैत्रेयजी हैं। परमधाम जाने से पूर्व जब भगवान श्रीकृष्ण उद्धव जी को उपदेश दे रहे थे। उस समय मैत्रेयजी भी वहाँ उपस्थित थे। मैत्रेयजी को भगवान ने आज्ञा दी कि—तुम जाओ, और मेरे भक्त विदुरजी को मेरे द्वारा कथित ज्ञान भक्ति का उपदेश दो। जिससे मेरे रूप और गुण उनके रोम-रोम में व्याप्त हो जाँय।

मैत्रेय और विदुरजी का संवाद श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध मे वर्णित है। प्रेम की रक्षा करने वाले भक्त चित्रकेतु का चरित्र भी श्रीभागवतमें प्रसिद्ध है। शंकरजी का अपमान करने पर उन्हें दैत्ययोनि प्राप्त हुई। फिर भी उनकी भक्ति ज्यों की त्यों रही। अक्रूरजी और ध्रुवजी ये सभी बड़े-बड़े भक्तराज हुए। उद्धव सरीखे भगवान के प्यारे भक्तों की कथा संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध है॥६६॥

व्याख्या—श्रीमैत्रेयजी—एक बार भगवान वेदव्यासजी कहीं जा रहे थे। उन्होंने एक कीड़े को गाड़ी की लीकसे बड़ी तेजी के साथ भागते देखा। तब सर्वभूत-सुहृद श्रीव्यासजी ने द्रुतगति से भागने वाले उस कीड़े से भय का कारण पूछा। उसने कहा—हेमहामुनीश्वर ! एक बहुत बड़ी बैलगाड़ी इधर ही आ रही है, कहीं मैं इस गाड़ी से कुचल न जाऊँ, अतः इस अत्यन्त दारुण दुःख से अपनी रक्षा करने के लिये मैं यहां से भागा जा रहा हूँ। श्रीव्यासजी ने कहा—कीट ! तुम्हें कहा सुख है ? मेरी समझ में तो तुम्हारा मर जाना ही तुम्हारे लिये सुख की बात है। कीट ने कहा—महाप्राज्ञ ! जीव सभी योनियों में सुख का अनुभव करते हैं। मुझे भी इस योनि में सुख मिलता है, यही सोच समझकर मैं जीना चाहता हूँ। दूसरी बात यह है कि इस कुत्सित कीट योनि से भी अधम लाखों योनियां हैं मैं कहीं मरकर उन योनियों में न चला जाऊँ। मैंने पूर्वजन्मों में सदा वेद-विरुद्ध आचरण किये, केवल अपनी बूढ़ी माता की सेवा तथा एक बार अपने घर पर आये हुये ब्राह्मण अतिथि का स्वागत सत्कार किया था, बस पुण्य पूछिये, तो यही दो शुभकर्म बन गये थे जिसके फल स्वरूप मुझे पूर्व के गर्भवास, जन्म, मरणादि के क्लेश सभी स्मरण हैं और मैं इतना भय भीत हो गया हूँ कि कैसे जन्म-मरण से छुटकारा हो, हमेशा यही सोचा करता हूँ।

श्रीव्यासजीने कहा—चूँकि इस समय तुम्हारी धर्मके प्रति श्रद्धा है अतः तुम्हें धर्म अवश्यमेव प्राप्त होगा। तुम भय न करो, मैं जब तक तुम्हारे उद्धार का मार्ग प्रशस्त नहीं हो जायगा, तब तक सभी योनियों से शीघ्र ही छुटकारा दिलाता रहूंगा। जब तुम पवित्र ब्राह्मण कुल में जन्म लोगे तो उस समय मैं तुम्हारे पास आकर ब्रह्म-विद्या का उपदेश करूँगा तथा तुम जिस लोक में जाना चाहोगे वहीं तुम्हें पहुँचा दूँगा॥ श्रीव्यासजी के इस प्रकार आश्वासन देने पर वह कीड़ा गाड़ी के पहिये के नीचे दबकर मर गया। कालान्तर में वह कीड़ा विविध योनियों में जन्म लेता हुआ क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ और व्यास जी के उपदेश से धर्मपूर्वक प्रजा पालन करते हुए, चौथापन आने पर वन में जाकर थोड़े ही समय में परलोकवासी होकर प्रजा-पालन-रूप धर्म के प्रभाव से ब्राह्मण कुल में जन्म पा गया। जब वह पांच वर्ष का हुआ तभी व्यासजी ने उसे सारस्वत मन्त्रका उपदेश कर दिया। उसके प्रभाव से बिना पढ़े ही उसे सम्पूर्ण, वेद, शास्त्र का स्मरण हो आया। आजीवन धर्माचरण करते हुए उस ब्राह्मण ने बहूदक तीर्थ में शरीर छोड़ा और दूसरे जन्म में वे ही मैत्रेय नामक महान ऋषि हुए। इनके पिता का नाम कुषारु था अतः कौषारव नाम से विख्यात हुए। माता का नाम मित्रा था अतः मैत्रेय नाम से भी प्रसिद्ध हुये। इन्होने श्रीव्यासजी के पिता श्रीपराशरजीसे विष्णुपराण और 'बृहत्-पाराशर होरा शास्त्र' नामक विशाल ज्योतिष ग्रन्थ का अध्ययन किया था।

रींवानरेश श्रीरघुराजसिंह जी 'श्रीरामरसिकावली भक्तमाल' में लिखते हैं कि श्रीसनकादिकजी ने शेषजी ने प्रार्थना किया कि आपने भगवान नारायण ने जो भागवत रहस्य श्रवण किया है वह कृपा करके हम लोगोंको सुनाइये। तब श्रीशेषजी ने सनकादिकोंको सुनाया फिर सनकादिकजीने श्रीबृहस्पतिने

को सुनाया श्रीवृहस्पतिजी ने श्रीपराशरजी को सुनाया। श्रीपराशरजी भागवत का अधिकारी श्रोता ढूँढ़ रहे थे तो उन्हें श्रीमैत्रेयजी उपयुक्त जँचे। फिर विचार आया कि केवल अनुमान ही पर्याप्त समझना ठीक नहीं, परीक्षा भी कर लेनी चाहिए। फिर तो जब श्रीमैत्रेयजी आपकी सेवा में श्रीभागवत पढने के लिये उपस्थित हुये तो श्रीपराशरजी ने उनसे सुवर्ण लाने को कहा।

श्रीमैत्रेयजी आज्ञा शिरोधार्य कर सुवर्ण लेने के लिए चल पड़े। मार्ग में विचार करते हैं कि लोक-भाषा में सुवर्ण सोना को कहते हैं, परन्तु सोने में तो कलियुग का निवास होता है, समस्त दोषों का भण्डार है और गुरुजी इस बात को जानते है, अतः गुरुजी का सुवर्ण-धातु से अभिप्राय नही हो सकता है। निश्चय ही पारमार्थिक सुवर्ण भगवान से ही तात्पर्य होगा। इस पर दृष्टांत—श्रीगौराङ्ग महाप्रभु एवं विष्णुपुरी का। (देखिये छप्पय-४७, कवित्त १७७) फिर तो श्रीगण्डकी शिला शालग्रामजी का सुन्दर स्वरूप लेकर श्रीपराशरजी के पास आकर बोले—गुरुजी! सुवर्ण ले आये। श्रीपराशरजी ने कहा कि यह तो शिला है, सुवर्ण कहाँ है? तुम मुझे ठग रहे हो। मैत्रेयजी ने कहा—वास्तविक स्वर्ण तो भगवान ही हैं। और यह शिला साक्षात् भगवत्स्वरूप है, ऐसा वेद पुरान कहते है। अतः मैंने यही सुवर्ण (सुन्दर वर्ण वाले भगवान) आपकी सेवामें प्रस्तुत किया। यह कहकर श्रीमैत्रेयजी ने अपने कथन की प्रामाणिकता के लिये पुनः यह वचन कहा—**जो सति सुवरण होइ मुरारी। तौ प्रगटे सूरति भुजचारी॥जब मित्रा सुत अस मुख गायो। शिला प्रगट हरिको वपु आयो॥** यह देखकर श्रीपराशरजीने मैत्रेयजी को हृदयसे लगा लिया और इन्हे परम अधिकारी जानकर श्रीमद्भागवत पुराण पढाया।

परम धाम जाते समय भगवान श्रीकृष्ण ने जब उद्धवजी को परमार्थ का उपदेश किया था तो श्रीमैत्रेयजी वहाँ वर्तमान थे। भगवान ने उपदेश के अन्त में श्रीमैत्रेयजी को आज्ञा दी थी कि इस परम गुह्य ज्ञान का उपदेश महात्मा विदुरजी को भी देना। श्रीउद्धवजी के द्वारा यह भगवदादेश सुनकर श्री विदुरजी ने हरद्वार में जाकर श्रीमैत्रेयजी का दर्शन किया और उनसे भगवद्दत्त ज्ञान का श्रवण किया। भगवान के परम मङ्गलमय गुणों की महिमा वर्णन करते हुए श्रीमैत्रेयजी कहते हैं कि—

एकान्तलाभं वचनो नु पुंसां सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां कथासुधायामुपसम्प्रयोगम्॥ (भा०)

अर्थ—महापुरुषों का मत है कि पुण्यश्लोक शिरोमणि श्रीहरिके गुणोंका गान करना ही मनुष्यों की वाणी का तथा विद्वानों के मुख से भगवत्कथामृत का पान करना ही उनके कानों का सबसे बड़ा लाभ है॥

अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।
कुतः पुनस्तच्चरणारविन्द परागसेवारतिरात्मलब्धा॥ (भा०)

अर्थ—श्रीकृष्ण के गुणों का वर्णन एवं श्रवण अशेष दुःख राशि को शान्त कर देता है फिर यदि हमारे हृदय मे उनके चरण कमल की रज के सेवन का प्रेम जग पड़े तब तो कहना ही क्या है।

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित् पुराकथानां भगवत्कथा सुधाम्।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहामहो विरज्येत विना नरेतरम्॥

अर्थ --संसार में पशुओं को छोड़कर अपने पुरुषार्थ के अनुसार जानने वाला ऐसा कौन मनुष्य होगा जो आवागमन से छुड़ा देने वाली भगवान की प्राचीन कथाओं में से किसी भी अमृतमयी कथा का अपने कानों के पुटों से एक बार पान करके फिर उनकी ओर से मन हटा लेगा।

विष्णुपुराण सुनाने के उपरान्त श्रीपराशरजी ने इनसे कहा कि तुम इस पुराण को कलियुग के अन्त में शिनीक को सुनाओगे। इससे सिद्ध होता है कि ये चिरजीवी हैं और अब भी किसी न किसी रूप में इस धराधाम पर विद्यमान हैं। ये हमेशा प्रभु प्रेम में मग्न रहते हैं और इनकी ग्रीवा आनन्द भार से झुकी रहती है। यथा—'तस्यानुरक्तस्य मुनेर्मुकुन्द प्रमोदभावानत कन्धरस्य ॥ (भा०)

जयति हरि मित्र जगमित्र मित्रा सुवन ऋषि प्रवर योगनिधि तत्वदरशी। ज्ञान वैराग्य श्री-भक्ति दाता तथा सिद्ध वक्ता सदा रङ्ग बरसी॥ मोह, मद, कोह लोहावरण में परे जीव जंजाल जगल न छाड़ें। सो कृपा अब करो भक्ति पथ अनुसरों मोह माया अमङ्गल न मांड़ें॥

श्रीचित्रकेतु—प्राचीनकाल की बात है सूरसेन देश में चक्रवर्ती सम्राट महाराज चित्रकेतु राज्य करते थे, प्रजा इनके शासन से सन्तुष्ट थी। राजोचित सर्वगुण सम्पन्न शूरसेन देश के इस सार्वभौम नरेश के एक करोड़ रानियां थी, परन्तु उन्हे उनमे से किसी के भी गर्भसे कोई सन्तान न हुई। एक दिन शाप और वरदान देने में समर्थ श्रीनारदजी और श्रीअङ्गिरा ऋषिजी विचरते हुए राजाके यहाँ पहुँचे। राजाने प्रत्युत्थान, अर्घ्य-पाद्यादि द्वारा पूजन कर उनका आतिथ्य सत्कार किया। राजा से कुशल-प्रश्न करते हुए ऋषिजी ने कहा—राजन्! मैं देख रहा हूं कि तुम स्वयं सन्तुष्ट नहीं हो। तुम्हारी कोई कामना अपूर्ण है। तुम्हारे मुँह पर किसी आन्तरिक चिन्ताके चिन्ह झलक रहे हैं। क्या कारण है? राजा ने अपना दुखड़ा सुनाया कि बिना एक पुत्रके मैं पूर्वजों सहित नरक में पड़ रहा हूँ। कृपा करके वह उपाय कीजिये जिससे पुत्र पाकर मैं दुस्तर नरक से उत्तीर्ण हो सकूँ। मुनिने कृपा पूर्वक त्वाष्ट्र चरु तैयार कर उससे त्वष्टा देवताका पूजन कराया और राजा की ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पटरानी कृतद्युति को उस यज्ञ का अवशिष्ट अन्न देकर कहा—'इसे खालो।' फिर राजा से कहा—इससे एक पुत्र होगा, परन्तु उससे तुमको हर्ष और शोक दोनों होंगे। यह कहकर ऋषि चले गये।

समय पर पुत्र उत्पन्न हुआ। राजाने बहुत दान दिये। पुत्रवती होने के कारण राजा की प्रीति इस रानी पर विशेष बढ़ती गई, जिससे और रानियों को डाह होने लगा एक तो वे रानियां सन्तान न होने के कारण दुखी थी ही, दूसरे राजाभी उनसे उदासीन से रहने लगे अतः वे अपने आप को धिक्कारने लगी। वे सोचती कि हम तो दासियों से भी गई गुजरी हैं। हमसे अधिक मन्दभागिनी कौन होगी। वे सौत का सौभाग्य नही देख सकती थीं। एक बार पुत्र सो रहा था, माता किसी कार्य में लगी थी। सब सौतो ने अवसर पाकर बच्चे को विष दे दिया, जिससे उनके नेत्रों की पुतलियां ऊपर चढ़ गईं और वह मृत्यु को प्राप्त हो गया। महारानी कृतद्युति को सौतों की कुचाल का पता भी न था। बहुत देर होने पर माता ने धायको राजकुमार को जगा लानेकी आज्ञा दी, धायने जाकर देखा तो चीख मारकर मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। रानी यह देखकर दौड़ पड़ी। महल में कोलाहल मच गया। रानी राजा दोनों का शोक उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। महाशोक वश होकर विलाप-प्रलाप करते हुये वे मोहके कारण मूर्छित हो गये।

ठीक इसी अवसर पर श्रीअङ्गिरा ऋषि और देवर्षि नारदजी वहाँ आ पहुँचे। वे दोनों महर्षि राजा को यों समझाने लगे कि—हे राजाओं में श्रेष्ठ! सोचो तो कि जिसके लिए तुम शोक कर रहे हो, वह तुम्हारा कौन है और पूर्व जन्म में तुम इसके कौन थे और आगे इसके कौन होगे? जैसे जल के प्रवाह के वेग से वालू बह-बहकर, दूर-दूर पहुँच कर कहाँ से कहाँ जा इकट्ठा हो जाती है, इसी प्रकार काल के प्रवल चक्र द्वारा देहधारियों का वियोग और संयोग हुआ करता है। अतएव पिता-पुत्र कल्पनामात्र हैं। वृथा शोक क्यों करते हो? ऋषियों के इन वचनों को सुन कर राजा को ज्ञान हुआ, तव उन्होंने कुछ धीरज धारण करके, हाथ से आँसू पोंछकर ऋषियों से कहा—आप दोनों अवधूत वेष वनाये हुए कौन हैं? आप लोग निश्चय ही ज्ञानियो में श्रेष्ठ है जो हम सरीखे विषयासक्त प्राणियों को उपदेश देने के लिये जगत् में विचरते रहते हैं। आप दोनों मेरी रक्षा करे, मैं घोर अन्धकूप में डूबा पड़ा हूँ, मुझे ज्ञान-दीप का प्रकाश दीजिये। श्रीअङ्गिराजी ने दोनो का परिचय दिया और कहा कि—तुम भगवान् के भक्त हो, ब्रह्मण्य हो, तुमको इस प्रकार शोक में मग्न होना उचित नहीं है, अतः तुम पर अनुग्रह करने के लिये ही हम दोनों यहाँ आये हैं। पूर्व जब मैं आया था तव तुमको पुत्र की उत्कट उत्कण्ठा में निमग्न देख ज्ञान का उपदेश न देकर पुत्र ही दिया। अव तुम स्वयं अनुभव कर रहे हो कि पुत्रवानों को कितना दुःख होता है। ऐसे ही समस्त सांसारिक पदार्थ शोक-सन्ताप ही देने वाले है क्योंकि सर्वथा कल्पित और मिथ्या हैं। अतः इनमें सत्यता का विश्वास त्याग कर शान्तिस्वरूप परमात्मा में स्थित हो जाओ। तदनन्तर देवर्षि नारद ने मृत राजकुमार के जीवात्मा को शोकाकुल स्वजनों के सामने प्रत्यक्ष वुलाकर कहा—जीवात्मन्! तुम अपने वियोग से अत्यन्त व्याकुल स्वजनों को देखो, अपने शरीर में प्रवेश कर इनका दुःख दूर करो। पिता के दिये हुए भोगों को भोगो, और राजसिंहासन पर वैठो।

जीवात्मा ने कहा—मैं अपने कर्मानुसार अनेक योनियों में भ्रमता रहता हूँ, उनमें ये लोग किस जन्म में मेरे माता-पिता हुए थे। अरे! विभिन्न जन्मों में सभी आपस में एक दूसरे के भाई, पिता, माता, शत्रु, मित्र, नाशक, रक्षक इत्यादि होते रहते हैं। ये लोग हमें पुत्र मानकर शोक करने के वदले, शत्रु समझ कर प्रसन्न क्यों नही होते है? जैसे सुवर्ण आदि क्रय-विक्रय की वस्तुएँ एक व्यापारी से दूसरे के पास आती-जाती रहती है वैसे ही जीव भी भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होता रहता है। जितने दिन, जिसके साथ जिसका सम्वन्ध रहता है, उतने दिन उस पर उसकी ममता रहती है। आत्मा नित्य, अव्यय, सूक्ष्म और स्वयं प्रकाशित है। कोई उसका मित्र वा शत्रु नही है। वह जीव फिर वोला कि—मैं पूर्व जन्म में पाञ्चाल देश का राजा था। कथा-सत्सङ्ग के प्रभाव से राज-सुख-भोग से वैराग्य होने पर मैं भिक्षावृत्ति से निर्वाह करता हुआ भगवत्स्मरण गुण-गान करते हुए विचरते-विचरते एक ग्राम में गया। इस मेरी माता ने भोजन वनाने के लिए मुझे कण्डा दिया, जिसमें अनेकों चीटियां थी। उन कण्डों का संशोधन किये विना ही मैंने उनमें आग लगा दी, सव चीटियाँ मर गयी। मैंने भोजन वनाकर श्रीशालग्राम भगवान का भोग लगा कर प्रसाद पाया, वही चीटियाँ मेरी सौतेली माताएँ हुई। प्रभु को अर्पण कर प्रसाद पाने से एक ही जन्म में सवने मुझसे वदला ले लिया। नहीं तो अनेक जन्म लेने पड़ते। भगवान् ने कृपा करके कर्म का भोग भी दे दिया और मैंने क्लेश भी नही पाया। यथा—'प्रभु राखी श्रुति नीति अरु मैं नहिं पावा क्लेश॥' अव इस देह से मेरा कोई सम्वन्ध नहीं रहा। इतना कह कर वह जीवात्मा चला गया।

राजा को विवेक हो गया, उसने राज्य छोड़ दिया। श्रीनारद मुनि ने संकर्षण भगवान् का मन्त्र दिया, स्तुतिमयी विद्या वतायी। श्रीअङ्गिराजी एव नारदजी चित्रकेतु के द्वारा अभिवन्दित होकर ब्रह्म-

लोक को चले गये। चित्रकेतु को विधिवत सात दिन तक जप करने पर संकर्षण भगवान का दर्शन हुआ। उनके हृदय मे भक्तिभाव की बाढ़ आ गई, वे बहुत देर तक शेष भगवान की कुछ भी स्तुति न कर सके। पश्चात् उन्होने विवेक-बुद्धि से मन को समाहित कर भगवान शेष की स्तुति की। तब उन्होंने प्रसन्न होकर चित्रकेतु को अपने परम गुह्य तत्वज्ञान का उपदेश दिया। भगवान के अन्तर्धान हो जाने पर दिव्य शक्ति सम्पन्न चित्रकेतु भगवान के दिये हुए तेजोमय विमान पर आरूढ़ होकर आकाश-मार्ग से स्वच्छन्द विचरने लगे।

एक बार बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियों की सभा मे सिद्ध चारणो के बीच श्रीपार्वतीजी को गोद मे बैठा कर विराजमान भगवान श्रीशिवजी को देख कर, चित्रकेतु उनके समीप आकर जोर से हँस कर उपेक्षा पूर्वक आलोचना करने लगे कि सम्पूर्ण जगत के धर्मगुरु देव-देव महादेव का इस प्रकार निर्लज्जता पूर्वक गोद मे स्त्री लेकर ऋषियो के बीच बैठना निश्चय ही अति निन्द्य है। कृपासिन्धु श्रीशिव तो ये वचन सुन कर केवल हँस दिये परन्तु भगवती श्रीपार्वतीजी को चित्रकेतु की धृष्टता पर क्रोध आ गया और वे बोलीं— तुमने अपने बडप्पन के अभिमान में ब्रह्मादि के भी वन्द्य भगवान शिव का तिरस्कार किया है अतः दुर्मते! तुम पापमय असुर योनि मे जाओ। ऐसा होने से तुम फिर कभी किसी महापुरुष का अपराध नही कर सकोगे। चित्रकेतु को अपनी भूल मालूम हुई, विमान से उतर कर श्रीपार्वतीजी के चरणो में प्रणाम किये, शाप को सहर्ष स्वीकार किये। शाप-मुक्ति के लिये नही, अपनी बात से श्रीपार्वतीजी को जो क्षोभ हो गया था, उसके लिये क्षमा-याचना किये और विमान पर सवार होकर वहाँ से चले गये। चित्रकेतु की निर्द्वन्द्वता देखकर सभी ऋषि-मुनि बड़े विस्मित हुए। भगवान शिवजी बोले—सुन्दरि! दिव्य-लीला विहारी भगवान के निस्पृह और उदार हृदय दासानुदासों की महिमा तुमने अपनी आँखों से देख ली। जो लोग भगवान के शरणागत होते हैं वे किसी से भी नही डरते हैं। उन्हे अनुकूल परिस्थिति में न तो कोई हर्ष और प्रतिकूल परिस्थिति में न कोई विषाद ही होता है। क्योकि उन्हे स्वर्ग, मोक्ष और नरको में भी एक ही वस्तु के, केवल भगवान के ही समान भाव से दर्शन होते हैं। यथा—

स्वर्ग नरक अपवरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥ (रा०च०मा०)

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥ (भा०)

अतः ऐसे भक्त शान्त, समदर्शी, महात्मा पुरुषो के सम्बन्ध में किसी प्रकार का आश्चर्य नही करना चाहिये। श्रीशिवजी के इन वचनो से सबका समाधान हो गया।

यही चित्रकेतु दानव योनि का आश्रय लेकर त्वष्टा के यज्ञ मे दक्षिणाग्नि से पैदा हुए। वहाँ इनका नाम वृत्रासुर हुआ और वहाँ भी ये भगवत्स्वरूप के ज्ञान और भक्ति से परिपूर्ण रहे। जिस समय देवराज इन्द्र भगवान के उपदेश से महर्षि दधीचि की हड्डियो से निर्मित वज्र को लेकर युद्ध में मारने को उद्यत हुए, उस समय असुरराज वृत्र वज्र एवं इन्द्र दोनों मे ही भगवत्स्वरूप का दर्शन कर, भगवान की कृपा का अनुभव कर भाव-मग्न हो गये और उनसे प्रार्थना करने लगे। यथा—

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मिभूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥१॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥२॥

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥३॥
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसार चक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययाऽऽत्मात्मज दार गेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥४॥ (भा०)

अर्थ—प्रभो ! आप मुझ पर ऐसी कृपा कीजिये कि अनन्य भावसे आपके चरण कमलोंके आश्रित सेवकों की सेवा करनेका अवसर मुझे अगले जन्म मे भी प्राप्त हो । प्राण वल्लभ ! मेरा मन आपके गुणों का स्मरण करता रहे, मेरी वाणी उन्हीं का गान करे और शरीर आपकी सेवा में ही सलग्न रहे ॥१॥ सर्व सौभाग्य निधे ! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डल का साम्राज्य, रसातल का एक छत्र राज्य, योगकी सिद्धियां—यहां तक कि मोक्ष भी नही चाहता ॥२॥ जैसे पक्षियों के पङ्खहीन बच्चे अपनी मां की वाट जोहते रहते, है, जैसे भूखे बछड़े अपनी मां का दूध पीने के लिये आतुर रहते है; और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलने के लिये उत्कण्ठित रहती है —वैसे ही हे कमलनयन ! मेरामन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है॥३॥ प्रभो! मैं मुक्ति नही चाहता । मेरे कर्मो के फल स्वरूप मुझे वार-वार जन्ममृत्यु के चक्कर में भटकना पड़े इसकी परवाह नहीं । परन्तु मैं जहां-जहां जाऊँ, जिस जिस योनिमें जन्मूँ, वहां वहा भगवानके प्यारे भक्तजनोसे मेरी प्रेम-मैत्री वनी रहे । स्वामिन्! मैं केवल यही चाहता हूँ कि जो लोग आपकी मायासे देह-गेह और स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त हो रहे है, उनके साथ मेरा कभी भी किसी प्रकार का भी सम्वन्ध न हो ॥४॥

इन्द्रने वृत्रासुरके भावकी प्रशंसा की । जिस समय इन्द्रने वज्रसे वृत्रासुर का शिरश्छेदन किया उस समय उसके शरीर से निकल कर उसकी आत्मज्योति इन्द्र आदि सब लोगोंके देखते-देखते सर्व लोकातीत *भगवानके स्वरूप में लीन हो गई ॥ (भा०)*

श्री उद्धवजी—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्नशङ्करः । न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥

अर्थ—उद्धव ! मुझे तुम्हारे जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र व्रह्मा, आत्मा शङ्कर, सगेभाई वलरामजी, स्वयं अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मीजी और मेरा अपना आत्मा भी नही है । श्रीभगवान ने स्वयं श्री मुख से यह वात श्रीउद्धवजी से कहा है । श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा । शिष्यो वृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥ (भा०)

अर्थ—परीक्षित् ! उद्धवजी वृष्णि वंशियों में एक प्रधान पुरुप थे । वे साक्षात् वृहस्पति जी के शिष्य और परम बुद्धिमान थे । उनकी महिमा के सम्वन्ध में इससे वढ़कर और कौनसी वात कही जा सकती है कि वे भगवान श्रीकृष्ण के प्यारे सखा तथा मन्त्री थे । वाल्यावस्था से ही इनका भगवान के चरणो में वड़ा अनुराग था । जव ये पांच वर्ष के थे तव वालकों की तरह खेल में ही श्रीकृष्ण की मूर्ति वनाकर उसकी सेवा पूजामें ऐसे तन्मय हो जाते थे कि कलेवा के लिये माताके वुलाने पर भी उसे छोड़कर नही जाना चाहते थे । भगवान श्रीकृष्ण ने जव इन्हें सखा रूप में स्वीकार कर लिया तव तो ये एक क्षण के लिये प्रभु से अलग नहीं होते थे । यथा—सदा मिलि एक साथ वैठत चलत वोलत संग ॥ (सूरसागर)

दोनो मित्रो में बड़ी अन्तरङ्गता थी। मतैक्य था। परन्तु एक स्थल पर दोनों में घोर विरोध भी था। विरोध इस बातका था कि जब प्रेम-योगी श्रीकृष्ण प्रेममयी व्रजदेवियो की स्मृतिमें प्रेम विह्वल होकर उनके अनुराग की चर्चा करते तो ये अद्वैत-वेदान्त की शुष्क गाथा गाने लगते यथा—

पद— हरि गोकुल की प्रीति चलाई।
सुनहु उपँगसुत मोहिं न विसरत व्रज वासी सुखदाई॥
यह चित होत जाउँ मैं अबहीं यहां नहीं मन लागत।
गोपी गाइ ग्वाल वन चारण अति दुख पायो त्यागत॥
कहां माखन रोटी कहँ यशुमति जेवों कहि कहि प्रेम।
सूर श्याम के वचन हँसत सुनि थापत अपनो नेम॥

प्रेम-विरहकी बात सुनकर ऊधव भगवान श्यामसुन्दर को योग-ज्ञानका उपदेश करते। यथा—

पांचो तत्व माहिं एक सत्व ही की सत्ता सत्य, याही तत्व ज्ञान को महत्व श्रुति गायो है।
तुम तो विवेक रतनाकर कहौं क्यों पुनि भेद पाञ्च भौतिक के रूप मे रचायो है॥
गोपिन में आप में वियोग औ संजोग हूं मै एकै भाव चाहिये सचोप ठहरायो है।
आपु ही सो आपुको मिलाप औ बिछोह कहा मोह यह मिथ्या सुख दुःख सब ठायो है॥

ऊधव की यह अद्वैत-चर्चा श्रीकृष्णको खीरमें नोनकी तरह लगती। वे मन मसोस कर रह जाते कि—

संग मिलि कहौं कासों बात। योग की यह कथत बातें जामें रस जरि जात॥(सू० सा०)
इह अद्वैत दरशी रङ्ग।
सदा मिलि एक साथ बैठत चलत बोलत सङ्ग।
बात कहत न बनत यासों निठुर योगी जङ्ग॥
प्रेम सुनि विपरीत भाषत होत है रसभङ्ग।
सदा व्रज को ध्यान मेरे रास रङ्ग तरङ्ग॥
सूर वह रस कहौं कासों मिल्यो सखा भरङ्ग॥ (सू०सा०)

भगवान ने विचारा कि सगी मिला तो अवश्य परन्तु कंचन का कांच जैसा, हंसको काग जैसा। यथा—हंस काग कौ संग भयो। जैसे कंचन कांच संग त्यों विधि यह संग दयो॥ (सू० सा०) फिर तो श्रीश्यामसुन्दर ने मित्र ऊधव को प्रेम-पाठ पढाने के लिये प्रीति पाठशाला व्रज में भेजने का निश्चय किया यथा—

याहि और कछु नहीं उपाइ।
मेरो प्रगट कह्यो नहिं बदि हैं व्रज ही देउँ पठाइ॥
गुप्त प्रीति युवतिन की कहिकै याको करौं महन्त।
गोपिन को परबोधन कारण जै हैं सुनत तुरन्त॥
अति अभिमान करैगो मनमें योगिनको एहि भांति।
सूर श्याम यह निहचै करिकै बैठत है मिलि पांति॥

एक दिन शरणागतो के समस्त दुःख हर लेने वाले भगवान श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय मित्र और एकान्त प्रेमी उद्धवजीका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—

ऊधो तुम यह निहचै जानौ।
मन वच क्रम मैं तुमहि पठावत व्रज को करौ पयानौ॥
पूरण ब्रह्म अलख अविनासी ताके तुम हो ज्ञाता।
रेख न रूप जाति कुल नाहीं जाके नहि पितु माता॥
यह मत दै गोपिन को आवहु विरह न मन में मापति।
सूर तुरत यह जाय कहो तुम ब्रह्म बिना नहि आसति॥

यह सुनकर उद्धवजी ज्ञानके अभिमान में फूल गये साथ ही बड़े आदरपूर्वक अपने प्रिय सखा का सन्देश लेकर रथ पर सवार हुए और नन्द गांवके लिये चल पड़े॥ गोकुल की गैल में पग धरते ही उद्धव पर जो प्रेम का प्रभाव पड़ा उसका बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन श्रीरत्नाकर जी ने उद्धव-शतक में किया है। यथा—

लैकै उपदेश-औ-संदेश पन ऊधौ चले! सुजस कमाइबे उछाह उद्गार मैं।
कहै रतनाकर निहारि कान्ह कातर पै आतुर भये यौं रह्यौ मन न सँभार मैं॥
ज्ञान गठरी की गांठ छरकि न जाने कब हरै हरै पूँजी सब सरकि कछार मैं।
डार में तमालनि की कछु विरमानी अरु कछु अरुझानी है करीरनिकी झारमै॥१॥

हरैं हरैं ज्ञान के गुमान घट जानि लगे, जोगके विधान ध्यान हूं ते टरिबै लगे।
नैननि में नीर रोम सकल शरीर छयौ प्रेम-अद्भुत-सुख सूझि परिबै लगे॥
गोकुल के गांवकी गलीमें पग पारत ही भूमिकै प्रभाव भाव और भरिबै लगे।
ज्ञान मारतण्ड के सुखाये मन मानस कौ सरस सुहाये घनस्याम करिबै लगे॥२॥

बरसाने पहुँचने पर तो रहा सँहा धैर्य और ज्ञान भी रफू-चक्कर हो गया। यथा—

दुख सुख ग्रीषम औ शिशिर न व्यापै जिन्हैं छाप छाप एकै हिये ब्रह्म ज्ञान साने मैं।
कहैं रतनाकर गँभीर सोई ऊधव कौ धीर उधरान्यौ आनि व्रज के सिवाने मैं॥
औरै मुख रङ्गभयौ, सिथिलित अङ्ग भयौ बैन दबि दंगभयौ गर गरुवाने मैं।
पुलक पसीजि पास चांपि मुरझाने कांपि जानै कौन बहति बयार बरसाने मैं॥३॥

उद्धवजी सूर्यास्त के समय व्रज पहुँचे। श्रीकृष्ण के प्यारे सखा उद्धवजी से मिलकर श्रीनन्दबाबा बड़े प्रसन्न हुए, मानो स्वयं श्रीकृष्ण ही आ गये हों। बड़े ही सत्कारपूर्वक महल में ले जाकर श्रीकृष्ण के अनुराग रङ्ग मे रङ्गे हुए नन्द-यशोदा ने अपने प्यारे पुत्र की बाल-लीलाओं का एक-एक करके स्मरण करते हुए बार बार कुशल समाचार पूछा और उद्धवजी उनके प्रेम पर मुग्ध भये उत्तर देते हुए बीच बीच में ज्ञान-योग का उपदेश भी देते रहे, इस प्रकार वह रात्रि प्रेम और ज्ञानकी चर्चा में ही बीत गई। प्रातःकाल जब गोपाङ्गनाओं को ऊधव के आने का समाचार मिला, तब तो मानो व्रज में प्रेम का समुद्र

ही उमड़ पड़ा और ऊधव जैसे ज्ञानि शिरोमणि भी उसमें लीन हो गये। (श्रीउद्धव गोपी संवाद के लिए देखिये अगले छप्पय १० मे गोपी प्रेम प्रसङ्ग)

उद्धव के व्रज से लौटते समय का बड़ा ही चारु-चित्रण श्रीरत्नाकरजी ने किया है। यथा—

आये लौटि लज्जित नवाये नैन ऊधौ अब सब सुख साधन को सूधो सो जतन लै।
कहै रतनाकर गँवाये गुन गौरव औ गरब गढ़ी को परिपूरन पतन लै॥
छाये नैननीर पीर कसक कमाये उर दीनता अधीनता के भार सौं नतन लै।
प्रेम रस रुचिर विराग तूमड़ी में पूरि ज्ञान गूदड़ी में अनुराग सों रतन लै॥

भगवान श्रीकृष्णका संकल्प पूर्ण हुआ। ज्ञान-योग-प्रवीण ऊधो प्रेम रङ्गमे रङ्ग गये। अब दोनों मित्रों मे किसी प्रकार का मत-भेद नही रहा।

द्वारका लीला में भी ऊधवजी भगवान के साथ रहे। श्रीब्रह्माजी की प्रार्थना पर जब श्रीकृष्णने अपनी लीला सम्वरण का संकल्प किया, द्वारकापुरी में बड़े-बडे अपशकुन होने लगे, तब भगवान श्रीकृष्ण का अभिप्राय समझकर ऊधवजी ने एकान्त मे उनके पास जाकर उनके चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया और हाथ जोडकर उनसे अपनी विरह-व्यथा निवेदन करते हुए अपने साथ ही धाम ले चलने की प्रार्थना किया। भगवान ने विचार किया—'अब इस लोक से मेरे चले जाने पर संयमी शिरोमणि उद्धव ही मेरे ज्ञान को ग्रहण करने के सच्चे अधिकारी हैं॥ उद्धव मुझसे अणुमात्र भी कम नही हैं क्योकि वे आत्मजयी हैं, विषयो से कभी भी विचलित नहीं हुए हैं अतः लोगों को मेरे ज्ञान की शिक्षा देते हुए यहीं रहे तो अच्छा है। अतः भगवानने ऊधवजी को बहुत बहुत आश्वासन देकर अपने तत्वज्ञान का उपदेश दिया और बदरिकाश्रम मे जाकर रहने की आज्ञा दी। यथा—

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम्। अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वर॥
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद् गुणैर्नार्दितः प्रभुः। अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु॥

तथा—गच्छोद्धव मयाऽऽदिष्टो बदर्याख्यंममाश्रमम्॥ (भा०)

भगवान के प्रति प्रेम करके फिर त्याग करना सम्भव नहीं है। प्रियतम श्रीकृष्ण के वियोगकी कल्पना से ऊधवजी कातर हो गये। वे बार बार विह्वल होकर मूर्च्छित होने लगे। अन्त में उन्होने भगवान श्रीकृष्णकी चरण पादुकाये अपने सिर पर रख ली और बार बार भगवानके चरणो मे प्रणाम करके उन्होने वहां से प्रस्थान किया। मथुरा में श्रीयमुना तटपर श्रीविदुरजी से मिले। श्रीविदुरजी ने उन्हे देखकर प्रेम से गाढ आलिंगन किया और उनसे अपने आराध्य भगवान श्रीकृष्ण और उनके आश्रित अपने स्वजनो का कुशल समाचार पूछा। तब श्रीउद्धवजी अत्यन्त प्रेमविभोर होकर भगवानकी लीलाओं का वर्णन करते हुए वियोग का स्मरण कर बेसुध हो गये। परिणाम यह हुआ कि परम-धाम जाते समय भगवान ने जो तत्वोपदेश इन्हें दिया था वह वर्णन करने में अपनी असमर्थता दिखाते हुए विदुरजी को श्रीमैत्रेयजीके पास जाने को कहा और स्वयं श्रीकृष्णकी आज्ञा शिरोधार्य कर अपने स्थूल रूप से तो बदरिकाश्रम चले गये परन्तु भाव शरीर से श्रीगोवर्धनजी की तलहटी में निवास करते है। महर्षि शाण्डिल्य के आदेशानुसार वज्रनाभ ने जब गोवर्धन के समीप संकीर्तन महोत्सव किया। तब लता-कुञ्जों से उद्धव जी प्रगट हो गये और एक महीने तक वज्रनाभ तथा श्रीकृष्ण की रानियों को श्रीमद्भागवत सुनाया

अपने साथ ले नित्य व्रजभूमि में अन्तर्हित हो गये। जो लोग श्रीकृष्ण प्रेम में निरन्तर मग्न रहते हैं, उन भावुक भक्तों को भी आज उनके दर्शन होते है ॥

गजग्राह—गजेन्द्र पूर्वजन्म में द्रविड़ देश का पाण्ड्य वंशी राजा था उसका नाम था इन्द्रद्युम्न। एक बार परम भागवत राजा इन्द्रद्युम्न राज-पाट छोडकर भगवदाराधन करते हुये मलय पर्वत पर रहने लगे थे। एक दिन स्नान के वाद पूजा के समय मन को एकाग्र करके एवं मौन व्रती होकर वे सर्वशक्तिमान भगवान की आराधना कर रहे थे। उसी समय दैव योग से श्रीअगस्त्यमुनि अपनी शिष्य मण्डली के साथ वहां आ पहुँचे। उन्होंने देखा कि यह राजा प्रजा पालन और गृहस्थोचित अतिथि सेवा आदि धर्मों का परित्याग करके तपस्वियों की तरह एकान्त में चुपचाप वैठकर उपासना कर रहा है, इसलिये वे राजा इन्द्रद्युम्न पर क्रुद्ध होकर शाप दे दिये कि ब्राह्मणों का सत्कार न करके तपमें लगा हुआ राजा हाथी के समान जड़ वुद्धि है इसलिये इसे वही घोर अज्ञानमयी हाथी की योनि प्राप्त हो ॥ राजर्षि इन्द्रद्युम्न ने यह समझ कर सन्तोष किया कि मेरा प्रारब्ध ही ऐसा था। शाप के फलस्वरूप राजा को हाथी की योनि प्राप्त तो हुई परन्तु भगवान की आराधना का ऐसा प्रभाव है कि हाथी होने पर भी उन्हें भगवान की स्मृति हो ही गई। भगवान श्रीहरिने गजेन्द्र का उद्धार किया। (विशेष देखिये छप्पय ५ हरि-अवतार की कथा)

ग्राह पूर्व जन्म में हूहू नामक गन्धर्व श्रेष्ठ था। इसने एक बार श्वेतद्वीप के एक सरोवर में स्नान करते समय देवल ऋषिका जलमें पैर पकड़ कर डरा दिया। उसके इस व्यवहार से असन्तुष्ट होकर ऋषि ने शाप दे दिया कि तुम ग्राह योनि को प्राप्त हो। यह ग्राह भगवान के हाथ से मर कर अपने पूर्व रूप को प्राप्त हुआ और स्तुतिकर अपने लोक को चला गया। भक्त गजेन्द्रके चरण को इसने पकड़ा था अतः भक्ति पाकर कृतार्थ हुआ।

कल्पभेद से इनके पूर्व जन्म की दूसरी कथा—मरुदेवके राजाके यज्ञमें दो भाई ब्राह्मणोमें से एक ब्रह्मा और दूसरे होता हुये। यज्ञान्त में होता को दक्षिणा अधिक मिली, ब्रह्माको उनकी अपेक्षा कम। अतएव ब्रह्मा ने दोनों दक्षिणा एक में मिलाकर आधा-आधा वांट लेना चाहा। परन्तु होताको यह प्रस्ताव स्वीकार न हुआ। अतः ब्रह्माने शाप दे दिया कि तुम ग्राह हो जाओ। तदुपरान्त होता ने भी शाप दिया कि तुम गज हो जाओ। (श्रीरूपकलाजी की टीका से)

सर्वोपाय शून्य होकर की गई गजेन्द्र की करुणा पुकार पर भगवान श्रीहरि की आतुरताका बड़ा ही सुन्दर वर्णन कवियों की वाणियों में मिलता है। भगवान श्रीवेदव्यासजी महाराज लिखते हैं—

> तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।
> ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं संपश्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम्॥ (भा०)

अर्थ—जव भगवान ने देखा कि गजेन्द्र अत्यन्त पीड़ित हो रहा है तव वे एकवारगी गरुड़ को छोड़कर कूद पड़े और कृपा करके गजेन्द्र के साथ ही ग्राह को भी वड़ी शीघ्रतासे सरोवर से वाहर निकाल लाये फिर सव देवताओं के सामने ही भगवान श्रीहरि ने चक्रसे ग्राह का मुँह फाड़ डाला और गजेन्द्र को छुड़ा लिया॥ श्रीरतनाकरजी लिखते हैं—

रमत रमा के सङ्ग आनन्द उमंग भरे अंग परे थहरि मनंग अवराघे पं ।
कहैं रतनाकर वदन द्युति और भई बूंदे छइ छलकि दृगनि नेहनाघे पं ॥
धायेउठि वारन उवारनमें लाई रंच चंचलाहू चकित रहीहै वेग साघे पं ।
आवत वितुण्ड की पुकार मगआधे मिली लौटत मिल्यौ त्यौं पक्षिराज मग आधे पं ॥१॥

सुनि गजभीर गह्यो चीर कमला को तजि ह्वै हरि अधीर पीर उमगि अथाह में ।
कहैं रतनाकर चपल चक्र वाहि चले वक्र ग्राह निग्रह के अमित उछाह मे ॥
पच्छीपति, पौन, चंचलासौं, चख चंचलसौं चित्तहूं सौं चौगुनौ चपल चलि राह मे ।
वारन उवारि दशा दारुन विलोकि तासु हुचकन लागे आप करुणा प्रवाह मे ॥२॥

छल वलकै थाक्यो अनेक गजराज भारी भयो वलहीन जव नेकुना छुड़ा गयो ।
कहिवे को भयो करुना की कवि कारे कहैं, रह्यो नेक नाक और सबही डुबा गयो ॥
पंकज से पायन पयादे पलंग छाड़ि पांवरी विसारि प्रभु ऐसी पीर पा गयो ।
हाथी के हृदय मांहि आधो हरिनाम सोऊ गरे जौ न आयो गरुड़ेश तौलों आ गयो ॥३॥

फल वल छल करि हारि गज लियो राम को नांव ।
रा कहते हरि दुःख हरचो म कहि छूयो पांव ॥

पुनः— हाथी कहि धाये हरी, गज को देखि निरास ।
'हा' उचरचो निज धाम में, 'थी' हाथी के पास ॥ (भ०व०टि०)

भक्त दुःख कातर प्रभु की उस समय की शोभा को देखकर गजेन्द्र को अपने को ग्राह द्वारा ग्रसे जाने की सुधि भूल गई । यथा—

गज निरखत फहरान वसन की ।
ललकि लग्यो मुखकमल विलोकन भूलि गयो सुधि ग्राह ग्रसन की ॥
मनरथ पर आवत दरसावत भुज भूषित ज्यौं सिर परसन की ।
कुण्डल कच थहरात वदन पर दामिनि सी मृदु मन्द हसन की ।
वनमाला हलकत उर झलकत पीताम्वर कटि फेट कसन की ।
फूल उखारि उठाय सूँड़ सो भेंट दियो ज्यौं भाव असन की ।
प्रेमसखी गज छीनि ग्राहसों तहँ पठये जहँ डर न खसन की ॥

करुणा वरुणालय प्रभु ने चक्र को आज्ञा दिया ग्राह का सिर काट लेने के लिये । पश्चात् भक्त-वत्सल भगवान ने अपने श्रीकरकमलों से गजराजके पांवसे ग्राहका मुँह छुड़ाकर अपने पीताम्बर से उनके घाव को पोछकर पीताम्बर फाड़कर उस पर पट्टी बांधी । इतना ही नहीं, श्रीहरि ने इस प्रकार गजेन्द्र का उद्धार करके उसे अपना पार्षद बना लिया और पार्षद रूप गजेन्द्र को साथ लेकर गरुड़ पर सवार होकर अपने अलौकिक धाम को चले गये ।

एक बात बड़े महत्व की यह है कि ग्राहने अपने उद्धारके लिए गज का पांव पकड़ा अर्थात् भक्त का आश्रय लिया और गजेन्द्र ने भगवान को पुकारा । अर्थात् भगवान का आश्रय लिया । हम देखते हैं

कि भक्ताश्रयी ग्राह का उद्धार पहले होता है और भगवदाश्रयी गजेन्द्रका वाद में। इससे सिद्ध होता है कि 'राम से अधिक राम कर दासा।' ग्राह हत्यौ राख्यो गजहिं, भयो सुजस अभिराम। भक्त चरन बिनु भक्ति गहि प्रथम ग्राह गाधाम ॥

पाण्डव—महाराज पाण्डु के पुत्र श्रीयुधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव। एक वार वन-विहार के समय अपनी मृगीरूपधारिणी पत्नीके साथ मृगरूपधारण करके मैथुन में प्रवृत्त किदम नाम के ऋषि का महाराज पाण्डुके द्वारा मृग के धोखे में वध हो गया। मरते समय मृगरूपधारी ऋषि किदम ने पाण्डुको शाप दे दिया कि आपकी भी मैथुन में प्रवृत्त होते ही मृत्यु हो जायगी। उस समय तक पाण्डु के कोई सन्तान नही थी, ऋषि के वध एवं शाप से पाण्डु को वड़ा पश्चाताप हुआ और अपनी दोनों पत्नी कुन्ती और माद्रीको साथ लेकर शतश्रृङ्ग पर्वत पर वानप्रस्थ विधि से तपस्या करने के लिये चले गये। कुछ काल वाद वंश परम्परा की रक्षा, एव पितृऋण से उद्धार होनेके लिये पाण्डुके मन मे पुत्र की प्रवल लालसा जागृत होनेपर महारानी कुन्ती ने पितृ-गेह-निवास-कालमे सेवासे सन्तुष्ट महर्षि दुर्वासा द्वारा प्राप्त हुए देवताओंके आवाहनके मन्त्रकी महिमा सुनायी। महाराज पाण्डुने धर्मात्मा पुत्रकी कामना से धर्म राज के आवाहन की आज्ञा दी, जिसके फलस्वरूप कुन्ती के धर्मराजके अंशसे श्रीयुधिष्ठिरजी हुए, वली पुत्रकी कामना से वायुदेव के अंशसे भीमसेन हुए। सर्वोत्तम पुत्रकी कामना से इन्द्रके अंशसे अर्जुन हुए, एवं माद्रीके अनुरोध पर अश्विनीकुमारों के अंशसे माद्रीके नकुल और सहदेव ये दो पुत्र हुए। ये पांचों ही पांडुके क्षेत्रज पुत्र होने से पाण्डव कहलाये। इनकी भगवान श्रीकृष्णमें परमभक्ति थी। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण भी इनसे वहुत प्रेम करते थे। शान्तिदूत वनकर हस्तिनापुर पहुंचने पर दुर्योधन से वार्ताके सिलसिले में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—'मम प्राणा हि पाण्डवाः।' (महाभारत) अर्थ—पाण्डव मेरे प्राण हैं। प्रियत्वद्योतित करनेके लिए इससे अधिक और कहा ही क्या जा सकता है। क्योंकि 'देह प्राणते प्रिय कछु नाहीं।' अव आगे की पंक्तियों में पृथक्-पृथक् इनके चरित्रों पर प्रकाश डाला जाता है।

श्रीयुधिष्ठिरजी—"धर्मो विवर्धति युधिष्ठिर कीर्तनेन।" साक्षात् धर्म के अ शावतार श्रीयुधिष्ठिर के सर्वस्व श्रीकृष्ण थे। यथा—प्रियश्च प्रियकामश्च गतिज्ञः सर्वकर्मणाम्। कोहि कृष्णास्ति नस्त्वादृक् सर्व निश्चयवित् सुहृत् ॥ (म०भा०) अर्थ—हे कृष्ण! तुम्हारे समान हमारा प्रिय हितचिन्तक सव कर्मोंकी गति जानने वाला तथा सव प्रकार के निश्चयका ज्ञाता, सुहृद दूसरा कौन है? अर्थात् कोई नहीं। यद्यपि श्रीकृष्ण उनके ममेरे भाई लगते थे, उम्रमें छोटे थे तव भी श्रीयुधिष्ठिर की श्रीकृष्ण में भक्ति थी, इसलिये कि वे धर्मके सारतत्व को अच्छी तरह समझते थे। वर्णन आया है कि जव वे वाल्यावस्था में गुरुकुल में पढ़ रहे थे तव गुरुजी ने 'सत्यंवद' 'धर्मं चर' का पाठ पढाया और दूसरे दिन गुरुजी के पूछने पर सभी विद्यार्थियों ने अपना पाठ सुना दिया परन्तु इन्होने कहा—गुरुजी! अभी पाठ ठीक से याद नहीं है। जव कई दिन तक यही उत्तर देते रहे तो गुरुजी झुंझलाये कि तुमसे छोटे-छोटे विद्यार्थी एक दिन में ही याद कर लेते हैं और तुम्हें, इतने दिन हो गये याद नही भया: इन्होने वड़ी विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया—गुरुजी! मैं केवल पाठको रट लेना ही याद होना नहीं मानता हूँ। मैं तो यथावत् रूपसे उनका आचरण में लाना ही याद होना समझता हूं। इनकी इस शास्त्र-सिद्धान्त-निष्ठासे गुरुजी वड़े ही प्रभावित हुए, हृदयसे लगाकर आशीर्वाद दिये कि समस्त सद्गुण तुममें निवास करें। सचमुच भक्ति के प्रभाव से तथा श्रीगुरुजीके आशीर्वाद से श्रीयुधिष्ठिरजी में सभी गुणों का एक जगह दर्शन होता है।

बाल्यावस्था में ही पिता श्रीपाण्डुजी का निधन हो गया। परिणामस्वरूप इनका सम्पूर्ण पितृ-भाव ताऊ धृतराष्ट्र मे केन्द्रित हो गया। जैसा कि कहा गया है—"अनुचित उचित विचार तजि जे पालहिं पितु बैन। ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपुर ऐन ॥" श्रीयुधिष्ठिर के सम्बन्ध में पूर्ण चरितार्थ है। वारणावत नगर मे लाक्षागृह में रहने तथा जूआ खेलने जैसी धृतराष्ट्र की निन्द्य आज्ञाओं का भी आपने स्वागत किया, जब कि इसके कारण आपको कौन-सा संकट नही झेलना पड़ा? भरी सभा में महारानी द्रौपदी का तिरस्कार अपनी आँखों से देखा परन्तु ताऊ की आज्ञा पर आंच नही आने दी। ऐसी अद्भुत थी इनकी पितृ-भक्ति। दुर्योधन और शकुनि के कपट-द्यूत की निन्दा किसने नही की? परन्तु धन्य हैं श्रीयुधिष्ठिरजी, जिन्होने बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास का कष्ट स्वीकार कर लिया परन्तु कौरवो के विरुद्ध एक शब्द भी नही कहा। इसी से इनका एक नाम 'अजातशत्रु' भी था। वे शत्रुओं के प्रति भी सद्भाव रखते थे। अपकारी का भी उपकार करना—आपके जीवन का महाव्रत था। इससे इनकी साधुता का परिचय मिलता है। यथा—'उमा सन्त की इहइ बड़ाई। मन्द करत जे करहिं भलाई॥' (रामचरितमानस)

वनवास काल मे जब ये द्वैत वन में निवास कर रहे थे, दुष्ट दुर्योधन इनका तिरस्कार करने के लिये वहाँ भी ससैन्य पहुँचा। पाण्डवो की रक्षा के लिये देवराज इन्द्र के भेजे हुए चित्रसेन आदि गन्धर्व-गणो से दुर्योधन की मुठभेड हो गई। गन्धर्व दुर्योधन को पराजित कर कैद कर लिये। जब यह समाचार श्रीयुधिष्ठिरजी को मिला तो भीमसेन के विरोध करने पर भी इन्होंने अर्जुन को भेज कर दुर्योधन को गन्धर्वो से मुक्त कराया। आपकी इस विशाल हृदयता, अजात-शत्रुता को देखकर इन्द्रादि देवता दङ्ग रह गये। ऐसे ही एक बार जयद्रथ वन में द्रौपदी को अकेली देखकर जबर्दस्ती अपने रथ मे बिठाकर ले भागा। पाण्डवो को तत्काल ही जयद्रथ की शैतानी का पता लग गया, पीछा किये तो जयद्रथ डर के मारे द्रौपदी को रथ से उतार कर स्वयं जान बचाने के लिये भागा, परन्तु भीमसेन ने पकड ही लिया और श्रीयुधिष्ठिरजी के सामने प्रस्तुत किया तो आपने इस महापराधी को भी दया करके छुड़वा ही दिया। ऐसी अद्भुत क्षमाशीलता एव दयालुता थी आपमें।

एक बार एक ब्राह्मण की अरणी (अग्नि-उत्पादक काष्ठ विशेष) एक मृग की सींग मे खुजलाते समय फँस गई। मृगा अरणी सहित भागा। अरणी के अभाव में अग्निहोत्र कार्य मे बाधा जान कर ब्राह्मण ने पाण्डवों से आकर अपनी परिस्थिति निवेदन किया। पाँचो भाई मृग के पीछे दौड़ पड़े धनुष-बाण लेकर। कुछ दूर जाने पर मृग अदृश्य हो गया। ये लोग प्यास से व्याकुल हो रहे थे। धर्मराज की आज्ञा से नकुल पानी लेने गये। एक सरोवर मे जल लेने के लिये झुक ही रहे थे कि अदृश्य वाणी हुई—मेरे प्रश्नो का प्रथम उत्तर दे लो तब जल पीओ। इन्होने उस पर ध्यान नही दिया, फलत पानी पीते ही निर्जीव होकर गिर पड़े। क्रमशः यही स्थिति सहदेव, अर्जुन और भीम की भी हुई। तब अन्त में श्रीयुधिष्ठिरजी आये तो वही आकाशवाणी फिर हुई। साथ ही एक विशालकाय यक्ष भी प्रकट होगया। उसने श्रीयुधिष्ठिरजी से जो-जो प्रश्न किया, इन्होंने उसका समुचित उत्तर देकर उसका सभी प्रकार समाधान किया। यक्ष सन्तुष्ट होकर बोला—अपने भाइयो में से किसी किसी एक को तुम जिलाना चाहो, उसे मैं जीवित कर दूँ। आपने नकुल को जीवित करने को कहा। यक्ष ने विस्मित होकर पूछा—तुमने अर्जुन और भीम को छोड कर नकुल को जीवित करने की प्रार्थना क्यो की? आपने उत्तर दिया—हमारे पिता की दो भार्यायें थी, मैं चाहता हूँ कि वे दोनो ही पुत्रवती बनी रहे। कुन्ती का पुत्र मैं मौजूद ही हूँ, माँ माद्री का भी एक पुत्र बना रहे, इसलिये मैंने ऐसी प्रार्थना की। युधिष्ठिर के न्याय और

धर्म की परीक्षा के लिये साक्षात् धर्म ने ही यह लीला की थी। यक्ष के स्थान पर धर्म देवता प्रकट हो गये, चारों भाइयों को जीवित कर दिये, ब्राह्मण की अरणी भी दे दिये और भूरि-भूरि आशीर्वाद देकर अन्तर्धान हो गये।

युद्ध जैसी भीषण परिस्थिति में भी धर्म-मर्यादा का पालन आपकी निजी विशेषता है। कुरुक्षेत्र के मैदान में जब दोनों ओर की सेनाएँ युद्ध के लिये सन्नद्ध खड़ी थीं, तभी आपने भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि गुरुजनों को प्रणाम कर उनके हृदय को प्रथम ही जीत लिया। सबने हृदय से महाराज की विजय-कामना करते हुए शुभाशीर्वाद दिया। आपके इस सद्व्यवहार से भगवान् श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए थे। सभी धर्मो का मूल सत्य आपका सर्वस्व था। सत्य के सम्बन्ध में आप कहते हैं कि—

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्या, वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति॥ (म०भा०)

अर्थ—मेरी सत्य प्रतिज्ञा को सुनो, मैं सत्य-धर्म को अमरता और जीवन से श्रेष्ठ मानता हूँ। सत्य के सामने राज्य, पुत्र, यश और धन आदि का कोई मूल्य नहीं। इसी सत्य-निष्ठा का परिणाम था कि उनके रथ के पहिये सदा पृथ्वी से चार अंगुल ऊँचे रहा करते थे। निष्कामता ऐसी थी कि केवल पाँच गांव ही मिल जाने पर संतोष करना स्वीकार कर लिये थे। यही कारण है कि युद्धोपरान्त सार्वभौम सम्राट् पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी तुच्छ राज्य के लिये स्वजनों का संहार विचार कर आपको कोई प्रसन्नता नहीं हुई। बड़ी कठिनता से भगवान् श्रीकृष्ण और महर्षि वेदव्यास आदि ने समझा-बुझा कर इन्हें राज्याभिषेक के लिये तैयार किया था। सिंहासनासीन होने पर प्रजा को जो सुख आपने दिया, उसका तो कहना ही क्या है? जिन धृतराष्ट्र की कुटिलता के कारण पाण्डवों को महान विपत्तियाँ भोगनी पड़ीं, उनको भी श्रीयुधिष्ठिरजी ने इतना सुख दिया कि वे अपने सौ पुत्रों का मरण भूल गये।

भगवान् श्रीकृष्ण का परधाम-गमन सुन कर राज्य परीक्षित को सौंप कर आपने बिना किसी से कुछ कहे महाप्रयाण के लिये उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया। भाइयों एवं द्रौपदी ने आपका अनुसरण किया। आप स्व-स्वरूप में स्थित होकर भगवच्चरणारविन्दों का चिन्तन करते हुए आगे बढ़ते गये। मार्ग मे द्रौपदी तथा चारों भाई गिरते गये परन्तु इसकी कोई परवाह नहीं किये। स्वयं देवराज इन्द्र रथ लेकर इन्हें लेने को आये, परन्तु आपने प्यारे भाइयों तथा पतिप्राणा द्रौपदी के बिना अकेले स्वर्ग जाना अस्वीकार कर दिया। जब इन्द्र ने विश्वास दिलाया कि वे पहले ही पहुँच चुके हैं तब ये रथ पर चढ़ने को प्रस्तुत हुए। प्रारम्भ से ही इनके साथ एक कुत्ता संग लग गया था, आपने कुत्ते को भी साथ ले चलना चाहा। इन्द्रके आपत्ति करनेपर इस शरणागत कुत्तेको छोड़कर स्वर्ग जाना आपको उचित नहीं लगा अतः पुनः अस्वीकार कर दिये। श्रीयुधिष्ठिरजी की इस अनुपम शरणागतवत्सलता को देखकर कुत्ते की जगह साक्षात् धर्म देवता प्रगट हो गये, यह इनकी अन्तिम परीक्षा थी। इसमें भी ये उत्तीर्ण हुए। फिर तो धर्म, इन्द्र एवं अन्य देवताओं के साथ रथ में बैठ कर स्वर्ग के लिये प्रस्थान किये। युद्ध में स्वजनों एवं श्रीकृष्णके भी विवश करने पर 'अश्वत्थामा मरो, नरो वा कुञ्जरो वा।' इस भ्रामक सत्यके कहनेसे इनको मार्ग में कल्पित नरक का दृश्य दिखाया गया, जहाँ इनको ऐसा अनुभव हुआ कि मेरे भाई भी यहीं पड़े क्रन्दन कर रहे हैं एवं अन्य नारकी जीव हमसे प्रार्थना कर रहे हैं कि आपके यहाँ आने से हमें नरक की पीड़ा नहीं सताती है अतः आप थोड़ा और यहां रुकें। अतः श्रीयुधिष्ठिरजी ने नरक में ही रहना मन्जूर

कर लिया। परन्तु यह तो कल्पना मात्र थी। क्षण भर में ही वह सब दृश्य गायब हो गया। श्रीयुधिष्ठिर-जी ने भगवद्धाम मे पहुँच कर अपने भाइयों एवं द्रौपदी को श्रीकृष्णकी सेवा में उपस्थित देखा। वे भगवान का दर्शन कर निहाल हो गये।

श्रीभीमसेनजी—'पापंप्रणश्यति वृकोदर कीर्तनेन।' अर्थ—भीमसेनका यश गाने से पाप का समूल नाश हो जाता है। भीमसेन बल-वीर्य, शौर्यपराक्रमकी प्रति मूर्ति थे। इनमें दस हजार हाथियों का बल था। इनको तनिक सा भी अन्याय असह्य था। परन्तु यह सब होने पर भी ज्येष्ठभ्राता धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरजी के आज्ञाकारी थे। उनके इशारे पर नाचने वाले थे। यही कारण है कि जहां इनको अल्प अन्याय से भी चिढ थी वहां कौरवों का बड़े से बड़ा अन्याय, सामर्थ्य रहते हुये भी सह लेते थे, इसलिये कि बड़े भाई की ऐसी ही इच्छा देखते। द्रौपदी के चीर-हरण-प्रसङ्ग में कौरव सभामे दुःशासन के दुष्कृत्य को देखकर दण्ड देने में समर्थ होने पर भी श्रीयुधिष्ठिरजी का रुख नही पाने से इनका मन मसोस कर रह जाना इनका प्रमाण है। ऐसे ही बहुत से अवसर आये जहां न्यायतः भीम सेन बलका प्रयोग कर दुष्टो का दमन कर सकते थे परन्तु भातृ-भक्तिसे भावित होने के कारण शान्त ही रह जाते। एक बात स्मरण रखने की है कि भीमसेन अन्याय पर ही उबलते थे अन्यथा सहज स्वभावसे शान्ति प्रिय थे। इनकी शान्ति प्रियता का दर्शन उस समय होता है जब भगवान श्रीकृष्ण सन्धिका प्रस्ताव लेकर कौरव सभा के लिये प्रस्थान करते हैं। भीमसेन कहते हैं—हे मधु सूदन! कौरवों के बीचमे आप ऐसी बातें करें जिनसे शान्ति स्थापित हो जाय। दुर्योधन स्वभाव से दुरात्मा है, दुराग्रही है, वह मरना स्वीकार कर लेगा परन्तु झुकना उसके स्वभाव के विरुद्ध है। अतएव आप उससे जो कुछ भी कहे कोमल और मधुर वाणी में धीरे-धीरे कहें। आपका कथन धर्म और अर्थसे युक्त तथा कल्याण कारी हो। उसमें तनिक भी उग्रता न आने पावे। श्रीकृष्ण! आप वहां बूढे पितामह भीष्मजी तथा अन्य सभासदोको ऐसा करने के लिये कहें जिससे हम सब भाइयो में सौहार्द्र बना रहे और दुर्योधन भी शान्त हो जाय। शान्ति प्रियता के भावों से भरे हुये इन शब्दों से भीमसेन के हृदय की विशालता का सहज ही अनुमान हो जाता है। (म० भा० उद्योग पर्व ७४ अध्याय)

भीमसेन मे ब्राह्मणों के प्रति बड़ा भाव था। वर्णन आया है जब वारणावत नगर के लाक्षागृहसे निकल कर पांडव एकचक्रा नगरी मे एक ब्राह्मणके घर रहते थे। एक दिन चारो भाई भीमसेनको माता के पास छोड़कर भिक्षा के लिये चले गये। उस दिन उस ब्राह्मण के घर में रोना-पीटना मच गया। यह सुनकर भीमसेन ने माता कुन्ती से कहा—

ज्ञायतामस्य यद्दुःखं यतश्चैव समुत्थितम्।
विदित्वा व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम्॥ (म०भा०)

अर्थ—मां! पहले यह पता लगाओ कि इस ब्राह्मण को क्या दुःख है और वह कैसे प्राप्त हुआ है। जान लेने पर अत्यन्त दुष्कर होने पर भी मैं उसको दूर करने की चेष्टा करूँगा। पश्चात् माता की आज्ञासे भीमसेन ने वन मे जाकर दुष्ट बकासुर—जो इस ब्राह्मण के ही नही, सम्पूर्ण नगर के दुःख का कारण बना हुआ था—नित्य प्रति एक मनुष्य, दो भैंसे एवं बीस टोकरी अन्न की सामग्री की बलि लेता था—इसको मारकर इस ब्राह्मण परिवार तथा समस्त नगर की विपत्ति दूर की।

भीमसेन का भगवान श्रीकृष्ण में अद्‌भुत अनुराग था। परम विश्वास था। जिस समय राजसूय यज्ञके अवसर पर महाराज श्रीयुधिष्ठिर श्रीकृष्ण के मुख से मगध-नरेश जरासन्ध के अमित बलकी बात सुनकर बड़े ही निराश हो रहे थे, भीमसेनने भगवान श्रीकृष्णकी ओर देखकर धर्मराजजी से कहा—

त्वद् बुद्धिबलमाश्रित्य सर्वं प्राप्स्यति धर्मराट्।
जयोऽस्माकं हि गोविन्द येशां नाथो भवान् सदा॥(म० भा०)

अर्थ—हे गोविन्द! आपके बुद्धि-बलका आश्रय लेकर धर्मराज युधिष्ठिर सब कुछ पा सकते हैं। जिनकी सदा रक्षा करने वाले आप हैं उनकी—हम पाण्डवों की विजय निश्चित है। कैसा दृढ़ विश्वास है भीमसेन का भगवानके प्रति। जिस समय भगवान श्रीकृष्ण युधिष्ठिर का राज सूय यज्ञ पूर्ण हो जाने पर श्रीद्वारकापुरी को प्रस्थान कर रहे थे, प्रेम वश महाराज युधिष्ठिर दारुक को सारथि के स्थान से हटाकर उन्होने घोड़ों की बाग डोर अपने हाथ में ले ली। श्री अर्जुन जी रथ पर आरूढ हो स्वर्ण दण्डयुक्त विशाल चँवर हाथ में लेकर दाहिनी ओर से भगवान के मस्तक पर डुलाने लगे। उस समय भीमजी भी रथ पर चढ़कर भगवान के ऊपर छत्र लगाकर खड़े हो गये। यथा—

तथैव भीम सेनोऽपि रथमारुह्य वीर्यवान्। छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम्॥
वैदूर्यमणिदण्डं च चामीकरविभूषितम्। दधार तरसा भीमश्छत्रं तच्छार्ङ्गधन्वनः॥(म०भा०)

भीमसेन स्वभाव से बड़े भोले-भाले थे। इसी से कौतुक प्रिय श्रीकृष्ण कभी-कभी इनसे खूब व्यङ्ग—विनोद भी करते थे। जैमिनीयाश्वमेध पर्व में कथा आती है, महाभारतका युद्ध समाप्त होने पर जब महाराज श्रीयुधिष्ठिरजी श्रीव्यासजी की प्रेरणा से अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करने के लिये निश्चय करते है तो सर्व प्रथम श्रीकृष्णको बुलाने के लिये भीमसेन को द्वारकापुरी भेजते है। श्रीभीमसेन ने जब श्रीकृष्ण के महल के द्वार पर पहुँचकर अपने आगमन की सूचना दी तो भोजन कर रहे भगवान हृषीकेश ने सैरन्ध्री से कहला कर भीमसेन को वहां आने से मना कर दिया। उन्होंने ऐसा विनोद इसलिये किया कि उन्हे भीमकी सरल हृदयकी अट-पटी व्यङ्ग पूर्ण बाते सुने बहुत दिन हो गये थे। महल में प्रवेश की निषेधाज्ञा सुनकर भीमसेन इसे अपना अपमान समझकर हँसते हुये गम्भीर वाणी में बोले—सैरन्ध्री! यह तो बता—श्रीकृष्ण अकेले क्यों भोजन कर रहे है? क्या देवी देवकीकी मृत्यु हो गई है? या सत्यभामाका ही स्वर्गवास हो गया? अथवा इस राज्य में मेघों ने जल की वर्षा नहीं की है? जिससे अन्न की महँगी पड़ गयी है। अथवा किसी राक्षसने इनके पुत्रों और पौत्रों का सहार कर डाला है। या ये श्रीहरि स्त्रियों के साथ ही भोजन करते हैं। भीमसेन अभी ऐसा कह ही रहे थे कि कौतुक के लिये श्रीकृष्ण प्रथम खाजा (एक प्रकार की मिठाई) फिर पापड़ पाने लगे, जिनके पाने में चरर-मरर शब्द होते थे। फिर घट-घट की आवाज का अभिनय करते हुये कढ़ी पीने लगे। तब भीमसेन उस शब्द को सुनकर हँसते हुये कहने लगे—ओहो! जो पहले छाछ पीने के ही अभ्यासी थे अब वे औटाया हुआ दूध आदि कैसे पी रहे हैं? उस दाई को क्या कहें, जिसने इनके गले को बढ़ा दिया है। न जाने उसने इनके गले में अँगूठा डालकर उसे बढ़ाया है या मूसल अथवा हल डालकर॥

इतने पर भी जब श्रीकृष्ण नहीं बोले तब भीमने कहा—क्या तुम्हारे गले में बड़ा अटक गया है? क्या मैं आकर उसे गदा से मसल दूँ? परन्तु नही, नहीं। प्रलयकालमें बड़े-बड़े पर्वत भी जिनके गले में

विना किसी अटकके प्रवेश कर जाते हैं वहां इस वेचारे वड़ेको क्या गिनती। परन्तु गोविन्द ! इस प्राचीन अभ्यास वश अपने कुटुम्बियों को नही निगल जाना। अरे हरे ! कहीं दूर से लाये हुये मुझ भीम को ही नहीं खाजाना। लेकिन एक बात याद रखना—मैं तुम्हारे उदर में पहुँचकर सुखदायक नही सिद्ध होऊँगा। क्योंकि मेरा गमन नीचे की ओर नही होता, मैं तो सदा ऊपर की ओर ही गमन करने वाला हूँ। नाथ ! श्रीकृष्ण ! लोग तुम्हारी निन्दा भी करेंगे कि महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से कुन्तीनन्दन भीमसेन यहाँ आज्ञा लेकर अकेले ही आये थे उन्हें श्रीकृष्ण ने खा लिया। अगर मुझे खाना ही अभीष्ट हो तो मेरे साथ मा कुन्ती को भी खा जाना नही तो वे मेरे विना दुखी होंगी। परन्तु पुरुषोत्तम। यह सव सुनकर तुम्हारी वहन सुभद्रा तुमको राक्षस समझेगी। अतः तुमको वहुत वड़ा दोप लग जायेगा। परन्तु प्रलय कालमे तुम्हीं सवका सहार करते हो, पर दोप तुमको छू नही जाता फिर यह दोप क्यों लगने लगा। साथ ही श्रीकृष्ण! सृष्टि करने वाले भी तुम्हीं हो, अतः मेरा निवेदन यह है कि अभी खाकर सृष्टिकालमे मेरी सृष्टि मत करना और यदि मुझे उत्पन्न ही करना हो तो व्यर्थ में अपना दास नही वनाना। इतनी सव कहा—सुनी होने पर श्रीकृष्ण ने भीमसेन का दाहिना हाथ पकड़ कर वड़े आदर से वैठाकर अपने हाथो से परस-परस कर भीमसेन को भोजन कराया। पश्चात् वड़े समारोह के साथ हस्तिनापुर को प्रस्थान किये। ऐसे भगवदीयजन थे भीमसेन जी॥

श्रीअर्जुनजी—'शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्तनेन।' श्रीअर्जुनजी भगवान श्रीकृष्ण के सख्य रसोपासक भक्त थे। इनकी इस निष्ठा पर भगवान ने मुहर भी लगा दी है। यथा—'भक्तोऽसि मे सखा चेति।' (गी०) अर्थ—हे अर्जुन ! तुम मेरे भक्त हो, सखा हो। यही कारण है कि श्रीकृष्ण और अर्जुन मे परस्पर किसी प्रकारका संकोच नही रह गया था। दोनोका एक दूसरेके साथ खुला व्यवहार था। उठना-वैठना, खाना पीना, घूमना-फिरना, सोना-लेटना सव सङ्ग-सङ्ग होता था। कभी-कभी तो सख्य रसावेश मे मर्यादा के वाहर व्यङ्ग विनोद हो जाते थे। महाभारत युद्ध में गीतोपदेश के समय भगवानका विश्व रूप-दर्शन करने पर अर्जुनजी ने इसके लिये वड़ी क्षमा-याचना की है। यथा—

> सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
> अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥
> यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
> एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ (गी०)

अर्थ—हे प्रभो ! 'सखा' ऐसे मानकर आपके इस प्रभाव को न जानते हुये मेरे द्वारा प्रेम अथवा प्रमाद से भी हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! इस प्रकार जो कुछ हठ पूर्वक कहा गया है और अच्युत ! जो आप हँसी के लिये,विहार,शय्या,आसन और भोजनादिको मे अकेले अथवा सखाओंके सा० भी अपमानित किये गये हैं. वह सव अपराध अप्रमेय स्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाव वाले आपसे क्षमा कराता हूँ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन मे कैसी अभिन्नता थी इसका वड़ा ही सुन्दर वर्णन स्वयं भगवान ने अ० मुखसे वन को जाते समय किया है। यथा—हेपार्थ ! तुम एक मात्र मेरे हो, और मैं एक मात्र तुम्हारा हूँ जो मेरे हैं वे तुम्हारे हैं और जो तुम्हारे है वे मेरे है। जो तुम से द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुम्हारा प्रेमी है वह हमारा प्रेमी है। तुम नर हो मैं नारायण हूँ। तुम मुझसे अभिन्न हो म

मैं तुमसे। हम दोनोमें कोई अन्तर नही है। हम दोनों एक हैं। (म०भा०व०प० १२। ४५-४७), जहाँ अहर्निश अर्जुनके प्रत्येक प्रयत्न श्रीकृष्ण-प्रीति विवर्द्धनके लिये होते वहाँ श्रीकृष्ण भी सतत् प्रयत्नशील रहते अपने प्यारे सखा अर्जुनके प्रति प्रीति वढ़ाने के लिये।

वर्णन आया है—राजा श्वेतकि के यज्ञ में वारह साल तक लगातार घृत-पान करने से अग्निदेव का तेज मन्द पड़ गया था। अपने तेज को पुनः प्राप्त करने के लिए अग्निदेवने श्रीअर्जुन और श्रीकृष्ण से खाण्डव वन जलाने की प्रार्थना किया। श्रीकृष्णके सहयोग से अर्जुनने अपने अद्भुत पराक्रम से खाण्डव वनको जलाया। अग्निकी अभिलाषा पूरीहुई। उससमय अर्जुन और श्रीकृष्णके अलौकिक शौर्यको देखकर सुप्रसन्न देवराज इन्द्रने समीप आकर इनकी सराहना करते हुए वर मांगनेको कहा तो अर्जुनने सव प्रकार के दिव्यास्त्र मांगे और श्रीकृष्णने यह वर मांगा कि अर्जुनके साथ मेरा प्रेम निरन्तर वढ़ता रहे। इन्द्रने परम वुद्धिमान श्रीकृष्णको यह वर दे दिया। यथा—**वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्। ददौ सुरपतिश्चैव वरं कृष्णाय धीमते॥ (म०भा०)**

खाण्डव-वन दाहके समय ही जव मय दानवने वचने का कोई उपाय नहीं देखा तो उसने अर्जुन की शरण ली। अर्जुनने उसे अभय प्रदान करदिया। मयदानवने इस उपकारके वदले में अर्जुनकी कुछ सेवा करना चाहा। अर्जुन ने कहा तुम श्रीकृष्ण का कोई प्रिय कार्य कर दो, इसीसे हमारी सेवा भी हो जायगी। श्रीकृष्ण ने दैत्यों के शिल्पी मयदानव से महाराज युधिष्ठिर के लिए एक वड़ा सुन्दर सभा-भवन तैयार करवाया। इसप्रकार अर्जुन और श्रीकृष्ण सदा एक दूसरेका प्रिय करते रहते थे। कहाँ तक कहा जाय जिस समय अर्जुन सुभद्राके सौन्दर्य पर आकृष्ट होकर उन्हें प्राप्त करने की युक्तियां सोच रहे थे, श्रीकृष्ण को जव इस वातका पता चला तो वे अर्जुनका प्रिय करने के लिए उनके विना पूछे ही सुभद्रा को हर कर ले जानेकी युक्ति वता देते हैं। इतना ही नही अपना रथ और अस्त्र-शस्त्र भी उन्हें दे देते हैं। एवं सुभद्रा हरण हो जाने के वाद जव वलरामजी इसका विरोध करते हैं तो श्रीकृष्ण वड़े भैयाके हाथ जोड़कर, पांव पकड़कर, समझा-वुझाकर मना लेते हैं और वही द्वारका में ही सुभद्रा का पाणिग्रहण हो जाता है।

श्रीकृष्ण अर्जुनको इतना चाहते हैं तो अर्जुन भी श्रीकृष्ण को छोड़कर और कुछ नहीं चाहते। महाभारत के युद्ध में इन्होंने भगवान श्रीकृष्ण की एक अरव नारायणी सेना को न लेकर केवल श्रीकृष्ण को वरण किया और युद्धमें रथकी ही नही जीवन की भी वागडोर श्रीकृष्णके हाथमें सौंपकर सदा के लिए निश्चिन्त होगये। परिणाम यह हुआ कि 'प्रभु प्रसाद सौभाग्य विजय जस पाण्डवने वरिआइ वरे।' कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेना, भीष्म, द्रोण, कर्ण, जैसे महारथी समस्त प्रयत्न करके स्वयं खेत रहे परन्तु अर्जुन के शरीर पर आंच तक नहीं आई। तभी तो कहा गया है—**'जाको राखै साइयां मारि सकै नहि कोय।'**

भगवान श्रीकृष्ण ने अपना परम गुह्य गीताज्ञान अर्जुनको ही परम अधिकारी जानकर प्रदान किया। इन समस्त प्रसङ्गोंसे श्रीकृष्ण और अर्जुन की अभिन्नता, आत्मीयता एवं अनन्यानुराग का दर्शन होता है।

श्रीकृष्ण-प्रीतिके साथ-साथ अर्जुनमें और भी अद्भुत, अलौकिक गुणों का सामञ्जस्य था। जिस समय अर्जुन इन्द्रके अनुरोध से अमरावती मे रहकर अस्त्र विद्या तथा गान्धर्व विद्या सीख रहे थे, एक दिन देवराज इन्द्र ने सभामे अर्जुनको उर्वशीकी ओर निर्निमेष नेत्रोसे देखते हुए पाया था। इन्द्रने वास्तविकता तो समझी नही, उन्होने समझा अर्जुन उर्वशीके रूप लावण्य पर आसक्त है। अतः रात्रिके समय उनकी सेवा के लिये, स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी को देवराज की आज्ञा हुई। उर्वशीके लिए तो मानो बिल्लीके भाग्यसे छीका टूट गया हो। वह तो पहले से ही अर्जुन पर मुग्ध थी, इन्द्रकी आज्ञा ने मार्ग प्रशस्त कर दिया। फिर क्या था, अपनी उत्तमोत्तम समस्त साज-सज्जा से समलङ्कृत होकर वह स्वर्ग की देवी अर्जुनके एकान्त-कक्ष मे अपने विविध हाव-भावोको प्रकाशित करती हुई प्रविष्ट हुई। अर्जुनसे उर्वशीका अभिप्राय अविदित नही रहा। उन्होने अपने नेत्र वन्द कर लिये, और उर्वशीको माता की भांति प्रणाम किया। उर्वशीके सौन्दर्यका यह प्रथम पराभव था। वह यह देखकर दङ्ग रह गई। अन्ततोगत्वा उसने खुल्लमखुल्ला अर्जुनके प्रति अपना काम भाव प्रकट किया।

अर्जुनने अपने हाथों से दोनों कान वन्द कर लिये और बोले—माता! यह क्या कह रही हो? देवि! नि.सन्देह तुम मेरी पूजनीया हो। हमारे कुलकी जननी हो। आप हमारे पूर्वज महाराज पुरूरवा की पत्नी रही हैं। आपसे ही हमारा वंश चला है। और इसी भावसे मैंने देवसभा में आपको देखा था। आपको मेरे सम्बन्धमे और कोई बात नही सोचनी चाहिये। मेरे लिए जैसे माताकुन्ती और माद्री प्रणम्य हैं, पूज्य हैं वैसे ही आप भी। मैं सिर झुकाकर तुम्हारे चरणो में प्रणाम करता हूँ। उर्वशीने अर्जुनको समझाने का प्रयत्न किया कि हम अप्सरायें किसी की पत्नी नही होती, हम तो सभी स्वर्गीय लोगों की भोग्या हैं। तुम्हारा यह विचार उचित नही। परन्तु अर्जुनका मन सुमेरु गिरिकी तरह अडिग ही वना रहा। किञ्चित्मात्र भी चलायमान नही हुआ। अन्त मे विफल मनोरथ उर्वशीने खीझकर अर्जुनको एक वर्ष तक नपुंसक होकर, स्त्रियोके बीच मे रहकर नाचने-गानेका शाप दे दिया। अर्जुनने उर्वशीका शाप सहर्ष स्वीकार कर लिया परन्तु धर्मका त्याग नही किया। धन्य, संयम, धन्य इन्द्रियजय। जब इन्द्र को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने हर्षमें भरकर कहा—बेटा! तुम्हारे जैसा पुत्र पाकर तुम्हारी माता धन्य हुई। तुमने अपने धैर्यसे ऋषियोंको भी जीत लिया। चिन्ता नही करना, उर्वशीने जो शाप दिया है वह तुम्हारे लिये वरदान का काम करेगा। वनवास के तेरहवे वर्षमे जब तुम अज्ञातवास करोगे तो उस समय शाप तुम्हारे लिये छिपनेमे सहायक होगा। इसके बाद तुम्हे पुनः पुरुषत्वकी प्राप्ति हो जायगी। आगे चलकर ऐसा ही हुआ।

कुन्ती माताकी आज्ञा से द्रौपदी पांचो पाण्डवोंकी पत्नी वनी। कही कालान्तर में इस विषय को लेकर भाइयों में विरोध न हो जाय अतः देवर्षि नारदके सुझावपर पांडवोने यह नियम बनाया कि जिस समय द्रौपदी एक भाई के पास एकान्त में रहे, उस समय कोई दूसरा भाई यदि उसके कमरे में चला जाय तो वह बारह वर्षके लिये निर्वासित कर दिया जाय। एक दिन कुछ लुटेरे किसी ब्राह्मणकी गौएँ लेकर भाग गये। ब्राह्मणने आकर पाण्डवोके सामने पुकार की। श्रीअर्जुनने ब्राह्मणकी करुण पुकार सुनी और उन्हे गौओं को छुडाकर लाने का वचन दिया परन्तु उनके शस्त्र उस घर में थे जहाँ बड़े भाई महाराज युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ एकान्त में बैठे हुए थे। अर्जुन वड़े असमञ्जस मे पड़ गये। एक ओर ब्राह्मण की-गोधन की रक्षा, दूसरी ओर नियम भङ्ग के कारण निर्वासनका भय। अर्जुन को निर्णय करते देर नही लगी—उन्होंने निश्चय किया—'नियम भङ्गके कारण मुझे कितना भी कठिन प्रायश्चित्त क्यों न करना

पड़े, चाहे प्राण ही क्यों न चले जांय, ब्राह्मणके गोधन की रक्षा करके अपराधियों को दण्ड देना मेरा धर्म है और वह मेरे जीवन की रक्षा से भी अधिक महत्वपूर्ण है। अर्जुनने ब्राह्मणकी गौएँ छुडाकर ब्राह्मण को सौंपा और श्रीयुधिष्ठिरजी के लाख समझाने पर भी बारह साल के लिये वनवासकी दीक्षा लेकर वहाँ से चल पड़े। धन्य ब्रह्मण्यता, धन्य सत्यप्रतिज्ञता और धन्य नियम पालन की तत्परता।।

एक बार महर्षि गालव जब प्रातःकाल सूर्य को अर्घ्य प्रदान कर रहे थे, तो उनकी अञ्जलि में आकाश मार्ग से जाते हुये चित्रसेन गन्धर्व की थूकी हुई पीक गिर पड़ी। मुनि को इससे बड़ा क्रोध हुआ। वे उसे शाप देना चाहते थे कि उन्हें अपने तपोनाश का ध्यान आ गया और रुक गये फिर उन्होंने जाकर भगवान श्रीकृष्ण से फरियाद की। ब्रह्मण्यदेव प्रभुने प्रतिज्ञा करली—चौबीस घण्टे के अन्दर चित्रसेन को मार डालने की। संयोग से उसी समय कौतुकी श्रीनारदजी आ पहुँचे और स्वागत सत्कारोपरान्त जब नारदजी को श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा की जानकारी हुई तो वे मन ही मन बड़े प्रसन्न हुये। इसलिये कि उन्हें अब कुछ कौतुक की सामग्री मिल गई। चल पड़े प्रभुको प्रणाम कर और झट पहुँचे चित्रसेन के पास। मुनि को उदासीन-सा देखकर जब चित्रसेन ने कारण पूछा तो मुनि ने श्रीकृष्णकी प्रतिज्ञा सुनाते हुये गन्धर्वराज को चेतावनी दी कि अपना कल्याण चाहते हो तो कुछ दान-पुण्य करलो। अब थोड़े ही देर के मेहमान हो। बस केवल चौबीस घण्टे के।

बेचारे चित्रसेन का होश उड़ गया। इन्द्र-पुत्र जयन्त की सी दशा हो गई। सभी लोकों मे लोकपालों के पास गया परन्तु—'काहू बैठन कहा न ओही।' भला भगवान से कौन शत्रुता मोल ले। अन्ततोगत्वा चित्रसेन ने श्रीनारदजी की ही शरण ली। जयन्त का कल्याण भी श्रीनारदजी के उपदेश से ही हुआ था। फिर तो 'लागि दया कोमल चित सन्ता।' इन्होंने चित्रसेन को उपाय बताया—'अर्धरात्रि को यमुना तट पर जाकर क्रन्दन करना। एक स्त्री तुम्हारे पास आकर तुम्हारे दुःख का कारण पूछेगी, परन्तु जब तक वह दुःख निवारण की प्रतिज्ञा न कर ले तब तक तुम अपने कष्ट का कारण नही बताना। देवर्षि चित्रसेन को सान्त्वना देकर पहुँच गये अर्जुन के महल मे महारानी सुभद्रा के पास। बोले—'सुभद्रे! आज बड़ा ही महत्व पूर्ण पर्व है आज अर्धरात्रि को यमुना स्नान कर किसी दीन दु.खी की रक्षा करने से अक्षय पुण्य की प्राप्ति होगी। 'मृषा न होइ देव रिषि बानी।' सुभद्राने निश्चित समय पर यमुना स्नान कर, किसी के करुण स्वरमें रोने की आवाज सुनकर, उसके समीप जाकर, दुःखका कारण जानने की चेष्टा की, परन्तु पक्के गुरु का चेला चित्रसेन भला योंही कब कहने लगा। अन्तमे इनके प्रतिज्ञा बद्ध होने पर ही उस ने स्थिति स्पष्ट की। सुभद्रा बड़े धर्मसंकट में पड़ गईं। अन्तमे शरणागत-परित्राणका निश्चय करके वे उसे अपने साथ ले आईं और समस्त वृत्तान्त श्रीअर्जुन को सुना दिया। अर्जुन ने सुभद्रा और चित्रसेन दोनों को आश्वासन दिया।

इधर देवर्षिवर्य ने द्वारका पहुँच कर चित्रसेन, सुभद्रा और अर्जुन का हाल श्रीद्वारकानाथ से निवेदन किया। श्रीकृष्ण ने नारदजीके माध्यम से अर्जुन को समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु सब व्यर्थ। शरणागतवत्सल अर्जुन ने अपना निश्चय सुना दिया—'शरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि। ते नर पांवर पाप मय तिन्हहिं बिलोकत हानि।। मम पन शरणागत भय हारी।' परिणाम स्वरूप श्रीकृष्ण और अर्जुन में तुमुल युद्ध छिड़ गया। कैसा अद्भुत संग्राम है यह भक्त और भगवान का। दोनों ही अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ हैं। सुलह की कोई सम्भावना नहीं। असमय में प्रलयकाल का सा दृश्य उपस्थित

हो गया । देवताओं की प्रार्थना पर भगवान श्रीशिवने आकर प्रभु से निवेदन किया—नाथ ! 'राम सदा सेवक रुचि राखी । वेद पुरान साधु सुर साखी ।' इस विरद को स्मरण कर इस लीला को यहीं समाप्त कीजिये । आपने सदा सर्वदा से अपनी प्रतिज्ञा छोड़ कर भक्तकी प्रतिज्ञा रखी है यह नइ रीति न राउरि होई । लोकहुँ वेद विदित नहिं गोई ।' युद्ध समाप्त हो गया—दोनो ने श्रीशिवजी का उपकार माना । परस्पर हृदय लगाकर मिले । सर्वत्र सुख शान्ति छा गई । परन्तु महर्षि गालवका क्रोध भभक उठा, वे अपनी शाप-शक्ति से श्रीकृष्ण, अर्जुन, सुभद्रा और चित्रसेन को भस्म करने के लिये हाथमें जल लिये, तव तक सुभद्रा बोल उठी—मैं यदि श्रीकृष्णकी भक्त होऊँ और अर्जुन के प्रति मेरा पातिव्रत्य पूर्ण हो तो यह जल ऋषि के हाथसे पृथ्वी पर न गिरे । ऐसा ही हुआ, ऋषि संकुचित हो गये । चित्रसेन ने जान बूझकर ऋषि की अवहेलना की हो, सो वात नही थी अतः ऋषिने भी परिस्थिति की वास्तविकता समझ कर प्रभु को नमस्कार कर अपने आश्रमको प्रस्थान किया । शरणागत की रक्षा के लिये अपने सर्वस्व श्रीकृष्ण से भी युद्ध करना अर्जुन की शरणागत वत्सलता में चार चाँद लगा देता है ।(सत्कथाङ्क)

अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण के तो कृपा पात्र थे ही, भगवान शङ्कर की भी इनके ऊपर वड़ी कृपा थी । एकवार अर्जुन जी ने इन्द्र की प्रेरणा से अपनी कठोर तपस्याके द्वारा औढर दानी शिव को सन्तुष्ट कर दिया । वे आशुतोष भगवान इनके ऊपर कृपा करने के लिये एक भील के रूप में इनके सामने प्रगट हुये । एक जंगली सूअर को लेकर—मैंने मारा—यह कहते हुये दोनों में विवाद खड़ा हो गया और फिर दोनो में भीषण युद्ध हुआ । अर्जुन ने अपने अस्त्र कौसल से भी शिव को सन्तुष्ट कर दिया, तव भगवान शङ्कर ने देवी पार्वतीजी के सहित अर्जुन को दर्शन दिया । परम दिव्य पाशुपतास्त्र की शिक्षा के साथ-साथ वेदतत्व का भी उपदेश किया ॥ इतना ही नही महाभारत के युद्ध में अर्जुन के आगे-आगे श्रीशिवजी त्रिशूल धारण कर शत्रुसेना का संहार करते चलते थे । यह अर्जुन ने अपने आखों देखा था ।

एक वार भगवान शिवजी के श्रीमुख से भक्तों की महिमा सुनकर भगवती पार्वतीजी ने भागवत-दर्शन की अभिलाषा प्रगट किया । आशुतोष भोलानाथ अपनी प्राण प्रिया को साथ लेकर श्रीकृष्ण-सखा अर्जुनके महलके द्वार पर जाकर द्वारपालसे अर्जुन का पता पूछे । यह जानकर कि वे अभी शयन कर रहे हैं, इधर पार्वतीजी दर्शन के लिये अधीर हो रही हैं, श्रीशिवजी ने अर्जुनजी को जगाने के लिये भगवान श्रीकृष्णजी का स्मरण किया । भक्त-वांछा-कल्प तरु भगवान तत्काल ही मित्र उद्धव, देवी रुक्मिणी और सत्यभामा के सहित आ उपस्थित हुये और श्रीशिवजी के कहने पर शयन कक्ष मे जाकर देखा कि अर्जुन सो रहे हैं, सिरहाने वैठी सुभद्राजी पङ्खा झल रही हैं । श्रीकृष्णको देखते ही सुभद्रा उठ खड़ी हुईं, उनकी जगह पर सत्यभामाजी विराजमान होकर पङ्खा झलने लगी, उद्धवजी भी एक पङ्खा लेकर डुलाने लगे । तव तक एकाएक चकित होकर ऊधव सत्यभामा की ओर और सत्यभामा ऊधवकी ओर देखने लगीं । सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण ने जव आश्चर्य का हेतु पूछा तव ऊधव ने कहा—प्रभो ! अर्जुन के रोम-रोम से 'श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण' की ध्वनि निकल रही है । श्रीरुक्मिणीजीने कहा—नाथ! पैरोंसे भी वही आवाज आ रही है । जव समीप जाकर भगवान ने सुना तो यही अनुभव किया कि सचमुच अर्जुन के प्रत्येक रोम-तारों से श्रीकृष्ण नाम की झनकार निकल रही है । तब तो भाववश्य भगवान उन्हें जगाना भूलकर स्वयं भी उनके चरण दवाने लगे । प्रभुके परम सुकोमल श्रीकरकमलों का संस्पर्श होते ही अर्जुन की निन्द्रा और भी गाढ़ हो गई ।

बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के बाद श्रीशिवजी ने ब्रह्माजी को बुलाकर अर्जुन को जगाने के लिये भेजा। किन्तु अन्तःपुर में पहुँचने पर ब्रह्माजी भी अर्जुन के रोम-रोम से 'कृष्ण-कृष्ण' की ध्वनि सुनकर और स्वयं भगवान को अपने भक्त के पांव पलोटते देखकर अपने प्रेमावेश को न रोक सके। अपने चारों मुखों से वेद स्तुति करने लगे। विलम्ब देखकर शिवजी ने नारदजी को भेजा, परन्तु नारदजी भी जगाना भूलकर श्रीकृष्ण-कीर्तन में तल्लीन हो गये। कीर्तन की ध्वनि सुनकर शिवजी अब अपने को नहीं सँभाल सके वे भी पार्वतीजी के साथ तुरन्त ही अन्तःपुर में पहुँचकर, वहां का विचित्र दृश्य देखकर प्रेम में विभोर होकर ताण्डव नृत्य करने लगे। साथ ही श्रीपार्वतीजी भी सुमधुर वाणी से हरि-गुण-गान करने लगी। इस प्रकार वह सम्पूर्ण समाज प्रेम समुद्र में डूब गया। पार्वतीजी महाभागवतका दर्शनकर कृतार्थ हुईं धन्य प्रेम ॥ (सत्कथाङ्क)

श्रीनकुल और सहदेव—'माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः।' भगवान वेदव्यासजी लिखते हैं कि युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी—ये छः व्यक्ति एक ही हृदय रखते थे। यथा—**राजा च भीमसेनश्च सहदेवश्च पाण्डवः। नकुलो याज्ञसेनी च षडेकमनसो वयम् ॥ (म०भा०)** यह कथन साक्षात् नर ऋषि के अवतार श्रीअर्जुनजी का श्रीवसुदेवजी से वार्ता के प्रसङ्ग में मौसल पर्व में आया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पाँचो पाडण्व समान रूप, शील, गुण, शौर्य, पराक्रम, भक्ति-भावना वाले थे। पूर्व जैसा श्रीयुधिष्ठिर, भीम और अर्जुन के कतिपय गुणों के उल्लेख के साथ-साथ इन लोगों की श्रीकृष्ण-प्रीति का वर्णन आया है वैसा ही श्रीनकुल और सहदेव का भी समझना चाहिये।

श्रीयुधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञ के अवसर पर धर्मराज की इस जिज्ञासा पर कि सर्व प्रथम किसकी पूजा होनी चाहिये, श्रीभीष्मजी के इस निर्णय का कि 'भगवान् श्रीकृष्ण ही अग्र-पूजा के योग्य हैं', समर्थन करते हुए श्रीसहदेवजी ने भीष्मजी की आज्ञा से वृष्णिकुल-भूषण भगवान् श्रीकृष्ण को विधिपूर्वक उत्तम अर्घ्य-पाद्यादि निवेदन किया—**तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान्। उपजह्रेऽथ विधिवद् वार्ष्णेयायार्घ्यमुत्तमम् ॥ (म० भा०)**

श्रीमद्भागवत महापुराण के अनुसार तो—सभासद लोगों के इस विषय पर विचार-विमर्श करने पर कि सदस्यों में पहले किसकी अग्रपूजा होनी चाहिये? जितनी मति, उतने मत। ऐसी स्थिति में श्रीसहदेवजी ने कहा—'यदुवंश शिरोमणि भक्तवत्सल भगवान श्रीकृष्ण ही सदस्यों मे सर्वश्रेष्ठ और अग्र-पूजा के पात्र हैं। क्योंकि यही समस्त देवताओ के रूप में हैं। यह सारा विश्व, समस्त यज्ञ, अग्नि, आहुति, मन्त्र आदि सभी श्रीकृष्ण स्वरूप ही हैं। सभासदो! मैं कहाँ तक वर्णन करूँ—भगवान श्रीकृष्ण वह एकरस अद्वितीय ब्रह्म हैं जिसमें सजातीय, विजातीय और स्वगत-भेद नाममात्र भी नही है। इसलिये सबसे महान भगवान श्रीकृष्ण की ही अग्र-पूजा होनी चाहिये। इनकी पूजा होने से समस्त प्राणियों की तथा अपनी भी पूजा हो जाती है। उस समय धर्मराज युधिष्ठिर की यज्ञ-सभा में जितने सत्पुरुष उपस्थित थे, सबने एक स्वर से 'बहुत ठीक है, बहुत ठीक है' कहकर सहदेव की बात का समर्थन किया, तब श्रीयुधिष्ठिरजी ने प्रेमोद्रेक से विह्वल होकर भगवान श्रीकृष्ण की पूजा की। ऐसे तत्व-निर्णायक थे श्रीसहदेवजी।

पश्चात् शिशुपाल ने जब श्रीकृष्ण की अग्र-पूजा पर आक्षेप किया तो श्रीसहदेवजी ने उसके आक्षेपों का मुँहतोड़ उत्तर देते हुए यह बात कही थी—राजाओ! केशी दैत्य का वध करने वाले अनन्त

पराक्रमी भगवान श्रीकृष्ण की मेरे द्वारा जो पूजा की गई है, उसे आप लोगों में से जो सहन न कर सकें, उन सब वलवानों के मस्तक पर मैंने यह पैर रख दिया। मैंने खूब समझ-सोचकर यह वात कही है। जो इस वात का उत्तर देना चाहे वह सामने आ जाय। तथा 'जो बुद्धिमान राजा हों वे मेरे द्वारा की हुई आचार्य, पिता, गुरु, पूजनीय तथा अर्घ्य निवेदन के सर्वथा योग्य भगवान श्रीकृष्ण की पूजा का हृदय से अनुमोदन करें।' उपर्युक्त कथन में श्रीसहदेवजी ने श्रीकृष्ण को अपना सर्वस्व एवं सब-विधि सम्मान्य स्वीकार किया है।

श्रीनकुल और सहदेव के गुणों का वर्णन करती हुई श्रीद्रौपदीजी कहती हैं—

य: सर्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञो भयार्तानां भयहर्ता मनीषी।
प्राणैर्गरीयांसमनुव्रतं वै स एष वीरो नकुलो पतिर्मे॥

अर्थ—जो समस्त धर्म और अर्थ के निश्चय को जानते हैं, भय से भीत मनुष्यों का भय दूर करने वाले हैं, जो परम बुद्धिमान है, अपने वड़े भाइयों की सेवा में तत्पर रहने वाले और उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं, वे ही मेरे वीर पति नकुल हैं। पुनः—

वुद्ध्या समो यस्य नरो न विद्यते वक्ता तथा सत्सु विनिश्चयज्ञः।
स एष शूरो नित्यममर्षणश्च, धीमान् प्राज्ञः सहदेवः पतिर्मे॥
त्यजेत् प्राणान् प्रविशेद्धव्यवाहं न त्वेवैव व्याहरेद्धर्मबाह्यम्॥

अर्थ—वुद्धि में जिनकी समानता करने वाला दूसरा कोई नहीं है। जो अच्छे वक्ता और सत्पुरुषों की सभा में सिद्धान्त के ज्ञाता माने गये है। ऐसे मेरे पति सहदेव शूर-वीर, सदा ईर्ष्या-रहित, बुद्धिमान और विद्वान हैं। ये अपने प्राण छोड़ सकते हैं, प्रज्वलित आग में प्रवेश कर सकते हैं, परन्तु धर्म के विरुद्ध कोई वात नहीं वोल सकते हैं।

श्रीकुन्तीजी

कुन्ती करतूति ऐसी करै कौन भूत प्राणी मांगति विपति जासों भाजैं सब जन हैं।
देख्यो मुख चाहों लाल देखे बिन हिये शाल हूजिये कृपाल नहीं दीजै वास वन हैं॥
देखि विकलाई प्रभु आँखि भरि आई फेरि घर ही को लाई कृष्ण प्राण तन धन हैं।
श्रवण वियोग सुनि तनक न रह्यो गयो भयो वपु न्यारो अहो यही सांचो पन हैं॥७०॥

शब्दार्थ—करतूति=करनी, करतव, कर्तव्य, गुण। साल=पीड़ा, दु:ख। वपु न्यारो=शरीर छूटा, मरण।

भावार्थ—इस संसार में ऐसा कौन प्राणी है जो श्रीकुन्तीजी के समान भगवान् में प्रीति करे। जिस विपत्ति से सभी लोग दूर भागते हैं उसे कुन्तीजी ने भगवान से मांगा कि मुझ पर सदा विपत्ति रहे जिसमें आपका दर्शन होता है। हे लालन! मैं सदा तुम्हारे मुखारविन्द का दर्शन चाहती हूँ, विना दर्शनों के हृदय में शूल लगने के समान दु:ख होता है, या तो आप निकट रह कर सदा दर्शन दीजिये, नहीं तो विपत्ति-रूप वनवास ही दीजिए। ऐसी व्याकुलता देखकर भगवान की आँखों में आँसू आ गये। द्वारका

को प्रस्थान करते हुए श्रीकृष्ण को फिर घर को ही लौटा लायी। श्रीकृष्ण ही कुन्ती के तन, धन और प्राण थे। 'भूमि का भार उतार कर भगवान निज-धाम को चले गए'—यह सुनते ही उनके वियोग में कुन्तीजी से थोड़ा भी नहीं रहा गया। तुरत शरीर छूट गया। वे भगवद्धाम को चली गयी। धन्य है यही सच्चा प्रेम-पण है ॥७०॥

व्याख्या—सेवा, सदाचार, तप-त्याग, धैर्य-धर्म, प्रेम-प्रण की प्रतिमूर्ति, पाण्डवों की जननी श्रीवसुदेवजीकी सगीवहिन, श्रीकृष्णकी वूआ, महाराज सूरसेनकी लाड़िली बेटी, तथा राजा कुन्ती भोज की दत्तक-पुत्री कुन्ती सिद्धिनामक देवीके अंश से उत्पन्न हुई थी। इनके दैवी गुणभी इसके प्रमाण हैं। समस्त सद्गुण वाल्यावस्था से ही इनमें पुञ्जीभूत थे। महर्षि दुर्वासा जैसे विकट तपस्वीको इन्होंने सेवासे संतुष्ट किया था पिताके घर पर ही। जव ऋषिराज को इनकी सेवा में ढूढ़ने पर भी कोई त्रुटि नही मिली तो वे परम प्रसन्न होकर मन-भावता वर मांगने को कहे। परन्तु सर्वथा निष्काम हृदया कुन्तीने ऋषि की प्रसन्नता को ही परम लाभ मानकर कोई वर नहीं मांगा। तव उन्होंने स्वेच्छासे उसे अथर्ववेदके शिरोभाग में आयेहुए मन्त्रोंका उपदेश दिया और कहा कि इन मन्त्रोके वलसे तू जिस-जिस देवताका आवाहन करेगी वही तेरे अधीन हो जायेगा। यों कहकर दुर्वासाजी अन्तर्धान हो गये। आगे चलकर इसी मन्त्रके प्रभाव से महाराज पांडुके अनुरोध पर पांच देवताओं के अंश से पांच पुत्रों की प्राप्ति हुई। जिसकी चर्चा पूर्व प्रसङ्गो में की जा चुकी है।

महाराज पाडुके स्वर्गवास तथा उनके साथ माद्रीके सती हो जाने पर कुन्ती का जीवन कष्टोंकी कसौटी वन गया। धृतराष्ट्र की कुटिलता एवं दुर्योधन की दुर्नीति के कारण इन्हे पग-पग पर विपत्तियों से संघर्ष करना पड़ा, परन्तु धन्य देवी! तुमने भी कष्ट चुपचाप सह लिये, लेकिन धर्म और धैर्य नही छोड़ा। विशेष वाततो यह थी कि कुन्तीमाता जहाँ अपने ऊपर आई आपत्तियोंको सहन करनेमे कुलिशाधिक कठोर थीं वही दूसरेका रंचमात्र दु.ख भी इनसे देखा नही जाता था, फिर तो किसीभी उपायसे उसका दुःख दूर करने के लिये प्रस्तुत हो जातीं। एकचक्रा नगरीमें व्राह्मणके घर निवास कालमें वकासरके द्वारा प्राप्त व्राह्मण परिवार के संकट को दूर करनेमें कुन्तीने जिस विशाल हृदयताका परिचय दिया, वह अवर्णनीय है। विलखते व्राह्मण-व्राह्मणीके समीप जाकर कुन्ती ने कहा—महाराज! आपके तो एक पुत्र और एक ही कन्या है। मेरे तो आपकी कृपा से पांच पुत्र हैं। आप चिन्ता न करें, राक्षस को भोजन पहुँचाने के लिये मैं उनमें से किसी को भेज दूंगी। व्राह्मण की रक्षाके लिए विना किसी झिझक के अपने पुत्रको राक्षस के पास भेजना यह आपकी अद्भुत व्रह्मण्यता है वैसे कुन्ती माताको दृढ विश्वास है कि वह राक्षस मेरे वेटेका कुछ विगाड़ नही सकता। यहवात उन्होने व्राह्मणसे कह भी दिया था। (विशेष देखिये-भीमसेन का प्रसङ्ग)

पांडवो की आदि गुरु भी माता कुन्ती ही हैं। स्वयं कर्तव्यों का दृढ़तासे पालन करते हुऐ हमेशा अपने पुत्रों को कर्तव्यपरायणता की शिक्षा देती रहती थीं। वनवास काल में वीरमाता कुन्ती ने श्रीकृष्ण के द्वारा पुत्रोंको क्षत्रिय धर्मपर डटे रहने का सन्देश भेजा था। युद्धका निश्चय होने पर उन्होंने वड़े ही ओजस्वी शब्दो में पुत्रों को सन्देश भेजा—पुत्रों! जिस कार्य के लिये क्षत्राणी पुत्र उत्पन्न करती है, उस कार्य के करने का अवसर आ गया है। इस समय तुम लोग मेरे दूधको न लजाना। मांकी मङ्गलकामना पुत्रों के साथ रही। विजय पाण्डवोंकी हुई। धर्मराज युधिष्ठिर सम्राट पदपर अभिषिक्त हुए, श्रीकुन्ती

राजमाता बनी। परन्तु इन्होंने अपने समस्त गौरवको भुलाकर पुत्र वियोग से दुखी जेठ-जेठानी (धृतराष्ट्र और गान्धारी) की सेवाका भार स्वय स्वीकार किया, उन्हें सब प्रकारसे सुखी रखने का प्रयत्न करतीं। कैसा अद्भुत आदर्श जीवन है माताकुन्तीका। तभी तो श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि कुन्ती""""प्राणी।

मांगलि विपत्ति—श्रीयुधिष्ठिर जी का राज्याभिषेक हो जाने के बाद द्वारका जाने के लिये प्रस्तुत श्रीकृष्ण की अमित कृपा, अनन्त उपकारोंका स्मरण कर माता कुन्ती गद्‌गद् होकर उनकी स्तुति करने लगती हैं। यथा—**कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च। नन्दगोप कुमाराय गोविन्दाय नमो नमः॥** स्तुति प्रसङ्ग में ही कुन्ती ने भगवानके अवतार हेतुओ का बड़ा सारगर्भित वर्णन किया है। आप कहती हैं कि—आपने अजन्मा होकर भी जन्म क्यों लिया है, इसका कारण बताते हुए कोई-कोई महानुभाव यों कहते है कि जैसे मलयाचल की कीर्ति का विस्तार करनेके लिये चन्दन प्रगट होता है, वैसे ही अपने प्रिय भक्त-पुण्यश्लोक राजायदुकी कीर्तिका विस्तार करनेके लिए ही आपने उनके वशमे अवतार ग्रहण किया है॥ दूसरे लोग यों कहते है कि वसुदेव और देवकीने पूर्व जन्ममें (सुतपा और पृश्निके रूप में) आपसे यही वरदान प्राप्त किया था इसलिए आप अजन्मा होते हुए भी जगत् के कल्याण और दैत्योके नाश के लिये उनके पुत्र बने॥ कुछ लोग यों कहते हैं कि यह पृथ्वी समुद्र में डूबते हुए जहाज की तरह दैत्योके भार से डगमगा रही थी, तब ब्रह्माकी प्रार्थना से उसका भार उतारने के लिए आप प्रकट हुए। कोई महापुरुष यों कहते हैं कि जो लोग इस ससार में अज्ञानवश कामना और कर्मो के बन्धन में जकड़े हुए क्लेश पा रहे हैं, उन लोगोंके लिये श्रवण और स्मरण करने योग्य लीला करने के विचार से ही आपने अवतार ग्रहण किया है। तथा कोई-कोई तत्वदर्शी आचार्य यह कहते हैं कि—आप शुद्ध हृदय वाले, विचारशील, जीवन्मुक्त परमहंसों के हृदय में अपनी प्रेममयी भक्ति का सृजन करने के लिये अवतीर्ण हुए हैं। फिर हम अल्पबुद्धि स्त्रियां कैसे पहचान सकती है यथा "तथा परम हंसानां मुनीनाममलात्मनाम्। भक्ति योग विधानार्थं कथ पश्येम हि स्त्रियः॥"(भा०)

अकारण करुण, करुणा वरुणालय श्रीकृष्ण कुन्तीके निर्मल हृदय के भाव-भरे उद्गारोंको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—बूआजी! आप आज्ञा करे, मैं आपका कौन सा प्रिय कार्य करूँ। भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु भगवान के इस परमौदार्यपूर्ण आश्वासन ने ब्रह्मादिक देवताओ को असमञ्जस में डाल दिया। मन ही मन विचार करने लगे कि जीवन भर विपत्तियों से झकझोरी गई कुन्ती आज इस अवसर पर न जाने किस लोककी सुख-सम्पदा मांगेगी। सबको अपने-अपने लोकोंकी पड़ गई। परन्तु धन्य कुन्ती! तूने तो अमरोंको भी आश्चर्य में डाल दिया अपनी लोकोत्तर मांगको प्रस्तुत करके। कुन्तीने कहा—कृष्ण! मैं जो मांगूँगी, वह तुम दे सकोगे? महादानीने सबको सुनाते हुए अपना विरद बखाना—'मोरे नहि अदेय कछु तोहीं।' कुन्ती—तो सुनो—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो। भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भव दर्शनम्॥ (भा०)

अर्थ—जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियां आती रहें। क्योंकि विपत्तियों में निश्चित रूपसे आपके दर्शन हुआ करते हैं और आपके दर्शन हो जाने पर फिर जन्म-मृत्यु के चक्कर में नहीं आना पड़ता है।

विपत्तिकी विशेष महिमा का वर्णनकर श्रीकुन्तीजी सुख-सम्पत्ति से होने वाली हानि का भी निरूपण करती हैं। यथा—

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्। नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्॥(भा०)

अर्थ—ऊँचे कुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और सम्पतिके कारण जिसका अभिमान वढ रहा है वह मनुष्य तो आपका नाम भी नहीं ले सकता; क्योंकि आप तो उन लोगोंके नेत्र, वाणी, श्रवण और मन-बुद्धि आदि इन्द्रियों के विषय वनते हैं जो सर्वथा अकिंचन हैं। अतः मैं तो यही चाहती हूं कि विपद……। श्रीकवीरदासजी भी इसीका समर्थन करते हैं। यथा—सुखके माथे सिल परो,रामहि देत भुलाय। वलिहारी वा दुःखकी, पल-पल नाम रटाय॥ श्रीतुलसीदास जी का भी यही सम्मत है। यथा—सुख सम्पति परिवार वड़ाई।……ए सव राम भगति के वाधक॥ (रा०च०मा०) इसी को लक्ष्य करके किसी और कवि ने भी वड़ा सुन्दर कहा है—प्रियतम मिलें उजारमें, वहै उजार वजार। प्रियतम नही वजारमें, वहै वजार उजार॥ पुनः-कहा करौं वैकुण्ठ लै, कल्पवृक्ष की छांह। अहमद ढांक सुहावने, जहाँ प्रीतम गलवांह। अतः मांगति विपति॥

देख्यो सुख चाहों—

मेरी अँखियन को भूषण गिरधारी।
वलि वलि जाउँ छवीली छवि पर अति आनन्द सुखकारी॥
परम उदार चतुर चिन्तामनि दरस परस दुख हारी।
अतुल प्रताप तनक तुलसी दल मानत सेवाभारी॥
छीत स्वामि गिरिधरन विसदजस गावत गोकुल नारी।
कहा वरनौं गुनगाथ नाथ के श्रीविट्ठल हृदय विहारी॥१॥

अँखियन इहई टेव परी।
कहा करौं वारिज मुख ऊपर लागति ज्यों भ्रमरी॥
यद्यपि हटकि हटकि राखति हौं तद्यपि होत खरी।
चितवति रहति चकोर चन्द ज्यों विसरत नाहि घरी॥
गड़ि जो रहीं वा रूप जलधि में प्रेमपियूष भरी।
सूर तहां नग अङ्ग परस रस लूटत निधि सगरी॥

देखे विनु हियेसाल—प्रेमी-जन समस्त दुःख सहर्ष सहने के लिये प्रस्तुत रहते हैं परन्तु प्रियतम-वियोग दुःख उनको असह्य होता है। यथा—'सव दुःख दुसह सहावहु मोहीं। लोचन ओट राम जनि होहीं॥' (श्रीदशरथ वाक्य) कारण यह है कि—'प्रभु वियोग लवलेस समाना। सव मिलि होहिं न कृपा निधाना॥' (श्रीजानकी वचन)

श्रवण……पत्त है—यथा—

पृथाप्यनुश्रुत्य धनञ्जयोदितं नाशं यदूनां भगवद्गतिं च ताम्।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे निवेशितात्मोपरराम संसृतेः॥ (भा०)

अर्थ—कुन्ती ने भी अर्जुन के मुख से यदुवंशियों के नाश और भगवान के स्वधाम गमनकी वात सुनकर अनन्य भक्ति से अपने हृदय को भगवान श्रीकृष्णमे लगा दिया और सदाके लिये इस जन्म-मृत्यु रूप संसार से अपना मुँह गोड़ लिया अर्थात् नश्वर शरीर छोड़ कर भगवत्पद में लीन हो गईं ॥ इस पर दृष्टान्त श्रीदशरथजी का—बन्दउँ अवधभुवाल, सत्य प्रेम जेहिं राम पद। बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तनु तृण इव परि हरेउ॥ दूसरा दृष्टान्त—श्रीपद्मावतीजी का— (देखिये क० १६१) तथा मुरारिदास का (छप्पय १२८)

समस्त प्राणी जिस विपत्ति से, दुःख से भागते हैं उसी को भगवान के दर्शनस्मरण में सहायक होने से कुन्ती माता सदा-सर्वदा के लिये भगवान से याचना करती है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः। विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

अर्थ—विपत्ति यथार्थ में विपत्ति नही है। सम्पत्ति भी सम्पत्ति नहीं। भगवानका विस्मरण होना ही विपत्ति है और उनका स्मरण वना रहे, यही सवसे वड़ी सम्पत्ति है।

श्रीजानकी-जी का सन्देश सुनाते हुये श्रीहनुमानजी ने भी यही कहा है। यथा—'कह हनुमन्त विपति प्रभु सोई। जव तव सुमिरन भजन न होई॥'(रा० च० मा०) पुनः—सा हानिस्तन्महच्छिद्रं तद्धि दुःखं महत्तमम्। यदा पुंसो हरेर्नाम विस्मरणं किल जायते॥ (भक्तिरसायन) अर्थ—मनुष्य को जब भगवन्नाम का विस्मरण हो जाता है, तो उसके लिये वही सवसे वड़ी हानि है, सवसे वड़ा दोष है तथा सबसे बड़ा दुःख है। श्रीकागभुसुण्डि जी कहते हैं—'हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजियन रामहिं नरतन पाई॥ लाभ कि किछु हरि भगति समाना। जेहिं गावहिं श्रुति सन्त पुराना॥' (रा० च० मा०)

श्री द्रौपदी जी

द्रौपदी सती की बात कहै ऐसो कौन पटु खैंचत ही पट पट कोटि गुने भये हैं।
द्वारका के नाथ जब बोलीं तब साथ हुते द्वारका सों फेरि आये भक्त वाणी नये हैं॥
गये दुर्वासा ऋषि वन में पठाये नीच धर्म पुत्र बोले विनय आवै पन लये हैं।
भोजन निवारि तिया आइ कही सोच परयो चाहै तनु त्यागयौ कह्यो कृष्ण कहूं गये हैं॥७१॥

शब्दार्थ—पटु=चतुर (कवि)। पट=वस्त्र। निवारि=निवेर कर, समाप्त कर। नये=नहे, नथे, वँधे, नम्र झुके।

भावार्थ—ऐसा कौन चतुर कवि है जो पतिव्रता श्रीद्रौपदीजी के चरित्रका वर्णन कर सके। श्रीकृष्ण में इनका अटल विश्वास और प्रेम था। दुर्योधन ने कपट से जुआ में युधिष्ठिर को हराकर सर्वस्व के साथ द्रौपदीजी को भी जीत लिया। दुष्ट दुर्योधन की आज्ञा से दुःशासन भरी सभा में द्रौपदी को नग्न करने के लिये उनके वस्त्र खीचने लगा। उसी समय उनके वस्त्र करोड़ो गुने वढ़ गये। अपनी लाज वचाने के लिए द्रौपदीजी ने जव पुकारा कि—हे द्वारकानाथ! दुष्टों से मेरी रक्षा करो। उस समय यद्यपि भगवान द्रौपदी के समीप ही थे क्योकि वे सर्वव्यापी हैं, परन्तु द्रौपदी ने 'द्वारका के नाथ' यह कह कर

पुकारा था इसलिये वे अपने भक्त की वाणी सत्य करने के लिए द्वारका से ही अति-शीघ्र दौड़कर आए। भगवान् भक्त की वाणी में नथे हैं। दुष्टों को दण्ड नही दे सके अतः संकुचित हैं।

जिस समय पाण्डव द्रौपदी समेत वनवास कर रहे थे उसी समय दुष्टदुर्योधन ने प्रार्थना करके दुर्वासाजी को भेजा कि—आप अपने दस हजार शिष्यों समेत वनमें जाकर उस समय युधिष्ठिरके अतिथि बनिये जब कि द्रौपदी समेत सभी पाण्डव भोजन कर चुके हों। वनमें दुर्वासाजी को देखते ही युधिष्ठिरजी ने सविनय भोजनार्थ निमिन्त्रत किया। उन्होने कहा कि—हम जिस नित्य नियम का प्रण लिए हैं उसको करके अभी आते हैं। युधिष्ठिरजी ने कहा—ऋषियों के लिए भोजन तैयार करो। द्रौपदी जी ने कहा—अब तो मैं स्वयं भोजन कर चुकी और सूर्य के द्वारा दिये हुये उस पात्र को भी धोकर साफ कर चुकी। यह सुनकर युधिष्ठिर आदि सभी भाइयों को बड़ा शोक हुआ वे बोले—यदि उन्हें भोजन न मिला तो वे शाप से भस्म कर देंगे अतः अच्छा यही है कि काष्ठ एकत्र करो, हम पहले ही जल जांय। जिससे ब्राह्मण का अपमान तो न हो। तब द्रौपदीजी ने कहा कि-आप इतने चिन्तित क्यों होते हैं, क्या सदा सहायता करने वाले श्रीकृष्ण कहीं चले गये हैं ॥७१॥

व्याख्या—द्रौपदी सती—द्रौपदी त्वथ संजज्ञे शचीभागादनिन्दिता। द्रुपदस्य कुले कन्या वेदिमध्यादनिन्दता॥ [म०भा०] अर्थ—सती-साध्वी द्रौपदी शची (इन्द्राणी) के अंश से उत्पन्न हुई थीं। वह राजा द्रुपद के कुल में यज्ञ की वेदी के मध्य भाग से एक अनिन्द्य परम सुन्दरी कुमारी कन्या के रूप में प्रगट हुई थी। पाञ्चाल नरेश राजा द्रुपद ने महर्षि याज और उपयाज के आचार्यत्व में पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था जिसमें विधिपूर्वक तैयार की गई पुत्र-संस्कारयुक्त हविष्य की आहुति को अग्नि में डालते ही उस अग्नि से प्रथम देवता के समान तेजस्वी एक कुमार, पश्चात् एक कन्या प्रकट हुई। कुमार का नाम धृष्टद्युम्न हुआ और कन्या का नाम कृष्णा रखा। द्रुपद पुत्री होने से द्रौपदी कहलायीं।

पूर्व जन्म में ये ऋषि-कन्या थीं। अपने अनुरूप सर्व-शुभ लक्षण सम्पन्न पति की प्राप्ति के लिए इन्होंने उग्र तपस्या के द्वारा भगवान शङ्कर को प्रसन्न किया। भगवान् शिव ने इनसे मन-भावता वर माँगने को कहा। यह आनन्दातिरेक मे पाँच बार—'मुझे सर्वगुण-सम्पन्न पति प्राप्त हो।' इस वाक्य को दुहराई। तब श्रीशिव ने कहा—भद्रे! तुमने मुझसे पांच बार यह वर मांगा है, अतः तुम्हारे पांच भरत-वंशी पति होंगे। इसी वरदान के फलस्वरूप इस जन्म मे द्रुपदकुमारी पांचों पाण्डवों की पत्नी हुईं। और यही कारण है कि पञ्चभर्त्री होने पर भी इन्हें सती कहा गया है। इस पर दृष्टान्त-प्रचेता गणों का—ये दस थे। इन दसों की पत्नी एक थी। देखिये छप्पय १०।

दूसरी कथा—यह पूर्व कहा जा चुका है कि द्रौपदी शची (इन्द्राणी) के अंश से उत्पन्न हुई थीं। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार पाँचों पाण्डवों के रूप में इन्द्र ने ही पाँच रूप धारण किया था। कथा इस प्रकार से है—जब देवराज इन्द्र ने त्वष्टा प्रजापति के पुत्र विश्वरूप का वध किया तो इस अन्याय के कारण इन्द्र का तेज इनके शरीर से निकल कर धर्मराज के शरीर में प्रवेश कर गया। वृत्रासुर का वध करने पर इन्द्र के शरीर से उनका बल निकल कर वायु देवता में समा गया। जब इन्द्र ने गौतम-पत्नी अहल्या के साथ व्यभिचार किया तो उस समय उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का लावण्य इन्द्र को छोड़ कर दोनों अश्विनीकुमारों के पास चला गया। पुत्र की कामना से जब कुन्ती ने धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनी कुमारो का आह्वान किया तो ये देवता इन्द्र के ही तेज बल, रूप को कुन्ती में स्थापित किये थे, स्वयं इन्द्र

ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति का अर्द्धांश कुन्ती के गर्भ में स्थापित किया था। इस प्रकार इन्द्र ही पाँचों पांडवों के रूप में प्रगट होकर द्रौपदी का वरण किये। अतः पचभर्त्री होकर भी द्रौपदी सती ही कही गई हैं।

तीसरी कथा—भारतसार संग्रह में लिखा है कि एक बार कपिला गौ के पीछे पाँच वृषभों को लगे देखकर सतीजी तथा गङ्गाजी ने उपहास किया था कि देखो—इसे एक वृषभ से सन्तोष नही होता है, पाँच-पाँच लिये डोल रही है। इस वात को सुन कर कपिला ने शाप दिया कि हम तो पशु हैं। हमारे लिये कोई लाज की वात नही है, तुम मानवी होकर पाँच पतियों की पत्नी बनोगी। यह सुनकर सतीजी वहुत दुःखित हुईं तो शिवजी ने समझाया कि दुःखी मत हो, मैं ही पाँच रूप से तुम्हें वरण करूँगा। वही श्रीशिवजी ही प्रथम धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारों में अपनी शक्ति सन्निहित कर दिये। पश्चात् कुन्ती के द्वारा आवाहन किये जाने पर इन देवताओं द्वारा शिव-शक्ति की ही कुन्ती और माद्री के गर्भ में प्रतिष्ठा की गई। जिससे पांचों पाण्डव हुए। चूँकि ये सभी शिवांश हैं अतः पाँचों द्वारा वरण किये जाने पर भी द्रौपदी सती ही हैं। श्रीगङ्गाजी भी उसी शाप के फलस्वरूप शान्तनुजीकी पत्नी बनीं।

वात कहै ऐसो कौन पटु—द्रौपदी के अगाध विश्वास, अनन्य निष्ठा, अविचल प्रीति का वर्णन करना वड़े-वड़े प्रवीणों के वश के बाहर की वात है। जब कि स्वयं भगवान ही कहने में थकित हो जाते हैं। यथा—"प्रीति प्रतीति द्रुपद तनया की को कहि सकै वखानी। 'देव' दीन की कहा चलावै हार हरी ने मानी॥"

'खैंचत....भये हैं'—महात्मा विदुर के घोर विरोध करने पर भी दुष्ट दुःशासन द्वारा केश पकड़ कर सभा में लाई गई द्रौपदी ने सभा में उपस्थित भीष्म पितामह आदि प्रमुख धर्म-निर्णायकों से प्रश्न किया—आप लोग मुझे यह वताने की कृपा करें—'मैं धर्मपूर्वक जीती गई हूँ या नही?' परन्तु सिवा मौन के और कोई उत्तर नही मिला—"भीषम द्रोण रहे गहि मौन, दुःसासन अम्बर लेन चहा है।" पश्चात् उसने अपने पतियो की ओर देखा—'तथा ब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा भर्तॄन् कटाक्षैः कुपितान पश्यत॥' परन्तु वे भी विवश थे धर्म और धर्मराज के सामने। वर्णन आया है—द्रौपदी का यह दुःख भीमसेन की सहन-शक्ति से बाहर हो गया। वे दुःख और क्रोधवश विवक को नहीं सँभाल सके। श्रीयुधिष्ठिरजी से वोले—'राजन्! द्रौपदी की इस दुर्दशा के लिए मैं आप पर ही अपना क्रोध छोड़ता हूँ। मैं आपकी दोनों वाहें जला डालूँगा—जिनसे आपने जूआ खेलने जैसा निन्द्य कार्य किया। सहदेव! आग ले आओ। श्रीअर्जुनजी ने भीमसेन को समझा-बुझाकर शान्त किया। गुरुजन मौन हैं, पाँचों पति धर्म के वन्धन में जकड़े होने से किंकर्तव्यविमूढ हो रहे हैं, मुझ अवला का वल ही कितना? यह सब विचार कर द्रौपदी ने भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण किया। यथा—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय। कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन। कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन। प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥ (म०भा०)

अर्थ—हे गोविन्द! हे द्वारकावासी श्रीकृष्ण! हे गोपाङ्गनाओं के प्राणवल्लभ केशव! कौरव मेरा अपमान कर रहे है, क्या आप नही जानते हैं? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे सङ्कटनाशन जनार्दन! मैं कौरवरूपी समुद्र में डूबी जा रही हूँ, मेरा उद्धार कीजिये। हे सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण!

महायोगिन् ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन् ! गोविन्द ! कौरवों के वीच में कष्ट पाती हुई मुझ शरणागत अवला की रक्षा कीजिये । पुनः— पद—

द्रोपदी हरि सों टेरि कही ।
भीषम करन द्रोण दुःशासन देखत बांह गही ।।
लेत उसास निराश सभा में नैननि नीर बही ।
पांचों वन्धु पीठि दै ठाढ़े मैं अति सकुचि रही ।।
तुम सुधि लेउ द्वारकावासी फाटत नाहिं मही ।
मो पति पांच पांच के तुम पति यहँ पति कछु न रही ।।
हा जगदीश राखु यहि अवसर प्रगट पुकारि कही ।
सूरदास प्रभु तुम सव लायक मो पति राखु सही ।।

पुनः—द्रौपदी राम कृष्ण कहि टेरी ।
सुनत द्वारका ते उठि धायो जानि आपनी चेरी ।।
रही लाज पछतात दुसासन अम्वर लाग्यो ढेरी ।
हरि लीला अवलोकि चकित चित सकल सभा भुइँ हेरी ।।

पुनः— सभा सभासद निरखि पट, पकरि उठायो हाथ ।
तुलसी कियो इगारहों, वसन वेष यदुनाथ ।।
त्राहि तीनि कह्यो द्रौपदी, तुलसी राज समाज ।
प्रथम वढ़े पट विय विकल, चहत चकित निज काज ।। (दो०)

प्रथम 'त्राहि' कहते ही वस्त्र वढ़ा, दूसरी में भगवान् व्याकुल हो उठे कि इन दुष्टों का क्या करूँ ? तीसरी में चकित होकर दुष्ट-संहाररूपी कार्य की इच्छा करने लगे । अर्थात् दुःशासनादि कौरवों के संहार का निश्चय कर लिये । (भक्त की सच्चे मन से की हुई एक भी पुकार व्यर्थ नहीं जाती है ।) पुनः

द्रुपद सुता निरवल भइ तादिन्न तजि आये निज धाम ।
दुःशासन की भुजा थकित भइ वसन रूप भये श्याम ।। (सूर)
कहा करै वैरी प्रवल, जो सहाय रघुवीर ।
दश सहस्र गजवल घट्यो घट्यो न दस गज चीर ।।

क०– दुर्जन दुसासन दुकूल गह्यो दीनवन्धु दीन ह्वै कै द्रुपद दुलारी यों पुकारी है ।
आपनो सुवलछांड़ि ठाढ़े पति पारथ से भीम महाभीम ग्रीव नीचे करि डारी है ।।
अम्वर लौं अम्वर पहाड़ कीने 'शेष कवि' भीषम करन द्रोण सव यों विचारी है ।
नारी मध्य सारी है कि सारी मध्य नारी है कि सारी ही की नारी है कि नारी ही की सारी है ।।

अतः कहे—'पट कोटि गुने भये हैं ।' भगवान ने द्रौपदी की लाज वचाई । परम भागवती द्रौपदी ने जब श्रीकृष्ण के समक्ष कृतज्ञता प्रकाशित किया तो परम कृतज्ञ प्रभुने कहा—कृष्णा ! मैंने क्या किया ? तुमने तो अपना दिया ही पाया है । यथा—

आदि उर अंचल ते फारि बीज बोयो तुम परम सुखेत हित हिय हुलसायो है।
श्रद्धासह दीन्हें दान होत हैं सहस गुन हमहू सुन्यो है अरु निगमहू गायो है।।
पुण्य को प्रभाव अब कहाँ लौं तिहारो कहौं हौंहू कयो बेर सुजमायो अजमायो है।
प्रभु जू कहत हँसि हँसि सती द्रौपदी सों हम कहा कीन्हों तुम आपु दीन पायो है।।

नोट—राजसूय यज्ञमें शिशुपाल वधके लिये चक्र चलाते समय भगवान श्रीकृष्णकी अँगुली छिल गई थी। उस समय श्रीद्रोपदीजी ने तत्काल अपने सुहाग की रेशमी साड़ी फाड़कर पट्टी बाँधी थी। श्री कृष्ण ने कहा—अरे कृष्णा! तुमने यह क्या किया? द्रोपदी ने कहा—

प्यारे घनश्याम यदि काम आवें आपके निकाल दूं नसों को ये तो रेशम के धागे हैं।
धागे भी पुराने इन्हें दुर्लभ कौन माने न तो दुलहा के जोड़े हैं न दुलहिन के बागे हैं।।
मैंने कहाँ फाड़ा चीर रक्त देखि पीर धागे होइ के अधीर स्वयं चीर छोड़ भागे हैं।
वे धागेहैं अभागे कि जो बढ़े नहीं आगे भाग तिनहीके जागेजो कि उंगलीपर लागेहैं।।

दूसरी कथा—एक बार श्रीदुर्वासाजी स्नान कर रहे थे। संयोग की बात नदी की धार में लँगोटी बहगई। बड़े ही संकोचमें पड़ गये। श्रीद्रौपदीजी वहीं स्नान कर रही थीं। मुनिकी परिस्थिति को समझकर इन्होंने अपनी नई साड़ी फाड़कर मुनिको देदिया। श्रीदुर्वासाजी ने आशीर्वाद दिया—कृष्णे! तूने मेरी लाज बचाया तो भगवान तेरी लाज बचायेंगे। इन हेतुओं से भगवान को ग्यारहवाँ वस्त्रावतार लेना पड़ा। तभी तो कहा गया है कि सत्पात्र को दिया गया दान कोटि गुना हो जाता है। यथा—

रितु वसंत जाचक भया, हरषि दिया द्रुमपात।
ताते नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात।

भक्त बाणी नये हैं—इसलिए कि लाज तो रखदी परन्तु भक्तकी लाज हरने वालों का प्राण नहीं हर लिया, भुजा नहीं काट ली, इसका संकोच है। प्रश्न—श्रीकृष्ण ने शिशुपाल की तरह दुर्योधन, दु:शासनादि के सिर क्यों न काट लिये? समाधान—इसलिए कि अभी ये थोड़े ही हैं। कुछ काल प्रतीक्षा करके मूल और ब्याज दोनों चुकाना चाहते है अर्थात् महाभारत युद्धमें इनके सहयोगियों सहित इनका विनाश करना है अतः अभी शान्त रहे। द्रौपदी का ऋण अभी पूर्णरूपेण नहीं चुका पाये, अतः नये हैं। यथा—श्रीकृष्ण वाक्य—"यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूर वासिनम्। ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति।। अर्थ—कृष्णा! मुझ दूर द्वारकावासी को जो तुमने करुण स्वर से पुकारा, उसका मेरे ऊपर इतना ऋण हो गया है कि वस्त्र बढ़ाने पर भी चुका नहीं। इसकी मुझको चिन्ता बनी रहती है। भाव यह है कि जब तक उन दुष्टों का विनाश नहीं कर लूंगा तब तक मुझे सन्तोष नहीं होने का।

गाये......स्नीव—एक बार दुर्योधन ने पाण्डवों के अमङ्गल की कामनासे महर्षि दुर्वासा को अपने आतिथ्य सत्कारसे सन्तुष्ट कर वरदानोन्मुख महर्षिसे वर मांगा कि—'यदि आपकी मुझपर कृपा हो तो मेरी प्रार्थना से आप वन में पाण्डवों के पास ऐसे समय में जाइये, जब परम सुन्दरी यशस्विनी सुकुमारी राजकुमारी द्रौपदी समस्त ब्राह्मणों तथा पांचों पतियों को भोजन कराकर, स्वयं भी जन करने के पश्चात् सुखपूर्वक बैठकर विश्राम कर रही हों।।

'सोच परचो'—बात यह थी कि वन जाते समय परम ब्रह्मण्य महाराज युधिष्ठिर के साथ बहुतसे ब्राह्मण-गण मना करने पर भी, समझाने बुझाने पर भी संग-सग चलने लगे। तव महाराज को इनके भोजनादि व्यवस्था की चिन्ता हुई तो पुरोहित धौम्यजी के उपदेशानुसार आपने भगवान सूर्यकी आराधना की; तो भगवान भुवन-भास्करने सन्तुष्ट होकर इन्हें एक अक्षय-पात्र देते हुए कहा—राजन्! यह मेरी दी हुई तांबे की वटलोई लो। सुव्रत! तुम्हारे रसोई घर में इस पात्रके द्वारा फल, मूल, भोजन करने के योग्य अन्य पदार्थ तथा साग आदि जो चार प्रकार की सामग्री तैयार होगी वह तव तक अक्षय वनी रहेगी-जव तक द्रोपदी स्वयं भोजन न करलें। इस दिव्य अक्षय पात्रके प्रभाव से श्रीयुधिष्ठिरजी वन में भी चक्रवर्ती सम्राटकी ही तरह रहते हुएअतिथि अभ्यागतोकी समुचित सेवा करते रहते थे। दुर्योधनके कथनानुसार दुर्वासाजी उस समय पहुँचे जव द्रौपदी भोजन कर चुकी थीं। अव उस पात्र से कुछ मिलना सम्भव नहीं था, कुटीमें दश हजार ऋषियोंके लिये पर्याप्त संग्रहीत सामग्री थी नही अतः शोच परचो।

चाहैं तनु त्यागो—इसलिये कि ब्राह्मण के शाप से दग्ध होनेकी अपेक्षा स्वतः शरीर त्याग श्रेष्ठ है। यथा—

नाहं विशङ्के सुरराज वज्रान्नत्र्यक्षशूलान्न यमस्य दण्डात्।
नाग्न्यर्क सोमानिलवित्तपास्त्राच्छङ्के भृशं ब्रह्मकुलावमानात्॥　　(भा०)

अर्थ—रहूगण कहते है कि-मुझे इन्द्रके वज्र का कोई डर नही है, न मैं महादेवजी के त्रिशूलसे डरता हूँ और न यमराजके दण्ड से। मुझे अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु और कुवेर के अस्त्र-शस्त्रों का भी कोई भय नही है। परन्तु मैं ब्राह्मण कुलके अपमान से वहुत डरता हूँ।

कृष्ण कहूं गये हैं—भाव यह कि वे तो सदासर्वदा साथही हैं। यथा—भक्तसङ्गे भ्रमत्येव छायेव सततं हरिः। चक्रेण रक्षते भक्तान् भक्तचा भक्त जनप्रियः॥ (व्रह्मवैवर्त पुराण) अर्थ—भगवानभक्तोंके संग निरन्तर छायाकी तरह फिरते रहते हैं और श्रीचक्रसुदर्शन के द्वारा भक्तोंकी रक्षा करते हैं। क्योंकि भक्तों की भक्ति आपको अति प्रिय है॥ द्रौपदीजी के इस शब्द में उनके हृदय का अगाध विश्वास ही मूर्तिमान दिखाई पड़ता है।

सुन्यो भागवतीको वचन भक्तिभाव भरचो करचो मन आयेश्याम पूजे हिये काम है।
आवत ही कही मोहि भूख लागी देवो कछु महासकुचाये मागैं प्यारी नहीं धाम है॥
विश्व के भरण हार धरे हैं आहार अजू हमसों दुरावो कही वाणी अभिराम हैं।
लग्यो शाक पत्र पात्र जल संग पाइगये पूरण त्रिलोकी विप्र गिनै कौन नामहै॥७२॥

शब्दार्थ—भागवती=भगवद्भक्ता वैष्णवी, भाग्यशालिनी। भरणहार=भरपेट खिलाने योग्य।

भावार्थ—परमभक्ता द्रौपदीकी भक्तिभाव भरी वाणीसुनकर धर्मपुत्रने श्रीकृष्णका स्मरण किया। वे तुरत आ गये, उनके दर्शनों से हृदयकी सव इच्छायें पूर्ण हो गईं। आते ही भगवान ने कहा—मुझे वड़ी भूख लगी है, कुछ खानेके लिये दो। यह सुनकर सवको वड़ा संकोच हुआ कि—प्राण प्यारे प्रभु भोजन मांग रहे हैं और यहाँ कुछ भी नहीं है। संकुचित तथा मौन देखकर भगवान् ने वड़ी मीठी-

वाणी से कहा कि—अजो ! हमारी और शिष्यों समेत दुर्वासाजी की क्या चले, तुम्हारे यहाँ तो सम्पूर्ण विश्वको तृप्त करदेने भर का आहार रक्खा है, पर हमसे तुम छिपा रहे हो । द्रौपदीने वह पात्र लाकर भगवान्‌के सामने रख दिया । उस पात्रमें कहीं शाकके पत्तेका कण लगा रह गया था, भगवान् उसे ही छुड़ाकर जलके साथ खा गए । इससे तीनों लोकोंके जीवोंका पेट भर गया । शिष्यों समेत दुर्वासाजी की तो गिनती ही क्या ।।७२।।

व्याख्या—भागवती को वचन—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय । वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्ति विनाशन ।।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय ।।
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर । आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्तक नतास्मिते ।।
दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा । तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ।।

व्हा······धाम्न है—जहां प्रेमी प्रियतम का मुँह जोहता रहता है कि क्या खिला दूँ ? क्या पिला दूँ ? क्या दे दूँ ? वहां आज प्यारे स्वयँ मांग रहे हैं और देने को कुछ भी नहीं है । कैसी बेबसी है । उस समय प्रेमी पाण्डवों की जो दशा हुई होगी उसे कौन वर्णन कर सकता है । विचित्र बात तो यह थी कि भूख मिटाने के लिये जिसको बुलाया गया, वह स्वय भी भूखा ही आया । आजका मुहूर्त ही ऐसा मालूम पड़ता है । सत्य संकल्प प्रभुके 'पूरण त्रिलोकी' यह कहते ही सचमुच त्रिलोकी पूर्णतृप्त हो गयी और दुर्वासाप्रभृति ब्राह्मणोको तो अपचसा हो गया । कोई कोई तो अपच निवारण-मन्त्र पढ़ने लगे । यथा—

'अगस्त्यं कुम्भकर्णञ्च शनिञ्च बड़वानलम् । आहारपरिपाकाय स्मरेद् भीमं च पञ्चकम् ।'
कोउ अगस्त्यको मन्त्र उचारैं । कोउ चूरण को हाथ पसारैं ।।
कोऊ अमलवेत को याचैं । कोऊ पेट पीट के नांचैं ।।
यह फल हरिजन के अपमाने । मर्नाहि विचारैं सकुचि सयाने ।।
सन्ध्या पूजा सब कहँ भूली । माया विवश भई मति लूली ।।
भीम बुलावन आवत जाने । भागि भागि वन मांझ लुकाने ।।

यहां कोई यह शंका करे कि अत्यन्त अल्प शाकपत्र खाने से तथा केवल भगवान के खाने से त्रिलोकी कैसे तृप्त हो गयी ? तो उसका समाधान यह है कि—

'अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ।। (श्रीकृष्ण वाक्य)

अर्थ—छन्द— कण मात्र भक्त का भोजन भी मैं प्रेम सहित ले खाता हूं ।
यदि देय नहीं तो मांगि लेउँ नहिं पाउँ तभी चुराता हूं ।।
कन मन भर होता है हमको हमसे त्रयलोकी छकती है ।
विमुखोंका मनभर नहिं कन सम हिय प्रेमकी भूख धधकती है ।। (भ०व०टि०)

पुनः—यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ।। (भा०)

अर्थ—जिस प्रकार मूलके सिंचनसे वृक्षके स्कन्ध, शाखा-प्रशाखायें, सभी तृप्त होती हैं,जैसे प्राणों को तृप्त करने के लिये खाया गया आहार सभी इन्द्रियों के लिये तृप्ति कर होता है वैसे ही भगवान की पूजा से सबका पूजन हो जाता है ॥

वर्णन आया है कि शाक-पत्र पाकर सन्तृप्त भये भगवान श्रीकृष्ण ने भीमजीको (महाभारत में सहदेव को) मुनियों को बुलाने के लिये भेजा। प्रथम तो भीमकी समझ में नहीं आया कि यहाँ भोजन की तो कुछ तैयारी है नहीं, मैं कैसे बुलाने जाऊँ ? परन्तु जब श्रीकृष्ण ने समझाया कि मैंने सबको पूर्ण कर दिया अब वे लोग पाने के लिये आवेंगे नहीं। आप तो जाओ—उनसे कहना कि भोजन तैयार है आप लोग चलिये, तब ऋषिजी आ तो सकते नहीं, आपको प्रसन्न करने के लिये वर मांगने को कहेंगे तब आप उनसे यही मांगना कि जिन दुष्टों ने हम लोगों का अमङ्गल करने के लिये आपको भेजा था उनका शीघ्र नाश हो। भीम गये। इन्हें देखते ही और सब ऋषि तो भाग खड़े हुये, दुर्वासाजी खड़े रहे। भीम के निवेदन करने पर मुनि ने कहा—भीमसेन ! हम लोग आपका आतिथ्य-सत्कार ग्रहण कर, प्रसन्न होकर वरदान ही तो देते, सो वरदान आप वैसे ही मांग लो, इस समय हम लोग कुछ खाने-पीने की स्थिति में नही हैं। फिर तो भीम ने वही वर मांगा जो भगवान ने सिखाया था। मुनि 'एवमस्तु' कह कर चले गये। भगवान की कृपा से दुष्ट दुर्योधन का प्रयत्न उलटे उसी के लिये विनाशक सिद्ध हुआ—तभी तो कहा गया है कि—**'तकै नीच जो मीच साधुकी सो सठ फिरि तेहि मीच मरै ॥'** (वि०)

महाभागवती श्री द्रौपदीजी के हृदयकी विशालता, ब्रह्मण्यता, धार्मिकता, न्यायप्रियता, निष्कपटता एवं कारुणिकताका एक साथ दर्शन कराने वाला,वह प्रसङ्ग बड़ा ही हृदयस्पर्शी है जब कि अन्यायी अश्वत्थामा ने रात्रि में शिविरमें सोये हुये द्रौपदी के पाचों पुत्रों को मार डाला। पुत्र वत्सला द्रौपदी के दु:ख का पारावार नही। महापराक्रमी अर्जुन ने द्रोण पुत्र का पीछा किया, भला वह इनसे भागकर जा ही कहां सकता है ? अर्जुन ने आचार्य पुत्र को पशुकी भांति रस्सियों से बांधकर द्रौपदीजी के सामने प्रस्तुत कर दिया। उस समय द्रौपदीजी ने जो कुछ किया और कहा है उससे उनकी महानताका पता चलता है। यथा—

तथाऽऽहृतं पशुवत्पाशबद्धमवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन। निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं वामस्वभावा कृपया ननाम च॥ उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती। मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः। सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः। अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात्॥ स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते। तस्यात्मनोऽर्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद्वीरसूः कृपी॥ तद्धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम्। वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्ष्णशः॥ मारोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता। यथाऽहंमृतवत्सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः॥ यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः। तत्कुलं प्रदहत्याशु सानुबन्धं शुचार्पितम् (भा०)

अर्थ—द्रौपदी ने देखा कि अश्वत्थामा पशुकी तरह बांधकर लाया गया है। निन्दित कर्म करने के कारण उसका मुख नीचे की ओर झुका हुआ है। अपना अनिष्ट करनेवाले गुरुपुत्र अश्वत्थामा को इस प्रकार अपमानित देखकर द्रौपदी का कोमल हृदय कृपा से भर आया और उसने अश्वत्थामा को नमस्कार किया॥ गुरुपुत्र का इस प्रकार से बांधकर लाया जाना सती द्रौपदीको सहन नहीं हुआ। उन्होंने कहा—'छोड़ दो—छोड़ दो इन्हें।' ये ब्राह्मण हैं, हम लोगों के अत्यन्त पूजनीय हैं॥ जिनकी कृपासे आपने

रहस्यके साथ सारे धनुर्वेद और प्रयोग तथा उपसंहार के साथ सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया है, वे आपके आचार्य द्रोण ही पुत्र के रूप में आपके सामने खड़े हैं। उनकी अर्धाङ्गिनी कृपी अपने वीर पुत्र की ममता से ही अपने पतिका अनुगमन नहीं कर सकी। वे अभी जीवित हैं॥ महाभाग्यवान् आर्य-पुत्र! आप तो बड़े धर्मज्ञ हैं। जिस गुरुवंश की नित्य पूजा और वन्दना करनी चाहिये, उसी को व्यथा पहुँचाना आपके योग्य कार्य नहीं है॥ जैसे अपने बच्चों के मर जाने से मैं दुखी होकर रो रही हूं और मेरी आंखों से वार-वार आंसू निकल रहे हैं वैसे ही इनकी माता पतिव्रता गौतमी न रोयें॥ जो उच्छृङ्खल राजा अपने कुकृत्यों से ब्राह्मण कुलको कुपित कर देते हैं, वह कुपित ब्राह्मण कुल उन राजाओं को सपरिवार शोकाग्निमें डालकर शीघ्र ही भस्म कर देता है॥ कैसे आदर्श वचन हैं ये महाभागवती द्रौपदी के। फलतः मणि छीन कर अश्वत्थामा को छोड़ दिया गया॥

वनवास काल में एक वार भगवान श्रीकृष्ण अपनी रानियों सहित पाण्डवों से मिलने के लिये वन में गये। उस समय एकान्त में श्रीसत्यभामाजी ने श्रीद्रौपदी से वार्ता के सिल सिले में पूछा—प्रियदर्शने! क्या कारण है कि पाण्डव सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं और सबके सव तुम्हारे मुँह की ओर देखते रहते हैं? इसका यथार्थ रहस्य मुझे वताओ। मैं वह उपाय जानना चाहती हूँ जो यश और भाग्यकी वृद्धि करने वाला हो तथा जिससे प्यारे श्यामसुन्दर सदा मेरे अधीन रहें॥ श्रीसत्यभामाजी की इस जिज्ञासा पर श्रीद्रौपदीजी ने महासतियों के परम पावन पातिव्रत्य रूप असिधारा व्रतका बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया जिसका सारांश यह है कि पतिव्रता के लिये मन, वचन, कर्म से पति की आराधना ही सर्व श्रेष्ठ वशीकरण है।

पद पङ्कज बांछौं सदा जिनके हरि नित उर बसैं॥
योगेश्वर श्रुतिदेव अङ्ग मुचुकुन्द प्रियव्रत जेता।
पृथू परीक्षित शेष सूत शौनक परचेता॥
सतरूपा त्रय सुता सुनीति सती सब ही मन्दालस।
यज्ञपत्नि व्रजनारि किये केशव अपने वश॥
ऐसे नर नारी जितै तिनहीं के गाऊँ जसैं।
पदपङ्कज बांछौं सदा जिनके हरि नित उर बसैं॥१०॥

पाठान्तर—पद पङ्कज वन्दौं सदा।

शब्दार्थ—पदपंकज=चरण कमल। वांछौं=चाहता-मांगता हूँ। योगेश्वर=महान् योगी। जेता=विजयी, जितने। त्रय-सुता=तीनों कन्यायें। सती=शिव पत्नी, पतिव्रता। जसैं=यशको।

भावार्थ—जिन भक्तो के हृदयमें भगवान नित्य निवास करते हैं, मैं उनके चरणकमलो को प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ। नव योगीश्वर, श्रुतिदेव, राजा अंग, मुचुकुन्दजी, विश्वविजयी प्रियव्रतजी, पृथुजी, परीक्षितजी, शेषजी, सूतजी, शौनकादि ऋषि, प्रचेता गण, शतरूपाजी, प्रसूतिजी, आकूति, देव-

हूतिजी, सुनीतिजी, दक्षकन्या सतीजी, सम्पूर्ण सती वर्ग, मन्दालसा,यज्ञ पत्नियां और व्रजगोपियां जिन्होंने श्रीकृष्ण को अपने वश में कर लिया है। ऐसे जितने भी स्त्री या पुरुष हैं मैं सदा उनके सुयश का गान करूँ ॥१०॥

व्याख्या—पद" सदा—भगवान श्रीरामजी भक्ति के साधन का निरूपण करते हुए श्रीलक्ष्मणजी से कहते हैं—संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा ॥ (रा०च०मा०) श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—भवसागर कहँ नाव शुद्ध संतन्ह के चरन। तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दु:खहरन ॥ (वि०) पुनः—जो हरि भक्ति चहौ सुखदाई। सेवहु संत कमलपद भाई ॥ अतः पद" सदा ॥

जिनके...बसैं—भगवान् के श्रीमुख के वचन हैं—बचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निहकाम। तिनके हृदय कमल महँ, करौं सदा विश्राम ॥ श्रीवाल्मीकिजी ने श्रीरामजी को निवास करने के लिये भक्तों का हृदय ही उपयुक्त स्थान बताया है। यथा—तिनके हृदय सदन सुखदायक। बसहु बन्धु सियसह रघुनायक ॥ 'तिनके हिय तुम कहँ गृह रूरे।' 'राम बसहु हिय तासु।' 'तिनके हृदय बसहु रघुराया।' 'तेहि के हृदय रहहु रघुराई।' विशेष देखिये अगले छप्पय में महर्षि वाल्मीकिजी का प्रसङ्ग—

श्रीश्रुतिदेवजी

जिनहीं के हरि नित उर बसै तिनहीं की पद-रेनु चैन दैन आभरन कीजियै।
योगेश्वर आदि रसस्वाद में प्रवीन महा विप्र श्रुतिदेव ताकी बात कहि दीजियै ॥
आये हरि घर देखि गयो प्रेम भरि हियो ऊँचो कर करि पट फेरि मति भीजियै।
जिते साधु संग तिन्है विनय न प्रसंग कियो कियो उपदेश मोसों बाढ़ पांव लीजियै ॥७३॥

शब्दार्थ—चैन=परमानन्द। दैन=दायक। आभरण कीजिए=भूषणवत् मस्तक पर धारण कीजिए। मो सों=हम से। बाढ़=अधिक। पांव लीजिए=चरण स्पर्श करिए।

भावार्थ—जिन भक्तों के हृदय में सदा श्रीहरि वास करते हैं उनके चरणों की धूलि अखण्ड आनन्द देने वाली है, उसी को भूषण मानकर मस्तक पर धारण कीजिए। नव योगीश्वर आदि सभी भक्त प्रेमरस के आस्वादन में परम चतुर है। उनमें से श्रीश्रुतिदेव ब्राह्मण की बात कहता हूँ। भगवान् को घर में आया देख कर इनका हृदय प्रेम से भर गया। दोनों हाथों को ऊँचे उठाकर वस्त्र फिरा-फिरा कर नाचने लगे। प्रेम में ऐसे मग्न हो गये कि श्रीकृष्ण के समेत आये हुए साधु-सन्तों का स्वागत-सत्कार विनय प्रणाम आदि भी न कर सके। तव भगवान ने इन्हे सावधान करके उपदेश दिया कि—ये सन्त मुझसे भी बढ़कर श्रेष्ठ हैं, इनके चरणों का अर्चन-वन्दन करो ॥७३॥

व्याख्या—पद रेनु—देखिये कवित्त २१॥ 'नव योगेश्वर'—देखिये छप्पय १३ ॥

श्रीश्रुतिदेवजी—आपका परिचय देते हुए श्रीशुकदेवजी कहते हैं—कृष्णस्यासीद् द्विज-श्रेष्ठः श्रुतिदेव इति श्रुतः। कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पटः ॥ स उवास विदेहेषु मिथिलायां

गृहाश्रमी ॥ (भा०) अर्थ—विदेह की राजधानी मिथिला मे एक गृहस्थ ब्राह्मण थे, उनका नाम था श्रुत-देव। वे भगवान श्रीकृष्ण के परम भक्त थे, वे एकमात्र भगवद्भक्ति से ही पूर्ण मनोरथ, परम शान्त, ज्ञानी और विरक्त थे। भगवान मुकुन्द के श्रीचरण-कमलों में उनका मन ऐसा अनुरक्त हो गया था कि वे श्रीचरण-चिन्तन के अतिरिक्त शरीर-निर्वाह के लिये भी किसी प्रकार का उद्योग नही करते थे। 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (गीता) अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार भगवान इनका योगक्षेम वहन करते। उस देश के राजा वहुलाश्वजी भी विप्र श्रुतिदेव की ही तरह परम भागवत थे। दोनों को ही भगवान श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्ण को ये दोनों ही वड़े प्यारे थे।

स्यमन्तक मणि के लोभ से शतधन्वा ने श्रीसत्यभामाजी के पिता को रात्रि मे सुप्तावस्था में मार डाला। समाचार पाकर श्रीकृष्ण और वलराम ने रथ पर वैठकर उसका पीछा किया। घोड़े पर वैठकर भागता हुआ शतधन्वा मिथिला नगर के वाहरी उपवन में पहुंचते-पहुंचते पकड़ा और मार डाला गया। श्रीवलरामजी विदेहराज वहुलाश्वजी के यहाँ चले गये परन्तु श्रीकृष्ण द्वारका लौट आये। जव यह वात विप्र श्रुतिदेव और नृप वहुलाश्व को मालूम हुई तो वे वड़े ही व्याकुल हुए कि प्रभु यहां तक आये भी और हम लोगों को दर्शन नही हुआ। तथा वलरामजी घर आये परन्तु प्रभु नही आये। निश्चय ही हमारे प्रेम में कमी है। फिर तो दोनो ही भागवत वड़े प्रेम से भगवदाराधन में लग गये तथा द्वारका जाकर भगवान का दर्शन करने का निश्चय किये। श्रीश्रुतिदेव एवं राजा वहुलाश्व—दोनों ही नित्य भगवान श्रीकृष्ण का दर्शन करने के लिये श्रीद्वारका जाने की सोचते, परन्तु नित्य के नियमित भजन-पूजन से अव-काश ही नही मिलता कि जा पावे और भजन में ऐसी निष्ठा हो गई थी कि छोड़ते वनता नही। परिणाम यह हुआ कि आज-कल करते-करते एक वर्ष वीत गया—रोज चलने की तैयारी होती और रोज रह जाते। तव भगवान श्रीकृष्ण ने ही स्वयं एक वार उन दोनों पर प्रसन्न होकर दारुक से रथ मँगवाया और उस पर सवार होकर द्वारका से मिथिला को प्रस्थान किया। भगवान के साथ श्रीनारद, वामदेव, अत्रि, वेदव्यास, असित, आरुणि और श्रीशुकदेवजी आदि-ऋषि भी थे।

भगवान श्रीकृष्ण के शुभागमन का समाचार पाकर मिथिला पुर वासियों के आनन्द की सीमा नही रही, वे अपने हाथों से पूजा की विविध सामग्रियां लेकर उनकी अगवानी करने आये। मिथिला नरेश वहुलाश्व और विप्रश्रुति देव तो प्रभु के परमानुग्रहको विचार फूले नहीं समाये। दोनो ने ही आकर चरणों मे गिरकर प्रणाम किया और दोनो ने ही एक साथ हाथ जोडकर मुनि-मण्डली के सहित भगवान श्रीकृष्ण को आतिथ्य ग्रहण करने के लिये निमन्त्रण दिया। भगवान श्रीकृष्ण दोनो की प्रार्थना स्वीकार करके दोनो को ही प्रसन्न करने के लिये एक ही समय पृथक्-पृथक् रूप से दोनों के घर पधारे। परन्तु यह वात एक दूसरे को मालूम नही हुई कि भगवान श्रीकृष्ण मेरे घर के अतिरिक्त और भी कहीं जा रहे हैं। मिथिला नरेश महाराज वहुलाश्वजी ने सवको सुन्दर आसन पर विराजमान कराकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक षोडशोपचार विधि से उनकी पूजा की। जव सव लोग भोजन करके तृप्त हो गये तव राजा वहुलाश्व भगवान श्रीकृष्णके चरणो को अपने गोद मे लेकर वैठ गये और वड़े आनन्द से धीरे धीरे सहलाते हुये वड़ी मधुर वाणीसे भगवानकी स्तुति करते हुये उन्होने कुछ कालतक मुनि मण्डली सहित अपने यहा निवास करने के लिये निवेदन किया। भक्त-वान्छा-कल्पतरु भगवान ने उनकी इच्छा पूर्ण की।

इधर श्रीश्रुतिदेवजी प्रथम तो प्रेमातिरेक में भगवान को अपने यहां आया हुआ जान कर खूब नृत्य किये। जब किंचित देहानुसन्धान हुआ तो सबके बैठने के लिये पीढ़ा, चटाई, और कुशासन आदि बिछाया, फिर तुलसी दल, कन्द-मूल, फल-फूल, खस सें सुवासित शीतल जल आदि परम सात्विक सामग्रियों से भगवान का पूजन कर, श्रीकृष्ण के चरण कमलों का स्पर्श करते हुये स्तुति की और अपने भाग्य की सराहना किये। यथा—धन्योऽहं कृत-कृत्योऽहं पुण्योऽहं पुरुषोत्तम। अद्य मे सफलं जन्म जीवितं सफलं च मे॥ शरणागत वत्सल प्रभु श्रुतदेवकी प्रार्थना सुनकर अपने हाथ से उनका हाथ पकड़ लिया और मुस्कराते हुये सन्तों का माहात्म्य सुनाया। यथा—

देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः। शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया॥(भा०)

अर्थ—देवता पुण्यक्षेत्र और तीर्थ आदि तो दर्शन, स्पर्श, अर्चन आदि के द्वारा धीरे-धीरे बहुत दिनों में पवित्र करते हैं, परन्तु सन्त पुरुष अपनी दृष्टि से ही सबको पवित्र कर देते हैं। यही नही देवता आदि में जो पवित्र करनेकी शक्ति है, वह भी उन्हे सन्तों की दृष्टिसे ही प्राप्त होती है॥ इसलिये श्रुतदेव! तुम इन ब्रह्मर्षियों को मेरा ही स्वरूप समझकर पूरी श्रद्धा से पूजा करो।

मोसे बाढ़ पांव लीजिये—भाव यह कि मैं सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होकर भी इन भक्तों के अधीन हूं। यथा—'अहं भक्त पराधीनोह्यस्वतन्त्र इव द्विज॥' अतः मुझसे भी बढ़कर इनका सत्कार करना चाहिये। शबरी से भी प्रभु ने यही कहा है यथा—'मोते संत अधिक करि लेखा॥' श्रीउद्धवको भी प्रभु ने यही उपदेश दिया है। यथा—मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥ श्रीशिवजी कहते हैं—आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्। तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥ श्रीकागजी कहते हैं—मोरे मन प्रभु अस विश्वासा। रामते अधिक रामकर दासा॥

पुनः—मद्वन्दनाच्छत गुणं मद्भक्तस्य तु वन्दनम्। मत्कीर्तनाच्छत गुणं मद्भक्तस्य तु कीर्तनम्।
मत्सेवनाच्छतगुणं मद्भक्तस्य तु सेवनम्। मद्भोजनाच्छतगुणं मद्भक्तस्य तु भोजनम्॥
(वराहपुराण)

अतः बाढ़ कहा। बाढ़ पांव लीजिये का दूसरा भाव यह भी कि सन्त को देखकर आगे बढ़कर दश कदम चलकर इनकी अगवानी करनी चाहिये यथा—दृष्ट्वा भागवतं दूरात् सम्मुखे यो न गच्छति। न गृह्णाति हरिस्तस्य पूजां च दशवार्षिकीम्॥ अतः बाढ़ पांव""""। कहा॥ यदि तुम ऐसा करोगे तो समझ लो कि तुमने साक्षात् मेरा ही पूजन कर लिया। भगवान् श्रीकृष्ण का यह आदेश प्राप्त करके श्रुतदेवने भगवान श्रीकृष्ण और उन ब्रह्मर्षियों की एकात्म भाव से आराधना की।

एक बात यहां स्मरण रखने की है कि श्रुतदेव ने कुछ भावमें कमी होने से ऋषियोंका पूजन न किया हो सो बात नही, वे प्रेम में ऐसे विभोर ही हो गये थे कि उन्हें कुछ सुधि नही रह गई थी, जब प्रभु ने ध्यान दिलाया तो इन्होंने ऋषियों की भी उसी भाव से पूजा किया। भगवान श्रीकृष्ण श्रीश्रुतदेव और बहुलाश्व—दोनो ही भक्तों के यहां कुछ दिन रहकर, फिर उनसे विदा लेकर द्वारका लौट आये। ये दोनो महाभागवत भी प्रभु के नाम, रूप, लीला धाम, गुण-स्वभावका चिन्तन करते हुये अन्त में भगवत्स्वरूपको प्राप्त हो गये।

श्रीअङ्गजी—महाभागवत श्रीध्रुवजी के वंशमें राजर्षि अङ्ग का प्रादुर्भाव हुआ था। पिता उल्मुक और माता पुष्करिणी ने वड़ी तपस्या के बाद अंग जैसा पुत्र पाया था। शील-स्वभाव, साधुता, ब्रह्मण्यता आदि सद्गुण आपमें बाल्यावस्था से ही विराजमान थे। एक बार राजर्षि अङ्गने अश्वमेघ-महायज्ञ का अनुष्ठान किया उसमे वेद-वादी ब्राह्मणों के आवाहन करने पर भी देवता लोग अपना भाग लेने नही आये। तव ऋत्विजों ने विस्मित होकर यजमान अङ्गसे कहा—राजन् हम आहुतियों के रूपमें आपका जो घृत आदि पदार्थ हवन करते हैं, उसे देवता लोग स्वीकार नही करते हैं। हम जानते हैं आपकी होम सामग्री दूषित नहीं है, आपने उसे वड़ी श्रद्धा से जुटाया है, तथा वेदमन्त्र भी किसी प्रकार बल हीन नहीं हैं, क्योंकि उनका प्रयोग करने वाले ऋत्विज गण याजकोचित सभी नियमों का पूर्णतया पालन करते हैं। देवताओं का किंचित तिरस्कार भी नही हुआ है—फिर भी कर्माध्यक्ष देवता लोग क्यों अपना भाग नहीं ले रहे हैं? यह सुनकर महाराज अङ्ग उदास हो गये और उन्होने इसमें अपने कर्म को ही कारण मानकर सदस्यों से अपने ज्ञाताज्ञात अपराध के सम्वन्ध मे जिज्ञासा की। इस पर सुधी सदस्यों ने कहा—राजन्! इस जन्म में तो आपसे कोई अपराध नहीं हुआ है, हां पूर्व जन्म में अवश्य आप से कुछ अपराध बन गया है जिससे कि आप अव तक पुत्र हीन हैं। परन्तु हम लोगों का ऐसा विश्वास है कि यदि आप पुत्र की कामना से यज्ञ करेंगे तो यज्ञेश्वर भगवान अवश्य आपको पुत्र प्रदान करेंगे। राजा अङ्ग ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया।

ऋत्विजों के सत्प्रयत्न से यज्ञ पूर्ण हुआ आहुति डालते ही अग्निकुण्ड से एक दिव्य पुरुष स्वर्ण पात्र में सिद्ध खीर लिये प्रकट हुये। राजा ने उस चरु को अंजलि में लेकर स्वयं सूँघकर प्रसन्नता पूर्वक अपनी पत्नी को दे दिया। रानी ने वह पुत्र प्रदायिनी खीर खाकर गर्भ धारण किया और यथा समय एक पुत्र को जन्म दिया। राजा अङ्ग की पत्नी मृत्युकी कन्या थी, नाम था सुनीथा। उससे जो वालक पैदा हुआ वह अपने नाना मृत्यु के गुण-स्वभाव लक्षणों वाला हुआ। क्या पशु, क्या पक्षी, क्या मनुष्य, वह दुष्ट वालक हँसते-हँसते सहज ही उनके प्राण ले लेता। प्रजा उससे ऐसी सत्रस्त हो गई थी कि वह जिधर ही जाता लोग चिल्ला पड़ते—वेन आया, वेन आया। (वेन उस वालकका नाम था) वेनकी ऐसी दुष्ट प्रकृति देखकर महाराज अङ्गने उसे वहुत प्रकार से समझाकर सुमार्ग पर लाने की चेष्टा की, परन्तु सफल नही हुए। इससे उन्हें वड़ा ही दुःख हुआ। वे मन ही मन सोचने लगे—जिन गृहस्थोंके पुत्र नही हैं, उन्होने अवश्य ही पूर्व जन्म में श्रीहरिकी आराधना की होगी, इसीसे उन्हें कुपूत की करतूतो से होने वाले असह्य क्लेश नहीं सहने पड़ते हैं। जिससे सव प्रकारके अनर्थों की प्राप्ति होती है—ऐसी नाम मात्र की सन्तान के लिए कौन समझदार पुरुष ललचावेगा? वह तो आत्माके लिये एकप्रकार का मोहमय वन्धन ही है।

पुनः श्रीअङ्गजी के मन में यह विचार आया कि—मैं तो सपूत की अपेक्षा कुपूत को ही अच्छा समझता हूँ क्योकि सपूत को छोड़ने में वडा क्लेश होता है परन्तु कुपूत तो घर को नरक वना डालता है अतः उससे सहज ही छुटकारा मिल जाता है। इस प्रकार सोचते-सोचते राजा अङ्गका चित्त ससार से विरक्त हो गया। वे रात्रिमें घर से निकल गये। प्रजाजन, पुरोहित, मन्त्री और सुहृद वर्गने खोजने का वहुत प्रयत्न किया परन्तु नही पा सके जैसे कुयोगी पुरुष सर्वगुहाशयी भगवान को नही खोज पाते हैं। (भा०) श्रीराम रसिकावली में महाराज रघुराजसिंह जी आपके विषय में लिखते है कि—

कानन जाइ भज्यो यदुराई। माया और डीठि नहिं आई॥
वन में करहिं साधुकी सेवा। साधु छोड़ि मानहिं नहिंदेवा॥

कोउ एक साधु कह्यौ नृपपाहीं। कुटी देहु मेरे घर नाहीं ॥
कुटी सहित सर्वस दै राखे। पुनि ताकी सेवा अभिलाखे ॥
साधुप्रसन्न कह्यौ असबानी। मिलिहिं तोहिं नृप सारंग पानी॥
भूपतिकह्यो न अस मोहिंआसा।तोहिंतजि चहौं न रमानिवासा॥
आये नृप कहँ लेन विमाना। साधु त्यागिसो किय न पयाना॥
हरिपार्षद तब सन्त चढ़ाई। लैगेनृपहिं विकुण्ठ लिवाई ॥
वैकुण्ठहुं महँ अङ्ग नृप, साधु चरण - रति कीन।
विभवभोग पार्षद सरिस, जदपि कृष्ण बहु दीन ॥

श्रीमुचुकुन्दजी—इक्ष्वाकुवंशावतंश, महाराज मान्धाता-तनय श्रीमुचुकुन्दजी बड़े ही ब्राह्मणभक्त, सत्य प्रतिज्ञ, संग्राम विजयी एवं महाप्रतापी राजा थे। एक बार इन्होने अपने बलकी परीक्षा लेनेके लिये अलकापति कुवेर पर चढ़ाई की। तब यक्षराज कुवेरने इनका सामना करने के लिए राक्षसों की सेना भेजी। उन राक्षसोंने इनकी सेनाको कुचलना प्रारम्भ किया तब ये श्रीसद्गुरुदेव वशिष्ठजी की शरण मे गये। श्रीवशिष्ठजी ने अपने तपोबल से राक्षसों का संहार कर डाला। श्रीमुचुकुन्द जी की विजय का मार्ग प्रशस्त हो गया। अपनी सेनाका संहार देखकर श्रीकुवेरजी स्वयं मुचुकुन्दजी के समीप आकर बोले—महाराज! यदि तुम्हारी भुजाओंमें कुछ बल है तो उसे दिखाओ, ब्राह्मणके बल पर युद्ध करना ठीक नहीं। श्रीमुचुकुन्दजी ने कहा—अलकापते! ब्राह्मणों में सदा तप और मन्त्रका बल उपस्थित होता है और क्षत्रियोमें अस्त्र तथा भुजाओं का। अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंको एक साथ मिलकर ही प्रजा का पालन करना चाहिए। मैं भी इसी नीतिके अनुसार कार्यकर रहा हूँ। फिर आप मेरी निन्दा क्यों कर रहे हैं? यह सुनकर कुवेरजी बड़े ही प्रसन्न हुए और बोले—राजन्! आप में नीति और धर्म दोनों ही पूर्ण रूपेण वर्तमान हैं अतः आज मैं आपको इस सारी पृथ्वी का राज्य दे रहा हूं। आप इस मेरी दी हुई सम्पूर्ण पृथ्वी का शासन करो। श्रीमुचुकुन्दजी ने कहा—राजाधिराज! मैं आपके दिये हुए राज्यको नही भोगना चाहता। मेरी तो यह इच्छा है कि मै अपने बाहुबल से उपार्जित राज्य का उपभोग करूँ। महाराज मुचुकुन्दके इस क्षत्रियोचित, वीरोचित, वंशोचित वचनको सुनकर कुवेर को बड़ा विस्मय हुआ। तदनन्तर क्षत्रियधर्मका सम्यक् पालन करने वाले राजा मुचुकुन्द ने अपने बाहुबल से प्राप्त की हुई सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन किया॥ (म०भा०)

एक बार इन्द्रादि देवता असुरों से अत्यन्त भयभीत होकर अपनी रक्षाके लिए मुचुकुन्दजी से प्रार्थना किये तो इन्होंने बहुत काल तक देवताओ की रक्षा किया। जब देवताओ को सेनापति के रूपमें स्वामि कार्तिकेय मिल गये तब उन लोगों ने राजा मुचुकुन्द से कृतज्ञता प्रगट करते हुए विश्राम करने को कहा, साथ ही देवताओं ने यह भी बताया कि आपके पुत्र, रानियां, बन्धु और आमात्य-मन्त्री तथा आप की प्रजामें से अब कोई नही रहा है। सबके सब कालके गालमें चले गये हैं। अब आप बताइये हम देवता आपका कौन-सा प्रिय कार्य करें। हम केवल मोक्ष छोड़कर सब कुछ देने मे समर्थ हैं। मोक्ष तो भगवान विष्णु ही दे सकते हैं। राजा मुचुकुन्द ने बहुत समय तक युद्ध करते रहने से थके होने के कारण निद्राका ही वर मांगा। देवताओं ने इन्हे निश्चिन्त निद्राका वर देते हुए यह भी कहा कि सोते समय यदि कोई मूर्ख बीचमें ही आपको जगा देगा तो वह आपकी दृष्टि पड़ते ही उसी क्षण भस्म हो जायेगा। श्रीमुचुकुन्द-

जी धवलपुर के पर्वत की गुफामें आकर सो गये। सतयुगके सोये महाराज मुचुकुन्द की द्वापर के अन्त में नीद खुली। नीद खुलने का प्रसङ्ग इस प्रकार है—

म्लेच्छराज काल-यवन अपने समान किसी प्रतिद्वन्द्वी वीर की तलाश में था। देवर्षि नारदजी से उसने यादवों की प्रशंसा सुनकर तीन करोड़ मलेच्छों को लेकर मथुरापुरी को घेर लिया। उधर मगध-राज जरा सन्धका आक्रमण होने वाला था। मथुरा नगर पर घोर संकट आया हुआ विचारकर भगवान श्रीकृष्ण ने विश्वकर्मा के द्वारा समुद्र मे दिव्य द्वारकापुरी का निर्माण कराकर अपने समस्त स्वजन सम्बन्धियों को अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमाया के द्वारा द्वारका में पहुँचा दिया। शेष प्रजाकी रक्षा के लिये वलरामजीको मथुरापुरी में रख दिया और स्वय विना कोई अस्त्र-शस्त्र लिये हुये नगर के वड़े द्वार से वाहर निकले। श्रीनारदजी के द्वारा वताये गये लक्षणों से कालयवन ने पहचान लिया कि यही श्रीकृष्ण हैं अतः वह द्वन्द्व-युद्ध के लिये स्वयं भी अस्त्र-शस्त्र छोड़कर श्रीकृष्ण की ओर वढ़ा। कालयवन के संहार और मुचुकुन्दजी के ऊपर कृपा करने का लक्ष्य वनाकर भगवान श्रीकृष्ण दूसरी ओर मुँह करके रण से भाग चले। और उन योगि दुर्लभ प्रभुको पकड़नेके लिये कालयवन उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगा। कालयवन पीछे से वार-वार आक्षेप करता कि 'अरे भाई! तुम परमयशस्वी यदुवंश में पैदा हुये हो,तुम्हारा इस प्रकार युद्ध छोड़कर भागना उचित नही है तुम कैसे वीर हो?' भगवान यह कहते हुये कि हम ऐसे ही है, तुम चले आओ, उसके आक्षेप करते रहने पर भी भागते-भागते उस पर्वत की गुफा में घुस गये जहां मुचुकुन्दजी सोये हुये थे। भगवानने उनको अपना पीताम्वर ओढ़ा दिया और स्वयं छिप गये। उनके पीछे कालयवन भी घुसा और पीताम्वर ओढ़े हुये सोये मुचुकुन्दजी को श्रीकृष्ण ही समझकर—मनही मन यह सोचकर कि 'देखो तो सही, यह मुझे इस प्रकार इतनी दूर ले आया और अब इस तरह मानो इसे कुछ पता ही न हो—साधु वनकर सो रहा है।' उस मूढ़ने कस कर उनके ऊपर पद प्रहार किया। मुचुकुन्दजी की निद्रा टूट गई। आंख खुली, दृष्टि पड़ते ही कालयवन तत्क्षण जलकर राख हो गया।

तत्पश्चात् यदुवंश शिरोमणि भगवान श्रीकृष्णने कृपाकरके राजा मुचुकुन्दके सामने आकर दर्शन दिया। भगवान की परम दिव्य ज्योतिर्मयी मूर्ति देखकर महाराज मुचुकुन्द ने चकित होकर पूछा—'आप कौन हैं? इस कांटों से भरे हुये घोर जंगल में आप कमल के समान कोमल चरणों से क्यों विचर रहे है? और इस गुफा मे पधारने का क्या प्रयोजन है? क्या आप समस्त तेजस्वियों के मूर्तिमान तेज अथवा अग्निदेव ही तो नही हैं? क्या आप सूर्य, चन्द्रमा, देवराज इन्द्र या कोई दूसरे लोकपाल है? मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आप देवताओ के आराध्यदेव व्रह्मा,विष्णु शङ्कर,इन तीनो में से पुरुषोत्तम भगवान नारायण ही हैं। क्यों कि आपकी परम ज्योतिर्मय अङ्ग कान्ति से इस गुफा का अन्धेरा सर्वथा दूर हो गया है। यदि आप उचित समझे तो अपना परिचय दीजिये और यदि आप मेरा परिचय जानना चाहें तो मैं इक्ष्वाकुवशी क्षत्रिय हूँ। मेरा नाम मुचुकुन्द है, मैं युवनाश्वनन्दन महाराज मान्धाता का पुत्र हूं। आपका दर्शन कर कृतार्थ हुआ। तव समस्त प्राणियों के जीवन दाता भगवान श्रीकृष्ण ने हँसते हुए मेघध्वनि के समान गम्भीर वाणी में कहा—प्रिय मुचुकुन्द! मेरे जन्म, कर्म, नाम तो अनन्त हैं। वर्तमान मे मैंने यदुवंशमें अवतार लिया है, मैं वसुदेवजीका पुत्र हूँ इसलिए लोग मुझे वासुदेव कहते हैं। राजन्! यह कालयवन था जो मेरी ही प्रेरणा से तुम्हारी तीक्ष्ण दृष्टि पड़ते ही भस्म हो गया। तुमने पहले मेरी वड़ी आराधना की है,अतः मैंने प्रसन्न होकर तुमको दर्शन दिया और अव तुम्हारी जो अभिलाषा हो मुझसे माग लो। मुचुकुन्दजी को समझते देर नही लगी कि ये भगवान है क्योकि वृद्ध गर्ग ने इनसे पहले ही से कह रखा था कि यदुवंश में भगवान अवतार लेने वाले है। अतः आपने प्रभु की

स्तुति की और भक्तिका वरदान मांगा। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—राजन् ! तुमने क्षत्रिय धर्म का आचरण करते समय शिकार आदि के अवसरों पर वहुत से पशुओं का बध किया है। अव एकाग्रचित्त से मेरी आराधना करते हुए तपस्या के द्वारा उस पाप को धो डालो। अगले जन्ममें तुम ब्राह्मण होगे और समस्त प्राणियों के सच्चे हितैपी तथा परम सुहृद होओगे तथा मुझमे तुम्हारी विपय वासना शून्य निर्मल भक्ति सदा वनी रहेगी। जिससे कि तुम मुझ विशुद्ध विज्ञान घन परमात्मा को प्राप्त कर लोगे।

श्रीमुचुकुन्दजी ने भगवान की परिक्रमा की और प्रणामकर भगवान नर-नारायण के नित्य निवास स्थान वदरिकाश्रम में जाकर वड़े शान्त भाव से गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्व सहते हुये वे तपस्याके द्वारा भगवान की आराधना करने लगे। वे निरन्तर अपना चित्त भगवान श्री कृष्ण में लगाये रहते। उन्हें अव किसी प्रकार की आसक्ति एवं संशय-सन्देह नही रह गया था। अगले जन्म में आप ही गुर्जर प्रदेश मे भक्त-शिरोमणि श्रीनरसीजी के रूप में प्रकट हुये॥

श्री प्रियव्रतजी

श्रीस्वायम्भुव मनु-पुत्र श्रीप्रियव्रतजी वड़े ही भगवद्भक्त और आत्माराम थे। देवर्षिवर्य्य श्रीनारद जी के चरणों की सेवा से उन्हें सहज ही परमार्थ तत्वका वोध हो गया था। अतः राज्य-सुख को छोड़कर गन्ध मादन पर्वत पर निवास करते हुये निरन्तर आत्म चिन्तन में लगे रहते थे। एक बार उन्होंने ब्रह्मसत्र की दीक्षा लेकर निरन्तर ब्रह्माभ्यासमें जीवन विताने का निश्चय किया। उसी समय उनके पिता श्रीस्वायम्भुवमनु ने उन्हे पृथ्वीपालन के लिये शास्त्र में वताये हुये सभी श्रेष्ठगुणों से पूर्णतया सम्पन्न देखकर राज्य-शासन के लिये आज्ञा दी। परन्तु श्रीप्रियव्रतजी ने यह सोचकर कि कहीं मैं राज्य और कुटुम्व की आसक्ति में फँसकर आत्म स्वरूप को भूल न जाऊँ, परमार्थ से च्युत न हो जाऊँ, पिताकी आज्ञा अनुल्लङ्घ्य होने पर भी उसे नही स्वीकार किया। सृष्टि विस्तार के लिये सतत् प्रयत्नशील श्रीब्रह्माजी ने जब श्रीप्रियव्रत की ऐसी प्रवृत्ति देखी तो वे अपने पार्षदो से परिवेष्टित हंस पर आरूढ होकर अपने दिव्य प्रकाश से गन्धमादन की घाटी को प्रकाशित करते हुए श्रीप्रियव्रतजी के पास पहुँचे। संयोग से उस समय प्रियव्रतजी को आत्म विद्या का उपदेश देने के लिए श्रीनारदजी भी आये हुये थे। श्रीब्रह्माजी को आया हुआ देखकर वे स्वायम्भुवमनु और प्रियव्रत के सहित तुरन्त उठ खड़े हुये। सवने उनको हाथ जोड़कर प्रणाम किया। श्रीनारदजी ने उनकी विधि पूर्वक पूजा और स्तुति की। तदुपरान्त श्रीब्रह्माजी ने प्रियव्रत की ओर मन्दमुसकान युक्त दया दृष्टि से देखते हुये इस प्रकार कहा—वेटा ! देखो, हम, महादेव जी, तुम्हारे पिता स्वायम्भुव मनु और तुम्हारे गुरु श्रीनारदजी—ये सभी विवश होकर भगवान की आज्ञा का पालन करते हैं, उनकी इच्छानुसार चलते है। यथा—

'विधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। मायाजीव करम कुलि काला॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥
करि विचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥'
'राम रजाइ मेटि मन माहीं। देखा सुना कतहुं कोउ नाहीं॥'
'राम रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय विषहु अमी के॥' आदि।

यद्यपि तुमने श्रीकमलनाभ भगवान के श्रीचरण कमल कोशरूपी किले का आश्रय लेकर सब प्रकार की भोग वासनाओं को जीत लिया है तो भी पहले उन पुराण पुरुष के दिये हुये भोगों को भोगो, इसके बाद निःसङ्ग होकर अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाना ॥

श्रीप्रियव्रतजी ने 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर वड़े आदर पूर्वक उनका आदेश शिरोधार्य किया। श्रीमनुजी समस्त भूमण्डलका शासन भार इन्हें सौंप कर स्वयं भजनमें परायण हो गये। तदनन्तर श्रीप्रियव्रतजी ने प्रजापति विश्वकर्मा की पुत्री वर्हिष्मती से विवाह किया। उससे दश पुत्र और एक कन्या हुई। महामना प्रियव्रतजी सर्वथा अनासक्त होकर भोगों को भोगते हुए आदि पुरुष भगवान के चरण युगल का निरन्तर ध्यान करते रहते थे।

एक वार जव इन्होने यह देखा कि भगवान सूर्य सुमेरु की परिक्रमा करते हुए लोकालोक पर्यन्त पृथ्वी के जितने भाग को आलोकित करते हैं, उसमें से आधा ही प्रकाश में रहता है और आधे में अन्धकार छाया रहता है। तो उनको यह वात पसन्द नहीं आई। तव उन्होंने यह सङ्कल्प लेकर कि 'मैं रात को भी दिन वना दूंगा' सूर्य के समान ही वेगवान एक ज्योतिर्मय रथ पर चढ़कर द्वितीय सूर्य की ही भांति उनके पीछे-पीछे पृथ्वी की सात परिक्रमाएं कर डाली। भगवान की उपासना से इनका अलौकिक प्रभाव वहुत वढ़ गया था। उस समय इनके रथ के पहियो से जो लीकें वनी, वे ही सात समुद्र हुए। उनसे पृथ्वी में सात द्वीप हो गये। इस प्रकार राजा प्रियव्रत ने ग्यारह अर्बुद वर्षो तक पृथ्वी का शासन किया। पश्चात् श्रीहरि की कृपा से विवेक के जागृत होने पर उन्होंने यह सारी पृथ्वी यथायोग्य अपने अनुगत पुत्रों में वांट दी और स्वयं हृदय में वैराग्य धारण कर भगवान की लीलाओं का चिन्तन करते हुए श्रीनारदजी के वताये हुए मार्ग का पुन. अनुसरण करने लगे। महाराज प्रियव्रत के सम्वन्ध मे निम्नलिखित लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम्। यो नेमिनिम्नैरकरोच्छायांघ्नन् सप्तवारिधीन्॥ (भा०)

अर्थ—राजा प्रियव्रत ने जो कर्म किये हैं, उन्हें सर्वशक्तिमान ईश्वर के सिवा और कौन कर सकता है? उन्होंने रात्रि के अन्धकार को मिटाने का प्रयत्न करते हुए अपने रथ के पहियो से वनी हुई लीकों से ही सात समुद्र वना दिया।

श्रीपृथुजी का चरित्र छप्पय पांच में आ चुका है। श्रीपरीक्षितजी की चर्चा आगे छप्पय १४ में की जायगी।

श्रीशेषजी—ये साक्षात् भगवान् नारायण के स्वरूप है। भगवान के चतुर्व्यूह में ये संकर्षण व्यूह हैं तथा अपने शेष स्वरूप से भगवान आदिपुरुष नारायण के पर्यङ्क रूप में क्षीरसागर में विराजमान रहते है। अपने एक हजार मुख दो हजार जिह्वाओं से निरन्तर भगवान का गुणानुवाद करते रहते हैं। विशेष वात तो यह है कि ये नित्य भगवान के नये नामो का उच्चारण करते रहते हैं। श्रीनामामृतास्वादन में आपको इतना सुख मिलता है कि आपकी श्रीनाम-पीयूष-पान के लिये लार टपकती रहती है, परन्तु कहीं नाम-जप में व्यवधान न पड़ जाय अतः ये लार को भी नहीं सँभालते हैं, परिणामतः वहाँ इनकी लारों का अमृतमय कुण्ड वन गया है। व्रह्मानन्द में सदा लवलीन रहने वाले श्रीसनकादिकजी भी आपके यहां भगवद्गुणानुवाद श्रवण करने के लिये जाते हैं। यथा—'निःशेषशेषमुखगीतकथैकपानाः' (भा०मा०)

ये भगवान के नित्य-परिकरों में से है। भगवान की सेवा ही इनकी परम साधना है। भगवत्सेवा-सुखास्वादनार्थ ये विविध रूपों से विविध सेवाये करते हैं। यथा—

निवास शय्यासन पादुकांशुकोपधानवर्षातपवारणादिभिः।
शरीर भेदैस्तव शेषतां गतैर्यथोचितं शेष इतीर्यते जनैः॥' (आलवन्दार स्तोत्र)

अर्थ—जो समयानुसार आपके दास होने वाले तथा निवास, शय्या, आसन, पादुका, अंशुक (वस्त्र) उपधान (तकिया) छत्र आदि अनेक प्रकार के शरीरों को धारण करके सेवा में तत्पर रहने वाले है, तथा जिनका लोग 'शेष' ऐसा नाम कहते है। ये जीवों को भगवान के शरण में पहुँचाने वाले है अतः सभी देवता, असुर, नाग, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, मुनि-मनुष्य भगवान अनन्त (शेष) का ध्यान करते हैं, स्तुति एवं गुण-गान करते हैं। इलावृत वर्ष में तो भगवान शेष ही प्रधान देव है और भगवान शिव इनके पुजारी है। (विशेष देखिये छ० २५)

लीला-विनोद में ये प्रजापति कश्यप की पत्नी कद्रू के असंख्य पुत्रों में सवसे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है। उच्चैःश्रवा घोड़े की पूँछ काली है वा सफेद, इस विषय को लेकर भये कद्रू-विनता विवाद में, अपनी वात को सत्य करने के लिये छल का आश्रय लेकर कद्रू ने अपने पुत्रों को उच्चैःश्रवा घोड़े की पूँछ मे लिपटकर उसे काली सिद्ध करने के लिये आज्ञा करी, परन्तु एक हजार पुत्रों ने अस्वीकार कर दिया तो कद्रू ने उन्हें जनमेजय के नाग यज्ञ में भस्म हो जाने का शाप दे दिया। उन नागों में श्रीशेषनागजी भी थे। माता के इस व्यवहार से क्षुभित होकर महायशस्वी भगवान शेषजी कद्रू का साथ छोड़कर कठोर तपस्या में लग गये। वे केवल वायु पीकर रहते और संयमपूर्वक व्रत का पालन करते। विभिन्न-विभिन्न पुण्य तीर्थों में जा-जाकर इन्होने विविध तप किया।

इनके तपसे सन्तुष्ट होकर वरदाता श्रीब्रह्माजी ने इनके समीप आकर वर मांगने को कहा तो शेषजी ने यह वर मांगा कि मेरी वुद्धि सदा धर्म, मनो निग्रह एवं तपस्या में लगी रहे। श्रीब्रह्माजी ने कहा—नागोत्तम! तुम शेष हो, धर्म ही तुम्हारे आराध्य देव हैं। तुमने इन्द्रिय संयम और मनोनिग्रह पूर्वक धर्म रूप परमात्मा की आराधना किया है इससे मैं वहुत प्रसन्न हूं। मैं आशीर्वाद देता हूं—'तुम्हें सदा भगवानकी स्मृति वनी रहे।' अव तुम मेरी आज्ञासे प्रजाके हितके लिये पर्वत,वन, सागर,ग्राम,विहार और नगरों सहित इस समूची पृथ्वी को भली भांति धारण करके इस प्रकार स्थित हो जाओ, जिससे यह पूर्णतः अचल वनी रहे। सर्वसमर्थ भगवान शेष ने 'वहुत अच्छा' कहकर ब्रह्माजी की आज्ञा शिरोधार्य कर, पृथ्वी के विवर में प्रवेश करके समुद्र से घिरी हुई इस वसुधा देवी को उन्होंने सव ओर से पकड़ कर सिर पर धारण किया। तभी से यह पृथ्वी स्थिर हो गयी। श्रीशेषजी की अचिन्त्य शक्तिका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि यह सम्पूर्ण व्रह्माण्ड उनके एक सिर पर रज-कण की भांति स्थित है। यथा—व्रह्माण्ड भुवन विराज जाके एक सिर जिमि रज कनी॥ (रा० च० मा०)

जिस प्रकार भू-भार हरणार्थ भगवान के विविध अवतार होते है वैसे ही श्रीशेषजी के भी अवतार होते हैं। यथा—'सेस सहस्र सीस जग कारन। सो अवतरेउ भूमि भय टारन॥' 'जो सहस सीस अहीस महिधर लखन सचराचर धनी। सुर काज धरि नर राजतनु चले दलन खल निसिचर अनी॥

(रा०च०मा०) त्रेतामें श्रीरामके साथ श्रीलक्ष्मण रूपमें, द्वापरमें श्रीकृष्णके साथ वलराम रूपमें और कलियुगमे श्रीरामानुजाचार्य के रूप में अवतार लेकर आपने प्राणियों का कल्याण किया।

श्रीसूतजी—आत्म-परिचय देते हुए श्रीसूतजी स्वयं कहते है—

> अहो वयं जन्मभृतोऽद्य ह्यास्म वृद्धानुवृत्यापि विलोमजाताः।
> दौष्कुल्यमाधि विधुनोति शीघ्रं महत्तमानामभिधानयोगः ॥ (भा०)

अर्थ—अहो ! विलोम जाति में उत्पन्न होने पर भी महात्माओं की सेवा करने के कारण आज हमारा जन्म सफल हो गया। क्योंकि महापुरुषों के साथ वात-चीत करने मात्र से ही नीच कुल में उत्पन्न होने की मनोव्यथा शीघ्र ही मिट जाती है। उच्चवर्ण की माता और निम्न वर्ण के पिता से उत्पन्न सन्तान को विलोमज कहते हैं। सूत जाति की उत्पत्ति इसी प्रकार ब्राह्मणी माता और क्षत्रिय पिता से हुई है। यथा—ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतः (अमर कोश) श्रीसूतजी ने अपने को इसी परम्परामें स्वीकार किया है। आपका वास्तविक नाम रोमहर्षण है। सूत तो जातिवाचक सज्ञा है।

भगवान वेद व्यासजी की कृपा से आपको इतिहास पुराणादिका सम्यक् वोध है। आपके अमित विवेकके सम्वन्धमें श्रीशौनकजी कहते है—

> अज्ञानध्वान्तविध्वंस कोटिसूर्यसमप्रभ। सूताख्याहि कथासारं मम कर्ण रसायनम् ॥ (भा०)

अर्थ—हे सूतजी ! आपका ज्ञान अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेके लिये करोड़ों सूर्यो के समान है। आप हमारे कानों के लिए रसायन—अमृत स्वरूप सारगर्भित कथा कहिये ॥ पुनश्च—

> त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ। आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राणि यान्युत॥
> यानि वेद विदां श्रेष्ठो भगवान् वादरायणः। अन्ये च मुनयः सूत परावरविदो विदुः ॥
> वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्वतस्तदनुग्रहात्। ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥

अर्थ—सूतजी ! आप निष्पाप है। आपने समस्त इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्रों का विधिपूर्वक अध्ययन किया है तथा उनकी भली-भांति व्याख्या भी की है। वेद-वेत्ताओ में श्रेष्ठ भगवान वेद व्यास ने एव भगवानके निर्गुण-सगुण स्वरूप को जानने वाले दूसरे मुनियो ने जो कुछ जाना है—उन्हे जिन विषयों का ज्ञान है वह सब आप वास्तविक रूप से जानते हैं। आपका हृदय वड़ा ही सरल और शुद्ध है, इसी से आप उनकी कृपा और अनुग्रह के पात्र हुए है। गुरुजन अपने प्रेमीशिष्य को गुप्त से गुप्त वात भी वता दिया करते हैं।

समस्त पुराण पढ़ाने के वाद श्रीव्यासजी ने आपको पुराण-वक्ता होने का आशीर्वाद दिया। यही कारण है कि इनका सम्पूर्ण जीवन ऋषियों-मुनियों के आश्रमों में भगवद्-गुण-लीला-कीर्तन में ही वीता। इनका सवसे वड़ा कथा-सत्र नैमिषारण्य में हुआ। एक वार भगवान विष्णु एवं देवताओं के परम पुण्यमय क्षेत्र नैमिषारण्य मे श्रीशौनकादि अट्ठासी हजार ऋषियों ने भगवत्प्राप्ति की इच्छा से एक हजार वर्ष में पूरे होने वाले एक महान् यज्ञका अनुष्ठान किया। सयोग से एक दिन ऋषियों-मुनियों के आश्रमों में

जा-जाकर दर्शन करते-विचरते हुए श्रीसूतजी भी नैमिप क्षेत्रमें जा पहुँचे तो इनका दर्शनकर ऋषियों ने अपना बड़ा सौभाग्य माना। यथा—'त्वं नः संदर्शितो धात्रा।' सभी ने सूतजी का पूजन किया और उन्हें आसन पर बैठाकर बड़े आदरपूर्वक भगवानकी लीला-कथा एवं प्राणियोंके कल्याणके सम्बन्धमे जिज्ञासा की। तब सूतजी उनके प्रश्नों का अभिनन्दन करते हुए बड़े विस्तार से पुराण-रहस्य वर्णन किये। इन्होने एक-एक करके सभी पुराणों की कथा ऋषियों को सुनाई।

कौरवों और पांडवों के बीच युद्ध का निश्चय जानकर श्रीबलरामजी दोनों ही पक्षों से तटस्थ होकर तीर्थयात्रा के व्याज से द्वारका से चले गये। वे सभी तीर्थों का परिभ्रमण करते हुए नैमिषारण्य पहुंचे, जहाँ श्रीशौनकादि ऋषि उन दिनों सत्सङ्ग रूप महान् सत्र कर रहे थे। श्रीबलरामजी को आया हुआ देखकर ऋषियोंने अपने-अपने आसनोंसे उठकर उनका स्वागत सत्कार किया और यथायोग्य प्रणामाशीर्वाद के उपरान्त उनकी पूजा की। व्यास-गद्दीकी मर्यादा को ध्यान में रखकर श्रीसूतजी अपने आसन पर बैठे ही रहे। श्रीबलरामजी को यह बात खटक गई कि रोमहर्षणजो सूत जातिमें उत्पन्न होकर भी ब्राह्मणों से ऊँचे आसन पर बैठे हैं। यहाँ तक कि मेरे आने पर भी न तो उठकर स्वागत ही किये और न हाथ जोड़कर प्रणाम ही। बस, श्रीबलरामजी को क्रोध आ गया और उन्होंने अपने हाथ में स्थित कुश की नोकसे उन पर प्रहार किया और वे तुरन्त मर गये। यह देखकर सब ऋषि-मुनि हाय-हाय करने लगे। सबके चित्त खिन्न हो गये। उन्होने श्रीबलरामजी से कहा—प्रभो! आपने यह बहुत बड़ा अधर्म किया॥ यदुवंश शिरोमणे! सूतजी को हमी लोगों ने ब्राह्मणोचित आसन पर बैठाया था और जब तक हमारा यह सत्र समाप्त न हो तब तक के लिये उन्हें शारीरिक कष्ट से रहित आयु भी देदी थी। आपने अनजान में यह ऐसा काम कर दिया जो ब्रह्महत्या के समान है। हम लोग यह मानते हैं कि आप योगेश्वर है, वेद भी आपके ऊपर शासन नहीं कर सकता है। फिर भी आपसे यह प्रार्थना है कि आपका अवतार लोगों को पवित्र करने के लिये हुआ है, यदि किसी की प्रेरणा के बिना स्वयं अपनी इच्छा से ही ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त कर लेंगे तो इससे लोगों को बडी शिक्षा मिलेगी। श्रीबलराम जी ने ऋषियों का अनुरोध स्वीकार किया और कहा—ऋषियों! वेदों का ऐसा कहना है कि आत्मा ही पुत्रके रूपमे उत्पन्न होता है। इसलिए रोमहर्षण के स्थान पर उनका पुत्र आप लोगों को पुराणों की कथा सुनायेगा। उसे मैं अपनी शक्ति से दीर्घायु, इन्द्रियशक्ति और बल दिए देता हूं। तब से रोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा पुराणों के वक्ता हुए। ये भी सूत नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

श्रीशौनकजी—श्रीसूतजी जैसे पुराणोंके प्रधान प्रवक्ता हैं वैसे ही श्रीशौनकजी पुराणोंके प्रधान श्रोता हैं। इन्होने एक-एक करके सभी पुराणों एवं पुराण के गूढ रहस्यों को श्रीसूतजी से श्रवण किया है। ये अट्ठासी हजार ऋषियों के समुदाय में प्रमुख ऋषि थे शुनक ऋषिके पुत्र होने से शौनक एव भृगुवंशी होने से भार्गव कहे जाते थे। ये ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, तपोवृद्ध थे, कुलपति एवं ऋग्वेदी थे। वर्णन आया है कि जब ये नैमिपारण्यमें एक हजार वर्षके लिए ब्रह्म-सत्रकी दीक्षा लेकर बैठ गए तो संग के ऋषि लोग घबड़ाये कि इतने दिन तक एक जगह रहने से कैसे भोजन-वस्त्र की व्यवस्था हो सकेगी? तब उन्होंने जो कुछ कहा है उससे इनका अपार प्रभु-विश्वास द्योतित होता है। यथा—

भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः। योऽसौ विश्वम्भरोदेव स भक्तान् किमुपेक्षते॥

अर्थ—भोजन और वस्त्र के लिये वैष्णवजन व्यर्थ ही चिन्ता करते है। भला जो विश्वम्भर हैं

वह अपने भक्तों की क्या उपेक्षा करेगा ? अर्थात् नहीं। इनके दृढ़ निश्चय और अटल विश्वास को देखकर भगवान ने सन्त के रूप में आकर इन्हें एक चिन्तामणि प्रदान की, फिर तो परमानन्द हो गया। न चूल्हा चेताना न चक्की, जो इच्छा करते वही सामग्री तत्काल प्राप्त हो जाती। आपके विचार से समय वही सार्थक है जिसमें भगवान का नाम-गुण श्रवण-कीर्तन किया जाता है। यथा—

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तम श्लोक वार्तया॥
तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्राम पशवोऽपरे॥
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥ (भा०)

अर्थ—जिसका समय भगवान् श्रीकृष्ण के गुणों के गान अथवा श्रवण में व्यतीत हो रहा है, उसके अतिरिक्त सभी मनुष्यों की आयु व्यर्थ जा रही है। ये भगवान सूर्य प्रतिदिन अपने उदय और अस्त से उनकी आयु छीनते जा रहे हैं॥ क्या वृक्ष नहीं जीते हैं ? क्या लोहार की धौंकनी सांस नहीं लेती ? गाँव के अन्य पालतू पशु क्या मनुष्य-पशु की ही तरह खाते पीते या मैथुन नहीं करते ? जिसके कान में भगवान श्रीकृष्ण की लीला कथा कभी नही पड़ी, वह नरपशु, कुत्ते ग्राम सूकर ऊँट और गधे से से भी गया बीता है। अतः 'धन्यघरी सोइ जब सतसंगा।'

मन, वाणी, शरीर और इन्द्रियों की सार्थकता-निरर्थकता के बारे में आपके विचार निम्न-लिखित हैं। यथा—

बिले बतोरुक्रम विक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगाय गाथाः॥
भारः परं पट्टकिरीट जुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चन कङ्कणौवा॥
बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुम जन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥
जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रि रेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णु पद्या मनुजस्तुलस्या श्वसञ्छवोयस्तु न वेद गंधम्॥
तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणै र्हरिनाम धेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥ (भा०)

अर्थ—जो मनुष्य श्रीकृष्ण की कथा कभी नहीं सुनता, उसके कान बिल के समान है। जो जीभ भगवान की लीलाओं का गायन नहीं करती, वह मेढक के जीभ के समान टर्र-टर्र करने वाली है। उसका तो न रहना ही अच्छा है॥ जो सिर भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में कभी नहीं झुकता, वह रेशमी वस्त्र से सुसज्जित और मुकुट से युक्त होने पर भी बोझ मात्र ही है। जो हाथ भगवान की सेवा-पूजा नहीं करते

वे सोने के कङ्कण से भूषित होने पर भी मुर्दे के हाथ है। जो आखे भगवान को याद दिलाने वाली मूर्ति, तीर्थ, नदी आदि का दर्शन नहीं करती, वे मोरों की पांख में वने हुये आंखों के चिह्न के समान निरर्थक हैं। मनुष्यों के वे पैर चलने की शक्ति रखने पर भी न चलने वाले पेड़ों जैसे ही है, जो भगवानकी लीला-स्थलियों की यात्रा नहीं करते ॥ जिस मनुष्य ने भगवत्प्रेमी सन्तों के चरणों की धूल कभी सिर पर नही रखी वह जीता हुआ भी मुर्दा है। जिस मनुष्य ने भगवान के चरणों पर चढ़ी हुई तुलसी की सुगन्ध लेकर उसकी सराहना नहीं की वह श्वास लेता हुआ भी श्वास रहित शव है। सूतजी ! वह हृदय नही लोहा है जो भगवान के मङ्गलमय नामों का श्रवण कीर्तन करने पर भी पिघलकर उन्ही की ओर बह नही जाता है। जिस समय हृदय पिघल जाता है उस समय नेत्रो में आंसू छलकने लगते है और शरीर का रोम-रोम खिल उठता है। श्रीव्यासजी ने इन्हें कथामृतरसास्वादकुशल कहा है। यथा—'कथामृतरसास्वादकुशलः शौनकोऽब्रवीत्' ॥

श्री प्रचेता गण

श्रीपृथुजी के वंश में राजा प्राचीनवर्हि की शतद्रुति नाम की पत्नी से प्रचेता नाम के दश पुत्र हुये। वे सबके सव वड़े धर्मज्ञ तथा एक से नाम रूप और आचरण वाले थे। जब पिता ने उन्हें सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया तव उन सवने सुन्दर सुयोग्य सन्तान की कामना से तपस्या करने के लिये पश्चिम की ओर प्रस्थान किया। चलते-चलते उन्होने समुद्र के समान एक विशाल सरोवर देखा। वहां मृदङ्ग, पणव, आदि वाजो के साथ गायनकी मधुर ध्वनि सुनकर उन राजकुमारों को वड़ा आश्चर्य हुआ। इतने में ही उन्होंने देखा कि देवाधिदेव भगवान शङ्कर अपने अनुचरों के सहित उस सरोवर से वाहर आ रहे है। उनका सहसा दर्शन पाकर प्रचेताओं को वड़ा कुतूहल हुआ और उन्होने श्रीशिवजी के चरणों में प्रणाम किया। तव शरणागत भयहारी धर्मवत्सलभगवान शङ्करने अपने दर्शनसे प्रसन्न हुये उन धर्मज्ञ और शील सम्पन्न राजकुमारों से प्रसन्न होकर कहा—

अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा।
न मद्भागवतानां च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥ (भा०)

अर्थ—तुम लोग भगवद्भक्त होने के नाते मुझे भगवान के समान ही प्यारे हो। इसी प्रकार भगवान के भक्तों को भी मुझसे वढ़कर और कोई कभी प्रिय नहीं होता। तुम लोग जो कुछ करना चाहते हो वह मुझे मालूम है। इस समय तुम लोगों पर कृपा करने के लिये ही मैंने तुम्हें इस प्रकार दर्शन दिया अव मैं तुम्हे एक वड़ा ही पवित्र, मङ्गलमय और कल्याणकारी स्तोत्र सुनाता हूँ इसका तुम लोग शुद्ध भाव से जप करना। तपस्या पूर्ण होने पर इसी से तुम्हे अभीष्ट फल प्राप्त हो जायगा। यह कह कर महादेव शिव ने प्रचेताओं को उस स्तोत्रका उपदेश दिया, जिसे रुद्रगीत कहते है। प्रचेताओं ने वड़े भक्ति भाव से श्रीशङ्कर की पूजा किया। इसके पश्चात् वे उन राजकुमारोके सामने ही अन्तर्धान हो गये। सवके सव प्रचेता समुद्रके जलमें खड़े रहकर भगवान रुद्रके वताये हुये स्तोत्र का जप करते हुये दस हजार वर्ष तक तपस्या करते रहे। तपस्या और जप यज्ञके द्वारा उन्होने श्रीहरि को सन्तुष्ट कर लिया।

पुराणपुरुष भगवान श्रीनारायण अपनी मनोहर कान्ति द्वारा उनके तपस्या जनित क्लेशको शान्त करते हुये कोटि-कोटि कन्दर्पदर्प-दलन-पटीयान् विग्रह से उनके सामने प्रकट हुये और अपने शरणा-

गत प्रचेताओं की ओर दया दृष्टि से निहारते हुये मेघ के समान गम्भीर वाणी में कहा—राजपुत्रो ! तुम लोगों के पारस्परिक स्नेह, सौहार्द, भ्रातृत्व और धर्म पालनसे मैं वड़ा प्रसन्न हूँ। जो लोग तुम्हारा स्मरण करेंगे, उनका भाइयो में ऐसा ही निश्छल प्रेम होगा तथा समस्त जीवोके प्रति मित्रता का भाव हो जायगा। तुम लोगों ने सहर्ष पिता की आज्ञा का पालन किया है इससे तुम्हारी कमनीय कीर्ति समस्तलोक मे फैल जायगी। तुम्हारे एक ब्रह्माजी के समान यशस्वी पुत्र होगा। कण्डु ऋषि के तपोनाश के लिये इन्द्र की भेजी हुई प्रम्लोचा अप्सरा के एक कमलनयनी कन्या उत्पन्न हुई थी। उसे छोड़कर वह स्वर्गलोक चली गई। तव वृक्षों ने उसे पाला पोसा। उसके भूख लगने पर औषधियो के राजा चन्द्रमा ने दया वश उसके मुँहमें अपनी अमृतवर्षिणी तर्जनी अँगुली दे दी थी। तुम लोग शीघ्र ही उस देवोपम सुन्दरी कन्या से विवाह करलो। तुम सव एक ही धर्म में तत्पर हो और तुम्हारा स्वभाव भी एक सा ही है, इसलिये तुम्हारे ही समान धर्म और स्वभाव वाली वह सुन्दरी कन्या तुम सभी की पत्नी होगी तथा तुम सभी में उसका समान अनुराग होगा। तुम लोग मेरी कृपासे दस लाख दिव्य वर्षो तक पूर्ण वलवान रहकर अनेकों प्रकार के पार्थिव और दिव्य भोगों को भोगोगे। अन्त में मेरी अविचल भक्ति से हृदयका समस्त वासना रूपमल दग्ध हो जाने पर, तुम इस लोक और परलोक के नरक तुल्य भोगों से उपरत होकर मेरे परमधामको जाओगे।

प्रचेताओं ने भगवान की स्तुति की और यह वर मागा कि—जव तक आपकी माया से मोहित होकर हम अपने कर्मानुसार ससार में भ्रमते रहें तब तक जन्म-जन्म में हमें आपके प्रेमी भक्तो का सङ्ग प्राप्त होता रहे। भगवन् ! आप के प्रिय सखा भगवान शङ्कर के क्षण भर के समागम से ही आज हमें आपका साक्षात् दर्शन प्राप्त हुआ है, हम लोग आप की शरण हैं। शरणागतवत्सल भगवान ने 'तथास्तु' कह कर उनके मनोरथ को पूर्ण किया और यद्यपि भगवान की मधुर मूर्ति के दर्शन से अभी प्रचेताओ के नेत्र तृप्त नही हुये थे, इसलिये वे उन्हे जाने देना नही चाहते थे परन्तु तो भी प्रभु अपने परमधाम को चले गये। पश्चात् प्रचेताओं ने श्रीब्रह्माजी के आदेश से उस मारिषा नामकी कन्या से विवाह कर लिया। इसी के गर्भ से प्रजापति दक्षने श्रीशिवजीकी अवज्ञाके कारण अपना पूर्व शरीर त्यागकर जन्म लिया और पुनः प्रथम प्रजापति फिर प्रजापति नायक के पद पर प्रतिष्ठित हो गये। दस लाख वर्ष बीत जाने पर जव प्रचेताओं को विवेक हुआ तव उन्हे भगवान के वाक्यों की याद आई और वे अपनी भार्या मारिषा को पुत्र के पास छोड़कर तुरन्त घर से निकल पड़े और वे पश्चिम दिशा मे समुद्र के तट पर पहुँच कर श्रीनारदजी के द्वारा पुनः तत्व ज्ञान प्राप्त कर भगवान के चरण कमलों का ही चिन्तन करने लगे और अन्त में भगवद्धाम को प्राप्त हुये।

श्री शतरूपाजी

महामानव श्री मनुपत्नी शतरूपाजी मनुके समान धर्मशीला थीं। यथा—

स्वायम्भुव मनु अरु शतरूपा। जिन्हते भइ नर सृष्टि अनूपा।
दम्पति धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका॥

श्रीमनुजी के साथ ही आपने भी समस्त राज्य-सुख भोग-परित्याग-पूर्वक नैमिषारण्यमें दुष्कर तप किया था। यथा—'ठाढ़े रहे एक पग दोऊ॥' दोनों को भगवान का दर्शन हुआ। यथा—'चितवहिं

सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सत रूपा ॥' भगवान श्रीरामजी ने मनुजी से वर मांगनेको कहा– 'सकुच विहाइ मांगु नृप मोही। मोरे नहिं अदेय कछु तोहीं ॥ तो श्रीसतरूपाजी से भी कहे—'सतरूपहिं विलोकि कर जोरे। देवि मांगु वर जो रुचि तोरे ॥' जो वरदान श्रीमनुजी ने मांगा वही वरदान श्रीसतरूपाजी ने भी मांगा, साथ ही कुछ और भी मांग लिया। यथा—

चौ०—जो वर नाथ चतुर नृप मांगा। सोइ कृपालु मोहिं अति प्रिय लागा ॥
प्रभु परन्तु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगत हित तुमहिं सोहाई ॥
तुम ब्रह्मादि जनक जगस्वामी। ब्रह्म सकल उर अन्तर्यामी ॥
अस समुझत मन संशय होई। कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई ॥
जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ॥

दो०— सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति, सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ विवेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु ॥

चौ०—सुनि मृदु गूढ़ रुचिर वर रचना। कृपासिंधु बोले मृदु वचना ॥
जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं ॥
मातु विवेक अलौकिक तोरे। कबहुं न मिटिहिं अनुग्रह मोरे ॥

श्रीरामावतार के समय इन्हीं को श्रीरामजननी कौशल्या होने का सौभाग्य मिला था। श्रीसतरूपा रूपमें अभीप्सित वरो की पूर्ति कौशिल्या रूपमें ही हुई। यथा—

निज भक्तों का सुख—

दो०— मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानइ परानन्द सन्दोह ॥

श्रीकौशल्याजी को उसकी प्राप्ति—

पावा परम तत्त्व जनुजोगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी ॥
जनम रङ्क जनु पारस पावा। अंधहिं लोचन लाभ सुहावा ॥
मूक वदन जनु शारद छाई। मानहु समर सूर जय पाई ॥
एहि सुखते सत कोटि गुन पावहि मातु अनन्द ॥

सोइगति—प्रभु आगवन श्रवण सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा ॥ (सुतीक्षणजी)

कौशल्या—निगमनेति सिव अन्त न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा ॥

सोइ भगति—

अविरल भगति विशुद्ध तव, श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत योगीश मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव ॥

कौशल्या—व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुण विगत विनोद,।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद ॥

सोइ निज चरन सनेह—

रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू।
कौशल्या—तन पुलकित मुखवचन न आवा। नयन मूँदि चरननि सिरनावा॥

सोइ विवेक—जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि विकार॥
अस विवेक जब देइ विधाता।

कौशल्या—कह दुइकर जोरी अस्तुति तोरी केहि विधि करउँ अनन्ता।
माया गुन ग्यानातीत अमाना वेद पुरान भनन्ता॥
बार बार कौशल्या विनय करइ कर जोरि।
अब जनि कबहूं व्यापै प्रभु मोहि माया तोरि॥

सोइ रहनि-मन क्रम वचन रामपद सेवक। सपनेहुं आन भरोस न देवक॥

कौशल्या—सम्पूर्ण जीवन ही निज भक्तों की रहनी का आदर्श है।

यथा— कौशल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरि पद कमल विनीत॥

त्रय सुता—श्रीमनु और शतरूपाजीकी तीन कन्यायें-आकूति, प्रसूति, देवहूति। श्रीआकूति जी—देखिये छप्पय ५ यज्ञावतार की कथा।

श्रीप्रसूतिजी—श्रीमनुजी ने अपनी प्रसूति नामकी कन्या का विवाह श्रीब्रह्माजी के पुत्र दक्ष प्रजापति से किया था। जिनको विशाल वंश परम्परा सम्पूर्ण त्रिलोकी में फैली हुई है। जिनके यहाँ आदि शक्ति भगवती सती पुत्रीके रूप में प्रादुर्भूत हुई थीं। विशेष देखिये छप्पय १२ दक्षजी का प्रसङ्ग।

श्रीदेवहूतिजी—देखिये छप्पय १६ श्रीकर्दमजी का प्रसङ्ग।

श्रीसुनीतिजी—देखिये श्रीध्रुवजी का प्रसङ्ग छप्पय ६॥

श्रीसतीजी—यह प्रजापति दक्षकी कन्या थीं और श्रीशिवजी से व्याही गई थीं। इनकी गणना श्रेष्ठ पतिव्रताओं में की जाती है। ये सब प्रकार से अपने पतिदेवकी सेवा में संलग्न रहने वाली थी। श्रीशिवजी भी इनको बहुत प्यार करते थे। परन्तु भगवान श्रीराम की ललित नर-लीला (श्रीसीता जी के वियोग में विरह-विलाप) देखकर इनको मोह हो गया, श्रीशिवजी के बहुत समझाने पर भी दूर नही हुआ, तब इन्होंने भगवान रामकी परीक्षा ली। परीक्षा में भूल यह हुई कि इन्होने श्रीजानकीजी का वेष धर लिया था, जब कि श्रीजानकीजी में शिवजीका मातृ-भाव है अतः श्रीशिवजी ने अब सतीजी में पत्नी-भाव रखने से भक्ति निष्ठा में हानि विचार कर सती शरीर से पत्नीभाव का विचार त्याग कर दिया। (विशेष देखिये छप्पय ६ श्रीशिवजीका का प्रसङ्ग) श्रीशिवजी का रुख देखकर ही सतीजी उनके हार्दिक भावोको समझ जाती हैं जिससे उनको बड़ा ही पश्चात्ताप होता है। यथा—

संकरु रुख अवलोकि भवानी। प्रभु मोहि तजेउ हृदयँ अकुलानी॥
निज अघ समुझि न कछु कहिजाई। तपइ अवाँ इव उर अधिकाई॥

श्रीशिवजी कैलास पर आकर अखण्ड समाधि लगा लेते हैं। सतीजी के दुःख का पारावार नहीं है। अन्त में वह दुःख निवृत्ति के लिये भगवान राम की शरण लेती हैं। यथा—

कहि न जाइ कछु हृदय गलानी। मनमहँ रामहि सुमिरि सयानी ॥
जौं प्रभु दीन दयालु कहावा। आरति हरन वेद जस गावा ॥
तौ मै विनय करउँ कर जोरी। छूटउ वेगि देह यह मोरी ॥
जौं मोरे सिव चरन सनेहू। मनक्रम वचन सत्य व्रत एहू ॥
तौ सबदरसी सुनिय प्रभु, करउ सो वेगि उपाइ।
होइ मरन जेहि विनहि श्रम दुसह विपत्ति विहाइ ॥

आखिर प्रभु ने उपाय कर ही दिया। पिता दक्ष ने प्रजापति-नायकत्व के अभिमान में श्रीशिवजी को यज्ञ-भाग से वंचित करके अपमानित करने के उद्देश्य से वृहस्पति-सव नामक महायज्ञ का समारम्भ किया। शिवजी को छोड़कर समस्त देवताओं को निमन्त्रण दिये परन्तु दक्षके हीन उद्देश्य को जान कर ब्रह्मा और विष्णु भी यज्ञ में नही गये। अन्य देवता विमानारूढ़ हो-होकर यज्ञ में भाग लेने के लिये प्रस्थान किये। आकाश मार्ग से जाती हुई विमानावलियों को देखकर जब सती ने समाधि से जगे हुये शिवजी से पूछा तो यह जानकर कुछ हर्ष अवश्य हुआ कि इसी व्याज से यज्ञमें जाकर हृदय का दु.ख भार कुछ कम कर आवेंगी। अतः इन्होंने यज्ञ में जाने के लिये श्रीशिवजी की अनुमति चाही परन्तु श्रीशिव ने स्थिति को स्पष्ट करते हुये सतीजी को वहां जाने की अनुमति नहीं दी। यथा—

कहेहु नीक मोरेहु मनभावा। यह अनुचित नहिं नेवत पठावा ॥
दच्छ सकल निज सुता बोलाई। हमरे वयर तुम्हउ विसराई ॥
ब्रह्म सभा हम सन दुख माना। तेहि ते अजहुं करहि अपमाना ॥
जौ विनु बोले जाहु भवानो। रहइ न सील सनेह न कानी ॥
जदपि मित्र प्रभु पितु गुरु गेहा। जाइय विनु बोलेहु न सँदेहा ॥
तदपि विरोध मान जहँ कोई। तहां गये कल्यान न होई ॥

सतीजी जाने पर तुली हुई थी अतः श्रीशिवजी ने अपने गणों के साथ इन्हें आदर पूर्वक विदा कर दिया। परन्तु वहां जाने पर सती जी को अनुभव हुआ कि वस्तुतस्तु श्री शिवजी ने जो कहा था वह ठीक ही कहा था। दक्षने सती का कोई सम्मान नही किया। दक्ष के भय से अन्य का साहस नही हुआ। वहनों के मिलन-वार्ता में व्यङ्ग का पुट था। हां—'सादर भलेहि मिली एक माता।' परन्तु इतने से सती को सन्तोष कहां ? अतः वह जाकर यज्ञशाला का निरीक्षण कीं तो मालूम हुआ कि सब देवताओं का यहां तक कि न जाने पर भी ब्रह्मा और विष्णु का भो यज्ञ-भाग है परन्तु—'कतहुं न दीख संभुकर भागा।' सती आई थी दुःख कम करने, हुआ उल्टा—यथा—'पाछिल दुख न हृदय अस व्यापा। जस यह भयउ महा परितापा ॥' श्रीसतीजी ने सबको सम्बोधित कर चेतावनी दिया—

सुनहु सभासद सकल मुनिन्दा। कही सुनी जिन सङ्कर निन्दा ॥
सो फल तुरत लहब सब काहू। भली भांति पछिताव पिताहू ॥
संत संभु श्रीपति अपवादा। सुनिअ जहां तहँ असि मरजादा ॥
काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि-नत चलिअ पराई ॥

जगदातमा महेस पुरारी। जगत जनक सबके हितकारी॥
पिता मन्द मति निन्दत तेही। दच्छसुक्र सम्भव यह वेही॥
तजिहौं तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चन्द्रमौलि वृष केतू॥
अस कहि जोग अगिनि तन जरा। भयउ सकल मख हा हा कारा॥

श्रीशिवजी के गणो ने यज्ञ विध्वंश कर दिया। (विशेष देखिये दक्ष प्रसङ्ग) कालान्तर में यही सतीजी पार्वतीजी के रूप मे हिमाचल की पुत्री बन कर प्रकट हुई यथा—सती मरत हरिसन बर मांगा। जनम जनम सिव पद अनुरागा॥ तेहि कारण हिम गिरि गृह जाई। जनमी पारबती तनु पाई॥ और तप करके पुनः श्रीशिवजी को प्राप्त किया॥

श्री मदालसाजी—यह गन्धर्वराज विश्वावसुकी कन्या थी अपने अलौकिक रूप लावण्य, सद्‌गुण-सम्पत्ति, शील स्वभावसे स्वर्ग की देवियोंकी भी गौरव-गरिमा को सकुचित करती थी। एक दिन यह मदालसा अपने पिताके उद्यानमें घूम रही थी, उसी समय पाताल केतु नामक एक दुरात्मा दैत्य अपनी आसुरी माया फैलाकर, इन्हे मोह मे डाल कर अपहृत कर पाताल में ले गया। मदालसा की एक सखी, जिसका नाम कुण्डला था, जो विन्ध्यवान गन्धर्वकी कन्या एवं पुष्करमाली की पत्नी थी। शुम्भ दैत्य ने उसके पति को मार डाला, तब से वह जगत से विरक्त होकर उत्तम व्रतों का पालन करती हुई दिव्य गति से भिन्न-भिन्न तीर्थो में विचरती रहती थी। एक बार वह पाताल लोक में पहुंची तो वहां उसने अपनी सखी मदालसा को देखा। फिर तो वह अन्यत्र गमन का विचार छोड़कर अपनी सखी के साथ ही रहने लगी थी। इससे मदालसा को बड़ा सहारा हो गया। एक दिन जब मदालसा ने अपनी सखी से यह सुना कि आगामी त्रयोदशी को राक्षस पाताल केतु तुम्हारे साथ आसुरी विधि से विवाह करेगा तो ये बहुत दुखी हुई और आत्महत्या करने को तैयार हो गई। उसी समय स्वर्ग से आकर कामधेनुने इन्हें आश्वासन दिया कि—बेटी ! वह नीच दानव तुम्हे नही पा सकता है। महाभागे ! मर्त्यलोक मे जाने पर इस दानव को जो अपने वाणो से बेध डालेगा वही महामानव तुम्हारा पति होगा। धैर्य धरो। बहुत शीघ्र ही यह सुयोग आने वाला है। यह कहकर सुरभीदेवी अन्तर्धान हो गई।

उन्ही दिनों पृथ्वी पर शत्रुजित नाम के एक महापराक्रमी राजा राज्य करते थे। उनके ऋतध्वज नामके बड़े ही शील-सौन्दर्य निधान, बुद्धिमान, शूर, वीर एवं महाप्रतापी पुत्र थे जो अपने रूप-गुण से देवताओ को भी विस्मय में डालने वाले थे।

एक बार महाराज शत्रुजित के यहा महर्षि गालव एक दिव्य अश्व लेकर आये, और अपनी व्यथा—कथा सुनाने लगे। ऋषि ने कहा—राजन्! पाताल केतु नामके दानवके अत्याचारसे क्षुभित होकर हम आपके पास आये हैं। यद्यपि हम अपनी सामर्थ्य से उसे भस्म कर सकते है तो भी तपोनाश के भय से ऐसा नही करते। एक दिन की बात है, उस असुर को देखकर मैं अत्यन्त खिन्न हो लम्बी सासें ले रहा था इतने में ही यह घोड़ा आकाश से नीचे उतरा और उसी समय यह आकाश वाणी भी हुई कि—'मुने ! यह अश्व बिना थके समस्त भूमण्डल की परिक्रमा कर सकता है, इसलिये संसार में इसका कुवलय नाम प्रसिद्ध होगा। इसे सूर्य देवने कृपा करके दिया है। जो नीच दानव रात दिन तुम्हे क्लेश में डाले रहता है, उसका भी, इसी अश्व पर आरूढ होकर राजा शत्रुजित के पुत्र ऋतध्वज वध करेंगे। इस अश्वरत्न को पाकर राजकुमार भी कुवलयाश्व् नाम से प्रसिद्ध होंगे। गालव मुनिके यों कहने पर धर्मात्माराजा ने मङ्गलाचारपूर्वक राजकुमार ऋतध्वज को उस अश्व पर चढ़ाया और मुनि के साथ भेज दिया।

वीर कुवलयाश्व गालव मुनिके आश्रम में निवास कर रहे थे। ऋषि लोग सन्ध्योपासन में लगे हुए थे तब तक वह दुष्ट दैत्य सूकर का रूप धरकर आश्रम में आकर उत्पात करने लगा। राजकुमार ने अश्वपर आरूढ़ होकर, धनुष-वाण लेकर उसका पीछा किया। हजारों योजन दूर जानेपर वाणोंसे घायल वह सूकर रूपधारी असुर प्राण वचानेके लिये एक अन्धकारमय भू-विवरमें प्रवेश कर गया। राजकुमार ने भी घोड़े सहित उसमें प्रवेश किया। अन्धकार पार करने पर राजकुमारको वह दैत्य तो नहीं दिखाई पड़ा, पाताल लोककी अद्‌भुत शोभाका दर्शन हुआ। घूमते-घूमते उन्होंने एक स्त्रीको देखा यह वही मदालसा की सखी कुण्डला थी। उसका परिचय पाने के लिये पीछे-पीछे चलते हुए राजकुमार ने महल में प्रवेश कर दिव्य देवाङ्गना तुल्य मदालसा को देखा। निश्चय ही उस रूप-लावण्य ने इनके मन को चुरा लिया, तव भी पुरुष होने के नाते अपने को सँभालकर समीप जाकर परिचय प्राप्त करने के लिये ज्यों ही कुछ कहने का उपक्रम किया–देवी मदालसा इनकी लोकोत्तर सौन्दर्य राशिको देखकर सहसा मूर्च्छित हो गयी। तव राजकुमार ने उनकी सखी से परिचय एवं मूर्च्छा का कारण पूछा। सखी कुण्डला ने परिचय दिया और मूर्च्छा का कारण निवेदन करते हुए उसने कहा कि—महाराज ! सुरभी के कथनानुसार तो यह पत्नी उस वीर पुरुष की होगी जो पातालकेतुको घायल कर देगा, परन्तु यह मोहित हो गयीं आपके रूप सौन्दर्य पर, अतः इस दुविधा में ये मूर्च्छित हो गयी। अव आप अपना परिचय दीजिये।

परिचय में कुण्डलाको यह सुनकर वड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरी सखी जिसे देखकर मुग्ध है वही महा-पराक्रमी पुरुष पातालकेतु का वध करने वाला भी है। इससे मदालसा की दुविधा दूर हो गयी। कुण्डला ने मदालसा की ओर लक्ष्य करके राजकुमार से कहा—जैसे अति कमनीया कान्ति चन्द्रमा को ही प्राप्त होती है, प्रचण्ड प्रभा सूर्य में ही मिलती है, वैसे ही दैवी विभूति धन्य पुरुष को ही प्राप्त होती है। भला गोमाता सुरभी का वचन मिथ्या कैसे हो सकता है। मेरी यह सखी वडी भाग्यशालिनी है। आप को पाकर यह धन्य हो गयी।। इसके वाद कुण्डला ने विवाह की सामग्री एकत्रित करके अपने कुल गुरु तुम्वुरु को स्मरण किया। वे समिधा और कुशा लिये तत्काल वहां आ पहुँचे। और देवविधि से विवाह कार्य सम्पन्न किये। कुण्डला अपनी सखी से विदा होकर तपस्या करने के लिए दिव्यगति से अपने अभीष्ट स्थान को चली गई। राजकुमार कुवलयाश्व मदालसाजी को घोड़े पर विठाकर चलने को उद्यत ही हुए थे कि पातालवासी दैत्यों ने अपनी विशाल सेनाको लेकर इन्हें घेर लिया और अस्त्र-शस्त्र की वर्षा करने लगे। परन्तु राजकुमार के पराक्रम के सामने वे अधिक समय तक टिक न सके। राजकुमार सकुशल रमणीरत्न मदालसा को साथ लिए पिता के चरणों में प्रणाम किए। पिताने अपने आशीर्वाद एवं स्नेह सिंचन से कुमार को आप्लावित कर दिया। अव राजकुमार पिताकी आज्ञा से नित-प्रति अश्वारूढ होकर साधु-व्राह्मणों, दीन दुखियों की रक्षा के लिये पृथ्वी पर विचरते रहते।

एक दिनकी वात है—ये घूमते-घूमते यमुना तटपर गए। वहाँ पातालकेतु का छोटा भाई ताल केतु आश्रम वनाकर रहता था। उसके मनमे अपने वड़े भाई पातालकेतु के मारे जानेका वड़ा क्षोभ था और उसका वदला लेने के लिए वह अवसर की प्रतीक्षा में था। संयोग से आज राजकुमार उसके आश्रम पर चले गये। उस कपटी-मुनिने राजकुमारको अपना कपट-पूर्ण साधु-स्वांग दिखाकर प्रभावित कर लिया और अपना अभीष्ट सुनाया—राजन् ! मैं धर्मके लिए यज्ञ करूँगा परन्तु मेरे पास दक्षिणा नहीं है। अतः वीर ! तुम सुवर्ण के लिये मुझे अपने गलेका यह आभूषण देदो और मेरे इस आश्रम की रक्षा करो। तब तक मैं जलके भीतर प्रवेश करके वरुण देवताकी पूजा-स्तुति करके अभी लौटता हूँ। राजकुमार अपना

स्वर्ण-हार उसे देकर आश्रमकी रक्षा करने लगे। वह महामायावी दैत्य जलमे डुबकी लगाकर राजकुमार के नगर में चला गया और मदालसा तथा अन्य लोगोके समक्ष पहुंचकर इस प्रकार बोला—वीर कुवलयाश्व दैत्योसे युद्ध करते-करते वीरगति को प्राप्त हो गये. मरते समय उन्होने अपने गलेका यह आभूषण मुझे दिया है। इसके बाद जो कुछ कर्तव्य हो वह आप लोग करे। इस दुःखद समाचारको सुनकर नगर मे कुहराम मच गया पतिपरायणा मदालसा ने तो तत्काल शरीर ही छोड़ दिया। महाराज शत्रुजित ने धैर्य धारण कर लोगों को सान्त्वना दी। मदालसा का दाह-संस्कार किया गया। इसी बीच उस मुनि रूपधारी दुरात्मा दैत्य ने आश्रम में पहुँचकर राजकुमार से अपनी अभीष्ट सिद्धि का शुभ समाचार सुनाकर उन्हें घर जानेकी आज्ञा दिया। घर आकर राजकुमार ने माता-पिताको प्रणाम किया तथा सभी को अन्यमनस्क देखकर इस उदासीनताका कारणपूछा। पुत्रवत्सल पिताने समस्त वृत्तान्त वर्णन किया। अपनी मनोरमा भार्या मदालसाकी मृत्युका समाचार सुनकर राजकुमार स्तब्ध होगये। मन ही मन विचार करने लगे कि—'मेरे पत्नी प्रेमको धिक्कार है जो मेरी प्रेयसीने तो मेरी मृत्यु की बात सुनकर तत्काल प्राण त्याग कर दिये और मैं जीवित हूँ। परन्तु मैं प्राण त्याग कर दू अथवा उसके वियोग मे 'हा प्रिये' 'हा प्रिये' कहकर क्रन्दन करू तो इससे उस प्राण-वल्लभा का उपकार ही क्या होगा।' अतः अब तो मुझे धैर्यपूर्वक जीवन धारण करते हुए माता-पिता की सेवा करना ही परम अभीष्ट प्रतीत होता है। यह निश्चय कर राजकुमार ऋतध्वज ने सबके सामने यह प्रतिज्ञा किया कि—यदि इस जन्ममें मेरी सुन्दरी पत्नी मदालसा मुझे फिर न मिली तो दूसरी कोई स्त्री मेरी जीवन-सङ्गिनी नही बन सकती है।

राजकुमार ऋतध्वज के शील-सौन्दर्य से आकृष्ट होकर नागराज अश्वतर के दो नागकुमारों ने इनसे मैत्री करली थी। राजकुमार के प्रेमवश वे दोनों नागकुमार प्रतिदिन बडी प्रसन्नतापूर्वक राजकुमार के साथ रहते हुए भाँति-भाँति के विनोद, हास्य और वार्तालाप आदि करते रहते थे। दिन भर राजकुमार के साथ रहते, रात्रि में नागलोक में चले जाते। जब नागराज अश्वतर को इनकी मैत्री का पता चला तो वे बड़े प्रसन्न होकर बोले—पुत्रो! जिस मित्रके सग रहकर तुम लोग परम सुखानुभव करते हो, उनका कोई मनोरथ सिद्ध करके क्या तुम लोगों ने भी उनके चित्तको प्रसन्न किया है? नागकुमारो ने कहा—पिताजी वे महाराज कुमार सब प्रकार से सिद्धार्थ हैं। उन्हे कोई भी वस्तु देकर प्रत्युपकृत नही किया जा सकता है और उन्हे जिसकी आकांक्षा है वह ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव आदि सर्वसमर्थ परमेश्वरो के सिवा हम लोगो के लिये सर्वथा असम्भव है। नागराज ने कहा—पुत्रो! किसी कार्य को असम्भव मानकर उद्योग छोडना उचित नहीं। ऋषियों का कथन है कि—'तपसे अगम न कछु संसारा।' अतः तुम सब राजकुमार के अभीष्ट को अभिव्यक्त करो, हम उसे तप से सम्भव करने का प्रयत्न करेंगे। नागपुत्रो ने राजकुमार की प्रतिज्ञा सुनाते हुए मदालसा की पुनः प्राप्ति को अभीप्सित बताया। नागराज अश्वतर ने हिमालय पर जाकर तपके द्वारा सरस्वतीको सन्तुष्ट कर स्वर-सिद्धि का वरदान प्राप्त किया, पुनः अपनी स्वर-साधना से शिवजी को सन्तुष्ट करने के लिये कैलास पर गये। वहाँ उन्होंने भगवान आशुतोष को रिझाकर मदालसा को अपनी कन्या रूपमें प्रकट होने का वर मांगा। शिवजी ने 'तथास्तु' कहकर नागराज के मध्यम फणसे मदालसा की उत्पत्ति बतायी।

नागराज पूर्ण मनोरथ हो श्रीशिवजी के चरणों में प्रणाम कर अपने स्थान पर आ गये। समय पर सचमुच मदालसा पूर्ववत् ही रूप-शील-सद्गुण से समलंकृत मङ्गलमय वपु धारण कर नागराज के मध्यम फण से प्रादुर्भूत हुई। नागराज ने यह रहस्य किसी को नही बताया। मदालसा को महल के

भीतर गुप्त रूपसे स्त्रियों के संरक्षण में रख दिया। इसके वाद पिताके कहने पर वे दोनों नागपुत्र एक दिन अनुरोध करके राजकुमार ऋतध्वज को अपने पिता के पास नागलोक में ले गये। राजकुमार ने नागराज अश्वतर को मित्र के पिता होने के नाते अपने पिता के ही समान मानकर चरणस्पर्श पूर्वक प्रणाम किया। नागराज ने प्रेम पूर्वक छाती से लगाकर वड़ा ही प्यार किया और फिर क्रमशः स्नानादि सव कार्य करके नागराज ने अपने पुत्रों तथा राजकुमार के साथ प्रसन्नता पूर्वक भोजन किया। तत्पश्चात् राजकुमार का प्रिय करने के लिये नागराज ने घर में छिपायी हुई मदालसा को सम्मुख लाकर उपस्थित किया और इनके पुनः प्राकट्य की कथा कह सुनायी। फिर तो राजकुमार ने अपनी प्यारी पत्नी को ग्रहण किया। तदनन्तर उनके स्मरण करते ही उनका प्यारा अश्व वहाँ आ पहुँचा। तव वे नागराज को प्रणाम करके मदालसा के साथ अश्व पर आरूढ़ होकर नगर को चल दिये।

राजकुमार को पुनः मदालसा सहित देखकर माता-पिता एवं पुरवासी वहुत ही प्रसन्न हुये। इस उपलक्ष्य में वहुत वड़ा उत्सव मनाया गया। महाराज शत्रु जित के परलोक वासी होने पर पुरवासियों ने उनके महात्मापुत्र ऋतध्वजको,जिनके आचरण तथा व्यवहार वड़े उदार थे,राजपद पर अभिषिक्त किया। श्रीमदालसाजी महाराज की पट्टरानी हुई। महाराज ऋतध्वज एवं महारानी मदालसाजी दोनो अपनी प्रजा का औरस पुत्रो की भांति पालन करने लगे। श्रीमदालसाजी का सन्तो में वड़ा सद्भाव था। महल में साधु ब्राह्मणो की भीड़ लगी रहती थी। सन्त सेवा और सत्संग के प्रभाव से मदालसाजो को जगत की असारता, और दुःख रूपताका सम्यक् वोध हो गया था। अतः इनकी इनमें किंचित् आसक्ति नही रह गई थी। इनका सिद्धान्त था—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
मुमुक्षां प्रतितत्कार्यं सैव तस्यापि भेषजम्॥ (मार्कं० पु०)

अर्थ—सङ्ग (आसक्ति) का सव प्रकार से त्याग करना चाहिये। किन्तु यदि उसका त्याग न किया जासके तो सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये। क्योंकि सत्पुरुषों का संग ही उसकी औषधि है। कामनाओं को सर्वथा छोड़ देना चाहिये, परन्तु यदि वह छोड़ी न जा सके तो मुमुक्षा (मुक्ति की इच्छा) के प्रति कामना करनी चाहिये। क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामना को मिटाने की दवा है॥ (विशेष—देखिये कवित्त ९३ श्रीअलर्कजी का प्रसङ्ग)

श्रीयज्ञ पत्नियाँ—एक दिन वलराम सहित श्रीकृष्ण ग्वाल वालोंको साथ लेकर श्रीमधुवन में गये। वहां पहुँचकर सव वालक वड़ी स्वतन्त्रता से अपनी गौएं चराते हुये विचरने-विहरने लगे। खेलते-खेलते वह थक गये, उन्हें भूख प्यास सताने लगी। तव सव गोप शिशु श्रीकृष्ण के पास आये और वोले—नयनाभिराम वलराम! भैया कन्हैया! तुमने वड़े-वड़े दुष्टों का संहार किया है। उन्ही दुष्टों के समान यह भूख भी हमें सता रही है। अतः तुम दोनो इसे भी वुझानेका उपाय करो। श्रीकृष्णने मथुराकी परम भागवती ब्राह्मण पत्नियोंपर अनुग्रह करने के लिये,जिन्होंने चिरकालसे भगवान श्यामसुन्दर के अचिन्त्य सौन्दर्य-माधुर्य एवं उनकी परम मनोहर लीलाओंको सुन-सुनकर अपना हृदय समर्पित कर दिया था,

जो सदा सर्वदा इस बात के लिये उत्सुक रहतीं कि किसी प्रकार श्रीकृष्ण के दर्शन हो जायें, उनके चिर-संचित मनोरथ को पूर्ण करने के लिये यह बात कही—मेरे प्यारे मित्रों ! यहां से थोड़ी दूर पर वेद वादी ब्राह्मण स्वर्ग की कामना से आङ्गिरस नामका यज्ञ कर रहे हैं, तुम लोग उनकी यज्ञ शाला में जाओ और वहां जाकर श्रीबलरामजी का और मेरा नाम लेकर कुछ भोजन की सामग्री मांग लाओ।

तब ग्वाल बाल उन ब्राह्मणों की यज्ञशाला में जाकर, दण्डवत्-प्रणाम कर, हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता से बोले—विप्रवरो ! हम व्रज के ग्वाले भगवान श्रीकृष्ण और बलराम की आज्ञा से आपके पास क्षुधा निवृत्ति निमित्त कुछ भात की याचना करते हैं, यदि आप लोगों की श्रद्धा हो तो कुछ भोजन दे दीजिये। परन्तु उन ब्राह्मणो ने इनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया। 'हाँ या ना' कुछ भी नहीं कहा। इसलिये कि वे स्वर्ग-कामी, कर्मजाल में उलझे हुये भगवान के भगवत्स्वरूप को एक दम भूले हुये थे। निराश ग्वाल बालों ने आकर श्रीकृष्ण से जब यह बात कही तो वे उन्हे धैर्य बँधाते हुये हँसकर बोले—मेरे प्यारे ग्वाल बालो ! इस बार तुम लोग उनकी पत्नियों के पास जाओ और उनसे कहो कि राम और श्याम यहां आये हैं। अब तुम जितना चाहोगे उतना भोजन वे तुम्हे देंगी। वे मुझसे बड़ा प्रेम करती हैं। उनका मन सदा सर्वदा मुझमें लगा रहता है। (भगवान के हँसने में मधुर व्यङ्ग्य यह है कि ब्राह्मण भांग के नातेदाऊजी को अधिक मानते हैं, श्रीठाकुरजी हँसे कि देखलिया दाऊजी के भक्तों को, अब हमारे भक्तो का भाव देखो।) अब ग्वाल बालों ने ब्राह्मण पत्नियो को भी प्रणाम कर अपने आने के उद्देश्यको व्यक्त किया तो वे श्रीकृष्ण के आने की बात सुनते ही उतावली हो गयीं; उनका हृदय हर्ष से खिल उठा, नेत्रों मे आनन्द के आसू छलक आये, वे स्वर्ण और रजत(चांदी) पात्रों में भक्ष्य, भोज्य लेह्य, चोष्य—चारो प्रकार को भोजन सामग्री लेकर, भाई-बन्धु, पति-पुत्रों के रोकते रहने पर भी अपने प्रियतम भगवान श्रीकृष्ण से मिलने के लिये घर से निकल पड़ी, ठीक वैसे ही, जैसे नदियाँ समुद्र के लिये।

ब्राह्मण पत्नियों ने जाकर देखा कि यमुना तट पर नये-नये कोपलों से शोभायमान अशोक वनमें ग्वाल-बालों से घिरे हुये बलरामजी के साथ श्रीकृष्ण इधर-उधर घूम रहे हैं। उनके सांवले शरीर पर सुनहला पीताम्बर झिलमिला रहा है, गले में वनमाला लटक रही हैं। उनके मस्तक पर मोर पङ्ख का मुकुट है। अङ्ग-अङ्ग में रंगीन धातुओं से चित्रकारी कर रखी है। नये-नये कोपलों के गुच्छे शरीर मे लगाकर नट का सा वेष बना रखा है। एक हाथ अपने सखा ग्वाल-बाल के कन्धे पर रक्खे हुए हैं और दूसरे हाथ से कमल का फूल नचा रहे हैं, कानों में कमल के कुण्डल हैं, कपोलों पर घुंघुराली अलकावली लटक रही हैं और मुखकमल मन्द-मन्द मुसकान की रेखा से प्रफुल्लित हो रहा है। यथा—

> श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह धातु प्रवालनटवेषमनुव्रतांसे।
> विन्यस्त हस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोल मुखाब्ज हासम् ॥(भा०)

जिन ब्राह्मण पत्नियों ने अब तक अपने प्रियतम श्यामसुन्दर के गुण और लीलायें अपने कानों से सुन-सुनकर अपने मनको उन्हीं के प्रेमरंगमें रंग डाला था, उसी में सराबोर कर दिया था, अब नेत्रोंके मार्ग से उन्हें हृदय कुञ्ज में ले जाकर बहुत देर तक वे मनही मन आलिङ्गन करती रहीं और इस प्रकार उन्होने अपने हृदय की जलन शान्त की।

मन्द-मन्द मुसकाते हुये मदन मोहन श्रीकृष्ण ने उनके प्रेम का अभिनन्दन किया। उनके उमड़ते हुये अनुराग की भूरि-भूरि सराहना करते हुये इसप्रकार बोले—देवियो ! अब तुम लोग मेरा दर्शन कर

चुकीं, अब अपनी यज्ञशाला में लौट जाओ, तुम्हारे पति ब्राह्मण गृहस्थ हैं, वे तुम्हारे साथ मिलकर ही अपना यज्ञ पूर्ण कर सकेंगे। ब्राह्मण पत्नियों ने कहा—प्यारे! श्रुतियां कहती हैं कि जो एक बार भगवान को प्राप्त हो जाता है उसे फिर संसार में नहीं लौटना पड़ता, अब हम आपके चरणों में आपड़ी हैं हमें अब और किसी का सहारा नहीं है। हम अपने स्वजन सम्बन्धियों की आज्ञा का उल्लङ्घन कर आपके पास आईं अतः अब वे हमें स्वीकार भी नहीं करेंगे। केशव! अब तो आप ऐसी कृपा करो कि हमें आपके श्रीचरण कमलों की सेवा प्राप्त हो, हम प्रतिक्षण आपके मुखारविन्द का दर्शन करती रहें।

करुणानिधान प्रभुने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार करली। फिर वे बालकोंकी मण्डलीमें बैठगये। तदनन्तर ब्राह्मण-पत्नियोंने उन्हें सुधाकेसमान मधुर-भोजन प्रदानकिया। भगवानने उस अन्नको लेकर गोप-बालकों को भोजन कराया और स्वयं भी भोजन किया। इसी समय आकाश से एक दिव्य अनुपम विमान उतरा। मणि-रत्न जटित वह स्वर्ण का बना हुआ विमान बड़ा ही मनोहर था। उस पर श्रीकृष्णके समान स्वरूप और शृङ्गार धारण किये हुए पार्षद विराजमान थे। वे पार्षद विमान से उतर कर, श्रीहरि के चरणों में प्रणाम करके ब्राह्मण-पत्नियों से बोले—'आप लोग इस विमान पर चढ़कर गोलोक चलें।' वे यज्ञ पत्नियां श्रीहरिको नमस्कार करके मनोवाञ्छित गोलोक में जा पहुँची। वे मानव देह का परित्याग करके तत्काल दिव्य गोपीरूप हो गयीं। तत्पश्चात श्रीहरि ने वैष्णवी माया के द्वारा उनकी छाया निर्माण करके ब्राह्मणोके घर भेज दिया। (ब्रह्मवैवर्त पुराण)

इन अनुरागवती देवियों का दर्शन कर ब्राह्मणों का विवेक जागृत हुआ तो इन्हें बहुत ही पश्चात्ताप हुआ कि हम भगवान को पहचान नहीं सके तब वे पछता-पछता कर अपनी निन्दा करते हुए कहने लगे कि—

धिग्जन्मनस्त्रिवृद् विद्यां धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम्।
धिक्कुलं धिक्क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥ (भा०)

अर्थ—हाय हम भगवान श्रीकृष्ण से विमुख हैं अतः हमारे ऊँचे कुल में जन्म] गायत्री दीक्षा, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, विद्या, व्रत, बहुज्ञता, कर्मकाण्डकी निपुणता को धिक्कार है। श्रीसूरदासजी ने भी इन ब्राह्मणों के आत्म-धिक्कार का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। यथा—

हम सबहि मन्द भाग भगवानसों विमुखभये धन्य वे नारि गोविन्द पूजे।
मूँदि रहे नैन हम सबै उलूक ज्यों भानु भगवान आये न सूझे॥
सङ्ग गोधन लगे खेल रस रङ्ग में भोर के निकसि भूखे आये।
देहु तो भात कर जोरि ग्वालन कह्यो, अहो भूदेव तुम पे पठाये।
केवल करुना रटनि, प्रात भोजन करनि निगमहू अगम महिमा बतावै।
कहाँ प्रभुको यचनि हमारे मदकी मचनि, देवकी रचनि कछु कहिन जावै॥
शौच, आचारु, गुरुकुलहिं सेवा कछू कुटिल करकस हिये बुद्धि दीनी।
देखो इन तियन को भाग या जगत में सच्चिदानन्द के रङ्गभीनी॥
उमँगि पहिले चलीं पार संसार के सांवरो कुँवर हिय मांझ पोयो।
धरि रहे कूर सुर लोक आसा अलप पाय अमी आश अमृत निचोयो॥

तियाकौतुक मिलीं, कछुक जानी चली कमलिनी हियो मन ना मिलावै।
शेष त्रिपुरारि ब्रह्मादि सनकादि शुक चरन की रेनु सिर पर चढ़ावैं ॥
जदपि नारायण अवतार यदुकुल विषे सुन्यौं बहुभांति तौ मनन आये।
देखो या दैव की माया अति मोहिनी दई दृग धूरि हम सब भुलाये ॥
धिक जन्मजाति कुलक्रिया स्वाहा स्वधा जोग जज्ञ जप सकल धिक हमारे।
ज्ञान विज्ञान धर्म कछु कर्म नाहीं ईश पद विमुख आरम्भ सारे ॥
गृह आगार संसार दुःख सम्भवै मिथुन मृग निर्मयो मन मिलावै।
सूरकी सोर हरि विमुख जगमें बड़े बुझि गयो दीप जब बड़ कहावै ॥

पुनः इन ब्राह्मणों ने अपनी पत्नियों की बड़ी सराहना की। यथा—

अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ। दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्यु पाशान् गृहाभिधान् ॥
नासां द्विजाति संस्कारो न निवासो गुरावपि। न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ॥ (भा०)

अर्थ—कितने आश्चर्य की बात है! देखो तो सही,—यद्यपि ये स्त्रियां हैं तथापि जगद्गुरु भगवान श्रीकृष्णमें इनका कितना अगाव प्रेम है, अखण्ड अनुराग है। उसीसे इन्होंने गृहस्थीकी वह बहुत बड़ी फांसी भी काट डाली, जो मृत्यु के साथ भी नही कटती ॥ इनके न तो द्विजातिके योग्य संस्कार हुए हैं और न तो इन्होने गुरुकुल में ही निवास किया है, न इन्होने तपस्या की हैं और न तो आत्मा के सम्बन्धमें ही कुछ विवेक विचार किया है। कहां तक कहा जाय, इनमें न तो पूरी पवित्रता है और न तो शुभ कर्म ही। पुनः ब्राह्मणों ने ऐसी भागवती पत्नियों से सम्बन्ध होनेसे अपने भाग्यको सराहा—'अहो हमारे धन्य भाग्य हैं, हम सब धन्यातिधन्य हैं, तभी तो हमें ऐसी पत्नियां प्राप्त हुई हैं। इनकी भक्ति से हमारी भी बुद्धि भगवान श्रीकृष्ण के अविचल प्रेम से युक्त हो गयी।

उन स्त्रियो में से एक को आने के समय ही उसके पति ने बलपूर्वक रोक लिया था। इस पर उस ब्राह्मण पत्नी ने भगवान के वैसे ही स्वरूपका ध्यान किया, जैसा कि बहुत दिनों से सुन रक्खा था। जब उसका ध्यान स्थायित्व को प्राप्त हो गया तब मन ही मन भगवान का आलिंगन करके उसने कर्म के द्वारा बने हुए अपने पाञ्चभौतिक शरीर को छोड़ दिया—शुद्ध सत्वमय दिव्य भाव शरीर से उसने भगवानकी सन्निधि प्राप्त करली। यथा—तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथा श्रुतम्। हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ॥ (भा०) इस प्रसङ्ग का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन श्रीसूरदासजी ने किया हैं। यथा—

देखन दे वृन्दावन चन्दहिं।
हा हा कन्त मानि विनती यह कुल अभिमान छांड़ि मतिमन्दहिं ॥
कहिं क्यों भूलि धरत जिय औरे जानत नाहिं पावन नन्दनन्दहिं।
दरशन पाइ आइहौं अबही करन सकल तेरे दुख द्वन्द्वहिं ॥
शठ समझैं यह समुझत नाहीं खोलत नाहिं कपट के फन्दहिं।
देह छोड़ि प्राणनि भइ प्रापति सूर सुप्रभु आनँद निधि कन्दहिं ॥

रति बाढ़ी गोपाल सों।
हा हा हरि लौं जान देहु पिय पद परसत हौं भाल सों ॥

सङ्ग की सखी स्याम सन मुख भई मैं ही परी पशुपाल सों।
परवस देह नेह अन्तर्गत क्यौं मिलौं नयन विशाल सों॥
शठ हठ करि तू हीं पछितैहैं इहै भेंट तोहिं वाल सों।
सूरदास गोपी तनु तजिकै तनमय भइ नन्दलाल सों॥२॥

प्रिय जनि रोकहिं अव जान दै।
हौं हरि विरह जरे जांचति हौं इतनी वात मोहिं दान दै॥
वैन सुनौं विहरत वन देखौं इह सुख हृदय सिरान दै।
पुनि जो रुचै सोइ तूं कीजै सांच कहति हौं आन दै॥
जो कछु कपट किये याचति हौं सुनहिं कथा हित कान दै।
मन क्रम वचन सूर अपनो प्रण राखौंगी तन मन प्राण दै॥३॥

व्रजनारि—प्रेम स्वरूपा व्रजगोपियाँ—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ॥
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठचो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तायानाः॥(भा०)

अर्थ—मथुरापुरी की ललनायें व्रजदेवियों के सौभाग्य की सराहना करते हुये कहती हैं कि—सखी! व्रज की गोपियां धन्य हैं। निरन्तर श्रीकृष्ण में ही चित्त लगा रहने के कारण प्रेम भरे हृदय से, आंसुओं के कारण गद्गद कण्ठ से वे इन्हीं की लीलाओं का गान करती रहती हैं। वे दूध दुहते,दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, वालकों को झूला झुलाते, रोते हुये वालकों को चुप कराते, उन्हें नहलाते, धुलाते, घरों को झाड़ते-वुहारते—कहां तक कहें सारे काम काज करते समय श्रीकृष्ण के गुणों के गान में ही निमग्न रहती हैं॥ गोपियों के प्रेम की प्रथम किरण का दर्शन होता है सूतिका गृह में व्रजेन्द्र-गेहिनी यशोदा की गोद में नील सरोरुह, नीलमणि, नील नीरधर श्याम नयनाभिराम श्रीकृष्णको देखकर यथा—

अहो शिरसि धारये नयनयोर्मुहुः स्पर्शये हृदि प्रचुरमर्पये हृदयमध्यमावेशये।
इदं विविध भावनं भृशमतीत्य वीचिक्षिषा वलाद्वरदृशां दृशां विषयतामनैषीदमुम्॥
(गोपालचम्पू)

अर्थ—अ हा हा! मैं तो लाल को शिरपर धारण करूंगी, दूसरी वोली—मैं तो वारम्वार नेत्रों का ही स्पर्श करूंगी। तीसरी वोली—मैं तो अपने हृदय पर दृढ़ता पूर्वक धारण करूंगी। चौथी वोली—वहिन! मैं तो हृदय के वीच में स्थापित ही कर लूंगी। पुनः इनकी प्रवल दर्शनेच्छा ने सभी भावों का अतिक्रमण कर इन व्रज-ललनाओं को इस वालक को देखने में लगा दिया अर्थात् ये अपलक नेत्रों से दर्शन करने लग गईं। श्रीकृष्ण की कल्याण-कामनासे गोपियोने भूरि-भूरि आशीर्वाद दिया।(यह तत्सुख सुखित्व का श्रीगणेश है) प्रथम दर्शन में ही उनके मन और दृष्टि, उनके नहीं रह गये। वे अहर्निश श्रीकृष्णमें मन लगाये उनका मङ्गल विधान करती रहतीं। जिस समय वाल कृष्णने पूतना का संहार किया—गोपियों ने प्रेम वश भगवान के विविधनामों द्वारा श्रीकृष्ण के अङ्गों की सव प्रकार से रक्षा की। यथा—इति प्रणय वद्धाभिः गोपीभिः कृतरक्षणम्॥(भा०)

श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के इस सहजानुराग का परिणाम यह हुआ कि—'जाको माया वश विरंचिशिव नाचत पार न पायो। करतल ताल वजाइ ग्वाल युवतिन सोइ नाच नचायो (वि०) भगवान को इस भक्तवश्यता का वड़ा ही सरस वर्णन श्रीसूरदासजी ने किया है यथा—

देत करताल वे लाल गोपाल सों पकरि ब्रजवाल कपि ज्यौं नचावैं।
कोउकहैं ललन पकराव मोहि पांवरी कोउ कहै लाल वलि लाओ पीढ़ी ॥
कोउ कहै ललन गहाव मोहि सोहनी कोउ कहै लाल चढ़ि जाउ सीढ़ी ॥
कोउ कहै ललन देखो मोर कैसे नचैं कोउ कहै भ्रमर कैसे गुन्जारैं।
कोउ कहैं पौरि लगि दौर आवौ लाल रीझि मोतिन के हार वारैं ॥
जो कछु कहैं व्रज वधू सोइ सोइ करत तोतरे बैन वोलनि सुहावैं।
रोय परत वस्तु जब भारी न उठै तबै चूम मुख जननी उरसौं लगावैं ॥
देन कहि लौनी पुनि चाहि रहत बदन हँसि स्वभुज बीच लै लै कलोलैं।
धाम के काम ब्रजबाम सब भूलि रहीं कान्ह बलराम के संग डोलैं ॥
सूर गिरिधरन मधु चरित मधु पान कै और अमृत कछू आन लागैं।
और सुख रंक की कौन इच्छा करै मुक्तिहू लोन सी खारी लागै ॥

बालकृष्ण एक दिन मैया से माखन के लिये मचल रहे थे। एक व्रज गोपी सुन रही थी। उस समय उसके हृदय में कैसी भाव-तरगे उठती हैं? सूर के शब्दों में इसका आस्वादन कीजिये—

मैया री मोहिं माखन भावै।
मधु मेवा पकवान मिठाई मोहिं नहीं रुचि आवै ॥
व्रज युवती इक पाछे ठाढ़ी सुनति श्याम की बात।
मन मन कहति कबहुँ अपने घर देखौं माखन खात ॥
बैठे जाइ मथनियां के ढिग तब मै रहौं छिपानी।
सूरदास प्रभु अन्तर्यामी ग्वालिनि मन की जानी ॥१॥

फिर क्या था—'गये श्याम तेहि ग्वालिनि के घर।' उसका जनम-जनमका चिर सञ्चित मनोरथ पूर्ण हुआ। उसने श्यामसुन्दर को माखन खाते तथा निज प्रतिबिम्बसे बतराते देखा। उसके प्रेमानन्द का पारावार नही। यथा—

फूली फिरति ग्वालि मन में री।
पूछति सखीं परस्पर बातैं पायो पर्यौ कछुक हैं तैंरी ॥
पुलकित रोम रोम गद् गद मुख वाणी कहत न आवै।
ऐसो कहा आहि सो सखि री मोकूं क्यों न सुनावै ॥
तनन्यारो जिय एक हमारो हम तुम एकै रूप।
सूरदास कहै ग्वालि सखीसों देख्यों रूप अनूप ॥

समस्त व्रज में यह वात फैल गयी। फिर तो प्रत्येक गोपी इस अद्भुत सुख की अभिलाषा करने लगती है। यथा—

ब्रज घर घर प्रगटी यह बात ।
दधि माखन चोरी करि लै हरि ग्वाल सखा संग खात ॥
ब्रज वनिता यह सुनि मन हर्षी सदन हमारे आवै ।
माखन खात अचानक पावै भुज भरि उरहिं छुपावै ॥
मनहीं मन अभिलाष करति सब हृदय धरति यह ध्यान ।
सूरदास प्रभु को घर में लै देहौं माखन खान ॥

भक्त वांछा कल्पतरु भगवान श्रीकृष्ण ने सबका मनोरथ पूर्ण किया । यथा—

चली ब्रज घर घरनि यह बात ।
नन्द सुत संग सखा लीने चोरि माखन खात ॥
कोउ कहति मेरे भवन भीतर अबहिं पैठे धाइ ।
कोउ कहति मोहिं देखि द्वारे उतहिं गये पराइ ॥
कोउ कहति केहिं भाँति हरि को देखौं अपने धाम ।
हेरि माखन देउँ आछौ खाइ जितनौ श्याम ।
कोउ कहति मै देखि पाऊँ भरि धरौं अँकवारि ।
कोउ कहति मै बाँधि राखौं को सकै निरवारि ॥
सूर प्रभु के मिलन कारन करति विविध विचार ।
जोरि कर विधि कौ मनावति पुरुष नन्द कुमार ॥

श्याम सुन्दर ने दही की मटकी फोड़ दी, माखन वन्दरों को लुटा दिया । यशोदा मैया उन्हें पकड़ने चली, वे दौड़े, पर आखिर पकड़े गये । मैया ने हाथ में छड़ी लेकर उन्हें डाँटना आरम्भ किया, वे डर गये, आँखों से आंसू वह चले । इसी समय कुछ व्रज गोपियाँ आ जाती हैं । उस समय के इनके भाव भरे उद्‌गार सुनिये श्रीतुलसी दास जी के शब्दों में—

हरि को ललित वदन निहारु ।
निपट ही डाँटति निठुर ज्यों लकुट करतें डारु ॥
मंजु अंजन सहित जलकन चुवत लोचन चारु ॥
स्याम सारस मग मनहुँ ससि स्रवत सुधा सिंगारु ॥
सुभगउर दधि बुंद सुन्दर लखि अपनपौ वारु ।
मनहुँ मरकत मृदु शिखर पर लसत विसद तुषारु ॥
कान्हहू पर सतर भौंहें महरि मनहिं विचारु ।
दास तुलसी रहति क्यों रिस निरखि नन्दकुमारु ॥ (कृ० गी०)

व्रजेन्द्र-नन्दन श्याम सुन्दर मदन-मोहन आनन्द-कन्द श्रीकृष्ण चन्द की मंजुल, मंगलमयी परमा शोभा के दर्शन को ही व्रज गोपियाँ जीवन-जन्म की नेत्रों की सफलता मानती हैं । यथा—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः ।
वक्त्रं व्रजेश सुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वानिपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥ (भा०)

अर्थ—(सर्व भूत मनोहर श्रीकृष्ण के वेणुरव को सुनकर विमुग्ध भई व्रज देवियाँ उन वेणु माधुर्य का वर्णन करते-करते तन्मय हो गईं, भावना में वे मन ही मन वहाँ पहुँच गईं जहाँ श्रीकृष्ण थे। स्वमनमोहन श्रीकृष्ण का दर्शन और आलिङ्गनकर वे गोपियाँ आपस में कहती हैं—) अरी सखी! हमने तो आंख वालो के जीवन की, और उनकी आँखों की वस यही—इतनी ही सफलता समझी है, और तो हमे कुछ मालूम ही नही है। वह कौन सा लाभ है? वह यही कि जव श्याम सुन्दर श्रीकृष्ण और गौर सुन्दर वलराम ग्वाल वालो के साथ गायों को हाँककर वन में ले जा रहे हों या लौटाकर व्रज में ला रहे हों, उन्होने अपने अधर पर मुरली धर रक्खी हो और प्रेम भरी चितवन से हमारी ओर देख रहे हों, उस समय हम उनकी मुख-माधुरी का पान करती रहें।

श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी, लीला माधुरी, वेणुमाधुरी एवं प्रेम-माधुरी में परम आसक्त भई व्रज गोपियाँ परमानन्द कन्द श्रीकृष्ण चन्द्र को वर रूप में प्राप्त करने के लिये भगवती कात्यायनी की अर्चना और व्रत-विधान करने लगी। वे नित्य यही मांगती कि—

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि। नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः॥ (भा०)

अर्थ-हे कात्यायनी! हे महामाये! हे महायोगिनी! हे सवकी एकमात्र स्वामिनी! आप नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण को हमारा पति वना दीजिये। हे देवि! हम आप के चरणों में नमस्कार करती हैं।

पूर्णमासी तिथि थी, व्रत की पूर्ति का दिन था, गोपियाँ नित्य प्रति यमुना तट पर आकर पूर्ववत् वस्त्रों को खोलकर, श्रीकृष्ण के मङ्गलमय यश का गान करती हुई प्रसन्नता से जल विहार करने लगी। योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण से उनकी अभिलाषायें छिपी नही रही। गोपियों के जल विहार के बीच ही सखाओं के सग आकर उनके सारे वस्त्र उठालिये और वड़ी फुर्ती से वे एक कदम्ब वृक्ष पर चढ़ गये। एक वात यहाँ ध्यान रखने की है कि श्रीकृष्ण ने गोपियों के चीर हरण के साथ-साथ उनकी लज्जा एवं अहता का भी हरण कर लिया। वस्तुतस्तु प्रेम की प्राप्ति में आवरण, लज्जा एवं अहंता बाधक है। यथा—प्रीति तहाँ पर्दा नहीं, पर्दा तहाँ न प्रीति। प्रीति करै पर्दा करैं, तुलसी यह अनरीति॥ पुनः चाखा चाहे प्रेम रस राखा चाहै लाज। नारायन प्रेमी नहीं, बातन को महराज॥ इसीलिये कहा गया है कि—लाज के ऊपर गाज परौ व्रजराज मिलै सोइ काज करौरे॥ पुनः-परम प्रेम पूरण दोउ भाई। मन वुधि चित अहमिति बिसराई॥ प्रेम में पूर्ण समर्पण होता है और मान समर्पण में वाधक है अतः अहं का भी हरण कर लिया। महत्व की वात तो यह है कि भगवान श्रीकृष्ण ने प्रथम तो, आवरण, लज्जा, एवं अहंता का अपहरण किया फिर अन्त में प्रसन्न होकर चीर-प्रदान के व्याज से लज्जा एवं अहं को भी लौटा दिया। तव इसकी संगति कैसे होगी? समाधान प्रेम की प्राप्ति में ये तीनों वाधक हैं परन्तु प्रेम प्राप्त हो जाने पर ये रस वर्द्धक होते है। घूंघट, लज्जा, संकोच, अहं (मान) इनसे प्रेम में वृद्धि होती है। अतः प्रथम चीरादि का हरण करके इनको पूर्ण प्रेम प्रदान किया।

प्रश्न—क्या प्रमाण है कि इन्हे अव पूर्ण प्रेम प्राप्त हो गया है? समाधान—

दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः।
वस्त्राणि चैवा पहृतान्यथाप्यमुं ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः॥ (भा०)

अर्थ—श्रीकृष्ण ने कुमारियों से छल भरी वातें की, उनका लज्जा संकोच छुड़ाया, हँसी की

और उन्हें कठपुतलियों के समान नचाया, यहाँ तक कि उनके वस्त्र तक हर लिये, फिर भी वे उनसे रुष्ट नही हुईं, उनकी इन चेष्टाओं को दोष नहीं माना, बल्कि अपने प्रियतम के सङ्ग से वे और भी प्रसन्न हुईं ॥

यही प्रेम की कसौटी है। प्रेमी अपने प्रियतम की वड़ी से वड़ी प्रतिकूल क्रिया को भी गुण करके ही देखता है। जैसे चातक—मेघ की महान निष्ठुरता प्रसिद्ध है—पयद प्रेम पथ क्रूर।' चातक के प्रति वह कम अन्याय नहीं करता—यथा—'उपलबरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।' परन्तु तो भी—'चितव की चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर।' पुनः बरषि परुष पाहन पयद, पंख करौ टुक टूक।' परन्तु—'तुलसी परी न चाहिये, चतुर चातकहि चूक।' इसका एक मात्र कारण यही है कि चातक का मेघ से प्रेम है। अत.चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।' गोपियों की भी यही दशा है अतः सिद्ध होता है कि इन्हें पूर्ण प्रेम प्राप्त हो गया है। इसलिये भगवान ने पुनः चीरादि लौटा दिया, क्योंकि अब ये रस पोषक होगे। पश्चात् रसिक शेखर श्रीकृष्ण ने उन अनुरागवती व्रज बालाओं को उनके भावानुसार सुख संवर्द्धन करने वाले ये वचन कहे—कुमारियों! अब तुम अपने-अपने घर लौट जाओ। तुम्हारी साधना सिद्ध हो गई है। तुम आने वाली शरद ऋतु की रात्रियों में मेरे साथ विहार करोगी। सतियो! इसी उद्देश्य से तो तुम लोगों ने यह व्रत और कात्यायनी देवी की पूजा की है।

महारास की महा मङ्गलमयी शरद् पूर्णिमा की रात्रि में रसिकेन्द्र चूड़ामणि श्रीकृष्ण के मधुर मुरली रव को सुनकर सुधि बिसराये व्रज-वधुएँ सावन की सरिता की तरह बिना किसी अवरोध के परम-प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर के समीप पहुँच जाती है। यथा—सुनत चलीं व्रजवधू गीतधुनि को मारग गहि। भवन, भीति, द्रुम, कुंज पुंज कितहूँ अटकीं नहीं॥ सावन सरित न रुकै करै जो जतन कोउ अति। कृष्ण गहे जिनके मन ते क्यों रुकहिं अगम अति॥ (रा० प०) रसघन श्रीकृष्ण ने उनके प्रेम-पुंज को प्रकाशित करने के लिये सामान्य धर्म का उपदेश करते हुये उन्हें घर लौट जाने को कहा। उस समय इन व्रज देवियों ने जो कुछ कहा है वह प्रेम का सर्वोच्चतम आदर्श स्वरूप है। यथा—

> मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं, संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
> भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथाऽऽदिपुरुषोभजते मुमुक्षून्॥
> यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
> अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
> चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्य कृत्ये।
> पादौ पदं न चलतस्तवपाद मूलाद् यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥ (भा०)

अर्थ—प्यारे श्रीकृष्ण! तुम घट-घट व्यापी हो। हमारे हृदय की बात जानते हो। तुम्हें इस प्रकार निष्ठुरता भरे वचन नहीं कहने चाहिये। हम सब कुछ छोड़कर केवल तुम्हारे चरणो में ही प्रेम करती है। इसमें सन्देह नही कि तुम स्वतन्त्र हो और हठीले भी हो। तुम पर हमारा कोई वश नही है। फिर भी तुम अपनी ओर से, जैसे आदि पुरुष भगवान नारायण कृपा करके अपने मुमुक्षु भक्तों से प्रेम करते हैं वैसे ही हमें स्वीकार कर लो। हमारा त्याग मत करो। प्यारे श्याम सुन्दर! तुम सब धर्मो का रहस्य जानते हो। तुम्हारा यह कहना कि—'अपने पति, पुत्र; और भाई बन्धुओं की सेवा करना ही स्त्रियों का धर्म है'—अक्षरशः ठीक है। परन्तु इस उपदेश के अनुसार हमें तुम्हारी ही सेवा करनी

चाहिये, क्योंकि तुम्ही सब उपदेशों के चरम लक्ष्य हो, साक्षात् भगवान् हो। तुम्ही समस्त शरीर धारियो की आत्मा हो, सुहृद हो और परम प्रियतम हो ॥ मनमोहन ! अब तक हमारा चित्त घर के काम धन्धो में लगा रहता था, इसी से हमारे हाथ भी उनमें रमे हुये थे। परन्तु तुमने हमारे देखते-देखते हमारा वह चित्त लूट लिया। इस में तुम्हे कोई कठिनाई भी नहीं पड़ी। तुम सुख स्वरूप जो ठहरे। परन्तु अब तो हमारी गति मति निराली ही हो गयी है। हमारे ये पैर तुम्हारे चरण कमलों को छोडकर एक पग भी हटने के लिए तैयार नही हैं, नही हट रहे हैं। फिर हम व्रज में कैसे जायें ? और यदि वहां जायें भी तो करेंगी क्या ?

भगवान श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ विविध रास-विलास किया। पुनः—प्रेमपुंज वरधनके काज व्रजराज कुँवर पिय। मंजु कुञ्जमें नेकु दुरे अति प्रेम भरे हिय ॥ (रा०प०) उस समय की व्रजगोपियों की विरह दशा का वर्णन करते हुए श्रीनन्ददास जी कहते हैं कि—ठगी रही व्रज वाल लाल गिरिधर पिय विनु यों। निधन महानिधि पाइ वहुरि ज्यों जाइ भई त्यों ॥ ह्वै गईं विरह विकल तब बूझति द्रुम वेली-वन। को जड़ को चैतन्य न कछु जानत विरही जन ॥ (रा० पं०) उस समय अपने हृदयेश्वर श्रीकृष्णके विरह मे गोपियो ने अनेक प्रेमप्रलाप किये है। जो 'गोपी-गीत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। गोपी-गीत के अन्तिम श्लोकको यदि हम रास पञ्चाध्यायीका एवं गोपियो के प्रेमका प्राण कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। वह श्लोक तत्सुख सुखित्वं का ज्वलन्त उदाहरण है। यथा—

> यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
> तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥ (भा०)

अर्थ—तुम्हारे चरण कमल से भी सुकुमार हैं। उन्हें हम अपने कठोर स्तनों पर भी डरते-डरते वहुत धीरे से रखती है कि कही उन्हें चोट न लग जाय। उन्ही चरणों से तुम रात्रि के समय घोर जंगल मे छिपे-छिपे भटक रहे हो। क्या कंकड़-पत्थर आदि की चोट लगने से उनमें पीड़ा नही होती ? हमें तो इसकी सम्भावना मात्रसे ही चक्कर आरहा हैं। अचेत होती जा रही हैं श्रीकृष्ण! श्यामसुन्दर! प्राणनाथ! हमारा जीवन तुम्हारे लिये है। हम तुम्हारे लिए जी रही हैं। हम तुम्हारी हैं।

श्रीराम प्रेममूर्ति श्रीभरतलाल जी को भी तो यही सबसे वड़ा दु.ख है। यथा—

> राम लखन सिय बिनुपग पनहीं। करि मुनि वेष फिरहिं बन बनहीं ॥
> अजिन वसन फल असन महि, शयन डासि कुस पात।
> बसि तरुतर नित सहत हिम आतप बर्षा वात ॥
> एहि दुःख दाह दहै नित छाती। भूख न वासर नींद न राती ॥

इससे सिद्ध होता है कि यह भाव प्रेम का प्राण स्वरूप है।

भाववश्य भगवान ने पुनः प्रकट होकर गोपियों के प्रेम के प्रति जो कृतज्ञता ज्ञापन की है उससे इन व्रज-सीमन्तिनी-जनो की प्रेम-महिमा का उद्‌घाटन होता है। यथा—

> न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां स्वसाधुकृत्यं विवुधायुषापि वः।
> या माभजन् दुर्जर गेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद् व. प्रतियातु साधुना॥ (भा०)

अर्थ—मेरी प्यारी गोपियो ! तुमने मेरे लिए घर-गृहस्थी की उन वेड़ियोंको तोड़ डाला है जिन्हें वड़े-वड़े योगी यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीर से अमर जीवनसे अनन्त काल तक तुम्हारे प्रेम, सेवा त्याग का वदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं जन्म-जन्म के लिए तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभाव से, प्रेम से, मुझे उऋण कर सकती हो। परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ।

सँदेशा देकर भेजते समय भगवान ने उद्धवजी से कहा था—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोक धर्माश्च मदर्थे तान् विभर्म्यहम्॥

अर्थ—हे उद्धव ! गोपियों ने अपना मन मुझको समर्पण कर दिया है, मैं ही उनके प्राण हूं, मेरे लिए उन्होंने अपने देह के सारे व्यवहार छोड़ दिये हैं। जो लोग मेरे लिए समस्त लौकिक धर्मोंको छोड़ देते हैं, उनको मैं सुख पहुँचाता हूं॥ (भा०)

प्रेम का पूर्ण प्रकाश विरह में होता है। श्रीरामावतार में वनवास रूप विरह का मुख्य प्रयोजन एक मात्र परमधीर, परम गम्भीर, भावमूर्ति श्रीभरतलाल जी के अगाध अन्तस्तल में छिपे अनन्त प्रेम-महार्णव को प्रकट करना है। यथा—'प्रेम अमिय मन्दर विरह भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुवीर॥ (रा०च०मा०) वैसे ही श्रीकृष्णावतार में माथुर लीला गोपियों के प्रेम के महा प्रकाश के लिए है। जव गोपियों ने सुना कि हमारे मनमोहन श्यामसुन्दर और गौर सुन्दर वलराम जी को मथुरा ले जाने के लिए अक्रूरजी व्रज में आये है, तव इनके हृदय में वड़ी व्यथा हुई। वे व्याकुल हो गईं और मन ही मन अपने प्यारे की अनन्त आनन्द दायिनी, उदारता भरी विविध लीलाओं का चिन्तन करते हुए उनके विरह भयसे कातर हो गईं। आंखों में आंसू भरे गद्गद् स्वर से वे आपसमें कभी तो व्रह्माजीके ऊपर दोपारोपण करती—यथा—'अहो विधातस्तव न क्वचिद् दया' कभी अक्रूरको कोसती—यथा—'अक्रूर इत्येतदतीव दारुणः' कभी प्यारे श्रीकृष्ण को ही 'नन्दसूनुः क्षणभङ्ग सौहृदः' कहकर अपने हृदय के विरह-भार को कुछ हलका करती। क्योंकि—'कहे हूते कछु दुख घटि होई।' (रा०च०मा०) श्री-कृष्ण-गृहीत-मानसा वे व्रज ललनायें विरह की सम्भावना से अत्यन्त आर्त हो लज्जा छोडकर 'हेगोविन्द! हे दामोदर ! हे माधव ! इस प्रकार उच्च स्वर से पुकार-पुकार कर सुस्वर रुदन करने लगीं।

अक्रूर श्रीकृष्ण वलराम को रथमें वैठाकर ले चले। उस समय की इनकी विरह-दशा का वर्णन करते हुए कविवर श्रीविहारी जी कहते है—

चन्द्रकला आदिक चन्द्रावली 'विहारी' वाल लाड़िली समेत खड़ी ललिता विशाखा सी।
हेरैं हरि ओरैं नैन जोरैं मुखमोरैं नाहिं चकित निहोरैं सवै स्वरण सुशाखा सी॥
श्याम भये अदृश तव रथसों लगाये दृग रथ ना लखानों लखै ध्वजा अभिलाषा सी।
ध्वजा ना दिखानों तव धूरि देखि धारो धीर धूरि भये लोपसो समूल गिरीं शाखा सीं॥

श्रीकृष्ण विरह में व्याकुल व्रजाङ्गनाओं का वड़ा हो हृदयस्पर्शी वर्णन श्रीमद् गोस्वामी तुलसी दासजी ने 'श्रीकृष्ण-गीतावली' में किया है। यथा—

जव ते ब्रज तजि गये कन्हाई।
तव ते विरह रवि उदित एक रस सखि ! विछुरन वृष पाई॥
घटत न तेज चलत नाहिन रथ रह्यो उर नभ पर छाई।
इन्द्रिय रूप राशि सोचहिं सुठि सुधि सवकी विसराई॥
भयो शोक भय कोक कोकनद भ्रम भ्रमरनि सुखदाई।
चित चकोर मन मोर कुमुद मुद सकल विकल अधिकाई॥
तनु तड़ाग वल वारि सुखन लाग्यो परि कुरूपता काई।
प्रान मीन दिन दीन दूवरे दसा दुसह अव आई॥
तुलसी दास मनोरथ मन मृग मरत जहाँ तहँ धाई।
राम स्याम सावन भाँदो विनु जियकी जरनि न जाई॥

अर्थ—सखी ! जव से श्रीकान्हकुवँर ब्रज को छोड़कर गये हैं तभी से उनके वियोगरूपी वृषराशि को पाकर (ज्येष्ठ का) विरह रूपी (घोरताप देनेवाला) सूर्य एकरस (अत्यन्त प्रचण्ड होकर) उदित हो रहा है। न तो उस विरह रूपी प्रचण्ड सूर्य का ताप ही घट रहा है न उसका रथ ही आगे चलता है। (अर्थात् विरह का घोर ताप स्थिर हो गया है।) वह हृदय रूपी आकाश पर छा रहा है। इन्द्रियां अन्य सवकी सुधि भुलाकर (श्रीश्याम सुन्दर की मनोहर) रूप राशि का ही चिन्तन कर रही है। यह विरह सूर्य का प्रचण्डताप जहाँ एक ओर शोकरूपी चकवे, भयरूपी कमल तथा भ्रमरूपी भँवरोंको सुखदाई है, वही दूसरी ओर चित्तरूपी चकोर, मनरूपी मयूर और मोद (हर्ष) रूपी कुमुद अत्यन्त व्याकुल हैं। शरीर रूपी सरोवर का वल रूपी जल सूखने लगा, उस पर कुरूपता की काई भी पड़ गई, प्राण रूपी मछलियां दिनों दिन दीन और दुर्वल होने लगी। उनकी दशा इस समय असह्य हो गई है। तुलसीदासजी कहते हैं कि मनके मनोरथ रूपी हरिन जहां- तहां दौड़कर ताप से मर रहे हैं। श्रीवलराम और श्याम-सुन्दर रूपी सावन-भादो के आये विना हृदय की जलन कभी शान्त नहीं होगी।

गोपी-जन वल्लभ श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय मित्र वेदान्त केशरी उद्धव को गोपियों की विरह-वेदना को ज्ञानोपदेश द्वारा दूर करने के लिये व्रज भेजा। (देखिये छप्पय ९ श्रीउद्धवजी का प्रसंग) श्रीउद्धव के व्रजागमन पर गोपियों की प्रेमोत्कण्ठा का वड़ा ही सरस चित्रण श्रीरत्नाकरजी ने किया है। यथा—

भेजे मन भावन के ऊधव के आवन की, सुधि व्रज-गाँवनि मैं पावन जवै लगीं।
कहैं'रतनाकर'गुवालिनिकी झौरि-झौरि,दौरि-दौरि नन्द-पौरि आवन तवै लगीं॥
उझकि-उझकि पदकंजन के पंजनि पै,पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छवै लगीं।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सवै लगीं॥

व्रज देवियों की उस प्रेमातुरता को देखकर उद्धव की क्या दशा होती है ? उसे सुनिये—

दीन दशा देखि व्रजवालनि की ऊधव कौ, गरिगो गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।
कहै रतनाकर न आये मुख वैन नैन, नीर भरि ल्याये भये सकुचि सिहाने से।
सूखे से श्रमे से, सकवके से सके से थके, भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से।
हौले से हले से हूलहूले से हिये मै हाय हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से॥

बहुत धैर्य धारण कर ऊधव ने श्रीश्याम सुन्दर के हाथ की लिखी पत्रिका देते हुये अपनी ओर से ज्ञान की बात कही। यथा—

सोई कान्ह सोई तुम सोई सबहीं हैं लखो, घट-घट अन्तर अनन्त श्याम घन कौं।
कहैं रतनाकर न भेद-भावना सौं भरो, वारिधि औ बूँद के बिचारि बिछुरन कौं।।
अविचल चाहत मिलाप तौ विलाप त्यागि, जोग जुगुती करि जुगावौ ज्ञान धन कौं।
जीव आतमाकौं परमातमा मैं लीन करौ, छीन करौ तन कौ न दीन करौ मन कौं।।

योग-ज्ञान-ध्यान-धारणा-समाधि की शुष्क वार्ता ने इन रसिकनी गोपियों के हृदयको उद्वेलित कर दिया। यथा—

सुनि सुनि ऊधवकी अकह कहानी कान, कोऊ थहरानी कोऊ थानहि थिरानी है।
कहैं रतनाकर रिसानी बररानी कोऊ,कोउ बिललानी बिकलानी बिथकानी है।।
कोऊ सेद सानी कोऊ भरि दृग पानी रहीं,कोऊ घूमि घूमि परीं भूमि मुरझानी हैं।
कोऊ स्याम-स्याम कै बहकि बिलखानी कोऊ,कोमल करेजो थामि सहमि सुखानी हैं।।

फिर जैसे तैसे अपने को सँभाल कर गोपियों ने प्रथम तो पत्रिका को लक्ष्य करके प्यारे श्रीकृष्ण को उपालम्भ दिया। यथा—ह्यां तो विषम ज्वर वियोग की चढ़ाई यह पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं।। तत्पश्चात् ऊधव के योग और ज्ञान को लक्ष्य करके गोपियों ने जो उत्तर दिया है उसे सुनकर प्रकांड पण्डित, परम ज्ञानवान ऊधव एक दम निरुत्तर हो जाते हैं। यथा—

सरग न चाहैं अपवरग न चाहैं सुनौ, भुक्ति मुक्ति दोऊ सौं विरक्ति उर आनै हम।
कहैं रतनाकर तिहारे जोग-रोग माहिं, तन-मन-साँसनि की सांसति प्रमानै हम।।
एक व्रजचन्द कृपा मन्द-मुसुकानि ही मै, लोक परलोक कौ अनन्द जिय जानै हम।
जाके या वियोग दुख हू मै सुख ऐसो कछू, जाहि पाइ ब्रह्म सुखहू मै दुःख मानै हम।।

पुनः—कीजै ज्ञान भानु कौ प्रकाश गिरि शृङ्गन पै, व्रज में तिहारी कला नैकु खटिहै नहीं।
कहैं रतनाकर न प्रेम तरु पैहैं सूखि, याकी डार पात तृन-तूल घटि हैं नहीं।।
रसना हमारी चारु चातकी बनी हैं, ऊधौ, पी-पी की बिहाइ रट और रटिहैं नहीं।
लौटि-पौटि बात को बवंडर बनावत क्यों, हिये ते हमारे घनश्याम हटि हैं नहीं।।

निरगुन निराकार ब्रह्म के सम्बन्ध में अपना विचार प्रगट करते हुये गोपियां कहती है—

कर बिनु कैसे गाय दुहिहैं हमारी वह, पद बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइ हैं।
कहैं रतनाकर वदन बिनु कैसे चाखि, माखन बजाइ वेनु गोधन गवाइ हैं।।
देखि सुनि कैसे दृग स्रवन बिना ही हाय,भोरे व्रज वासिनकी विपति बराइ हैं।
रावरौ अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म,ऊधौ कहौ कौन धौं हमारे काम आइ है।।

एक गोपी ने कहा—सखी! छोड़ इन बातन को। ऊधोजी! आप से यह पूछती हूँ—

ऊधौं कहौ सूधौ सौं सँदेश पहिले तौ यह, प्यारे परदेश तें कबै धौं पगधारि हैं।
कहैं रतनाकर तिहारी परि बातन मैं, मीड़ि हम कबलौं करेजौ मन मारि हैं॥
लाइ लाइ पाती छाती कबलौं सिरैहैं हाय, धरि-धरि ध्यान धीर कब लगि धारि हैं।
वैननि उचारि हैं उराहनौं कबै धौं सबै, स्याम को सलोनो रूप नैननि निहारि हैं॥

किसी ने कहा—ऊधो ! यह तो बताओ—

षटरस व्यंजन तो रंजन सदा ही करें, ऊधौ नवनीत हू सप्रीति कहूँ पावे हैं।
कहैं रतनाकर विरद तो बखानें सबै, सांची कहौ केते कहि लालन लड़ावें हैं॥
रतन सिंहासन विराज पाकशासन लौं जग चहुँ पासन ते शासन चलावे हैं।
जाइ जमुना तटपैं कोऊ वटछाँह माँहि, पासुरी उमाहि कवौं बाँसुरी बजावे हैं॥

प्यारे श्याम सुन्दर की मधुर स्मृति में तन्मयता को प्राप्त भई एक गोपी ने कहा—

स्याम तन स्याम मन स्याम हैं हमारो धन, आठो जाम ऊधौ हमें स्याम ही सों काम है।
स्याम हिये स्याम जिये, स्याम विनु नाँहि तिये, आँधे की सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥
स्याम गति स्याम मति स्याम ही हैं प्रान पति, स्याम सुखदाई सों भलाई सोभाधाम है।
ऊधौ तुम भये बौरे, पाती लैके आये दौरे, जोग कहाँ राखें यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

एक गोपी ने कहा—

प्राननि के प्यारे तन ताप के हरन हारे, नन्द के दुलारे व्रज वारे उमहृत है।
कहैं पदमाकर उरुझे उर अन्तर यो, अन्तर चहे हूँ ते न अन्तर चहत हैं॥
नैननि वसे हैं अंग अंगनि लसे हैं रोम, रोम हुलसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।
ऊधौ वे गोविन्द मथुरा में कोई और, यहाँ मेरे तो गोविन्द मोहि मोहि में रहत हैं॥

किसी गोपी ने कहा—ऊधो मन न भये दस बीस। एक हुतो सो गयो स्याम संग को अवराधै ईस॥ (सूर) एव प्रकारेण गोपियाँ अपनी-अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त कर ही रहीं थी कि उसी समय एक भौंरा उनके पास आकर गुनगुनाने लगा। गोपियों ने ऐसा समझा कि मानो हमे रूठी हुई समझकर श्रीकृष्ण ने मनाने के लिये दूत भेजा हो। फिर तो एक गोपी ने भ्रमर को लक्ष्य करके प्यारे श्रीकृष्ण को खूव मधुर प्रेमोपालम्भ दिया। यथा—

मधुप कितवबन्धो मास्पृशाङ्घ्रि सपत्न्याः कुच विलुलित माला कुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक्॥ (भा०)

अर्थ—रे मधुप! तू कपटी का सखा है। इसलिये तू भी कपटी है। तू हमारे पैरों को मत छू। झूठे प्रणाम करके हमसे अनुनय मत कर। हम देख रही हैं कि श्रीकृष्ण की जो वनमाला हमारी सौतों के वक्ष. स्थल के स्पर्श से मसली हुई है उसका पीला-पीला कुङ्कुम तेरी मूँछों पर भी लगा है। तू स्वयं भी तो किसी कुसुम से प्रेम नहीं करता। यहाँ से वहाँ उड़ा करता है। जैसे तेरे स्वामी, वैसा ही तू भी

है। मधुपति श्रीकृष्ण मथुरा की मानिनी स्त्रियों को मनाया करें। उनका वह कुङ्कुम रूप कृपा प्रसाद, जो यदु वंशियों की सभा में उपहास करने योग्य है, अपने पास ही रखें। उसे तेरे द्वारा यहाँ भेजने की क्या आवश्यकता है। आदि-आदि।

गोपियों की इस प्रकार श्रीकृष्ण में तन्मयता देखकर ऊधव प्रेमानन्द में विभोर होकर उनको नमस्कार कर उनका यशोगान करने लगे। यथा—

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढ़भावाः।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्म जन्मभिरनन्त कथारसस्य॥ (भा०)

अर्थ—इस पृथ्वी पर केवल इन गोपियों का ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है, क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान श्रीकृष्ण के परम प्रेम मय दिव्य महाभाव में स्थित हो गयी है। प्रेम की यह ऊँची से ऊँची स्थिति संसार के भय से भीत मुमुक्षुजनों के लिये ही नही अपितु वड़े-वड़े मुनियों-मुक्त पुरुषों तथा हम भक्तजनों के लिये भी अभी वाञ्छनीय ही है। हमें इसकी प्राप्ति अभी नही हो सकी है। सत्य है, जिन्हें भगवान श्रीकृष्ण की लीला कथा के रस का चसका लग गया है, उन्हें कुलीनता की द्विजाति समुचित संस्कार की और वड़े-वड़े यज्ञ-यागादिकों में दीक्षित होने की क्या आवश्यकता! अथवा यदि भगवान की कथा का रस नही मिला, उसमें रुचि नहीं हुई तो अनेक महाकल्पों तक वार-वार ब्रह्मा होने से ही क्या लाभ? इस प्रकार से गोपियों की वहुत-व्रहुत स्तुति-प्रशंसा करके श्रीउद्धवजी ने इनके चरण रज की आकांक्षा की है। यथा—

आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्द पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् (भा०)

रसिक शिरोमणि श्रीसूरदास जी लिखते हैं कि—

सुनि गोपिन के वयन नेम ऊधो को भूल्यौ। गावतगुण गोपाल फिरत कुंजन में फूल्यौ॥
खन गोपिन के पद परै धन्य सोइ हैं नेम। धाइ धाइ द्रुम भेटहीं ऊधव छाके प्रेम॥

गोपी-भाव-भावित श्रीऊधव जी कुछ काल तक व्रज में रहकर क्या खोकर एवं क्या लेकर लोटे? इसका वड़ा ही भावपूर्ण वर्णन श्रीरत्नाकरजी ने ऊधव शतक में किया है। यथा—

आये लौटि लज्जित नवाये नैन ऊधो अव सव सुख साधन कौ सूधौ सौ जतन लै।
कहैं रतनाकर गवाँए गुन गौरव औ गरव गढ़ी कौ परिपूरन पतन लै॥
छाये नैन नीर पीर कसक कमाये उर दीनता अधीनता के भार सौं नतन लै।
प्रेम रस रुचिर विराग तूमड़ी में पूर ज्ञान गुदड़ी में अनुराग सौं रतन लै॥

अद्वैत-वेदान्त-निष्णात ऊधव अव प्रेम-सरोवर में स्नान कर प्रेमी वन गये। धन्य है प्रेम की महा महिमा। जो निज ज्ञान-योग द्वारा गोपियों के प्रेम पर विजय पाने की अभिलाषा से आये थे वही

अब स्वय प्रेम रंग मे रंगे, गोपियों की ओर से उनके प्रेम की वकालत कर रहे हैं। रसिक कवि श्रीनन्द दास जी ने इसका अत्यन्त आकर्षक वर्णन किया है। यथा—

पुनि पुनि कहौं अहो श्याम जाय वृन्दावन रहिये।
परम प्रेम को पुंज जहाँ गोपिन संग लहिये॥
और काम सब छोड़ि कै उन लोगन सुख देहु।
नातरु टूटचो जात है अब हीं नेंह सनेह॥
करौगे फिर कहा॥

सुनत सखा के बैन-नैन भरि आये दोऊ।
विवश प्रेम आवेश रही सुधि नाहीं कोऊ॥
रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहीं साँवर गात।
कल्पतरोरुह साँवरो व्रज वनिता भई पात॥
उलहि अंग अंगते।

ह्वै सचेत कहि भले सखा पठये सुधि लावन।
अवगुन हमरे आइ तहाँ ते लगे बतावन॥
मोमे उनमें अन्तरौ एकौ छिन भर नाहि।
जो देखो मो माँहि वे त्यौं हौं उन हीं माँहि॥
तरंगिनि वारि ज्यौं॥

गोपी रूप दिखाय तबै मोहन बनवारी।
ऊधव भ्रमहिं निवारि डारि मुख मोह की जारी॥
आपन रूप दिखाय पुनि गोपी रूप दुराय।
नन्द दास पावन भये जे एहि लीला गाय॥
प्रेम रस पुंजिनी॥

श्रीपरमानन्द दास जी इन व्रज देवियों के अनुराग की स्तुति करते हुये कहते हैं कि—

गोपी प्रेम की धुजा।
जिन जगदीश किये वश अपने उर धरि श्याम-भुजा॥
सुक मुनि व्यास प्रसंसा कीनी उद्धव संत सराही।
धन्य भाग गोकुल की वनिता अतिपुनीत भव माहीं।
कहा विप्रघर जनमहि पाये हरि सेवा विधि नाहीं।
तेई पुनीत दास परमानन्द जे हरि सनमुख जाहीं॥

अंघ्री अम्बुज पांशु को जनम जनम हौं जांचिहौं।
प्राचीनबर्हि सत्यव्रत रहूगण सगर भगीरथ॥
वाल्मीकि मिथिलेश गए जे जे गोविन्द पथ।
रुक्माङ्गद हरिचन्द भरत दधीचि उदारा॥
सुरथ सुधन्वा शिविर सुमति अति बलि की दारा।
नील मोरध्वज ताम्रध्वज अलरक कीरति रांचिहौं॥
अंघ्री अम्बुज पांशु को जनम जनम हौं जांचिहौं॥११॥

शब्दार्थ—अंघ्री=अङ्घ्रि, चरण। अम्बुज=कमल। पांशु=धूलि, रज। हौं=मैं। जांचिहौं=माँगूँगा। राचिहौं=राचूँगा, अनुरक्त होऊँगा, रँग जाऊँगा। वाल्मीकि=आदि कवि महर्षि वाल्मीकि श्वपच भक्त वाल्मीकि।

भावार्थ—प्राचीनवर्हिजी, सत्यव्रतजी, रहूगणजी, सगरजी, भगीरथजी, महर्षि वाल्मीकिजी श्वपच वाल्मीकिजी और मिथिला पुरी के राजा आदि जो-जो गोविन्द भगवान् को प्राप्त करने वाले मार्ग पर चले। रुक्मांगदजी, हरिश्चन्द्रजी, भरतजी, परम उदार दधीचिजी, सुरथजी, सुधन्वाजी, शिविजी अति शुद्ध बुद्धि वाली बलिकी पत्नी विन्ध्यावलीजी, नीलध्वजजी, मोरध्वजजी, ताम्रध्वजजी और अलर्क जी इन सभी भक्तों की कीर्ति में मेरा अनुराग हो, मैं उस रंग में रंग जाऊँ। इनके चरण कमलों की धूलिको मैं प्रत्येक जन्म में माँगता हूँ॥११॥

व्याख्या—श्रीप्राचीन वर्हिजी-आदिराज महाराज पृथुके विमल वंशमें श्रीहविर्धान की पत्नी हविर्धानीसे वर्हिपद्, गय, शुक्ल, कृष्ण,सत्य और जितव्रत नामके छ. पुत्र पैदा हुये। इनमें महाभाग वर्हिपद् यज्ञादि कर्म काण्ड और योगादि में कुशल थे। अपने परम-प्रभावके कारण उन्होने प्रजापति कापद प्राप्त किया। राजा वर्हिषद्ने एक स्थानके वाद दूसरे स्थानमें लगातार इतने यज्ञ किये कि यह सारी भूमि पूर्व की ओर अग्रभाग करके फैलाये हुये कुशों से पट गई थी। इसी से आगे चलकर ये प्राचीन वर्हि के नाम से विख्यात हुये। राजा प्राचीनवर्हि ने व्रह्माजी के कहने से समुद्र की कन्या शतद्रुति से विवाह किया था। जिससे प्रचेता नामके दस पुत्र हुये थे। जिनका वर्णन पूर्व आ चुका है। राजा प्राचीनवर्हिका चित्त कर्म काण्ड में वहुत रम गया था। इनकी अगाध कर्मनिष्ठा को देखकर देवर्षि नारदजी ने विचार किया कि यदि यह निष्ठा भगवान में लगजाती तो राजा का कल्याण हो जाता। दूसरी वात यह भी थी कि विविध धर्मानुष्ठानों से इनका हृदय शुद्ध भी हो गया था अतः ये अव उपदेश के परम अधिकारी भी हो गये हैं, यह विचार कर एकवार अध्यात्म विद्या विशारद, परम-कृपालु श्रीनारदजी ने आकर इन्हें तत्वोपदेश दिया।

श्रीनारदजी ने कहा—राजन्! इन कर्मों के द्वारा तुम अपना कौन-सा कल्याण चाहते हो? दुःख के आत्यन्तिक नाश और परमानन्द की प्राप्ति का नाम कल्याण है, वह तो कर्मों से मिलने का नहीं यथा—'नास्त्यकृतः कृतेन।' (मुण्डकोपनिषद्) अर्थ—किये जाने वाले कर्मों से अकृत अर्थात् स्वतः सिद्ध

नित्य परमेश्वर निश्चय ही नहीं मिल सकते ॥ राजा ने कहा—महाभाग नारदजी ! मेरी बुद्धि कर्म में फँसी हुई है इसलिये मुझे परम कल्याण का कोई पता नही है। आप ही मुझे विशुद्ध ज्ञान का उपदेश दीजिये। जिससे मैं इस कर्म बन्धन से छूट जाऊं। क्योंकि जो पुरुष कपट धर्ममय गृहस्थाश्रम में ही रहता हुआ पुत्र, स्त्री और धन को ही परम पुरुषार्थ मानता है वह अज्ञान वश संसारारण्य मे ही भटकता रहता है। उसे परम कल्याण की प्राप्ति नही हो सकती। प्राचीनबर्हि ने स्वर्ग की कामना से बहुत ही हिंसा प्रधान यज्ञ भी किये थे। श्रीनारदजी ने कृपा करके राजा को दिव्य दृष्टि देकर कहा—राजन्! देखो,देखो, तुमने यज्ञ में निर्दयता पूर्वक जिन हजारों पशुओ की वलि दी है—उन्हे आकाश में देखो। ये सब तुम्हारे द्वारा दी गई पीड़ाओ को याद करते हुये बदला लेने के लिए तुम्हारी वाट देख रहे है। जब तुम मर कर परलोक में जाओगे। तब ये अत्यन्त क्रोध में भर कर तुम्हे अपने लोहे के सीगों से छेदेंगे। अरे! यज्ञ में पशुओ की वलि देने वाले की तो वात ही क्या, पशुवलि का समर्थन करने वाला पतित हो जाता है।

दृष्टांत—उपरिचर वसु का—वात सत युग की है—एक वार तपोनिरत महर्षियों से देवताओ ने कहा—श्रुति कहती है कि यज्ञ में अज-वलि होनी चाहिये। अज वकरे का नाम है अतः आप लोग अज-वलिप्रधान यज्ञ क्यों नही करते ? महर्षियो ने कहा—देवताओ को मनुष्य की इस तरह वचना नही करनी चाहिये और न उनकी वुद्धिको भ्रममे ही डालना चाहिए। वीजका नाम अज है। वीज के द्वारा अर्थात् अन्नों से ही यज्ञ करने का वेद निर्देश करता है। यज्ञ में पशुवध सज्जनों का धर्म नही हैं। परन्तु देवताओं ने ऋषियोंकी वात स्वीकार नही की। दोनों पक्षो में इस प्रश्न पर विवाद प्रारम्भ हो गया। उसी समय राजा उपरिचर आकाश मार्ग से सेना के साथ उधर से निकले। उन प्रतापी नरेशको देखकर देवताओं तथा ऋषियों ने उन्हे मध्यस्थ वनाना चाहा। उनके समीप जाकर ऋषियो ने पूछा—यज्ञ मे पशुवलि होनी चाहिये या नहीं। राजा उपरिचर ने पहले यह जानना चाहा कि देवताओं और ऋषियों में से किसका क्या पक्ष है। दोनो पक्षों का विचार जानकर राजाने सोचा—देवताओ की प्रसन्नता प्राप्त करने का यह अच्छा अवसर है। मुझे इसका लाभ उठाना चाहिए। अत. उन्होंने निर्णय दे दिया कि 'यज्ञ मे पशु वलि होनी चाहिये।' उपरिचरका निर्णय सुनकर मुनियो ने क्रोध पूर्वक कहा—तू ने सत्यका निर्णय नही करके पक्षपात किया है, असत्य का समर्थन किया है अत. हम शाप देते है कि अव तू देवलोक मे नही जा सकेगा। पृथ्वी के ऊपर भी तेरे लिये स्थान नही रहेगा। तू पृथ्वी में धँस जायगा। उपरिचर उसी समय आकाश से गिरने लगे। तव देवताओ को उन पर दया आई। उन्होने कहा—महाराज! महर्षियों के वचन मिथ्या करने की शक्ति हम मे नही है। हम लोग तो श्रुतियो का वास्तविक तात्पर्य जानने के लिए हठ किये हुए थे। पक्ष तो महर्षियों का ही सत्य है, किन्तु हम लोगोसे अनुराग होने के कारण आपने हमारा पक्ष लिया, इससे हम वरदान देते हैं कि जव तक आप भूगर्भ मे रहेगें तव तक यज्ञ में ब्राह्मणों द्वारा जो घी की धारा डाली जायगी वह आपको प्राप्त होगी। आपको भूख प्यास का कष्ट नही होगा। (म० भा०)

दृष्टान्त दूसरा—एक दरिद्र ब्राह्मण का—विदर्भ देशमें सत्य नामक एक दरिद्र ब्राह्मण था उसका विश्वास था कि यज्ञमें देवताके लिये पशु वलि देनी चाहिये। परन्तु दरिद्र होनेके कारण न तो वह पशु-पालन ही कर सकता था और न वलिदान के लिये पशु खरीद ही सकता था। इसलिए कूष्माण्डादि फलोको ही पशु कल्पित करके उनका वलिदान देकर हिंसा प्रधान यज्ञ एवं पूजन करता था। एक तो वह ब्राह्मण दरिद्र होने पर भी स्वयं सदाचारी, तपस्वी,त्यागी और धर्मात्मा था और दूसरे

उसकी पत्नी सुशीला, पतिव्रता तथा तपस्विनी थी। उस साध्वी को पतिका हिंसा प्रधान पूजन-यज्ञ सर्वथा अरुचिकर था किन्तु पति की प्रसन्नता के लिये वह उनका सम्भार अनिच्छा पूर्वक करती थी। कोई धर्माचरणको सच्ची इच्छा रखता हो और उससे अज्ञानवश कोई भूल होती हो तो उस भूलको स्वयं देवता सुधार देते हैं। उस तपस्वी ब्राह्मण से हिंसापूर्ण संकल्प को जो भूल हा रही थी उसे सुधारने के लिए एक दिन धर्म स्वयं मृगका रूप धारणकर के उसके पास आकर बोले—तुम अङ्ग हीन यज्ञ कर रहे हो। पशु वलि का संकल्प करके केवल फलादि में पशु की कल्पना करने से पूरा फल नही होता है इसलिये तुम मेरा वलिदान करो।

ब्राह्मण हिंसा-प्रधान यज्ञ-पूजन करते थे, पशु-वलि का संकल्प भी करते थे, किन्तु उन्होंने कभी पशु-वलि की नहीं थी। उनका कोमल हृदय मृग की हत्या करने को प्रस्तुत नहीं हुआ। ब्राह्मण ने मृग को हृदय से लगाकर कहा—'तुम्हारा मंगल हो, तुम शीघ्र यहां से चले जाओ।' धर्म जो मृगका रूप धर कर आये थे, ब्राह्मण से बोले—आप मेरा वध कीजिये। यज्ञ में मारे जाने से मेरी सद्गति होगी और आप भी स्वर्ग प्राप्त करोगे। आप चाहे तो इस समय स्वर्ग की अप्सराओं तथा गन्धर्वों के विचित्र विमानों को देख सकते है। ब्राह्मण यह भूल गया कि मृगने छलसे वही तर्क प्रस्तुत किया है जो वलिदान के पक्षपाती दिया करते हैं। स्वर्गीय विमानों तथा अप्सराओं को देख कर उसके मनमें स्वर्ग प्राप्ति की कामना तीव्र हो गई। उसने मृगका वलिदान कर देने का विचार किया। अब मृगने कहा—ब्रह्मन्! क्या सचमुच दूसरे प्राणी की हिंसा करने से किसी का कल्याण सम्भव है? ब्राह्मण ने सोचकर उत्तर दिया—एक का अनिष्ट करके दूसरा कैसे अपना हित कर सकता है। अव मृग अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो गया। साक्षात् धर्मराजको सामने देखकर ब्राह्मण उनके चरणों पर गिर पड़ा। धर्म ने कहा—ब्रह्मन्! आपने यज्ञमें मृगको मार देने की इच्छा मात्र की, इसी से आपकी तपस्या का वहुत वडा भाग नष्ट हो गया है। यज्ञ या पूजन में पशु हिसा उचित नहीं है। उसी समय से ब्राह्मण ने यज्ञ-पूजन में पशु-वलिका संकल्प भी त्याग दिया।

इसके वाद श्रीनारदजीने प्राचीनवर्हि को पुरञ्जनोपाख्यान सुनाया, जिसमें यह दिखाया गया है कि जीव किस प्रकार मोहमें फँसकर भवाटवीमें भटक जाता है और 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्।' की परम्परा में आवद्ध हो जाता हैं। परम दयालु भागवत शिरोमणि श्रीनारदजी ने राजा प्राचीनवर्हि को जीव और ईश्वरके स्वरूपका दिग्दर्शन कराकर मल-विक्षेप-आवरण-निवारण पूर्वक माया का निराकरण कर भगवत्प्राप्त्युपाय का निर्देश कर, उनसे परम सत्कार प्राप्तकर विदा लेकर सिद्ध लोक को चले गये। तव राजर्षि प्राचीनवर्हि भी प्रजापालन का भार अपने पुत्र को सौंपकर तपस्या करने के लिये कपिलाश्रम को चले गये। वहाँ उन वीरवर ने समस्त विषयों की आसक्ति छोड़कर एकाग्र मन से भक्तिपूर्वक श्रीहरि के चरण कमलों का चिंतन करते हुए सारूप्यपद प्राप्त कर लिया॥

श्रीसत्यव्रतजी—एक वार इनके मनमें संसार भरको निमन्त्रित करके भोजन पवाने की इच्छा हुई। अपना मनोभाव श्रीठाकुरजीके सामने अभिव्यक्त किए तो श्रीप्रभुने आज्ञा दी कि तैयारी करो, मनोरथ पूर्ण होगा। राजा सत्यव्रत ने अपार भोजन सामग्री बनवायी। एक दिन स्नान करने गए थे तो इन्हें एक मत्स्य मुँह खोले दिखाई पड़ा। इन्होंने समझा कि यह भूखा है अतः कुछ इसे भोजन कराना चाहिये। परन्तु आश्चर्य। जब यह खिलाने लगे तो वह मत्स्य सम्पूर्ण भोज्य पदार्थ अकेले ही खा गया। तब राजा ने विस्मित होकर पूछा—आप कौन हैं? भगवान ने कृपा करके दर्शन दिया और बोले—हमने

भोजन कर लिया तो अब समझ लो कि समस्त विश्व ब्रह्माण्ड तृप्त हो गया। विशेष चरित्र देखिये छप्पय ५ मत्स्यावतार की कथा।

श्रीरहूगणजी—यह सिंधु-सौवीर देश के अधिपति थे। जब हृदयमें तत्वज्ञान की जिज्ञासा का जागरण हुआ तो पालकी पर बैठकर आत्मज्ञानी, मुनियों के परम गुरु और साक्षात् श्रीहरि की ज्ञान शक्ति के अवतार योगेश्वर भगवान कपिलदेव जी से ज्ञान योग का रहस्य जानने के लिए कपिलाश्रम जा रहे थे। भगवदिच्छा से मार्ग में उनकी श्रीजड़भरतजी से भेंट हो गई और सम्पूर्ण शङ्काओं का समुचित समाधान पाकर कृतकृत्य हो गये। विशेष देखिये इसी छप्पय में श्रीजड़भरतजी का प्रसङ्ग॥

श्रीसगर-भगीरथजी—इक्ष्वाकु वंश में सत्यवादी हरिश्चन्द्र की नवी पीढ़ी में महाराज बाहुक राजा हुए। धर्मभीरु राजा बाहुक युद्धादि से बहुत दूर रहते थे। अतः शत्रुओ ने उनकी इस अहिंसा-प्रियता का अनुचित लाभ उठाया। उनका राज्य छीन लिया। तब राजाबाहुक अपनी पत्नियों के साथ वन मे चले गये। वन में जानेपर कुछ काल बाद जब राजा बाहुककी मृत्यु होगई, तब उनकी प्रधान रानी भी उनके साथ सती होने को उद्यत हुई। परन्तु महर्षि और्व को यह मालूम था कि रानी गर्भवती हैं, इसलिए उन्होंने उसे सती होने से रोक दिया। जब उसकी सौतों को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने उसे भोजनके साथ गर (विष) दे दिया। परन्तु ऋषि-कृपासे गर्भ पर उस विषका कोई प्रभाव नही पड़ा, बल्कि उस विष को लिए ही एक बालक का जन्म हुआ, जो गर के साथ पैदा होने के कारण सगर नाम से विख्यात हुआ। सगर चक्रवर्ती सम्राट हुए। ये बड़े ही धर्मात्मा एवं पराक्रमी थे। इनकी केशिनी और सुमति नाम की दो रानियां थी। केशिनी विदर्भ राजकी कन्या थी इससे वैदर्भी नाम से भी इनका कही कहीं उल्लेख पाया जाता है। सुमति गरुड़जी की बहिन थीं। (वा०रा०)

महाराज सगर अपनी उन दोनों पत्नियों के साथ हिमालय पर्वत पर जाकर भृगु प्रस्रवण नामक शिखर पर तपस्या करने लगे। सौ वर्ष पूर्ण होने पर उनकी तपस्या द्वारा प्रसन्न हुए सत्यवादियों मे श्रेष्ठ महर्षि भृगु ने राजा सगर को वर दिया कि एक रानी के वंश बढाने वाला एक ही पुत्र होगा और दूसरी के साठ हजार बलवान, कीर्तिमान और उत्साही पुत्र होगे। जो एक पुत्र उत्पन्न करना चाहे वह एक पुत्र उत्पन्न करे और जो बहुत चाहे वह बहुत पुत्र उत्पन्न करे। मुनि का यह वचन सुनकर केशिनी ने वंशधर एक ही पुत्र का वर ग्रहण किया और सुमति ने साठ हजार पुत्रों को जन्म देनेका वर प्राप्त किया। महाभारत के अनुसार यह वरदान भगवान शंकरसे प्राप्त होना पाया जाता है। वर्णन आया है कि दोनों (राजा और रानियों ने) कैलाश पर जाकर कठिन तप किया। भगवान शिवने दर्शन दिया। दोनों ने प्रणाम कर उनसे पुत्र-प्राप्ति की प्रार्थना की। श्रीशिवजी ने कहा—तुमने जिस मुहूर्त में वर मांगा है उसके अनुसार एक रानी के अत्यन्त गरवीले और शूरवीर साठ हजार पुत्र होगे किन्तु वे सबके सब एक साथ नष्ट हो जायेंगे। दूसरी रानी से वंश को चलाने वाला केवल एक ही पुत्र होगा। यह कहकर शिवजी अन्तर्धान हो गये। पद्मपुराण के अनुसार और्वऋषि के द्वारा यह वरदान मिलना पाया जाता है।

कुछ काल बीतने पर बड़ी रानी केशिनी ने सगर के औरस पुत्र असमञ्जस को जन्म दिया और छोटी रानी सुमति ने तूंबी के आकार का एक मांस-पिण्ड उत्पन्न किया। (वा०) राजा सगरने उस तूंबी को फेंक देने का विचार किया। उसी समय गम्भीर स्वर से आकाश-वाणी हुई कि—राजन्! ऐसा दु:स

हस न करो। अपने इन पुत्रों का त्याग करना तुम्हारे लिए उचित नही है। इस तूंवी में से एक ऐक वीज निकालकर उन्हे कुछ-कुछ घी से भरे हुये घड़ों में पृथक-पृथक रखदो। ऐसा करने से तुम्हें साठ हजार पुत्र प्राप्त होगे। (म०भा०) आकाशवाणी के कथनानुसार उन्हें घी से भरे घड़ों में रखकर धात्रियों ने उनका पालन पोपण किया। इस तरह दीर्घकाल के पश्चात् राजा सगर के रूप और युवावस्था से सुशोभित होने वाले साठ हजार पुत्र तैयार हो गये। सगर के ज्येष्ठ पुत्र असमञ्जस पहले जन्म में योगी थे। किसी सङ्ग के कारण वे योग से विचलित हो गये थे। परन्तु अव भी उन्हें पूर्वजन्मका स्मरण वना हुआ था, इसलिए वे ऐसा काम किया करते थे, जिनसे भाई वन्धु प्रिय न समझें। कभी कभी तो वे नगर के वालकों को पकड़कर सरयूमें डाल देते थे और जव वे डूवने लगते तव उनकी ओर देखकर हँसा करते। परिणामतः सव पुरवासी भय और शोक से व्याकुल रहने लगे। एक दिन सवने आकर राजा से प्रार्थना की कि असमंजस से हमारी रक्षा कीजिये। महात्मा सगर ने पुरवासियों के हितार्थ पुत्रस्नेह को तिलाञ्जलि देकर असमञ्जस को नगर से निकाल दिया। राजा हो तो ऐसा हो। प्रजा की प्राणोसे भी वढकर रक्षा करना राजा का धर्म है। श्रीमद्‌गोस्वामी तुलसीदासजी कहते है कि—'सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥ (रा०च०मा०)

महाराज सगर वड़े ही प्रजावत्सल राजा थे। इधर असमंजस ने अपने योगवल से उन सव वालकों को जीवित कर दिया और अपने पिता को दिखाकर वन चले गये। श्रीअयोध्या के नागरिक अपने वालकों को पुनः जीवित देखकर वड़े आश्चर्य चकित हुये और सगर को अपने पुत्र की महिमा विचार कर वड़ा पश्चात्ताप हुआ। असमंजस के एक पराक्रमी पुत्र अंशुमान थे जो वड़े ही मधुर भाषी एवं लोक प्रिय थे।

वहुत काल वीतने पर राजा सगर ने हिमालय और विन्ध्याचल के वीच में आर्यावर्त की पुण्य भूमि में और्व ऋषि के उपदेशानुसार अश्वमेघ यज्ञ के द्वारा सम्पूर्ण वेदमय एवं देव मय सर्वात्मा भगवान की आरावना का निश्चय कर अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा ली। उनका यज्ञिय अश्व उनके अत्यन्त उत्साही पुत्रों द्वारा सुरक्षित हो स्वच्छन्द गति से विचरते-विचरते जल शून्य समुद्र के तट पर आकर सहसा अदृश्य हो गया। वात यह हुई कि इन्द्र ने राक्षस का वेप धर कर उसे चुरा कर भगवान कपिल देव के आश्रम में वाँध दिया। सगर के साठ हजार राज कुमारों ने समुद्र, द्वीप, वन, पर्वत, नदी, नद और कन्दरायें सभी स्थान छान डाला परन्तु कही भी घोड़े का पता नही लगा। तव लौटकर उन्होने राजा से सव समाचार कह दिया। राजा ने क्रोध में भरकर आज्ञा दी कि उसे जाकर खोजो, खाली हाथ लौटकर न आना। ये लोग फिर खोजने लगे। एक जगह पृथ्वी कुछ फटी देख पड़ी, जिसमे एक छिद्र भी था। सगर-पुत्रों ने उसे पाताल तक खोद डाला। वहाँ घोड़े को उन्होने घूमते और चरते हुये देखा। उसके पास ही महात्मा कपिल देव भी दीख पड़े। उस समय मुनि ध्यान में थे। काल प्रेरित ये राजकुमार क्रोध से भर कर कहने लगे कि देखो—कैसा चोर है? घोड़ा चुराकर यहाँ मुनि वेप वनाकर वैठा है। अरे मूर्ख ! तू ने हमारे यज्ञ का घोड़ा चुराया है। हम लोग सगर के पुत्र तुझको दण्ड देने के लिए आ गये, यह तू जान ले। इस कोलाहल से मुनि की आँखे खुल गईं और उन्होंने वड़े क्रोध से हुंकार किया जिससे सव राजकुमार क्षण-मात्र में उनके तेज से भस्म हो गये। (वा० रा०)

महाभारत वन पर्व में लिखा है कि श्रीनारदजी ने सव समाचार राजा से कहा। पुत्रों की मृत्यु जनित वेदना से अत्यन्त दुखी हो, पुनः स्वयं ही अपने आप को सान्त्वना देकर असमञ्जस के पुत्र अंशुमान को वुलाकर और समझाकर भाइयों एवं यज्ञ के घोड़े का पता लगाने को भेजा। ये अपने चाचाओं

की खोदी हुई पृथ्वी के रास्ते पर पहुँचे। सब दिग्गजों को प्रणाम कर, उनसे आशीर्वाद पाकर उस स्थान पर पहुँचे जहाँ सगर के पुत्रों की भस्म पड़ी हुई थी। श्रीअंशुमानजी ने सबको जलाञ्जलि देनी चाही, परन्तु कहीं जल नहीं मिला। तब गरुड़जी ने आकर अंशुमान से कहा कि ये श्रीकपिलजी के क्रोध से भस्म हुये हैं, साधारण जल से इनकी सद्गति नहीं होनेकी। इनका तो श्रीगङ्गाजल से ही उद्धार हो सकता है। तुम घोड़ा लेकर जाओ। महाभारत के अनुसार अंशुमान श्रीकपिलदेवजी के आश्रम पर गये और उनकी स्तुति की। उन्होंने वर माँगने को कहा। इन्होंने यज्ञिय अश्व मांगा और अपने पितरों के उद्धार की प्रार्थना की। उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक घोड़ा दे दिया और वर दिया कि तुम्हारा पौत्र भगीरथ गङ्गाजी को लाकर इन सबका उद्धार करेगा। घोड़ा लाकर अंशुमान ने राजा को दिया और यज्ञ पूर्ण हुआ। सगर के पश्चात् अंशुमान ही राजा हुये। उन्होंने अन्त में अपने धर्मात्मा पुत्र दिलीप को राज्य देकर स्वयं श्री गङ्गाजी को लाने के लिये तप किया। बत्तीस हजार वर्ष तक तप में निरत हुये राजा अंशुमान् भगवद्धाम को चले गये।

अंशुमान के बाद महाराज दिलीप जब राजा हुये तो निरन्तर इस दुःख से सन्तप्त रहते थे कि किस प्रकार मेरे पूर्वजोंकी सद्गति हो। राजा दिलीप ने भी श्रीगङ्गाजीको इस भूतल पर उतारने के लिये महान प्रयत्न किया परन्तु सफल नहीं हो सके। दिलीप के भगीरथ नामका एक परम विख्यात पुत्र हुआ। अपने पितरो की दुर्गति सुनकर इनको बड़ा दुःख हुआ। राज्याभिषेक होते ही इन्होंने प्रजा एवं राज्य की रक्षाका भार मन्त्रियोंपर रखकर गङ्गाजीको पृथ्वीपर लानेकेलिये गोकर्ण क्षेत्रमे जाकर बडी भारी तपस्या करने लगे। (वा०रा०) महाभारत के अनुसार हिमालय के शिखर पर जाकर एक हजार वर्ष तक घोर तपस्या की। तपस्यासे प्रसन्नहोकर ब्रह्माजी देवताओं सहित वहाँ आये और वर मांगनेको कहा। इन्होंने गङ्गाजी के लिए एवं एक पुत्रके लिए प्रार्थना की। उन्होंने मनोरथ पूर्ण होने का वर दिया। साथ ही यह भी संकेत कर दिया कि गङ्गाजी के वेग को पृथ्वी सह नहीं सकेगी। उसको धारण करने की शक्ति श्री-शिवजी को छोड़कर और किसी में नहीं है। अतः तुम उनको प्रसन्न करो। यह कहकर और गङ्गाजी को भगीरथजी का मनोरथ पूर्ण करने की आज्ञा देकर ब्रह्मलोक को चले गये। (वा०रा०)

महाभारत के अनुसार—भगीरथजी की तपस्या से प्रसन्न होकर श्रीगङ्गाजी ने दिव्य रूप से प्रकट होकर इन्हे साक्षात् दर्शन दिया और कहा कि—नरश्रेष्ठ ! तुम मुझसे क्या चाहते हो ? मैं तुम्हारा कौन सा मनोरथ पूर्ण करूँ ? श्रीभगीरथजी ने कहा कि मेरे पितृगण, महाराज सगर के साठ हजार पुत्रों को श्रीकपिलदेव जी ने भस्म कर यमलोक भेज दिया है। जब तक आप अपने जल से उनका अभिषेक नहीं करेंगी, तब तक उनकी सद्गति नहीं हो सकती। उनके उद्धार के लिए ही आपसे प्रार्थना है। श्रीगङ्गाजीने कहा कि मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगी, परन्तु जिससमय मैं आकाशसे पृथ्वी पर गिरूँगी उस समय मेरे वेग को कोई रोकने वाला न होने से मैं रसातलको चली जाऊँगी तुम उसका उपाय करो। तीनो लोकों में भगवान शङ्कर को छोड़कर कोई ऐसा नहीं जो मुझे धारण कर सके। अतएव तुम उनको प्रसन्न कर लो, जिसमे कि मैं गिरूँ तो वे मुझे मस्तकपर धारण करले। पद्मपुराण के अनुसार भगीरथ जी के दशहजार वर्ष तप करने पर भगवान विष्णु ने प्रसन्न होकर गङ्गाजी को भगीरथजी का अभीष्ट पूर्ण करने की आज्ञा दी। श्रीमद्भागवत महापुराण में आता है कि गङ्गाजी ने भगीरथजी के सामने दो कठिनाइयां प्रस्तुत की। एक तो वेग को धारण करने की, दूसरे यह कि मैं पृथ्वी पर जाऊँगी तो लोग मुझमे पाप धोवेंगे फिर मैं उस पाप को कहां धोऊँगी ? इस विषय में तुम स्वयं विचार करलो।

भगीरथजी ने कहा—माता ! जिन्होंने लोक-परलोक, धन-सम्पत्ति, और स्त्री-पुत्र की कामना का सन्यास कर दिया है, जो संसार से उपरत होकर अपने आप में शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ हैं और लोगों को पवित्र करने वाले तथा परोपकारी हैं, वे अङ्गस्पर्श से तुम्हारे पापों को नष्ट कर देंगे। क्योकि उनके हृदय में अघरूप अघासुर को मारने वाले भगवान सर्वदा विराजमान रहते हैं। तथा समस्त प्राणियों के आत्मा रुद्रदेव आपका वेग धारण कर लेंगे। तत्पश्चात् भगीरथजी ने पुनः तीव्र तपस्या की और महादेव जी को प्रसन्न करके इनसे गङ्गाजी को धारण करने का वर प्राप्त कर लिया। श्रीशङ्करजी हिमालय पर आकर खड़े हो गये। भगीरथजी गङ्गाजी का ध्यान करने लगे। इन्हें देखकर गङ्गाजी ब्रह्मलोक से धारा प्रवाह रूप से चलीं और श्रीशिवजी के मस्तक पर इस प्रकार आकर गिरी मानो कोई स्वच्छ मोतियोंकी माला हो। बात यह थी कि श्रीगङ्गाजी को यह अभिमान था कि शिव भी शायद ही मुझे सँभाल पायें। अतः सर्वज्ञ शिव ने अपना प्रभाव दिखाया। वह ऐसी लगतीं जैसे कोई पुष्पहार हो। शिवजी दस हजार वर्षो तक उन्हें अपनी जटाओं में ही धरे रह गये। श्रीभगीरथजी ने पुनः तपस्या करके शङ्कर जी को प्रसन्न किया तब उन्होने गङ्गाजी को जटाओं से छोड़ा। गङ्गाजी ने राजा से कहा कि मै तुम्हारे लिए ही पृथ्वी पर आई हूँ, अतः बताओ–मैं किस मार्ग से चलूँ। यह सुनकर आगे आगे राजा रथ पर और पीछे पीछे गङ्गाजी। इस तरह कपिलजी के आश्रम पर, जहाँ सगर पुत्रों की राख पड़ी थी, वे गङ्गा जी को ले गये। गङ्गा-जलके स्पर्श से उनका उद्धार हो गया। श्रीगङ्गाजी सहस्र-धारा होकर कपिलजी के आश्रम पर गयीं। राजा भगीरथजी ने उनको पुत्री मान लिया और पितरों को गङ्गा-जल से उन्होंने जलाञ्जलि दी।

अपने सुदीर्घ राज्यकाल में महामना नरेश श्रीभगीरथजी ने प्रचुर एवं उत्तम दक्षिणा से युक्त, हविष्य, मन्त्र और अन्न से सम्पन्न सौ अश्वमेध यज्ञों के द्वारा यज्ञ पुरुष भगवान की आराधना किया था। और ब्रह्मण्य तो ऐसे थे कि उनके पास जो भी प्रिय धन था वह ब्राह्मण के लिये अदेय नही था। राजा भगीरथ ब्राह्मणों की कृपा से ब्रह्मलोक को प्राप्त हुये। यथा—'नादेयं ब्राह्मणस्यासीद् यस्य यत्स्यात् प्रियं-धनम्। सोऽपि विप्र प्रसादेन ब्रह्मलोकं गतो नृप.॥ (म०भा०)

महर्षि वाल्मीकिजी

जन्म पुनि जन्म को न मेरे कछु सोच अहो, सन्तपदकंज रेनु सीस पर धारिये।
पराचीनर्बाहि आदि कथा परसिद्ध जग, उभै बालमीकि बात चित तें न टारिये॥
भये भील संग भील ऋषि संग ऋषि भये, भये राम दरशन लीला विसतारिये।
जिन्हें जग गाय किहूँ सकै ना अघाय चाय, भाय भरि हियोभरि नैन भरि ढारिये॥७४॥

भावार्थ—प्रियादासजी नाभाजी के हार्दिक भावको व्यक्त करते हुये कहते हैं कि—अहो ! यदि मुझे बार बार जन्म लेकर संसार में आना पड़े तो इसकी मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं है क्योकि इससे बड़ा भारी यह लाभ होगा कि सन्तों के चरण कमलों की रज सिर पर धारण करने का शुभ अवसर मिलेगा। प्राचीनर्बाहि आदि भक्तों की कथाएँ पुराण-इतिहासों में वर्णित है। परन्तु महर्षि वाल्मीकि और श्वपच-भक्त वाल्मीकि इन दोनों की कथा को चित्त से कभी दूर नहीं करना चाहिए। महर्षि वाल्मीकि पहले भीलों का साथ पाकर भीलों का सा आचरण करने वाले हो गये फिर ऋषियों का सङ्ग पाकर ऋषि हो

गये। उन्हे श्रीरघुनाथजी के दर्शन हुए। उन्होंने अपनी वाल्मीकि रामायण में श्रीरामजी के चरित्रो का विस्तारपूर्वक ऐसा उत्तम वर्णन किया है, जिन्हे गाते और सुनते हुए संसार तृप्त नहीं होता है। श्रोताओं और वक्ताओं के हृदय उत्कट प्रेमानुराग मय भावों से भर जाते हैं फिर आनन्दवश नेत्रों से आसुओ की धारा वहती रहती है ॥७४॥

व्याख्या—

वन्दउँ मुनि पद कंज, रामायन जेहि निरमयउ।
सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषण सहित ॥ (रा०)

श्रीमद्भागवत महापुराण के अनुसार ये प्रचेता ऋषि के पुत्र थे अतः इनको प्राचेतस भी कहा गया है। यथा—'वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना ॥' पुनः—यः पिवन् सततं रामचरितामृत सागरम्। अतृप्तस्तं मुनि वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥

बंगला-भाषा के कृत्तिवास रामायण के अनुसार ये अङ्गिरागोत्र में उत्पन्न एक ब्राह्मण थे। नाम था रत्नाकर। वालपने से ही किरातों के कुसङ्ग में पड़कर ये किरात ही हो गये थे। ब्राह्मणत्व नष्ट हो गया था। सदा शूद्रों का सा आचार करने लगे थे। शूद्रा स्त्री से इनके वहुत सी सन्तान हुई। सहजरीति से परिवार का पालन-पोषण न होते देख इन्होंने लूटमार का रास्ता अपनाया। नित्य ही धनुष-वाण लिए वन में जीवोंका घात करते रहते थे। जो भी यात्री वन-पथ से निकलता, उसे विना कुछ सोचे समझे मार डालते थे और उसके पास जो कुछ भी मिलता उससे परिवार का पालन करते। वह मार्ग यात्रियों के लिए मौत की घाटी वन गया था। वर्णन आया है कि इन्होंने इतनी हत्यायें की थीं कि उनमें जो द्विजाति थे उनके केवल यज्ञोपवीत साढे सात वैल गाड़ी एकत्र हो गये थे। जीवों का यह महान संकट सप्तर्षियों से देखा नही गया। वे प्राणिमात्र को इस घोर विपत्ति से वचाने के लिये तथा इनके ऊपर भी अनुग्रह करने के लिये उसी रास्ते से निकले, जिस घोर वन में इनका अड्डा था। (कहीं कही देवर्षिनारदजी का आना वर्णन किया गया है। कल्पभेद से सव ठीक है।)

श्रीकश्यप, अत्रि, भरद्वाज, वशिष्ठ, गौतम, विश्वामित्र और जमदग्नि—इन परम तेजस्वी सप्तर्षि मण्डल को आते हुये देखकर ये 'खड़े रहो, खड़े रहो,' ऐसा कहते हुये दौड़ पड़े। परन्तु उन परम समर्थ ऋषियों को इनसे न तो भय हुआ, न इन पर किंचित क्रोध ही। वल्कि सहज स्वभाव से कोमल चित्त उन संतों को इस माया-मोहित जीव पर दया आई और इन्हें देखकर पूछे—'द्विजाधम! तू क्यों दौड़ रहा है? क्या चाहता है? हम लोगोने तो तुम्हारा कुछ विगाड़ा भी नहीं है फिर हम निरपराधोपर शस्त्राघात से तुम्हारा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? इन्होने कहा कि मेरे पुत्र, स्त्री आदि वहुत हैं, वे भूखे हैं। इसलिये आप लोगों के वस्त्रादिक लेने आ रहा हूं। ऋषि-गण विकल नहीं हुये किन्तु प्रसन्न मन से वोले कि तू घर जाकर पहले यह तो पूछ आ कि जो पाप तू ने वटोरा है,इसको वे लोग भी वँटावेंगे कि नहीं? इन्होने सहज उत्तर दिया—यह कैसे हो सकता है कि जो मेरे पाप से कमाये धन से सुख भोगते हैं तो वे मेरे पाप के फल मे भाग न ले। अर्थात् भाग तो लेंगे ही। ऋषियों ने कहा—भोले व्राह्मण ! एकवार तू हम लोगों के कहने से पूछ तो ले और यदि तुम्हें यह सदेह हो कि ये लोग भाग जायँगे तो हम लोगोंको वृक्षों में कस कर वांध दो। इन्होने ऐसा ही किया। घर जाकर पिता-माता-स्त्री-पुत्र आदि सवसे एक एक करके पूछा, परन्तु हर एकने यही उत्तर दिया कि हम तुम्हारे पाप के भागी नही, वह पाप तो सव तुझको

ही लगेगा। हम लोग तो केवल फल को ही भोगने वाले हैं। यथा—'पापं तवैतत्सर्वं वयं तु फलभागिनः' (अध्यात्म रामायण)

कुटुम्वियों के ऐसे कोरे जवाव को सुनकर इनके मन में वड़ा खेद और ग्लानि हुई कि जिनके लिये मैंने इतना पाप किया। वे केवल स्वार्थ के साथी निकले। तभी तो श्रीअग्रदासजी कहते हैं कि—

कोऊ काहू को नहीं, देख्यो ठोंक वजाइ॥
देख्यों ठोंक वजाइ नारि पट भूषण चाहै। सुत सोवैं नित प्राण सुता छिन प्रति अवगाहैं॥
तात मात करें वैर वधू नित चित्त विगारी। स्वारथता के सजन दास दासी दै गारी॥
अगर काम हरि नाम सौं संकटहोत सहाय। कोऊ काहू को नहीं देख्यो ठोंक वजाइ॥

पुनः— गृह कुटुम्व हित लोक धन, घन दामिनि दिन देह।
राम चरण अस जानि मन करहु राम पद नेह॥
राम चरण स्वारथ हितू, सुहृद मातु पितु पूत॥
अन्तकाल जव होत हैं, तुरत होत जमदूत॥
राम चरण तन सुख लिये, वैर मित्र वहु कीन॥
अन्त भस्म विष्ठा कृमी, कहा गयो धौं दीन॥

फिर तो इनके मन में संसार से वैराग्य हो गया और दौड़े-दौड़े मुनियों के पास आये। अन्तः करण के सच्चे पश्चात्ताप एवं ऋषियो के परम-पावन दर्शन से इनका हृदय शुद्ध हो गया। ये क्रन्दन करते हुये दण्डाकार उन ऋषियो के पैरों पर गिर पड़े और अत्यन्त दीन वचन वोले—'हे मुनि श्रेष्ठ! मै नरक रूपसमुद्र में आ पडा हूँ। मेरी रक्षा कीजिये।' मुनि वोले—'उठ, उठ,तेरा कल्याण हो, सज्जनोंका मिलना तुझको सफल हुआ, जो कि तुझे आत्मोद्धार की चिन्ता हुई। हम तुम्हे उपदेश देगे जिससे तू मोक्ष पावेगा मुनि परस्पर विचार करने लगे कि यह अधम है तो क्या, अव शरण मे आ गया है, अतः रक्षा करना उचित है। और फिर इनको 'राम' नाम का सीधा उच्चारण करने में असमर्थ देखकर 'मरा' 'मरा' जपने का उपदेश दिया। श्रीतुलसीदासजी ने भी लिखा है—'राम विहाइ मरा जपते विगरी सुधरी कविकोकिल हू की॥ (क०) पुनः—'उलटा नाम जपत जग जाना। वालमीकि भये ब्रह्म समाना॥' और कहा कि एकाग्र मन से इसी ठौर स्थित रह कर इस मन्त्र को जपो, जव तक हम फिर लौट न आवे। यथा—

इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम्। एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा॥(अ० रा०)

अर्थ—(श्रीवाल्मीकिजी श्रीरामजी से कहते हैं कि—) हे राम! ऐसा विचार कर उन्होने आप के नामाक्षरों को उलटा करके मुझसे कहा कि तू इसी एकाग्र स्थान पर रह कर एकाग्रचित्त से सदा'मरा' 'मरा' जपा कर।

इन्होंने ऐसा ही किया, नाम में तदाकार हो गये, देह सुधि भूल गई, दीमकों ने देह पर मिट्टी का ढेर लगा दिया। जिससे वह वांवी हो गई, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष की तो वात ही क्या, इस प्रकार नामानुरागनिमग्न इनको एक हजार युग वीत गये। ऋषि फिर आए और वोले कि वांवी से निकल। ये मुनियों के वचन सुनते ही निकल आये। उस समय मुनि वोले—कि 'अव तू 'मुनिवाल्मीकि' नामक मुनीश्वर है, क्योंकि तेरा यह जन्म वाल्मीक से हुआ है। तभी तो श्रीप्रियादासजी कहते है कि भये ....ऋषि भये।

श्रीवाल्मीकिजी का यह प्रसङ्ग कुसङ्ग से हानि एवं सुसङ्ग से लाभ का ज्वलन्त उदाहरण है। श्रीरामचरितमानस में श्रीतुलसीदासजी ने कुसंग और सुसंग का वड़ा ही हृदय ग्राही वर्णन किया है। यथा—

हानि कुसङ्ग सुसङ्गति लाहू। लोकहुं वेद विदित सव काहू॥
गगन चढ़इ रज पवन प्रसङ्गा। कीचइ मिलै नीच जल सङ्गा॥
साधु असाधु सदन सुक सारी। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारी॥
धूम कुसङ्गति कारिख होई। लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई॥
सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जग जीवन दाता॥
ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग लखहिं सुलक्खन लोग॥

श्रीवाल्मीकि जी में यह चरितार्थ हुआ है।

स्कन्द पुराण वैष्णव खण्ड वैशाख मास माहात्म्य में श्रीवाल्मीकिजी की कथा इस प्रकार है कि ये पूर्व जन्म में व्याध थे। इन्होने एक वार गर्मी के दिनों में वन पथ से जाते हुये महर्षि शङ्ख के जूता एवं छाता को छीन लिया था। ऊपर सूर्यका प्रचण्ड ताप, नीचे पहाड़ी भूमि अत्यन्त तप्त हो रही थी। जूता-छाता छिन जाने से महर्षि को वड़ा क्लेश हुआ भगवत्प्रेरणा-से व्याध ने कुछ ही दूर जाने पर महर्षि को वुलाकर पुनः उनका जूता छाता लौटा दिया। इससे महर्षि शङ्खने प्रसन्न होकर दया करके इनको वैशाख माहात्म्य वताकर, यह उपदेश दिया कि तुम निरन्तर श्रीराम नाम का जप करो और आजीवन वैशाख मास के जो धर्म हैं इनका आचरण करो, इससे वल्मीक ऋषि के कुल में तुम्हारा जन्म होगा और तुम वाल्मीकि नाम से प्रसिद्ध होगे। यथा—

तस्मात् रामेति तन्नाम जप व्याध निरन्तरम्। धर्मानेतान् कुरु व्याध यावदामरणान्तिकम्॥
ततस्ते भविता जन्म वल्मीकस्य ऋषे. कुले। वाल्मीकिरितिनाम्ना च भूमौ ख्यातिमवाप्स्यसि॥ (अ० रा०)

उपदेश पाकर व्याध ने वैसा ही किया। एक वार कृणु नाम के ऋषि वाह्य व्यापार वर्जित हो दुश्चर तप में निरत हो गये। वहुत समय वीत जाने पर उनके शरीर पर दीमक की वाँवी जम गई। इससे उनका नाम वल्मीक मुनि पड़ गया। इन वल्मीक ऋषि के वीर्य द्वारा एक अप्सरा के गर्भ से उस व्याधका पुनर्जन्म हुआ। इससे उसका नाम वाल्मीकि हुआ। भगवन्नाम में इनका परमानुराग था।

एक वार जव ये अपने शिष्य भरद्वाज जी के साथ तमसा नदी पर स्नान करने को गये हुये थे, उसी समय एक व्याव ने एक क्रौञ्च पक्षी को जो अपनी मादा के साथ जोड़ा खा रहा था, मारा, जिससे वह छटपटा कर मर गया। मादा करुण स्वर से चिल्लाने लगी। यह दृश्य देखकर स्वभावतः परम क०७५ ब्रह्मर्षि ने 'यह वड़ा अधर्म हुआ है' ऐसा निश्चय करके रोती हुई क्रौञ्ची की ओर देखते हुये निषाद से इस प्रकार से कहा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ (वा० रा०)

अर्थ—निपाद ! तुझे नित्य-निरन्तर, कभी भी शान्ति न मिले। क्योंकि तू ने इस क्रौञ्च के जोड़े में से एक की जो काम से मोहित हो रहा था। विना किसी अपराधके ही हत्या कर डाली। तदनन्तर ऋषि का ध्यान जब अपने कथन पर गया तो उन्हें यह ज्ञात हुआ कि शोक पीड़ित हुये मेरे मुख से जो वाक्य निकल पड़ा है वह चार चरणों में आवद्ध श्लोक रूप है। शिष्य के साथ आश्रम में पहुँच कर धर्मज्ञ ऋषि वाल्मीकि जी आसन पर वैठकर दूसरी-दूसरी वातें करने लगे परन्तु उनका ध्यान उस श्लोक की ओर ही लगा था। इतने में ही जगत-पितामह ब्रह्माजी मुनिवर वाल्मीकि से मिलने स्वयं उनके आश्रम पर आये। स्वागत सत्कारोपरान्त ब्रह्माजी उनकी मनः स्थिति को समझकर हँसते हुये वोले—मुनिवर ! तुम्हारे मुँह से निकला हुआ यह छन्दोवद्ध वाक्य श्लोक रूप ही होगा। मेरे संकल्प अथवा प्रेरणा से ही तुम्हारे मुँह से ऐसी वाणी निकली है। अब तुम श्रीराम के सम्पूर्ण चरित्र का वर्णन करो। श्रीराम का जो गुप्त या प्रकट वृत्तान्त हैं, वे सब अज्ञात होने पर भी तुम्हें ज्ञात हो जायँगे। इस काव्य में अंकित तुम्हारी कोई भी वात झूठी नही होगी। इसलिये तुम श्रीराम चरित्र गाओ। ऐसा कहकर भगवान ब्रह्माजी वही अन्तर्धान हो गये।

महर्षि वाल्मीकिजी ने देवर्षि नारदजी के मुख से श्रीराम-कथा का श्रवण किया था ही, इधर ब्रह्माजी के वरदान से भी इन्हें सम्पूर्ण गुप्त प्रकट चरित करामलकवत् दीखने लगे, फिर तो उन उदार दृष्टि वाले परम यशस्वी महर्षि वाल्मीकिजो ने भगवान श्रीरामचन्द्रजी के चरित्र को लेकर करोड़ों श्लोकों से युक्त रामायण महाकाव्य की रचना की। यथा—

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातक नाशनम् ॥
वाल्मीकि गिरिसम्भूता रामाम्भोनिधि संगता। श्रीमद्रामायणी गङ्गा पुनाति भुवनत्रयम् ॥
वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कविता वनचारिणः। शृण्वन् राम कथा नादं को न याति परां गतिम् ॥

श्रीवाल्मीकिजी के आश्रम में श्रीरामायणजी की कथा होती, त्रैलोक्य के कथामृत रसास्वाद कुशल रसिक महानुभाव सुनने के लिये आते। सबकी इच्छा होती इस परम-पावन रामायण-ग्रन्थ को अपने-अपने लोक में ले जाने की। तब भगवान शङ्कर ने सबका मनोरथ पूर्ण करने के लिये ऋषि की इच्छा से श्रीरामायण के तीन भाग करके तीनों लोकों को एक-एक भाग दे दिया। इस प्रकार प्रत्येक लोक को तैंतीस करोड़ तैंतीस लाख, तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस श्लोक एवं दश अक्षर प्राप्त हुये। दो अक्षर 'रा' और 'म' रह गये तो श्रीशिवजी ने इन्हे स्वयं ले लिया। यथा—ब्रह्म रामते नाम बड़ वर दायक वर दानि। राम चरित सत कोटि महँ लिय महेश जियजानि ॥ (रा० च० मा०)

श्रीरामायण की इसी महा महिमा को लक्ष्य करके श्रीप्रियादास जी कहते हैं कि—जिन्हें ...... हारिये।' जिन्हें जग गाय से श्रीरामायण की लोक प्रियता दर्शायी। 'किहूँ सकैना अघाय' से इसकी रस-रूपता का संकेत किया। जिनको कथामृत का चस्का लग जाता है उन्हें कथा श्रवण से तृप्ति ही नहीं होती है। यथा—शौनक वाक्य—वयं तु न वितृप्याम उत्तम श्लोक विक्रमे। यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ॥ (भा०) अर्थ—पुण्य कीर्ति भगवान की लीला सुनने से हमें कभी भी तृप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि रसज्ञ श्रोताओं को पद-पद पर भगवान की लीलाओं में नये-नये रस का अनुभव होता है। यदि किसी को भगवत् कथा से तृप्ति हो गई हो तो उनके लिये श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि—'राम चरित जे

सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन नाहीं।' चाय भरि हियो भरि नैन भरि-यह सब प्रेम के सात्विक भाव हैं। इससे जनाया गया कि श्रीरामायण कथा सुनने से दुर्लभ भगवत्प्रेम सहज सुलभ हो जाता है।

श्रीराम दर्शन—वनवास के समय श्रीरघुनाथ जी इनके आश्रम पर भी गये थे। प्रभु का दर्शन कर मुनि की जन्म-जन्म की साध पूरी हो गयी। यथा—देखि राम छवि नयन जुड़ाने। करि सन्मान आश्रमहिं आनें॥ (रा०) आतिथ्य-सत्कार के बाद श्रीरामजी ने अपनी परिस्थिति निवेदन करते हुये मुनि से सुन्दर पर्णशाला बनाकर निवास करने के लिये उचित स्थल की जिज्ञासा की। यथा—

चौ०— देखि पाय मुनि राय तुम्हारे। भए सुकृत सब सुफल हमारे॥
अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदवेग न पावै कोई॥
अस जिय जानि कहिय सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ॥
तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। वास करौं कछु काल कृपाला॥

तब महर्षि वाल्मीकिजी ने भगवान श्रीराम का अनन्तैश्वर्य वर्णन करते हुये जो चौदह स्थान वर्णन किये हैं, वह भगवत्प्राप्ति की अभिलाषा करने वाले परमार्थ-पथ-पथिकोंकेलिये बड़े महत्वकी वस्तु है इसमें भक्ति के समस्त साधनों का समावेश हो जाता है। यथा—

चौ०— सुनहु राम अब कहौं निकेता। जहां बसहु सिय लखन समेता॥
जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरिनाना॥
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम कहँ गृह रूरे॥
लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जल धर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिन्धु सर भारी। रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी॥
तिनके हृदय सदन सुखदायक। बसहु बन्धु सिय सह रघुनायक॥

दो०— जसु तुम्हार मानस विमल, हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ, राम बसहु हिय तासु॥

चौ०— प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥
तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि विनय विसेषी॥
कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥
मंत्र राज नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा॥
तरपन होम करहिं विधि नाना। विप्र जेंवाइ देहिं बहुदाना॥
तुम्ह ते अधिक गुरहिं जिय जानी। सकल भायँ सेवहिं सनमानी॥

दो०— सब करि मांगहिं एक फल, राम चरन रति होउ।
तिन्हकें मन मन्दिर बसहु, सिय रघुनन्दन दोउ॥

चौ०— काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्हके कपट दम्भ नहिं माया। तिन्हकें हृदय बसहु रघुराया॥

सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन विचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुम्हहि छांड़ि गति दूसर नाहीं। राम वसहु तिन्ह के मन माहीं॥
जननी सम जानहिं पर नारी। धन पराव विषतें विष भारी॥
जे हरषहिं पर सम्पति देखी। दुखित होहिं पर विपति विसेषी॥
जिन्हहि राम तुम प्रान पियारे। तिन्हके मन सुभ सदन तुम्हारे॥

दो०— स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्हके सब तुम तात।
मन मन्दिर तिन्हके वसहु, सीय सहित दोउ भ्रात॥

चौ०— अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। विप्र धेनु हित सकट सहहीं॥
नीति निपुन जिन्ह कइ जगलीका। घर तुम्हार तिन्हकर मन नीका॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा। जेहि सब भांति तुम्हार भरोसा॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेहीं। तेहि उर वसहु सहित वैदेही॥
जाति पांति धन धरम वड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदय वसहु रघुराई॥
सरग नरक अपवरग समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना॥
करम वचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि कें उर डेरा॥

दो०— जाहि न चाहिअ कवहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।
वसहु निरन्तर तासु उर, सो राउर निज गेहु॥

चौ०— एहि विधि मुनिवर भवन देखाये। वचन सप्रेम राम मन भाये॥
कह मुनि सुनहु भानुकुल नायक। आश्रम कहउँ समय सुखदायक॥
चित्रकूट गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भांति सुपासू॥

दो०— चित्रकूट महिमा अमित, कही महामुनि गाइ॥
आइ नहाए सरित वर सिय समेत दोउ भाइ॥ (रा०च०मा०)

श्रीवाल्मीकिजी का श्रीरामजी में वात्सल्य भाव था इसी से श्रीरामजी ने इनको दण्डवत प्रणाम किया है और इन्होंने भी शुभाशीर्वाद दिया है। यथा—'मुनि कहँ राम दण्डवत कीन्हा। आसिरवाद विप्र वर दीन्हा॥' श्रीजानकी जी को ये पुत्री करके मानते थे। जिस समय मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामजी ने लोकापवाद भय से श्रीजानकीजी को लक्ष्मण से वन मे छोड़ने को कहा है, उस समय श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीसीताजी को महर्षि वाल्मीकि के आश्रम के पास ही छोड़ा है। जब महर्षि प्रवर को इस वातका पता लगा है तो वे उस स्थान पर दौड़े हुये आये, जहां मिथिलेश राजकुमारी सीता विराजमान थी, और आकर शोक के भार से पीड़ित हुई सीता को सान्त्वना देते हुये मधुर वाणी में वोले—वेटी! अपने मन में यह समझकर कि मैं अपने पिता के घर आई हूं; किसी प्रकार का शोक न कर। कल्याणि! तुझे शीघ्र ही आनन्द-मङ्गल प्राप्त होने वाला है। महर्षि के इन वात्सल्य पूरित प्यार भरे वचनों से श्रीजानकीजी को वड़ा सन्तोष हुआ। वे आश्रम में रहने लगीं। श्रीलव-कुशका जन्म एवं जात कर्मादि संस्कार सव ऋषि आश्रम में हुआ। श्रीवाल्मीकिजी ने लव-कुशको रामायण-रहस्य एवं गान की शिक्षा के साथ-साथ अस्त्र-

शस्त्रों की भी समुचित शिक्षा दी। श्रीरामजी के अश्वमेध यज्ञ में महर्षि प्रवर ने शपथ पूर्वक श्रीसीताजी की शुद्धता का समर्थन किया है। यथा—

> इयं दाशरथे सीता सुव्रता धर्म चारिणी। अपवादात् परित्यक्ता ममाश्रम समीपतः॥
> बहु वर्ष सहस्राणि तपश्चर्या मया कृता। नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली॥
> मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्बिषम्। तस्याहं फलमश्नामि अपापा मैथिली यदि॥
> (वा० रा०)

अर्थ—दशरथनन्दन! यह सीता उत्तम व्रतका पालन करने वाली और धर्म परायणा है। आपने लोकापवाद से डरकर इसे मेरे आश्रम के समीप त्याग दिया था। मैंने कई हजार वर्षों तक भारी तपस्या की है। यदि मिथिलेशकुमारी सीता मे कोई दोष हो तो मुझे उस तपस्याका फल न मिले। मैंने मन,वाणी और क्रिया द्वारा भी पहले कभी कोई पाप नही किया है। यदि मिथिलेश कुमारी सीता निष्पाप हों, तभी मुझे अपने उस पाप शून्य पुण्य कर्म का फल प्राप्त हो। ऋषि के इन वचनों के समर्थन मे देवताओ ने पुष्प वृष्टि की। श्रीराम ने बद्धाञ्जलि होकर महर्षिके वचनोकी परम प्रामाणिकता को स्वीकार किया। आप सदा भगवान श्रीराम के नाम-गुन गान मे निमग्न रहते है। भगवानके नाम प्रताप को आपने अच्छी तरह जाना है। यथा—

> जान आदि कवि नाम प्रतापू। भयउ शुद्ध करि उलटा जापू॥ (रा० च० मा०)

श्वपच भक्त श्रीवाल्मीकि जी

हुतो वालमीकि एक सुपच सुनाम ताको श्याम लै प्रकट कियो भारत में गाइयै।
पांडवन मध्य मुख्य धर्म पुत्र राजा आप कीनो यज्ञ भारी ऋषि आये भूमि छाइयै॥
ताको अनुभाव शुभ शङ्ख सो प्रभाव कहैं जो पै नहीं बाजै तो अपूरनता आइयै।
सोई बात भई वह बाज्यो नांहि शोच परचौ पूछैं प्रभुपास याकी न्यूनता बताइयै॥७५॥

शब्दार्थ—हुतो=थो। सुपच=श्वपच, सफाई करने वाली एक जाति, श्व=कुत्ता उसे पच=पचाने-खाने वाली जाति। अनुभाव=महिमा, बड़ाई, सामर्थ्य। भारत=महाभारत। प्रभाव—असर, प्रताप। न्यूनता—कमी, घटी, त्रुटि।

भावार्थ—श्वपच वाल्मीकि नामक एक भगवान के बड़े भारी भक्त थे, वे गुप्त ही रहते थे। श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र ने उन्हे प्रकट किया। इसका वर्णन महाभारत में है। पांडवों में मुख्य धर्मपुत्र युधिष्ठिर राजा थे। आपने वडा भारी यज्ञ किया। उसमे इतने ऋषि-महर्षि पधारे कि सम्पूर्ण यज्ञस्थल भर गया। भगवान् ने एक शख स्थापित किया और कहा कि—यज्ञ के सांगोपांग पूर्ण हो जाने पर उसका प्रभाव और उसकी महिमाको शङ्ख कहेगा—अर्थात् विना वजाये वजेगा। यदि नही वजे तो समझिये कि यज्ञ में अभी कुछ त्रुटि है, यज्ञ पूरा नहीं हुआ। वही वात हुई। पूर्णाहुति, तर्पण, ब्राह्मण भोजन, दानदक्षिणादि सभी कर्म विधि समेत सम्पन्न हो गये परन्तु वह शङ्ख नही वजा। तव सवको वडी चिन्ता हुई कि इतने श्रमके वाद भी यज्ञ पूर्ण नही हुआ। सभी लोगों ने भगवान् श्रीकृष्ण के पास आकर कहा कि-प्रभो! आप कृपा करके वताइये कि यज्ञमे कौन सी कमी रह गई है॥७५॥

व्याख्या—सुपच सुनाम—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ।। (भा०)

अर्थ—अहो ! वह चाण्डाल भी इसी से सर्वश्रेष्ठ है कि उसकी जिह्वा के अग्रभाग में आपका नाम विराजमान है । जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन,सब कुछ कर लिया । अतः श्रीप्रियादासजी 'सुपच सुनाम' कहते है । श्याम लै प्रगट कियो—इससे जनाया गया कि ये एकदम अपनेको छिपाए हुए थे । क्योंकि–लोक मान्यता अनल-सम, कर तप कानन दाहू ।। इसी से सन्तपुरुष–'सदा रहहिं अपनपौ दुराए । सब विधि कुशल कुवेस वनाए ।।' परन्तु भगवानका स्वभाव है–'संतत दासन्ह देहिं वड़ाई ।' अतः प्रगट किये । कीन्हों यज्ञ भारी–राजसूय यज्ञ किये थे ।

वोले कृष्णदेव याको सुनो सव भेव ऐ पै नीके मानि लेव बात दुरीं समुझाइये ।
भागवत संत रसवन्त कोऊ जेंयो नाहिं ऋषिन समूह भूमि चहूं दिशि छाइये ।।
जौपै कहौ 'भक्तनाहीं' नाहीं कैसे कहौं गहौंगांस एक और कुलजाति सो वहाइये ।
दासनिको दास अभिमानकी न वास कहूं पूरणकी आस तौपै ऐसो लै जिवाइये ।।७६।।

शब्दार्थ—भेव=भेद । दुरी=छिपी । रसवन्त=भक्तिरसज्ञ। गांस=वन्धन, रुकावट, मन की गुप्त वात । वहाइये=त्याग दिया हो । वास=गन्ध, लेश ।

भावार्थ—भगवान श्रीकृष्ण वोले—शङ्ख न वजने का रहस्य सुनिए और उसे अच्छी प्रकार से मान लीजिये । मैं आप लोगों को अत्यन्त गुप्त वात सुनाकर समझा रहा हूँ । यद्यपि ऋषियों के समूह से चारों दिशायें, सम्पूर्ण भूमि भर गई है। और सभी ने भोजन किया है परन्तु किसी रसिक वैष्णव सन्त ने भोजन नहीं किया है, यदि आप लोग यह कहें कि इन ऋषियों में क्या कोई भक्त नहीं है तो मैं नहीं कैसे करूँ, अवश्य इन ऋषियों में वहुत उत्तम-उत्तम भक्त हैं, फिर भी मेरे हृदय की एक गुप्त वात यह है कि मैं एक गांस और रखता हूँ कि सर्वश्रेष्ठ रसिक वैष्णव भक्त उसे मानता हूँ, जिसे अपनी जाति, विद्या, ज्ञान आदि का अहंकार विल्कुल न हो। जो अपने को दासों का दास मानता हो, जिसमें किसी भी प्रकार के अभिमान की थोड़ी भी गन्ध न हो, यदि यज्ञ पूर्ण करने की इच्छा है तो ऐसे भक्त को लाकर जिमाइये ।।७६।।

व्याख्या—कृष्णदेव—कहने का भाव यह है कि जैसे 'मृषा न होइ देवरिषि भाषा ।' वैसे ही श्रीकृष्णदेव का कहना मिथ्या नही हो सकता। नीके मानि लेन–अप्रतीति की सम्भावना है अतः प्रथम ही कहे देते हैं कि नीके ""। प्रतीति की असम्भावना का हेतु वताते हैं कि 'वात दुरी' भाव यह कि जो वात मैं कहने वाला हूं उसे आज तक कोई नहीं जानता है। भागवत, सन्त, रसवन्त, इनमें से एक-एक भाव की प्राप्ति दुर्लभ है, तीनों का एक साथ संयोग होना तो परम दुर्लभ है।, भागवत=भक्त=हरि गुरु दासनि सों सांचो सोई भक्त सही । संत–इतने गुन जामें सो संत । (देखिये कवित्त ६) रसवन्त—रस-स्वरूप भगवान के भाव में निरन्तर निमग्न रहने वाला, रस-भावना-प्रवीण । कोऊ कहनेका भाव यह कि

ऐसे महानुभाव बहुत कम होते हैं। यथा—कोउ एक पाव भक्ति जिमि मोरी। (रा०) कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः। (गीता दृष्टांत—श्रीवल्लभाचार्यजी का देखिये कवित्त २२ ॥

कुल जाति सो बढ़ाइये—

जाति पांति धन धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहिं रहइ उरलाई। तिन्ह के हृदय बसहु रघुराई॥
जाति नहीं जगदीश को, जनकी कहांते होय। सांभर में जो कोइ परै, सोई सांभर होय॥

जाति विद्यादि के अभिमान को भक्ति का कण्टक कहा गया है। देखिये कवित्त ३। 'दासनि को दास'—भक्त हमेशा अपने को दासानुदास का ही अनुसन्धान करते हैं। यथा—गौराङ्ग महाप्रभु—गोपीभर्तुः पदकमलयोः दासदासानुदासः॥ पाण्डवगीता—त्वद्भृत्यभृत्य परिचारक भृत्यभृत्यभृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ॥

अभिमान को न बास कहूं—भक्त के अहं का शरणागति के समय ही प्रभु-पद में लय हो जाता है वह अपनेको तृणादपि सुनीच मानने लगता है। फिर अभिमान किस बातका। 'न बास'—कहनेका भाव यह कि अभिमान की तो बात ही क्या अभिमानकी गन्धभी नहीं होती है। तात्पर्य यह कि जैसे सुगन्धित पुष्प हाथ में लेकर उसे छोड़ देने पर भी उसकी सुगन्ध का असर हाथ में बना रहता है। वैसे ही जाति-विद्यादि के अभिमान को दूर करने पर भी उनके सूक्ष्म संस्कार (स्मृति रूप में) बने रहते हैं। परन्तु भक्तोको एकमात्र भगवत्स्मृति से भिन्न और कोई स्मृति भी नहीं होती अतः'न बास कहूं' कहा। 'कहूं'—कहने का भाव यह है कि अभिमानी को अभिमान अङ्ग अङ्ग में, रोम-रोम में समाया होता है। परन्तु भक्त के तो अङ्ग अङ्ग, रोम रोम में भक्ति समायी रहती है अतः अभिमान के लिये कहीं स्थान ही नही है।

**ऐसो हरिदास पुर आस पास दीसै नांहि बास बिन कोऊ लोक लोकन में पाइये।
तेरेई नगर मांझ निशि दिन भोर सांझ आवै जाय ऐपै काहू बात न जनाइये॥
सुनि सब चौंकि परे भाव अचरज भरे हरे मन नैन अजू वेगि ही बताइये।
कहा नांव? कहां ठाव? जहां हम जाय देखैं लेखैं करि भाग धायपांय लपटाइये॥७७॥**

शब्दार्थ—दीसै=दीखै। बास बिनु=पूर्ण निष्काम, इच्छा एवं अहंकार रहित। लोक लोकन में=भूलोक को छोड़कर दूसरे लोक में। हरे=मुरझाये से हरे हुए। हरे मन नैन=मन और नैन दर्शनके लिए लालायित हुए।

भावार्थ—भगवान की यह बात सुनकर युधिष्ठिरजी ने कहा—प्रभो! सत्य है, पर ऐसा भगवद् भक्त हमारे नगर के ओर-पास कही भी दिखाई नहीं देता है। जिसमें अहंकार की गन्ध न हो ऐसा भक्त तो किसी दूसरे लोकमें भले ही मिले। भगवानने कहा—नहीं,तुम्हारे नगरमें ही रहता है। दिन-रात-प्रातः सायं तुम्हारे यहाँ आता जाता भी है पर उसे कोई जानता नही है और वह स्वयं अपनेको प्रकट भी नहीं करता है। यह सुनकर सभी आश्चर्यसे चौंकउठे और प्रेमभावमें भर गए। उस भक्तको जाननेके लिए और

उसके दर्शनो के लिए लोगोंके मन और नेत्र व्याकुल हो उठे। वे बोले—प्रभो ! कृपया शीघ्र ही बताइये, उनका क्या नाम है और कहाँ स्थान है ? जहाँ जाकर हम उनका दर्शन करके अपने को सौभाग्यशाली बनायें। दौडकर उनके चरणों मे लिपट जायँ ॥७७।

व्याख्या—वासविन""पाइये—भाव यह कि लोक में तो सिद्ध न होने पर भी सिद्ध कहाने के लिये लोग बड़े-बड़े विज्ञापन करते हैं, बड़ी-बड़ी जोग-जुक्ति करते है। बद्ध होकर भी जीवन मुक्त होने का दम भरते हैं।

दृष्टान्त—बनावटी सिद्ध का—किसी गाँव में एक भेपधारी साधूने अपनी सिद्धाई का झूठा प्रचार कर खूब धन-मान का अर्जन किया। एक समय वर्पा न होने से खेती सूखने लगी। सर्वत्र जल के लिये हाहाकार मच गया। तब गाँव के सब लोग एकत्रित होकर सिद्ध जी के पास गये और अपनी दीन—दशा निवेदन की और प्रार्थना किये कि—महाराज ! ऐसी कृपा करो कि पानी वरस जाय, सब खेती सूख रही है। सिद्ध ने कहा—भाई ! इसमें किसी का वश ही क्या है ? भगवान जो चाहते हैं वही होता है। एक जमीदार ने बहुत अनुनय—विनय किया, रोया—गिड़गिड़ाया तो सिद्ध ने कहा—कि जा, तेरे खेत मे वरसा हो जायेगी। जमीदार अपने घर गया। रात्रि के समय सिद्ध ने अपने चेलों से कहा कि सब लोग एक-एक घड़ा लेकर जमीदार के खेत को अच्छी तरह सीच आओ। चेलों ने वैसा ही किया। दूसरे दिन जब गाँव वालों ने जमीदार के खेत को सीचा हुआ देखा तो इसे सिद्ध की सिद्धाई का चमत्कार मानकर सबके सब लोग इनके पास आकर विनती करने लगे। उनमें से एक ने बहुत आग्रह किया तो सिद्ध ने कहा—जा, आज तेरे खेत में वरसा होगी। सिद्ध जी की यह बात सुनकर सभी चेला सब लोगों को सुनाकर बोले कि भाइयो ! अब तो गुरु जी वरसें तो वरसें, परन्तु चेला तो अब कोई नही वरसेगा। जब सब लोगों ने इस कथन का अभिप्राय पूछा, तब चेलो ने कहा—सारी रात पानी के घड़े ढोते-ढोते हमारे सिर के बाल घिस गये, तब खेत सिचा है, अब हमारी सामर्थ्य नही कि फिर कोई खेत सीचे, गुरु जी चाहे भले वरसे। इस प्रकार सिद्धकी झूठी सिद्धाई का भण्डाफोड़ हो गया। तो लोक में ऐसे सिद्ध बहुत मिलते हैं।

दूसरा दृष्टान्त—जीवन्मुक्त का—एक समय दो ऊर्ध्व बाहु महात्माओ को देखकर जयपुर नरेश सवाई जयसिंह ने उनके समीप आकर पूछा कि आप लोगों का क्या नाम है ? इन्होने कहा कि हम जीवन मुक्त हैं। राजा ने प्रणाम किया और दोनों के बीच एक मुहर भेंट रखकर, एक जासूस लगा दिया कि देखो—ये दोनों क्या करते है ? स्वयं वहाँ से चले गये। तब एक ने एक जीवन-मुक्त से कहा कि यह मुहर तो हमारी भेंट है। राजा ने हमको चढ़ाया है अतः इसे हम लेंगे। दूसरे ने भी इन्ही बातो को दुहराकर अपना हक जायज किया। ऐसे ही परस्पर बड़ा भारी विवाद हो गया। दोनो अपने-अपने पावों से मुहर को अपनी-अपनी ओर खीचने लगे। इससे कोई न्याय तो हुआ नहीं, लतियाव (पद-प्रहार) शुरु हो गया। वह उसको पद-प्रहार करता, वह उसको। मुख से परस्पर एक दूसरे को गाली देते। इनकी यह सब हकीकत जासूसो ने राजा से जाकर कहा। राजा ने दोनो को बुलाकर कहा कि तुम लोगो ने जीवन्मुक्त कहाने के लिये वृथा ही इतना कष्ट किया। जो एक मुहर के लिये लड़-मर रहे हो। जीवन्मुक्तोंको यह शोभा नही देता, यह कहकर राजाने उनके हाथोंकी मालिश कराकर नीचे उतार दिया।

ऐसे जीवन्मुक्त और ऐसे सिद्ध तो लोक में बहुत मिलते हैं, परन्तु सचमुच सिद्ध और जीवन्मुक्त होकर भी मन मे किञ्चित् मान प्रतिष्ठा की वास भी न हो, ऐसे तो लोक-लोकान्तर में ही मिल सकते

हैं। हमने अपने जीवन में वहुत कुछ देखा-सुना, परन्तु ऐसा निर्लोभ निष्काम, निरभिमानी तो आज तक दृष्टि पथ में आया नही। यथा—

नख विन कटा देखे, योगी कंन फटा देखे शीश भारी जटा देखे छार लाये तन में।
मौनी अनवोल देखे जैनी शिरछोल देखे करत कलोल देखे वनखंडी वन में॥
गुणी अरु कूर देखे कायर औ शूर देखे माया माँहि पूरि देखे पूर रहे धन में।
आदि अंत सुखी देखे जनम के दुखी देखे ऐसे नाँहि देखे जिन्हे लोभ नहीं मन में॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—कोउ भल कहउ देउ कछु, यह वासना न उरते जाई (वि०) तेरेई नगर० भाव यह कि लोकान्तर में नही इसी लोक में, लोक में भी कही अन्यत्र नही तुम्हारे ही नगरमे, नगरमें कहीं कोने में पड़ा रहता हो सो वात नही प्रातः साय नित्य प्रति तुम्हारे द्वार पर आता है। काहू वात ना जनाइये—इसलिये कि जिनसे लोक—परलोक सुधरने वाला है वे प्रभु तो स्वतः विना जनाये ही सव जानते हैं। यथा—'प्रभु जानत सब विनहिं जनाये।' और ससार को जनाने से कोई लाभ नही—देहैं तो प्रसन्न ह्वै वड़ी वड़ाई बौंड़ियै।' (बौंड़ी=कौड़ी) और हानि वहुत वड़ी है।

दृष्टान्त-वोला सो मरा—एक जंगलमें एक सिद्ध महात्मा रहते थे। उनका दर्शन करने, सत्संग करने एक राजा नित्य आया करते थे और सेवा भी खूव करते थे। सेवासे सन्तुष्ट होकर सन्त ने एक दिन अपने सिद्धि की वात व्यक्त कर दी। राजा सन्त के चरणो में पड़कर फफक-फफक कर रोने लगा। जव सिद्धने वार-वार दुःख का कारण पूछा तो राजा ने कहा-महाराज! आपकी कृपा से सव सुख है परन्तु एक पुत्र नही है, जिसके विना सव सूना-सूना लगता है, अव आप सरीखे सिद्ध सन्त की शरण में आकर भी हमारा दुःख वना ही रहे, यह ठीक नही। सिद्ध ने कहा—राजन्! वैसे तो तुम्हारे प्रारव्ध मे पुत्र का योग नही है, परन्तु तुम मुझसे आग्रह कर रहे हो, इतना दीन-अधीन हो रहे हो तो जाओ, तुमको एक पुत्र होगा। राजा खुशी-खुशी अपने घर आया। संत को अपनी भूल मालूम हुई-मैंने नाहक इससे सिद्धि की चर्चा कर दी। परन्तु अव किया ही क्या जा सकता है। अव तो हमें स्वयं शरीर छोड़कर राजा का पुत्र वनना पडेगा। ठीक ही कहा है—'वोला सो मरा।' फिर तो कुछ दिन वीतने पर सिद्ध ने देह त्यागकर राजा का पुत्र होकर जन्म लिया। राजा ने वडा उत्सव किया। परन्तु सिद्ध को पूर्व जन्म की वाते सव स्मृति पथ में वर्तमान थी इसलिये अव की वार उन्होने निश्चय कर लिया था कि अव मैं किसी से वोलूंगा ही नही। राजाको जहाँ पुत्र जन्मका अत्यन्त आनन्द था, वही गूंगा होनेका अपार शोक भी था। वहुत उपाय किया गया, परन्तु सव व्यर्थ।

राजकुमार अव किशोरावस्था में पदार्पण किये। एक दिन कुछ सैनिको एवं राजकुमार को भी साथ लेकर राजा शिकार खेलने वन में गये। राजकुमार की सवारी कुछ आगे निकल गई। संग-संग अग रक्षक सिपाही थे। तव तक एक झाड़ी में छिपा वैठा तीतर वोल पड़ा। सिपाहियो ने तत्काल उसे मार डाला। राजकुमार के मुख से सहसा निकल पड़ा—'वोला सो मरा।' सिपाही राजकुमार का वोलना सुन कर वड़े प्रसन्न हुये और राजा से आकर सव हाल-हवाल वताये। राजा ने पुन. वड़ा उत्सव किया और सिपाहियो को वहुत-वहुत पुरस्कार दिया। फिर दरवार मे वैठकर राजकुमार को गोद में लेकर वड़े प्यार से पुनः कुछ वोलने को कहा—परन्तु कुमार तो एक चुप हजार चुप। राजा को रंज आया सिपाहियो पर,

कि इन्होंने झूठ कह कर हमारा बहुत सा द्रव्य खर्च करा दिया, अतः उसने सिपाहियों को बुलाकर दण्ड देने का हुक्म कर दिया। तब राजकुमार फिर बोल पड़ा—'बोला सो मरा।' अब तो राजा ने सिपाहियों को क्षमा कर दिया और राजकुमारसे हठ करके पूछा कि क्या बात है जो तुम बोलते नही हो और बोलते भी हो तो केवल एक ही शब्द 'बोला सो मरा।' तब राजकुमार ने खोल कर सब वृत्तान्त वर्णन किया कि मैं वही सिद्ध हूं जिसने तुमको पुत्र का वरदान दिया था। मैं बोला तो मुझे मरना पड़ा, गर्भ वास और जन्म का कष्ट भोगना पड़ा, तीतर बोला तो वह मारा गया, सिपाही बोले तो दण्ड के भागी बने। इससे सिद्ध होता है कि संसार में जो बोला सो मरा। अतः काहू बात न जनाइये ॥

सुनि सब..... भरे—इतने महान सन्त, जिनकी बड़ाई स्वयं भगवान करते हैं, और वह नित्य हमारे द्वार पर आते है और हम लोगों ने आज तक उन्हें जाना नही, इससे बड़ा आश्चर्य हुआ अतः चौंक पड़े, साथ ही उनमें बड़ी श्रद्धा भी हुई, क्योंकि प्रभु उनका स्मरण करके बार-बार पुलकायमान हो रहे थे। दर्शन के लिये आतुर हो उठे। 'जहां हम जाय देखें—भाव यह कि सन्त दर्शन के लिये स्वयं चल-कर जाने का बड़ा माहात्म्य है। यथा—'सन्तमिलन को जाइये, तजि ममता अभिमान। ज्यों ज्यों पग आगे परें, कोटिन यज्ञ समान ॥

दृष्टांत—द्रौपदी का—कथा आती है कि एक संत जंगलमें निवास करते हुये निरन्तर भजन-ध्यान में मग्न रहते थे। लोक में उनका बड़ा सुयश फैला हुआ था। लोगों की बड़ी इच्छा होती कि महात्माजी को अपना घर पवित्र कराने के लिये नगर में ले चलें। लोगों का आग्रह देखकर सन्त ने अपना नियम सुनाया कि जो एक करोड़ यज्ञ किये हों, उनके घर मैं जा सकता हूं। यह नियम सुनकर लोग ढीले पड़ जाते थे। प्रख्याति बढते-बढ़ते धर्मराज युधिष्ठिर तक पहुँची। वे भी बड़ी श्रद्धासे महात्मा-जी का दर्शन करने के लिए गये और घर चलने के लिये आग्रह किये। परन्तु इनसे भी वही बात दुहराये। श्रीयुधिष्ठिरजी उदास हो गये। एक करोड़ यज्ञ न किये ही हैं न जीवन भर में होने की सम्भावना ही है। परन्तु मनमे भाव था कि कैसे भी महात्माजीको घर लिवा ले चलूँ। इनको उदास देखकर महारानी द्रौपदी ने जब कारण पूछा और इन्होने बताया तो द्रौपदीजी ने कहा—आप चिन्ता नहीं करें, मैं महात्माजी को लिवा लाऊँगी। फिर तो द्रौपदीजी अत्यन्त सादे वेष में नगे पाव पैदल सन्तजी का दर्शन करने गयी और अपनी प्रार्थना सुनायी। सन्तजी पूर्ववत् इनसे भी वही समस्या बताये। तब द्रौपदीजी ने प्रणाम कर कहा—महाराज ! मैंने आप लोगों के ही मुख से सुना है कि—'सन्त मिलन.......समान ॥' फिर आप तो सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी हैं मेरे हृदय के भाव को देखकर चलने की कृपा करें। द्रौपदी की यह बात सुनकर सन्तजी बड़े प्रसन्न हुये। और बोले—बेटी ! सन्तदर्शन का महत्व तो तुमने ही अच्छी तरह समझा है। भला मैं तुझ सरीखी भागवती का आग्रह टाल ही कैसे सकता हूँ सन्तजी बड़े प्रेम से आकर सबको कृतार्थ किये। अतः कहते हैं कि 'हम जाय देखें।'

लेखें करि भाग—क्योंकि-'बड़े भाग पाइय सतसङ्गा।' पुण्यपुंज बिनुमिलहिं न सन्ता॥' 'धाय पांय लपटाइये'—'हरिजन हीरा पारखी, साधु जौहरी होय। धाय पाय आदर करै मूरख निदरै सोय ॥'

जिते मेरे दास कभूँ चाहैं न प्रकाश भयो करौं जो प्रकाश मानैं महादुखदाइये।
मोको परयो सोच यज्ञ पूरन की लोच हिये लिये वाको नाम कहूं ग्राम तजि जाइये ॥

ऐसो तुम कहौ जामें रहो न्यारे प्यारे सदा हमही लिवाइ ल्याइ नीकके जिमाइये ।
जावो वालमीक घर वड़ो अवलीक साधु कियो अपराध हम दियो जो वताइये ॥७८॥

शब्दार्थ—लोच=अभिलाषा । अवलीक=अव्यलीक, सर्वपाप रहित, सच्चा ।

भावार्थ—भगवान् श्रीकृष्णने कहा—जितने मेरे दास हैं, वे कभी भी अपने आपको स्वयं प्रकट नही करते हैं । यदि कभी मैं उनको प्रकाशित कर देता हूँ, तो वे मनमें अत्यन्त दु:खका अनुभव करते हैं । इससे मैं वड़े शोच-विचार में पड़ गया हूँ । यज्ञ पूर्ण हो, यह मेरी हार्दिक इच्छा है, साथ ही यह भय भी है कि यदि मैं उनका नाम वताता हूँ, तो कहीं ऐसा न हो कि वे संकोच वश नगर को छोड़कर कहीं दूसरी जगह चले जांय । युधिष्ठिरजी ने कहा—प्यारे श्यामसुन्दर ! आप इस प्रकार वताइये कि जिससे अलग ही रहिये और उस भक्तके सदा प्रिय भी वने रहिए । हम जाकर उन्हें लिवा लायें और उन्हें अच्छी तरह से भोजन करा दें । भगवान ने कहा—श्वपच भक्त वाल्मीकि के घरको चले जाओ, वे सर्वविकार रहित सच्चे साधु हैं । हमने यह अपराध किया जो उनका पता आपको वता दिया ॥७८॥

व्याख्या—जिते ...... भयो—भागवतों की रहनी लोक से न्यारी होती है । संसारी लोग विविध विधानों से अपने को लोकमे प्रकाशित करने का प्रयत्न करते हैं और भगवद्दास तो लोक की तो वात ही क्या भगवान तकको यह नही जनाना चाहते कि मैं आपका भक्त हूँ । यथा—श्रीभरतवाक्य—'जानउ राम कुटिल करि मोही । लोग कहउ गुरु साहिव द्रोही ॥ सीता राम चरण रति मोरे । अनुदिन वढउ अनुग्रह तोरे ॥' (रा०च०मा०) 'मानें महा दुख दाइये—'इसलिये कि प्रकाशित हो जाने पर मान प्रतिष्ठा वढ़ जाती है । अभिमान हो जाता है, जिससे साधक का पतन हो जाता है यथा—'तिमिर गयौ रवि देखिकै, मोह गयो गुरुज्ञान । कियो करायो सव गयो,जव आयो अभिमान ॥'यदि अभिमान न भी हो तो जनसमुदायके विशेष आवागमनसे भजनमें वाधा पड़ती है जो भक्तोंके लिये सवसे बड़ा दु:ख है । यथा—'कह हनुमन्त विपति प्रभु सोई । जव तव सुमिरण भजन न होई ॥' यही कारण है कि साधु पुरुष प्रतिष्ठा को सूकरीविष्ठा के समान, गौरव को रौरव नरक के समान, अभिमान को सुरापानके समान समझकर इन तीनो को छोड़कर भगवद् भजन में ही सुख मानते हैं । यथा—'प्रतिष्ठा सूकरी विष्ठा गौरवं रौरवं यथा । अभिमानं सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥

जावो वाल्मीकघर—भाव यह कि कही किसी नाई आदिसे निमन्त्रण मत भिजवाकर रह जाना, स्वय जाकर लिवा लाओ । यदि यह संकोच करें कि श्वपच के घर कैसे जाँय ? तो इस पर कहते हैं कि 'वह वड़ो अवलीक साधु'—भाव यह कि साधु के यहां जाने में कोई हर्ज नही है अवलीक=निष्कपट । भगवान को कपट नही सुहाता है । यथा—'निर्मलमन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥' श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—'पेट कपट, जिह्वा कपट, नैना कपट निराट । तुलसी हरि कैसे मिलें, घर में औघट घाट ॥' पुनः—'अहमद या मन सदन में हरि आवैं केहिवाट । विकट जुरे जो लौं निपट, खुले न कपट कपाट ॥ कपट से प्रेम नष्ट हो जाता है ।' यथा—'जल पय सरिस विकाइ, देखहु प्रीति कि रीति भलि । विलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि ॥ (रा०च०मा०) 'करि कुवेष छिपिकै रहैं, सर्प यथा वल्मीक । पलत भक्ति की लीक में साधु सदा अवलीक (भ०व०टि०)

अर्जुन औ भीमसेन चलेई निमन्त्रण को अन्तर उघारि कही भक्ति भाव दूर है।
पहुंचे भवन जाइ चहुँ दिशि फिरि आइ परे भूमि झूमि घर देख्यो छबिपूर है।
आयेनृप राजनिको देखि तजे काजनिको लाजनि सो कांपि काँपिभयो मनचूर है।
पायनि कौ धारियें जू जूठन को डारिये जू पाप ग्रह टारिये जू कीजै भाग भूर है ॥७६॥

शब्दार्थ—अन्तर=हृदय। उघारि=खोलकर। फिरि आइ=परिक्रमा करके। परे=साष्टांग दण्डवत किए। छविपूर=शोभापूर्ण, सुन्दर। पाप=अपराध। ग्रह=ग्रहण, स्वीकारिता, राहुकेतु आदि। भागभूर=अति भाग्यशाली।

भावार्थ—अर्जुन और भीमसेन भक्त वाल्मीकिजी को निमन्त्रण देने के लिए उनके घर जाने को तैयार हुए। तब भगवान ने उन्हे सतर्क करते हुए हृदय की वात खोलकर कही—जाते तो हो, पर सावधान रहना, भक्तों की भक्ति का भाव अत्यन्त दुर्लभ और गम्भीर है, उनको देखकर मन में किसी प्रकार का विकार न लाना, अन्यथा तुम्हारी भक्तिमे दोप आ जायगा। दोनों ने वाल्मीकि के घर पहुँचकर उसके चारो ओर घूमकर उसकी प्रदक्षिणा की। आनन्द से भूमते हुए पृथ्वी पर पड़कर साष्टांग दण्डवत प्रणाम किया। भीतर जाकर देखा तो उनका उपासना गृह वड़ा सुन्दर था। वाल्मीकिजी ने जव दोनों राज-राजाओं को आया देखा तो उन्होंने सव काम छोड दिए। लज्जा एवं संकोचवश काँपने लगे, उनका मन विह्वल हो गया। अर्जुन और भीमसेन ने सविनय निवेदन किया—भक्तवर! कल आप हमारे घर पर पधारिये ओर वहाँ अपनी जूठन गिराकर हमारे पापग्रहो को दूर कीजिए। हम सवों को परम भाग्यशाली वनाइए ॥७६॥

व्याख्या—अन्तर........दूर है—हृदय की रहस्य की वात खोलकर कह दिया कि भक्ति-भाव दूर है अर्थात् दुर्लभ है, परम गम्भीर है। तात्पर्य यह कि जवरदस्ती नही करना, अधिकार नही जनाना, राजापने की ठसक नही दिखाना, तथा श्वपच समझकर अभाव नही करना, उपेक्षा दृष्टि से नही देखना। भगवान इतना सतर्क इसलिए कर रहे हैं कि तनिक सी असावधानी भी वड़ी अनर्थ कारिणी हो जाती है। पुनः प्रेम-मार्ग पर चलना सर्व साधारण के वश की वात नहीं। यथा—

नारायण या डगर पर कोउ चलत है वीर।
पेग पग पर वरछी लगै श्वास श्वास में तीर॥
पांव सकै नहि ठहरि कै, बुरी चश्म की पीर।
सो जाने जिसको लगै, कहर जहर के तीर॥

अतः कहा कि भक्तिभाव अति दूर है।

भूमि—आनन्द में विभोर होकर देख्यो 'छविपूर'—दण्डवत करते समय घर में दृष्टि गई तो देखे-भीतर श्रीठाकुरजी विराजे हैं। सामने पार्षद, पूजाकी सामग्री धूप-दीप-नैवेद्यादि चौकी पर धरे है। वाल्मीकिजी श्रीठाकुरजी की पूजा में तन्मय हो रहे हैं। घर में परम स्वच्छता, एवं सात्विकता का वातावरण हृदय को वरवस अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। इस पर—

दृष्टान्त—विरजो हलाल खोरिन का—विरजो श्रीवृन्दावन में निवास करती थी। नित्य श्रीगोविन्ददेवजीकी कुंजकी टहल करने जाती थी। जब टहलकरके अपने घर आती तो स्नान करके उज्ज्वल वस्त्र, कण्ठी, माला, तिलक धारण करकेश्रीठाकुरजीकी सेवा करती, सुन्दर भोग लगाती, कीर्तनकरती, फिर चरणामृतप्रसाद लेकर तब अपने गृहकार्यमें लगती। ऐसे ही नित्यप्रति लोगों से छिपाकर श्रीबालमुकुन्दजीकी पूजा-सेवा करती, परन्तु इस बात को कोई नहीं जानता, न यह ही कोई जानै कि यह परम भागवती है। ऐसे ही श्रीवाल्मीकिजी भी राजा के यहाँ की झाड़ू-बहारू की सेवा करके घर आकर श्रीकृष्णकी सेवा-पूजा, नाम-गुणकीर्तन मे निमग्न रहते। जब अर्जुन और भीमसेन ने इनको भगवान की सेवामें तल्लीन देखा तो बहुत ही प्रसन्न भये और परस्पर कहने लगे कि परोक्षमें जैसा श्रीकृष्ण ने इनकी भाव-भक्ति का वर्णन किया था वैसे ही ये प्रत्यक्ष देखने में भी आये। इस पर—

दृष्टान्त—विरजोका ही—एकदिन विरजो श्रीयमुनाजी स्नानकरने, तथा श्रीठाकुरजीके लिए जल लानेको गई थी। वह कलश मांज-धोकर तटपर रखकर स्नानकर रही थी। उसी समय एक ब्राह्मणी भी उसके कलश के समीप ही बैठकर जल भरने लगी। विरजो ने बड़ी विनम्रता से कहा—देखना, कहीं हमारे कलश पर छीटा न पड़ जाय। यह सुनकर ब्राह्मणी आगबबूला हो गई और बोली—क्या हम तुमसे भी नीच है, जो मेरे छीटे से कलश बचाती है? विरजो ने बड़ी मृदुतापूर्वक ब्राह्मणी को समझाया कि यह श्रीठाकुरजी का कलश है, सेवा के लिये जल ले जाऊँगी इसलिये मैंने आपको सावधान किया है। कुछ अपने को ऊँचा मानकर नहीं। आप तो सब विधि पूज्य हैं। परन्तु ब्राह्मणी क्यों कर शान्त होनेलगी। विरजोको अन्ट-सन्ट बकती हुई ब्राह्मणी घर गई और अपने पतिसे समस्त वृत्तान्त वर्णन किया और बोली कि अब तो मैं यहाँ नही रहूँगी, यहाँ भङ्गी ब्राह्मणों का तिरस्कार करते हैं। यह बड़ी अनीति है। इसका न्याय होना चाहिये। ब्राह्मण ने न्यायालय मे जाकर फरियाद की। न्यायाधीश ने मन में विचारा कि निश्चय ही इसमें कोई रहस्य होगा, नही तो भला भङ्गिन ऐसा कब कहने लगी। यह श्री वृन्दावन-धाम है। यहाँ तो परम भागवतो का निवास है। यहाँ भक्ति ही ऊँच-नीच की कसौटी है। यह विचारकर न्यायाधीश ने अपने आदमियो को भेजा कि ब्राह्मणी और विरजो—दोनो जिस भी हालत में हों उन्हें तुरन्त हाजिर किया जाय। सिपाही गये दोनों को लिवा लाये। उस समय विरजो स्नान कर श्वेतवस्त्र धारण कर माथे पर तिलक लगाये फूल का दोना हाथ में लिए हुए श्रीठाकुरजी की पूजा करने जा रही थी और ब्राह्मणी अत्यन्त मलीन वस्त्र पहने, खपरैल में बालको की विष्ठा फेकने जा रही थी। दोनों को इस हालत में देखकर न्यायाधीश ने कहा कि हमे तो विरजो ही ब्राह्मणी लगती है और ब्राह्मणी ही श्वपचिन सी लगती है। पंचलोग निर्णय करें कि कौन ब्राह्मणी है और कौन श्वपचिन। यह सुनकर ब्राह्मण-ब्राह्मणी बहुत लज्जित भये और चुपचाप घर चले आये। विरजो अपने घर जाकर श्रीठाकुरजी की सेवा में लग गई। तात्पर्य यह कि परोक्ष में जैसा कहा-सुना जाय, प्रत्यक्ष में वैसा ही मिलना वास्तविकता की कसौटी है। श्रीवाल्मीकि जी कसौटी पर खरे उतरे।

देख्यो छवि पूर है—यह श्रीठाकुरजी एवं वाल्मीकिजी दोनों के साथ लगता है। श्रीठाकुरजी तो छविपूर हैं ही, श्रीवाल्मीकिजी भी भक्ति छवि से पूर्ण हैं। यथा—सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तन पाइ भजइ रघुवीरा॥ तजे काजनि को—शिष्टाचार है—महानुभाव घर पर आवें तो सब काम छोड़कर उनका स्वागत सत्कार करना चाहिये। लाजनि""चूर है—इतने बड़े होकर ये लोग मुझ दीन हीन को प्रणाम कर रहे हैं इससे लज्जा भी भई और भय भी हुआ। भय इस बात का कि कही मुझे

अभिमान न हो जाय कि मेरे यहाँ वड़े-वड़े राजा महाराजा आकर चरणों में लोट-पोट होते हैं। भयो मन चूर है—कल्पनातीत प्रसङ्ग को देखकर। वालमीकजी यह सोच भी नहीं सकते थे कि अर्जुन और भीम हमें प्रणाम करेंगे।

पाप ग्रह टारिये जू—संतों के पदार्पण से गृह के समस्त अमङ्गल दूर हो जाते हैं। यथा—जहँ जहँ हरि प्यारे पग धारें। सकल अमङ्गल दूर सिधारें॥ भोजन भजन करें जिहिं ठामा। मंगलमय पावनसो धामा॥ (भ० व० टि०) पुनः येषां संस्मरणात्० (देखिये कवित्त २३) पुनः साधवो जङ्गमास्तीर्था निर्जलाः सर्वकामदाः। येषां वाक्योदकेनैव शुद्धयन्ति मलिना जनाः॥ अर्थ—साधू चलते फिरते तीर्थ हैं सर्वकामनाओंको पूर्णकरनेवाले हैं। जिनके वाणीरूपी जलसे तत्काल ही मलीन जन शुद्ध हो जाते हैं॥ मुहूर्तार्द्धं मुहूर्तं वा यत्र तिष्ठन्ति वैष्णवाः। सत्यं सत्यं मुने सत्यं तत्तीर्थं तत्तपोवनम्॥ (ना० प०) अर्थ—वैष्णव जन एक मुहूर्त वा आधा मुहूर्त भी जहाँ वैठ जाते हैं। हे मुनिजी! वही स्थान तीर्थ हो जाता है, वही तपोवन हो जाता है। यह वात सत्य है, सत्य है, सत्य है॥ 'कीजैभाग भूरि है'—मुख.........भाग मिलाहिं। (देखिये क० ७)

जूठनि लै डारौं सदा द्वार को बुहारौं नहीं और को निहारौं अजू यही साचो पन है।
कहो कहा ? जेंवो कछु पाछे लै जिवावो हमें जानी गई रीति भक्ति भाव तुम तन है॥
तव तौ लजानो हिये कृष्ण पै रिसानो नृप चाहौ सोई ठानौ मेरे संग कोऊ जन है।
भोर ही पधारौ अव यही उर धारौ और भूलि न विचारौ कही भली जो पै मन है॥८०॥

शब्दार्थ—ठानौ=करो। भली=अच्छी। जो पै=यदि।

भावार्थ—दोनों को निमंत्रण देते तथा अपनी वड़ाई करते हुए सुनकर वालमीकिजी कहने लगे-अजी! हम तो सदा से आपकी ही जूठन उठाते हैं और आपके द्वार पर झाड़ू लगाते है। कभी दूसरे की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते हैं, यही हमारी सच्ची प्रतिज्ञा है। आप यह क्या कह रहे है, मेरा निमंत्रण कैसा ? पहले आप लोग भोजन कीजियेगा, फिर पीछे से हमें अपनी जूठन दीजियेगा। अर्जुन-भीमसेन ने कहा—आप यह क्या कह रहे हैं ? पहले आप भोजन कीजियेगा, फिर पीछे से हमें कराइयेगा। विना आपको खिलाए हम लोग नही खायँगे। अव तो आपके भक्तिभाव की रीति मालूम हो गई है, आप में अटल प्रेम है। यह सुनकर वालमीकिजी वड़े लज्जित हुए और मन ही मन श्रीकृष्ण पर रिसाये फिर वोले—आप राजा हैं, सर्व समर्थ हैं, जो भी चाहें वह करें, मेरे साथ मेरा सहायक कोई नही है, फिर आपकी आज्ञा को कैसे अस्वीकार कर सकता हूँ। तव दोनो ने कहा-आप कल प्रातः काल पधारिये, अव यही एक निश्चय मन में रखिये। दूसरी वात भूलकर भी मन में न सोचिए। वालमीकिजी ने कहा—वहुत अच्छी वात है, यदि आपके मन में है तो ऐसा ही होगा॥८०॥

व्याख्या—जूठन लै डारौं—श्रीअर्जुनजी ने कहा—'जूठन को डारिये जू' जिसका तात्पर्य तो यह था कि घर चल कर आप भोजन करें आप की जूठन गिरे। परन्तु—वालमीकिजी ने वात वनाई—महाराज! मैं तो सदा ही जूठन फेंकता हूँ, अर्थात् जूठी पत्तलें आदि फेकता हूँ। द्वार पर झाड़ू-वहारू लगाता हूँ। नहीं और को निहारौं—नियम है कि राज सेवक और की टहल नही करते हैं। यदि

अन्यत्र सेवा करें तो राजाकी शिकायत होती है कि नृप कृपण है। तभी तो सेवकों को पूरा नहीं पड़ता है, जिससे कि उन्हें अन्यत्र जाना पड़ता है। राजा—रईसो के नाऊ, धोवी, दर्जी, लुहार, कुम्हार, भगी आदि सब अलग होते हैं और सबके निर्वाह की समुचित व्यवस्था होती है। कोई-कोई लोभी सेवक लुक-छिपकर चाहे और जगह भी जाकर कुछ कमाले, परन्तु ये तो कहते हैं कि मेरी यह दृढ़ प्रतिज्ञा है। यह चातक वृत्ति है। यथा—चितव कि चातक मेघ तजि कवहुँ दूसरी ओर ॥ (दो०)

जेंवौ·····जिंवावोहम्नें—श्रीअर्जु नजी समझ गये कि पहली वार कहने में कुछ भूल हो गई जिससे कि इन्होने उसका अपने अनुकूल अर्थ लगा लिया, तव उसको स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि 'जेंवो'। जिंवावो कहने का भाव यह है कि जंव तव आप नही जीमेंगे तव तक हम लोग भी कुछ नहीं खायेगे पीयेंगे। **जानी गई रीति**—कैसे जाने ? समाधान-'सोजानै जेहि देहु जनाई।' श्रीठाकुरजीने जना दिया है। नंही तो कोई भला प्रेमियों के गूढ प्रेम को क्या जान सकता है। **भक्ति भाव तुम तन है**—कहने का भाव यह कि केवल आपका हृदय भक्ति पूरित हो सो वात नहीं, आप का तो पूरा शरीर ही भक्ति भाव रूप है। 'लजानो'—यह भक्ति का लक्षण है। संसारी लोग अपनी प्रशंसा सुनकर अभिमान में फूल जाते है। परन्तु साधु पुरुष संकुचित होते है। यथा—**निज गुण श्रवण सुनत सकुचाही।**

छिये रिसान्नो—जान गये कि श्रीकृष्ण ने ही वताया है, दूसरा तो कोई जानता ही नही था अतः रिसाने। यह प्रणय—कोप है। जो आनन्द मूलक होता है। रस वर्द्धक होता है। मेरे संग कोऊ जन है—वाह्य भाव तो यह कि आप स्वयं राजा हैं, सर्व समर्थ हैं, फिर आप के साथ सभी जन हैं। मैं दीन-हीन, मेरा कोई पक्ष लेने वाला नही है अतः बेवसी है। अन्तरङ्ग भाव यह कि मेरे तो ऐक श्रीकृष्ण हैं, वह भी इससमय आपकेही हो रहे हैं। **और भूलि न विचारो**—और विचार यही कि आप राजा हैं आदि। 'जो पै मन—यह अर्जु न-भीम एवं श्रीकृष्ण दोनोके साथ लगता है। बाह्यभाव तो यह कि यदि आपलोगों का ऐसा ही मन है। अन्तरङ्ग भाव यह कि जव श्रीठाकुरजीका ही ऐसा मन है तो चलना ही पडेगा। भला है' उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई कुछ कर ही क्या सकता है। यथा—**राम कीन्ह चाहैं सोइ होई। करै अन्यथा असनहिं कोई॥** दूसरी वात यह भी कि भक्त तो भगवान की प्रसन्नता में ही अपनी प्रसन्नता मानता है। यथा-'**राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा हैं।**'तत्सुख ही तो प्रेमका मूल मन्त्र है। अनन्य रसिक श्रीस्वामी हरिदासजी कहते हैं कि—**ज्यौंही ज्यौंही तुम राखत हौ त्यौंही त्यौंही रहियतु हैं हो हरि।** अतः कहते हैं कि जो पै मन है।

कही सव रीति सुनि धर्म पुत्र प्रीति भई करी लै रसोई कृष्ण द्रौपदी सिखाई हैं।
जेतिक प्रकार सब व्यञ्जन सुधारि करो आजु तेरे हाथनि की होति सफलाई है॥
ल्याये जा लिवाय कहैं वाहिर जिमाय देवो कही प्रभु आपु ल्यावो अंकभरि भाई है।
आनिकै बैठायो पाकशाल में रसाल ग्रास लेत वाज्यो शंख हरि दण्ड की लगाई है॥८१॥

शब्दार्थ—व्यञ्जन=पक्वान्न, मिष्ठान्न, कच्चे, पक्के सभी प्रकार के भोजन। सुधारि=अच्छी तरह से। सफलाई=सफलता, सार्थकता। पाकशाल=रसोईघर। ग्रास=कवल, कौर। दण्डकी=छड़ी।

भावार्थ—अर्जु न और भीमसेन ने लौटकर राजा युधिष्ठिरसे वालमीकि की सव वात कही, सुनकर युधिष्ठिर को श्वपच भक्त के प्रति वड़ा प्रेम हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को अच्छी प्रकार से

सिखाया कि—तुम सभी प्रकारके षट्रस व्यन्जनों को अच्छी प्रकार से वनाओ। तुम्हारे हाथों की सफलता आज इसी में है कि भक्त के लिए सुन्दर रसोई तैयार करो। रसोई तैयार हो चुकने पर स्वयं राजा युधिष्ठिर जाकर वाल्मीकि को लिवा लाये। उन्होंने कहा कि—हमें वाहर ही वैठाकर भोजन करादो। श्रीकृष्ण भगवानने कहा—हे युधिष्ठिर ! ये तो तुम्हारे भाई है, इन्हे सादर गोदमें उठाकर स्वयं लेआओ। इस प्रकार उन्हें पाकशाला में लाकर वैठाया गया और उनके सामने सभी प्रकार के व्यन्जन परोसे गए। रसमय प्रसाद का कौर लेते ही शंख वज उठा परन्तु थोड़ी देर वजकर फिर वन्द हो गया तव भगवान ने शङ्ख को एक छड़ी लगाई ॥८१॥

व्याख्या—कही सव रीति—भक्ति की रीति 'घर देख्यो छवि पूर ०।' भक्त की रीति 'आये देखि……… … चूर है।' भक्त के वार्ता करने की रीति 'जूठनि………पन है।' तथा स्वीकृति की बात कही। सुनिधर्म पुत्र प्रीति भई—'हरिजन जानि प्रीति अति वाढ़ी।' श्रीविभीषणजी श्रीहनुमानजीसे कहते हैं कि—'की तुम हरि दासन्ह महँ कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई।' वैसे ही श्रीयुधिष्ठिरजी के हृदय में भी परम भागवत जानकर वाल्मीकिजी के प्रति प्रीति हो गई। साथ ही विश्वास भी हो गया कि ऐसे परम भागवत के पाने से अवश्यमेव हमारा यज्ञ पूर्ण हो जायेगा। क्योंकि—'विनु परतीति होइ नहिं प्रीती।'

कृष्ण द्रौपदी सिखाई है—जैसे परम भागवतको पवाना है वैसे ही परम भागवती ही रसोई वनाने के लिए भी होना चाहिए। अतः श्रीकृष्णने इस कार्यके लिए द्रौपदीजीको उपयुक्त समझा और सामयिक सिखावन दिया। यथा—

नैवेद्यं पुरतो न्यस्तं चक्षुषा गृह्यते मया।
रसं तु दास जिह्वायामश्नामि कमलोद्भव॥

अर्थ—हे व्रह्मन् ! सामने समर्पित नैवेद्य को मैं नेत्रों द्वारा ही ग्रहण करता हूं। अर्थात् दृष्टिभोग करता हूँ। उसके रसका आस्वादन तो भक्तों की जिह्वा से ही करता हूँ॥ पुनः—

करत कर्महू कछु नहिं करऊँ। मैं निर्लेप भाव ते रहऊँ॥
भक्तन की आंखिन सों देखूँ। इकलो मैं कछु हू नहिं लेखूँ॥
भक्तन की रसना सों खाऊँ। भक्तन के सुख सों सुख पाऊँ॥ (भ०व०टि०)

जेसिक……… करो

चारि भांति भोजन विधि गाई। एक एक विधि वरनि न जाई।
छरस रुचिर व्यन्जन वहुभांती। एक एक रस अगनित जाती॥ (रा०च०मा०)

(चारि भाँति—भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य। भक्ष्य—दांत से काटकर खाये जाने वाले पदार्थ। भोज्य—वह पदार्थ जो मुँहमे रखकर खायाजाता है। चोष्य—जो चूसकर खायाजाय। लेह्य—वह पदार्थ हैं जो चाटे जाते हैं।

छरस—कटुकं लवणं चैव तिक्तं मधुरमेव च।
आम्लश्चैव कषायं च षड् विधाश्च रसाः स्मृताः॥

अर्थ—कटु (काली मिर्च लालमिर्च आदि) लवण (नमकीन), तिक्त, मधुर अम्ल और कषाय, ये छः रस हैं। परस्पर मिश्रण से अनेक रस बन जाते हैं। चार प्रकार एवं षड्रस के भोजन अनेक प्रकारसे बनाये जाते हैं। यथा—'व्यञ्जन विविध नाम को जाना।

आजु..."सफलाई है—आजसे जनाया गया कि यह पहला अवसर है, जो ऐसे महाभागवतकी सेवाका संयोग बना है। भगवत-भागवत सेवामें हाथ बँटानाही हाथोंकी सफलता है। भाई है—श्रीवाल्मीकि जी अपने सहज दैन्यवश बोले कि हमें बाहर ही भोजन करादो। भीमजी सहमत हो गये। तब श्रीकृष्णजी ने कहा—नही, ऐसा करना उचित नही है। क्योकि भाई है। भाई कहने का एक कारण यह है कि श्रीमाण्डव्य ऋषि के शाप से धर्मराज ही तीन रूपमें (युधिष्ठिर, विदुर, एवं श्वपच वाल्मीकि) प्रगट हुए थे अत. तीनो भाई भये। दूसरे वैष्णव होने के नाते भी भाई भये। यदि तुम्हारा भाई हो और कहे कि मुझे बाहर ही पवादो तो क्या उसे बाहरही बैठाकर पवाओगे? यदि नहीं, तो इन्हें भी पाकशाला मे लेजाकर भोजनकराओ। तीसरे-ऐसी बात मुझे भाई अर्थात् अच्छी लगरही है कि इन्हें भीतर पाकशाला में पवाया जाय और मेरी प्रसन्नता ही समस्त यज्ञोका फल है। ल्यावो अङ्कभरि कहकर जनाया गया कि ये कहने-सुनने से पाकशाला मे जाने को प्रस्तुत नही हो रहे थे तब श्रीठाकुरजी ने ललकारा कि गोद में उठाकर ले चलो। दृष्टांत—श्रीगोकुलनाथजी का—कान्हा भङ्गी को हृदय से लगाये। (कवित्त ५२१) 'हरि दण्डकी लगाई है'—इसलिए कि एक-दो बार बजकर ही रह गया। भक्त और भक्ति की महिमा के अनुरूप नही बजा।

सीत सीत प्रति क्यों न बाज्यो कछु लाज्यो कहा भक्तिको प्रभावतै न जानत योंजानिये।
बोल्यो अकुलाय जाय पूछिये जू द्रौपदी को मेरो दोष नाहि यह आपु मन आनिये॥
मानि सांच बात जाति बुद्धि आई देखि याहि सबही मिलाई मेरी चातुरी बिहानिये।
पूंछेते कही है बालमीक मै मिलायों यातें आदि प्रभु पायो पाऊँ स्वाद उनमानिये ॥८२॥

शब्दार्थ—सीत-सीत प्रति=कन-कन पर। विहानिये=नष्ट करदी। उनमानिये=अनुमान करके। उन=उन्होंने। मानिये=मान लिया।

भावार्थ—भगवान ने शङ्ख से पूछा—तुम कण-कण के भोजन करने पर ठीक से क्यों नहीं बज रहे हो? क्या तुम कुछ लज्जित हो गये हो, मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम भक्ति का प्रभाव अच्छी तरह से नही जानते हो। घबड़ाकर शङ्ख बोला—आप द्रौपदी के पास जाकर उनसे पूछिये, आप मन से यह मान लीजिये कि मेरा कुछ भी दोष नही है। जब द्रौपदी से पूछा गया तो उन्होने कहा कि—शङ्ख का कथन सत्य है। भक्तजी खट्टे-मीठे आदि सभी रसों के सभी व्यञ्जनों को एक मे मिलाकर खा रहे है, इससे मेरी रसोई करने की चतुरता धूल में मिल गई। अपनी पाक विद्या का निरादर देखकर मेरे मन में यह भाव आया कि—आखिर हैं तो ये श्वपच जाति के ही, ये भला व्यञ्जनों का स्वाद लेना क्या जाने। तब भगवान ने सब पदार्थो को एक में मिलाकर खाने का कारण पूछा। वाल्मीकि ने कहा कि—इनका भोग तो आप पहले ही लगा चुके हैं, अतः पदार्थ बुद्धि से अलग-अलग स्वाद कैसे लूँ। पदार्थ तो एक के बाद दूसरे रुचिकर और अरुचिकर लगेगें। फिर इसमें प्रसाद बुद्धि कहां रहेगी। मैं तो प्रसाद का सेवन

कर रहा हूँ, व्यञ्जनों को नहीं खा रहा हूं। यह सुनकर भक्तवाल्मीकि में द्रौपदीका अपार सद्भाव हुआ। शङ्ख जोरों से बजने लगा। लोग भक्त की जय-जयकार करने लगे। इस प्रकार यज्ञ पूर्ण हुआ और भक्त वाल्मीकिजी की महिमा का सबको पता चला ॥८२॥

व्याख्या—सीत…… कह्यो—ग्रासे ग्रासे कृते नादे कृष्णः शङ्खमुवाच ह। लुप्तो भक्ति प्रतापश्च सिक्थे सिक्थे न नादितः ॥ भक्तिको प्रभाव—(देखिये क० ३३) 'बोल्यो अकुलाय'—भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि यदि तू ने भक्त एवं भक्ति का सम्मान नही किया तो मैं तुम्हे अपने पास नही रक्खूँगा, फेंक दूँगा, चूर-चूर कर दूँगा। यह सुनकर शंख व्याकुल हुआ। 'जाति बुद्धि आई'—साधु की जाति का विचार नही करना चाहिये। देखिये क० (१२)

सबही मिलाई—बालमीकिजी ने तो प्रसाद बुद्धिसे सब एक में मिलाकर पाया। परन्तु द्रौपदीने इसका यह अर्थ लगाया कि अपने जाति स्वभाव वश,जैसे जूठी पत्तलें उठाते समय सब बचा-खुचा एक ही टोकरीमें धर लेते हैं,वैसे ही अलग-अलग परोसा हुआ भोजन भी एकमें ही मिला लिये। आदि……। 'मानिये' स्वाद तो प्रभु ने पाया, हम तो प्रसाद पा रहे है। प्रसाद में पदार्थ बुद्धि करके स्वाद का अनुभव करने से प्रसाद का महत्व जाता रहता है। प्रसाद निष्ठा में त्रुटि आती है। 'उन मानिये—उन्होंने जान लिया एवं मान लिया कि—

जाति पांति पूछै नहिं कोय। हरिको भजै सो हरिको होय॥
नारायण को भक्ति पियारी। जोइ भजै सोई अधिकारी॥
तुलसी भगत सुपच भलो, जपै रैन दिन राम।
ऊँचौ कुल केहि काम को जहां न हरि को नाम॥
भक्तिवन्त अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी॥

श्री रुक्माङ्गदजी

रुक्मांगद बाग शुभ गन्ध फूल पागि रह्यो करि अनुराग देववधू लेन आवहीं।
रहि गई एक कांटा चुभ्यो पग बैंगन को सुनि नृप माली पास आये सुख पावहीं॥
कहौ'को उपाइ स्वर्ग लोक को पठाइ दीजै'करै एकादशी जल धरै कर जावहीं।
व्रतको तो नाम यहि ग्राम कोऊ जानै नाहिं कीनो हो अजान काल्हि लावो गुन गावहीं।८३।

शब्दार्थ—देववधू=स्वर्ग की परी, अप्सरा। जल धरैकर=संकल्प करके हाथ में जल दे।

भावार्थ—भक्तराजा रुक्मांगदका बाग अनेक प्रकार के सुन्दर फूलों की उत्तम सुगन्ध से भरा हुआ था, इससे प्रभावित होकर मनोरञ्जन करने और फूलोंको लेने केलिए स्वर्ग की अप्सराएँ भी आती थीं दैवयोग से एक दिन एक अप्सराके पैर में बैंगन का कांटा चुभ गया, इससे उसका पुण्य क्षीण हो गया। वह उड़कर स्वर्ग को न जा सकी, बाग में ही रह गई। प्रातःकाल बाग के मालियों से यह समाचार सुनकर रुक्मांगदजी बागमें आये। अप्सराको चिन्तित देखकर राजाने पूछा—तुम्हें सुखी करने का क्या उपाय किया जाय। तब उसने कहा कि आपके बाग में हम लोग प्रायः आती रहती हैं, कल एकादशी व्रत का

दिन था, इसमें वैंगन के सेवन का सर्वथा निषेध है। मेरे पैर में वैंगन का कांटा लग गया इससे मेरा पुण्य क्षीण हो गया, मैं स्वर्ग को न जा सकी। अव आप कृपा करके ऐसा उपाय कीजिये जिससे मैं स्वर्ग को जा सकूँ। उपाय यह है कि—कल जिसने एकादशी का व्रत किया हो, वह हाथ मे जल लेकर अपने व्रतके फलका सकल्प करके मुझे दे दे। तव मैं अपने लोक को जा सकती हूँ। राजा ने कहा—व्रत करना तो दूर रहा, मेरे नगर मे तो कोई इसका नाम भी नहीं जानता है। तव अप्सरा ने कहा कि—विना जाने ही कोई भूखा रह गया हो, उसे ही, लाकर संकल्प करा दो, उसी के फल से चली जाऊंगी और कृतज्ञ होकर सदा आपका गुन गाऊंगी ॥८३॥

व्याख्या—श्रीरुक्मांगदजी श्रीअयोध्यापुरी के राजा थे। वाग……रह्यो—इनके वाग के सुन्दर फूलों की सुगन्ध स्वर्ग तक जाती थी। जवकि स्वर्ग के फूलों की सुगन्ध यहां तक नहीं आती है॥ यह विशेष वात है। 'करि अनुराग…… आवही—आकाश मार्ग से जाती हुई अप्सराओं को उपवन के पवन का सस्पर्श हुआ, वे आकृष्ट होकर वाग में उतर आईं वहां की शोभा-सम्पत्ति को देखने के हेतु। सुगन्धित पुष्पो को देखकर उनका मन ललचा गया अतः नित्य ही रात्रिमें उपवन में विहार करने तथा पुष्प लेने के लिये आने लगी। वाग के माली बड़ी हैरानी में पड़ गये कि सायंकाल को वहुत-सी विकासोन्मुख कलियां दिखाई पड़ती परन्तु प्रातः काल एक भी खिले फूल नहीं मिलते। राजा भी यदा-कदा पूछते कि अव फूल नही खिलते है, क्यो ? माली इसका समुचित उत्तर नही दे पाते थे। वहुत साव-धानी रखने पर भी जव वे नही जान सके कि कौन फूलो को ले जाता है तो वे निश्चय कर लिये कि कोई दैवी शक्ति अदृश्य रूप से फूलों को ले जाती है। पर वह कौन है ? यह नही समझ सके। भगवान की इच्छा—

रह गई एक …… वैंगन को—उसका नाम था उर्वशी। वैंगन का कांटा चुभने से उसका पुण्य क्षीण हो गया, वह पुनः स्वर्ग को नही जा सकी। क्यों कि शास्त्रोमें वैंगनको वहुत निषिद्ध गाना गया है। यथा—स्कान्दे—यो भक्षयति वृन्ताकं तस्य दूरतरो हरिः। अर्थ—जो वैंगन खाते हैं, उनसे श्री हरि वहुत दूर अवस्थित रहते हैं। पुनः—यामले—यत्र मद्यं तथा मांसं तथा वृन्ताक-मूलके। निवेदये-न्नैव तत्र हरेरैकान्तिकी रति ॥ अर्थ—जहां सुरा, मांस, वैंगन और मूलक निवेदन किया जाता है, वहां जनार्दन भगवान की ऐकान्तिकी प्रीति नही रहती॥ यहां तो निषेध की पराकाष्ठा हो गई कि वैंगन का स्पर्श होने मात्र से ही उर्वशीकी दिव्य गति मन्द पड़ गई।

सुनि …… सुख पावहीं—राजा वड़े प्रसन्न हुये कि मेरा वाग इतना वढ़िया है कि स्वर्ग से अप्सरा फूल लेने आती हैं। 'पास आये'—राजा को अपनी ओर आते देखकर अप्सराने स्पर्श का निषेध किया। उसे भय था कि कही राजसी प्रवृत्ति वश मुझे महल में ले चलने का उद्योग न करने लगें। कारण कि ये तो देव भोग्या हैं। मनुष्यका इनको भोगनेका अधिकार नही। पुराणों में ऋषि-मुनियों अथवा किसी-किसी राजाओ का भी जो अप्सराओं से सम्भोग का प्रसङ्ग पाया जाता है। वहां यह सम-झना चाहिये कि वे अपने तपोवल अथवा यज्ञादिक पुण्यों से इसी शरीर मे देवत्वको प्राप्त कर चुके हैं। अन्यथा सर्व धारण के लिये सम्भव नही है।

व्रत को …… जानै नाहिं—प्रश्न—सप्त मोक्षदायिनी पुरियो में सर्वश्रेष्ठ श्री-अयोध्यापुरी के परमधर्मात्मा राजा श्री रुक्मांगद के राज्य में एकादशी व्रत करना तो दूर रहा, कोई इस

व्रत का नाम तक नहीं जानता था। यह परम आश्चर्य सा लगता है। समाधान—वह समय सतयुग का था। लोगों की योग-ज्ञान में विशेष प्रवृत्ति होती थी। यथा—**कृतयुग सब योगी विज्ञानी। करि हरि ध्यान तरहिं सब प्रानी॥** (रा० च० मा०) एकादशी व्रत को ज्ञान-योग-समाधि की अपेक्षा गौण मानकर उससे एक दम उदासीन थे। अतः कहते है कि नाम कोऊ जानै नाहिं।

फेरी नृप डौंड़ी सुनि वनिक की लौंड़ी भूखी रही ही कनौड़ी निशि जागी उन मारिये।
राजा ढिग आनि करि दियो व्रत दान गई तिया यों उड़ानि निज लोक को पधारिये॥
महिमा अपार देखि भूपने विचारी याको कोऊ अन्न खाय ताको बाँधि मारि डारिये।
याही के प्रभाव भाव भक्ति विसतार भयो नयो चोज सुनो सब पुरी लै उधारिये॥८४॥

शब्दार्थ—डौंड़ी=डुग्गी, घोषणा। लौंडी=दासी। कनौड़ी=लज्जिता, खरीदी हुई दासी, गरीवनी, कानी, कृतज्ञा। पुरी=अयोध्या॥

भावार्थ—राजाने अपने नगर में ढिढोरा पिटवाया कि—कल जिसने अन्न जल ग्रहण न किया हो वह दरवार में आवे, उसे इनाम मिलेगा। इसे सुनकर एक वनिया की दासी आई, जिस वेचारी को विना अपराध के ही वनिये ने मारा था। इससे वह ग्लानिवश दिन-रात भूखी प्यासी और जागती ही रह गई थी। राजाने उसी से व्रतका संकल्प करा दिया। अप्सरा उड़कर अपने लोकको चली गई। एकादशी व्रतकी ऐसी अपार महिमा देखकर राजाने विचार करके यह घोषणा की कि—मेरे राज्यमें सभीको व्रत करना अनिवार्य है। यदि कोई अन्न खायगा तो उसे वांधकर मार डाला जायगा। इसके प्रभावसे राजारुक्मांगद के राज्य में भाव-भक्तिका वहुत विस्तार हुआ। अव दूसरी अनोखी वात सुनो, जिससे राज्य की समस्त प्रजा एक साथ ही वैकुण्ठ धाम को चली गई॥८४॥

व्याख्या—वनिक……कनौड़ी—वणिक वड़ा कृपण था। कभी भी वह दास दासियों को ठीक से भोजन भी नही देता था, और यदि कोई कुछ एतराज करता अथवा और माँगता तो वह उन्हें मारता और एक दम भोजन वन्द कर देता। आज दासी भी इसी संकट में पड़ गई थी। तभी तो कहा गया है कि कृपण की सेवा वड़ी दुखदायिनी होती है। यथा—**कष्टाधिकष्टं सततं प्रवासी ततोऽधि कष्टं परगेहवासी। ततोऽधिकष्टं कृपणस्य सेवा ततोऽधिकष्टं धनहीन सेवा॥** (नीतौ) अर्थ—निरन्तर प्रवास (अपना देश छोड़कर अन्यत्र निवास) वड़ा ही दु:खद होता हैं, उससे भी अधिक दुखदायी होता है दूसरे के घर मे निवास करना, उससे भो अधिक कृपण की सेवा कष्ट कारिणी होती है और सवसे अधिक कष्ट कर तो है धन हीन की सेवा॥ गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने भी लिखा है—**सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल समचारी॥** यहाँ नृप से तात्पर्य स्वामी से है। इसी से वीरवल ने एक पद में लिखा है कि—

पूत कपूत कुलच्छनि नारि परोसी लड़ाक लजाय न सारो।
वंधु कुवुद्धि पुरोहित लम्पट चाकर चोर अतीय धुतारो॥
साहव सूम अड़ाक तुरंग किसान कठोर दिवान नकारो।
ब्रह्म भनै सुनु शाह अकव्वर वारहो वांधि समुद्र में डारो॥

निशि जागी—एकादशी के दिन जागरण का भी विधान है। यथा—उपोष्यैकादशीं
धवत् करोति जागरण निशि। नृत्यं संकीर्तनं भक्त्या हरिः तस्य वशे भवेत्॥ (ए० मा०) अर्थ—जो
धि पूर्वक एकादशी व्रत करके रात्रि में भगवान् के सम्मुख भक्ति पूर्वक जागरण करते हुये नृत्य-संकीर्तन
ते हैं, भगवान उनके वश में हो जाते हैं॥ वह दासी भूख के मारे तथा अत्यन्त शोक के कारण रात्रि
सोई भी नही थी, अतः उसका विधिवत् एकादशी व्रत सहज ही सम्पन्न हो गया था।

उन मारिये—उस वणिक ने उसे मारा भी था। तभी तो कहा गया है कि—लक्ष्मीवन्तो
जानन्ति प्रायेण परवेदनाम्। शेषे धराभराक्रान्ते शेते लक्ष्मीपतिः स्वयम्॥ (नीती) अर्थ—प्रायः लक्ष्मी-
त दूसरे की पीड़ा का कम अनुभव कर पाते हैं। और की तो वात ही क्या? स्वयं श्रीलक्ष्मीपति भगवान
ष्णु भी, शेष शय्या पर हो सोते हैं, जव कि शेषजी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के भार को धारण करने से स्वयं
राक्रान्त होते हैं॥ पुनः **दुख गरीब को नहिं लखै, अभिमानी धनवान। पीर पराई पारखी केवल सन्त**
ान॥ (भ० व० टि०) **निज लोक को पधारिये** – वड़े-वड़े ऋषि-मुनि इन अप्सराओ के रूप लावण्य पर
हित होकर अपने स्वरूप को भूल जाते हैं परन्तु राजा रुक्मांगदजी को उर्वशीको देखकर किंचित् भी
सक्ति नही हुई, वल्कि प्रयत्न करके उसे स्वर्ग पठवाये। इस पर—

दृष्टांत—श्रीनारद-उर्वशीका—एक वार देवर्षि नारदजी आकाश मार्ग से कही
ा रहे थे। सयोग से उर्वशी अप्सरा उधर ही आ रही थी। उसे अपनी ओर आते देखकर श्रीनारदजी
स्ता छोडकर आगे निकलने लगे। ब्रह्म वर्चस्वी मुनि की अद्भुत कान्ति को देखकर उर्वशी मोहित हो
ई और लज्जा छोड़कर मुनि को हाव-भाव दिखाकर मोहित करने का प्रयत्न करने लगी, परन्तु सव व्यर्थ
या। तव स्पष्ट शब्दों मे उसने कहा कि नारद जी! आप मुझ से प्रेम करो। क्या वैराग्य मे धूल खाते
ीलते है? श्रीनारदजी ने कहा—अस्थि-चर्म, मल-मूत्र के भाण्डागार कामिनी के वास्तविक स्वरूप को
मझने वाला कौन ऐसा विवेकी पुरुष है जो उससे प्रीति करेगा? उर्वशी ने कहा—नारदजो! आप कैसी
भूली-भूली सी वाते कर रहे है? यह सव दोष तो प्राकृत स्त्रियों में होते हैं। हम तो दिव्य देवाङ्गना हैं।
हमारा शरीर तो दिव्य सुगन्धि का भण्डार है। यदि आप को विश्वास न हो तो देख लीजिये। ऐसा
कहकर उर्वशी ने अपना पेट चीर कर दिखाया तो उसमें से केशर-कस्तूरी, चोवा-चन्दन की दिव्य सुगन्धि
फैल गई। परन्तु श्रीनारद के मन में कोई विकार नही हुआ। वे वोले—माताजी! यदि मैं ऐसा जानता
तो तेरे ही उदर से जन्म लेता। यह सुनकर उर्वशी यह सोचकर कि जव इन्होंने माता ही कह दिया तो
इनसे क्या कहना है? स्वय सकुचित होकर चली गई। इसी प्रकार श्रीरुक्मांगदजी भी सर्वथा निर्विकार
रहे।

महिमा अपार--यथा-सर्वपापप्रशमनं पुण्यमात्यन्तिकं तथा। गोविन्द स्मारणं नृणामेकाद
श्यामुपोषणम्॥ (ब्रह्मवैवर्त) अर्थ—एकादशीके दिन उपवास का रखना सव पापोंको नाश करने वाला,
अत्यन्त पुण्य कारक तथा मनुष्यों को भगवानका स्मरण कराने वाला होता है। 'देखि'-का भाव यह कि
शास्त्रो मे इनकी महिमा का वर्णन तो वहुत है। कथा-वार्ता में सुना तो वहुत है परन्तु आज तो प्रत्यक्ष देख
लिया। **कोऊ अन्न ...... डारिये**—श्रीरुक्मांगदजी एकादशी के दिन हाथी पर नगाड़ा रखकर वजवाते और
सव ओर यह घोषणा कराते थे कि—'आज एकादशी तिथि है आज के दिन आठ वर्ष से अधिक और
पचासी वर्ष से कम आयु वाला जो मन्द वुद्धि मनुष्य भोजन करेगा, वह मेरे द्वारा दण्डनीय होगा, उसे

नगर से निर्वासित कर दिया जायगा। औरों की वात ही क्या, पिता, भ्राता, पुत्र, पत्नी और मेरा मित्र ही क्यों न हो, यदि वह एकादशीके दिन भोजन करेगा तो उसे कठोर दण्ड दिया जायेगा।'

पुरी लै उधारिये—इस प्रकार घोषणा करने पर सब लोग एकादशी व्रत करके भगवान विष्णु के लोक में जाने लगे। यमपुरी सूनी हो गयी। इससे यमराज वड़े ही चिन्तित हुये। वे प्रजापति ब्रह्मा के पास गये। और उन्हें यमपुरी के उजाड़ होने तथा अपनी वेकारी का समाचार सुनाया। ब्रह्माजी ने उन्हें शान्त किया। और एकादशी तथा भगवद्भक्तोंकी महिमाका वर्णन किया। पश्चात् ब्रह्माने यमराज के वहुत आग्रह करने पर उनकी इच्छा की पूर्ति एवं भक्त रुक्मांगद के गौरव को वढ़ाने के लिये माया की एक मोहिनी नाम की स्त्री वनाथा और श्रीरुक्मांगदजीको मोहित करने के लिये उसे मन्दराचल पर भेजा। शिकार खेलने के लिये वन में गये हुये राजा रुक्मांगद वढ़ते-वढ़ते मन्दराचल पर जा पहुँचे और मोहिनी द्वारा मधुर-स्वर से गाये गये गीतके शब्दों का अनुसन्धान करते हुये उसके समीप जा पहुँचे। उसके लोकोत्तर रूप-लावण्य को देखकर राजाने मुग्ध होकर प्रणय-प्रस्ताव किया। तव उसने कहा कि मेरी एक शर्त यह है कि 'मैं जो कुछ भी कहूं, वही आपको करना पड़ेगा।' राजा तो मोहासक्त हो रहे थे,तत्काल प्रतिज्ञा कर लिये—देवि ! तुम जिससे सन्तुष्ट रहो, मैं वही शर्त स्वीकार करता हूं। मोहिनी राजा रुक्मांगदजीके के साथ राजधानी की ओर चल पड़ी। महाराज की परम सती, साध्वी पति परायणा पत्नी सन्ध्यावली, तथा मातृ-पितृभक्त राजकुमार अङ्गद ने वड़े उत्साह के साथ दोनों का स्वागत किया। दिन वड़े सुख से वीतने लगे।

अन्त में एकादशी का पुण्य पर्व आया। शहर में ढिंढोरा पीटा जाने लगा—'कल एकादशी है। सावधान, कोई भूलसे भी अन्न न ग्रहण करे।' मोहिनीके कानों में ये शब्द पहुचे। उसने महाराजसे पूछा—यह कैसी घोषणा है। रुक्मांगदजी ने सारी परिस्थिति वतलायी और स्वयं भी व्रत करने के लिये तत्पर होने लगे। मोहिनी ने कहा—महाराज ! आपको मेरी एक वात माननी होगी। राजा ने कहा—प्रिये ! यह तो मेरी प्रतिज्ञा ही है। तुम निःसंकोच हृदय की वात कहो। मोहिनी ने कहा—आप एकादशी व्रत न करें। महाराज तो स्तव्ध हो गये। वहुत सँभलकर वोले—मोहिनी ! मैं तुम्हारी सब वात मानने के लिए तैयार हूँ और मानता ही हूँ। परन्तु देवि ! मुझसे एकादशी व्रत छोड़ने के लिए मत कहो। यह मेरे लिये नितान्त असम्भव है। मोहिनी ने कहा—यह तो हो ही नही सकता। आपने स्वयं ऐसी प्रतिज्ञा की है। फिर आप अपनी की हुई प्रतिज्ञा से टल ही कैसे सकते हैं। रुक्मांगदजी ने कहा—तुम किसी भी शर्त पर यह व्रत करने की आज्ञा मुझे दो। मोहिनी—यदि ऐसी वात है, तो आप अपने हाथ से अपने प्रिय पुत्र धर्माङ्गद का सिर काट कर मुझे दे दीजिये। श्रीरुक्मांगदजी वड़े धर्म संकट में पड़ गये। श्रीधर्मांगदजी को जव यह वात मालूम हुई तो वे पिता के समक्ष सिर झुका कर वारम्वार पिताजी से अपना सिर काटने के लिये अनुरोध करने लगे। धर्माङ्गदजी ने पिता को समझाया—पिताजी मेरे लिये इससे वढकर सौभाग्य का सुअवसर नहीं मिल सकता है। आज मैं धन्य हुआ जो अपना सिर देकर पिताजी की प्रतिज्ञा और माता का मनोरथ पूर्ण करूंगा। महारानी श्री सन्ध्यावलीजी ने भी धर्माङ्गदके वचनों का समर्थन किया। राजारुक्मांगद ज्यों ही तलवार चलाने को प्रस्तुत हुये कि पृथ्वी कांप उठी। साक्षात् भगवान श्रीहरि वहां आविर्भूत हो गये और अपने श्री कर-कमल से राजा का हाथ पकड़ लिया और वोले—'चलो धाम मम वैठि विमाना।'रुक्मांगदजीने कहा—'इकलो नहिं जैहौं भगवाना॥ अवध पुरी की प्रजा हमारी। मोकूँ अहैं प्रान ते प्यारी॥ तव सव कहँ संग लै असुरारी। गये धाम इमि पुरी उधारी॥(भ० व० टि०)

श्री रुक्माङ्गदजी की पुत्री

एकादशी व्रतकी सचाई लै दिखाई राजा सुता कि निकाई सुनौ नीके चित लाइकै ।
पिता घर आयो पति भूख ने सतायो अति माँगै तिया पास नहीं दियो यह भाइकै ॥
आजु हरिवासर सो तासर न पूजै कोऊ डर कहा मीच को यों मानी सुख पाइकै ।
तजे उन प्रान पाये वेगि भगवान वधू हिये सरसान भई कह्यों पन गाइकै ॥८५॥

शब्दार्थ—निकाई=अच्छाई,विशेषता,व्रतनिष्ठा । हरिवासर=हरि=विष्णु+वासर=दिन,एकादशी । ता सर=उसके समान । न पूजै=पूरा न हो,वरावरी न कर सके ।

भावार्थ—राजा रुक्माँगदने एकादशी व्रत की सच्ची महिमा को प्रत्यक्ष प्रकट करके दिखाया, अव राजपुत्री की एकादशी व्रत निष्ठा को एकाग्रमन से सुनिये। एक वार जव वह अपने पिताके ही घर थी तव एक दिन उसका पति आया। व्रत का दिन था इसलिए किसी ने भोजन पानादि की वात भी नही पूछी। उसे भूख ने वहुत सताया; व्याकुल होकर उसने अपनी स्त्री से भोजन मांगा। एकादशी व्रत होने के कारण उसने भी कुछ खाने को नही दिया। तव उसके पति ने कहा कि—मुझसे भूख-प्यास सही नहीं जा रही है, मैं थोड़ी देरमे मर जाऊँगा। राजपुत्री ने कहा—आज तो एकादशी है, इसके समान प्राण त्यागने का उत्तम दिन और कोई नहीं है इसलिये मृत्युका क्या भय ? यदि प्राण छूट भी जांय तो दुर्लभ वैकुण्ठ की प्राप्ति होगी राजपुत्री ने सुखपाकर ऐसा ही माना और व्रत निष्ठा पर अटल रही। उधर भोजन न मिलने से उसके पति ने प्राण त्याग कर दिए और शीघ्र ही वैकुण्ठ धामको पहुँच कर भगवान को प्राप्त हो गया। यह देखकर उसकी स्त्रीका हृदय भक्ति से भर गया। उसने भी शरीर त्यागकर पति का अनुगमन किया। इस प्रकार उसके प्रणको ऋषियो ने गा कर कहा है ॥८५॥

व्याख्या—पिता घर······भाइकै—कन्या का पति दशमी की सन्ध्या को ही आ-गया। प्रथम श्वसुर श्रीरुक्मागदजीके पास गया और प्रणाम किया। राजाने वड़ा प्यार किया, भूरि-भूरि शुभाशीर्वाद दिया, कुशल-मङ्गल पूछा, परन्तु खाने पीने की कोई वात भी नही पूँछी। क्यों कि एकादशी व्रत के विधानमे दशमीको भी केवल एकवार लघु आहार किया जाता है इसके वाद वह सासुके पास गया वहाँ भी वही वात। तत्पश्चात उसने पत्नी से कहा। कि क्या वात है कि मेरे सास-सुसर प्यार की वात तो वहुत करते हैं, परन्तु भोजन-पानीका कुछ नाम भी नही लेते है। तव राजकुमारीने सव रहस्य वताया तो वह विचार करने लगा कि वुरे फँसे। इस पर—

दृष्टांत—आय फंसे का—मुसलमानोंका ताजिया निकला था। वाजे वज रहे थे। वडा शोर-शरावा हो रहा था। एक पण्डितजी ने सोचा—नगर कीर्तन होगा। इसी धोखे में घर से वाहर निकले तो देखे कि यह तो ताजिया है। संयोगकी वात, उन्ही मुसलमानो में पण्डितजीका एक मित्र मुसलमान भी था। उसने मारे प्रेम के पण्डितजी को भी वुला लिया। श्रीपण्डितजी भी अपने धर्म के अनुकूल न होने पर भी मित्र के संकोच वश संग चल पड़े। परन्तु पड़ गये वड़े फेर में। मुसलमान तो 'हाय हुसेन' कहते चल रहे थे। पर ये अव क्या कहें। इनको तो 'हाय हुसेन' कह कर छाती पीटना उचित नही है, और कहने का कोई अभ्यास भी नहीं। अतः ये कहते कि—'आय फँसे सो आय फँसे।'

कन्याके पतिने दशमीकी रात तो जैसे तैसे विता दिया। क्योकि घर से खा-पीकर आया ही था। परन्तु एकादशीके दिन तो उसे मारे भूख के चैन नही पड़ती, प्राणों पर आ बनी। उसने पत्नी से बहुत कहा कि मुझे कुछ खिलाओ नही तो मेरे प्राण नही रहेंगे। परन्तु पत्नी ने नहीं दिया। इस पर-दृष्टान्त श्रीनामदेवजी का—ब्राह्मण मर गया लेकिन अन्न नही दिये। (विशेष देखिये क० १४२) बोली—आजु"" कोऊ।

डर कहा मीचको—यथा—'जा मरने से जगडरै सो मेरे आनन्द। कब मरिहौं कब भेटिहौं पूरण परमानन्द'॥ 'तजे उन प्रान'-परमसुकुमार राजकुमार को क्षुधा-कष्ट सह्य नही हुआ। उसने प्राण छोड़ दिया।

दृष्टान्त-मुल्ला को—हिन्दुओ के एक गाँव में एक मुसलमान का भी घर था। वह हिन्दुओं के बीच में रहने से प्रायः उन्हीं की रहन-सहन से रहने लगा। सभी व्रत, त्योहार भी हिन्दुओं की तरह स्वयं भी मनाता। ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष की भीमसेनी एकादशी थी। उसने एक ब्राह्मण से पूछा—पडित जी! आज का व्रत कैसे किया जाता है? पडितजी ने कहा—मौलवी साहव! आज तो निर्जल व्रत करने की विधि है। मुल्ला ने सोचा-करलूँ, एक दिन की हो तो वात है। वर्ष के और सभी त्यौहार तो खूब घोटने-छाननेके होते हैं। एक ऐसा ही सही। वह भी निर्जल रह गया उस दिन। दिन तो जैसे तैसे व्यतीत हो गया। रात मे मुश्किल पड़ गयी। राम—रहीम करते रात भी विताई। परन्तु प्राण कण्ठगत हो रहे थे। प्रातः काल कहीं से रोने की आवाज सुनाई पड़ी। वात यह थी कि किसी की कन्या विदा हो रही थी। मिलने-भेटने वाले रो-विलख रहे थे। मुल्ला की पत्नी ने कहा—न जाने कौन रो रहा है और क्यों रो रहा है? मुल्ला ने झट कहा—क्यों की वात क्या पूछ रही हो। कोई एकादशी व्रत करने वाला मर गया होगा। क्योंकि वह स्वयं ऐसी ही स्थिति में पहुँच चुका था। ऐसे ही तजे उन प्रान।

पाये वेगि भगवान—यह एकादशी का परम प्रताप है। एकादशी व्रतं गीता गङ्गाम्बु तुलसीदलम्। विष्णोः पादाम्बुनामानि मरणे मुक्तिदानि च॥ (ग० पु०) नही तो वड़े-वड़े ज्ञानी, कर्म काण्डी तो अनेक जन्म तक साधनानुष्ठान करने पर भगवद्धामके अधिकारी हो पाते हैं। यथा—'वहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।' 'अनेकजन्म संसिद्धस्ततो याति परांगतिम्'। (गी०) कन्या ने पति का अनुगमनकर अपने सतीत्व एव एकादशी व्रत—दोनो का पूर्णतः निर्वाह किया। ऐसा भी प्रसग आता है कि श्रीरुक्मांगदजी की पुत्री चन्द्र भागाके पति शोभन को सुमेरु गिरि के निकट देवपुर नामक दिव्य नगर का वास मिला। वहाँ उसे सव दिव्य सुख प्राप्त थे, परन्तु वह लोक अध्रुव था। क्योकि—आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। (गी०) अतः वह चिन्तित रहता था। एक वार श्रीअयोध्या के ही सोमगिरि नामक ब्राह्मण, जो वड़े ही तपस्वी थे, अपने तपोवलसे वही जा पहुँचे और उन्होंने शोभनको पहिचान लिया। ब्राह्मणने जव शोभन से उदासी का कारण पूछा तो उसने कहा कि विना श्रद्धा के कष्ट पूर्वक जैसे-तैसे एकादशी का व्रत करने से मुझे यह दिव्य लोक मिला तो, परन्तु क्षयिष्णु होने से मैं खेद खिन्न रहता हूँ। यदि मेरी पत्नी अपनी एक एकादशी व्रत का पुण्य मुझे दे दे तो मैं अक्षय भगवद्धाम को चला जाऊँगा। ब्राह्ण ने आकर चन्द्रभागा से कहा तो वह तुरन्त ही अपने पति के पास चल पड़ी। मार्ग में श्रीवामदेवजी मिले। चन्द्रभागा की व्रत-निष्ठा एवं पति-प्रेमपर प्रसन्नहोकर अपने तपोवलसे उसे वहाँ पहुँचा दिया। उसने अपना समस्त व्रतफल पति को दे दिया। फल स्वरूप, तुरन्त दिव्यविमान आया। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि 'पाये वेगि भगवान'। तव शोभनने कहा कि मैं तो सर्वथा विमुख था, परन्तु पत्नी के पुण्य प्रताप से

भगवद्धामका अधिकारी वना हूँ अतः मैं उसके विना अकेले नही जा सकता हूँ। तव भगवत्पार्षद भगवदादेन से दोनो को ही वैकुण्ठ ले गये। इससे चन्द्रभागाको भी वड़ी प्रसन्नता हुई। यथा—'वधू हिये सरसान भई' धन्य एकादशी व्रत निष्ठा।

एकादशी की उत्पत्ति—सतयुग में शंखासुरका पुत्र मुर नामक दैत्य हुआ। शंखासुर को भगवान विष्णु ने मार डाला। इससे मुर को वडा दु.ख हुआ और इसका वदला लेने के लिये वन मे जाकर उसने घोर तप किया। उसके तप से सन्तुष्ट होकर श्रीब्रह्माजीने उसके पास आकर उससे वर मांगने को कहा। यह सुनकर मुर वोला—हे नाथ! देवता, दैत्य, मुनि-मनुष्य, शिव-विष्णु और लोकपाल-दिग्पाल आदि जहाँ तक आप की सृष्टि है, मुझसे कोई समर मे जीत न सके। 'ऐसा ही हो' कहकर ब्रह्माजी अपने लोक को चले गये। मुरने वर पाकर सभी लोकपालों को जीतकर समस्त लोको पर अधिकार कर लिया और वहाँ अपने दैत्य नियुक्त कर दिये। दु.खी देवता श्रीशिवजीके पास गये। श्रीशिवजी सबको लेकर भगवान विष्णुकी शरण में गये। देवताओं ने स्तुति की। भगवानने प्रसन्न होकर देवताओको आश्वासन दिया और स्वयं देवताओ एवं पार्षदों की सेना सजाकर युद्ध के लिये चल पड़े। मुर दैत्यने भी अपनी सेना सजाकर युद्ध का डका वजवा दिया। घोर युद्ध हुआ देवताओ और दैत्यों को प्रवल देखकर भगवान विष्णु ने युद्ध समाप्ति की इच्छा से मुर पर चक्रसुदर्शन का प्रहार किया परन्तु वरदान के कारण उस दुर्दान्त दैत्य ने आह तक नही किया, चक्र लौट आया लज्जित होकर। देवताओ में हा हा कार मच गया।

तव भगवान ने दूसरी लीला की। युद्ध छोड़कर भाग चले। मुरने पीछा किया। भगवान भागकर वदरिकाश्रमकी एक गम्भीर गुफा मे जा छिपे और अत्यन्त श्रमित होने के कारण निद्रावश हो गये। मुरने भी गुहा मे प्रवेश किया। उसी समय भगवानके हृदय से आदि शक्ति ने कन्या के रूप में प्रकट होकर अपने परम तेज एव दिव्यायुधोंसे क्षण मात्र में सेना सहित मुर दैत्य को भस्मसात् कर दिया। देवताओने स्तुति की और पुष्पो की वर्षा की। भगवान विष्णु भी जग गये। देवताओने भगवान की भी स्तुति की। पुष्प वरसाये। पश्चात् भगवानने उस कन्या से कहा—देवि! तुम चलकर मेरे लोकमें रहो। मेरे शरीर से एकादशी तिथि को उत्पन्न होने से तुम्हारा नाम एकादशी होगा। तुम अष्ट सिद्धियों, नवो निधियों, सभी प्रकार की मुक्तियों एवं मुझ परमात्मामे दुर्लभ प्रेम तथा मुझको भी प्राप्त करानेवाली होओगी। नियम पूर्वक व्रत करके जो नरनारी तुम्हारा पूजन करेंगे उनकी समस्त मनोकामनाये सिद्ध होंगी॥ (विश्राम-सागर)

एकादशी व्रत तीन दिनो में साध्य होने वाला वतलाया गया है। दशमीसे ही व्रत का उपक्रम होता है और द्वादशीको पूर्ण होता है। इन तीन दिनों में दशमी में दश, एकादशीमें ग्यारह और द्वादशी मे द्वादश नियम अवश्यमेव पालनीय हैं। यथा—कांस्यं मांसं मसूरान्नं चणकान् कोद्रवांस्तथा। शाकं मधु परान्नं च पुनर्भोजनमैथुने। दशम्यां दश वस्तूनि वर्जयेद्वैष्णवः सदा॥ अर्थ—कांसे का वर्तन, मांस, मसूर, चना, कोदो, शाक, मधु, परान्न (दूसरे का अन्न) पुनर्भोजन (दो वार खाना) और मैथुन—ये दश दशमी के दिन वर्ज्य हैं॥ द्यूतक्रीडां च निद्रां च ताम्बूलं दन्तधावनम्। परापवादं पैशुन्यं स्तेयं हिंसां तथा रतिम्॥ कोपं ह्यनृतवाक्यं च एकादश्यां विवर्जयेत्॥ अर्थ जूआ खेलना, नीद लेना, पानखाना, दाँतुन करना, चोरी करना, हिसा करना, मैथुन करना, क्रोध करना और झूठ वोलना—एकादशी को ये ग्यारह कार्य न

करे ॥

कांस्यं मांसं सुरां क्षौद्रं तैलं वितथ भाषणम्।
व्यायामं च प्रवासं च पुनर्भोजन मैथुने।
अस्पृश्यास्पर्शमासूरे द्वादश्यां द्वादश त्यजेत् ॥

अर्थ—कांसे का वर्तन, मांस, मदिरा, मधु, तेल, झूठ वोलना, व्यायाम करना, परदेश में जाना, दुवारा भोजन, मैथुन, जो स्पर्श करने योग्य न हो उसका स्पर्शकरना और मसूर खाना—ये द्वादश वस्तुएँ द्वादशी को न करे ॥(ना०पु०)

दशमी के दिन पूर्वान्ह में एक वार हविष्यान्न भोजन करना चाहिए। इसके वाद फिर कुछ नही खाना-पीना चाहिए। एकादशी के दिन ब्रह्ममुहूर्त में उठकर प्रातः कालीन कृत्य से निवृत्त होकर स्नान करके भगवान का प्रसन्नता के उद्देश्य से व्रतोपवास का संकल्प लेकर संध्या-तर्पण करने के अनंतर भगवान का पोडशोपचार विधि से पूजन करना चाहिए। पुनः स्तुति—प्रणामानन्तर सम्पूर्ण दिवस भगवन्नाम संकीर्तन, जप, स्वाध्याय में लगाना चाहिए। रात्रि में जागरण करे। निर्जल व्रत करना उत्तम कहा गया है। यदि ऐसा न हो सके तो स्वल्पमात्रा में एक वार दूध अथवा फल लेना चाहिये। द्वादशी के दिन पूर्ववत् सेवा-पूजा करके भगवान का चरणामृत लेकर कम से कम एक व्राह्मण को भोजन कराकर व्रत का पारण करना चाहिए। (व्रह्मवैवर्त)

टीका समुदाय की

सुनो हरिश्चन्द कथा व्यथा विन द्रव्य दियो तथा नहीं राखी बेचि सुततिया धन है।
सुरथ सुधन्वा जू सों दोष के करत मरे शङ्ख औ लिखित विप्र भयौ मैलो मन है॥
इन्द्रऔ अगिनि गये शिविपै परीक्षा लैन काटि दियो मांस रीझि सांचो जान्योपन है।
भरत दधीच आदि भागवत बीच गाए सवनि सुहाये जिन दियो तन धन है॥८६॥

शब्दार्थ—व्यथा=कष्ट। द्रव्य=धन। तथा=तैसे,पहलासंकल्प, समानता, और, तैसे। दोप=अपराध, झूठी निन्दा।

भावार्थ—अव सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की कथा सुनिए। उन्होने मन में विना किसी कष्ट का अनुभव किये प्रसन्नतापूर्वक विश्वामित्र मुनि को अपना सम्पूर्ण राज्यवैभव दान कर दिया। कुछ भी शेष नही रक्खा, पहले सङ्कल्पको पूरा किया, सत्य का पालन करनेमें अपने समान किसी को नही रक्खा। राज्य छोड़कर काशीपुरी को चले गए, वहाँ उन्होने अपने शरीर के साथ ही स्त्री-पुत्रको वेच दिया। सत्य की रक्षा करके भगवान को प्रसन्न किया।

सुरथ और सुधन्वा दोनों वडे भारी भक्त थे। शङ्ख और लिखित दोनों व्राह्मणों के मन मलिन थे, उन्होने दोनों भक्तों को मिथ्या दोप लगाया और वे अपने पाप से मर गए। शरणागत रक्षक राजा शिवि के पास परीक्षा लेने के लिये इन्द्र और अग्निदेव वाज और कवूतर वनकर गए। शरणागत कवूतर की रक्षा करते हुए प्रसन्न होकर उन्होने वाज को अपने शरीर का मांस काटकर दे दिया, तव दोनों को

विश्वास हुआ कि राजा अपने प्रण का पालक और सच्चा धर्मात्मा हैं। छप्पय में आये शेष भक्त और दधीचि आदि भक्तों की कथाएँ श्रीभागवत में कही गई हैं। जिन्होंने परोपकार में अपना तन-मन और धन अर्पण किया वे भक्त संसार में सभी को प्रिय हुए ॥८६॥

व्याख्या—श्रीहरिश्चन्द्रजी—

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ व्रत हरिचन्द को, टरै न सत्य विचार ॥

सत्यव्रती महाराज श्रीहरिश्चन्द्रजी श्रीअयोध्याके चक्रवर्ती नरेश थे। ये बड़े ही धर्मात्मा, प्रजा-पालक, दानवीर एवं भगवद् भक्त थे। इनकी धर्मनिष्ठा लोक विख्यात थी। इनके धर्माचरण के प्रभाव से इनके राज्यकाल मे कभी अकाल नहीं पड़ा, किसी को रोग नहीं हुआ। मनुष्यों की अकाल मृत्यु नहीं हुई और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि पुरवासियों की कभी भी अधर्म में रुचि नहीं हुई।

एक बार महाबाहु राजा हरिश्चन्द्र जङ्गल में शिकार खेलनें गये थे। वहाँ उनको कुछ स्त्रियो की कातरवाणी सुनाई पड़ी। वे कह रही थी—'हमें बचाओ, हमें बचाओ।' राजा ने शिकार का पीछा छोड़ दिया और उन स्त्रियों को लक्ष्य करके कहा—'डरो मत, डरो मत। कौन ऐसा दुष्टबुद्धि वाला है जो मेरे राज्य मे इस प्रकार का अन्याय कर रहा है।' बात यह थी कि भक्त महर्षि विश्वामित्र समस्त विद्याओं को वश में करने का साधन कर रहे थे। परन्तु वे वश में होना नहीं चाहती थी। अतः मूर्तिमती होकर क्रन्दन कर रही थी। जब राजा ने उन्हें आश्वासन देते हुये उनको दुःख देने वालों को कुछ कटु वचन कहा तो उसे सुनकर महर्षि विश्वामित्र कुपित हो उठे। उनके मनमें क्रोध का उदय होते ही साधन में त्रुटि आ जाने से सभी विद्यायें अन्तर्धान हो गईं श्रीहरिश्चन्द्रजी कुपित महामुनि को देखकर कांप गये और विनयपूर्वक मुनिको प्रणामकर बोले—भगवन् ! मैंने राजधर्म का पालन किया है। इसे अपराध मान कर आप कुपित न हों। धर्मज्ञ राजा को उचित है कि श्रेष्ठ ब्राह्मणों को तथा जिनकी जीविका नष्ट हो गई है, उन्हे दानदे, भयभीत प्राणियों की रक्षा करें और शत्रुओं के साथ युद्ध करें।

विश्वामित्रजी ने कहा कि यदि ऐसी बात है तो जैसे तुमने इन विद्याओं की रक्षा की है वैसे ही मैं प्रतिग्रह की इच्छा करता हूँ। मुझे इच्छानुसार दान दो। राजा के सहर्ष वचन बद्ध होने पर मुनि ने राजा के शरीर, स्त्री और पुत्र को छोड़कर सर्वस्व मांग लिया और राजा ने सहर्ष दे दिया। पुनः इस सर्वस्वदान की पूर्णता के लिए दक्षिणा रूप में प्रचुर स्वर्ण राशि मांगी और वस्त्राभूषणों को उतार कर केवल एक वस्त्र धारण कर राज्य से निकल जाने को कहा। राजा ने दक्षिणा की रकम को चुकता करने के लिए एक महीने का अवकाश मांगा और अपनी पत्नी शैव्या तथा पुत्र रोहित को साथ लेकर नगर से निकल पड़े। प्रजा में हाहाकार मच गया। प्रजाको सान्त्वना देने के लिये महाराज तनिक रुके कि तुरन्त विश्वामित्रजी ने आकर उन्हे बहुत फटकारा कि राज्य दान करके पुनः उसमें आसक्ति करना उचित नही है। राजा पत्नी और पुत्र को खीचते हुए 'मैं जाता हूँ, मैं जाता हूं' यह कहते हुए अपनी बिलखती प्रजा को छोड़कर चल दिये। श्रीविश्वामित्र जी के इस कठोर व्यवहार की पांच विश्वेदेवों ने भर्त्सना की तो मुनि ने उन्हे भी कुपित होकर मनुष्य योनि में जन्म लेने का शाप दे दिया। वही द्रौपदी के पाच पुत्र हुए। (मार्कण्डेय पुराण)

भक्तचरिताङ्क में यह प्रसङ्ग इस प्रकार वर्णित है—देवर्षि नारदजीसे महाराज हरिश्चन्द्रजीका सुयश श्रवण कर देवराज इन्द्रको ईर्ष्या हुई। वे परीक्षा की वात सोच ही रहे थे कि महर्षि विश्वामित्रजी आगये। शोकमुद्रा में देवेन्द्र को देखकर महर्षि ने कारण पूछा। तव इन्द्र ने अपने मन का भाव मुनि के समक्ष प्रकट किया। संयोग की वात, मुनि विश्वामित्र भी ऋषियों की सभा में राजा की प्रशंसा सुनकर परीक्षा लेने की सोच ही रहे थे कि इन्द्र ने भी वही वात कही। वात बन गई। मुनि ने अपने तपोवल से ऐसी माया रची कि राजा ने स्वप्नावस्था में अपना सर्वस्व मुनि को दान कर दिया। दूसरे दिन महर्षि विश्वामित्र ने श्रीअयोध्या की राज सभा में आकर स्वप्न की बात याद दिलायी। तथा राज्य मांगे। सत्यवादी राजाने स्वप्नके दान को भी सत्य ही माना और पूरा राज्य तथा कोष मुनि को सौप दिया। तत्पश्चात् ऋषि ने इतने वड़े दान की सांगता सिद्धचर्थ एक सहस्र स्वर्णमुद्रा दक्षिणा में मांगी। चक्रवर्ती सम्राट श्रीहरिश्चन्द्र के पास अव एक कौड़ी भी नही रह गई थी। परन्तु इतने पर भी उन्होने दक्षिणा देना स्वीकार कर, दूसरा कोई उपाय न देखकर अपना शरीर वेंचकर दक्षिणा चुकाने का निश्चय कर अपनी पत्नी और पुत्र को साथ लेकर नगर से निकल पड़े। श्रीशिवकी नगरी काशीपुरी आये।

कल्पभेद से विश्रामसागर में यह कथा और तरह से वर्णित है। यथा—नृप कीरति सब जगमें छाई। जहां तहाँ मुनि करहिं वड़ाई॥ सुनि कौशिक मुनि कहा रिसाई। अवहीं नृप सत देहिं डिगाई॥ फिर तो मुनिजी तुरन्त ही एक विशाल वराह का रूप धारण करके श्रीअयोध्या में आकर श्रीहरिश्चन्द्रजी की फुलवारीमें प्रवेश करके उसे रौदने लगे। उसकी गुर्राहट सुनकर रखवाले भाग गये और आकर राजा को सूचना दिये। राजाने वीरों को सूकर को मार भगाने के लिये भेजा। परन्तु वे सूकर को भगाने में समर्थ नहीं हो सके। तव श्रीहरिश्चन्द्रजी स्वयं घोड़े पर चढ़कर वहां पहुँचे। इन्हे देखते ही सूकर भाग चला। इन्होने उसका पीछा किया। वह कभी प्रगट होता कभी छिप जाता इसप्रकार राजाको घोर जंगलमें दूर ले जाकर अदृश्य हो गया। फिर मुनि ने यह उपाय किया कि अपने तपोवल से एक पुत्र और एक कन्या वनाकर, स्वयं पुरोहित वनकर उनका विवाह कराने लगे। राजा सूकरको न पाकर लौटकर उनके पास आ गये। ब्राह्मण ने कहा—राजन्! इस कन्या के कोई नहीं है, तुम्ही इसका कन्यादान करो। राजाने कहा—द्विजवर! इस समय तो मेरे पास कुछ है नही, मैं उपहार मे क्या दूँ? ब्राह्मण ने कहा—खजाने की चाभी और घोड़ा तो है ही, इसी से पांव पूज दो। राजाने ऐसा ही किया। तव ब्राह्मण ने कहा—मैं आपका पुरोहित हूँ, मुझे भी कुछ दीजिये। इस पर जव राजा ने ब्राह्मण से मांगने को कहा, तव ब्राह्मण ने तीन भार स्वर्णकी याचना की। राजा हरिश्चन्द्रने यह भी देने का वचन दिया। इस प्रकार विश्वामित्रजी ने छल से राजा का सर्वस्व एवं तीन भार स्वर्ण ऊपरसे मांग लिया। श्रीअयोध्या पहुँचने पर जव राजा खजाने से स्वर्ण देने लगे तो विश्वामित्र ने अपना तर्क प्रस्तुत किया कि यह सव तो पहले ही संकल्प कर चुके हो, फिर दिये का दान कैसा। मुनि के यह वचन सुनकर राजाने अपनी, रानी तथा पुत्र को वेचकर मुनि का देय चुकाने का संकल्प किया। (वि० सा०)

एक प्राचीन हस्त लिखित श्रीभक्तमाल तिलक में लिखा है कि एक समय श्रीवशिष्ठजी और विश्वामित्रजी श्रीब्रह्माजी की सभा में वैठे थे। श्रीनारदजी भी वही थे। ब्रह्माजी ने नारदजी से पूछा कि इस समय समस्त लोक-लोकान्तरों में सवसे श्रेष्ठ सत्य निष्ठ कौन है? श्रीनारदजी ने राजा हरिश्चन्द्र का नाम लिया। श्रीवशिष्ठजी ने समर्थन किया। श्रीविश्वामित्रजी को नारद की यह वात अच्छी नही लगी। मन मे परीक्षा का भाव जागृत हुआ। सर्वज्ञ श्रीवशिष्ठजी इनके मनोभाव को जानकर अयोध्या आकर

राजा हरिश्चन्द्र से बोले कि आप अब सावधान हो जाइये। श्रीब्रह्माजी की सभा में आपके सुयशकी वार्ता हुई है जो मुनि को नहीं सुहाई है। वे हमसे स्पर्धा करते हैं, अतः हमारे नाते आप से भी वे कठोर से कठोर वर्ताव कर सकते हैं। उनके स्वभाव को आप जानते ही हैं। राजा ने कहा—आपकी कृपा से सब मंगल ही होगा। ऐसा मेरा विश्वास है। इसके बाद राजा ने राजसूय यज्ञ करके अपना सर्वस्व ब्राह्मणों को दान कर दिया। इसके पश्चात् महर्षि विश्वामित्र आये और यज्ञ करने के लिये राजासे एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रा मागे। सत्यव्रती श्रीहरिश्चन्द्रजी ने मुनि का मनोरथ पूर्ण करने के लिये अपने को बेचकर उन्हें अभी-प्सित द्रव्य देने का विचार कर काशी को प्रस्थान किया।

राजाने विचार किया कि सभी शास्त्र-पुराण कहते हैं कि काशीपुरी भगवान शङ्कर के त्रिशूल पर बसी है। उसके अधिपति देवाधिदेव महादेव हैं। अतः वह परम दिव्यपुरी भला मेरे राज्यके अन्तर्गत कैसे हो सकती हैं? मुझे तो वहीं चलकर अपना विक्रय करना चाहिये। फिर तो कलके चक्रवर्ती सम्राट आज भिखारी की तरह नगे पांव पैदल अपनी परम सुकुमारी रानी एवं नन्हें पुत्र रोहित को लेकर काशी को चल पड़े। मार्ग में मुनिने एक माया यह रची कि इधर राजा, रानी और रोहित, तीनों को अत्यन्त तृषार्त कर दिया, उधर एक प्याऊ की सृष्टि कर दी। प्याऊ पर बैठे ब्राह्मण ने राजा को प्यासा देखकर जल पीने का बहुत आग्रह किया, परन्तु धर्मात्मा राजा ने कहा कि मैं मुनि की दक्षिणा चुकाये बिना जल नही ग्रहण कर सकता हूं। ऐसा कह कर राजा आगे बढ़ गये। ब्राह्मणने इसी प्रकार रानी और रोहितसे भी जल पीने को बहुत कहा परन्तु इन्होंने भी वही उत्तर दिया जो राजा ने दिया था। ब्राह्मणने झूठ-मूठ ही कहा कि राजा तो जल पी गये हैं फिर तुम लोग क्यों कष्ट सह रहे हो, परन्तु तो भी ये अपनी निष्ठा में अचल बने रहे। इनके इस ध्रुव-धैर्य को देखकर विश्वामित्रजी मनही मन बड़े प्रसन्न हुये, साथ ही अपनी माया के विफल हो जाने से लज्जित भी हुये।

महाराज हरिश्चन्द्र को पैदल चलने से एक महीने की अवधि मार्ग में ही पूर्ण हो गई थी केवल एक दिन शेष रह गया था। बीच-बीच में विश्वामित्रजी प्रगट हो-होकर राजा को चेतावनी दे जाते थे, डरा-धमका जाते थे। आज अन्तिम दिन है। विश्वामित्रजी पुनः प्रकट होकर राजा से बोले—महाराज! यदि आज मुझे दक्षिणा न मिली तो मैं तुम्हे शाप दे दूंगा। श्रीहरिश्चन्द्रजीने मुनिको प्रणाम कर कहा—मुनिवर! अभी आधा दिन शेष है। इतने समय तक आप और प्रतीक्षा कीजिये, मैं अभी आपकी दक्षिणा चुकाता हूँ। मुनि अन्तर्धान हो गये। राजा ने अपने को बेचने का निश्चय किया तब उनकी परम साध्वी रानी ने हाथ जोड़कर कहा—महाराज! मुझसे पुत्र का जन्म हो चुका है। श्रेष्ठ पुरुष स्त्री-संग्रह का फल पुत्र ही बताते हैं,वह फल आपको मिल चुका है। अतः मुझे ही बेचकर ब्राह्मणकी दक्षिणा चुका दीजिये। महारानी का यह वचन सुनकर राजा हरिश्चन्द्र मूर्च्छित हो गये और पुनः होश आने पर विलाप करने लगे और असह्य दुःख के कारण पुनः मूर्च्छित हो गये। पति की इस दुरवस्थाको देखकर रानी शैव्या भी मूर्च्छित हो गई। इसी बीच विश्वामित्रजी फिर प्रगट हो गये और जल का छींटा देकर राजा-रानी को चैतन्य कर बोले—राजेन्द्र! सत्य से ही सूर्य तप रहा है, सत्य पर ही पृथ्वी टिकी हुई है, सत्य भाषण सबसे बड़ा धर्म है। अतः तुम अपने सत्य का शीघ्र पालन करो। देखो अब सूर्यास्त का समय होने वाला है।

उधर पत्नी का आगह, इधर विश्वामित्रजी की कड़ी चेतावनी, राजा ने विवश होकर व्याकुल चित्त से नगर में जाकर नेत्रों में आंसू भरे हुए गद्‌गद् कण्ठ से पत्नी को बेचने की आवाज लगाई। एक

वृद्ध ब्राह्मण ने पांच सौ स्वर्णमुद्रा देकर रानी को खरीद लिया। महारानी शैव्या ने हाथ जोड़कर ब्राह्मण से प्रार्थना की, कि—देव ! यथाशक्ति आपके घर की सेवा करने में कभी इन्कार नही करूंगी, मेरी तीन बातें आपको स्वीकार करनी पड़ेंगी। एक तो यह कि मैं कभी भी परपुरुष से भाषण नहीं करूंगी, दूसरे यह कि मैं जूठा नहीं खाऊंगी, तीसरे यह कि सेवा के अतिरिक्त मैं एकान्त में वास करूंगी। ब्राह्मण ने तीनों बातें स्वीकार करली। जिस समय ब्राह्मण रानी को लेकर चला, राजा के दुःख का पारावार नही रहा, बालक रोहित 'मा' 'मा' कहता हुआ मां के अञ्चल का छोर पकड़ कर संग-संग लग गया। ब्राह्मण ने बालक को बहुत दुत्कारा। तब रानी शैव्या ने ब्राह्मण से बालक को भी साथ ले चलने की अनुमति मांगी। ब्राह्मण ने बालकको भी कुछ द्रव्य देकर खरीद लिया और राजाके देखते-देखते रानी और रोहित को लेकर आंखों से ओझल हो गया।

राजा दुःख से अत्यन्त कातर हो रहे थे, तब तक विश्वामित्रजी आ धमके। राजा ने प्राप्त धन मुनि के हवाले किया और शेष के लिए कुछ काल और प्रतीक्षा की प्रार्थना की। फिर राजा ने अपने को बेचने की आवाज लगाई। उसी समय धर्म चाण्डाल का रूप धारण कर राजा के सम्मुख प्रस्तुत हुए और अभीप्सित धन देकर राजा को खरीदने के लिए तैयार हो गये। जब राजा को यह पता चला कि यह चाण्डाल है तो वे किं कर्तव्य विमूढ हो गये। उन्हें विश्वामित्र की शापाग्नि से जल मरना श्रेयस्कर प्रतीत हुआ परन्तु चाण्डालकी अधीनता अच्छी नही लगी। राजा सोच ही रहे थे कि 'किं करोमि' क्व गच्छामि' तब विश्वामित्रजी क्रोध से आंखें लाल-लाल किये हुये आ पहुंचे। और आते ही शाप की धमकी दिये। श्रीहरिश्चन्द्रजी ने कहा—मुनिश्रेष्ठ ! आप मुझ पर कृपा करें। चाण्डाल का सम्पर्क बड़ा निन्दनीय है। शेष धनके बदले मैं आपका ही सब कार्य करने वाला, आपके अधीन रहने वाला तथा आपकी इच्छानुसार चलने वाला दास बनकर रहूंगा। विश्वामित्रजी ने कहा—यदि तुम मेरे दास हो तो मैंने एक अरब स्वर्ण मुद्रा लेकर तुम्हे चाण्डाल को दे दिया। अब तुम उसके दास हो गये। चाण्डाल ने मुनि को धन देकर राजा को अपने अधीन कर लिया। (मार्कण्डेय पुराण)

अन्यत्र राजा को चाण्डाल ने पांच सौ स्वर्ण मुद्रा में खरीद लिया है। कैसी विधि की विडम्बना है। एक चक्रवर्ती सम्राट श्मशान में रात्रि के समय पहरा देने के काम पर लगने को विवश हुए। वे रात दिन लाठी लिये हुये मरघट पर शवदाह करने वालों से कर वसूल करते थे। महारानी शैव्या, जिनकी अयोध्या में सैकड़ो दासियां सेवा करती थीं, अब ब्राह्मणके यहाँ झाड़ू देना, घर लीपना, जल भरना आदि छोटे-बड़े सब काम करने पर विवश हुईं। राजकुमार रोहित को भी पुष्प-चयन आदि सेवाएँ करनी पड़ती थीं। विश्वामित्रजी को इतने पर भी सन्तोष नहीं हुआ। विश्राम सागर में आया है कि—चाण्डाल की आज्ञा से राजा हरिश्चन्द्र कई नादो में जल भी भरते थे, विश्वामित्र बया करते कि आकर उन नादों को फोड़ देते, सब जल बहजाता, जिससे चाण्डाल और चाण्डाली महाराज हरिश्चन्द्र से बहुत झगड़ते, तिरस्कार करते।

उधर अचानक एक दिन पूजा के लिए पुष्पचयन करते समय सन्ध्या की वेला में राजकुमार रोहित को सर्पने डस लिया। यह भी मुनि की माया ही थी। बालक का तत्काल प्राणान्त हो गया। महारानी शैव्या जिस पुत्र का मुख देख कर जीवन धारण करती थीं, निष्ठुर विधाता ने उसे भी छीन लिया। उस दुःखिनी के दुःख का कौन वर्णन कर सकता है। रात्रि का घोर अन्धकार, आकाश मेघों से आच्छादित, रानी शैव्या अकेली पुत्र का शव लिये, रोती-बिलखती श्मशान पहुंची। कैसा स्वार्थी संसार

है। इस असहायाको ऐसी दशा में भी सान्त्वना के दो शब्द कहने वाला कोई नहीं मिला. न कोई श्मशान तक साथही गया। बहुत प्रार्थनाकरनेपरभी ब्राह्मणने भी शवको अपने यहाँ नहीं रहने दिया। रानी विवश थी रातमेंही शव को श्मशान लेजाने को। उस महा-बीभत्स भयानक श्मशान भूमिमें पुत्रके शवको छातीसे चिपटाये रानी शैव्या करुण-क्रन्दन कर रहीं थी। किसी स्त्री का रुदन सुनकर हरिश्चन्द्र वहा आ पहुँचे और बोले—श्मशान के स्वामी का कर पहले देलो तब और जो कुछ करना हो वह करना। इसी बीच बिजली चमकी, राजा की दृष्टि अपनी माता की गोद में पडे हुए मृत बालक पर पड़ी तो अपने प्यारे लाड़ले पुत्र रोहित की याद आ गई और साथ ही अनिष्ट की आशङ्का से हृदय धड़कने लगा। तब तक रानी ने विलाप करते हुए पुत्र रोहित एवं पति अयोध्या नरेश महाराज हरिश्चन्द्र का नाम लिया। जिसे सुनकर राजा के ऊपर तो मानो वज्रपात हो गया।

पुत्र और पत्नी की यह गति देखकर दुःख से अत्यन्त सन्तप्त राजा हरिश्चन्द्र रोते-रोते मूर्च्छित हो गये। राजा को पहचान कर एवं उनकी स्थिति की कल्पना कर रानी भी मूर्च्छित हो गईं। कुछ देर बाद होश आने पर अपने को स्थिर करके हरिश्चन्द्र ने कहा—देवि! स्वामी की आज्ञा है कि बिना कर लिए कोई शव-दाह या प्रवाह न करे। अतः तुम अपने धर्म का पालन करो और मुझे भी धर्म पर स्थित रहने में सहयोग दो। जिस धर्म के लिये हमने सब प्रकार के संकट स्वीकार किये, उसकी तनिक से मोह वश उपेक्षा नही होनी चाहिए। परम सती महारानी शैव्या, जिन्होने सदा-सर्वदा पति के धर्म-पालन में सहयोग दिया है, भला आज वह कैसे पतिके वचनों का आदर न करती? यद्यपि रोहितका शव ढकने के लिये रानी के पास कोई वस्त्र नही था। वह तो उसे अपने अंचल से लपेट लाई थी। परन्तु धर्म के गौरव को ध्यान मे रखती हुई उस पतिव्रता ने अपना अंचल ही फाड़कर देनेका निश्चय किया। परन्तु पुत्र-शोक विह्वला रानी शैव्या ने ज्यों ही अंचल फाड़ना चाहा—साक्षात् भगवान विष्णु, मूर्तिमान धर्म, देवराज इन्द्र और महर्षि विश्वामित्र प्रगट हो गये। इन्द्र ने अमृत की वर्षा करके कुमार रोहित को जीवित कर दिया। भगवान ने प्रसन्न होकर राजाको अविचल, अनपायिनी प्रेम-लक्षणा भक्तिका वरदान दिया।

देवराज इन्द्र ने प्रार्थना किया—महाभाग! आप अपनी पत्नी और पुत्र सहित सशरीर स्वर्ग को चलें। श्रीहरिश्चन्द्र ने कहा—देवराज! मैं अपने स्वामी चाण्डाल की आज्ञा लिए बिना, तथा रानी ब्राह्मण की अनुमति लिये बिना, और उनके ऋण से उद्धार पाये बिना हम कैसे स्वर्ग को चल सकते हैं? धर्म बोले—राजन्! तुम्हारे इस भावी संकट को जानकर मैंने ही मायासे अपने को चाण्डाल रूप में प्रकट किया था। धर्मका दास दूसरे किसी का दास नही बन सकता है। विश्वामित्रजीने कहा—महाराज! एक रूप से ब्राह्मण मैं ही बना था। आप खेद नही करना। इस कठोर परीक्षासे आपका सुयश अत्यन्त उज्ज्वल तम हो गया। आप अक्षय काल तक दिव्य धाम का सुख भोगेंगे। इन्द्र ने पुनः स्वर्ग चलने वाली बात दुहराई। प्रजावत्सल राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी पुत्रवत् प्यारी प्रजा को छोड़कर स्वर्ग जाना नहीं स्वीकार किया। उनका तो कथन था कि हमारे समस्त पुण्यको लेकर हमारी सारी प्रजा स्वर्ग जाय और मैं सबके सम्पूर्ण पापों को लेकर उनका फल भोगने के लिए अनन्त काल तक नरक में निवास करना चाहता हूं। 'ऐसा ही होगा' यह कहकर इन्द्र ने सबके लिए दिव्य विमानो की व्यवस्था की। महर्षि विश्वामित्र ने राजकुमार रोहिताश्व को अयोध्या के सिंहासनपर बैठाकर अयोध्या को फिर से बसाया। समस्त अयोध्या वासी महाराज हरिश्चन्द्र की जय-जयकार करते हुए उनके साथ सदेह स्वर्ग को गये। तभी तो कहा गया है—'नहि सत्यात्परोधर्मः।'

श्रीरूपकलाजी कृत श्रीभक्तमालके भक्ति-सुधा-स्वाद-तिलक में ऐसा वर्णन आया है कि राजा हरिश्चन्द्रने रानीके वस्त्र में से आधा फड़वा के कर ले ही लिया, अपना धर्म न छोड़ा। इन्द्र तथा विश्वामित्रजी ने जब राजा को इस प्रकार दृढ़ पाया तो दूसरी चाल चले। काशी नरेशके पुत्र को मारकर (विश्राम सागर के अनुसार माया कृत एक बालक को मारकर) और श्रीहरिश्चन्द्र जी, की सर्वथा निर्दोष पत्नी को डाकिनी बताकर बालककी मृत्यु का कलंक उस पर लगाया। काशी नरेशने राजा हरिश्चन्द्र को ही रानी को मार डालने की आज्ञा दी। इस अन्तिम परीक्षा में भी श्रीहरि कृपा से उत्तीर्ण धर्मात्मा राजा ने ज्यों ही रानीके वधके लिये शस्त्र उठाया त्यों ही श्रीसूर्य भगवान ने प्रसन्न हो कर निजकुल भूषण राजा हरिश्चन्द्र की जय बोलते हुये पुष्प वृष्टि की। इन्द्रादि देवताओं ने भी फूल बरसाये। आगे की कथा पूर्ववत् ही है।

श्रीसुरथ नामके दो भक्त हो गये हैं। एक तो कुण्डलपुरके राजा, जो श्रीरामजीके भक्त थे, दूसरे चम्पकपुरी के राजा हंसध्वजजी के पुत्र, भक्त सुधन्वा के भाई, श्रीकृष्णके परमोपासक।

श्रीरामभक्त राजा सुरथजी—ये कुण्डलपुरके राजा थे और भगवान श्रीरामचन्द्रजी के अनन्य भक्त थे। ये अपने शौर्य, वीर्य बल, पराक्रम, स्थैर्य, धैर्य, विद्या एवं बुद्धि के लिये विख्यात थे। परम धर्मात्मा राजा सुरथ की तरह ही उनकी प्रजा भी श्रीरामभक्त होने के साथ-साथ सद्धर्म परायण थी। इनके राज्यमें घर-घर अश्वत्थ (पीपल) और तुलसी की पूजा तथा भगवान श्रीसीतारामजीकी कथा होती थी। राज्य में अनीति और अधर्म का लेश भी नही था। अतः सभी परम सुखमय जीवन विताते थे। एक बार सम्पूर्ण विश्वको धारण करनेवाले धर्मदेवता इनकी भक्ति-निष्ठाकी परीक्षा लेने के लिये एक जटा-जूट धारी तपस्वीका रूप धारणकर इनके सभा-भवन में आये। राजा सुरथने शिष्टजनोचित स्वागत-सत्कार करनेके बाद हाथ जोड़कर बड़ी विनम्रता पूर्वक कहा—महाराज! आप जैसे परमभागवत का दर्शनकर आज मेरा जन्म लेना सफल हो गया। अब आप कृपा करके श्रीमद्राघवेन्द्र आनन्द कन्द कौशल चन्द्र भगवान श्रीरामचन्द्रजी की परम मङ्गलमयी कथा सुनाइये। क्योंकि 'अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।' परीक्षार्थ आये हुये धर्म देवता ने हँसकर कहा—राजन्! यह तुम्हारी भूल है। केवल कथा से जीव की जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर की व्यथा नही मिटने की। यह तो आलसियों की ढाल है। यथा—'कादर मन कर एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥' मनुष्यको तो कर्मशील होना चाहिये। क्योंकि—'कर्म प्रधान विश्वकरि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥ (रा० च० मा०) गीता में भी कहा गया है कि—'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः॥' अतः तुम भी कर्मका आश्रय लो। छोड़ो व्यर्थ की बकवाद।

राजा सुरथ का भावुक हृदय ऐसे भावना के प्रतिकूल वचनों को सुनकर व्यथित हो उठा। उन्होंने बड़े खेद के साथ कहा—ओ हो! आपने वेष तो विरक्त साधु महात्माओं का सा बना लिया है परन्तु आपने साधुजनोचित बात नही कही। आपने हरि एवं हरि कथा को गौण बताकर कर्मको प्राधान्य दिया, यह उचित नही है। कर्म अधिक से अधिक स्वर्ग—सुख दे सकते हैं। यथा—'स्वर्ग सुकृतैक फल' (विनय) और स्वर्ग है क्षयिष्णु—यथा—'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। (गी०) स्वर्ग ही नहीं, ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावर्ती कहे गये हैं। यथा—'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन॥' (गीता) परन्तु भगवद् भक्त तो भजन के प्रभाव से उस लोक को प्राप्त करता है जहाँ से

पुनः लौटना नहीं पड़ता है। यथा—'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।' (गी०) भगवान के श्रीमुख का वचन है कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति।' अतः—जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। माया बस मतिमन्द अभागी।' ऐसे प्राणी अनन्त काल तक अनन्त यमयातना भोगने पर भी दुःखों से छुटकारा नहीं पाते। आप के मुख से ऐसे वचन शोभा नहीं देते हैं। राजा के भाव-भरे वचनों को सुनकर धर्म देवता बड़े प्रभावित हुये और साक्षात् प्रकट होकर राजाको दर्शन दिये और उन्होंने अभीप्सित वर मांगने को कहा। राजा सुरथ ने धर्मराज के चरणों मे प्रणाम कर यही वर मांगा कि श्रीराम के दर्शन के विना मेरी मृत्यु न हो। धर्म देवता 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये।

लंका-विजयोपरान्त जब राजाधिराज रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी ने अश्वमेध यज्ञ किया तो श्रीशत्रुघ्नजी, हनुमानजी, अंगदजी एवं श्रीभरतकुमार पुष्कल के संरक्षण में यज्ञिय अश्व देश-देशान्तरों में विचरता हुआ कुण्डलपुर पहुँचा तो महाराज सुरथ ने श्रीराम दर्शन की अभिलाषा से उस अश्व को पकड़वा लिया। श्रीशत्रुघ्नजी ने वालि-कुमार अंगदजीको दूतके रूप में सुरथ के पास भेजा। श्रीअंगदजी ने स्थिति को स्पष्ट करते हुये अपने पक्ष के वीरों के महा पराक्रमका वर्णन किया। परन्तु परम निर्भय कुण्डलपुर नरेश ने अङ्गदजी से स्पष्ट शब्दों में कह दिया—इस अश्व को मैं तभी छोड़ूंगा, जब भक्तवत्सल भगवान श्रीराम यहाँ स्वयं उपस्थित होकर मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे। अन्यथा मैं सहर्ष क्षात्र-धर्म का पालन करते हुये युद्ध में पराजित हुये विना अश्व को नहीं लौटा सकता। आप मेरा यह निश्चय श्रीशत्रुघ्नजी की सेवा मे निवेदन करें। श्रीअङ्गदजीके द्वारा सुरथ का अभिप्राय जानकर श्रीशत्रुघ्नजीने युद्ध का बाजा बजवा दिया। असंख्य सेनाओं के साथ श्रीलक्ष्मणानुज शत्रुघ्न समर भूमि में आ डटे। उधर महाराज सुरथ जी भी अपने वीर, रणधीर चम्पक, मोहक, रिपुञ्जय, दुर्वार, प्रतापी, वलमोदक, हर्यक्ष, सहदेव, भूरिदेव, तथा असुतापन नामक दश पुत्रों तथा महापराक्रमी सेनापतियों के संरक्षण में विशाल सैन्य समुदाय को लेकर डट गये। घोर संग्राम हुआ। दोनों ओर 'राजा रामचन्द्र की जय' का महाघोष होता। विविध अस्त्र-शस्त्रों का आदान-प्रदान हुआ। जब सुरथ ने देखा कि अन्य दिव्यास्त्रों से भी इस महासेना सागर को पार पाना असम्भव है, तब वे श्रीरघुनाथ जो का स्मरणकर श्रीरामास्त्र का प्रयोग किये और उसके द्वारा सभी वीरों को मूर्च्छित करके श्रीशत्रुघ्न अंगद, हनुमान आदि प्रमुख वीरों को बाँध कर रथ में बैठाकर प्रसन्न मन नगरकी ओर चल पड़े।

राजसभामें बैठकर महाराज सुरथ ने बँधे हुये श्रीहनुमानजी से कहा पवनकुमार! अब तुम अपनी मुक्तिके लिये दयामय श्रीरघुनाथजी का स्मरण करो। श्रीहनुमानजी ने अपने समीप अपने पक्ष के सभी प्रमुख वीरों को बँधा हुआ देखकर मनही मन भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु भगवान श्रीराम का स्मरण किया। प्राणप्रिय पवनकुमारके अन्तर्मन की करुणपुकार सुनते ही दया मय परम प्रभु श्रीराम तत्काल ही पुष्पक विमान से वहाँ आ पहुँचे। साथ में श्रीभरत, लक्ष्मण एवं अपार संतों के समुदाय को भी देखकर श्रीहनुमान जी बहुत हर्षित हुये। श्रीरघुनाथ जी की दया दृष्टि से श्रीहनुमान जी आदि सभी वीर बन्धन से मुक्त हो गये तथा समस्त मूर्च्छित तथा मृत योद्धा जीवित हो गये। राजा सुरथ के आनन्द की सीमा नहीं थी। उन्होंने पुत्रों सहित हर्षोल्लास पूर्वक प्रभु की अर्चना की। प्रभु ने भाव में भरकर राजा सुरथ को छाती से लगा लिया। राजा, मन्त्री, राजा के पुत्र, सैनिक एवं समस्त नागरिक भगवान श्रीराम का सपरिकर दर्शन कर धन्य-धन्य हो गये। श्रीरामजीने राजाकी भक्ति एवं क्षात्र-धर्म निष्ठा की सराहना किया।

श्री कृष्णभक्त सुरथ-सुधन्वा—ये दोनों चम्पापुरी के राजा हंसध्वजजी के पुत्र थे। महात्मा राजा हंसध्वज स्वयं तो परमधार्मिक, प्रजावत्सल, भगवद्भक्त तथा अप्रतिम योद्धा थे ही, उनकी समस्त प्रजा भी इन आदर्श गुणों से युक्त थी। भगवद्भक्त, रणवीर, सदा दीनों पर दया करने वाला, एक पत्नी व्रती तथा हित, मित, प्रिय, सत्य बोलने वाला ही हंसध्वज के राज्य में रह सकता था अन्यथा उसे कहीं अन्यत्र ही आश्रय ढूंढ़ना पड़ता था। ऐसा सुव्यवस्थित शासन प्रबन्ध था महाराज हस ध्वज का। इनके पांच पुत्र थे और पांचो ही पिताके समान निष्ठा वाले थे परन्तु सुरथ और सुधन्वाने तो अपनी अनुपम भक्तिनिष्ठा से सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भगवान को भी अपने वश में कर लिया था। जिस समय महाराज युधिष्ठिर अश्वमेघ यज्ञ कर रहे थे। श्रीप्रद्युम्न, सात्यकि आदि असंख्यों महारथी योद्धाओं को साथ लिये श्री-अर्जुनजी यज्ञिय अश्व के संरक्षण में थे। वह अश्व विभिन्न देशों में घूमता-फिरता हुआ जब चम्पापुरी की परिधि में गया तो गुप्तचरों द्वारा यह शुभ समाचार पाते ही महाराज हंसध्वज ने परम भागवत, नर ऋषि के अवतार अर्जुन और स्वयं भगवान श्रीकृष्णका दर्शन करने की अभिलाषा से घोड़े को पकड़ लेने का निश्चय किया और हर्ष पूर्वक युद्धका नगाड़ा बजवाकर अपनी सेना को शीघ्र ही व्यूह के आकार में एकत्रित होने की आज्ञा दी। तथा स्वयं भी गजराज पर चढ़कर रणभूमि के लिये प्रस्थान कर दिये।

उस समय पुरोहित शंख और लिखित की सलाह से, राजा की आज्ञा से वहां खौलते तेल से भरा हुआ एक कड़ाह लाया गया और यह घोषणा करा दी गई कि जो कोई युद्धार्थ नगर से बाहर नहीं निकलेगा तथा ठीक समय पर उपस्थित नहीं होगा वह राजा का सगा सम्बन्धी ही क्यों न हो, उसे उबलते हुये तैल के भयंकर कड़ाहे में डलवा दिया जायेगा। नगाड़े की आवाज सुनकर क्षत्रिय वीर युद्ध स्थल में जाने के लिये निकल पड़े। राजकुमार सुधन्वा अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित होकर प्रथम माता की आज्ञा और आशीर्वाद लेने के लिये मांके पास जाकर चरणों में प्रणाम कर कहने लगे—मां! मैं परम विख्यात वीर अर्जुन से युद्ध करने जा रहा हूँ। मुझे अपनी मङ्गल कामना के साथ युद्ध की आज्ञा और आशीर्वाद दो जिससे मैं पाण्डुपुत्र को पराजितकर पिताजी के मनोरथ को पूर्ण करने मे समर्थ हो सकूँ। सुधन्वा की माता ने समयोचित रणोल्लास बढ़ाते हुये पुत्र का मंगला शासन किया और कहा—बेटा! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि जिन श्रीहरि का रात दिन गुण-गान किया करते हैं, उनका दर्शन मुझे जिस प्रकार हो सके वैसा प्रयत्न करना। मेरे वीर पुत्र! अर्जुन और श्रीकृष्ण के पराक्रमसे आतंकित होकर युद्धमें पीठ नहीं दिखाना। क्यों कि श्रीकृष्ण के सम्मुख मरने वाला अपने सहित अपनी इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार करने वाला होता है। वत्स! तेरा कल्याण हो। यदि तूं आज युद्ध में अर्जुन को तृप्त कर दे तो श्रीकृष्ण तेरे वशीभूत हो जायेंगे।

सुधन्वा मां से विदा होकर ज्यों ही चलनेको उद्यत हुये कि बहिन कुवलाने आकर उसकी सुन्दर ढंग से आरती की और विजय-कामना की। वहां से चलकर सुधन्वा बाहरकी ड्योढी पर आये तो उन्होने अपनी पत्नी प्रभावती को देखा कि वह पूजा का थाल लिये हुये मेरी प्रतीक्षामें है। समीप पहुँचने पर उस पतिव्रता ने अपने पति वीरवर सुधन्वा की पूजा की और प्रेम भरी चितवन से स्वामी की ओर निहारती हुई पति की आरती उतारने लगी। तत्पश्चात् प्रभावती बोली—प्राणनाथ! आप महाबली अर्जुन से युद्ध करने के लिये संग्राम भूमि में जा रहे हैं, मेरी इच्छा है कि आपके चले जानेके बाद जलाञ्जलि देने वाला एक पुत्र रहे। सुधन्वा ने शीघ्रातिशीघ्र श्रीकृष्ण और अर्जुनका दर्शन कर तथा उन्हें पांच बाणों से ही जीत कर वापस आने का उल्लासपूर्ण आश्वासन दिया। प्रभावती ने कहा—नाथ! जो लोग श्रीकृष्ण से

मिलने के लिये गये और जिन्हे उन मधुसूदन भगवान के दर्शन प्राप्त हुये वे पुन. इस संसार में लौट कर नहीं आये, फिर आप कैसे लौटने की बात कहते हैं। अतः आपको मेरी प्रार्थना पूर्ण ही करना चाहिए। सोच विचार कर सुधन्वा ने सती नारी की धर्म सम्मत प्रार्थना को पूर्ण किया, पुनः भली भांति स्नान-प्रणायाम करके शुद्ध होकर रथारूढ़ हो युद्ध के लिए प्रस्थान किया।

उसी समय राजा हंसध्वज ने रणभूमि में एक सुधन्वा को छोड़ कर सबको उपस्थित देख कर, अत्यन्त क्रोध में भर कर सुधन्वा को पकड़ लाने के लिये उग्रकर्मा यवन सिपाहियों को भेजा। उन सैनिकों के कहने से अपने परम सामर्थ्यशाली पिताको क्रुद्ध जानकर सुधन्वा ने बड़ी शीघ्रता से रथ को चलाया और तुरन्त ही युद्ध भूमि में पहुंच कर पिता को प्रणाम करके आगे खड़े हो गए। हंसध्वज के पूछने पर सही-सही विलम्बका कारण बताते हुये सुधन्वा ने अपनी सफाई दी। परन्तु हंसध्वज का क्रोध शान्त नही हुआ। उन्होंने अपने पुरोहित शंख और लिखित के पास दूत भेजकर सुधन्वाके सम्बन्धमें समुचित व्यवस्था की जिज्ञासा की। स्वभाव से ही अत्यन्त क्रोधी ऋषि शंख और लिखित ने तेल से भरें खौलते कड़ाह में डालकर सुधन्वा के जीवनका अन्त कर देना ही एक मात्र प्रमुख प्रायश्चित्त बताया और यह भी कहलवा दिया कि यदि राजा को पुत्रका मोह हो तो लो—हम दोनो भाई इस राजा के राज्य से बाहर चले जाते हैं। क्योंकि जिस देश का राजा सत्यवादी न हो उस राज्य में नही रहना चाहिये।

शंख और लिखित के निर्णय को सुनकर राजा हंसध्वज ने सुधन्वा को तत्काल कड़ाहे में डालने के लिये मन्त्री को आदेश देकर स्वयं अपने रुठे पुरोहित को मनाने के लिये चल पड़े। राजाज्ञा से विवश मन्त्री ने सुधन्वा को अपना धर्मसंकट सुनाया। सुधन्वा ने मन्त्री को कर्तव्य पालन पर बल देते हुये राजाज्ञानुसार कार्य करनेका सुझाव दिया और स्वयं ललाट पर ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक तथा गले में तुलसीकी माला धारणकर भक्तवत्सल भगवान का ध्यान करने लगे। मन्त्रीके संकेत पर सुधन्वा को उबलते हुये तेल के कड़ाह में डाल दिया गया। उस समय सुधन्वा कह रहे थे-हे गोविन्द ! हे दामोदर ! हे माधव! हे मुकुन्द! हे हरे ! आप मेरी रक्षा कीजिये। रक्षा कीजिये। प्रभो ! मुझे मरने का दुःख नही है, मैं तो आपका दर्शन करते हुये महाभागवत् अर्जुन के बाणों से विंध कर आपके चरण प्रान्त में गिरकर मरने के लिये आया ही था। मुझे दु.ख इस बात का है कि मैं न तो आपका दर्शन ही कर सका, न युद्ध स्थल में अपने पराक्रम से आप को और अर्जुनको सन्तुष्ट ही कर सका और न गाण्डीव धनुष से छूटे हुये बाणों से स्वयं वीर गति ही प्राप्त कर सका। संसार मे लोग मेरी निन्दा करेंगे कि सुधन्वा वीर होकर भी कड़ाहेमें जल कर अपमृत्यु को प्राप्त हुआ। अतः जैसे आपने प्रह्लाद के लिये अग्नि को चन्दन के समान शीतल कर दिया था वैसे ही मेरी भी रक्षा करे। ऐसा कहते हुये भक्त सुधन्वा भगवान श्रीकृष्ण का ध्यान करने लगे और श्रीहरिकृपा से खौलता हुआ तेल चन्दन-पंकके समान सुशीतल हो गया।

जैसे जल में कमल प्रफुल्लित रहता है उसी तरह उस खौलते हुये तेलमें सुधन्वा के सुन्दर मुख कमल को विकसित देखकर सभी लोग आश्चर्य करने लगे। तदनन्तर राजा हंसध्वज अपने पुरोहित शंख और लिखित के साथ वहां आकर जब यह अद्भुत चमत्कार देखे तो वे तो अवाक् रह गये परन्तु पुरोहितों को सन्देह हुआ कि कहीं आग से तेल अभी गरम न हुआ हो अतः तेल की परीक्षा के लिये उन्होंने एक नारियल का फल कड़ाह में डाला। उबलते हुये तेल में पड़ते ही नारियल तड़ाक से फूटा और उसके दो टुकड़े हो गये, जिसमें एक टुकड़ा शङ्खके तथा दूसरा टुकड़ा लिखित के ललाट में जाकर जोर से लगा।

यह तो निश्चित होगया कि तेल खूब खौल रहा है। परन्तु सुधन्वापर इसका प्रभाव क्यों नहीं पड़ रहा है, यह बात पुरोहितों की समझ में नहीं आ रही है। उन्होंने तत्रस्थ लोगों से पूछा—क्या सुधन्वा ने कड़ाह में कूदते समय किसी औषधि का प्रयोग किया था, वा किसी अग्नि शामक मन्त्र का प्रयोग किया था, वा किसी देवता वा सिद्ध का स्मरण किया था ? जिसके प्रभाव से इसका एक रोम भी नहीं मुरझाया है। लोगों ने समस्त विकल्पों का निषेध करते हुये केवल श्रीकृष्ण-स्मरण की बात बताई। पुरोहित की आंख खुली। उन्हें भगवत-भागवत महिमा का ज्ञान हुआ। अतः अपने को धिक्कारते हुए वे तप्त तेल के कड़ाह में कूदकर प्राणान्त कर देने का निश्चय कर सबके सामने ही उसमें कूद पड़े। भक्त के प्रभाव से उनके लिये भी तेल शीतल ही बना रहा।

शङ्ख ने सुधन्वा को छातीसे लगाकर कहा—प्रिय राजकुमार ! भला अग्निमें इतनी शक्ति कहां जो तुम सरीखे परम वैष्णवको जला सके। पुरुषसिंह ! तुम्हारे शरीर का स्पर्श करके आज मेरा यह अधम शरीर भी पवित्र हो गया। सुव्रत ! अब तुम तैल-कड़ाह से बाहर निकल कर अपने पिता, भ्राता, सेना, एव समुपस्थित समुदाय को पावन करो और साथ ही मेरा भी उद्धार करो। वीरवर ! भगवान श्रीकृष्ण जिनका सारथ्य कर रहे हैं, उन अर्जुन के साथ आज समराङ्गण में यथोचित युद्ध करके अपने सुयश को स्थायी बनाकर मङ्गल; के भागी होओ। सुधन्वा ने तेल-कड़ाह से बाहर निकल कर पिता के चरणों में प्रणाम किया, पिता ने हृदय से लगाकर शुभाशीर्वाद दिया और इस वीर श्रेष्ठ को सेनापति पद पर प्रतिष्ठित कर युद्धके लिये आज्ञा दिया। युद्ध प्रारम्भ होगया। सुधन्वा के अमित पराक्रम के सामने अर्जुन की सेना का कोई भी वीर नही टिक सका, तब स्वयं अर्जुन ही इस महावीर के मुकाबले मे आ डटे। अर्जुन की ललकार पर वीर सुधन्वा ने अत्यन्त निर्भयता पूर्वक हँसकर कहा—पार्थ ! आपने पहले संग्राम भूमि में जो लड़ाइयां लड़ी हैं और उनमे विजय प्राप्त की है, उसका कारण यह है कि उन युद्धो में आपके परम हितकारी भगवान श्रीकृष्ण रथ पर बैठे हुए सारथी का काम करते थे, परन्तु आज आप श्रीकृष्ण को छोडकर अकेले युद्ध करने आये हैं। मुझे सन्देह है कि आप मेरे सामने युद्ध करने में समर्थ हो सकेंगे या नही ?

एक बालकके मुख से चुनौती की इन बातों को सुनकर श्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन ने कुपित होकर सुधन्वा पर असंख्य बाणों की वर्षा की। परन्तु सुधन्वा ने हँसते-हँसते अर्जुन के समस्त बाणों को तो तिल-प्रमाण करके व्यर्थ कर ही दिया, अपने अचूक प्रहारोंसे उनके धनुष, प्रत्यञ्चा, रथ की ध्वजा को काटकर और सारथीको मारकर तथा उनको भी घायलकर, उन्हे एकदम विस्मय में डाल दिया। पश्चात् आश्चर्य चकित अर्जुन को सम्बोधन कर सुधन्वा ने कहा—वीरवर ! आज आपका पुरुषार्थ कहाँ चला गया ? मुझ इस बालक के बाणों से घायल होकर इस दशा में पहुँचना आप जैसे शूर-वीरको शोभा नही देता। अब भी आप शीघ्र ही अपने श्रीकृष्ण नामक सारथि का स्मरण कर लीजिए। अर्जुन ने मन ही मन ज्यों ही भगवान श्रीकृष्ण का स्मरण किया, त्यों ही दयामय प्रभुने तत्काल प्रगट होकर घोड़ोंकी बागडोर के व्याज से अर्जुन के जीवन की बागडोर अपने हाथ में लेली। श्रीकृष्ण को प्रणामकर अर्जुन सौगुने उत्साह से बाणोंकी वर्षा करनेलगे। इधर सुधन्वाने भी श्रीकृष्णजीका जीभरकर दर्शन किया और मन ही मन प्रणाम कर अर्जुन से कहा—पार्थ ! अपने सुहृद सारथि श्रीकृष्ण को पाकर अब तो आप मुझपर विजय पाने के लिये प्रतिज्ञा करें। फिर मेरे पुरुषार्थ को देखें।

तब अर्जुन ने कहा—वीर! आज मैं तुम्हारे सुन्दर मस्तक को तीन बाणो द्वारा काटकर नीचे गिरा दूंगा। यदि श्रीकृष्ण के सामने तुम्हारे सिर को न गिरा सकूँ तो मेरे पूर्वज पुण्यहीन होकर नरक मे गिर पड़ें। अब तुम अपनी रक्षा करो, साथ ही अपनी प्रतिज्ञा भी सुनाओ। सुधन्वा ने कहा—पार्थ! मैं श्रीकृष्ण के सन्मुख ही आपके तीनों बाणों को काट डालूंगा। यदि मैं आज उनके तीन टुकड़े न करदूँ तो मुझे घोर गति की प्राप्ति हो। यह कहकर महाबली सुधन्वा ने हर्ष में भरकर दस बाणों द्वारा अर्जुन को एव सौ बाणो द्वारा श्रीकृष्ण को घायलकर एक ऐसा बाण रथपर चलाया कि अर्जुन का रथ कुम्हार के चाक की भांति चक्कर काटते हुए सौ हाथ पीछे हट गया। सुधन्वा के इस पराक्रम ने भगवान श्रीकृष्ण को भी विस्मय मे डाल दिया। वे बोले—अर्जुन! तुमने बिना समझे बूझे प्रतिज्ञा करली। परन्तु उसकी पूर्ति कठिन ही नही, असम्भव जान पड़ती है। सुधन्वा की शक्ति तुमने देखी। सुधन्वा सुदृढ़ एक पत्नी व्रती है। इस विषय मे हम-तुम, दोनों ही पिछड़े हुए हैं। इन उत्तेजनात्मक वचनों को सुनकर अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण को प्रणाम कर अपने धनुष पर कालानल के समान भयंकर बाण का सन्धान किया।

श्रीकृष्णने उस बाणको, पहले गोवर्धन पर्वत उठाकर जो गोप-गौओं की रक्षाकी थी उससे प्राप्त पुण्य से सयुक्त कर दिया। सुधन्वा ने बात की बात में अर्जुन के उस बाण को काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिये। उस समय उसके मुख से श्रीकृष्ण के मङ्गलमय नामों का उच्चारण हो रहा था। त्रैलोक्य चकित हो गया सुधन्वा के अस्त्र-कौशल को देखकर। भगवदाज्ञा से अर्जुन ने दूसरा बाण चढ़ाया, भगवान ने उस बाण को भी अपने बहुत से पुण्यो से संयुक्त किया। सुधन्वा ने अर्जुन को ललकारा—वीरवर! अब मेरी प्रतिज्ञा सुनिये। यदि मैं आपके बाण के दो टुकड़े न कर दूं तो आज मुझे श्रीअरुन्धती सहित महर्षि वशिष्ठ की हत्या का पाप लगे। तत्पश्चात् वीर सुधन्वा ने 'गोविन्द दामोदर माधवेति' का उच्चारण करते हुए अपने प्रबल पुरुषार्थ से अर्जुन के उस दूसरे बाण को भी बीच से काट डाला। उस समय अर्जुन उदास से हो गये। भगवान श्रीकृष्ण ने सखा अर्जुन को प्रोत्साहित किया, अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया और तीसरा बाण सन्धान करने की आज्ञादी। महामनस्वी अर्जुनने तीसरा बाण हाथमें लिया। श्रीकृष्ण ने रामावतार के समय जो एक पत्नीव्रत पालन करके पुण्योपार्जन किया था, वह सबका सब बाण को अर्पण कर दिया। फिर उस बाणके पिछले भाग में ब्रह्माजी तथा बीच में कालको प्रतिष्ठित कर अग्रभाग मे स्वय स्थित हो गये। प्रभुकी लीला सुधन्वाको अविदित नही रही। वह सब जान गये और अर्जुन से बोले—अच्छा पार्थ! अब आप श्रीकृष्ण का स्मरण करके कुछ प्रतिज्ञा कीजिये। तब अर्जुन ने कहा—वीर! यदि आज मैं इस बाण के द्वारा तुम्हारे मुकुट सहित मस्तक को न गिरादूँ तो विष्णु और शिव में भेदभाव रखने से जो पाप लगता है वह सारा पाप मुझे लगे।

सुधन्वा ने कहा—यदि मैं आपके इस बाण को काट न दूं तो काशी में मणिकर्णिका तीर्थ में, श्रीशिवजी की पूजा को पैरों से ठुकराने का जो पाप होता है, वही पाप मुझे लगे। इतना कहकर सुधन्वा ने भगवान श्रीकृष्ण का नामोच्चारण करके अर्जुन के उस बाण को भी काट दिया। ऐसे प्रभावशाली बाण के कट जाने से वहाँ महान हाहाकार मच गया, तब तक अत्यन्त आश्चर्यमयी घटना यह घटी कि उस बाण के आधे भाग ने उछलकर सुधन्वा के सुन्दर मस्तक को भी काट गिराया। सुधन्वा का वह कटा हुआ सिर आनन्द के साथ 'केशव' 'राम' 'नृसिंह' आदि भगवन्नामों का उच्चारण करता हुआ तुरन्त ही श्रीकृष्ण के चरण कमलों में गिर पड़ा। भक्त वत्सल भगवान ने उस सिर को दोनों हाथों से उठा लिया,

इतनेमें सुधन्वाके मुखसे एक ज्योति निकली और तत्क्षण श्रीकृष्णके मुख में समा गई। तत्पश्चात् वसुदेव नन्दन श्रीकृष्णने उस मस्तक को सुधन्वा के पिता हंसध्वज के रथ पर डाल दिया। राजा हंसध्वज ने पुत्र शोक में वहुत विलाप किया साथ ही पुत्र के कर्तव्य पालन की पूर्णता पर प्रसन्न भी हुये और उस मस्तक को पुनः श्रीकृष्ण के रथ पर डाल दिये। श्रीकृष्णने उसे उठाकर आकाश में उछाल दिया। तव भक्तोंको अभय प्रदान करनेवाले भगवान शिव ने उस रमणीय सिरको लेकर अपनी मुण्डमाला में पिरो लिया।

अनुज सुधन्वा के मारे जाने पर परम भागवत, वीर-धुरीण सुरथ रथ पर आरूढ़ हो, वहुत वड़ी सेना साथ मे ले, हाथ में कठिन कोदण्ड धारण कर समराङ्गण में आकर अर्जुन से वोले—महावली पार्थ! अव मेरे साथ युद्ध करने के लिये प्रस्तुत हो जाओ। तत्पश्चात् सुरथने श्रीकृष्ण से कहा—देवकी नन्दन! अव आप अर्जुन की सम्यक् प्रकार से रक्षा कीजिये। हरे! आपने अपना पुण्य प्रदान करके जो मेरे भाई का वध करा दिया है, यह तो आपकी वाल चेष्टा ही है। आपने अपनी हानि पर कुछ भी ध्यान नही दिया। जैसे कोई शिशु मोतियों को देकर वदलेमें वेर ले लेता है उसी तरह आपने सुधन्वाके वेर सदृश जीवन को लेकर उसके वदले में मुक्ताफल रूपी अपना पुण्य प्रदान किया। अतः वताइये यहाँ कौन किसके द्वारा ठगा गया? इस प्रकार श्रीकृष्ण से प्रेममय व्यङ्ग-विनोद करके सुरथ ने अर्जुन को ललकारा। सुरथ के रणोत्साह को देखकर भगवान श्रीकृष्णने अर्जुन को इस महावीर के सम्मुख जाना उचित नही समझा अतः सेना को आगे करके श्रीकृष्ण अर्जुन को रणक्षेत्र से तीन योजन दूर हटा ले गये। परन्तु धन्य सुरथ। अर्जुनको विशाल-वाहिनीको क्षण मात्र में तितर-वितर कर तत्काल उस स्थान पर पहुँच गये जहाँ श्रीहरि विराजमान थे। अर्जुन और सुरथ का घोर युद्ध हुआ। युद्ध के ही वीच सुरथ ने कहा—पार्थ! मैने सुन रक्खा है कि इस लोक में तुम्हारी की हुई प्रतिज्ञा मिथ्या नही होती, अतः वीर! अव तुम कोई सत्य प्रतिज्ञा करो।

अर्जुनने कहा-वीर! मैं तुम्हारे पिताके सामने ही तुम्हें धराशायी करूँगा यही प्रतिज्ञा है। अव तुम अपनी यथोचित प्रतिज्ञा वतलाओ। सुरथने कहा—अर्जुन मैं भी तुम्हे युद्ध स्थल में रथ से भूतल पर गिरा दूँगा। यदि मैं इस वचन को सत्य न करूँ तो मेरा पुण्य नष्ट हो जाय। तत्पश्चात वहुत देर तक दोनों में रोम हर्षण युद्ध होने के वाद अर्जुन ने एक सर्वदेव मय वाण से सुरथ के वड़े-वडे नेत्रो वाले तथा कुण्डलों से सुशोभित विशाल सिर को काट गिराया। भक्तके वचनको सत्य करने के लिये भगवानने ऐसी लीला करी कि सुरथ का कटा हुआ सिर उछलकर अर्जुन के ललाट में जा लगा। जिसके आघात से वे मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े और वह सिर भगवान श्रीकृष्ण के चरणो में गिर पड़ा। तदनन्तर भक्त वत्सल भगवानने अर्जुन को पृथ्वी से उठाकर रथ पर वैठाया और सुरथ के सिर को दोनों हाथों से उठाकर देखने लगे। अर्जुन ने भी उस सिर को लेकर, यह कहते हुये कि 'इसके समान कोई योद्धा नहीं है।' युद्ध-स्थल मे उसकी वन्दना की। इसके वाद श्रीकृष्ण ने गरुड़जीसे कहा—पक्षिराज! वीरवर सुरथ के सिर को लेजाकर शीघ्र ही प्रयाग में डाल दो। इस सिर के स्पर्श से मेरा वह प्रयाग भी पावन हो जायगा। प्रयाग मेरा कोश है, अतः इस वीर के रत्न रूपी सिर को उस कोश में डाल दो। श्रीगरुड़जी ने ऐसा ही किया। भगवान शिवने सुरथ के सिर को भी अपनी मुण्ड माल में पिरो लिया। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन और हंसध्वज से मेल करा दिया॥ (जैमिनीयाश्वमेध पर्व)

महर्षि शंख और लिखित—यह दोनों सगे भाई थे। दोनों ही धर्म शास्त्र के परम मर्मज्ञ, अतः कठोर व्रत का पालन करने वाले तपस्वी थे। वाहुदा नदी के तट पर उन दोनों के अलग-अलग

परम सुन्दर आश्रम थे। एक दिन लिखित शंख के आश्रम पर गये। दैवेच्छा से शंख उस समय आश्रम से कहीं बाहर गये हुये थे। भाई शंखके आश्रममें जाकर क्षुधार्त लिखित ने खूब पके हुये फल तोड़े और निश्चिन्तता के साथ खाने लगे। वे अभी खा ही रहे थे कि शंख आश्रम पर आगये। शंख ने फलों के सम्बन्ध में पूछ-ताँछ की तो लिखित ने निकट जाकर बड़े भाई को प्रणाम किया और कहा-भैया ! ये फल तो हमने आपके ही बाग से लिया है, तब शंखने रोष मे भरकर कहा—तुमने मुझसे पूछे विना ही स्वयं फल लेकर यह चोरी की है। अतः तुम राजा के पास जाओ और अपनी करतूत उन्हें सुनाकर समुचित दण्ड की प्रार्थना करो।

महात्मा लिखितने राजा सुद्युम्नसे जाकर निवेदन किया—नरश्रेष्ठ ! मैंने बड़े भाईके दिये विना ही उनके बगीचे से फल लेकर खा लिया है। इसके लिये मुझे शीघ्र दण्ड दीजिये। सुद्युम्न ने कहा—ब्राह्मण-शिरोमणे ! यदि आप दण्ड देने में राजा को प्रमाण मानते हैं तो वह क्षमा करके आप को लौट जाने की आज्ञा देने का भी अधिकारी होता है। आप पवित्र कर्म करने वाले और महान व्रतधारी हैं। मैंने आपका अपराध क्षमा कर दिया, अब सुख पूर्वक अपने आश्रम को लौट जाइये। परन्तु ब्रह्मर्षि लिखित तो विना दण्ड भोगे किसी भी हालत मे जाने को तैयार नही हुये। तब उस समय के दण्ड-विधान के अनुसार राजा सुद्युम्न ने उन महामना लिखित के दोनो हाथ कटवा दिये। दण्ड पाकर लिखित वहाँ से चले गये और बड़े भाई को जाकर प्रणाम किया। शंख ने कहा—भैया ! हम दोनोका कुल इस जगत में अत्यन्त निर्मल एवं निष्कलंक है। तुमने धर्मका उल्लंघन किया था, अतः उसका प्रायश्चित्त आवश्यक था, सो हो गया। अब तुम शीघ्र ही बाहुदानदी के तट पर जाकर विधि पूर्वक देवताओं, ऋषियों और पितरों का तर्पण करो। भविष्य में फिर कभी अधर्म की ओर मन न ले जाना। अग्रज की आज्ञा शिरोधार्य कर लिखित ने स्नान करके ज्यों ही पितरों का तर्पण करने की चेष्टा की, त्यों ही उनके सुन्दर दोनों हाथ प्रगट हो गये। दोनों भाई हृदय से लगकर मिले।

शंख और लिखित की इस धर्म-परायणता तथा न्याय प्रियता पर मुग्ध होकर चम्पापुरी के राजा हंसध्वज ने इन्हें अपना पुरोहित बनाया था तथा न्यायविभाग इनके हाथ में सौंप दिया था। भक्त सुधन्वा और इन पुरोहितों में कभी-कभी भक्ति और कर्म काण्ड को लेकर विवाद हो जाता था। यद्यपि सुधन्वा शास्त्रीय अकाट्य तर्कोंसे, प्रमाणोंसे और स्वानुभूत तथ्यों से भक्ति के श्रैष्ठय का सफल सम्पादन करते परन्तु इन कर्म-जड़ों को विश्वास नही होता उलटे सुधन्वा से वैर मानने लगे और शास्त्रार्थ में तो पराजित करने में समर्थ हो नहीं सके, कोई छिद्र ढूढते जिससे सुधन्वा को नीचा दिखा सकें। इसीसे श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि—'भयो मैलो मन है।' यही कारण है कि इन्होंने सुधन्वा को तैल-कड़ाहमें डालने का बड़ा जोर दिया। परन्तु आज तो प्रत्यक्ष भक्ति का प्रताप देखकर शख और लिखित-दोनो ही परम भागवत हो गये॥ (महाभारत)

महाराज शिविजी—ये उशीनर महाराजके पुत्र थे। इनकी शरणागतवत्सलता, साधुता, परमोदारता एव भगवद्भक्ति लोक विख्यात थी। एक बार इनके इन गुणों की परीक्षा लेनेके लिये देवताओ ने इन्द्र और अग्नि को भेजा। इन्द्र बाज पक्षी बन गये और अग्नि कबूतर। राजा शिवि सभा में सिंहासन पर विराजमान थे। भयभीत-कबूतर भागता हुआ उनकी गोद में जा गिरा। तब तक कबूतरका पीछा करता हुआ बाज भी वहाँ जा पहुँचा। कबूतरने राजा से कहा—मैं आप की शरण हूँ, मैं वस्तुतः कबूतर नही हूँ, एक स्वाध्याय निरत तपस्वी और श्रोत्रिय ब्रह्मचारी हूँ। मेरे प्राणों की रक्षा कीजिये।

इस पर वाज बोला—राजन् ! मैं आग्रह पूर्वक कहता हूँ, आप इस कबूतर को लेकर मेरे भोजनके कार्य में विघ्न न डाले। इन दोनों की ऐसी स्पष्ट देव-भाषा मे वातचीत सुनकर राजा असमंजस में पड़ गये।

पुनः शरणागत-रक्षणकी महिमा तथा परित्याग करनेसे महान दोषको विचारकर राजा शिवि-
'शरणागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि। ते नर पाँवर पापमय, तिन्हहिं विलोकत हानि॥'
तथा-**'यो हि कश्चिद् द्विजान् हन्याद् गां वा लोकस्य मातरम्। शरणागतं च त्यजते तुल्यं तेषां हि पातकम्॥'** (म० भा०) अर्थ—जो मनुष्य ब्राह्मणो की हत्या करता है, जो जगन्माता गौ का वध करता है, तथा जो शरण में आये हुये को त्याग देता है, इन तीनोंको समान पाप लगता है।' इन शास्त्र प्रमाणों से शरणागत को शत्रु के हाथ मे देने के पाप को कहते हुये वाज से बोले कि मैं अपने प्राण चाहे दे दूं, परन्तु शरणागत को नहीं छोड़ूँगा। तुम इसके लिये व्यर्थ कलेश न करो। हाँ मैं इसके बदले में अन्य किसी मेध्य पशु-पक्षी का मांस दे सकता हूं, अथवा और जिसमें मेरी कीर्ति हो और तुम्हारा भी प्रिय हो, वह बताओ, मैं उसे ही करने को तैयार हूं। तव वाज ने कहा—आप अपनी दाहिनी जघा का मांस अपने हाथ से काटकर इसके वरावर तौलकर मुझे खिला दीजिये तो मेरा प्रिय होगा, आप का सुजस होगा और इसके प्राण वच जायेंगे।

महाराज शिवि ने एक तराजू मँगाकर एक पलड़े में कवूतर को विठाया और दूसरे में अपना मांस काट-काटकर रखते गये। परन्तु सारे शरीरका माँस काटकर चढ़ा देने पर भी कवूतरका पलडा भारी ही रहा। तव राजा शिविने अपना शरीर ही शरणागत की रक्षा करने के लिये अर्पण कर दिया। उस समय राजा को वड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने कहा—वाज ! तुमने मुझपर वड़ी कृपा की। यदि यह शरीर प्राणियों के उपकार में न आये तो प्रतिदिन का इसका पालन-पोषण व्यर्थ ही है। इस नाशवान, अनित्य शरीर से नित्य, अविनाशी धर्म किया जाय, यही तो शरीर की सफलता है। यह देखकर वाज यह कहता हुआ अन्तर्धान हो गया कि राजा के लिये असाध्य कुछ नही है और कवूतर की प्राण रक्षा हो गयी। तव राजा ने कवूतर से पूछा कि यह वाज कौन था ? उसने सारा हाल कह दिया और वर दिया कि जो मांस तुमने रक्षा के लिये दिया है, यह तुम राजाओं का स्वर्ण वर्ण अत्यन्त पवित्र सुगन्धयुक्त राज चिह्न होगा अर्थात् तुम्हारी जंघा की त्वचा का रङ्ग सुन्दर और सुनहला हो जायगा तथा इससे वड़ी पवित्र सुन्दर सुगन्ध निकलती रहेगी और तुम्हारे दक्षिण भाग से, जंघाके इस चिह्न के पास से, परम यशस्वी कपोत-रोमा नामका पुत्र होगा। यह कहकर कवूतर भी अन्तर्धान हो गया। (म० भा०)

दृष्टांत—राणा हम्मीर का—इनके विषयमें यह दोहा प्रसिद्ध है—सिंहगवन सज्जन वचन कदलि फरै इक वार। तिरिया तेल हमीर हठ चढ़ै न दूजी वार॥ अलाउद्दीन ने एक मङ्गोल सरदारको सामान्य अपराध पर प्राणदण्डकी घोषणा कर दी। वह दिल्ली छोड़कर तुरन्त भाग खड़ा हुआ। प्राणरक्षा के लिये अनेक स्थानों पर गया, किन्तु उसे शरण देकर वादशाह से शत्रुता लेनेका साहस किसी में नही था। भटकता हुआ वह रणथम्भौर पहुँचा। वहांके राणा हमीरने उसका स्वागत किया और कहा—आप मेरे यहां सुख पूर्वक रहें। राजपूत सिर देकर भी शरणागत की रक्षा करते हैं। वादशाह अलाउद्दीन को यह समाचार मिला। उसने राणा हमीरके पास सन्देश भेजा—शाही अपराधी को शरण देना तख्त की तौहीन करना है। रणथम्भौर की ईंट से ईंट वजा दी जायगी नही तो हमारे अपराधी को लौटा दो। राणा हमीरका उत्तर था—राज्य और प्राणभय से हम धर्म नहीं छोड़ेंगे। शरणागतकी रक्षा करना हमारा

धर्म है। यद्यपि कुछ राजपूत सरदारों ने सुझाव दिया कि बादशाह से शत्रुता लेना ठीक नहीं है। परन्तु हमीर अपने निश्चय पर अडिग रहे। अलाउद्दीनने राणाका उत्तर पाकर भारी सेना भेज दी। किन्तु रण-थम्भीर का दुर्ग लोहे का चना सिद्ध हुआ। शाही सेना के छक्के छुड़ा दिये राज पूतों ने। अन्त में शाही सेना ने दुर्गपर घेरा डाल दिया। यह घेरा लगातार पांच साल तक रहा। रणथम्भौर के दुर्ग में भोजन समाप्त हो गया। मङ्गोल सरदार ने कई वार राणा से कहा कि उसे वादशाह के पास जाने दिया जाय, उसके कारण राणा और विनाश न करायें, किन्तु राणा ने उसे हरवार यह कह कर रोक दिया कि आप को एक राजपूत ने शरण दी है। प्राण रहते आपको वहां नहीं जाने दूंगा। दुर्ग में उपवास चल रहा था। एक वड़ी चिता बनाई गई दुर्ग के प्राङ्गण में। दुर्ग के भीतर की सब नारियां उस प्रज्वलित चितामें प्रस-न्नता पूर्वक कूद कर सती हो गई पुरुषों ने केशरिया वस्त्र पहने और दुर्ग का द्वार खोलकर शत्रु पर टूट पड़े। उनमें से एक भी उस युद्ध में जीता नही बचा। केवल वह मंगोल सरदार पकड़ा गया। अलाउद्दीनने उससे पूछा—तुमको छोड़ दूं तो क्या करोगे? सरदार वोला—हमीर की सन्तानको दिल्ली का तख्त देने के लिये तुमसे जिन्दगी भर लड़ूंगा। अलाउद्दीन ने उसे भी मार डाला। इतना वड़ा नर-संहार स्वीकार कर लिया परन्तु हमीर ने शरणागत रक्षण धर्म नहीं छोड़ा॥

कही कहीं ऐसा भी लिखा है कि राजा शिवि ने सौ यज्ञ करने का संकल्प किया। निन्यानवे यज्ञ पूरे हो जाने पर इन्द्र डरे कि राजा हमारा सिंहासन न छीन लें अतः उन्होंने अग्निको साथ ले, राजा जहाँ यज्ञ में वैठे थे, वहीं परीक्षा लेने पहुँचे।"......जब शरीर का मांस कबूतर के बराबर न हुआ तब राजा ने सिर काट कर देना चाहा ज्यों ही उन्होंने तलवार उठाई, इन्द्र और अग्नि अपना छद्म रूप छोड़कर प्रगट हो गये और प्रसन्न होकर उन्होने राजा का शरीर जैसा का तैसा कर दिया। ये सोमवंशी राजा थे और ययाति के दौहित्र थे।

श्रीशिविजी के धर्म और धैर्य की परीक्षा के लिये एकवार ब्रह्माजी ब्राह्मण का वेष धरकर आये और वोले—शिवे! मैं भोजन करना चाहता हूँ। राजाने पूछा—आपके लिये रसोई तैयार कराऊं। आज्ञा कीजिये। ब्राह्मण ने कहा—यह जो तुम्हारा पुत्र वृहद्गर्भ है, इसे मार डालो। फिर उसका दाह संस्कार करो। तत्पश्चात् अन्न तैयार करो और मेरी प्रतीक्षा करो। राजा ने ऐसा ही किया।'जब भोजन तैयार कर राजा ब्राह्मण के पास गये तो वह वहां न मिले। किसी ने वताया कि देर हो जाने के कारण वह विप्र कुपित हो गये और आपके भवन, कोषागार, शस्त्रागार; अश्वशाला और गजशाला—सबमें आग लगा रहे है। तब भी राजा के मनमे किंचित् भी रोष वा क्षोभ नही हुआ। वे विप्र के पास भोजन ले गये और पाने की प्रार्थना किये। उसने कहा कि तुम्ही खा लो। ब्राह्मण की आज्ञा मानकर राजा शिवि ज्यों ही खानेको तैयार हुये, विप्र ने हाथ पकड़ लिया और राजा के धर्म तथा धैर्य की वहुत प्रशंसा किया। ब्राह्मण ने कहा—राजन्! तुमने क्रोध को जीत लिया है, तुम्हारे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो तुम ब्राह्मण के लिये न दे सको। तुम्हारा मङ्गल हो। राजा ने जब आंख उठाकर देखा तो उनका पुत्र जीवित आगे खड़ा था। वह देवकुमार की भाति दिव्य वस्त्राभूषणों से विभूषित था। उसके शरीर से पवित्रसुगन्धि निकल रही थी। ब्राह्मण देवता सब वस्तुओं को पूर्ववत् ठीक करके अन्तर्धान हो गये॥ (म० भा०)

राजा शिवि से जो कोई जो कुछ मांगता था, वे देने को उद्यत हो जाते थे, यह कुछ यश की अथवा ऐश्वर्य वा भोगों की कामना से नही, किन्तु इस विचार से कि 'धर्मात्मा पुरुषों ने इस मार्ग का

सेवन किया है। अतः मेरा भी यही कर्तव्य है। सत्पुरुष जिस मार्गसे चले हैं वही उत्तम मार्ग है। यथा—"महाजनो येन गतः स पन्थाः।"

राजर्षि भरतजी—भगवदवतार श्रीऋषभदेवजो के सौ पुत्रों में महायोगी श्रीभरतजी सबसे बड़े और सबसे अधिक गुणवान थे इन्हीं के नामसे इस अजनाभ खण्ड को भारतवर्ष कहा जाने लगा है। भगवान ऋषभदेव ने इन्हीं को पृथ्वी की रक्षा का भार सौंपा था। श्रीभरतजी के विश्वरूप की कन्या पञ्चजनी नाम की पत्नी से पांच सर्वगुण सम्पन्न पुत्र हुए थे। अपने पूर्वजों के समान स्वधर्म में स्थित रहते हुये राजा भरत अत्यन्त वात्सल्य भाव से प्रजा का पालन करते थे। इन्होंने निष्काम भाव से यथा समय विविध सात्विक यज्ञों द्वारा श्रद्धापूर्वक यज्ञपुरुष श्रीभगवान का यजन किया। इस तरह कर्म की शुद्धि से इनका अन्तः करण शुद्ध हो गया, फलस्वरूप भगवान वासुदेव में-दिन दिन वेग पूर्वक बढ़ने वाली उत्कृष्ट भक्ति प्राप्त होगई। फिर तो इनका राज्यकार्य में एकदम मन नहीं लगने लगा। सदा सर्वदा भगवान का चिन्तन करते रहते। मन्त्री, मित्र, सूर-सामन्त इनका ध्यान राज्य की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करते परन्तु इनकी भावदशा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। सिंहासन पर बैठे रहते, समाधि लग जाती, बलात् कोई राज्य कार्य सामने लाया जाता, ये उसको देखते-देखते शरीर की सुधि बुधि भूलकर 'गोविन्द,' 'दामोदर' 'श्रीकृष्ण' आदि भगवन्नाम उच्चारण करने लग जाते। कुछ दिन ऐसे ही जैसे तैसे राज्य कार्य चलता रहा। तत्पश्चात् राज्य को यथा-योग्य पुत्रों में बांटकर अपने सर्व सम्पत्ति सम्पन्न राजमहल को छोड़कर ये पुलहाश्रम (हरिहर क्षेत्र) में चले आये। उस पुलहाश्रम के उपवन में एकान्त स्थानमें अकेले ही रहकर ये अनेक प्रकारके पत्र, पुष्प, तुलसीदल, जल और कन्द-मूल फलादि उपहारोंसे भगवानकी आराधना करने लगे। इससे इनका अतःकरण समस्त विषयाभिलाषाओं से निवृत्त होकर शान्त हो गया।

एक बार भरतजी गण्डकी में स्नान कर नित्य-नैमित्तिक कृत्यों से निवृत्त होकर प्रणव का जप करते हुए नदी तटपर बैठे थे। इसी समय एक हरिनी प्यास से व्याकुल हो जल पीने के लिए अकेली ही उस नदी के तीर पर आई। अभी वह जल पी ही रही थी कि पास ही गरजते हुये सिंह को लोक भयंकर दहाड़ सुनाई पड़ी। सिंह के डरके मारे उसका कलेजा धड़कने लगा और भयवश उसने एकाएक नदी पार करने के लिए छलांग मारी। छलांग के समय अत्यन्त भय के कारण उसका गर्भस्थ बच्चा बाहर निकल कर नदीके प्रवाह मे गिर गया। सहज भीरु-स्वभावा वह हिरनी सिंहसे भयभीत होने, गर्भके गिरने तथा लम्बी छलांग मारने से पीड़ित होकर किसी गुफा में जा पड़ी और वहीं मर गई गई।

राजर्षि भरत की सम्पूर्ण साधना नदीके प्रवाहमें बहते हुए उस मातृहीन मृगी-शावक की सुरक्षा में केन्द्रीभूत हो गई। वे उसे बड़ी त्वरा पूर्वक सरिता के वेग से बचाकर बाहर निकाल लाये और आश्रम पर लाकर अत्यन्त आत्मीयता पूर्वक उसका लालन पालन करने लगे। उस मृग-छौने के प्रति भरतजी की ममता उत्तरोत्तर बढती गई। परिणाम यह हुआ कि अपने मृगशावक के रूप में प्रतीत होने वाले प्रारब्ध कर्म के कारण तपस्वी भरतजी भगवदाराधन रूप कर्म एवं योगानुष्ठान से च्युत होगये। प्रारब्ध भी कैसा बलवान होता है जिन्होंने मोक्षमार्ग में साक्षात् विघ्नरूप समझकर अपने ही हृदयसे उत्पन्न दुस्त्यज पुत्रादि को भी त्याग दिया था, उन्ही की अन्यजातीय हरिण शिशु में ऐसी आसक्ति हो गई। अन्ततोगत्वा इस मृगासक्ति के बीच ही इनका शरीर छूट गया और अन्तकाल की भावना के अनुसार अन्य साधारण पुरुषों

के समान मृग शरीर ही मिला। किन्तु इनकी साधना पूरी थी, इससे इनकी पूर्वजन्म की स्मृति नष्ट नहीं हुई। अतः इन्हें मन ही मन अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ, हृदयमें वैराग्य भाव का पुनर्जागरण हुआ। बस फिर क्या था—अपनी माता मृगी को त्यागकर अपनी जन्मभूमि कालञ्जर से पुनः पुलह ऋषि के आश्रम को चले आये। बस, अकेले रहकर वे सूखे पत्ते, घास, और झाडियों द्वारा निर्वाह करते हुए अन्त में अपने शरीर का आधाभाग गण्डकी के जल में डुबाये रखकर भगवन्नाम स्मरण करते हुए उस मृग शरीर को छोड़ दिया।

जड़ भरत—आङ्गिरस, गोत्रोत्पन्न, सम, दम, तप, स्वाध्यायादि साधनरत, विद्या, विनय त्याग, तितिक्षा, शान्ति एवं सन्तोषादि श्रेष्ठ सद्गुण-विभूषित एक विवेकशील ब्राह्मण के यहाँ परम भागवत, राजर्षि शिरोमणि भरत ने मृग-शरीर का परित्याग करके अन्तिम ब्राह्मण शरीर धारण किया। इस जन्म में भी भगवान की कृपासे अपनी पूर्वजन्म-परम्परा का स्मरण रहने के कारण, वे इस आशङ्का से कि कहीं फिर कोई विघ्न उपस्थित न हो जाय, अपने स्वजनोंसे दूरही रहते थे। हर समय श्रीभगवान के युगल चरण कमलों को ही हृदय में धारण किये रहते तथा दूसरों की दृष्टि में अपने को पागल, मूर्ख, अन्धे और बहरे के समान दिखाते। पुत्र-वत्सल पिता ने अपने पागल पुत्र के भी शास्त्रानुसार समय समय पर सभी संस्कार किये। उपनयन संस्कारकर, अपना कर्तव्य विचार कर इन्हे विद्वान बनानेके लिए पिता ने प्राण-पण से अथक प्रयास किया कि इन्हें व्याहृति और शिरोमन्त्र प्रणव के सहित त्रिपदा गायत्री मन्त्र को याद कराकर वेदाध्ययन प्रारम्भ कराढूँ। परन्तु जो सोया है, उसे तो जगाया जा सकता है, किन्तु जिसने जान-बूझकर सोनेका स्वांग किया है उसे जगाना बहुत कठिन है। चार महीने में भी इन्हें गायत्री मन्त्र नहीं याद करा सके। फिर भी प्रयत्न से पराङ्मुख नहीं हुये। पुत्र-स्नेहवश सदा-सर्वदा ब्राह्मण के ब्रह्मचर्याश्रम के आवश्यक व्रत नियमों की शिक्षा देते रहे। परन्तु भरतजी तो पिता के सामने ही उनके उपदेश के विरुद्ध आचरण करने लगते। इस पर—

दृष्टान्त—श्रीकागभुसुण्डिजी का—

चौ०— प्रौढ़ भये मोहिं पिता पढ़ावा। समुझउँ सुनउँ गुनउँ नहिं भावा॥
मन ते सकल वासना भागी। केवल रामचरन लव लागी॥
कहु खगेश अस कवन अभागी। खरी सेव सुर धेनुहिं त्यागी॥
प्रेम मगन मोहिं कछु न सोहाई। हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई॥ (रा०च०मा०)

पिता के मन का मनोरथ मन में ही रह गया, कराल-काल ने आकर उन्हे धर दबोचा। पिता के परलोक सिधारने पर तथा माता के भी पति के साथ परलोक चले जाने पर, इनके ज्येष्ठ भ्राता, जो ब्रह्मज्ञान रूप परा विद्या मे सर्वथा अनभिज्ञ थे, केवल कर्मकाण्ड को ही सबसे श्रेष्ठ समझते थे, इन्हें निरा मूर्ख समझकर उन्होने पढ़ाने लिखानेका आग्रह छोड़ दिया। अविवेकी जन इन्हें पागल, मूर्ख, गूँगा, बहरा कहकर पुकारते तो ये वैसा ही आचरण करते, जिससे लोग सत्य ही पागल समझें। कोई कुछ भी करने को कहता तो ये बिना किसी हिचक के कर देते और जो भी मिल जाता उसी को जीभका जरा भी स्वाद न देखते हुए खालेते। निरन्तर ब्रह्मानन्द में लयलीन रहने से इनको शीतोष्ण, सुख-दुःख, मानापमानादि द्वन्दो का भान ही नहीं होता था। सुन्दर सुगठित एवं हृष्ट-पुष्ट शरीर था, पृथ्वी पर ही पड़े रहते थे। कभी तेल उबटन आदि लगाते ही नहीं थे और न कभी स्नान ही करते थे। इससे इनके शरीर पर मैल जम गया था।

इनका ब्रह्मतेज धूलि से ढके हुये मूल्यवान मणि के समान छिप गया था। दूसरों की मजदूरी करके पेट पालते देख जब इन्हें इनके भाइयों ने घर का ही काम करने को कहा तो ये उनकी बात मानकर वैसा ही करने लगे। परन्तु शरीर की सुधि तो रहती नहो, द्वार बुहारने के लिये झाड़ू उठाते तो अपना द्वार तो बुहारते ही पूरे गाँव में बहारू लगाने लगते, कोई मना करता तब मानते। जल भरते तो भरते ही जाते जल-पात्र की कौन कहे पूरा घर भर देते। भाइयो ने देखा कि ये घर पर ठीक कार्य नही करते हैं तो इन्हें धान के खेत की क्यारियाँ समतल करने में लगा दिये। क्यारी जहाँ ऊँची होती, इन्हें खोदकर वहाँ से मिट्टी हटाने को कहते, जहाँ नीची होती, वहाँ मिट्टी पूरने को कहते। परन्तु इनकी तो यह हालत थी कि—खनन कहैं तो कूप बनावें। पूरन कहैं तो शैल उठावें॥ खोदने लगते तो एक जगह खोदते-खोदते कूँआ बना देते। पूरने लगते तो पाटते-पाटते पहाड़ खड़ा कर देते। तब उन्होने इस काम से भी हटाकर इन्हे खेत की रखवाली में लगा दिया। ये खेत की मेंड पर जाकर लेट जाते और चिड़ियो के झुण्ड को देखकर कहते—रामजी की चिड़िया रामजीका खेत। खालै चिरैया भर-भर पेट॥ ये रखवाली में बैठे ही रहते, खेत चौपट हो जाता।

एक समय डाकुओंके सरदारने सन्तानकीकामनासे भद्रकालीको मनुष्य की बलिदेनेका सकल्प किया। परन्तु उसने जो पुरुष-पशु बलि के लिये पकड़ मँगाया था, वह दैव वश उसके फन्दे से छूटकर भाग निकला। उसे ढूढने के लिये उसके सेवक चारों ओर दौड़े, किन्तु अँधेरी रात में आधीरात के समय उस का तो कही पता लगा नहीं, वीरासन से बैठे हुये खेत की रखवाली करते श्रीजड़भरत जी को देखकर वे प्रसन्न हुये कि इस पुरुष-पशुमें तो बड़े शुभ लक्षण दिखाई देते हैं, इसकी बलि से निश्चय ही देवी अत्यन्त सन्तुष्ट होंगी और हमारे स्वामी का कार्य सम्पन्न होगा। दुष्ट इन्हें रस्सियों से बाँधकर चण्डिका मन्दिरमे ले आये। तदनन्तर उन चोरों ने अपनी पद्धति के अनुसार विधि पूर्वक स्नान कराकर कोरे वस्त्र पहनाये, पुष्पमाला, चन्दनादि से विभूषित कर अच्छी तरह से भोजन कराया, फिर बलिदान विधिसे नृत्य, गान, एवं मृदङ्ग ढोल आदि वाद्य बजाते हुये इन्हें लेजाकर भद्रकालीके सामने सिर नीचाकरके बिठा दिया। पश्चात् दस्युराजके पुरोहित बने हुये लुटेरे ने बलि देनेके लिये देवीमन्त्रोंसे अभिमन्त्रित एक तीक्ष्णखड्ग उठाया। यह भयङ्कर कुकर्म देखकर देवी भद्रकाली के शरीर मे अति दुःसह ब्रह्म तेज से दाह होने लगा और वे एका-एक मूर्ति में भेप्रगट हो गईं उन्होंने क्रोधसे तडककर बड़ा भीषण अट्टहास किया और उछलकरउस अभि-मन्त्रित खड्ग से ही उन समस्त पापियों का मस्तक काट डाला। तभी तो कहा गया है कि—"तकैं नीच जो मीच साधुकी सोसठ फिरतेंहि मीच मरै॥ (विनय) फिर परम भागवत को प्रसन्न करने के लिये देवी ने अपने गणों सहित श्रीजड़भरत जी के सामने नृत्य-गान किया।

एक बार सिन्धु-सौवीर देशके राजा रहूगण पालकी पर चढकर श्रीकपिलदेवजीसे तत्व ज्ञान प्राप्त करने के लिये कपिलाश्रम जा रहे थे। जब वह इक्षुमती नदी के किनारे पहुँचे तो उनकी पालकी का एक कहार अस्वस्थ हो जाने के कारण पालकी ढोने में असमर्थ हो गया। कहारों के मुखिया को एक कहार की खोज थी, दैव वश उसे ये ही महापुरुष मिल गये। इन्हे हृष्ट-पुष्ट देखकर उसने सवारीके लिये उप-युक्त समझा और पकडकर पालकी में जोड़ दिया। महात्मा भरतजी यद्यपि किसी प्रकार इस कार्य के योग्य नहीं थे तो भी वे बिना कुछ बोले चुप चाप पालकी को उठा ले चले। कोई-कोई सन्त महानुभाव कहते हैं कि वह मृग-शावक ही, जिसे ये पूर्व राजर्षि भरत रूप में नदी के प्रवाह से निकाल कर लालन-पालन किये थे। मारे प्यार के कन्धे पर उठाकर जहाँ-तहाँ ले जाते थे तथा जिसका चिन्तन करते हुये

शरीर छोड़े थे, उसीने राजा रहूगणके रूप में जन्म लिया, और इनके शुभ चिन्तन के फल स्वरूप इन्हें पुन. मिला और संयोग की बात तो यह कि अब राजा बनने पर भी इनके कन्धे पर चढ गया। परन्तु इन्होंने भी ऐसा अपनपो माना कि अपने साथ ही इसे भी मुक्त कर दिया।

एक तो इन्हे पालकी ढोने का कोई अभ्यास नहीं था दूसरे कोई जीव पैरों तले दब न जाय, इस डर से आगे की एक बाण पृथ्वी देखकर चलते थे, इसलिये दूसरे कहारोंसे इनकी चालका मेल नहीं खाता था, अतः जब पालकी टेढी-सीधी होने लगी तो राजा रहूगण ने पालकी उठाने वालो को डाँटा। तब उन सबों ने कहा—महाराज! यह हमारा प्रमाद नही है, यह एक नया कहार अभी-अभी पालकी मे लगाया गया है, यह दोष इसी का है। राजा रहूगण यद्यपि महापुरुषों का सेवन किये थे, तथापि क्षत्रिय स्वभाववश रजोगुण व्याप्त बुद्धि होनेके कारण रोषपूर्ण वचन बोले। इन महापुरुष के स्वरूपको समझे नही, तिरस्कार कर बैठे। परन्तु इन्होने इसका कुछ भी बुरा नही माना क्योकि वे समस्त सजातीय, विजातीय, एव स्वगत भेद से परे ब्रह्मरूप हो गये थे। लेकिन जब रहूगण ने राजापने अभिमानमें बार-बार अनाप-शनाप बातें कही, तो ये ब्रह्मभूत ब्राह्मण देवता मुसकराये और परम शान्ति पूर्वक राजा रहूगण को उन्होंने आत्मतत्वका उपदेश किया और श्रद्धापूर्वक श्रीहरि-गुरु-संत-चरणों की उपासना को आत्मोद्धार के लिये परम श्रेयस्कर बताया। यथा—

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम्॥
यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षोर्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥ (भा०)

अर्थ–रहूगण! महापुरुषोंके चरणोकी धूलि से अपने को नहलाये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादि के दान, अतिथि सेवा, दीन सेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्य की उपासना आदि किसी भी साधन से यह परमात्म-ज्ञान और सुदुर्लभा भक्ति की प्राप्ति नही हो सकती॥ इसका कारण यह है कि महापुरुषोके समाजमें सदा पवित्र कीर्ति श्रीहरिके गुणोकी चर्चा होती रहती है। जिससे विषय-वार्ता तो पास ही नही फटकने पाती है। और जब भगवत कथा का नित्य प्रति सेवन किया जाता है, तब वह मोक्षाकांक्षी पुरुष की शुद्ध बुद्धि को भगवान वासुदेव में लगा देती है।

रहूगण को अपनी भूलपर बहुत पश्चात्ताप हुआ कि ऐसे महाज्ञानी को मैंने पालकी में लगाया और निरादर किया—इस अपराध का प्रायश्चित्त कैसे होगा। पुनः 'भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः' का स्मरण कर अत्यन्त भक्तिभाव पूर्वक राजा रहूगण ने श्रीजड़भरतजी को प्रणाम किया। यथा—

नमो नमः कारणविग्रहाय स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय।
नमोऽवधूतद्विजबन्धुलिङ्ग निगूढनित्यानुभवाय तुभ्यम्॥ (भा०)

अर्थ—भगवन् ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपने जगत का उद्धार करने के लिये ही यह देह धारण की है। योगेश्वर ! अपने परमानन्द स्वरूपका अनुभव करके आप इस स्थूल शरीर से उदासीन हो गये हैं तथा एक जड़ ब्राह्मण के वेष से अपने नित्यज्ञानमय स्वरूपको जन साधारण की दृष्टि से ओझल किए हुए हैं। हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं। रहूगण अपनी जिज्ञासा का समुचित समाधान पाकर कृत-कृत्य हो गये।

राजर्षि भरतजी के सम्वन्ध में पण्डित जन ऐसा कहते हैं कि—

'आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः। नानुवर्त्माहंति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः।
यो दुस्त्यजान्दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः। जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः॥(भा०)

अर्थ—जैसे गरुड़जी की होड़ कोई मक्खी नहीं कर सकती, उसी प्रकार राजर्षि महात्मा भरतके मार्गका कोई अन्य राजा मन से भी अनुसरण नहीं कर सकता॥ उन्होंने पुण्यकीर्ति श्रीहरि में अनुरक्त होकर अति मनोरम स्त्री, पुत्र, मित्र और राज्यादिको युवावस्था में ही विष्ठाके समान त्याग दिया था। दूसरों के लिये तो इनका त्याग बहुत ही कठिन है।

महाभारतमें एक दुष्यन्त-शकुन्तला पुत्र भरत का भी प्रसङ्ग आता है। जिनके जन्म के समय इन्द्र ने आकाशवाणी की थी कि—'सकुन्तले ! तुम्हारा यह पुत्र चक्रवर्ती सम्राट होगा। पृथ्वी पर कोई भी इसके वल, तेज तथा रूप की समानता नहीं कर सकता। यह पुरुवंश का रत्न सौ अश्वमेघ यज्ञों का अनुष्ठान करेगा। राजसूय आदि यज्ञों द्वारा सहस्रों वार अपना सारा धन ब्राह्मणों के अधीन करके उन्हें अपरिमित दक्षिणा देगा। श्रीमद्भागवतजी में भरत को भगवान का अंशावतार कहा गया है। इनके दाहिने हाथ में चक्र का चिह्न था और पैरों में कमल कोश का। श्रीभरतजी ने सत्ताइस हजार वर्ष तक समस्त दिशाओं का एकच्छत्र शासन किया और एक सौ तैंतीस अश्वमेघ यज्ञ किये थे। अन्त में सार्वभौम सम्राट भरत ने यह निश्चय किया कि लोकपालोंको भी चकित करने वाला ऐश्वर्य, सार्वभौम सम्पत्ति अखण्डशासन और यह जीवन भी मिथ्या ही है। सत्य स्वरूप तो एकमात्र परमात्मा ही हैं यह निश्चय कर उन्होने संसारसे एकदम उदासीन होकर भगवान श्रीहरिके श्रीचरण कमलोंका चिन्तन करते हुये भगवान की दुरत्यया माया को सहजमें जीत लिया और भगवत्पद को प्राप्त कर लिया। यथा—दौष्यन्तिरत्यगान्मायां देवानां गुरुमाययौ॥ (भा०) आपके सम्वन्ध में भगवान वेद व्यासजी कहते है कि—

भरतस्य महत्कर्म न पूर्वे नापरे नृपाः। नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति वाहुभ्यां त्रिदिवं यथा॥(भा०)

अर्थ—भरत ने जो महान् कर्म किया वह न तो पहले कोई राजा कर सका था और न तो आगे ही कोई कर सकेगा। क्या कभी कोई हाथ से स्वर्ग को छू सकता है अर्थात् नहीं।

श्री दधीचिजी—ये ब्रह्म पुत्र अथर्वा ऋषि के पुत्र थे। इनका एक नाम अश्वशिरा भी था। ये वड़े ही ब्रह्मज्ञानी थे। एक समय इन्ही दधीचि ऋषि के आश्रम में इन्द्र आए। अतिथि वत्सल ऋषिने इन्द्र से कहा कि 'आप मेरे अतिथि हैं, जो कहिये, सो मैं करूँ।' इन्द्रने कहा—आप मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिए। महर्षि दधीचि दुविधा में पड़ गए। वचन देकर नहीं करते हैं तो वाणी असत्य होती है और उपदेश के योग्य अधिकारी इन्द्र नहीं हैं। आखिर उन्होंने वचनको सत्य रखने के लिए उपदेश देने

का निश्चय किया और भली भांति ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। उपदेश करते समय ऋषिने प्रसङ्ग वश भोगों की निन्दा की तथा भोगदृष्टि से इन्द्रको और एक कुत्ते को एक-सा सिद्ध किया। इन्द्र ब्रह्मविद्याके अधिकारी तो थे ही नहीं, स्वर्गादि भोगों की निन्दा सुनकर उन्हें क्रोध आ गया और उन्होंने दधीचि ऋषिपर कई तरह से दोषारोपण करके मार डालने की इच्छा होने पर भी निन्दा, मार और हत्या के डर से मारने की इच्छा छोड़ दी, परन्तु उन्होंने यह कह दिया कि यदि आप इस ब्रह्मविद्या का उपदेश किसी दूसरे को करेंगे तो मैं उसी क्षण वज्र से आपका सिर उतार लूँगा। क्षमाशील ऋषिने शान्त हृदय से इन्द्र की बात सुनकर बिना ही किसी क्षोभ या क्रोध के उनसे कहा—'अच्छी बात है। हम किसी को उपदेश करें तब सिर उतार लेना।' इस बर्ताव का इन्द्र पर प्रभाव पड़ा और शान्त होकर स्वर्ग को लौट गये।

कुछ दिनो बाद अश्विनी कुमारों ने वैराग्यादि साधनों से सम्पन्न होकर ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये महर्षि दधीचिजी के चरणों में उपस्थित होकर अपनी इच्छा जनायी और ब्रह्म विद्या का उपदेश करने के लिये प्रार्थना की। एकबार इन अश्विनी कुमारों ने पहले भी मुनि से यह निवेदन किया था, तो उस समय ऋषि ने यह कहकर टाल दिया था कि अभी आप लोगों मे वैराग्य का अभाव है और बिना वैराग्य के ब्रह्म विचार व्यर्थ होता है। यथा—'बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू।' (रा०च०मा०) अतः आप लोग प्रथम वैराग्य युक्त होकर मुझ से पूछोगे तो मैं आप लोगों को अधिकारी पाकर दुर्लभ ब्रह्मविद्या का उपदेश करूँगा। अब वे वैराग्य पूर्वक तत्व जिज्ञासा कर रहे हैं। अतः सत्यपरायण श्रीदधीचिजी ने सोचा कि 'इनको उपदेश न देनेसे मेरा वचन असत्य होगा और उपदेश करने पर इन्द्र मेरा शिर उतार लेंगे। वचन असत्य होने की अपेक्षा मर जाना उत्तम है। प्रतिज्ञा भंग और असत्य का जो महान दोष होता है, उसके सामने मृत्यु क्या चीज है। शरीर का नाश तो एक दिन होगा ही।' यह विचार कर उन्होने उपदेश देना निश्चय कर लिया। अश्विनी कुमारों को, इन्द्रके साथ जो बात-चीत हुई थी, वह कहकर सुना दी।

अश्विनी कुमारों ने पहले तो कहा कि भगवन्! आप हम लोगों को कैसे उपदेश देंगे? क्या आपको इन्द्र के वज्र से मरने का डर नही है? परन्तु जब दधीचिजी ने कर्मवश शरीरधारी की मृत्यु की निश्चयता, परमार्थ रूप से असारता और सत्यकी श्रेष्ठता सिद्ध कर दी, तब अश्विनी कुमारों ने कहा—भगवन्! आप किंचित् भी भय न करें। हम एक कौशल करते हैं, जिससे न आप की मृत्यु होगी और न हमें ब्रह्म विद्या से वंचित होना पड़ेगा। हम पृथक्-पृथक् हुये अङ्गों को जोड़कर जीवित करने की विद्या जानते है। पहले हम इस घोड़े का सिर उतारते हैं, फिर आप का सिर उतार कर इस घोड़े की धड़ पर रख देते हैं और घोड़े का सिर आपकी धड़ से जोड़ देते हैं। आप घोड़े के सिर से हमे ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिये। फिर जब इन्द्र आकर आपका घोड़े वाला सिर काट देंगे, तब हम पुनः उसका सिर उतार कर आपकी धड़से जोड़ देंगे और इन्द्रद्वारा कटा हुआ घोड़ेका सिर घोड़ेकी धड़से जोड़ देंगे। न घोड़ेका ही कुछ बिगड़ेगा,न आपका ही। महर्षि दधीचि ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और भली भांति उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। जब इन्द्र को इस बात का पता लगा तो इन्द्रने आकर वज्र से दधीचिजी के धड से जोड़ा हुआ घोड़े का सिर काट डाला। पश्चात् अश्विनीकुमारो ने सञ्जीवनी विद्या के प्रभावसे घोडे की धड से जुडा हुआ ऋषि का सिर उतार कर उनके धड़ से जोड़ दिया और घोड़े पर घोड़े का सिर रख कर उसे जोड़ दिया। फलस्वरूप दोनों जीवित हो गये।(उपनिषदों के चौदह रत्न से,तैत्तिरीय ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद के आधार पर)

वृत्रासुरके महापराक्रमसे पराभूत सबके सब देवता दीन-हीन और उदास हो गये तथा एकाग्र-चित्त से अपने हृदय में विराजमान आदि पुरुष भगवान् नारायणकी शरण गये। देवताओंकी प्रार्थनापर अन्तर्यामी भगवान शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये उनके सामने प्रकट हो गये। भगवानका दर्शन पाकर सभी देवता आनन्दसे विह्वल हो गये। उन लोगोंने धरतीपर लोटकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया और फिर धीरे-धीरे उठकर वे भगवान की स्तुति करने लगे। जब देवताओं ने बड़े आदरके साथ भगवानका स्तवन किया तो वरदानोन्मुख प्रभु देवताओंसे बोले—देवताओं! तुम लोगोंका कल्याण हो। अब देर मत करो। ऋषि शिरोमणि श्रीदधीचिजीके पास जाओ और उनसे उनका शरीर—जो उपासना व्रत तथा तपस्या के कारण अत्यन्त सुदृढ़ हो गया है—माँगलो। वे तुम लोगो को माँगने पर अपना शरीर अवश्य दे देंगे। इसके बाद विश्व कर्मा द्वारा उनकी अस्थियोसे एक श्रेष्ठ आयुध तैयार करा लेना। देव-राज! मेरी शक्ति से युक्त होकर तुम उसी शस्त्र के द्वारा वृत्रासुर का वध कर सकोगे। इतना कहकर भगवान वहीं के वही अन्तर्धान हो गये। अब देवताओं ने उदारशिरोमणि दधीचि ऋषिके पास जाकर भगवान की आज्ञा के अनुसार याचना की। देवताओंकी याचना सुनकर महर्षि को बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने हँसकर देवताओंसे कहा—देवताओं! आप लोग जानते ही हैं कि—'जनमत मरत दुसह दुख होई।' अतः जन्म ले लेने पर मरना कोई नही चाहता। और जो लोग जग में जीवित रहना चाहते हैं, उनके लिये शरीर बहुत ही अनमोल, प्रियतम एवं अभीष्ट वस्तु है। यथा—'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं'। 'सब के देह परम प्रिय स्वामी।' ऐसी स्थिति मे स्वयं विष्णु भगवान भी यदि जीव से उसका शरीर मांगें तो कौन उसे देने का साहस करेगा।

देवताओंने कहा—ब्रह्मन्! आप जैसे उदार और प्राणियों पर दया करने वाले महापुरुष, जिनके कर्मो की बड़े-बड़े यशस्वी महानुभाव भी प्रशसा करते हैं, प्राणियोंकी भलाईके लिये कौन सी वस्तु निछावर नही कर सकते हैं। भगवन्! इसमें सन्देह नही कि माँगने वाले लोग स्वार्थी होते हैं। उनमे देनेवालों की कठिनाई का विचार करने की बुद्धि नही होती। यदि उनमें इतनी समझ होती तो वे माँगते ही क्यों? इसी प्रकार दाता भी माँगने वाले की विपत्ति नही जानता, अन्यथा उसके मुँह से कदापि नाहो नहीं निकलती। इसलिये आप हमारी विपत्ति समझकर हमारी याचना पूर्ण कीजिये। दधीचि ऋषिने कहा—देवताओं! मैंने आप लोगोंके मुँह से धर्मकी बात सुननेके लिये ही आप को माँग के प्रति उपेक्षा की थी। यह लीजिये, मैं अपने प्यारे शरीर को आप लोगों के लिये अभी छोड़ता हूँ। क्योकि एक दिन यह स्वयं ही मुझे छोड़ने वाला है। देव शिरोमणियों! जो मनुष्य इस विनाशी शरीर से दुखी प्राणियों पर दया करके मुख्यतः धर्म और गौणतः यशका सम्पादन नही करता वह जड़ वृक्षादि से भी गया बीता है। **योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान्। ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि॥** (भा०) ऐसा निश्चय कर महर्षि दधीचि ने अपने को परब्रह्म परमात्मा श्रीभगवान में लीन करके अपना स्थूल शरीर त्याग दिया। कहीं कही ऐसा भी वर्णन आता है कि श्रीदधीचिजी को समस्त तीर्थोके दर्शन की इच्छा थी, जब उन्होने यह बात इन्द्र से कही तो देवराज इन्द्रने नैमिषारण्य में समस्त तीर्थो का आह्वान किया। स्नानकर दधीचिजी ने पद्मासन लगाकर बैठकर अपना शरीर छोड़ दिया। इन्द्रके कहने पर जंगली गायों ने दधी-चिके शरीर को चाट-चाट कर अस्थियों से त्वचा, मांसादि को अलग कर दिया। अब विश्वकर्माने दधी-चि ऋषिकी हड्डिो से वज्र बनाया। जिसके द्वारा इन्द्रने वृत्रासुर का वध करके लोक का कल्याण किया। (भा०)

श्रीदवीचिजीकी अस्थियोंकी कठोरताके सम्बन्धमें ब्रह्मपुराण में कथा आती है कि एक बार देवासुर संग्राम में देवता असुरो को पराजित करके अपने समस्त दिव्य अस्त्र-शस्त्र महर्षि दधीचिजी के आश्रम में धरोहर रूप से रख गये। जब दैत्यों को यह बात मालूम हुई तो वे इन अस्त्र-शस्त्रो को हड़पनेके विविध प्रयत्न करने लगे। तथा महर्षिकी सावधानी देख इनसे चिढ़ने लगे। दैत्योंने दधीचिजी से भी वैर बाँध लिया। जब दधीचिजी को यह निश्चय हो गया कि दैत्य इन आयुधों को लेने पर तुले हैं तो इन्होंने उनकी रक्षाके लिये एक काम किया—इन्होने पवित्र जल से मन्त्र पढ़ते हुये अस्त्रों को नहलाया फिर वह सर्वास्त्रमय परम पवित्र और तेज युक्त जल स्वयं पीलिया। तेज निकल जाने से वे सभी अस्त्र-शस्त्र शक्ति हीन होकर नष्ट हो गये। और उनका तेज इनकी अस्थियों में समा गया अतः इनकी अस्थियाँ वज्र हो गईं।

इस प्रसङ्गमें महत्वकी बात यह है कि जिस इन्द्र ने पहले इन महर्षिका सिर काट लिया था उन्ही के मङ्गल के लिये इन्होंने अपना शरीर ही दे दिया। तभी तो कहा गया है—उमा संत की इहइ बड़ाई। मन्द करत जो करइ भलाई॥ धन्य औदार्य॥

श्रीविन्ध्यावलीजी

विन्ध्यावली तियासी न देखी कहूँ तिया नैन बाँध्यो प्रभु पिया देखि किया मन चौगुनौ।
करि अभिमान दान देन बैठ्यौ तुमहीं को कियो अपमान मैं तो मान्यों सुख सौगुनौ॥
त्रिभुवन छीनि लिये दिये वैरी देवतान प्रानमात्र रहे हरि आन्यो नहिं औगुनौ।
ऐसी भक्ति होइ जो पै जागौ रहौ सोइ अहो रहो भव मांझ ऐ पै लागै नहीं भौगुनौ॥८७॥

शब्दार्थ—पिया=पति। मन चौगुनो=अति प्रसन्न मन, चौगुनो सुख माना। औगुनो=अवगुन, दोष। भौगुनो=भवगुन, संसारकी माया।

भावार्थ—राजा वलिकी स्त्री विन्ध्यावलीजीके समान कोई भी स्त्री देखने-सुननेमें नहीं आई। जिसने वामन भगवान् द्वारा अपने पतिको बाँधा गया देखकर अपने मनको थोड़ा भी मलिन नही किया वल्कि मन में अति प्रसन्न हुई। उस समय भगवान की प्रार्थना करते हुऐ विन्ध्यावलीजीने कहा—प्रभो राजा आपका सेवक होकर, मैं बड़ा दानी हूँ इस अभिमान के वश अपने को दानी और अनन्तकोटि ब्र[illegible] ण्डके स्वामी आपको तुच्छ भिक्षुक मानकर दान करने बैठ गया। इससे आपका बड़ा भारी अपमान हुआ आपने जो कृपारूप दण्ड देकर इसके अभिमानको चूर किया, इससे मैंने सौगुना सुख पाया। अहो! देखि[illegible] रानी विन्ध्यावलीकी कैसी अपूर्व निष्ठा है कि वामन भगवान्‌ने राजासे छल पूर्वक तीनों लोकों को [illegible] कर राजा वलिके शत्रु देवताओंको दे दिया, पतिको अति अपमानित करके बँधवा दिया, नरक भे[illegible] धमकी दी वलिके केवल प्राणमात्र शेष रहे, फिर भी विन्ध्यावलीजीने भगवानमें कोई दोष नही देख राजाकी ही भूल मानी। यदि भगवान् की दयासे किसीमें ऐसी भक्ति हो, तो वह चाहे जागता [स[illegible] होकर सत्कर्म करता] रहे अथवा सोता (लोगों की दृष्टि में निष्क्रिय) रहे। दोनो अवस्थायें समान वह ससारमें ससारीकी भाँति व्यवहार करता रहे पर उसे माया के गुण नही लगेंगे। वह जीवनमुक्त है।

व्याख्या—विन्ध्यावली .... लियानैन—

दुर्लभो वैष्णवो राजा दुर्लभो विप्रवैष्णवः।
दुर्लभा वैष्णवी नारी अति दुर्लभ दुर्लभाः॥

(अर्थ स्पष्ट है।) 'करि अभिमान ....तुमहीं को'—यथा—

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपित कर्तृ वादाः॥ (भा०)

अर्थ—विन्ध्यावली ने कहा—प्रभो! आपने अपनी क्रीड़ाके लिए ही इस सम्पूर्ण जगत् की रचना की है। जो लोग कुबुद्धि हैं वे ही अपने को इसका स्वामी मानते हैं। जब आप ही इसके कर्ता, भर्ता और संहर्ता हैं, तब आपकी माया से मोहित होकर अपने को झूठ-मूठ कर्ता मानने वाले निर्लज्ज आपको समर्पण क्या करेंगे? श्रीस्वामी यामुनाचार्यजी कहते है कि—

मम नाथ! यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतः स्वमिति प्रवुद्धधीः अथवा किंनु समर्पयामि ते॥ (आलवन्दार)

अर्थ—हे नाथ! जो कुछ मेरा है, और स्वयं जो कुछ मैं हूँ, वह सब आपकी ही नियत निधि है। मेरा कुछ नहीं, ऐसा सोचने पर कुछ शेष रहता ही नही, जो मैं आपको समर्पण करूँ। क्यों कि जो आप का न हो वह आपको समर्पण किया जाय। ऐसी अवस्था में मैं आपको क्या समर्पण करूँ।

किधौ अपमान—भगवानकी सम्पत्तिको अपनी मानकर, स्वयं दाता बनकर स्वामीको, भगवान को दान देना, भगवान के समक्ष दानीपने का अभिमान करना, भगवान का अपमान ही है। एक कवि ने कहा है—'नारी काहू रङ्क की, अपनी कहै न कोइ। हरि नारी अपनी कहै, क्यों न फजोहत होइ॥' आन्यो नहिं औगुनो—यह भक्तों का स्वभाव है। यथा—'गुन तुम्हार समुझै निज दोषा।' (रा० च०मा०) यद्यपि यहाँ अवगुन की प्राप्ति है। विन्ध्यावली सोचें तो सोच सकती हैं कि वामन रूपसे याचना किये, विराट रूप से नापे। तीन पग मांगे, तीनों लोक नाप लिये। स्वयं भी नहीं रक्खे—'दिये वैरी देवतान।' सर्वस्व ले लिये-केवल प्राणमात्र बच रहे, उस पर भी वरुणपाश में बांधे, नरक का भय दिये, डांटे-फटकारे आदि। यह सब उचित नही हुआ है। परन्तु विन्ध्यावली ने मन मे किञ्चित्मात्र भी भगवान के प्रति दोष बुद्धि नही आने दी। अज्ञानी जीव तो बात-बात में—'कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥' (रा०च०मा०) भगवान का अपमान करते हैं।

स्कन्द-पुराण में कथा आती हैकि सर्वान्तर्यामी भगवान विन्ध्यावली के इस समीचीन भाव पर बड़े प्रसन्न हुए और बोले—देवि! तुम्हारे पति के द्वारा आज मुझे तीन पग पृथ्वी मिलनी चाहिये। इस की पूर्ति कहाँ से होगी? विन्ध्यावली ने कहा—देव! आप समस्त लोकों के एकमात्र स्वामी हैं, भला हम जैसे लोग आपको क्या दे सकते हैं? इसलिए इस समय मैं जो निवेदन करती हूँ उसके अनुसार आप कार्य कीजिये। मेरे स्वामी ने इस समय तीन पग भूमि देने की प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार मेरे पूज्य पतिदेव तीनों पगो के लिये स्थान इस प्रकार दे रहे हैं। प्रभो! देवेश्वर! आप अपना पहला पग मेरे मस्तक पर

रखिये। जगत्पते ! दूसरा पग मेरे इस बालक के मस्तक पर स्थापित कीजिये। तथा जगन्नाथ ! अपना तीसरा पग मेरे पति के मस्तक पर रख दीजिए। केशव ! इस प्रकार से मैं ये तीन पग आपको दे रही हूँ। भगवान ने इनकी भक्ति की सराहना की।

ऐसी भक्ति होइ—भगवानकी प्रत्येक इच्छा में, प्रत्येक कार्यमें मङ्गल विधान की विभावना करना, उसमे प्रसन्न रहना, म्लानता का हेतु उपस्थित होने पर भी प्रसन्न रहना—यथा—बलि के बाँधे जाने पर भी किया मन चौगुनो, सब सम्पत्ति भगवान की समझते हुए, अपने को एक मात्र प्रभु-सेवक समझतेहुए उसकी सार-सँभाल-सदुपयोग करना, दुःखमें भी सुख मानना, अवगुनमें भी गुन मानना, एवं सर्वतो भावेन भगवान के श्रीचरण-कमलों में आत्म समर्पण कर देना—यदि ऐसी भक्ति हो यथा—'जामें रहैं प्रसन्न हरि, कीजै सोई बात। अपनी चाह न ऊपजै, याही में कुशलात ।। विन्ध्यावली जी में यह सब भाव प्राप्त हैं।

जागौ रहौ सोइ—यथा—'सर्वस सौंपि हरिहिं निश्चिन्ता। जागत सोवत जनहिं न चिन्ता ।।' तात्पर्य यह कि ऐसी दशा में स्वयं भगवान उस जन की सदा-सर्वदा रक्षा में तत्पर रहते हैं। यथा—'सुनु मुनि कहौं तोहि सहरोषा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा। करौंसदा तिनकै रखवारी। जिमि बालकहिं राख महतारी ।। (रा०च०मा०) पुनः 'जो अनुरागी जन अहैं, साँचो हरि सों भाव। तिनको बाधा कछु नहो, भावै सोवै गाव ।। फिर तो—रहै भव····चौगुनो ।। जैसे कमल जल में रहकर भी जल से निर्लिप्त रहता है। यथा—'साधू यों जग में रहैं, ज्यौं नलिनी जल माँहि। सदा सर्वदा संग रहैं, पै जल परसत नाँहि ।। 'मैं अरुमोर तोर तें' मायाजन्य इस अभिनिवेश वश ही जीव को समस्त दोष-दुःख प्राप्त होते हैं।

दृष्टान्त—मिथ्या ब्रह्मज्ञानी का—एक कोरा ज्ञान कथन करने वाले ब्रह्मज्ञानी ने बड़ा सुन्दर बाग लगाया था। संयोग की बात-एक दिन एक गाय बागमें प्रवेश करके दो एक पौधे खा गई। इनको क्रोध आया, जोर से लाठी मारी, गैया मर गई। फलस्वरूप गो-हत्या मूर्तिमान होकर इनके पास आई और बोली-तुमने जो गो-वधरूप महापाप किया है, उसके फल-भुगतानके लिये मैं तुम्हारेशरीर में प्रवेश करूँगी। मैं गो-हत्या हूं। इन्होने तुरन्त ब्रह्मज्ञान बघारा—हमने थोड़े ही गाय मारी है। वह तो हाथोंने मारो है और हाथोंका भी क्या दोष? हाथके देवता तो इन्द्र हैं, बिना उनकी प्रेरणाके हाथ उठही नही सकता। अतः तुम इन्द्रके पास जाओ। हत्या इनके ज्ञान-कथनसे प्रभावित होकर इन्हें छोड़कर इन्द्रके पास गई।जब सब वृत्तान्त इन्द्रको मालूम हुआ तो उन्होंने भी बात बना दी—देखने वाले तो नेत्र हैं, यदि नेत्र नही देखता तो मारनेके लिए हाथ उठता ही नही, और नेत्र के देवता हैं सूर्य अतः तुम सूर्यके पास जाओ। सूर्यके पास जाने पर उन्होंने कहा—सभी इन्द्रियों का राजा मन है। बिना मनोयोग के कोई इन्द्रिय ठीक से कार्य नहीं करसकती हैं और मनके देवता हैं चन्द्र तुम-वहां जाओ। वहां जानेपर चन्द्रने मनको उत्तेजित करने वाले अहंकारके देवता शिवके पास भेजा और शिव ने अहंकार का बोध कराने वाली बुद्धिके देवता ब्रह्मा के पास भेजा और ब्रह्माने सबके परम-प्रेरक भगवान विष्णु के पास भेजा। तब भगवान उस गो-हत्याको साथ लेकर उसज्ञानीके ज्ञानकी वास्तविकताका पता लगानेकेलिए बागमें गये और वहाँ पहुँचकर बागकी बहुत बड़ाईकी कि—धन्य है उस बाग लगानेवालेको जिसने इतना सुन्दर बाग लगाया है, कैसे सुन्दर हैं इस बागके वृक्ष, कैसी सुन्दर है इस बाग की रचना आदि आदि। मिथ्या ब्रह्मज्ञानी प्रशंसा सुनकर फूल

गये और अभिमानमें भरकर बोले कि यह बाग हमारा लगाया है। मैंने इसको सीचा है, सँभाला है आदि आदि। तब भगवान ने मुस्करा कर गोहत्या से कहा कि जब सबके कर्ता ये हैं तो गोवध के भी कर्ता येही हुये अत. उस पाप का फल भी इन्हीं को भोगना पड़ेगा। मीठा-मीठा गप्प और कडुवा-कडुवा थू—यह ठीक नहीं। यदि यह शुरू से अकर्ता ही बने रहते तो इससे भी न्यारे हो जाते, परन्तु जब बनाने का कर्ता ये अपने को मानते है तो बिगाड़नेका कर्ता कोई देवता या परमात्मा नही हो सकता। मैं-मोर,तें-तोर आतें ही कर्तृत्व भोक्तृत्व जीवका ही हो जाता है।

श्री नीलध्वजजी—ये माहिष्मती नगरी के राजा थे। इनके प्रवीर नाम का एक महा-पराक्रमी पुत्र था। श्रीयुधिष्ठिरजी महाराज के यज्ञिय अश्व को प्रवीरने पकड़ लिया था और अपने शौर्य के अभिमानमें अर्जुन के पास यह सन्देश भिजवा दिया कि मुझ नीलध्वजके पुत्र प्रवीरने यज्ञिय अश्व को पकड़ कर माहिष्मती नगरी में भेज दिया है। अब अर्जुन कोप करके इसे छुड़ा ले। प्रवीर की इस चुनौती को स्वीकार करते हुये घोर संग्राम हुआ। प्रवीर पाण्डव वीरों के समक्ष नही टिक सका, तब इसके पिता महाराज नीलध्वज तीन अक्षौहिणी सेना लेकर युद्ध भूमि में आ डटे। इनका मुकाबला वीरवर अर्जुन से रहा। अर्जुन ने इन्हे मूर्च्छित कर दिया, तब ये अपने जामाता अग्निदेव को बाणाग्र भाग पर प्रतिष्ठित करके पाण्डव सेना पर छोड़ दिये। जिससे असंख्यों वीर क्षण मात्र मे भस्म हो गये। (नोट—नीलध्वज ने अपनी स्वाहा नाम की कन्या अग्निदेव को व्याहा था।)

यद्यपि अर्जुन ने अग्नि को शान्त करने के लिये वरुणास्त्र का प्रयोग किया लेकिन अग्नि देव नहीं शान्त हुये, तब अर्जुन ने नारायणास्त्र का प्रयोग किया। नारायणास्त्र का धनुष पर सन्धान हुआ देख कर अग्निदेव शान्त हो गये और अर्जुन के यह पूछने पर कि अब तक तो आप की मेरे ऊपर बड़ी कृपा रही है। आपने ही मुझे गाण्डीव धनुष और दिव्य रथ प्रदान किया है तथा आप सर्वदा मेरे साथ उत्तम और दिव्य सौहार्द का व्यवहार करते आये हैं, परन्तु आज आप मेरे विरुद्ध अधिकाधिक उद्दीप्त होते जा रहे हैं, क्या बात है ? जब आप यों प्रेमभाव को तिलाञ्जलि देकर विपरीत व्यवहार करने पर उतारु हो गये हैं, तो बताइये, मैं कर ही क्या सकता हूँ।

अग्निदेव ने कहा—धनञ्जय ! यदि तुम कमलनयन श्रीकृष्ण के समीप रहने पर भी अश्वमेध यज्ञ द्वारा युधिष्ठिर को पवित्र करना चाहते हो तो उन श्रीहरि के बिना यज्ञ,देवता अथवा मन्त्र-कोई भी उन्हें पवित्र करने में समर्थ नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारा श्रीकृष्ण मे विश्वास नही है। तुम क्षीर सागर को पाकर भी दूध के लिये बकरी क्यों दुहाते हो तथा उदित हुये सूर्य का परित्याग करके प्रकाशके लिये जुगनू की आकांक्षा कैसे कर रहे हो ? पार्थ ! इस समय मैंने तुम्हारी सेनापर जो आक्रमण किया है, उसका प्रधान कारण यही है। नीलध्वज की प्रेरणा तो गौण है। यह कह कर अग्नि देव ने अर्जुन की नष्ट हुई समस्त सेना को जीवित कर दिया और राजा नीलध्वजको समझाया कि भला—जिन्होने इन्द्रके खाण्डववन को सहज ही जला कर भस्म कर दिया, जो श्रीकृष्ण के अन्तरङ्ग सखा हैं, उन्हें कौन हरा सकता है ? अतः आप उनका यह यज्ञिय अश्व वापस करके उनसे मित्रता करलो जिससे आप का कल्याण हो। राजा नीलध्वजने ऐसा ही किया और अर्जुनसे बोले—महाबाहु पार्थ ! मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? तब अर्जुनजी ने कहा—भूपाल शिरोमणे ! आप श्रेष्ठ वीर हैं। इसलिये मेरे साथ रहकर मेरे इस यज्ञिय अश्व की रक्षा कीजिये। राजा नीलध्वज 'तथास्तु' कहकर राज्य अपने पुत्र प्रवीरको सौंपकर

श्रीअर्जुनजी के साथ हो लिये और अश्व रक्षामे अपने अद्भुत पराक्रम का परिचय दिये। श्रीअर्जुनजी के द्वारा राजानीलध्वजजीकी बड़ाई सुनकर भगवान श्रीकृष्णने बड़े प्रेमसे इनका गाढ़ आलिङ्गन किया था। (जैमिनीयाश्वमेधपर्व)

श्रीमोरध्वजजी और ताम्रध्वजजी

श्रीमोरध्वजजी रत्ननगर के राजा थे, ताम्रध्वजजी इनके पुत्र थे। पिता पुत्र दोनों ही परम-भागवत थे। 'यथा राजा तथा प्रजा' इसके अनुसार राजामोरध्वजजी के राज्यमें अन्त्यजभी शङ्ख, चक्रको छाप धारण करते थे और वैष्णवी दीक्षा पाकर ऐसे सदाचारी हो गये थे जैसे वैदिकी दीक्षा से युक्त उच्च वर्ण के लोग सदाचार सम्पन्न होते हैं। यथा—अन्त्यजा अपि तद्राष्ट्रे शङ्ख चक्रकधारिणः। सम्प्राप्य वैष्णवीं दीक्षां दीक्षिता इव सम्बभुः॥ (जैमिनीयाश्वमेध) महाराज मोरध्वजजी की साधु-सन्तों में बड़ी प्रीति थी। वेषमात्र साधुका देखकर सिंहासन छोड़ कर आगे जाकर उसका स्वागत करते थे। यथा— माला तिलक सहित जो आवै। सुनतै नृप आगे उठि धावै॥ भवन लाय कै चरण पखारै। चरणोदक सोइ मुख में धारै॥ (विश्राम सागर) जिस दिन किसी सन्त के दर्शन नही होते थे उस दिन राजा भोजन नही करते थे। जैसे श्रीपलटूदास—पलटू धुनियां जाति का निस दिन धुनै कपास। जेहिं दिन सन्त मिलें नहिं तेहिं दिन करै उपास॥

एक वार कुछ चोरों ने राजा की इस वेष-निष्ठा का अनुचित लाभ उठाने का निश्चय किया। वे साधु का वेष वनाकर राजा के यहां आये। राजा ने इनका वहुत सत्कार किया। महलमें निवास दिया। एक दिन महाराज मोरध्वज वन की शोभा देखते-देखते दूर निकल गये। उन्होने रात्रिमें वनमें ही निवास किया। इधर चोरों को मौका मिला, वे रानी को मारकर सारी रात धन-माल ढोते रहे। प्रातःकाल वे सिर पर मणि-रत्नों का गट्ठर लिये भागे जा रहे थे, उधर से घोड़े पर चढ़कर राजा महल को लौट रहे थे। वे इन्हें पहचान लिये और घोड़े से उतर कर इन्हें दण्ड प्रणाम किये और यह विचार कर कि निश्चय ही मेरी अनुपस्थिति मे इनका सत्कार ठीक से नही हुआ होगा, इसलिये ये चले जा रहे है, राजा ने इस अपराधके लिये वहुत-वहुत क्षमा-याचनाकी और पुनः लौटनेकी प्रार्थना करने लगे। कहावत है—'चोरकी दाढ़ी में तिनका' चोर डर गये कि घर ले जाकर हम लोगों को दण्ड देंगे, अतः धन सौंपते हुये, अपना सही परिचय देने लगे कि 'महाराज ! हम लोग साधु नहीं हैं, हम चोर हैं, हमने आपका धन चुराया है, इसे आप लीजिये और दया करके हम लोगों को छोड़ दीजिये। राजाने कहा—आप लोग कैसी वात कर रहे हैं, हमारा तो सर्वस्व आप सन्त-महात्माओं का ही है। आप लोग घर चलकर मुझे कृतार्थ करे। इस प्रकार अत्यन्त आग्रह करके राजा उन्हे लौटा लाये। घर पर लाकर उनका पग धोये, स्वयं चरणामृत लिये और रानी के ऊपर भी छिड़का। रानी तत्काल उठ वैठी जैसे प्रगाढ़ निद्रासे सोकर उठी हों। राजा-रानी-दोनों ने वड़े भाव से इनके चरण-स्पर्शकर प्रणाम किया। मोरध्वजजी की इस अगाध भक्ति-भावना का चोरों पर वड़ा प्रभाव पड़ा, उनको अपने कुकृत्यों पर वड़ी ग्लानि हुई और सदा के लिये चोरी छोड़ कर स्वयं भी साधु हो गये।

भगवानने मोरध्वजके राज्यकी रक्षाके लिये अपने सुदर्शनचक्र को नियुक्तकर रक्खा था। एक वार यमराजके दूत घूमते-घूमते इनके राज्य की ओर जा निकले। श्रीचक्रसुदर्शन ने उनको खदेड़ा। वे भागकर यमराजसे जाकर इसकी शिकायत किये और अपना दण्ड-पाश यम के आगे फेक दिये। ५मर।८

जी ने भगवान विष्णु से इस बात की फरियाद की। भगवानने हँसकर कहा—धर्मराज! सुनो, राजा मोरध्वज के समान मेरा कोई भक्त नहीं है। इसलिये उनकी रक्षा के लिये मैंने चक्र को नियुक्त कर रक्खा है। फिर भला आपके दूतों का उधर जाने का प्रयोजन ही क्या? धर्मराज जी ने श्रीमोरध्वजजी की भक्ति को जानना चाहा तो भगवान ने कहा कि वह कहने में नहीं आ सकती, आपकी इच्छा है तो चलिये दिखालाऊँ। फिर तो भगवान स्वयं साधु बने और धर्मराज को सिंह बनाये, साथ लेकर राजदरबार मे आये। राजा ने बड़े भाव से सिंहासन पर पधराकर षोडशोपचार विधि से पूजन किया और भोजन के लिये निवेदन किया तो साधुरूप धारी भगवान ने कहा—प्रथम मेरे सिंहको सन्तुष्ट करो, पश्चात् मुझे खिलाने-पिलाने की बात करो। और देखो, यह तुम्हारे पुत्र का मांस खाने की इच्छा करता है, अतः अन्य वस्तुओं से इसका समाधान नहीं हो सकता है। राजा बड़े प्रसन्न हुये और एक सेवक के द्वारा राजकुमार को बुलवाकर सन्त की बात कह सुनाई। यह सुनकर कुँवर ताम्रध्वज ने सिर झुकाकर आज्ञाशिरोधार्य करते हुये कहा कि—पिताजी! वह शरीर धन्य है जो परोपकार में लगे। ऐसा कहकर राजकुमार ताम्र-ध्वज पिता को प्रणामकर सिंह के सामने जाकर बोले—ईश्वर रूप मेरे अतिथि! तुम शीघ्र ही मुझे खाकर अपनी आत्मा को तृप्त करो। इतने में ताम्रध्वज क्या देखते हैं कि साधु के स्थान पर भगवान विष्णु एवं सिंह के स्थान पर धर्मराज प्रगट हो गये और राजा एवं राजकुमार की भक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा कर तथा अविचल भक्ति का वरदान देकर अपने धाम को चले गये। (वि० सा०)

महाराज मोरध्वज जी नर्मदा तटपर सात अश्वमेध यज्ञ पूर्ण करके आठवाँ यज्ञ कर रहे थे। यज्ञिय अश्व की रक्षा कर रहे थे राजकुमार ताम्रध्वज। उनके संग में अपार चतुरङ्गिणी सेना थी। इधर उन्हीं दिनों धर्मराज युधिष्ठिर भी अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा ले चुके थे। इनका भी सर्व शुभ-लक्षण-सम्पन्न अश्व श्रीअर्जुनजीके संरक्षण में छूट चुका था। अर्जुनके साथ थे स्वयं भगवान श्रीकृष्ण एवं असंख्य सेना। श्रीयुधिष्ठिरजीका वह यज्ञिय अश्व जब देश-देशान्तरों में घूमता हुआ मणिपुरसे आगे बढा तो उधर से ताम्रध्वज भी ससैन्य अपने घोड़े के साथ आ रहे थे। एक दूसरे घोड़े के मस्तकपर बँधे हुये स्वर्णपत्र को देखकर ताम्रध्वज ने अपने मन्त्री बहुलध्वज से उसे बाँचने को कहा। जब मन्त्री ने उसे पढकर समस्त विवरण बताया तो राजकुमार ताम्रध्वज ने, यह जानकर भी कि यह अश्व अर्जुन और श्रीकृष्ण द्वारा सुरक्षित है, निर्भय होकर पकड़ लिया और सेना को अर्द्धचन्द्र नामक व्यूह के आकार में खड़ी करके युद्ध की प्रतीक्षा करने लगे। तब तक भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन अपने पाञ्चजन्य और देवदत्त नामक शङ्ख का तुमुल नाद करते हुये रणक्षेत्र में आ धमके।

श्रीकृष्णको देखकर ताम्रध्वज आनन्द मग्न होकर कहने लगा—केशव! अब आप अश्व को छुड़ाने के लिये तथा अर्जुन की रक्षा करनेके लिये अपने सुदर्शनचक्र, शार्ङ्ग धनुष तथा अन्य आयुधों को धारण कीजिये, आपसे मुझे कुछ भी भय नहीं है क्योंकि मैंने आपका दर्शन कर लिया है। इसके पश्चात् दोनों दलोंमें घोर युद्ध आरम्भ हुआ। अर्जुन की सेना के पांव उखड़ गये तब अर्जुन स्वयं ताम्रध्वज से लड़ने लगे। दोनों महावीरों मे सातदिन तक लगातार युद्ध होता रहा। युद्धमें अर्जुन को शिथिल देखकर श्रीकृष्णने क्रोध में भरकर परम तेजोमय चक्रसुदर्शन से क्षण मात्र में ताम्रध्वज की असंख्य सेना का संहार कर डाला। परन्तु ताम्रध्वज घबड़ाया नहीं, बल्कि प्रसन्न होकर कहने लगा—भगवन्! आपने जो मेरी सेनाका संहारकर दिया, यह तो बड़ा उत्तम कार्य किया, क्योंकि यह मेरे और आपके बीचमें व्यवधान रूप थी। अब इसके न रहने पर मैं यहाँ खड़े हुये आपके वास्तविक स्वरूप का दर्शनकर सकूँगा। देव!

जैसे कांच की खोज करने वाले को दिव्य मणि की प्राप्ति हो जाय, उसी तरह अपने यज्ञिय अश्व की रक्षा करते हुये मुझे अकस्मात् आपका दर्शन सुलभ हो गया।

श्रीकृष्ण ने कहा—राजकुमार! यह वात करने का अवसर नही है, अव तुम अपना पराक्रम दिखाओ और मेरे पराक्रम को भी देखो। इतना कहकर श्रीकृष्ण ने चक्र को हाथमें सँभाला और चलाने के लिए ज्यों ही हाथको ऊपर उठाया कि ताम्रध्वजने श्रीकृष्णके उस चक्रधारी हाथको अपने दाहिने हाथ मे ले लिया और वेगपूर्वक वायें हाथ से उन देवेश्वर के चरण को पकड़कर अपने ललाट पर रख लिया। इधर श्रीकृष्ण की आज्ञा से अर्जुन ने अपने धनुप पर सौ वाणों का सन्धान कर एक साथ ताम्रध्वज पर प्रहार किया, परन्तु महावली ताम्रध्वज ने उन वाणों की किञ्चित् परवाह न कर हँसते हुए अपनी दोनों भुजाओं से श्रीकृष्ण के साथ ही अर्जुन को भी पकड़ लिया। मौका देखकर श्रीकृष्ण ने उसे वड़े जोर से धक्का दिया, जिससे ताम्रध्वज पृथ्वी पर गिर पडा। परन्तु वाहरे वीर! गिरते समय भी अपने हाथ के वेग से उन श्रीकृष्ण और अर्जुनको भी साथ ही खीच लेगया। अपने तो शीघ्र ही उठ खड़ा हो गया परन्तु अर्जुन और श्रीकृष्ण को तो प्रगाढ़ मूर्च्छा आ गई।

ताम्रध्वजने देखा कि दोनों यज्ञिय अश्व अपने नगरकी ओर जारहे हैं तो स्वयं भी अपने हतावशिष्ट वीरों को साथ लेकर पिता मयूरध्वज के पास जा पहुंचा। यज्ञमण्डप मे विराजमान राजा मोरध्वज ने जव दोनो घोड़ो के साथ पुत्र को आया हुआ देखा तो दूसरे अश्व के सम्वन्ध मे जिज्ञासा की। ताम्रध्वजने कहा—पिताजी! यह दूसरा अश्व धर्मराज युधिष्ठिर का यज्ञीय अश्व है। इसकी रक्षाके लिए उन्होंने श्रीकृष्ण की संरक्षकता में धनुर्विद्या विशारद अर्जुन को नियुक्त किया था। उनके साथ और भी वहुतसे रणधीरवीर थे। घोरसंग्राम हुआ,सेनाको पराजितकरके तथा अर्जुन और श्रीकृष्णको मूर्च्छितकरके इन घोड़ों को आपके पास लाया हूं। अव आप इन दोनों द्वारा अपना अश्वमेध यज्ञ सोल्लास सम्पन्न करे। यह सव सुनकर राजा मयूरध्वज अपने पुत्रपर प्रसन्न नही हुए, वल्कि असन्तुष्ट होकर मन्त्री वहुलध्वज से वोले—मन्त्रिन्! देखो तो सही, मेरे इस मूर्ख पुत्रने अपने वशमें आये हुए अर्जुन और श्रीकृष्णको छोड़कर इन दोनो घोड़ोको लेकर मेरे पास लौटा है। हाय! यह तो मेरेलिए वड़े कष्टकी वात हुई, मैं तो ठगलिया गया। मेरे यज्ञकी पूर्णता तो नर-नारायणावतार अर्जुन और श्रीकृष्णके आनेसे होगी, न कि घोड़ोंके आने से। फिर मयूरध्वज ने श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये यज्ञ का भी परित्याग कर उनके पास जानेका निश्चय किया।

इधर मणिपुर मे श्रीकृष्णकी मूर्च्छा दूरहुई, तव भगवान श्रीकृष्णने ताम्रध्वज और मोरध्वज की वड़ी वडाई की। अर्जुनजी की समझ में यह नही आ रहा है कि स्वयं वीर शिरोमणि मैं, और सर्वसमर्थ श्रीकृष्ण मेरे संरक्षक, फिर मैं एक वालक से कैसे हार गया। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादास जी अर्जुन की इस शका का समाधान करते हुए आगे का प्रसङ्ग वर्णन करते हैं। यथा—

अर्जुन के गर्व भयो कृष्ण प्रभु जानि लियो दियो रस भारी याहि रोग यों मिटाइयै।
मेरो एक भक्त आहि तो को लै दिखाऊँ ताहि भये विप्र वृद्ध संग वाल चलि जाइयै॥
पहुंचत भाख्यो जाइ मोरध्वज राजा कहाँ वेगि सुधि देवो काहू वात जा जनाइयै।
सेवा प्रभु करौं नेकु रहौ पाउँ धरौं जाइ कही तुम बैठो कही आग सी लगाइयै॥८८॥

शब्दार्थ—रस=भक्ति रस, औषधि। रही=रुकी। धरौ=पकड़ी।

भावार्थ—एक समय अर्जुन को बडा भारी अहंकार हो गया कि—मैं भगवान का बड़ा भारी भक्त हूँ। अन्तर्यामी श्रीकृष्ण ने यह जान लिया कि—मैंने इसे सख्यरस प्रदान किया पर इसे अहंकार हो गया। यह सबसे बड़ा रोग है, इसलिए इसे मिटा देना चाहिए। ऐसा विचारकर आप अर्जुनसेबोले कि--मेरा एक प्रेमी भक्त है, मेरे साथ चलो, तुम्हें उसका दर्शन कराउँ। पर ऐसा करो कि मैं एकवृद्ध ब्राह्मण बन जाऊँ और तुम एक बालक बन जाओ, इस तरह दोनो चले। वेष बनाकर राजा मोरध्वज के यहा गये और द्वारपर जाकर सेवकों से पूछा कि—राजा कहा है? उसे मेरे आने की सूचना शीघ्र दो। तब किसी ने जाकर राजा को सूचना देदी। राजा ने कहा—मैं प्रभु की सेवा कर रहा हूँ, तुम जाकर दोनों के चरण पकड़ो और प्रार्थना करो कि—प्रभो! विराजिये, थोड़ी सी प्रतीक्षा कीजिए। उसने आकर कहा। सुनते ही वे ऐसे क्रोधित हो गए मानों उनके शरीर में आग लग गई हो ॥८८॥

व्याख्या--अर्जुनके गर्व भयो—अर्जुनजीको अपनी वीरता एवं भक्ति दोनोंकाही गर्व हो गया था। महाभारतके युद्धमे विजय पाण्डवोंकी हुई, परन्तु हुई श्रीकृष्ण कृपासे ही, यह निर्विवाद सत्य है। लेकिन शौर्यकी सराहना हुई अर्जुनके ही। भगवान श्रीकृष्ण भी यदा-कदा प्रसङ्गवशात् अर्जुन के बल-पराक्रम की शौर्य-वीर्य की, धीरता-वीरता की, युद्ध कौशल की सराहना कर देते थे, अतः वीरता का अभिमान हो आना स्वाभाविक है। और वेद वेद्य, योगीन्द्र-मुनीन्द्र-वदित-पादारविन्द, स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने जिनका सारथ्य तक किया, उन्हें यदि अपनी भक्ति का अभिमान हो जाय तो क्या आश्चर्य है? लेकिन यह अभिमान है समस्त अनर्थो का मूल। यथा—'संसृतिमूल शूलप्रद नाना। सकल शोकदायक अभिमाना॥ (रा०च०मा०) पुनः—कियो करायो सब गयो, जब आयो अभिमान॥

कृष्ण प्रभु जानि लियो—कैसे जान लिये? तो इस पर कहते है कि कि 'प्रभु' जो ठहरे। अर्थात् 'प्रभु जानत सब बिनहिं जनाये।'

दियो रस भारी—इसके दो अर्थ—श्रेष्ठ सख्य रस, और उसमें भी भारी अर्थात् अत्यधिक दे दिया, जिसे अर्जुन सँभाल नहीं सके, जिससे गर्व हो गया। २—(जब अभिमान रूप रोग हो गया तो उसे दूर करने के लिये) भारी रसायन रूप महौषधि दिया। 'याहि रोग यों मिटाइये'—जैसे श्रीनारदजी को काम-विजय का अभिमान होने पर प्रभु ने विचार किया—'करुनानिधि मन दीख विचारी। उर अकुरेउ गर्व तरु भारी॥ बेगिसो मैं डारिहौ उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥ भगवान को अभिमान से बहुत चिढ है। यथा—'वेद पुरान कहै जग जान गुमान गोविन्दहिं भावत नाहीं। (कवितावली) वैसे भगवान भक्तों के अन्य अवगुणों पर ध्यान नही देते हैं। यथा—जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबन्धु अति मृदुल सुभाऊ।(रा०) परन्तु अभिमान तो भक्तोकाभी नही रहनेदेते, और की तो बात ही क्या? यथा—सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखै काऊ॥ रा०) सत्यभामा, गरुड़, चक्र, आदि अपने निजी परिकरों तकका अभिमान नहीं रहने दिये। प्रसङ्ग पूर्व अचुका है। (देखिये हनुमानजी की कथा) इसी से भगवान का एक नामही पड गया है 'गर्व प्रहारी'। यथा—धाये कनक मृगा के पीछे राजिव लोचन गर्व प्रहारी। (सूर सागर) इसी गर्व को दूर करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने

ऐसी लीला करी। राजकुमार ताम्रध्वजके द्वारा पराजित कराके अर्जुनके वीरताके गर्वको खर्व कर दिया और आगे मोरध्वजजीकी भक्ति-निष्ठा का दर्शन कराके इनके भक्तिके अभिमानको भी दूर कर दिया।

मेरो एक ...... ताहि—जब भगवान श्रीकृष्णने ताम्रध्वज और मोरध्वजजी की बहुत बड़ाई की तो अर्जुनके मनमें ऐसे भक्त एवं ऐसे भक्त की भक्तिको देखनेकी इच्छा हुई, तब भगवानने कहा—मेरो एक भक्त अर्थात् मोरध्वजजी हमारे एक=अनूपम=अद्वितीय भक्त हैं। भये विप्रवृद्ध संगबाल—यद्यपि श्रीकृष्ण और अर्जुन—दोनो ही समवयस्क हैं, तो भी चूंकि अभिमान होने से बड़े, छोटे हो जाते हैं और अमानित्व से छोटे भी बड़े हो जाते हैं, इसलिये अर्जुन को बालक बनाये और स्वयं वृद्ध ब्राह्मण बने। बालक बनाने का एक यह भी भाव है कि अभिमान करना बाल-बुद्धि का ही काम है। पुनः अर्जुन शिष्य हैं और भगवान श्रीकृष्ण गुरु। यथा—'शिष्यस्तेऽहं' (गीता २।७) पुनः इससे जगत पिता श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति वात्सल्य भी जनाया। विप्र इसलिये बने कि ब्राह्मण सदा सम्मान्य है। यथा—पूजिय विप्र शीलगुण हीना॥ (रा०) 'ब्राह्मणो नितरांगुरुः' (भा०)

कही आगिसी लगाइये—जब मोरध्वजजी सेवा में तुरन्त उपस्थित न होकर बैठकर प्रतीक्षा करनेके लिये कहे तो अर्जुन जी श्रीकृष्ण की ओर देखकर मुसकरा दिये। मुसकराने का भाव यह था कि बड़ी बड़ाई करते थे, देख लिया आपके भक्त की श्रद्धा भक्ति को। तो एक तो राजा ने बैठने को कहला दिया, इधर अर्जुन ने व्यङ्गात्मक हँसी-हँस दी। अतः भगवान को भारी झेंप का अनुभव हुआ इसलिये 'आगसी लगाइये' और चले अनखाइ ......।

चले अनखाय पाँय गहि अटकाय जाय नृप को सुनाय ततकाल दौरे आये हैं।
बड़ी कृपा करी आज फरी चाह बेलि मेरी निपट नवेल फल पाँय याते पायेहैं॥
दीजैआज्ञा मोहिं सोई कीजै सुख लीजै यही, पीजै वाणी रस मेरेनैन लै सिराये हैं।
सुनि क्रोध गयो मोद भयो सो परीक्षाहिये लिये चित चाव ऐसे बचन सुनाये हैं॥८६॥

शब्दार्थ—अनखाय=रिसाय! अटकाय=रोककर। फरी=फली, फलवती हुई। चाह बेलि=आशारूपी लता। निपट=बिल्कुल। नवेल=नवीन, नये। सिराये=शीतल।

भावार्थ—दोनो ब्राह्मण कुपित होकर चल दिये, तब द्वारपालोंने चरण पकड़कर उन्हें रोका और राजाके पास जाकर सूचित किया। सुनते ही राजा मोरध्वज दौड़कर शीघ्र ही आए। प्रार्थना और प्रणाम करते हुए बोले—आज आपने बड़ी कृपा की, जो मुझे दर्शन दिया। आज मेरी आशा रूपी लता फूल और फल गई, क्योंकि मुझे आपके चरणरूपी सुन्दर नवीन फल मिल गए। अब आप जिस लिए आए हैं वह आज्ञा मुझे दीजिए। मैं उसे करूँ और सुख लूं। आप दोनों महापुरुषो के दर्शनोसे मेरे नेत्र शीतल हो गए हैं। सुधारूपी आपकी वाणीके रसका पान करना चाहता हूँ। राजाके मधुर वचन सुनकर उनका क्रोध ठण्डा हो गया। वे अति प्रसन्न हुए। उनके मनमें मोरध्वजकी परीक्षा लेने की रुचि थी, इसलिए वे इस प्रकार बोले—॥८६॥

व्याख्या—पाँय गहि अटकाय—इससे राज—सेनकों की सेवामें सावधानी दिखाई गई। वे जानते हैं कि राजा वड़े ब्रह्मण्य हैं। यदि राजद्वारपर आकर विना सत्कार पाये ब्राह्मण चले जाते हैं तो राजा को वड़ा दुःख होगा। उसमें भी चले अनखाय अर्थात् क्रोध मे भरकर जा रहे हैं। ब्राह्मण का क्रोध वड़ा अमङ्गलकारी होता है। यथा—मंगलमूल विप्रपरितोषू। दहै कोटि कुल भूसुररोषू। (रा०) पुनः-नाहं विशङ्के सुरराज वज्रात्"" (भा०) (देखिये कवित्त ७१) इसलिये सेवकोने ब्राह्मण रूपधारी भगवान को जैसे तैसे अनुनय विनय करके, हाथ जोड़कर, पांवों में पड़कर रोका और राजा को सूचना दी। इससे सेवकोंकी भी ब्राह्मण-भक्ति दर्शित होती है। सुनकर राजा 'ततकाल दौरे आये'—इससे राजा की ब्राह्मण-भक्ति प्रगट होती है। **वड़ी कृपा करी**—भाव यह कि संत-भगवन्त की प्राप्ति कृपा साध्य ही है, साधन साध्य नहीं। जव भगवान कृपा करते हैं तो भक्तों का दर्शन होता है और जव भक्त कृपा करते हैं तो भगवान का दर्शन होता है। **फरी चाह वेल**—से जनाया गया कि राजा निरन्तर संतों के शुभागमन की अभिलाषा करते रहते हैं। 'आज' से जनाया गया कि वैसे तो इनके यहाँ सन्त महात्मा आते ही रहते हैं, परन्तु आज तो भगवान ही साधु रूप धारण कर आगये। साधारण सन्तोंकी सेवा करनेसे विशेष सन्त भगवान के दर्शन हो गये।

दृष्टान्त—एक राजा का—एक राजा थे वे रोज नियमसे चिड़ियों को चुगा डलवाते थे। वहुत दूर दूर से पक्षी चुगा चुगने के लिये आते थे। एक दिन वहुत से पक्षियोके समूहको आकाश मार्ग से इधर ही आते देखकर हसोका समुदाय भी इनके साथ उतर पड़ा। लोगों को दुर्लभ मान सरोवर वासी हसों का दर्शन हो गया।

दूसरा दृष्टांत-श्रीयुधिष्ठिरजी का—आपके यहाँ वड़े भाव से साधु ब्राह्मणो की सेवा होती थी। इनके सेवा भाव से सन्तुष्ट होकर एक दिन परम हंसाचार्य शुकदेवजी भी आकर पंक्ति में वैठ गये। उस समय घण्टा अपने आप वजने लगा। श्रीयुधिष्ठिरजीने जव घंटा वजने का रहस्य श्रीकृष्णसे पूछा तो प्रभुने वताया कि आज महाराज श्रीशुकदेवजी आपके यहाँ पधारे हैं।

निपटनवेल फल०—पूर्व कहे कि फरीचाह वेलि। अव फल को वताते है—पाय अर्थात् आप के श्रीचरण कमल ही मेरी चाह वेलिके फल हैं। आज तथा निपट नवेलसे जनाया गया कि महाराज मोरध्वजजी को इनमें लोकोत्तरता का अनुभव हो रहा है। नहीं तो संत तो इनके यहाँ आया ही करते थे। **पीजै वाणी रस**—का भाव यह कि नेत्र तो आपके रूपामृत का पान करके शीतल हुये अव श्रवन आपके वचनामृत पान के लिये लालायित हैं, इन्हे भी तृप्त कीजिये। **सुनिक्रोध गयो**—विनम्र वचनों से क्रोध शान्त हो जाता है। यथा—**अति विनीत मृदु सीतल वानी। वोले राम जोरि जुग पानी॥ राम वचन सुनि कछुक जुड़ाने।** (रा० च० मा०) श्रीरामजी के विनम्र वचनों को सुनकर श्रीपरशुरामजी का क्रोध शान्त हो गया। **मोद भयो**—इसके दो कारण—१—राजा की भक्ति देखकर २—मन-माना परीक्षाका योग लगा जानकर। **परीक्षा हिये—प्रीति**—परीक्षा की परिपाटी है। यथा—**सो प्रभु जनकर प्रीति परिच्छा॥ पुनः पारवती पहिं जाइतुम प्रेम परीछा लेहु॥** आदि। (रा०) लोक रीति है कि दो पैसे की हंडी लेते हैं तो उसे ठोक वजाकर लेते हैं, अतः प्रभु भी किसी के जीवन के समस्त छर-भार को स्वीकार करते समय थोड़ा जांच-परख लेते हैं। परन्तु परीक्षा लेनेका यह गौण कारण है। प्रधान कारण तो है—भक्तके सुयश को परमोज्ज्वल करना॥

देवे की प्रतिज्ञा करो करीं जू प्रतिज्ञा हम जाहि भांति सुख तुम्हैं सोई मोको भाई है।
मिल्यो मग सिंह यहि वालक को खाये जात कही खावो मोंहि नहीं यही सुखदाई है।।
काहू भांति छोड़ो नृप आधो जो शरीर आवै तौ ही याहि तजौं कहि वात मों जनाई है।
वोलि उठी तिया अरधंगी मोहि जाइ देवो पुत्र कहै मोको लेवो और सुधि आई है ।।६०।।

शब्दार्थ—भाई=अच्छी लगने वाली]। जनाई=वताई। अरधंगी=अर्द्धाङ्गिनी, पत्नी।

भावार्थ—राजन् ! हम जो भी वस्तु मांगें, पहले तुम उसे देने की प्रतिज्ञा करो। राजाने कहा—प्रभो ! मैंने प्रतिज्ञा कर ली, जिस प्रकार से आपको सुख होगा, हम वही करेंगे और वही हमें प्रिय होगा। वृद्ध ब्राह्मण ने कहा—मैं वनके मार्ग से आ रहा था, वहां एक सिंह मिला। वह इस वालक को खा जाना चाहता था। मैंने उससे कहा—तुम मुझे खा लो। और इसे छोड़ दो। उसने कहा—नहीं, मुझे तो इस वालकका मांस ही प्रिय है। मैंने कहा—ऐसा मत करो,किसी प्रकार इस वालकको छोड़ दो। उसने कहा-यदि राजा मोरध्वज का आधा शरीर आवे, तभी मैं उसे खाकर इसे छोड़ सकता हूँ, ऐसा उस सिंह ने कहा है। इतने में रानी वोल उठी—मैं राजा की अर्धाङ्गिनी हूँ, मुझे सिंहको अर्पण कर दो। राजा के पुत्र ने कहा—इस वालक के वदले में मुझ वालक को अर्पण करना सिंह के लिए अतिप्रिय होगा। ब्राह्मणदेव वोले—सुनो, भूली हुई एक वात और याद आ गई।।६०।।

व्याख्या—मिल्यो...... खाये जात—अभिमान ही सिंह है, साधन से च्युत करदेना ही खा जाना है। भाव यह कि अभिमान होने पर साधक अपने साधन से भ्रष्ट हो जाता है। 'खावो मोंहि,नहि भाई हैं'-भाव यह कि भगवान सर्वदा सर्वथा अमानी हैं,अभिमान कभी छू भी नही जाता,इसीसे अच्युत हैं। क्योंकि च्युत करने वाला तो अभिमान ही है। जैमिनीयाश्व मेध पर्व मे लिखा है कि—श्री-मोरध्वजके पूछने पर ब्राह्मणरूपधारी भगवान ने अपना अभीष्ट अभिव्यक्त करते हुए कहा—राजन् ! मैं जिस कार्य के लिये आपके पास आया हूँ,उसका वर्णन करता हूँ,सुनिये मैं अपने पुत्रका विवाह करनेके लिये परम रमणीय धर्मपुरसे रवाना हुआ हूँ, मार्ग मे मैंने सुना कि आपके इसनगरमें कृष्णशर्मा नामक ब्राह्मण रहते हैं, वे आपके पुरोहित हैं, उनके एक कन्या है। वे माननीयों का समादर करने वाले है, अतः अपनी कन्या मेरे पुत्र के लिये दे देंगे। ऐसा विचार करके मैं पुत्रको साथ ले आपके नगर की ओर आ रहा था, तव तक मार्ग में भयंकर वन मे पहुँचने पर वहाँ क्रोधमें भरा हुआ एक सिंह मिला। उसने मेरे देखते-देखते मेरे तरुण पुत्र को पकड लिया। उसे छुड़ाने का मैंने वहुत प्रयत्न किया। मैंने उसे अपना शरीर देना चाहा तो उसने कहा कि—'त्वदीयं तपसा दग्ध वृद्धं गात्रं न रोचते।' अर्थात् तुम्हारा शरीर तो तपस्या से दग्ध एवं वृद्ध हो चुका है। अतः यह मुझे पसन्द नही है।

काहू भाँति छोड़ो—मैंने उससे कहा कि—केनोपायेन दानेन तपसा वा प्रमुञ्चसि। अर्थात् तुम दान से, तपस्या से अथवा किस उपाय से मेरे पुत्र को छोड़ सकते हो सो कहो। 'नृप आधो जो शरीर आवै'—इससे परीक्षा की कठोरता दर्शायी गई। पूरा शरीर दे देना सरल है, जैसे श्रीशिविजी ने कवूतर का प्राण वचाने के लिये अपना पूरा शरीर दे दिया था। परन्तु आधा देने वाली वात तो वड़ी कठिन है। अरधगी, मोहि जाइ देवो-यद्देवेभ्यो यच्च पित्रागतेभ्यः कुर्याद्भर्ताभ्यर्चनं सत्क्रियातः। तस्या-

प्यर्ध केवलानन्यचित्ता नारी भुङ्क्ते भर्तृशुश्रूषयैव॥ अर्थ—देव पितर अरु अतिथि को पूजन अरु सत्कार। ताके आधे पुण्य में पतिव्रता अधिकार ॥ (भ०व०टि०) अतः महारानीने कहा—राजन् विप्राय देहार्धं त्वया देयं मयाश्रुतम् । तवार्धगात्रं भार्यास्मिमां दत्वा सत्यवाग्भव ॥(जै०) अर्थ—राजन् ! मैंने सुना है कि आप अपने शरीर का अर्ध भाग ब्राह्मण को देना चाहते है, सो आपका अर्धाङ्ग तो मैं ही हूं, क्यो कि मैं आपकी भार्या हूँ। अतः आप मुझे ब्राह्मण को देकर अपने वचन को सत्य करिये।

पुत्र— पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥ (म०भा०)

अर्थ—पुत्र 'पुत्' नामक नरक से पिता का त्राण करता है, इसलिये साक्षात् ब्रह्माजी ने उसे पुत्र कहा है। पुत्र पिता की आत्मा ही होती है। यथा—'आत्मा वै जायते पुत्रः'(उपनिषद्) अतः पुत्र ने कहा—यो वै पिता स पुत्रो हि श्रुतिरेषा सनातनी। ब्राह्मणार्थे हि मत्पित्रा शरीरार्ध समर्पितं । शरीरार्धं समग्रं हि पितुर्भवति पुत्रकः ॥ (जै०) अर्थ—जो पिता है वही पुत्र है, यही सनातनी श्रुति है। इसलिये यदि मेरे पिताजी ने अपने शरीरका अर्धभाग ब्राह्मण को देने के लिये प्रतिज्ञा की है तो पिता के शरीर का सम्पूर्ण आधा भाग पुत्र ही होता है, वह मैं चलने के लिये तैयार हूँ॥

मोरध्वज की पत्नी का नाम कुमुद्वती था। पत्नी और पुत्र दोनों ने ही स्वधर्म निर्वाह किया। भगवान ने देखा कि राजा तो सहज ही बच जाते है, पत्नी अथवा पुत्र—दोनों में से किसी एक के जाने से धर्मतः राजा की प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाती है और हमारा परीक्षाका प्रयत्न व्यर्थ चला जाता है तब भगवानने और कड़ा कदम उठाया और अब की बार राजा के साथ-साथ रानी और राजकुमार की भी परीक्षा लेने का निश्चय किया अतः बोले—अरे भाई ! एक बात और याद आ गई।

सुनो एक बात सुत तिया लै करौंत गात चीरैं धीरैं भीरैं नांहि पीछे उन भाखिये।
कीन्ह्यो वाही भांति अहो नासा लगि आयो जब ढरघो दृग नीर भीर बाकर न चाखिये।
चले अनखाय गहि पांय सो सुनाये बैन नैन जल बांयो अंग काम किहिं नाखिये।
सुनि भरि आयो हियो निज तनु श्याम कियो दियो सुखरूप व्यथा गई अभिलाषिये ॥६१॥

शब्दार्थ—करौत=आरा। धीरैं=धैर्यपूर्वक तथा धीरे-धीरे। भीरैं=कष्ट। ढरघौ=गिरचौ। भीर=संकट। बाकर=सिंह। नाखिये=फेंका या बिगाड़ा जायगा। भरि आयो=करुणा पूर्ण हुआ।

भावार्थ—पीछे से उस सिंहने जो कहा था उसे सुनिये—राजाके शरीर को आरा से राजा की स्त्री और पुत्र दोनों धैर्य पूर्वक धीरे-धीरे चीरें। कोई किसी कष्ट से अधीर न हो, अन्यथा मैं राजा के शरीर को न खाकर इस बालक को ही खाऊँगा। ऐसा ही किया गया, जब आरा राजा की नासिका तक आ गया, तब राजा के बायें नेत्र से आंसू बहने लगे। यह देखकर वृद्ध ब्राह्मण बोले—राजा को कष्ट हो रहा है, वह आंसू बहाकर रो रहा है; अब इसे सिंह नहीं खायगा। ऐसा कहते हुए अप्रसन्न होकर वे चल दिए। तब चरण पकड़ कर राजा ने कहा—प्रभो ! बायें नेत्र से आंसू इसलिये आए कि वह अंग व्यर्थ होगा, किसी काम न आयेगा। दाहिना अंग भाग्यशाली है। राजाका यह हार्दिक भाव सुनकर उनका

हृदय करुणा से भर गया। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों राजा के सामने प्रकट हो गए। भगवान् ने राजा के शरीर को स्वस्थ करके सुखस्वरूप दर्शन दिया। राजा के शरीर का कष्ट दूर हो गया। तब भगवान ने वरदान देने की अभिलाषा प्रकट की ॥६१॥

व्याख्या—सुललिया " " चीरैं—जैमिनीय में वर्णन आया है कि राजा मोरध्वज जी ने ब्राह्मण के वचन को सुनकर अपने पुत्र ताम्रध्वज को राज सिंहासन पर बैठा दिया और स्वयं गङ्गाजल से भली प्रकार स्नान किया, श्रीशालग्राम शिलाओं के प्रक्षालित जल से अपने को सींचा और तुलसीदलो से बनी हुई माला गले में धारण करली, शरीर को शङ्ख चक्र से अङ्कित किया, इस प्रकार राजा मोरध्वज आनन्दपूर्वक हँसते हुए सभामण्डप में आये और सभी ब्राह्मणों से कहने लगे—द्विजवरों! ये ब्राह्मण देवता अपने पुत्र की जीवन-कामना से मेरे पास आये हुए हैं। अतः मैं इन्हें श्रीकृष्ण के समान मानकर अपने शरीर का आधा-भाग देकर इनका सत्कार करूँगा। मेरे राज्य में तो छोटा सा भी सिंह नही रहता, अतः नृसिंह के अतिरिक्त और कौन ब्राह्मण के पुत्र को पकड़ सकता है। आज तो 'दुहूं हाथ मुद-मोदक मोरे' हैं। इधर ब्राह्मण देवता प्रसन्न होंगे, उधर भगवान नृसिंह। इसके बाद राजा ने आज्ञा करी कि अब यहाँ दो खम्भे खड़ कर दिये जांय तथा बढ़ई आरा लिये हुए आ जायँ और मेरे मस्तक को दो भागों में चीरदें। यह सुनकर ब्राह्मण बोला—

सुनो ..... बाल चीरैं—भगवान ने सोचा कि पत्नी-पुत्र की महाराज में बड़ी ममता है। तबतो प्राणों की बाजी लगाकर राजा की रक्षा के लिये प्रयत्नशील हैं अतः राजाके शरीर को चीरने का कठोर कार्य इन्हीं दोनों को सौंपा। यदि इनका राजा की अपेक्षा ब्राह्मणों में अधिक भाव होगा, तब तो सहर्ष चीरनेकेलिये प्रस्तुत हो जायेंगे, अन्यथा आनाकानी करेंगे। इससे इनकी भी परीक्षाहो जायेगी। चीरैं, धीरैं, भीरैं नाहिं—मे कठोर, कठोरतर, कठोरतम परीक्षा का भाव है। शरीर को आरे से चीरकर दो भाग करना, कठोर है, धीरे-धीरे चीरना कठोरतर, एक बारगी किसी तीक्ष्ण धार वाले आयुध से दो टुकड़ कर देना उतना क्लेश कर नही है। और उसमें भी खेद न होवे, यह कठोरतम कार्य हैं। जब कि इस बात को सुनने मात्र से प्रजा मे हाहाकार मच गया था।

कीन्ह्यो बाह्यी भाँति—महाराज मोरध्वजजी धैर्यपूर्वक 'केशव' 'राम' 'नृसिंह' आदि भगवान के मङ्गलमय नामों का जप करने लगे। हाथमें आरा लिए हुए राजकुमार ताम्रध्वज सन्मुख थे। रानी पीछे थीं। ये भी भगवानका स्मरणकरके धीरे-धीरे आरा चलाने लगे। 'चले अनखाय—श्रद्धाहीन दान का देना और लेना—दोनो ही व्यर्थ होता है अतः चले ......। गहि पांय—क्योंकि—'शापत ताड़त परुष कहन्ता। विप्रपूज्य अस गावहिं सन्ता ॥(रा०)सो सुनाये बैन—रानीने राजाके विदीर्ण भये मस्तकको दोनों हाथो से थाम लिया। तब राजा बोले। 'नैन जल बांयो'—भाव यह कि यदि दुःख के आंसू होते तो दोनों नेत्रो में आसू होते। 'अङ्ग ..... नाखिये'—राजा मोरध्वजजी ने कहा—ब्रह्मन्! मैंने सोचा कि मेरा दक्षिणाङ्ग तो ब्राह्मण के कार्य में लग जायेगा, इसलिये इसका तो उत्तम उपयोग हो गया, परन्तु मेरा वामाङ्ग यो ही व्यर्थ फेंक दिया जायगा। इसी कारण मेरे बांयें नेत्र में आंसू आ गया। विप्रवर! मुझे तीक्ष्ण धार वाले आरे से चीरे जाने पर वैसी व्यथा नही मालूम हुई, जैसी यहाँ अपने बांये अङ्ग के ब्राह्मण से विमुख हो जाने से हो रही है।

दियो सुख रूप—उस समय कमल लोचन भगवान श्रीकृष्ण ने कृपा करके दर्शन दिया और राजा का आलिंगन करके उनके भक्ति-भाव की सराहना किया। यथा—'समालिङ्ग्याब्रवीत् वीरं कृष्णः कमललोचनः। धन्योऽसि नृपशार्दूल मयूरध्वज सुव्रत' ॥ (जै०) 'व्यथा गई'—भगवान के दर्शन-स्पर्श से समस्त दुखोंकी निवृत्ति हो जाती है। यथा—'निरखि राम छविधाम मुख विगत भई सब पीर।' 'कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनभा कुलिस गई सब पीरा ॥' भगवान ने अपना कर कमल राजा के सिर पर फिराया, जिससे उनका शरीर परम दिव्य एवं तेजोमय हो गया।

अभिलाषिये—भगवान श्रीकृष्ण ने राजा से वर मांगने को कहा, तब राजा मोरध्वजजी बोले—'नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे॥' अब कछु नाथ न चाहिय मोरे। दीन-दयाल अनुग्रह तोरे॥ (रा०च०मा०) भगवान ने कहा—राजन्! मैंने माना कि आपको अब कोई अभिलाषा नहीं, अतः आपको अपनी किसी इच्छा की पूर्तिके लिए कोई वरदान नहीं चाहिए परन्तु मेरी अभिलाषा तो है आपको वर देने की। अतः मेरी अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए मुझसे कुछ अवश्य मांगिये॥

मोपै तौ दियौ न जाइ निपट रिझाइ लियो तऊ रीझि दिये बिना मेरे हिये साल है।
मांगौ वर कोटि चोट बदलो न चूकत है सूकत है मुख सुधि आये वही हाल है॥
बोल्यौ भक्तराज तुम बड़े महाराज कोऊ थोरोऊ करत काज मानो कृत जाल है।
एक मोको दीजै दान दीयो जू बखानो वेगि साधुपै परीक्षा जनि करो कलिकाल है॥९२॥

शब्दार्थ—साल=दुःख। चूकत=चुकता। सूकत=सूखता। कृत=किया। जाल=बहुत।

भावार्थ—भगवान श्रीकृष्ण ने राजा मोरध्वज से कहा—राजन्! तुमने अपने कठिन एवं बड़े भारी त्यागसे मुझे बहुत अधिक रिझालिया है। इसके बदलेमें मुझसे कुछ नहीं दिया जासकता है, मैं क्या दूँ? यह समझ में नहीं आ रहा है। फिर भी प्रसन्न होकर यदि मैं तुम्हे कुछ भी नहीं देता हूँ तो इससे मेरे हृदय में भारी वेदना रहेगी। तुम करोड़ों वर मांग लो और मैं दे भी दूँ, तो उस महान कष्ट का बदला चुक नहीं सकता है। तुम्हारी उस दशा का स्मरण आते ही हृदय के ताप से मेरा मुख सूखने लगता है। प्रभुकी यह प्रेम भरी बात सुनकर भक्तराज मोरध्वज बोले—महाराज! आप परम उदार शिरोमणि है, आपकी प्रसन्नता के लिए यदि कोई थोड़ा सा भी कार्य करता है तो आप अपनी कृतज्ञता से उसे बड़ा भारी सुकृत मान लेते है। अब आप यदि कुछ मुझे देना ही चाहते हैं तो एक वरदान दीजिए। भगवान अकुलाकर बोले—राजन्! मैंने दे दिया, शीघ्र बताओ क्या चाहते हो? मोरध्वज ने कहा—प्रभो! आप कलिकाल में साधु-भक्तजनों की परीक्षा कभी न लीजियेगा। 'एवमस्तु' कहकर दोनों चले गए। अर्जुन का अहंकार दूर हो गया॥९२॥

व्याख्या—मोपै तौ दियो न जाइ—प्रेमियों के प्रेम का बदला नहीं चुकाया जा सकता है। इसलिए प्रेमियों के तो भगवान सदा-सर्वदा ऋणियां ही रहते हैं। यथा—'न पारयेऽहं'.... (भा०) (देखिये गोपी-प्रेम, छप्पय १०) भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं कि—विभो! आप इन भक्तों को क्या देकर उऋण होंगे, जिनके एक मात्र सर्वस्व आप ही हैं, जिन्होने अपना सर्वस्व आपके श्रीचरणों में अर्पण कर दिया है? भगवानने कहा—ब्रह्मन्! जब मैं अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड

नायक हूँ, 'कर्तुं मकर्तुं मन्यथाकर्तुं समर्थ' हूँ, तव ये प्रेमी भक्त जो भी लेंगे वही देकर उऋण हो जाऊँगा। दिव्यातिदिव्य सौख्य साधन, उच्च से उच्च कोटि का ऐश्वर्य देकर इनसे उऋण हो सकता हूँ। ब्रह्मा ने कहा—भगवन्! संसारमें जितना भी सुख है, उन सबका पर्यवसान आनन्द विन्दुमें है, तो क्या आप इन प्रेमियों को आनन्द विन्दु देकर ही ऋणसे छुटकारा पाना चाहते हैं? यह हो नहीं सकता। भला जिनके मणिमय प्राङ्गणमें धूलि धूसरित होकर परमानन्दसिन्धु ही मूर्तिमान होकर 'थेई-थेई' करता हुआ नाच रहा है, उनको आनन्द विन्दुकी अपेक्षा ही क्या? भगवन्! विविध सुख-सामग्री, ऐन्द्र, माहेन्द्र एवं ब्राह्मपद के समस्त वैभवों को देकर भी इनसे उऋण नही हो सकते। आपको तो इनका चिर ऋणी ही रहना पड़ेगा।

भगवान ने कहा—अच्छा ब्रह्मन्! मैं इन प्रेमी भक्तों को अचिन्त्य, अनन्त परमानन्द सिन्धुसार सर्वस्व अपने आपको ही दे डालूँगा। तव तो इनसे मुक्त हो जाऊँगा? ब्रह्मा ने फिर कहा—भगवन्! अपने आपको तो आपने लोक वालघ्नी, रुधिराशना राक्षसी, पिशाचिनी पूतनाको भी दे डाला था, दुर्वृत्त राक्षसेश्वर रावण जैसे अत्याचारियों को भी दे दिया था। जो महद् वस्तु उन विरोधियों को दी गई, वही इन अनन्य, अन्तरङ्ग प्रेमी भक्तोंको दी जाय, यह न्याय नहीं। इसलिये अपने आपको देकर भी आप इनसे उऋण नहीं होसकते। भगवानने कहा—अच्छा इनके कुटुम्वभरको अपने को दे डालूँगा। फिर ब्रह्माने कहा—हे देव! पूतना का क्या कोई वचा था? अघासुर वकासुर—सव तो आपको पा गये। रावणभी तो सकुटुम्व आपको पागया। अन्त मे भगवान ने कहा—अच्छा ब्रह्मन्! मैं इन प्रेमियों का ऋणी ही रहूँगा। यथा—एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति नश्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति। सद्वेषादिव पूतनापिसकुला त्वामेव देवापिता यद्धामार्थ सुहृत्प्रियात्मतनय प्राणाशयास्त्वत्कृते।। (भा०) अतः कहते हैं—'मो पै तौ दियो न जाय।'

वोल्योभक्तराज—श्रीप्रियादासजी राजा मोरध्वजजी को भक्तराज कहते हैं। इतना वड़ा त्याग, वलिदान करके भी उसे स्वल्प समझना वा कुछ नही समझना यह भक्तराजका लक्षण है। सर्वसाधारण तो करते हैं थोड़ा, मानते हैं अधिक। भक्त करते हैं अधिक मानते हैं कम। परन्तु भक्तराज तो सर्वातिशय करके भी उसे कुछ नहीं समझते। भगवान की कृपा को, सदा-सर्वदा निर्हेतुक मानते हैं। वड़े महाराज—कहकर राजाओंकी तीन कोटियाँ दर्शायी गई—१-राजा, २—महाराज, ३-वड़े महाराज। राजा—जो सेवा अनुरूप फल देते हैं। यथा—सेवा अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यौं, विहीन गुन पथिक पियासे जात पथके। महाराज—जो सेवा से अधिक फल देते है। यथा—कोऊ थोरोऊ करत काज मानो कृत जाल है। वड़े महाराज—जो विना सेवा किये भी भूरि-भूरि कृपा—कोश लुटाते रहते हैं यथा—विनुसेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं। ऐसो को उदार जगमाहीं।। (वि०) राजा, महाराजा तो और हो सकते हैं परन्तु वड़े महाराज तो भगवान ही हैं।

थोरोऊ ... कृतजाल है-यथा—जनगुण अलप गनत सुमेरु करि, अवगुण कोटि विलोकि विसारन।(वि०)'निज करतूति न समुझिय सपने। सेवक सकुचसोच उर अपने।।'देखि दोष कवहुँन उर आने सुनि गुन साधु-समाज वखाने॥(रा०च०मा०)दीजै दान-श्रीमोरध्वजजी वर दान नहीं मागते हैं, दान-भिक्षा मांगते हैं, यह इनका दैन्य है। 'वखानो वेगि'—भाव यह है कि कहनेकी देर है, मुझे देनेमेंदेर नही है। साधु ... ...कलिकाल हैं—भाव यह कि भक्तों की परीक्षा लेने का आपने नियम वना रखा है, तो सतयुग, द्वापर,

त्रेता में भले परीक्षा लिया करें, परन्तु आगे कलिकाल आने वाला है। इस युग में सभी लोग स्वल्प सत्व (धैर्य) वाले होंगे, भला वे इतनी कठोर परीक्षामें कैसे समुत्तीर्ण हो सकते हैं। 'कलिकाल है'—'कलिकेवल मलमूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥ कलिकाल में तो तनिक सी क्षुधा-तृषाकी वाधा भी सहने में लोग असमर्थ हैं। यथा—'चार सवेरी चार अवेरी इतनी दे गोपाला। इतने में से एक घटै तो ले यह अपनी माला॥ (विशेष देखिये कवित्त १६-कलि की कुचालि) ऐसे युग में यदि किसी से थोड़ा-वहुत भी भजन वन जाय तो उसे धन्य समझना चाहिए।

भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमोरध्वजजी का मनोवाञ्छित पूर्ण किया, तत्पश्चात् वोले —महामते! महान् आत्मवलसे सम्पन्न आपने अपनी निष्ठासे मुझे जीत लिया है, अत: मैं आपके यज्ञमें कर्मचारी होकर कार्य करूँगा। एक तो मैं यों ही भक्त-पराधीन हूँ, दूसरे तुम्हारे पुत्र ने मुझे संग्राम भूमि में जीत लिया है, तीसरो आपकी निष्ठा ने मुझे विना दाम का चेरा वना लिया है। यह सुनकर मोरध्वजजी ने कहा— लक्ष्मीपते! आप जगदीश्वर का दर्शन होजाने पर, आपका नाम लेने पर, आपके चरणों में नमस्कार करने पर तथा आपका गुणानुवाद सुनने पर करोड़ों यज्ञों के अनुष्ठान का पुण्य यों ही प्राप्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं। गोविन्द मैं आपको पाकर भी यदि यज्ञानुष्ठान में लग जाऊँ तो ये वेद-वेदाङ्ग के पारगामी विद्वान ब्राह्मण मेरी हँसी उड़ायेंगे। जनार्दन! ऐसा कौन मूर्ख होगा जो प्यास से व्याकुल होने पर श्री-गङ्गाजी को पाकर भी, उसका परित्याग कर ओसकणों की ओर दौड़ेगा। तत्पश्चात राजा मोरध्वज ने भगवान की षोड़शोपचार विधि से पूजा एवं स्तुति की। भक्त-वत्सल भगवान अर्जुन को राजा की भक्ति का दर्शन कराते हुए उनके भक्तिभाव से सन्तुष्ट होकर उस रत्नपुर में तीन रात तक ठहरे रहे। तदनन्तर राजा मोरध्वज ने अर्जुन को हृदय से लगाया ओर अपनी सारी सम्पत्ति तथा जीवन भी भगवान श्रीकृष्ण के हाथों में समर्पित कर दिया।

श्रीमोरध्वजजी की इस लोकोत्तर निष्ठा को देखकर अर्जुनका गर्व सर्वथा दूर हो गया, भगवान की कृपा को मुख्य माने और हाथ जोड़कर अत्यन्त दीन होकर भगवान से वोले—

पद— कहहुँ कहाँ लगि कृपा तिहारी।

कुल कलङ्क सव मेटि हमारे कीन्ह जगत जस पावन कारी॥
द्विज कानीन हमारो आजा गोलक पिता वंश को गारी।
हम सव कुंडज यह जगजानै ताहू में औरे गति न्यारी॥
महा कष्ट करि व्याहींहि कीन्हीं ह्वै गइ तिया पंच भरतारी।
व्यसनी वड़ दूषणयुत राजा हम से अधिक जु अग्र जुवारी॥
या कुकर्म की अवधि कहा है जो तिय राज सभा में हारी।
हते पितामह वन्धु विप्र गुरु लोभी नीच स्वारथी भारी॥
समुझों नहीं कौन विधि रीझे हम हैं ऐसे अधम विकारी।
अति आतुर ह्वै रक्षा कीनीं असन वसन की सवै सँभारी॥
यह तो साधन को फल नाहीं वार वार हम मनहिं विचारी।
वीरभद्र केवल कृपाते विगरति गई सो सवै सुधारी॥

पदमे आये हुये पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण—कानीन—'कानीनः कन्यका जातः सुतः' (अमरकोश) अर्थ—कन्या से उत्पन्न हुआ पुत्र। पांडवों के आजा=पितामह श्रीव्यासजी हैं। व्यासजीका प्रादुर्भाव सत्यवती (योजनगन्धा) से कन्यावस्थामें ही पराशरजीके तेज से हुआ है, अतः व्यासजी कानीन हुये। विशेष देखिये छप्पय ५ व्यासावतार की कथा। गोलक—'मृतेभर्तरि गोलकः:'—जो पति के मरने पर अन्य पुरुष से उत्पन्न हुये हों उनका नाम गोलक है। पाण्डवों के पिता पाण्डु गोलक हैं। (विशेष देखिये पाण्डवों का प्रसङ्ग छप्पय ८) कुण्डः—'अमृते जारजः कुण्डः'—अपने पति के जीते ही अन्य पतिसे जो पुत्र हों उनका नाम कुण्ड है। पाण्डव कुण्ड हैं। पाण्डुजी के जीते ही धर्म, वायु, इन्द्र एवं अश्विनी कुमारो से कुन्ती तथा माद्रीके श्रीयुधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेव हुये हैं। (विशेष देखिये पांडवोंका प्रसङ्ग छप्पय ६) 'ह्वै गई तिया पञ्चभर्तारी'—(देखिये द्रौपदी-प्रसङ्ग कवित्त–७१)

ब्राह्मण पुत्र की रक्षा करने के लिए मोरध्वज का सिंह हेतु स्वशरीरार्द्ध देने पर दृष्टांत गन्धर्व जीमूत वाहन का—

चौ०—वैनतेय वैरी नागन के। जाइ पताल खाहिं गन गन के॥
सकल नाग मिलि कियो विचारा। दिन प्रति होइ महा संहारा॥
गरुड़हिं एक नाग नित दीजै। यहि विधि कुल की रक्षा कीजै॥
विनता सुत सों विनय सुनाई। मानि लियो हिय अति हरषाई॥
ता दिन ते जलनिधि के तीरा। भेजै एक नाग मति धीरा॥
खाहिं सुपर्ण समय पर जाई। शङ्खचूड़ की बारी आई॥
निज जननी के इकसर नागा। रोवत माता सहित अभागा॥

दो०— समझावै दोउ दुहुन को, बाढ्यो शोक अपार।
धीरज हृदय न आवई, करत करुण चित्कार॥

छन्द— चित्कार सुनि जीमूत वाहन आइ तेहिं अवसर गये।
सुनि हेतु हिय उमड़ी दया रक्षा करन तत्पर भये।
बोले बचन तिन्हसों मधुर मानो सनेह सुधा सने।
हौं जाउँ गरुड़ समीप त्यागहु सोच तुम दोऊ जने॥

सो०— सुनि कै बचन उदार, भये स्वस्थ सुत जननि दोउ।
माने अति उपकार, जोरि पानि यह कहत भे॥

चौ०— धन्य धन्य तुम परम दयाला। पर हित सत मारग प्रतिपाला॥
सुनि तव वचन मोह मम गयऊ। अब हौं यह अपने मन लयऊ॥
निज हित तुमहिं जान नहिं दैहौं। शिवहिं नाइ सिर तुरत सिधैहौं॥
अस कहि गये करन परनामा। त्यौं जिमूत वाहन तेहि ठामा॥
आइ तुरत बैठ्यो वेदी पर। आये गरुड़ जानि निज अवसर॥
चोंचन्ह तनहिं विदीरन कीन्हें। खात भक्ष्य अति हित चित दीन्हें॥
तब तक एकाएक रुकि गयऊ। गरुड़ हृदय अति विसमय भयऊ॥
अहो जीव यह परम सुधीरा। हँसत मुदित यद्यपि अति पीरा॥

तव जिमूत वाहन यह वोले । क्यों न खाहु जिय करत कलोले ॥
तन में अवहिं मांस है मेरे । नारिन रुधिर प्रवाह घनेरे ॥
भरचो न उदर तुम्हारो अवहीं । फिर क्यों रुक्यो खात तन सवहीं॥
तौलों शङ्खचूड़हू आयो । अघटित घटना लखि अकुलायो ॥
गरुड़हिं सकल भेद वतलायो । सुनत सुपर्ण महा दुख पायो ॥
स्वर्गहिं जाइ सुधा लै आये । दिय जिमूत वाहनहिं जिलाये ॥
पुनि भविष्य हित किय पन भारी । हिंसा नहिं करिहौं दुखकारी ॥ (वौद्ध कथा)

श्री अलर्क जी

अलरक कीरति में रांचौं नित सांचो हिये किये उपदेश हू न छूटै विषै वासना ।
माता मन्दालसा की वड़ी यह प्रतिज्ञा सुनौ आवै जो उदर मांझ फेरि गर्भ आसना ॥
पतिको निहोरो ताते रह्यो छोटो कोरो ताको लै गये निकासि मिलि काशी नृप शासना ।
मुद्रिका उघारि औ निहारि दत्तात्रेयजूको भये भवपार करी प्रभुकी उपासना ॥६३॥

शब्दार्थ—रांचौं=रंग जाऊँ, अनुरक्त होऊं । विषै=विषय, इन्द्रियों के भोग । वासना=भोगने की इच्छा । आस ना=आश=आशा+ना = नही । निहोरो = प्रार्थना । कोरो=कोरा, जिस पर रंग न चढ़ाया गया हो, विना धुला ।

भावार्थ—मैं भक्तवर श्रीअलर्ककी कीर्तिके कथन-श्रवणमें सच्चे हृदयसे मग्न रहूँ । इस मायिक जगत् में प्रायः उपदेश करने पर भी विषयों को भोगने की इच्छायें नही छूटती हैं । अलर्कजी माता मन्दालसा के पुत्र थे । माता की यह वड़ी भारी प्रतिज्ञा थी कि जो भी जीव मेरे उदर में आयेगा, उसे दूसरी वार गर्भ में जाने की आशा या आवश्यकता कदापि नही होगी । वह आवागमन के चक्रसे सर्वथा मुक्त होकर भगवान के श्रीचरणों का अनुरागी हो जायगा । मन्दालसाजीके चार पुत्र हुए,उनमें से तीन पुत्र माता के उपदेश से पूर्ण विरक्त होकर वनको चले गये । पतिदेव के निहोरा करने पर सवसे छोटे अलर्कजी को माता ने ज्ञानका उपदेश देकर वैराग्य रंगमें नहीं रंगा, इसलिए ये कोरे ही रहे । इन्हें प्रवृत्तिमार्ग की शिक्षा मिली । माता ने एक उपदेश सूत्र लिखकर उसे मुद्रिकामें वन्द करके वह मुद्रिका अलर्कजी को दे दी और कहा कि—जव महान् संकट पड़े तव खोलकर इसे देखना । तत्पश्चात् अलर्कजी को राजगद्दी पर वैठाकर पति देव के साथ मन्दालसाजी भजन करने के लिए वनको चली गईं । वहाँ भजन में संलग्न पुत्रों को देखकर अति प्रसन्न हुईं । माताको अलर्ककी चिन्ता थी ।

अधिक समय तक संसारी सुखों को भोगने के वाद भी जव अलर्कजी को वैराग्य नही हुआ । तव माता ने अलर्क के वड़े भाइयों को भेजा कि—अलर्क को संसार वन्धनसे छुड़ा लाओ । इन लोगों ने माता की आज्ञा के अनुसार अलर्क को वहुत उपदेश किया, पर अलर्क जी पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा । तव उन्होंने अपने मामा काशी नरेश से मिलकर अलर्क के राज्य पर आक्रमण करा दिया । चारों ओर से वड़ी भारी सेनाने नगरको घेर लिया । भयङ्कर संकट आया देखकर माताके द्वारा दी हुई मुद्रिका को खोलकर

अलर्क जी ने देखा। पत्रके पढ़ते ही संसार को असार समझकर राज्यका परित्याग करके वनको चले गए और विरक्त होकर भगवद्भजन में तल्लीन हो गए। वन में दत्तात्रेय भगवानका दर्शन हुआ, उनसे उपदेश पाकर प्रभु की उपासना की और संसारसागर मे सहज ही पार हो गए।।६३।।

व्याख्या—कियो ''' वासना—यथा—पद—

मेरो मन हरि जू हठ न तजै।
निशिदिन नाथ देऊँ सिख बहु विधि करत सुभाउ निजै।।
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै।।
लोलुप भ्रम गृह पशु ज्यो जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुं न मूढ़ लजै।।
हौं हार्‌यौ करि जतन विविध विधि अतिशै प्रबल अजै।
तुलसिदास यह होहि तबहि जब प्रेरक प्रभु बरजै।। (वि०)

दृष्टान्त—वृद्ध वणिक का—देखिये क० २६

पति '' '' कोरो—माता मन्दालसाजीके गर्भसे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे। विक्रान्त, सुबाहु, शत्रुमर्दन और अलर्क। जब प्रथम पुत्र हुआ तो राज्य में बड़ा हर्ष मनाया गया। राजा ऋतध्वज ने उस पुत्र का नाम विक्रान्त रखा। नाम सुनकर मदालसा हँसने लगी। कारण पूछने की इच्छा रहते हुए भी राजा नही पूछ सके। मदालसाजी ने अपनी प्रतिज्ञानुसार शैशवावस्था से ही बालक को उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। यथा—

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्तिनाम कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव।
पञ्चात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः।।(मा०पु०)

अर्थ—हे तात! तू तो शुद्ध आत्मा है, तेरा कोई नाम नही है। यह कल्पित नाम तो तुझे अभी मिला है। यह शरीर भी पंचभूतों (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) का बना हुआ है। न यह तेरा है, न तू इसका है। फिर किस लिये रो रहा है। पुन—'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि, संसारमाया-परिवर्जितोऽसि। संसारनिद्रां त्यजस्वप्नरूपां मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम्।। (अर्थ स्पष्ट है) परिणाम यह हुआ कि वह बालक बाल्यावस्था में ही ज्ञानी एव ममता शून्य होकर आत्म-साक्षात्कार के लिये वन की राह लिया।

इसी प्रकार जब मदालसाजीको दूसरा पुत्र उत्पन्न हुआ तब पिताने उसका नाम सुबाहु रक्खा। इस पर भी मदालसा हँसी, तथा इस बालक को भी उपदेश देकर पूर्ववत् ज्ञानी बना दिया। तृतीय पुत्र उत्पन्न होने पर राजा ने उसका नाम शत्रुमर्दन रक्खा। इस पर भी मदालसा बहुत देर तक हँसती रहीं तथा इसको भी ज्ञानोपदेश देकर जीवन्मुक्त बना दिया। राजा ऋतध्वज जब चौथे पुत्र का नामकरण करने चले तो देखा सदाचार परायणा मदालसा उस समय भी मन्द-मन्द मुसकरा रही थीं, तब राजा ने हँसने का कारण पूछा और यह भी कहा कि यदि मेरे द्वारा धरे गये नाम अच्छे न हों तो इस चौथे बालक का नामकरण तुम ही करो। मदालसाजी ने राजा की आज्ञा शिरोधार्य कर चौथे बालक का नाम अलर्क रक्खा, जिसे सुनकर राजा बहुत ठठाकर हँसे और सर्वथा असम्बद्ध नाम रखनेका कारण पूछा। मदालसा

ने कहा—राजन् ! लौकिक व्यवहार चलाने के लिये कोई नाम रख लिया जाता है, वस्तुतः आत्मा का इन नामों से कोई सम्बन्ध नही है। आत्मा व्यापक होनेसे न तो विक्रान्त (एक जगह से दूसरी जगह जाने वाला) है, और न निराकार होनेसे सुबाहु ही है। तथा तत्वतः सभी शरीरों में एकही आत्माका निवास होने से, शत्रु-मित्र भेद रहित होने से शत्रुमर्दन नाम भी असंगत ही है। ऐसे ही मैंने अलर्क नाम भी रख दिया है, जिसका प्रयोजन मात्र व्यवहार सिद्धि है। परमार्थ नही। तदनन्तर मदालसा ने पहले पुत्रो की भांति उसको भी ज्ञानजनक बातें सुनानी आरम्भ कीं।

तब राजा ऋतध्वजने कहा—देवि! हमने तुम्हारी सभी इच्छाओंको पूर्ण किया, अब तुम मेरी भी एकइच्छा पूर्णकरो। वह यह कि मेरे इस पुत्रको प्रवृत्ति मार्गमें लगाओ, जिससे वंश परम्पराका उच्छेद न हो तथा पितरों के पिण्डदानका लोप न हो। पतिके यो निहोरा-विनती करनेपर मदालसाजी ने अपने छोटे पुत्र अलर्कको बड़े विस्तारसे प्रवृत्ति-परक वर्ण-धर्म, आश्रम धर्म, राज-धर्म, विधि-धर्म, निषेध धर्म का उपदेश दिया। तदनन्तर बहुत समय बाद वृद्धावस्था आने पर धर्म-परायण महाराज ऋतध्वज ने अपनी पत्नी के साथ तपस्या करने के लिये वन में जाने का विचार किया और पुत्र का राज्याभिषेक कर दिया। उस समय मदालसा ने अपने पुत्र की विषयभोग विषयक आसक्ति को हटाने के लिए उससे यह अन्तिम वचन कहा—बेटा ! यदि तुम्हारे ऊपर कोई असह्य दुःख आ पड़े तो मेरी दी हुई इस अँगूठी से यह उपदेश पत्र निकालकर, जो रेशमी वस्त्र पर बहुत सूक्ष्म अक्षरों में लिखा है, तुम अवश्य पढना। तत्पश्चात् पुत्र को अँगूठी देकर, राज्य कार्यभार सौपकर, बहुत-बहुत आशीर्वाद देकर महाराज ऋतध्वज, और महारानी मदालसा वन में चले गये।

माता-पिता का वन में आगमन सुनकर सभी पुत्रों ने आकर प्रणाम किया। माता मदालसा अपने ही पुत्रों को पहचान न पाईं। इसलिये कि बचपन में ही (११ साल की अवस्था मे) घर छोडकर चले आये थे। अब बहुत बड़े हो गये थे, सिर पर जटा जूट, शरीर पर वल्कल, परम तेजोमय रूप, अतः पहचानना कठिन था। माता ने पूछा—आप लोग किसके कृपापात्र हैं ? वे बोले—हम श्रीमाता मदालसा जी के कृपापात्र हैं। मां ने बड़ा स्नेह किया, अपने को तथा पुत्रों को धन्य माना। तथा अलर्क के लिये पुत्रों ने अनुरोध किया कि जेसे हो तैसे उसे भी परमार्थ पथ पर अग्रसर करो। माता की आज्ञा शिरोधार्य कर ज्योठ पुत्र सुबाहु नगर में आये और बाग में आसन लगाये। जब अलर्कजी अपने अग्रज का आगमन सुन मिलने के लिए आये तो सुबाहुजी ने इन्हें बहुत उपदेश दिया। परन्तु इन्होने उस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। प्रत्युत नाराज भये कि अपने तो घर-बार छोड़कर लँगोटी लगाकर भिखारी बने ही, अब हमको भी बाबाजी बनाना चाहते हैं। तब सुबाहुने कहा कि यदि हमारा उपदेश नही मानना है तो राज्य छोड़ो, बड़े तो हम है अतः राज्य के वास्तविक अधिकारी तो हम है। अलर्क ने जवाब दिया—अब आप लोगो का राज्याधिकार समाप्त हो गया है। अब तो आप लोग गुरु की सम्पत्ति के भले ही अधिकारी हो सकते हैं, पैतृक सम्पत्ति के नही। जब सुबाहु ने बलपूर्वक राज्य लेने की बात कही तो अलर्क ने उपेक्षा पूर्वक कहा—व्यर्थ की बातो से कार्य सिद्ध होने का नहीं। शक्ति हमारे हाथ में है, चाहूँ तो कारागार मे डालदूँ, जीवनभर जेल में ही पडे-पड़े सड़ जाओ। जब सुबाहु ने देखा कि यह किसी तरह से बात मानने को प्रस्तुत नही है तब—

लै गये………**व्याख्या**—सुबाहु अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये असंख्यबलवाहनों से सम्पन्न काशीनरेश के पास गये। इनके संकेतानुसार काशीनरेश ने अलर्क का राज्य घेर लिया और दूत

भेजकर यह सन्देश कहलाया कि अपने बड़े भाई सुवाहु को राज्य दे दो अन्यथा युद्ध के लिये प्रस्तुत हो जाओ। अलर्क ने क्षात्र-धर्म के अनुसार युद्ध की चुनौती स्वीकार की, परन्तु काशी नरेश के अपार सैन्य-वल के समक्ष टिक नही सके, तव इन्हें माता की अंगूठी की याद आई तो स्नान करके पवित्र होकर, ब्राह्मणो से स्वस्तिवाचन कराकर अगूंठी से वह उपदेश-पत्र निकाल कर पढ़ा। वह उपदेश इस प्रकार था—सङ्गःसर्वात्मना·······भेषजम् ॥ (देखिये छप्पय १० में मन्दालसाजी के प्रसंग के अन्त में मन्दालसा जी का सिद्धान्त)—

अलर्कजी को मार्ग मिल गया। समस्त आसक्तियों को छोड़कर भगवान दत्तात्रेयजी की शरण गये। वहां जाकर देखे तो श्रीदत्तात्रेयजी परम प्रसन्न, शरीर से भी हृष्ट-पुष्ट वैठे भगवानका भजन कर रहे थे। इन्होने अपना दुःख निवेदन करते हुये मुनिकी प्रसन्नताका कारण पूछा। श्रीदत्तात्रेयजी ने कहा—मैंने पहले चौवीस वैद्योसे चौवोसखुराक दवा खाई थी अतः अव मैं सर्वथा निरुज हो गया हूँ। इसी से मेरी प्रसन्नता और पुष्टता सदा सर्वथा एकरस वनी रहती है। जव इन्होने अपने लिये भी उन महौषधियों की याचना की तो श्रीदत्तात्रेयजी ने इन्हे चौवीस में से पांच पुड़ियाही देकर परम-श्रेय-भाजन वना दिया। वह पांच औषधियां ये है— १- पृथ्वी के समान धैर्य, २- तीर वनाने वाले के समान मनकी एकाग्रता, ३- वृक्षकी सी परोपकारिता, ४- कन्या की चूड़ी के समान एकाकी रहने की प्रवृत्ति, ५- पिङ्गला के समान आशा त्याग।

उपदेशाधिकार की इस भूमिका के पश्चात् श्रीदत्तात्रेयजी ने अलर्क को आत्मतत्वोपदेश किया और उसके साक्षात्कार के लिये अष्टाग योग की शिक्षा दी। अलर्क ने कृतज्ञता ज्ञापन करते हुये मुनिको प्रणाम किया और पुनः नगर में आकर, महावाहु वीरवर काशिराज के निकट पहुँच कर सुवाहु के सामने ही हँसते हुए इस प्रकार कहा—राज्य की इच्छा रखने वाले काशिराज ! अव तुम इस वढ़े हुये राज्य को भोगो, अथवा यदि तुम्हारी इच्छा हो तो भाई सुवाहु को ही दे डालो। काशिराजने कहा—अलर्क ! तुमने युद्ध किये विना ही राज्य को क्यों छोड़ दिया ? यह तो क्षत्रियका धर्म नही है और तुम क्षत्रिय धर्म के ज्ञाता हो। श्रीअलर्क ने कहा—नरेश्वर ! परम योगीश्वर गुरुवर्य श्रीदत्तात्रेयजी की कृपा से मुझे अव आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है, अतः अव मेरी कही आसक्ति नही रह गई है और न कोई मेरा शत्रु वा मित्र ही रह गया है। अलर्क के यों कहने पर सुवाहु अत्यन्त प्रसन्न होकर, आसन से उठे और 'धन्य ! धन्य !' कहकर अपने भाईका अभिनन्दन करनेके पश्चात् वे काशिराज से इस प्रकार वोले—नृपश्रेष्ठ ! मैं जिस कार्य के लिये तुम्हारे पास आया था वह सव पूरा हो गया। अव मैं जाता हूँ। तुम सुख पूर्वक राज्य करो। सुवाहु की वाते काशिराजकी समझ में एक दम न आईं। वे भौचक्के से रह गये। तव सुवाहुने विधिवत सव रहस्य इनको समझाया। सुवाहु की कृपासे काशिराज को भी तत्वज्ञान हो गया। वस, इधर अलर्क अपने ज्येष्ठ पुत्रको तथा उधर काशिराज अपने ज्येष्ठ पुत्रको राज्य देकर, दोनों ही सुवाहु के साथ तपस्या करने के लिये वन को प्रस्थान किये।

श्रीरूपकलाजी अलर्कजी का एक और प्रसंग वर्णन करते है कि—एक वार अलर्कजी कालंजर के समीप एक वन में विचरण कर रहे थे तो उन्होंने एक दिव्य सरोवर देखा, जिसके तट पर एक मृतक मनुष्य पडा था, और दो पिशाच आपस में झगड़ा कर रहे थे। एक कह रहा था कि मैं खाऊंगा और दूसरा कहता था कि मैं खाऊंगा। जव श्रीअलर्कजीने उन दोनोंसे झगड़नेका कारण पूछा तो वे दोनों

पिशाच बोले कि वस्तु एक ही है और हम दोनों ही भूखे हैं, उदर कैसे भरे ? श्रीअलर्कजी ने कहा—एक शव को खावे और दूसरा मेरी देह को। अलर्क की इस परमोदारता पर प्रसन्न होकर वहां मृत शव एवं प्रेतों के स्थान पर त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रगट हो गये और वर मागने को कहे। श्रीअलर्क ने त्रिदेवो की स्तुति, पूजा—प्रणाम किया और यही वर मांगा कि कोई जीव किसी प्रकार का दुःख न पावे। तब त्रिदेव बोले—कर्मका फल तो जीवों को अवश्य भोगना पड़ता है, परन्तु जो तुम्हारा दर्शन-स्मरण करेगे वह दुःख से मुक्त हो जायँगे।

श्रीअलर्क जी ने एक बार एक वेद पाठी ब्राह्मण के माँगने पर अपनी आँखें निकाल कर दे दी थी। प्रभु की कृपा से पुनः आपके दिव्य नेत्र हो गये॥ श्रीअलर्कजी बहुत समय तक वन में निर्द्वन्द्व एवं परिग्रहशून्य होकर रहे और अनुपम योग-सम्पत्ति को पाकर परम निर्वाण पद को प्राप्त हुये॥

तिन चरण धूरि मो भूरि सिर जे जे हरि माया तरे॥
रिभु, इक्ष्वाकु रु ऐल, गाधि, रघु रै, गै, शुचि शतधन्वा।
अमूरति अरु रन्तिदेव, उतंग,भूरि, देवल, वैवस्वतमन्वा॥
नहुष, जजाति, दिलीप, पुरु यदु, गुह, मान्धाता।
पिप्पल, निमि, भरद्वाज, दक्ष, सरभंग संघाता॥
संजय, समीक, उत्तानपाद, याज्ञवल्क्य जस जग भरे।
तिन चरण धूरि मो भूरि सिर जे जे हरि माया तरे॥१२॥

शब्दार्थ—शुचि=स्वच्छ, पवित्र, निर्दोष। अरु=और। संघाता=संङ्घात, समूह, भरे =फैले, प्रसिद्ध, परिपूर्ण, व्याप्त। भूरि=अधिक। तरे=पार हुये, जीत गये, मुक्त हुये।

भावार्थ—जो भक्त भगवान की अपार माया से तर गये, उसके जाल में नहीं फँसे, उनके श्री-चरणों की बहुत-सी रज सादर मेरे शिर पर है और सदा रहे। ऋभुजी, इक्ष्वाकुजी, ऐलजी, गाधिजी, रघुजी,रयजी,गयजी, शतधन्वाजी, अमूर्तिजी,रन्तिदेवजी,भूरिश्रवाजी, देवलजी, वैवस्वत मनुजी, पिप्पलजी, निमिजी, भरद्वाजजी, शरभंगजी, समीकजी उत्तानपादजी और याज्ञवल्क्यजी इनके सुयश संसारमें भरे हुए हैं। ये भगवद्भक्ति के प्रताप से माया को जीतने वाले हैं॥१२॥

व्याख्या—हरिमाया—

पद—माधव असि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया॥
सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दशा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोह जनित भव दारुन विपति सतावै॥

ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै।
तौ कत मृगजल रूप विषय कारन निसि वासर धावै।।
जेहि के भवन विमल चिन्तामनि सोकत कांच वटोरै।
सपने परवस परै जागि देखत केहि जाय निहोरै॥
ग्यान भगति साधन अनेक सव सत्य झूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं॥ (विनय)

जो ज्ञानिन कर चित अपहरई। वरिआई विमोह मन करई॥
जो माया सबजगहिं नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥
हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाइ विहगेश।
अतिशय प्रवल देव तव माया। छूटै राम करहु जो दाया॥
सो दासी रघुवीर कै, समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिन, नाथ कहौं पद रोपि॥ (रा०च०मा०)

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ (गी०)

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया। नारायण परो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम्॥ (भा०)

अर्थ—जो शास्त्रोक्त रीति से सद्गुरु की शरण में जाकर भागवत-धर्मो की शिक्षा ग्रहण करता है, उसे उनके द्वारा प्रेम-भक्ति की प्राप्ति हो जाती है। और वह नारायण के परायण होकर उस माया को अनायास ही पार कर जाता है, जिसके पञ्जे से निकलना वहुत ही कठिन है। माया की दुस्तरता पर—

दृष्टांत—जगन्नाथपुरी के ब्राह्मण का—एक ब्राह्मण श्रीजगन्नाथपुरी में निवास करते थे, भगवद्भक्त थे, नित्य गीता का पाठ करते थे। स्वाध्याय के सिलसिले में जव 'दैवी……तरन्ति ते' यह श्लोक आता तो पण्डितजी वहुत हँसते और कहते कि देखो तो, भगवान ने अपनी माया की कैसी वडाई की है। भला हम सरीखे साधन-सम्पन्न व्यक्ति का वह कर ही क्या सकती है? ऐसे ही वहुत दिन हँसे, तव भगवान ने इन्हे अपनी अघटित घटना पटीयसी माया दिखाने का संकल्प किया। एक दिन पण्डितजी स्नान करनेको चले और अपनी पत्नीसे कहा कि तुम शीघ्र श्रीठाकुरजीको भोगलगाने के लिये खिचरी वनाओ। हम स्नान करके अभी आते है। यह कहकर पण्डितजी मार्कण्डेय घाट पर जाकर स्नान करते समय ज्यो ही डुवकी लगाये तो प्रकट हुए काशीपुरी में मणिकर्णिका घाट पर। यह भौंचक्के से इधर-उधर देख रहे थे। एक ब्राह्मण ने पूछा—तुम कौन हो? इन्होंने कहा—हम जगन्नाथपुरी के ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणने कहा—क्या तुम कुछ पढ़ने लिखनेके लिये काशीआये हो? इन्होने कहा—हाँ! फिर तो वह ब्राह्मण इनको अपने घर लिवा ले गया और सव प्रकार की सुव्यवस्था करदी तथा अच्छी तरह से वेद-शास्त्र का अध्ययन कराया।

तत्पश्चात् इनको योग्य देखकर इनसे अपनी कन्या का विवाह भी कर दिया। ये पढ-लिखकर वही वस गये। इनके कई सन्तानें हुईं। ऐसेही वारह साल वीत गये। एक दिन ये पुनः मणिकर्णिका घाट पर स्नान करने गये, तो ज्यों ही डुवकी लगाई, फिर जगन्नाथपुरी में मार्कण्डेय घाट पर प्रगट हुए। देखा—धोती-लोटा जहाँ का तहाँ धरा है। किञ्चित्-किञ्चित् काशी के प्रसङ्ग की भी स्मृति वनी रही। सोचते विचारते घर गये, पूछे खिचरी वनकर तैयार भई कि नही। पत्नी ने कहा—आज वहुत जल्दी आप स्नान

करके आ गये, अभी तो मैंने केवल चूल्हे पर चढ़ाया भर है। फिर धीरे-धीरे रसोई बनी, ठाकुरजी को भोग लगा, तत्पश्चात् प्रसाद पाये। उधर काशीपुरी मे शोर पड़ गया कि पण्डितजी के जमाई कही चले गये। बहुत खोज-बीन हुई। एक आदमी ढूढ़ते-ढूढते जगन्नाथपुरी आया तो इन्हे अपने कुटुम्ब-परिवार में निमग्न देखा। उसने काशीपुरी में इनके यहां रहने की सूचना देदी। ब्राह्मण ने इनको वहो बुलाने का बहुत प्रयत्न किया। पर ये जब नहीं गये और न कुछ जवाब ही दिये तो वह ब्राह्मण अपनी लड़की तथा लड़की के लड़कों को साथ लेकर काशीसे आया और इनसे उन सबको अपने साथ रखने को कहा परन्तु ये तैयार नही हुये।

तब उस ब्राह्मण ने पंचायत किया और पंचोंसे समस्त वृत्तान्त कहा। पंचोंने कहा—पण्डितजी! आपको धोखा है। ये तो पुरी छोड़कर कही जाते ही नही। परन्तु काशी का ब्राह्मण अपने कथन पर दृढ़ रहा, तब पंचों ने इनसे पूछा तो इन्होने कहा कि वैसे तो ठीक-ठीक हमारी समझ मे कुछ भी नही आ रहा है परन्तु हमको तनिक-तनिक याद सी बनी हैं कि हम काशी गए थे, इनके यहां निवास किया था आदि आदि। तब सबने बड़ा आश्चर्य माना और इनसे मानसिक चिन्तवन के सम्बन्ध में पूछा तो इन्होंने गीताके माया निरूपणवाले श्लोकके विषयमें अपनी बनी धारणाको व्यक्त किया। तब सभी लोगोंने निश्चय किया कि यह हरि-माया का ही अमित प्रभाव है। इनके सन्देह को दूर करने के लिए भगवान ने अपनी माया का किञ्चित् प्रभाव दिखाया हैं। पण्डितजी की भी समझमें आ गया। तात्पर्य यह कि वस्तुतः भगवान की माया दुस्तर ही है और उससे भगवत्कृपा से ही पार पाना सम्भव है। आगे ऐसे महाभागवतों का चरित्र वर्णन किया जाता है कि 'जे जे हरि माया तरे'॥

श्रीऋभुजी—ये ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। स्वाभाविक ही निवृत्ति परायण एवं ब्रह्म-तत्वज्ञ होने पर भी इन्होंने शास्त्र-मर्यादा की रक्षा के लिए अपने अग्रज सनत्सुजात से विधि-पूर्वक शिक्षा-दीक्षा ली थी। सदा-सर्वदा आत्म-चिन्तनमें तल्लीन ये महर्षि मल, विक्षेप तथा आवरणसेरहितहोकर प्राय: विचरते रहते थे। एकदिन विचरण करतेहुए ये पुलस्त्य ऋषिके आश्रममें पहुंचगये। वहां पुलस्त्यपुत्र निदाघको वेदाध्ययन में सलग्न देखकर, उसे अधिकारी जानकर इन्होने उपदेश दिया—मनुष्य जीवन का परम लाभ आत्मज्ञान प्राप्त करना है। वेदों को कण्ठस्थ कर लेने पर भी यदि आत्मज्ञान न हो तो वेदाध्ययन व्यर्थ है। निदाघ ! तुम आत्मज्ञानका सम्पादन करो। निदाघ विद्वान् थे, शुद्ध चित्त थे, और थे सच्चे जिज्ञासु। उन्होंने महर्षि ऋभुकी शरण ग्रहण की। कुछ काल तक उन अवधूत की सेवा करते हुए उनके साथ विचरते रहे। महर्षि ऋभु ने इनका सेवा मे सद्भाव तथा तप-त्याग देखकर इन्हें तत्व-ज्ञान का उपदेश दिया तथा साथ ही घर जाकर विवाह करके गार्हस्थ्य धर्म-पालन करते हुए आत्म-चिन्तन करते रहने की आज्ञा दी। निदाघ पिता के यहां लौट आये। उनका विवाह हुआ और देविका नदी के तटपर वीरनगर के पास एक उपवन में आश्रम बनाकर गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए सपत्नीक निवास करने लगे।

बहुत दिनों के बाद महर्षि ऋभु अपने आश्रित शिष्य निदाघ की स्थिति जानने के लिए तथा उसे सत्पथ पर दृढ़ करने के लिए घूमते-घूमते निदाघ के घर पहुँचे। यद्यपि निदाघ ने उन्हें पहचाना नहीं, तथापि अतिथि सत्कार तो गृहस्थ का कर्तव्य है, उन्होंने भली प्रकार इनका सत्कार किया। भोजन कर लेने के पश्चात् निदाघ ने बडी विनम्रता से पूछा—भगवन् ! आप तृप्त हो गये ? भोजन का स्वाद कैसा रहा? आप कहां रहते हैं? कहां जा रहे है ? महर्षिऋभुने मुस्कराकर कहा—ब्राह्मण! भूख-प्यासका तृप्ति-अतृप्तिका अनुभव मन और प्राणोंको होता है, ये शरीर के धर्म है। स्वाद का अनुभव करने वाली रसना

(जिह्वा) होती है। मैं न तो शरीर हूँ, न मन, न प्राण, न इन्द्रिय और न क्षुत्तृट् धर्मी ही हूं। तव तृप्ति अतृप्ति क्या वताऊँ। रही वात कही आने, जाने रहने की, तो आत्मा आकाश की भांति सर्व व्यापक है अत: उसके साथ इन क्रियाओं की भी कोई संगति नहीं हैं। इस प्रकार ऋभु ने शिष्य को समझाया। निदाघ गुरु का परिचय पाकर वहुत प्रसन्न हुए। महर्षि चले गये।

दूसरी वार महर्षि ऋभु फिर आये तो सयोग वश उस समय वीरपुर नरेश की सवारी निकल रही थी। महर्षिने निदाघसे पूछा—यह भीड़ कैसी है? निदाघ—राजा कही यात्रा पर जा रहे हैं। दर्शकों की भीड़ है। ऋभु—इनमें कौन राजा है और कौन अन्य लोग? नि०—जो सवसे वड़े हाथी पर वैठे हैं वे राजा हैं तथा शेष अन्य लोग हैं। ऋभु—कौन हाथी और कौन राजा है? नि०—जो नीचे है वह हाथी है और जो ऊपर चढा है वह राजा। ऋभु—नीचे क्या है, ऊपर क्या है? निदाघ चिढ़ गये। गुरुको वे पहचान सके नही थे। पागल जैसे दीखते उस व्यक्ति के ऊपर वे चढ़ वैठे और वोले—अव तुम नीचे और मैं ऊपर हूँ। ऋभु ने वड़ी शान्ति से पूछा—तुम कौन और मैं कौन हूँ? यह वात सुनते ही निदाघ उनके चरणो पर गिर पड़े और हाथ जोड़कर कहने लगे—प्रभो! अवश्य ही आप मेरे गुरुदेव ऋभु हैं। मैंने अनजानमें वड़ा अपराध किया,आप कृपया मुझे क्षमा करें। ऋभुने पुन. पूर्वके तत्व ज्ञानको दुहराया। निदाघ ने उनकी वड़ी स्तुति की। परम समदर्शी महर्षि ऋभु वहां से आगे वढ़े। (धर्माङ्क)

(२) श्रीऋभुजी एक व्राह्मण के वालक थे। हृदय भक्ति-संस्कार युक्त था। एक दिन उमा-महेश्वरजी के मन्दिर के समीप हो के चले जा रहे थे। सुन्दर शिवलिङ्ग देखकर चित्त में पूजा करने की श्रद्धा हुई, सो एक फूल, जो उस समय इनके हाथ मे था, उसको उस विग्रह पर रख कर वोले—'ॐ नमः शिवाय।' आशुतोष, औढर ढरन महादानी श्रीगिरिजावरजीके मन्दिरसे आकाशवाणी भई कि 'वरमांग'। इन्होने अपने सहज वाल-सुलभ-स्वभाववश हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि—प्रभो! आपसे भी वड़ा जो कोई परम पुरुष हो, आप कृपा करके इस अवोव वालक को उनका दर्शन करा दीजिये। इस महान् वर की याचना से श्रीगिरिजापति कुछ विचार करने लगे। इतने ही में अपने परम भक्त, परम प्रिय, देव-देव महादेव के वचनको पूर्ण करने के लिये श्रीहरि स्वयं वहां प्रगट हो गये। अकारण-करुण, करुणावरुणालय, भक्त वत्सल भगवान को देखते ही श्रीशिवजी भी प्रत्यक्ष प्रगट हो गये और प्रेम एवं हर्ष से परिपूर्ण हृदय भोलानाथ द्विजवालक ऋभु से वोले—वत्स! तू जिन दीनवन्धु, व्रह्मण्यदेव,जगत्त्राता, प्राणवल्लभ प्रभुको ढूंढ़ता था, सो तेरे सुकृतों के सुफल, कारणरहित कृपाल प्रभु तेरे समक्ष विराजमान हैं, दर्शन करले। तेरे भाग्य धन्य हैं, तू धन्य है, तेरे माता-पिता धन्य हैं एवं तेरे गुरु धन्य हैं। तत्पश्चात् ऋभु को अविचल, अविरल प्रेम लक्षणा भक्ति का वरदान देकर दोनों देव अन्तर्धान हो गये। (श्रीरूपकलाजी)

श्रीइक्ष्वाकुजी—परम पुरुष परमात्माने जव सृष्टिकी इच्छाकी तो सर्व प्रथम उनकी नाभिसे एक सुवर्णमय कमलकोश प्रगट हुआ, उसी में चतुर्मुख व्रह्माजी का आविर्भाव हुआ। व्रह्माजी के मन से मरीचि और मरीचि के पुत्र कश्यप हुये। उनकी पत्नी अदिति से विवस्वान् (सूर्य) का जन्म हुआ। विवस्वान् की संज्ञा नामक पत्नी से श्राद्धदेव मनुका जन्म हुआ। परम मनस्वी राजा श्राद्धदेव मनुने अपनी पत्नी श्रद्धाके गर्भ से दस पुत्र उत्पन्न किये, जिनमें सवसे ज्येष्ठ इक्ष्वाकुजी थे। कहीं-कही मनुजीकी नासिकासे इक्ष्वाकु का प्रादुर्भाव होना पाया जाता है। यथा-क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणतः सुतः॥ (भा०) अर्थ—एक वार मनुजी के छीकने पर उनकी नासिका से इक्ष्वाकु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

श्रीइक्ष्वाकुजी अयोध्याके प्रथम राजा हुये यथा—तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ (वाल्मीकीय रामायण) अर्थ—(श्रीविश्वामित्रजी राजा जनक से कहते हैं कि) उन इक्ष्वाकु को ही आप अयोध्या का प्रथम राजा समझें महाराज इक्ष्वाकुजी वड़े ही प्रजावत्सल राजा हुये। श्रीमद्भागवत में श्री-परीक्षितृजी की जन्म-कुण्डली वर्णन करते हुये ज्योतिषियों ने सर्व प्रथम यही कहा है कि—पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः॥ (भा०) अर्थ—धर्मराज ! यह वालक मनु पुत्र इक्ष्वाकु के समान अपनी प्रजा का पालन करेगा। महाभारत के युद्ध में भगवान श्रीकृष्णने गीता-ज्ञान का अनादित्व वर्णन करते हुये श्रीइक्ष्वाकुजी का स्मरण किया है। यथा—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ (गी०)

अर्थ—श्रीभगवान वोले—मैंने इस अविनाशी ज्ञान-योग को सूर्य से कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा। इस प्रकार श्रीइक्ष्वाकुजी महाराज गीता-ज्ञान के आचार्य सिद्ध होते हैं।

रीवाँ नरेश महाराज श्रीरघुराज सिंहजी ने स्वरचित श्रीरामरसिकावली भक्तमालमें श्रीइक्ष्वाकु-जी की लीलाभिनय-निष्ठाका एक सरस प्रसंग वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि—

जवते महिपाल इक्ष्वाकु भये हरि लीला रचैं शिशुसंगन में।
सतिभाव विलोकि कै तासु हरी कह्यो मांगु रँगे रति रङ्गन में॥
रघुराज कह्यो जस खेलत हैं तुमहू तस खेलो उमङ्गन में।
मुसकाइ कह्यो हरि तेरेइ वंश में खेलिहौं औध के अङ्गन में॥

इसी वरदान के फलस्वरूप स्वयं भगवान श्रीरामने इसी वंशमें अवतार ग्रहण किया था। यथा—इक्ष्वाकु वंश प्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः॥

एक वार महाराज इक्ष्वाकु तीर्थ यात्रा करते हुये श्रीजापकमुनि के आश्रम पर पहुँचे। मुनि ने राजाको अर्घ्य, पाद्य और आसन देकर कुशल-मङ्गल पूछने के वाद इस प्रकार कहा—महाराज ? आपका स्वागत है। मैं अपनी शक्तिके अनुसार आपकी क्या सेवा करूँ ? यह आप मुझे वतावें। राजा ने कहा—विप्रवर ! मैं क्षत्रिय राजा हूँ और आप स्वधर्म में स्थित ब्राह्मण हैं, अतः मैं आपको कुछ धन देना चाहता हूँ। ब्राह्मण ने कहा—नरेश्वर ! आप उन ब्राह्मणों को दान करें जो प्रवृत्ति मार्ग में हों। मैं तो प्रतिग्रहसे निवृत्त ब्राह्मण हूँ। अतः आपसे दान नही ले सकता। हाँ आपको जो अभीष्ट हो, वह कहें, मैं अपने तपो-वल से पूर्ण कर दूँगा। इक्ष्वाकुजी वोले—हम क्षत्रियों को याचना का अभ्यास नहीं होता। यदि कभी ऐसा प्रसङ्ग प्राप्त होता है तो हम लोग तो यही कहना जानते हैं कि 'युद्ध दो।' ब्राह्मण ने कहा नरेश्वर ! जैसे आप अपने धर्म से सन्तुष्ट हैं, उसी तरह हम भी अपने धर्म से सन्तुष्ट हैं। हम दोनों में कोई अन्तर नहीं है, अतः आपको जो अच्छा लगे वही कीजिये। महाराज इक्ष्वाकु ने इन उदारचेता ब्राह्मण मुनि से इनके समस्त जप-साधन का फल मांगा। मुनि ने सहर्ष संकल्प कर दिया। तत्पश्चात् राजा इक्ष्वाकु ने अपने समस्त पुण्यों का फल जापक मुनि को समर्पित कर दिया और कहा—हमारा और आपका सारा

पुण्य हम दोनो के लिये समान हो और हम साथ-साथ उसका उपभोग करें। जापक मुनि ने उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। फिर तो वे दोनों एक दूसरे का उपकार करते हुये एक साथ हो गये। उन्होंने एक ही साथ मनको विषयों की ओर से हटाकर मन सहित प्राण, अपान, उदान, समान, और व्यान, इन पांचों प्राण वायुओं को सुषुम्णा मार्ग द्वारा मूर्धा में स्थापित करके समाधिमें स्थित हो गये। तत्पश्चात् दोनो ही ब्रह्म-रन्ध्रका भेदन करके दिव्यरूप धारण करके ब्रह्मलोक को गये और सभी देवताओं के देखते-देखते श्रीब्रह्माजी के मुखारविन्द में प्रविष्ट हो गये। (म० भा०)

श्री ऐल— (पुरूरवा)जी–वैवस्वत मनुके पुत्र न था। उस समय सर्व समर्थ भगवान वशिष्ठ जी ने इन्हे सन्तान-प्राप्ति कराने के लिये मित्रावरुणदेव का यज्ञ कराया। मनु-पत्नी श्रद्धा, जिसने यज्ञकी दीक्षा ली थी, उसने होता के पास जाकर प्रणाम पूर्वक कन्याके लिये प्रार्थना की। फलतः होता ने आहुति छोड़ते समय एकाग्रचित्त हो कन्या का सङ्कल्प कर आहुति छोडी। होता के इस व्यतिक्रमसे मनुके पुत्र के स्थान पर इलानामकी कन्या पैदा हुई। उसे देखकर मनुजी प्रसन्न नही हुये। उन्होने अपने गुरु वशिष्ठजी से पूछा कि यह विपरीत फल कैसे हुआ? तब वशिष्ठजी ने ध्यान धरके देखा तो सब बात विदित हो गई। तत्पश्चात् राजासे समस्त वृत्तान्त कहकर बोले कि अब हम अपने ब्रह्मतेज से आपकी कामना पूर्ण करेंगे। ऐसा निश्चय करके ब्रह्मर्षि वशिष्ठजी ने उस इलानामकी कन्या को ही पुरुष बना देनेके लिये पुरुषोत्तम भगवान नारायण की स्तुति की, सर्वशक्तिमान भगवान श्रीहरि ने सन्तुष्ट होकर इन्हें मुँह मांगा वर दिया, जिसके प्रभाव से वह कन्या ही सुद्युम्न नामक श्रेष्ठ पुत्र बन गई।

एक बार शिकार खेलते हुये ससमाज राजा सुद्युम्न सुमेरु पर्वत की तरहटी के एक गिरिजा-शङ्कर विहार वन मे पहुँच गये। वहा प्रवेश करते ही (शिवजी के पूर्व शापवश कि इस वनमें जो आयेगा, वह स्त्री हो जायेगा)सब स्त्री हो गये। इसलिये वे पुनःइला नामकी कन्या बने हुये अपने अनुचरोके साथ एक वनसे दूसरे वनमें विचरने लगे। उसी समय चन्द्रमा-पुत्र बुध, जो समीपके ही एक वन में तपस्या कर रहे थे, स्त्री रूपधारी सुद्युम्न को देखकर मोहित हो गये और इधर इन्होने भी कामोपम चन्द्रकुमार बुध को पति बनाना चाहा। फिर तो दोनो मे परस्पर प्रेम हो गया। परिणाम स्वरूप बुधने उनसे पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न किया। कुछ काल बाद सुद्युम्नने श्रीसद्गुरुदेव वशिष्ठजीका स्मरण किया। वे आये और राजकुमार की दशा देखकर उन्हें दया आ गई। उन्होने सुद्युम्न को पुनः पुरुष बना देने के लिये भगवान शङ्कर की आराधना की। श्रीशिवजी ने अपना शाप और वशिष्ठजी की विनय—दोनों की रक्षा करते हुए यह वर दिया कि यह एक महीने तक पुरुष एवं एक महीने तक स्त्री रहेगे। बुध-पुत्र पुरूरवा ही इला के गर्भ से उत्पन्न होने से ऐल कहे गये।

स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी एक दिन इन्द्र की सभा में देवर्षि नारदजी के मुख से पुरूरवाके रूप, गुण, शील-स्वभाव, शौर्य-वीर्य, बल-पराक्रम को सुनकर मोहित होकर स्वर्ग से पुरूरवाके पास चली आई। उर्वशीको मित्रा वरुण का शाप भी था मर्त्यलोक में जाने का। अतः उसने पुरूरवा के साथ विहार करते हुये शापकी अवधि बिताने का निश्चय किया। इधर देवाङ्गना उर्वशी को देखकर राजा पुरूरवा भी धैर्य खो बैठे। परिणाम स्वरूप दोनो में स्नेह-सम्बन्ध हो गया। शाप की अवधि पर्यन्त पुरूरवाके साथ काम-शास्त्रोक्त पद्धति से रमण करती हुई उर्वशी अवधि बीतने पर बिना किसी शील-संकोच के इन्हें छोड़कर स्वर्ग चली गई। उसके चले जाने पर पहले तो परम यशस्वी सम्राट् पुरूरवा विरह से अत्यन्त

व्याकुल हो गये। परन्तु पीछे शोक हट जाने पर उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ, और तव उनके हृदय से जो उद्गार निकला है,वह परमार्थ पथके पथिकोंके लिये वड़े ही महत्व का है। यथा-अपने वास्तविक कल्याण को समझने वाले विवेकी पुरुपको चाहिये कि स्त्रियों एवं स्त्री लम्पट पुरुषों का सङ्ग न करे। विपय और इन्द्रियोंके संयोगसे ही मनमें विकार होता है। अन्यथा विकार का कोई अवसर ही नही है। जो वस्तु कभी देखी या सुनी नही गई है उसके लिए मन में विकार नही होता। जो लोग विपयों के साथ इन्द्रियो का संयोग नही होने देते, उनका मन अपने आप निश्चल होकर शान्त हो जाता है। अतः मन, वाणी और श्रवण आदि इन्द्रियों से स्त्रियों और स्त्रीलम्पटों का सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये। मुझ जैसे सांसारिक लोगों की तो वात ही क्या, वड़े-वड़े विद्वानों के लिये भी अपनी इन्द्रियां और मन विश्वसनीय नहीं हैं।

राजराजेश्वर पुरूरवा के मन में जव इस प्रकार के उद्गार उठने लगे तव उन्होने उर्वशीका मन से परित्याग कर दिया। अव ज्ञानोदय होने से उनके मनका मोह जाता रहा और उन्होंने अपने हृदय में ही आत्म स्वरूप से श्रीकृष्णका साक्षात्कार कर लिया और शान्त भाव मे स्थित हो गये। महाभारत अनुशासन पर्व में इन्हें प्रातः स्मरणीय राजर्पियों के रूप में स्मरण किया गया है।

श्रीगाधिजी—श्रीब्रह्माजीके पुत्र थे राजर्पि कुश, कुशके पुत्र कुशनाभ हुये। राजाकुशनाभ के कोई पुत्र नहीं था, अतः श्रेष्ठ पुत्र की प्राप्ति के लिये इन्होने पुत्रेष्टि यज्ञ का अनुष्ठान किया। उस यज्ञ के अनुष्ठानकाल में परम उदार ब्रह्मकुमार महाराज कुशने इनकी देवता-पितरों के प्रति अगाध श्रद्धा देखकर ब्रह्मलोकसे आकर आश्वासन दिया—वेटा कुशनाभ! तुम्हे अपने समान ही परम धर्मात्मा 'गाधि' नामक पुत्र प्राप्त होगा और उसके द्वारा तुम्हे ससार में अक्षय कीर्ति उपलब्ध होगी। पृथ्वीपति कुशनाभ से ऐसा कह कर राजर्पि कुश आकाश मे प्रविष्ट हो सनातन ब्रह्मलोक को चले गये। कुछ काल के पश्चात् बुद्धिमान राजा कुशनाभ के यहा परम धर्मज्ञ 'गाधि' नामक पुत्र हुआ।(वा० रा०, ये कान्यकुब्ज देश के राजा थे। महाराज गाधि दीर्घकाल तक पुत्र हीन रह गये। तव सन्तानकी इच्छा से पुण्यकर्म करने के लिये ये वन में रहने लगे। वहा रहते समय सोमयाग करने से राजा के एक कन्या हुई। जिसका नाम सत्यवती था। भूतल पर कही भी उसके रूप और सौन्दर्य की तुलना नही थी। परमतप मे संलग्न महर्पि ऋचीक ने राजा गाधि से उस कन्या को मांगा। ऋपि की सामर्थ्य से सुपरिचित राजा गाधि ने यज्ञार्थ शुल्क रूप मे एकसहस्त्र ऐसे घोड़े मांगे जो चन्द्रमा के समान कान्तिमान और वायु के समान वेगवान हों तथा जिनका एक-एक कान श्याम रंग का हो। महर्पि ऋचीक ने वरुण देवता से एक सहस्र अश्व लेकर राजा गाधि को दे दिये। तव राजा गाधिने अपनी कन्याको वस्त्राभूपणो से विभूपित कर भृगुनन्दन ऋचीक को दे दिया। इन्ही महर्पि ऋचीक की कृपा से राजा गाधि के श्रीविश्वामित्रजी सरीखे पुत्र रत्न हुये। (देखिए परशुरामावतार की कथा)

राजा गाधि महान् योगी और बड़े भारी तपस्वी थे। प्रजा का पुत्रवत पालन करते थे। प्रजा उन्हे साक्षात् भगवत् रूप समझती थी। इन्होने अपने राज्यकाल में विविध यज्ञों द्वारा यज्ञ पुरुप भगवान की आराधना की थी। इनका सम्पूर्ण जीवन साधनामय था। जव इन्होंने अपने पुत्र विश्वामित्रको राज्य पर अभिपिक्त करके शरीरको त्याग देनेका विचार किया, तव सारी प्रजा इनसे नत-मस्तक होकर वोली-प्रभो! आप कहीं न जायें, यहीं रहकर हमारी इस जगत्के महान भय से रक्षा करते रहें। राजा गाधि ने श्रीविश्वामित्र के सद्गुणोंकी प्रशंसा करके प्रजाको आश्वस्त किया और मङ्गल-मुहूर्तमें विश्वामित्रजी को राज सिंहासन पर वैठाकर स्वयं प्राणायाम के द्वारा प्राणो का उत्क्रमण कर भगवद्धाम को चले गये।

श्रीरघुजी महाराज—जबकि स्वयं भगवान श्रीरामजी भी अपने को रघुवंशी कहने में गौरव का अनुभव करते हैं तो भला उन श्रीरघुजी महाराजकी महा-महिमा का वर्णन कर ही कौन सकता है ? तथापि यथामति आप के कतिपय पुनीत संस्मरण यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

इक्ष्वाकु-कुल-भूषण चक्रवर्ती महाराज दिलीप की साधनाके सुफल श्रीरघुजी परम-भागवत, परम धर्मात्मा, परम ब्रह्मण्य, परम प्रजा-वत्सल तथा परम प्रतापी राजा हुए। देवता भी आपकी सहायता चाहते थे। एकबार चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीरघुजी किसी राज्यकार्यवशात् कहीं बाहर गयेहुए थे, उसी समय एक वृद्ध ब्राह्मण कुछ याचना करने के लिए राज-द्वार पर आया। दासी ने अन्तः महल में सूचना दी। रानियों ने तुरन्त ही उस ब्राह्मण को भीतर महल में बुलाकर सिंहासन पर विराजमान कराकर विधिपूर्वक पूजन किया और सुन्दर सुस्वादु मधुरान्न भोजन कराया। महारानियों के अद्भुत लोकोत्तर लावण्य को देखकर ब्राह्मण मुग्ध हो गया और रानियों से पूछा—देवियो ! महाराज ने ऐसा कौन-सा सुकृत किया है जो आप सरीखी अनूपम रमणी-रत्नों को प्राप्त किया है ? रानियों ने कहा—द्विजवर्य ! महाराज ने पूर्व जन्मों मे श्रीशिवजी का समाराधन किया है, अपना शिर तक काटकर शिवजीको चढ़ाया है, उसी के फलस्वरूप इस जन्म में यह अपार ऐश्वर्य एवं सुन्दरी स्त्रियां मिली हैं। ब्राह्मण ने कहा—तो अब मैं भी काशीपुरी में जाकर श्रीशिवजी को शीश चढाऊँगा जिससे कि मनोवाञ्छित वैभव एवं तुम्हारे समान शील-स्वरूप-सम्पन्ना नारी को प्राप्त कर सुखपूर्वक जीवन विताऊँगा। ऐसा कहकर ब्राह्मण ने काशीपुरी की राह ली।

सयोग से मार्ग में मिल गये महाराज रघु। दण्डवत् प्रणामोपरान्त जब ब्राह्मण देवता ने अपना अभीष्ट राजा को सुनाया तो राजा रघु ने कहा—महाराज इस साधारण कार्य के लिए आप इतना साधन श्रम क्यों करने जा रहे हैं। मैं आपको अपनी समस्त रानियां सौंपता हूँ। आप लौट चलें। ब्राह्मण ने कहा—राजन्! मैं गरीब ब्राह्मण, भला कैसे इतना बडा खर्च सँभाल सकूँगा। तब महाराजरघुने ब्राह्मण को अपना समस्त राजकोश भी सौंपकर स्वयं वन में जाकर एक वृक्ष के नीचे निवास करने लगे। उस वृक्ष पर दो मित्र पक्षी निवास करते थे। एक दिन वे दोनो पक्षी इन्द्र सभासे एक दिव्य फल ले आये और उसे स्वयं न खाकर महाराज रघुको यह कहकर दे दिया कि राजन्! इस फल को खाने से शरीर दिव्य एव तरुण हो जाता है। राजा ने विचार किया कि यह फल तो उस ब्राह्मण के योग्य है। यद्यपि उनको सर्वसुख-साधन प्राप्त हैं, परन्तु शरीर से वृद्ध होने से वे उनका यथेष्ट उपभोग करने में असमर्थ हैं। ऐसा विचार कर राजा रघु उस फल को लेकर नगर में आये और उन्होने ब्राह्मण को फल देकर उसका महत्व भी सुनाया। महाराज रघु तो चले गये। ब्राह्मण ने मन में विचार किया—'निश्चय ही यह राजा का छल है, वह अपनी रानियो एवं राज्यको पुनः लेनेके लिए यह विष फल देगये हैं'। फिर तो उसने उस फल को फेंक दिया। एक निर्धन रोगी क्षुधा से पीड़ित हो भोजन की खोज में था। उसे वह सुन्दर फल दिखाई पडा तो उसने ललककर वह फल उठा लिया और विना किसी विचार के खा गया। फल खाते ही उसका शरीर तरुण तथा दिव्य हो गया।

जब ब्राह्मण को यह वृत्तान्त मालूम हुआ कि फल खाने से अमुक रोगी का असाध्य रोग दूर हो गया तो ब्राह्मण बहुत पछताया। फिर श्रीरघुजी महाराज का पता लगाते-लगाते वन में पहुँचा और पुनः एक फल की याचना की। राजा ने स्थिति स्पष्ट की कि वह फल तो मुझे पक्षियो से मिला था, अब और मेरे पास नही है। ब्राह्मण हठ कर गया कि आप यदि मेरा मनोरथपूर्ण नही करते हैं तो मैं आत्महत्याकर

लूंगा। तब महाराज रघु उसे धैर्य देकर पुन: उस वृक्ष के नीचे जा बैठे। जब रात्रिमें वे मित्र पक्षी आकर उस वृक्ष पर बसेरा लिए तो राजा ने उनसे फल की याचना की। पक्षियों ने कहा—वह फल तो हमें इन्द्र के दरबार में मिला था। तब महाराज रघु देवराज इन्द्र के यहां जाकर फल मांगे। इन्द्र ने कहा—वह फल तो हमको ब्रह्माजी के यहां मिला था। राजा ब्रह्मसभा मे उपस्थित हुए और फल के सम्बन्ध मे बात चली तो ब्रह्मा ने कहा—हमे तो भगवान विष्णु के द्वारा प्राप्त हुआ था। राजा रघु श्रीविष्णु के पास पहुँचे। भगवान विष्णु ने राजा का बड़ा सत्कार किया और राजा ने फल की याचना की तो भगवान ने मुस्करा कर कहा—राजन् वह तो आपके ही पुण्य बागका फल है। नरेश्वर! आपके अनन्त सुकृतों के फल स्वरूप वैकुण्ठ में ऐसे फलोंका बहुत बड़ा बाग है, जिसके भोक्ता आप हैं। अब आप सुखपूर्वक यहां निवास करते हुए उन फलों का भोग कीजिये। श्रीरघुजी ने कहा—प्रभो! हम तो ब्राह्मण के लिए चाहते है। हमें इन फलों से कोई प्रयोजन नहीं है। यदि आपका मुझ पर अनुराग है तो उस ब्राह्मण को ही बुलाकर यह सम्पूर्ण बाग प्रदान कर दीजिए। श्रीरघुजी महाराजके इस परमौदार्य पर भगवान बड़े ही प्रसन्न हुये और बोले—उदार शिरोमणे! आप हमारी आज्ञा मान कर जाकर अपना राज्य सँभालें, ब्राह्मण अब हमारे लोकमें आकर निवास करेगा। भगवानकी आज्ञा शिरोधार्यकर महाराज रघु ने पुन: राज्य-कार्य सँभाला। ब्राह्मण भगवद्धाम को चला गया। (रामरसिकावली)

एकबार रघुजीमहाराजने विश्वजित् नामक महायज्ञ किया। उसमें इन्होंने अपनासर्वस्व ब्राह्मणों को दान कर दिया। उन्ही दिनों महर्षि वर्तन्तु के परम अकिञ्चन, प्रियशिष्य कौत्सने अपने समावर्तन संस्कार के समय श्रीगुरुदेवजी से गुरुदक्षिणा मांगने का आग्रह किया। दयालु गुरु ने वात्सल्य पूरित स्वर से कहा—वत्स! तुम्हारी सेवा ही मेरी दक्षिणा है। परन्तु कौत्स को इतने से सन्तोष कहाँ? उसने पुन: आग्रह किया, बार बार आग्रह किया। तब श्रीवर्तन्तुजी ने कहा—तुमने मुझसे चौदह विद्यायें पढ़ी है, अत: चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ दक्षिणा में दो। यद्यपि कौत्स के पास सग्रह के नाम पर केवल एक कौपीन मात्र शरीर पर था, परन्तु चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राका नाम सुनकर निराश नही हुए। कौत्स निश्चिन्त थे कि जबतक पृथ्वी पर महादानी महाराजरघु वर्तमान हैं, तब तक ब्राह्मण-साधुको सोच किस बात का? श्रीकौत्स सीधे अयोध्या आये। उन्होंने दूर से ही देखा—महाराज रघु एक वृक्ष के नीचे विराजमान हैं, आस-पास कुछ केवल मृत्तिका के पात्र हैं। स्थिति समझते देर नहीं लगी। वे इनसे बिना मिले ही लौटने लगे। कौत्स अब भी प्रसन्न थे। मुखमण्डल पर ब्रह्मतेज स्फुटित हो रहा था। श्रीरघुजी ने भी देखा-एक ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मणकुमार मेरे ही पास आ रहा था। परन्तु मुझे एसी हालत मे देखकर लौटा जा रहा है। श्रीरघुजी ने आगे बढ़कर ब्राह्मण ब्रह्मचारी का स्वागत किया और निवास स्थान पर लाकर मृत्तिका के पात्रों द्वारा ही अर्घ्य पाद्यादि प्रदानकर कौत्सजी की पूजा की तथा प्रार्थना किया कि विशेष सेवा के लिये आज्ञा प्रदान कीजिये।

श्रीकौत्सजीने अपने आनेका हेतु निर्देश किया और कहा—राजन्! आपका कल्याण हो। आपने सर्वस्वदान कर दिया है अत: अब आपसे कुछ भी याचना करना ठीक नही है। श्रीरघुजीने हाथ जोड़कर कहा—भगवन्! आप कृपाकर एकदिन अतिथिशाला में ठहरिये, निश्चय ही धनकी व्यवस्था हो जायेगी। इस प्रकार श्रीकौत्सजी को आदरपूर्वक ठहराकर, मन्त्रियों से मन्त्रणाकर श्रीरघुजी ने निश्चय किया कि कुबेर के ऊपर चढ़ाई करके उनसे धन लाया जाय। 'सुरपति बसहि बांह बल जाके।' फिर कुबेर की तो बात ही क्या? महाराज रघु के इस निश्चय को जानकर कुबेर ने आक्रमणके पूर्व ही अयोध्या में स्वर्ण की वृष्टि करदी। महाराज रघुने वह समस्त धन श्रीकौत्सजी को अर्पण कर दिया, परन्तु आदर्श ब्रह्मचर्म

व्रती ब्राह्मण कुमार कौत्स ने केवल गुरु दक्षिणार्थ चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्रायें स्वीकार कीं। शेष धन श्री-रघुजीने अन्य ब्राह्मणोंका नादर दान कर दिया। श्रीरघुजीकी पवित्र निष्ठा देखकर श्रीकौत्सजी बोले—हे राजन्! दिव्य गुण सम्पन्न एवं वंश की कीर्ति बढ़ाने वाला पुत्र तुम्हें प्राप्त हो। यहां पर अनन्त पापों को हरने वाला एवं अभीष्ट प्रदान करने वाला परमदिव्य स्वर्ण खनि तीर्थ हो। इस प्रकार आशीर्वाद देकर श्रीकौत्सजी चले गये। महाराज श्रीरघुजी के संस्मरण के रूप में स्वर्णखनि कुण्ड आज भी अयोध्या में वर्तमान है। (श्रीअयोध्या माहात्म्य रु० या०)

विजय दोहावली मे लिखा है कि—श्रीरघुजी महाराज-ने यज्ञ में सबको अभिमत दान दिया। इनके अद्भुत दान को प्रशंसा सुन कर धनराज कुवेर भी इनकी यज्ञशाला में याचक बन कर आये। धना-ध्यक्ष की दृष्टि बहुत दिनो से महाराज रघुके परम दिव्य पुष्पक विमान पर गड़ी थी। आज सुअवसर देखकर कुवेर ने पुष्पकविमान की ही याचना की। परमोदार राजाने सहर्ष उन्हें दान कर दिया। काला-न्तरमे जब राक्षसेन्द्र रावणका आतंक बढ़ा तो उसने कुवेरसे पुष्पक विमान छीन लिया। तब श्रीकुवेरजीने रघुजी से आकर अर्ज किया कि आपका दिया हुआ दान बलात् दुष्ट दशानन छीन ले गया,आप कृपाकर मुझे उससे विमान दिलानेका प्रयत्न करे। श्रीरघुजी ने क्रोध मे आकर रावणके वध का संकल्प कर एक साथ दस बाणों का सन्धान किया। तब श्रीब्रह्माजी ने आकर कहा—राजेन्द्र! रावण की मृत्यु का विधान तो मैंने श्रीरामके हाथो कर रखा है। यदि आप ही वध कर डालेंगे तो मेरा विधान मिथ्या हो जायेगा। श्रीरघुजी ने कहा—परन्तु मैंने भी तो इन दस बाणो से इस दुष्ट को मार डालने का संकल्प कर लिया है। अतः यदि नही मारता हूँ तो मेरा संकल्प झूठा होता है। तब ब्रह्माजी ने उभय पक्ष की रक्षा करते हुये यह कहा कि आप इन बाणोंको सुरक्षित रक्खें, समय पर श्रीरामजी इन्ही बाणो से उसका बध करेंगे। श्रीरघुजी ने ऐसा ही किया। चूंकि श्रीरघुजी ने कुवेर को पुष्पक विमान दिलाने के लिये इन बाणो का सन्धान किया था अतः श्रीरामजी ने भी रावण का संहारकर पुष्पक विमान को श्रीकुवेरजी के ही पास भेज दिया। यथा—**उतरि कहेउ प्रभु पुष्पकहिं, तुम कुवेर पहिं जाहु। प्रेरित राम चलेउ सो, हरष विरह अति ताहु॥** (रामा०)

श्रीरघुजीकी महा-महिमा को श्रवण कर एक बार लंकेश रावण ब्राह्मणका रूप रखकर श्री-अयोध्या आया। संयोग से श्रीरघुजी उस समय श्री सरयू स्नान करने के लिए गए थे। रावण रनिवास में पहुँचा। रानियो ने ब्राह्मण समझ कर प्रणाम किया और अत्यन्त आदर वश श्रीरघुजी महाराजके सिंहा-सन पर उसे बैठाया। परन्तु सूर्यवंशी राजाओ के उस परम धर्ममय सिंहासन पर बैठते ही रावण का छल छूट गया। उसका कृत्रिम ब्राह्मण स्वरूप तिरोहित हो गया, दश शिर बीस भुजाएं प्रगट हो गईं। उसके भयानक रूपको देखकर रानिया भागकर महलमें जा छिपी। रावण भी लज्जित होकर सिंहासन से उतर-कर पुनः ब्राह्मण रूप धरकर महल से बाहर निकला और श्रीरघुजी का पता पूछते-पूछते सरजू तट पर गया। उस समय राजा स्नान करके सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे। रावणने देखा राजा रघु सन्ध्या-वन्दन के बीचमें ही आचमन करके बडी त्वरा पूर्वक क्रोध मे भर कर दक्षिण दिशा में कुछ मन्त्र पढकर जल और कुशा फेंके। इसका रहस्य रावण की समझ में नही आया। सन्ध्योपरान्त रावण ने बहुत विनय पूर्वक इस बात की जिज्ञासा की तो श्रीरघुजी ने कहा कि वन में एक गाय के ऊपर सिंह आक्रमण करने ही वाला था कि गाय ने उसे देख कर अपनी रक्षा के लिये मेरी दुहाई दी इसलिए मैंने यह अभिमन्त्रित कुश फेंका था, अब गाय बच गई, वह सुख पूर्वक चर रही है, सिंह मारा गया। रावण को विश्वास नही हुआ।

उसने घटना स्थल पर जाकर देखा तो बात सत्य निकली। रावण डरके मारे फिर अयोध्या को नहीं लौटा। लंका जाकर उसने मन्दोदरी को यहां का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। मन्दोदरी श्रीरघुजी महाराज के महाप्रताप से परिचित थी। उसने कहा—

चौ० अहह कंत सब लंक नसानी। रघु महिमा तुम रंच न जानी॥
जासु सुजस त्रैलोकहिं छायो। तिन्ह के गृह छल-छन्द रचायो॥
करहु उपाय बचै जिमि लंका। नृपसर ते को रहइ निसंका॥
सुनि रावन मन गयउ डेराई। करहु प्रिया कोउ वेगि उपाई॥

इधर सन्ध्या-वन्दन करके महाराज रघु जब महल में पधारे तो महारानियों ने रावणकी कपट-कहानी कही। रावण का यह दुस्साहस सुन कर श्रीरघुजीने क्रोधाभिभूत हो तत्काल पवित्र सरयू जलसे अभिमन्त्रित कर, लंका विध्वंस का संकल्प कर सात वाण एक साथ चलाये। लंका में प्रलयका दृश्य उपस्थित हो गया। "यत्र-तत्र-सर्वत्र 'त्राहि माम्' 'पाहि माम्' का कुहराम मच गया। राक्षसेन्द्र रावण किंकर्तव्यविमूढ हो गया। मन्दोदरी ने सामयिक सयानपन दिखाया। उसने रक्षा का कोई उपाय न देख-कर तुरन्त ही—'तृण दवाय द्विज दुहुं कर जोरी। विहवल बोली वचन निहोरी॥ हौं रघुराज सरनयुत ईशा। ववौं मोहि आगे यह सीसा॥ वाण बड़े असमञ्जस में पड़ गये। इधर तो लंका विध्वंस की आज्ञा, उधर शरणागतवत्सल राजा रघु की दोहाई॥ शरणागत परित्राण धर्म को प्रधान समझकर वाण श्रीरघुजी के पास लौट आये। श्रीरघुजी ने दया करके रावण के अपराध को क्षमा कर दिया। यथा—तब बोले रघुराज कृपाला। धर्म शरण रक्षण हम पाला॥ याते चूक छमा सब कीनी। अबला जानि अभय तिहि दीनी॥ (राम रसायन) ऐसे महाप्रतापी राजा श्रीरघुजी भये। इन्ही श्रीरघुजी महाराजके पुत्र हुये श्रीअज जी, श्रीअज-पुत्र हुये श्रीदशरथजी, जिनके यहां स्वयं भगवान श्रीराम चतुर्व्यूह रूप से प्रगट हुये।

श्री रय जी—श्रीऐल (पुरूरवा)—उर्वशी प्रसङ्ग पूर्व वर्णन किया जा चुका है। श्रीरयजी महाराज का प्रादुर्भाव पिता ऐल माता उर्वशी से हुआ था। यथा—

ऐलस्य चोर्वशी गर्भात् षडासन्नात्मजानृप। आयुः श्रुतायुः सत्यायू रयोऽथ विजयो जयः॥(भा०)

अर्थ—परीक्षित्! उर्वशी के गर्भ से पुरूरवा के छः पुत्र हुये—आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय और जय। श्रीनाभाजी महाराज अन्योंका स्मरण न कर रयजी का स्मरण करते है। इससे सिद्ध होता है कि पुरूरवा के छओ पुत्रों मे श्रीरयजी परम भागवत हुये और भगवान के श्रीचरणकमलों में मन लगा-कर माया से पार हो गये॥

श्री गय जी—राजर्षिवर्य्य श्रीभरतजीके वंशमें महाराज नक्त की धर्मपत्नी दुतिके गर्भ से उदार कीर्ति राजर्षिप्रवर गयका जन्म हुआ था। ये जगत की रक्षा के लिये सत्वगुण को स्वीकार करने वाले साक्षात् भगवान विष्णु के अंश माने जाते थे। संयमादि अनेकों गुणो के कारण इनकी महापुरुषों में गणना की जाती है। महाराज गयने प्रजा पालन, पोषण, रञ्जन, लाड़-चाव और शासनादि करके तथा तरह तरह के यज्ञों का अनुष्ठान करके निष्काम भाव से केवल भगवत्प्रीति के लिये अपने धर्मो का आच-रण किया। इससे उनके सभी कर्म सर्व श्रेष्ठ परम परमात्मा श्रीहरि के अर्पित होकर परमार्थ रूप बन

गये थे। इससे तथा ब्रह्मवेत्ता महापुरुषों के चरणों की सेवा से उन्हे भक्तियोग की प्राप्ति हुई। तब निरन्तर भगवच्चिन्तन करके उन्होंने अपना चित्त शुद्ध किया और देहादि अनात्मवस्तुओंसे अहं भाव हटा-कर वे अपने आत्मा को ब्रह्मरूप अनुभव करने लगे। यह सब होने पर भी वे निरभिमान होकर पृथ्वीका पालन करते रहे।

प्राचीन इतिहास को जानने वाले महात्माओं ने राजर्षि गय के विषय में यह गाथा कही है—'अहो! अपने कर्मो से महाराज गय की बराबरी और कौन राजा कर सकता है? वे साक्षात् भगवान की कला ही थे। उन्हे छोड़कर और कौन इस प्रकार यज्ञों का विधिवत् अनुष्ठान करने वाला, मनस्वी, बहुज्ञ, धर्मकी रक्षा करने वाला, लक्ष्मी का प्रिय पात्र, साधु-समाजका शिरोमणि और सत्पुरुषो का सच्चा सेवक होसकता है। यथा—'गयं नृप. कः प्रतियाति कर्मभिर्यज्वाभिमानी बहुविद्धर्म गोप्ता। समागत श्रीः सदसस्पतिः सतां सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते॥(भा०)सत्सङ्कल्प वाली, परम साध्वी श्रद्धा,मैत्री और दया आदि दक्ष कन्याओने गङ्गा आदि नदियोके सहित बड़ी प्रसन्नता से उनका अभिषेक किया था तथा उनकी इच्छा न होने पर भी वसुन्धरा ने, जिस प्रकार गौ बछड़े के स्नेह से पिन्हाकर दूध देती है, उसी प्रकार उनके गुणों पर रीझकर प्रजा को धन-रत्नादि सभी अभीष्ट पदार्थ दिए थे। उन्हे कोई कामना न थी, तब भी वेदोक्त कर्मों ने उनको सब प्रकार के भोग दिए। राजाओं ने युद्धस्थल में उनके बाणों से सत्कृत होकर नाना प्रकार की भेंटें दी तथा ब्राह्मणों ने दक्षिणादि धर्म से सन्तुष्ट होकर, उन्हें परलोक मे मिलने वाले अपने धर्म फल का छठां अंश दिया। उनके यज्ञ में बहुत अधिक सोमपान करने से इन्द्र उन्मत्त हो गये थे तथा उनके अत्यन्त श्रद्धा तथा विशुद्ध और निश्चल भक्ति-भाव से समर्पित किये हुए यज्ञ फल को भगवान् यज्ञ पुरुष ने साक्षात् प्रकट होकर ग्रहण किया था। जिनके तृप्त होने से ब्रह्माजी से लेकर देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष एव तृण पर्यन्त सभी जीव तत्काल तृप्त होजाते हैं—वे विश्वात्मा श्रीहरि नित्य तृप्त होकर भी राजर्षि गय के यज्ञ मे तृप्त हो गये थे। ऐसे महाभागवत थे राजर्षि गय॥

वायुपुराणान्तर्गत गया-माहात्म्य में एक गय नामक असुर की कथा आती है, जिसके शरीर पर गया-तीर्थ बसा हुआ है। कथा इस प्रकार है—यह असुर महा पराक्रमी था। सवा सौ योजन ऊँचा था और उसकी मोटाई साठ योजन थी। उसने घोर तपस्या की, जिससे त्रिदेवादि सब देवताओं ने उसके पास आकर वर मागने को कहा। उसने यह वर मांगा कि 'देव, द्विज, तीर्थ यज्ञ आदि सबसे अधिक मैं पवित्र हो जाऊँ। जो कोई मेरा दर्शन वा स्पर्श करे वह तुरन्त पवित्र हो जाय।' एवमस्तु कहकर सब देवता चले गये। सवा सौ योजन ऊँचा होने से उसका दर्शन बहुत दूर तक के प्राणियो को होने से वे अनायास पवित्र हो गये जिसमे यमलोक में हाहाकार मच गया। तब भगवान ने ब्रह्मा से कहाकि तुम यज्ञ के लिये उसका शरीर मागो। जब वह लेट जायेगा तब दूर से लोगो को दर्शन न हो सकेगा। जो उसके निकट जायेंगे वे ही दर्शन स्पर्शसे पवित्र होगे। ब्रह्माजी ने आकर उससे कहा कि ससार में हमें कहीं पवित्र भूमि नही मिली, जहां यज्ञ करे, यदि तुम लेट जाओ तो हम तुम्हारे शरीर पर यज्ञ करें। उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया। यज्ञोपरान्त अवभृथ स्नान के पश्चात् वह कुछ हिला तब ब्रह्मा, विष्णु, आदि सभी देवता उसके शरीर पर बैठ गये और उससे वर मांगने को कहे। उसने यह वर मांगा कि जब तक ससार स्थित रहे। तब तक आप समस्त देवगण यहां निवास करे। यदि कोई भी देवता आप लोगों में से चला जायगा तो मैं निश्चल नही रहूंगा, उठ कर खड़ा हो जाऊँगा तथा यह क्षेत्र मेरे नाम से अर्थात् गया नाम से प्रसिद्ध हो तथा यहां पिण्डदान देने से लोगों का पितरों सहित उद्धार हो जाये। देवताओं ने उसे यह वर दे दिया।

श्रीशतधन्वाजी—यादव श्रेष्ठ सत्राजितने अपनी कन्या सत्यभामा और स्यमन्तक मणि दोनों ही भगवानको अर्पण करदी। श्रीकृष्णने मणिको सत्राजितके पास ही रहने दिया। क्योंकि सत्राजित को मणि भगवान सूर्य ने प्रसन्न होकर दिया था और उसमें उसका ममत्व भी था, अतः भगवान ने उसे स्वयं अपने पास रखना उचित नहीं समझा। कृतवर्मा आदि यादव सत्राजित से असन्तुष्ट थे कि इन्होंने हमारे मांगने पर भी अपनी कन्या को हमें न देकर श्रीकृष्ण से व्याह दिया। वे इसका वदला लेना चाहते थे। अतः इन लोगों ने सत्राजित के भाई शतधन्वा को भड़काया। शतधन्वा सरल हृदय थे। भाई के प्रति प्रेम था, श्रीकृष्ण में उनकी श्रद्धा थी श्रीनाभाजी ने इन्हें शुचि शतधन्वा कहा है। परन्तु कहावत है—'को न कुसंगति पाइ नसाई।' कृतवर्मा ने कहा—देखो सत्राजित की कपट चातुरी, वह मणि को तुम्हें न देकर श्रीकृष्ण को दे दिया। तुम तो उससे स्नेह करते हो परन्तु वह तुमसे कपट करता है। तुम्हारी समृद्धि उसको नहीं सुहाई तव तो मणि को तुम्हें नही दिया। अतः तुम सत्राजित को मारकर मणि क्यों नहीं ले लेते। हम लोग तुम्हारी सहायता करेंगे। शतधन्वा इनके बहकावेमें आगया और लोभवश एक दिन सोये हुए सत्राजित को मार डाला और मणि लेकर वहां से चम्पत हो गया।

संयोग की वात, उस समय श्रीकृष्ण वलराम द्वारकापुरीमें न थे। वे पाण्डवोंके वारणावत नगर में लाक्षागृह में जल मरने का दुःखद समाचार सुनकर उस समय का कुल परम्परोचित व्यवहार करने के लिए हस्तिनापुर गये थे। महारानी सत्यभामाजी को पिता-मरण का वड़ा शोक हुआ। ये रोती-विलखती हुई हस्तिनापुर गईं और वडे दुःखसे भगवान श्रीकृष्णको उन्होंने अपने पिताकी हत्याका वृत्तान्त सुनाया। सर्व शक्तिमान भगवान श्रीकृष्ण और वलरामजी ने सव सुनकर मनुष्यो की सी लीला करते हुए अपनी आंखों में आंसू भर लिए और विलाप करने लगे। इसके वाद द्वारका आकर शतधन्वा को मारने तथा उससे मणि छीनने का उद्योग करने लगे।

जव शतधन्वाको यह सव मालूम हुआ तोवह वहुत डरा और अपने प्राण वचानेके लिए उसने कृतवर्मासे सहायता मांगी। परन्तु कृतवर्माने उसे एकदम टकासा जवाव देदिया कि हम सर्वसमर्थ श्रीकृष्णसे वैरकर तुम्हें वचानेमें समर्थ नही हैं। तव शतधन्वने अक्रूरजीसे सहायताके लिये प्रार्थना किया, परन्तु यहां भी वही उत्तर मिला। तव शतधन्वाने स्यमन्तकमणि उन्हींके पास रखदी और आप चारसौकोस लगातार चलनेवाले घोडे पर सवार होकर वहांसे वड़ी फुर्तीसे भागा। श्रीकृष्ण वलराम रथपर आरूढहोकर उसका पीछा किये। मिथिलापुरी के निकट एक उपवन में शतधन्वा का घोड़ा गिर पड़ा, अव वह उसे छोड़कर पैदल ही भागा। भगवान भी पैदल ही उसके पीछे दौड़े और थोड़ी ही दूर जाने पर उसे पकड़ कर अपने तीक्ष्ण धारवाले चक्र से उसका सिर उतार लिया। परन्तु स्यमन्तक मणि उसके पास नही मिली। शतधन्वा की आत्म-ज्योति प्रभु में लीन हो गई॥

श्रीअमूर्त्तरयजी—ये ब्रह्माजी के पुत्र महातपस्वी राजर्षि कुश के पुत्र थे। इन्होने गया तीर्थ के पास धर्मारण्य नामक नगर वसाया था। धर्मारण्य में पितृ पूजन की महत्ता वतायी गई है॥ (वा०रा०)

श्रीरन्तिदेव जी

अहो रन्तिदेव नृप सन्त दुसकन्त वंश अतिही प्रशंस सो अकाश वृत्ति लई है।
भूखे को न देखि सकें आवैं सो उठाइ देत नेति नहि करैं भूखे देह छीन भई हैं॥

चालिस औ आठ दिन पीछे जल अन्न आयो दियो विप्र शूद्र नीच श्वान यह नई है।
हरि को निहारैं उन मांझ तब आए प्रभु भाए जगदुःख जिते भोगौं भक्ति छई है ॥६४॥

शब्दार्थ—अहो=आनन्दमय आश्चर्य। दुसकन्त=दुष्यन्त, चन्द्रवंशी राजा। आकाशवृत्ति=वह जीविका जिसमे कर्म तथा चेष्टा शून्य रहकर ईश्वरेच्छासे प्राप्त भोजन करके रहा जाय। छीन=दुर्बल, क्षीण।

भावार्थ—वाह ! धन्य है, जिनकी कथा सुनकर आश्चर्य हो, ऐसे राजा रन्तिदेव परमप्रशंसनीय भगवद्भक्त हुए, उनका जन्म राजा दुष्यन्तके वंशमे हुआ था। बहुत दिनों तक राज्य कर चुकने पर आप अपनी रानी और पुत्रके समेत वनमे चले गए। वहाँ जाकर आपने आकाशवृत्ति स्वीकार की। आप इतने बड़े दयालु थे कि भूखे को देख नही सकते थे। उसे तृप्त करने के लिए जो कुछ भी होता उसे उठाकर दे देते थे, किसी को मना नही करते थे। इसलिए निरन्तर भूखे रहने पर शरीर दुर्बल हो गया। परन्तु सन्तुष्ट मनसे भगवत्स्मरण सर्वदा करते रहते।

एक बार ऐसा हुआ कि अड़तालीस दिन विना भोजन-जलपानके ही वीत गए। उसके वाद सुन्दर प्रसाद रूप अन्न-जल प्राप्त हुआ। वे तीनों भोजन करने जा ही रहे थे कि इतनेमें एक ब्राह्मण अतिथि आ गए, उन्हे रन्तिदेवने सादर भोजन कराया फिर एक भूखा शूद्र आ गया, उसे भी आपने सादर भोजन कराया। इसके वाद एक नीच कुत्तो को साथ लिए हुए आया और क्षुधावश अपनी दीनता दिखाने लगा। दयावश शेष बचे हुए अन्न से नीच तथा कुत्तों को सन्तुष्ट कर दिया। अव केवल थोड़ा सा जल ही शेष रहा था उसे वे पीना चाहते थे कि एक वनवासी पुल्कसने आकर कहा—राजन् ! तुम बड़े परोपकारी हो, मैं कई दिन का प्यासा हूँ। रन्तिदेवजीने जलभी उसे पिला दिया, वे उन ब्राह्मण, शूद्र, चाण्डाल और कुत्तोमे भगवान्के ही दर्शन कर रहे थे। जव राजाने विना किसी कष्टके सव का आतिथ्य किया तव स्वयं भगवान् प्रकट हो गए। वस्तुतः इन रूपों से आकर भगवान्ही भक्तनिष्ठाको देख रहे थे। भगवान्ने वर देनेका प्रलोभन दिया तव आपने इसलोक तथा ब्रह्मलोकतकके सुखोंको तुच्छमानकर यही वर मांगाकि-संसारी प्राणियोके पापोका फलरूप दुःख मैं भोगूँ और वे सभी सुखी हो जाँय। ऐसी विलक्षण भक्ति राजा रन्तिदेवजीके हृदयमे छा गई ॥६४॥

व्याख्या—दुष्यन्त वंश—चन्द्र वंशावतंश राजर्षिपुरुकी वंश परम्परा में महाराज दुष्यन्त पुरुवशकी कीर्तिका विस्तार करने वाले, महान पराक्रमी तथा चारो समुद्रों से घिरी हुई समूची पृथ्वी के पालक, सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट थे। ये वल में भगवान विष्णु एवं तेजमें भगवान सूर्यके समान थे। यथा—वले विष्णुसमश्चासीत् तेजसा भास्करोपमः॥ (म० भा०) ये समुद्र के समान अक्षोभ्य एवं पृथ्वी के समान महान सहन शील थे। इनके राज्यमे समस्त प्रजा अपने-अपने धर्मके पालनमें रत रहती थी। लोग देवाराधन आदि कर्मोको निष्काम भाव से करते थे। परम धर्मात्मा राजा दुष्यन्त का आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्रजा निर्भय हो गई थी। इन्ही के पुत्र भरत थे जिनके नाम से इस वर्ष खण्ड का नाम भारत वर्ष पडा है। विशेष देखिये उत्तरार्ध छप्पय ११६—'विदित गान्धर्वो व्याह कियौ दुष्कन्त प्रमानैं ॥' इन्हीके वश मे परमोदार राजा रन्तिदेव भये। इनका निर्मल यश इस लोकमे एवं परलोक में सब जगह गाया जाता है। ये महाराज संकृति के पुत्र थे।

अति ही...... लई—वृत्तियाँ कई प्रकारकी होती हैं। यथा—मधुकर वृत्ति, सिंह वृत्ति, श्वान वृत्ति, सर्पवृत्ति, अजगर वृत्ति, वेश्या वृत्ति, आकाश वृत्ति इत्यादि। इन सबमे आकाश वृत्ति अत्यन्त श्रेष्ठ है। क्योंकि अन्यवृत्तियोंकी अपेक्षा इस वृत्ति में पूर्ण भगवदाश्रय है अतः अति ही प्रशंस कहा। ये अपने राज्य-काल में भी बिना उद्योग के ही दैववश प्राप्त वस्तु का ही उपभोग करते। परिणाम स्वरूप, राज्य—कोश मे वृद्धि तो होनी नही थी, खर्च नित्य प्रति का था, अतः वह दिनों दिन घटता जारहा था। इसी बीच अचानक देश मे अनावृष्टि के कारण बड़ाभारी दुर्भिक्ष पड़ गया। पर-दुःखकातर राजा रन्तिदेव ने सम्पूर्ण राज्य कोश, अन्नागार आदि सब क्षुधा पीड़ितों की सेवामें व्यय कर दिया। अन्त में अवस्था ऐसी आ गई कि स्वयं रन्तिदेव तथा उनके परिवारके भोजनके लिये दो मुट्ठी अन्न राजसदन मे नही रह गया। प्रजा का दुःख देखा नही जाता था, निवारण का कोई साधन शेष नही रह गया था। अतः राजा रन्तिदेव ने स्त्री-पुत्र को साथ लेकर चुपचाप महल छोड़कर वन को राह ली। परन्तु अकाल के समय वनके कन्द—मूल, फल-फूल-पत्ते भी क्या बच पाते हैं। भूखे मनुष्य तो वृक्षो की छाल तक छीलकर खा जाते हैं। स्थिति यह आ गयी कि राजा रन्तिदेव को पूरे अडतालीस दिन बीत गये, अन्नजल के कहीं दर्शन न हुये। उनचासवें दिन—घृतपायससयावं तोयं प्रातरुपस्थितम्॥ (भा०) अर्थ—प्रातः काल ही उन्हे कुछ घृत, खीर, हलवा और जल मिला।

हरिको निहारैं जनमांझ—यथा—विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनिचैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (गीता) अर्थ—तत्वज्ञ पुरुष विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल मे भी समभाव से एक ही आत्मा वा परमात्मा को देखने वाले होते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने ऐसे साधकको सर्वश्रेष्ठ योगी कहा है। यथा—आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः॥ (गी०) अर्थ—हे अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यता से सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी सबमे सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है। परन्तु ऐसे महात्मा होते है परम दुर्लभ। यथा—वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा-सुदुर्लभः॥ (गी०)

भाखे...... भोगौं—यथा—न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामर्ष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।
क्षुत्तृट्श्रमो गात्र परिश्रमञ्च दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जिजीविषो जीवजलार्पणान्मे॥ (भा०)

अर्थ—(तृषार्त चाण्डालकी अत्यन्त करुणापूर्ण वाणीको सुनकर रन्तिदेव दयासे अत्यन्त सन्तप्त हो उठे और ये अमृतमय वचन कहने लगे-) मैं भगवान से आठो सिद्धियोंसे युक्त परम गति नहीं चाहता। और तो क्या, मैं मोक्ष की भी कामना नहो करता। मैं चाहता हूँ तो केवल यही कि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमे स्थित हो जाऊँ और उनका सारा दुःख मैं ही सहन करूँ, जिससे और किसी भी प्राणीको दुःख न हो। यह दीन प्राणी जल पीकर जीना चाहता था। जल दे देने से इसके जीवन की रक्षा हो गयी तथा इसकी ही नहीं मेरी भी भूख-प्यास की पीड़ा, शरीर की शिथिलता, दीनता, ग्लानि, शोक विषाद और मोह—ये सबके सब जाते रहे। मैं भी सुखी हो गया।

भक्त शिरोमणि श्रीप्रह्लादजीकी भी यही कामना है। यथा—न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्। कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥ अर्थ—हे प्रभो! मुझे राज्य, स्वर्ग और मुक्ति आदि कुछ भी नहीं चाहिये। मेरी कामना तो केवल यही है कि अनेकों तापों से संतप्त प्राणियों के समस्त दुःख दूर हो।

यद्यपि श्रीरन्तिदेवजी के प्राण जलके विना स्वयं कण्ठगत हो रहे थे, फिर भी स्वभाव से ही उनका हृदय इतना करुणापूर्ण था कि वे अपने दुखों की—किंचित परवाह नहीं किये। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित्! ये अतिथि वास्तव मे भगवान की रची हुई मायाके ही विभिन्न रूप थे। परीक्षा पूर्ण हो जाने पर भक्तवाछाकल्पतरु भगवान, विष्णु, ब्रह्मा और शिव—ये तीनों ही वरदायक देव उनके सामने प्रकट हो गये। श्रीरन्तिदेव ने उनके चरणो में नमस्कार किया। उन्हें भगवान के सिवा और किसी भी वस्तु की इच्छा तो थी नहीं, वे भगवत्कृपा से सर्वथा स्पृहा और आसक्ति से रहित हो गए थे, अतः इन्होने अपने मनको पूर्ण रूपसे भगवान में लगा दिया। इसलिये त्रिगुणमयी माया, जागने पर स्वप्न दृश्यके समान नष्ट हो गयी। तभी तो श्रीनाभाजी कहते हैं कि 'हरि माया तरे।' श्रीरन्तिदेव के अनुयायी (स्त्री-पुत्र परिवार, प्रजा आदि) भी उनके समान ही, उनके सङ्ग के प्रभाव से योगी हो गये और सब भगवान के ही आश्रित हो परम भक्त बन गए।

महर्षि उत्तङ्क जी—ये बड़े भारी तपस्वी, तेजस्वी और गुरुभक्त थे। इन्होने जीवन में गुरु के सिवा दूसरे किसी देवता की आराधना नही की थी। जब ये गुरुकुल में रहते थे, उन दिनो सभी ऋषि कुमारो के मन में यह अभिलाषा होती थी कि हमें भी उत्तङ्कके समान गुरुभक्ति प्राप्त हो। यथा—

> उत्तङ्को महता युक्तस्तपसा जनमेजय। गुरुभक्तः स तेजस्वी नान्यत् किञ्चिदपूजयत्॥
> सर्वेषामृषिपुत्राणामेष आसीन्मनोरथः। औत्तङ्कीं गुरुवृत्तिं वै प्राप्नुयामेति भारत॥(म०भा०)

महर्षि गौतम के बहुत से शिष्य थे। परन्तु उनका सबसे अधिक प्रेम उत्तङ्क में ही था। उत्तङ्क के इन्द्रिय सयम, बाह्याभ्यन्तर की पवित्रता, पुरुषार्थ, कर्म और उत्तमोत्तम सेवा से गौतमजी बहुत प्रसन्न रहते थे। इधर गुरुभक्त उत्तङ्क भी ऐसे सेवा में लीन हुये कि वे यह नहीं जान सके कि मेरा बुढ़ापा आ गया। एक दिन ये वन से लकड़ियों का भारी गट्ठर सिरपर धरकर ले आये और जब आश्रममें आकर उस बोझ को वे जमीन पर गिराने लगे तो उस समय चाँदी के तार की भांति सफेद रंग की उनकी जटा उलझकर लकडियो के साथ ही जमीन पर गिर पड़ी। मुनि भारसे तो दबे थे ही, भूख-प्यास से भी अत्यन्त पीडित हो रहे थे। उसी में जब उन्हे अपने श्वेत केशों को देखकर यह भान हुआ कि मैं वृद्ध हो गया तो बहुत ही आर्त होकर रोने लगे। उस समय पिता की आज्ञा पाकर परम सुशीला गौतम पुत्री ने अपने हाथो मे उत्तङ्क के आसुओंको ग्रहण कर लिया। परन्तु उन अश्रु बिन्दुओ से उसके दोनों हाथ जलने लगे अत. अश्रु टपक कर पृथ्वी पर जा पड़े। परन्तु पृथ्वी भी उन्हें धारण करने में असमर्थ हो गयी।

महर्षि प्रवर गौतमजी ने उत्तङ्क से रोने का हेतु पूछा तो उन्होने कहा कि मेरे बाद के आये हुये सैकड़ो, हजारो विद्यार्थी आपकी सेवा मे आये और अध्ययन पूरा करके, आपकी आज्ञा पाकर घर चले गये और मुझे यहाँ रहते हुये सौ वर्ष बीत गये तो भी आपने मुझे घर जाने की आज्ञा नही दी। गौतमजी ने कहा—विप्रवर! तुम्हारी गुरु शुश्रूषा से मैं ऐसा मुग्ध हो गया कि इतना अधिक समय बीत गया

तो भी मेरे ध्यान में यह बात आई ही नही। अब यदि आज तुम्हारे मन में यहां से जाने की इच्छा हुई है तो मेरी आज्ञा को स्वीकार करो और शीघ्र ही यहां से अपने घर को चले जाओ। जब श्रीउत्तङ्कजी ने गुरु-दक्षिणा के लिये आज्ञा मांगी तो गुरु गौतमजी ने कहा कि तुमने जो सेवा की है, उसी से मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ, इसमें तनिक संशय नहीं है। द्विज वर्य ! यदि आज तुम सोलह वर्ष के तरुण हो जाओ तो मैं तुम्हें पत्नी रूप से अपनी कुमारी कन्या अर्पित कर दूँगा, क्यों कि इसके सिवा दूसरी कोई स्त्री तुम्हारे तेजको नही सह सकती। गुरुजी की प्रसन्नता के लिये उत्तङ्क ने तपोवल से तरुण होकर उस यशस्विनी कन्या का पाणि ग्रहण किया।

तत्पश्चात् उत्तङ्क ने गुरुपत्नी अहल्या से कहा—माताजी ! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं गुरु दक्षिणा में आपको क्या दूँ ? मैं अपना प्राण देकर भी आप का प्रिय करना चाहता हूँ। अहल्या ने कहा—पुत्र ! मैं तुम्हारे भक्ति-भावसे ही परम प्रसन्न हूँ। तुम्हारा कल्याण हो,अब तुम्हारी जहाँ इच्छा हो वहाँ जाओ। परन्तु उत्तङ्क ने जब बहुत आग्रह किया तो अहल्या ने कहा—बेटा ! राजा सौदास की रानी ने जो दिव्य मणिमय कुण्डल धारणकर रक्खे हैं, उन्हें ले आओ। उनके ला देनेसे तुम्हारी गुरु दक्षिणा पूरी हो जायगी। तब 'बहुत अच्छा' कह कर उत्तङ्क राजा सौदास से कुण्डलों की याचना करने के लिये वहां से प्रस्थित हुये। उत्तङ्क के चले जाने पर जब महर्षि गौतमको सब वृत्तान्त मालूम हुआ तो वे बडा पश्चात्ताप किये और पत्नी से बोले—देवि ! तुमने ठीक नही किया। राजा सौदास तो श्रीवशिष्ठजी के शाप से राक्षस भावापन्न हो गये हैं, अतः वे उस ब्राह्मण कुमारको अवश्य मार डालेंगे। श्रीअहल्याजीने उत्तङ्कको मङ्गल कामना की, मुनि ने तथास्तु कहा। उत्तङ्क अत्यन्त निर्भयता पूर्वक निर्जन वन मे यमराज के समान भयंकर दीखने वाले राजा सौदास के सम्मुख उपस्थित हुये। राजाने कहा—द्विज श्रेष्ठ ! दिन के छठे भाग में मेरे लिये आहारका विधान किया गया है। यह वही समय है मैं भूख से पीड़ित हूँ। तुम भले आये।

उत्तङ्क बोले—राजन् ! आपको मालूम होना चाहिए कि मैं गुरु दक्षिणा के लिए आया हूँ। मनीषी पुरुषो का कथन है कि शुभ कार्य के लिये उद्योगशील पुरुष अवध्य होता है। परन्तु जब उत्तङ्क ने देखा कि यह शापाभिभूत होने के कारण मुझे खाना ही चाहता है तब इन्होने कहा—महाराज ! मैंने गुरु को जो वस्तु देने की प्रतिज्ञा की है,वह आपके हो आधीन है,अतः नरेश्वर! मैं आपसे उसकी भीख मांगता हूं। आप मेरी याचना को पूर्ण करें और विश्वास करें—मैं गुरुदक्षिणा चुका कर फिर आपके पास आ जाऊँगा, तब मुझे खा लेना। श्रीउत्तङ्क को सुदृढ़ गुरुनिष्ठा और सत्य प्रतिज्ञा के प्रभाव से सौदास का हृदय परिवर्तन हो गया। वे मुनि के खाने का निश्चय छोड़ दिये और बोले—विप्र शिरोमणे ! आप रानी के पास जाइये और मेरी आज्ञा सुना कर कहिये—कि आप मुझे कुण्डल दे दे। महर्षि उत्तङ्क राजा सौदास की महारानी मदयन्ती के पास जाकर अपना प्रयोजन सुनाये। रानी ने कहा—मुनि श्रेष्ठ ! मेरे ये दोनो मणिमय कुण्डल दिव्य है। देवता, यक्ष, महर्षि लोग भी विविध उपायों से इसे चुरा ले जाने की इच्छासे छिद्रान्वेषण करते रहते हैं। यदि इन कुण्डलोंको पृथ्वी पर रख दिया जाय तो नाग इसे हड़प लेंगे, अपवित्र अवस्था मे धारण करने पर इन्हें यक्ष गण और निद्रावस्था में इन्हें पहन कर सो जाने से देवगण इसे बलात्कार पूर्वक छीन ले जायेंगे।

ये दोनो कुण्डल रात दिन सोना टपकाते रहते हैं, रात्रि मे ये नक्षत्र की आभा को भी छीन लेते हैं। इन्हें धारण कर लेने पर भूख प्यास का भय नहीं रह जाता। धारक विष, अग्नि एवं हिंसक जन्तुओं

से भी निर्भय हो जाता है। कुण्डलों के इन दिव्य गुणो से आकृष्ट होकर सभी लोग इन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ब्रह्मन्! यद्यपि आप महाराज के ही पास से उन्हीं का सन्देश लेकर आये हैं, तथापि आप को इस बातका कोई प्रमाण अवश्य लाना चाहिये। मुनि उत्तङ्क पुनः राजा सौदास के पास आकर रानी का कथन सुनाये। राजा ने अपने सम्बन्ध के कुछ साङ्केतिक वचन कहे जिन्हें रानी समझती थी और सौदास ने यह भी कह दिया कि अब आपको मेरे पास आने की आवश्यकता नहीं है। मुनि ने जाकर उन्हें रानी को सुनाया। महारानी मदयन्ती ने स्वामी का वचन सुनकर तत्काल अपने मणिमय कुण्डल मुनिको दे दिये। उत्तङ्क उन कुण्डलो को लेकर बड़े वेग से गौतम मुनि के आश्रम की ओर चले। रास्ते में उन्हे एक स्थान मे बडे जोर की भूख लगी, वहाँ पास ही फलों के भार से झुका हुआ एक बेल का वृक्ष था। उत्तङ्क उस वृक्षपर चढ़ गये और कुण्डलों को मृगचर्म में लपेटकर वृक्ष की एक शाखा पर धर दिये। संयोग से एक बेल उस मृगचर्म पर गिर पडा, जिससे वह पृथ्वी पर गिर पड़ा और कुण्डल भी पृथ्वी पर गिर पड़े बस, तुरन्त ही एक महासर्प आया और कुण्डलको लेकर बिलमें घुस गया। सर्पके द्वारा कुण्डलों का अपहरण होता देखकर उत्तङ्क मुनि उद्विग्न हो उठे और अत्यन्त क्रोध मे भरकर वृक्ष से कूद पड़े तथा एक काष्ठ दण्ड हाथ में लेकर उस बांबी को खोदने लगे। मुनि पैंतीस दिनो तक बिना किसी घबराहटके बिल खोदनेके कार्यमे जुटे रहे। मुनि के दृढ़ निश्चय को देखकर पृथ्वी घबरा गयीं।

देवराज इन्द्र को दया आई। वे ब्राह्मण का वेष बनाकर मुनि के पास आये और दण्ड से बिल खोदकर नागलोक तक पहुंचना असम्भव बताया। तब उत्तङ्कजी ने कहा कि यदि ऐसी बात है तो मैं आप के सामने ही प्राणों का परित्याग कर दूंगा। तब इन्द्र ने दण्ड के अग्रभाग पर अपना वज्र संयोजित कर दिया। जिससे क्षणमात्र मे नागलोक तक का मार्ग बन गया। उत्तङ्क मुनि नागलोक पहुँच तो गये परन्तु वहा की विशालता एवं व्यवस्था को देखकर निराश हो गये। उसी समय अग्निदेव वहां अश्व के रूप में प्रगट हो गए और उत्तङ्कसे बोले—तुम मेरे पुच्छभागमें फूंकमारो, मैं अब नागलोकको जलाये देता हूँ। नागलोग कुण्डल देनेकेलिए विवश हो जायेंगे। उत्तङ्कने ऐसा ही किया। फिर तो घबडाकर सभी नाग बूढ़े और बालकों को आगे करके हाथ जोड़, मस्तक झुका, प्रणाम करके बोले—भगवन्! हम पर प्रसन्न होइये। फिर नागोने उन्हे अर्घ्य और पाद्य निवेदन किया और वे दोनों परम श्रेष्ठ दिव्य कुण्डल भी वापस करदिये। तदनन्तर नागोसे सम्मानित होकर महामुनि उत्तङ्क अग्निदेवकी प्रदक्षिणा करके गुरुके आश्रमकी की ओर चल दिये। वहा पहुँचकर गुरुपत्नी को उनका अभीष्ट कुण्डल प्रदान किया तथा गुरुगौतमजी से समस्त वृत्तान्त निवेदन किया। ऐसे गुरु-भक्त थे मुनि उत्तङ्क।

महाभारत का युद्ध समाप्त हो जाने पर जब भगवानश्रीकृष्ण द्वारका जा रहे थे तो मार्ग में श्री-उत्तङ्कजी मिले। परस्पराभिवादनोपरान्त मुनि ने युद्ध का वृत्तान्त पूछा। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—महर्षे! प्रारब्ध के विधान को कोई टाल नही सकता। कौरव और पांडव दल के सभी वीर युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो गये। केवल पांच पाडव ही जीवित बच गये हैं। भगवान श्रीकृष्ण के इतना कहते ही उत्तङ्क मुनि अत्यन्त क्रोध से जल उठे और बोले—श्रीकृष्ण! कौरव तुम्हारे प्रिय सम्बन्धी थे, तथापि शक्ति रहते हुये भी उनकी रक्षा न की। इसलिये मैं तुम्हे शाप दूंगा। भगवान श्रीकृष्ण ने बड़ी शान्तिपूर्वक कहा—भार्गव! आप तपस्वी हैं, इसलिए मेरी अनुनय विनय स्वीकार कीजिये। मैं आपको आध्यात्म तत्व सुना रहा हूँ। उसे सुनने के पश्चात् यदि आपकी इच्छा हो तो आप मुझे शाप दीजियेगा। मैं आपके संचित किये हुए तप का नाश नही कराना चाहता हूँ। फिर भगवान ने मुनि को अध्यात्म ज्ञान की शिक्षा

दी। ज्ञानयोग को श्रवण कर मुनि का चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो गया। रोप रफू-चक्कर हो गया, हृदय श्रीकृष्ण के प्रति भक्तिभाव से पूर्ण हो गया। अतः शाप का विचार अपने आप जाता रहा। तत्पश्चात् श्रीउत्तङ्कजी ने भगवान श्रीकृष्ण से उस विश्वरूप का दर्शन कराने की प्रार्थना किया जिसे युद्ध के प्रारम्भ में अर्जुन को दिखाया था। मुनि की इच्छा पर श्रीकृष्ण ने अपना विराट रूप दिखाया। मुनि कृत-कृत्य हो गये। पुनः मुनि की प्रार्थना पर भगवान श्रीकृष्ण पूर्व रूप में हो गये।

एक कणिक नाम का व्याध था। वह स्वभाव से बड़ा क्रूर था। देवता, ब्राह्मण, गुरु, साधु किसी को भी नहीं मानता। सबकी निन्दा करना, धन लूटना और प्राणियों की हत्या करना, यही उसका काम था। सौवीर नगरमें भगवान विष्णुका एक बड़ा मन्दिर था। जिसके शिखरपर विशाल स्वर्ण कलश लगा था। उस कलश को देखकर वह व्याध मन में यह अनुमान करके कि मन्दिर मे बहुत धन होगा, रात के समयमें घुसा। मन्दिर मे महामुनि उत्तङ्क बैठकर नेत्र बन्द किये हुए भगवान के ध्यान मे मग्न थे। उस दुष्ट व्याध ने मुनिको धक्का देकर पटक दिया। और उनकी छाती पर पैर रखकर एक हाथसे उनके केश पकडकर उनका सिर तलवार से काटने को उद्यत हुआ। मुनि ने नेत्र खोले और उसकी ओर देखा। उनके नेत्रों में ऐसा तेज और स्नेह उमड़ रहा था कि उस डाकूपर जादूसा हो गया। उसके हाथसे तलवार गिर पड़ी और दूर खड़ा होकर मुनि को एक टक आश्चर्य से देखने लगा। बड़े ही शीतल शब्दो मे मुनि ने उससे कहा—'जो अपराध करता है, उसे दण्ड दिया जाता है। मैंने तो तुम्हारा कोई अपराध किया नही। तब मेरावध क्यों करना चाहते हो? साधु तो सताने वालेको भी क्षमा करते है और उसका कल्याण ही करते है। पाप से धन एकत्र करके जो भी परिवार का पालन करते हैं, मरने पर पाप का फल उन्हें अकेले ही भोगना पड़ता है। अरे भाई! तुम क्या कर रहे हो, यह तुमने कभी सोचा है? इस पाप का कितना भयङ्कर फल होगा, इस पर तुमने कभी विचार किया है? यह जीवन तो भगवान की प्राप्ति के लिये तुमको मिला है, न कि पाप बटोरने के लिए। मोह को छोड़कर भजन में लगो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।'

महात्मा उत्तङ्क की वाणी का प्रभाव उस पर इतना अधिक पड़ा कि वह पश्चात्ताप से व्याकुल होकर उनके चरणों पर गिरकर फूट-फूटकर रोने लगा। उसी समय उसकी मृत्यु हो गयी। दयालु मुनि ने उनके शरीर पर भगवान का चरणोदक छिड़का। उसी समय भगवान के पार्षद दिव्य विमान पर उसे बैठाकर परमधाम को ले गये। व्याध की यह सद्गति देखकर उत्तङ्क मुनि चकित हो गये। भगवान की महिमा एवं उन दयामय की असीम दया का स्मरण करके उनका शरीर पुलकित हो गया। गद्-गद् कण्ठ से वे भगवान की स्तुति करने लगे। भगवान ने कृपा कर मुनि को प्रत्यक्ष दर्शन दिया। मुनि ने 'मुरारे! रक्षा करो, रक्षा करो' कहकर चरणो में पड़कर प्रणाम किया, भगवान ने अपनी विशाल भुजाओं से मुनि को उठाकर हृदय से लगा लिया और वर मांगने को कहा। तब मुनि ने यह वर मांगा—

किं मां मोहयसीश त्वं किमन्यैर्देव मे वरैः।
त्वयि भक्तिर्दृढा मेऽस्तु जन्मजन्मान्तरेष्वपि॥
कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु रक्षः पिशाचमनुजेष्वपि यत्र यत्र॥
जातस्य मे भवतु केशव ते प्रसादात् त्वय्येव भक्तिरचलाव्यभिचारिणी च॥

अर्थ—प्रभो! आप मुझे मोहित क्यों करते हैं? मुझे कोई वरदान नही चाहिये। जन्म-जन्मान्तर में आपके चरणों में अविचल भक्ति सदा बनी रहे। मैं कीट-पतंग, पशु-पक्षी, सर्प-अजगर, राक्षस-पिशाच

या मनुष्य किसी भी योनि में रहूं, हे केशव ! आपको कृपा से मेरी सदा-सर्वदा आप में अव्यभिचारिणी
भक्ति बनी रहे। भगवान मुनि को वरदान देकर एवं उनकी पूजा स्वीकार कर अन्तर्धान हो गये।

श्रीभूरिजी—ये कुरुवंशी सोमदत्तजी के पुत्र थे। ये अपने पिता तथा भाइयोंके साथ द्रौपदी
के स्वयम्वर में गये थे। श्रीयुधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञमें भी पधारे थे। भगवान श्रीकृष्ण में इनकी प्रीति
थी महाभारत के युद्ध में सात्यकिके द्वारा मारे जाकर विश्वेदेवों में मिल गये॥ (म०भा०)

श्री देवल जी—(१) एक सुप्रसिद्ध ऋषि, जो प्रत्यूष नामक वसु के पुत्र थे। (२) एक
देवविद्याके पारङ्गत ऋषि, जो महर्षि धौम्य के अग्रज थे तथा जनमेजय के सर्पसत्र के सदस्य बनाये गये
थे। ये सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञान मे निपुण, क्रियानिष्ठ, धार्मिक तथा देवताओं और ब्राह्मणो की सदा पूजा
करने वाले थे। इनकी सुवर्चला नाम की एक सर्व शुभलक्षण सम्पन्ना कन्या थी। जिसकी प्रतिज्ञा थी
कि मैं ऐसे पति को वरण करूंगी जो अन्धा भी हो और आंख वाला भी हो। मुनि देवल ने
बहुत से ब्राह्मण कुमारो को बुलाया जो सब प्रकार से निर्दोष एवं सुयोग्य भी थे, परन्तु उनकी
समझ मे यह बात नही आती थी कि 'अन्धा होना और आँख वाला होना' दोनों एक साथ कैसे सम्भव
है। कुछ काल बाद महर्षि उद्दालकके पुत्र,परमब्रह्मवेत्ता श्रीश्वेतकेतुजी श्रीदेवलके आश्रममे पधारे। उन्होने
अपने को दोनो प्रकार से युक्त बताया। उन्होने विषय को स्पष्ट किया कि जगत जिन आंखों से देखता है,
उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नही है अर्थात् उनसे तत्वालोचन रूप सूक्ष्म विषय का साक्षात्कार नही होता है।
अतः नेत्रो के रहने पर भी मैं अन्धा ही हूं और परमात्मा रूपी चक्षु से युक्त हूँ अतः आंख वाला भी हूँ।
श्वेत केतु की योग्यता देखकर महर्षि देवलने उनको अपनी कन्या प्रदान कर दी। श्रीदेवलजी ब्रह्मवेत्ताओं
मे श्रेष्ठ समझे जाते हैं॥ (म० भा०)

श्री वैवस्वतमनु जी—विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा भगवान सूर्य की पत्नी हैं। उनके गर्भ
से वैवस्वत मनुका जन्म हुआ, जो परम विख्यात यशस्वी और अनेक विषयो के परिज्ञान मे पारंगत थे।
विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र होने के कारण ही ये वैवस्वत कहलाये। पिता भगवान सूर्य ने इन्हें भगवान से
प्राप्त गुह्यतम ज्ञान की शिक्षा दी थी, जिसका वर्णन गीता के चतुर्थ अध्याय में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने
किया है। (देखिए इक्ष्वाकु प्रसङ्ग) इन्होंने बदरिकाश्रम मे जाकर दोनो बाहे ऊपर उठाये एक पैर से खड़े
हो कर दस हजार वर्षो तक बड़ी भारी तपस्या की। उस समय इनका सिर नीचे की ओर झुका हुआ था
और यह एक टक नेत्रों से निरन्तर देखते रहते थे। इस प्रकार बड़ी दृढता के साथ इन्होने तप
किया। एक दिन की बात है, वैवस्वत मनु कृतमाला नदी में स्नान करके तर्पण कर रहे थे। एकाएक
इनकी अञ्जली मे एक नन्ही-सी मछली आ गई। (म० भा०) आगे की कथा सत्यव्रतजी से मिलती-जुलती
है। (देखिए छप्पय ५ मत्स्यावतार-प्रसङ्ग) ये चौदह मनुओं में सातवे मनु हैं। वर्तमान मन्वन्तराधिपति
ये ही हैं। भागवत के अनुसार राजर्षि सत्यव्रत ही वैवस्वत मनु हुये हैं॥

राजर्षि नहुष जी—महाराज नहुष महान तेजस्वी, यशस्वी, धर्मिष्ठ और दानी थे।
देवराज इन्द्र जब वृत्रासुर का वध करने से ब्रह्महत्या से पीड़ित होकर जलमें छिप रहे, चारों ओर अराज-
कता छा गई, तब देवताओ ने राजा नहुषको इन्द्र पदपर प्रतिष्ठित किया और उनको शक्ति दी कि जिससे
इनके तेज के आगे किसी का तेज न रहे। यथा—

तेज आदास्यसे पश्यन् वलवांश्च भविष्यसि।
धर्मं पुरस्कृत्य सदा सर्वलोकाधिपो भव॥
अभिषिक्तः स राजेन्द्र ततो राजा त्रिविष्टपे॥ (म० भा०)

अर्थ—(हम लोग अपना तप. प्रभाव आपको प्रदान करते हैं उससे युक्त होने पर) जो भी आपके नेत्रों के सामने आजायँगे, उन्हे देखते ही आप उनका तेज हर लेंगे और वलवान हो जायेंगे। अतः सदा धर्म को सामने रखते हुये आप सम्पूर्ण लोकों के अधिपति होइये। तदनन्तर राजा नहुप का स्वर्ग में इन्द्र पद पर अभिषेक हुआ।

नहुप ने एक दिन इन्द्राणी को देखा तो उनका चित्त दूपित हो गया और उन्होंने आज्ञा दी कि शची देवी आज मेरे महल में शीघ्र पधारें। यह सुनकर इन्द्राणी देवगुरु वृहस्पतिजी की शरण गईं। वृहस्पतिजी ने आश्वासन दिया—देवि! तुम शीघ्र ही देवराज इन्द्रको प्राप्त करोगी, तुम्हें नहुप से नहीं डरना चाहिये। जव राजा नहुप ने सुना कि इन्द्राणी वृहस्पति की शरण में गयी हैं, तव वे वहुत कुपित हुये। देवताओं और ऋपियों ने नहुप को वहुत समझाया, पर कामान्ध नहुप ने उनके समझाने पर कुछ ध्यान नहीं दिया। तव देवता, गन्धर्व, ऋपि सवने जाकर देव गुरु से परामर्श किया। उन्होंने सलाह दिया कि इन्द्राणी नहुप के पास जाकर मुहलत मांगें। ऐसा ही किया गया। नहुप प्रसन्न हुये और मुहलत दे दी कि इन्द्र का पता लगा लें।

इन्द्राणी ने इन्द्र का पता लगाकर उनके पास जा सव वृत्तान्त कह सुनाया और पातिव्रत्य की रक्षा चाही। इन्द्र ने यह उपाय वताया कि तुम एकान्त में नहुप से मिलकर कहो कि तुम मुझ से मिलने के लिये ऋपीश्वरों की दिव्य सवारी पर चढ़ कर आओ। तव मैं प्रसन्नता पूर्वक तुम्हारे आधीन हो जाऊँगी। शचीने ऐसा ही किया। राजा से जाकर कहा कि मेरी इच्छा है कि सव ऋपि मिलकर अपने कन्धे पर आपकी सवारी ले चलें, इस प्रकार नयी सवारी पर चलना आपके योग्य होगा। कोई ऋपि कुछ कर नहीं सकता, क्योंकि आपके तेजके सामने सवका तेज हर जाता है। नहुप ने इस प्रस्ताव को अङ्गीकार कर लिया। इधर श्रीवृहस्पतिजी ने नहुप के भ्रष्ट होने एवं इन्द्र को खोजने के लिये यज्ञारम्भ कर दिया।

नहुप देवपि और महपियोंसे पालकी उठवाकर इन्द्राणीके पास चले। ऋपिगण अत्यन्त श्रान्त हो रहे थे,तव भी नहुप सर्प-सर्प'अर्थात् जल्दी चलो जल्दी चलो'इसप्रकार ऋपियोंको शासित कर रहे थे। तव ऋपिगण क्षुभित होकर राजा से कहे कि आप अधर्म पर उतारु है। पूर्व के महपि गण और ब्रह्मा जो कह आये हैं, उनकी वनाई हुई मर्यादा को आप नही मानते हैं इस विपय पर विवाद हो जाने पर क्रोधान्ध हो नहुप ने श्रीअगस्त्यजी के सिर पर लात चलायी। श्री अगस्त्यजीने शाप दे दिया कि तू ने अधर्म से व्याप्त होकर मेरे सिर में पैर की ठोकर मारी, अतः तू तेजहत होकर पृथ्वी पर गिर और दस हजार वर्ष तक अजगर वना रह। नहुप का कामका नशा उतर गया और अत्यन्त दीन होकर मुनि श्रेष्ठ श्रीअगस्त्यजीसे प्रार्थना की कि प्रभो! मेरे शापका अन्त नियत कर दीजिये। तव श्रीअगस्त्यजी ने कहा कि जो तुम्हारे पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर दे दे वही तुम्हे शाप से छुड़ा सकता है। राजन्! जिसे तुम पकड़ लोगे, वह वलवान से भी वलवान क्यों न हो, उसका भी धैर्य छूट जायगा। तत्पश्चात् राजा नहुप अजगर होकर पृथ्वी पर गिर पड़े।

जब पाण्डव जुए में हारकर वनवास कर रहे थे। उस समय द्वैतवन मे एक दिन भीमसेन नहुष की पकड़मे आ गये। लाख प्रयत्न करने पर भी महाबली भीम अपने को छुडाने मे समर्थ नही हो सके। क्योंकि ऋषि का वरदान ही ऐसा था। तब उनको खोजते-खोजते महाराज युधिष्ठिर जी वहाँ पहुँचे। श्रीधर्मराज ने अजगर से भीम को छोड देने के लिये बहुत प्रार्थना किया परन्तु उसने नही छोड़ा। तब श्रीयुधिष्ठिरजी ने कहा—अच्छा बताओ—हम किस उपाय का अवलम्बन करे, जिससे तुम इन्हें छोड़ सकते हो? अजगर ने कहा—यदि तुम मेरे पूछे हुये कुछ प्रश्नो का अभी उत्तर दे दोगे तो मैं तुम्हारे भाई को छोड दूँगा। श्रीयुधिष्ठिरजी की अनुमति पाकर अजगर ने पूछा—ब्राह्मणः को भवेद् राजन् वेद्यं किं च युधिष्ठिर। ब्रवीह्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे॥ (म० भा०) अर्थ—राजन्! यह बताओ कि ब्राह्मण कौन है? जानने योग्य तत्त्व क्या है? श्रीयुधिष्ठिरजीने कहा-नागराज! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता क्रौर्याभाव, तपस्या और दया—ये सद्गुण दिखाई देते हों, वही ब्राह्मण कहा गया है तथा जानने योग्य तत्व तो परब्रह्म ही कहा गया है, जो दुःख और सुख से परे है तथा जहाँ पहुँचकर अथवा जिसे जानकर मनुष्य शोक के पार हो जाता है। अजगरने कहा—युधिष्ठिर! तुम जानने योग्य सभी बातें जानते हो। मैंने तुम्हारी बातें अच्छी तरह सुन ली। पार्थ! तुम्हारे शुभागमन से मेरे लिये यह महान पुण्य काल उपस्थित हो गया है जो कि इस घोर तमोमयी योनि से मेरा उद्धार हो गया। तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं पुनः स्वर्गलोकको जाऊँगा। यह कहते हुये राजा नहुषने अजगरका शरीर त्याग दिया और दिव्य शरीर धारण करके स्वर्ग लोक को चले गये। (म० भा०)

श्रीययातिजी—ये महाराज नहुषके द्वितीय पुत्र थे। इनके बड़े भाई यति योग का आश्रय लेकर ब्रह्मभूत मुनि हो गये। अत. ये ही भूमण्डल के सम्राट् हुये। इन्होने अपने राज्य काल में सहस्रों यज्ञोका अनुष्ठान किया था। ये अपराजित मन और इन्द्रियो का संयम करने वाले तथा भगवानके परम भक्त थे। इनके प्रताप, पराक्रम और सुयशकी देवता भी सराहना करते थे। एक बार दैत्यराज वृषपर्वा की मानिनी कन्या शर्मिष्ठा और दैत्यों के पुरोहित शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी—ये दोनों अपनी सहस्रों सखियो के साथ वनके सरोवरमे स्नान कर रही थी। भगवान शिव और पार्वती को देखकर संकोच वश शीघ्रता पूर्वक वस्त्र धारण करने की त्वरा में शर्मिष्ठा ने देवयानीके वस्त्र पहिन लिये। इसपर देवयानी क्रोध के मारे आग बबूला हो गई और उसने शर्मिष्ठा को बहुत कुछ बुरा-भला कह डाला। देवयानी को अपने ब्राह्मणत्व का गौरव था तो शर्मिष्ठा भी राजा की बेटी थी वह देवयानीके कटु-प्रलापों को सुनकर तिलमिला उठी और उसने पुरोहित पुत्री को बहुत कुछ उलटा-सीधा सुनाकर क्रोध मे भरकर उसके वस्त्र छीनकर उसे कुँए मे ढकेल दिया।

दैवयोग वश उसी समय शिकार खेलते हुये राजा ययाति प्यास से व्याकुल होकर जलकी तलाश करते हुये उस कुएँ पर जा पहुँचे। उन्होने कुएँ मे गिरी हुयी वस्त्रविहीना देवयानी को देखा तो अपना दुपट्टा उसके ऊपर फेंक दिया और दाहिना हाथ पकडकर बाहर निकाला। देवयानी ने प्रेम भरी वाणी से कहा—वीर शिरोमणे! आज आपने मेरा हाथ पकड़ा है, तब कोई दूसरा इसे न पकड़े। परन्तु ब्राह्मण कन्या होने के कारण ययाति ने देवयानीकी इस प्रार्थनाको अस्वीकार कर दिया। तब देवयानी ने कहा—वीरश्रेष्ठ! पहले मैंने वृहस्पतिके पुत्र कचको शाप दे दिया था। इस पर उसने भी मुझे शाप दे दिया। इसी कारण ब्राह्मणकुमार मेरा पाणिग्रहण नही कर सकता। शापकी कथा संक्षेप से इस प्रकार है-वृहस्पतिजीका पुत्र कच शुक्राचार्यजी से मृतसञ्जीवनी विद्या पढता था। अध्ययन समाप्त करके जब वह

अपने घर जाने लगा तो देवयानी ने उसे वरण करना चाहा। परन्तु गुरु पुत्री होने के कारण कच ने उसका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। इसपर देवयानीने उसे शाप दे दिया कि 'तुम्हारी पढ़ी हुई विद्या सफल नहीं होगी। तब कचने भी उसे शाप दे दिया कि कोई भी ब्राह्मणकुमार तुम्हे पत्नी रूपमे नही स्वीकार करेगा।

महाराज ययातिने इसे दैवरचित विधान समझकर स्वीकृति दे दी और नगर को चले आये। इधर जब शुक्राचार्यजी को यह सब मालूम हुआ तो वे दैत्योसे क्षुभित होकर अपनी कन्या देवयानी को साथ लेकर नगर से निकलपड़े। जब दैत्यराज वृषपर्वा को यह समाचार मिला तो उसने मार्ग मे आकर मुनिके चरणोंपर माथा टेक दिया। श्रीशुक्राचार्यजी ने कहा—दैत्येन्द्र ! तुम्हें देवयानी को सन्तुष्ट करना चाहिये। वृषपर्वा के अनुरोध पर देवयानीने कहा—'पिताजी मुझे जिसको दे दें और मैं जहाँ कही जाऊँ, शर्मिष्ठा अपनी सहेलियो के साथ मेरी सेवा के लिये वहीं चले। शर्मिष्ठा ने पितृ—कुल की कल्याण कामना से देवयानी की बात स्वीकार कर ली। देवयानी का विवाह ययाति के साथ हुआ और शर्मिष्ठा अपनी एक हजार सहेलियों के साथ दासीके समान उसकी सेवा करने लगी। देवयानी के दो पुत्र हुये—यदु और तुर्वसु। उधर राजा ययाति ने शर्मिष्ठा को भी पत्नीत्वेन अङ्गीकार करके उससे तीन पुत्र उत्पन्न किये। यद्यपि शुक्राचार्य जी ने यह कह दिया था कि—राजन् ! शर्मिष्ठा को अपनी सेज पर कभी न आने देना। परन्तु ययाति जी ने इस पर ध्यान नही दिया।

जब देवयानी को यह पता लगा तो उसने पिता के पास जाकर इस बात की शिकायत की। इस पर उन्होंने राजा को शाप दिया कि तुम शीघ्र बूढे हो जाओ। राजा तुरन्त बूढे हो गये। राजा के प्रार्थना करनेपर शुक्राचार्यने शापानुग्रह यों किया कि जो प्रसन्नता पूर्वक तुम्हें अपनी जवानी दे दे उससे तुम अपना बुढापा देकर बदल सकते हो। राजा ने अपने पुत्रों से एक एक करके जवानी माँगी। परन्तु बुढ़ापा के दुःखों से अवगत देवयानी के दोनों पुत्र यदु और तुर्वसु तथा शर्मिष्ठा के तीन पुत्रों में द्रुह्यु और अनु ने पिता की आज्ञा अस्वीकार कर दी। इन पुत्रोने धर्मपर ध्यान नही दिया, शारीरिक सुख-दुःख ही इनका परम साध्य था। तब ययाति ने उनको शाप दे दिया कि तुम लोग पैतृक राज्याधिकार से वंचित रहोगे। तत्पश्चात् सबसे छोटे पुत्र पुरु से एक हजार वर्ष के लिए विषयोपभोगार्थ युवावस्था मांगी। पुरु ने 'अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु बैन। ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमर पतिऐन॥' इस स्मृति वचन को गौरव देते हुए पिता की आज्ञा का पालन किया। अपनी जवानी देदी। पिता ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया—वत्स ! पुरो ! मैं तुम्हे यह वर देता हूँ कि तुम्हारे राज्य मे समस्त प्रजा अपनी सम्पूर्ण कामनाओं से सम्पन्न होगी।

एक सहस्र वर्ष बीतने पर राजा को वैराग्य हो गया। उनको यह अनुभव हो गया कि विषयों के भोगने से भोगवासना कभी शान्त नहीं होती। बल्कि जैसे घी की आहुति डालने पर आग और भड़क उठती है वैसे ही भोग वासनायें भी भोगों से प्रबल हो जाती हैं। यथा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

अर्थ—पृथ्वी में अन्न, स्वर्ण, पशु और स्त्रियां आदि जितनी भी वस्तुयें हैं वे सभी यदि किसी कामी मनुष्य को प्राप्त हो जायें तो भी वह उन्हें भोगकर तृप्त नहीं हो सकता है। यथा:—

> यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
> न दुह्यन्ति मनः प्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥ (भा०)

श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं कि-'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषयभोग बहुघीते।'(वि.)

उन्होंने पुरुकी जवानी लौटाकर उसको राजा बनाया। तब ब्राह्मणों ने आकर कहा कि राज्य बड़े पुत्र को देना चाहिए था न कि छोटे को। आपको धर्म का पालन करना चाहिये। राजा ने उत्तर दिया कि पिता का विरोधी पुत्र सज्जनो की राय मे पुत्र ही नही है। माता-पिताका आज्ञाकारी भक्त पुत्र ही सच्चा पुत्र है। शुक्राचार्य ने भी ऐसा ही वर दिया है कि जो पुत्र तुम्हारा अनुसरण करे वही राजा हो। इसलिए आप लोग पुरु का राज्याभिषेक करने में विरोध न करें। सब प्रजा यह सुनकर सन्तुष्ट हुई। इस प्रकार पुरु को राज्य देकर स्वयं वनवास की दीक्षा लेकर राजा ययाति तपस्वी ब्राह्मणो के साथ नगर से बाहर निकल गए। वन में निवास करते हुए राजा ययाति एक सहस्र वर्ष से अधिक वानप्रस्थ आश्रम मे रह तपस्या करके स्वर्गलोक को चले गये।

दीर्घकाल तक स्वर्गलोक का सुख-भोग भोगते हुए महायशस्वी-राजर्षि ययाति इच्छानुसार सभी देवलोक और ब्रह्मलोक में भी विचरण करते रहे। एक दिन देवराज इन्द्र ने राजा ययाति से पूछा कि वनवास करके आपने किसके समान तपस्या की ? राजाने अभिमानपूर्वक कहा कि देव, मनुष्य, महर्षि आदि मे मुझे अपनी तपस्या के समान किसी की तपस्या नही दीख पड़ती। इस तरह अपने से उत्तम और अपने बराबर वालों का अपमान करने के कारण राजा के पुण्य क्षीण हो गये और वे स्वर्ग से गिरा दिये गये। नन्दनवन में गिरते समय देवता करुण स्वर से उनके लिए शोक प्रकट करने लगे। उनकी कृपा से राजा ययाति राजर्षि अष्टक की यज्ञभूमि में आ टिके। पुण्य और पुण्यफल के सम्बन्ध में अष्टक के पूछने पर राजाने बताया कि तपस्या, दान, शान्ति, इन्द्रियदमन,लोकलज्जा, सरलता और दया—ये सात फाटक स्वर्ग के हैं। परन्तु अपने श्रेष्ठ होने का अहंकार करके दूसरे का अपमान करने से ये सातों मिट्टी में मिल जाते हैं अपने मुँह से अपनी करनी का बखान करना अनुचित है। अष्टक राजा ययाति की कन्या माधवी के पुत्र हैं, अतः इनके नाती भए। वेदवेत्ता ऋषि कहते हैं कि पुत्रों और पौत्रो की भांति पुत्री और दौहित्रों का धर्माचरण से प्राप्त किया हुआ धन भी अपने ही लिए होता है। अतः अष्टक के पुण्यफल से राजा ययाति फिर स्वर्ग मे पहुंच गये। (म०भा०)

श्रीदिलीपजी—परम भागवत महाराज रघुजी का चरित्र पूर्व वर्णन किया जा चुका है। स्वनाम धन्य, परम धर्मात्मा, गो-सन्तसेवी राजा दिलीप उन्ही श्रीरघुजी के पिता हैं। अयोध्यानरेश महाराज दिलीप का पराक्रम लोक विख्यात था। देवराज इन्द्र को भी इनकी सहायता अपेक्षित थी। देवता और दैत्यों में संघर्ष चलता ही रहता है। एक बार देवराज इन्द्र के आह्वान पर ये देवताओं की ओर से देवासुर संग्राममे भाग लेने गए थे। विजय देवताओंकी हुई। श्रीदिलीपजीका बड़ा सम्मान किया देवताओं ने। विजयोल्लास से भरे हुए राजा दिलीप जब अयोध्या को लौट रहे थे तो रास्ते में इन्हें कामधेनु खड़ी मिली परन्तु विजयगर्व, सुर-सम्मान, घर आने की त्वरा—इन हेतुओं से राजा कामधेनु को बिना प्रणाम

किये ही आगे बढ़ गए। कामधेनु तो इस आशा से मार्ग में खड़ी थी कि राजा मुझे प्रणाम करेंगे तो उन्हें मैं भूरि-भूरि शुभाशीर्वाद दूंगी, परन्तु हुआ विपरीत। इनके प्रणाम न करने से कामधेनु ने दुःख मान लिया और रुष्ट होकर शाप दे दिया कि—तूं पुत्रहीन होगा। हां ! यदि मेरी सन्तान तुझ पर अनुग्रह कर दें तो भले तुझे सन्तानकी प्राप्ति हो जाय। दिलीपजी शाप से सर्वथा अनवगत रहे। भला देववाणी कभी मिथ्या हो सकती हैं ? सचमुच दिलीप को सब सुख प्राप्त हुआ परन्तु इनको सन्तान-सुख का सुयोग नही हुआ। राजा-रानी रातदिन चिन्तित रहने लगे। राजा ने विविध प्रयत्न किए सन्तानोत्पत्ति के, प्रजा ने भी बहुत-बहुत पुण्य का बल लगाया, परन्तु मनोरथ पूर्ण नहीं हो सका।

तब अन्त में श्रीदिलीपजीने अपने कुल-गुरु श्रीवशिष्ठजीके चरणों का आश्रय लिया। भला सर्वज्ञ श्रीवशिष्ठजीसे क्या अविदित है? उन्होंने पुत्र न होनेका हेतु बताते हुए कामधेनुकी सन्तान, अपनी होमधेनु नन्दिनीकी सेवाका सकेत किया। फिर क्या था ? राजा—रानी दोनोंही श्रीगुरुजीकी आज्ञा शिरोधार्य कर प्राण—प्रण से नन्दिनीकी सेवा में जुट गये। महारानी प्रातः काल उस गौ की विधिवत् पूजा करती, महाराज दिलीप गोदोहन हो जाने पर उस गाय के साथ वन में जाते। गौ जिधर भी जाती, उसके पीछे पीछे चलते। वह बैठ जाती तो स्वयं भी उसके समीप बैठकर उसके शरीर को सहलाते। हरी-हरी दूब उखाड़ कर उसे खिलाते। उसके जल पी लेने पर ही स्वयं जल पीते। वह जिधर से भी चलती, उधर ही चलते और अपने उत्तरीयसे उसपर बैठनेवाले मच्छर, मक्खी आदि जीवोंको उड़ाते रहते थे सारांश यह कि महाराज छाया की तरह गौ के साथ-साथ रहते। यथा—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ (रघुवंश)

सायंकाल को जब गौ वन से लौटती, महारानी उसकी फिर पूजा करती थी। महाराज रात्रिमें गौ के समीप ही भूमि पर सोते थे। सेवा में सावधान राजा दिलीप को अत्यन्त ही श्रद्धापूर्वक नन्दिनी की सेवा करते हुए एक महीना बीत गया। एक दिन वे गौ के पीछे-पीछे जङ्गल में जा रहे थे। गौ एक बहुत बड़े सघन वन मे घुस गई। महाराज भी पीछे-पीछे धनुष से लताओं को हटाते हुए चले। वन में वे एक स्थान पर वृक्षों का सौन्दर्य देखते खड़े हो गये। नन्दिनी तृण चरती हुई दूर निकल गई, इस बात का उन्हें ध्यान नहीं रहा। तब तक इन्हें सहसा गौ का चीत्कार सुनाई पड़ा। शब्द का अनुसन्धान करते हुए दिलीपजी शीघ्रतापूर्वक उस ओर चले। कुछ दूर जाने पर उन्होंने देखा कि एक बलवानसिह गौ को पजे में दबाये उसके ऊपर बैठा है। गौ बड़ी कातर दृष्टि से इनकी ओर देख रही है। महाराज ने तरकस से बाण निकालकर उस सिंह को मारना चाहा किन्तु इनका वह हाथ जहां का तहां जड़वत् रह गया , राजा बड़े ही विस्मित हुए।

तब सिंह ने मनुष्य भाषा में कहा—राजन् ! व्यर्थ उद्योग मत करो। मैं साधारण पशु नहीं हूं। मैं भगवती पार्वती का कृपापात्र हूँ और उन्होंने मुझे अपने हाथों लगाये इस देवदारु वृक्ष की रक्षाके लिए नियुक्त किया है। जो पशु अपने आप यहां आ जाते हैं वे ही मेरे आहार होते हैं। श्रीदिलीपजी ने कहा—मृगेन्द्र ! जगत के माता-पिता भगवान शिव-पार्वती के आप सेवक हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप अपनी क्षुधा निवृत्तिके लिए मुझे खाजें, परन्तु मेरे गुरुदेवकी इस गौको छोड़दें। सिंहने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा—आप युवा हैं, नरेश हैं, और आपको सभी सुख भोग प्राप्त हैं। एक गौके लिए इस प्रकार आप का देहत्याग उचित नहीं है। लगता है तुममें विचार करने की शक्ति बिल्कुल नहीं है। यथा—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढ़ः प्रतिभासि मे त्वम् ॥(रघुवंश)

आप तो एक गौ के बदले अपने गुरुको लाखों गौएँ देकर सन्तुष्ट कर सकते हैं। किन्तु राजा अपने ध्येय पर अटल रहे और सिंह से बोले—आप मेरे शरीर पर कृपा करने के बदले मेरे धर्म की रक्षा करें। मेरी रक्षा में दी हुई गौ मेरे देखते मारी जाय, तो भला ऐसे जीना किस काम का। आप मुझे सुख-भोग के प्रलोभन के बदले कर्तव्य पालन की प्रेरणा दें! बहुत समझाने-बुझाने पर भी जब राजा ने किसी प्रकार अपना आग्रह नहीं छोड़ा तब सिंह गाय को छोड़कर दिलीपजी को ही खाने को तैयार हो गया। महाराजका तरकससे चिपका हुआ हाथ छूट गया, वे अपने शरीरसे आयुधों को दूरकर सिंहके आगे पृथ्वी पर गिर पड़े। परन्तु यह क्या—सिंह के टूटने के बदले इनके शरीर पर आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी। प्यार बरसाती हुई नन्दिनी बोली—वत्स! उठो, तुम्हारी परीक्षा लेने के लिये मैंने ही अपनी माया से यह दृश्य उपस्थित किया था। पत्ते के दोने में मेरा दूध दुहकर पीलो, इससे तुम्हें तेजस्वी पुत्र होगा। राजा ने कहा—देवि! आपका आशीर्वाद शिरोधार्य है, किन्तु आपका बछड़ा जब तक न पीलेगा, गुरुदेव के यज्ञ के लिये दूध न दुह लिया जायगा और गुरुजी की आज्ञा न होगी, तब तक मैं दूध नहीं पी सकता हूँ। महाराज की इस धर्म निष्ठा से नन्दिनी बहुत प्रसन्न हुई। सायंकालको आश्रममें पहुँचने पर श्रीगुरुदेवजी की आज्ञासे दिलीपजी ने गौका दूध पीया। नन्दिनी के अनुग्रह एवं श्रीवशिष्ठजी की कृपा से श्रीदिलीपजी के यथा—समय पुत्र उत्पन्न हुआ, जो जगत में श्रीरघुजी के नाम से विख्यात हुआ। इन्हीं श्रीरघुजी के नाम पर आगे चलकर इस वंश का नाम रघुवंश पड़ा॥ (रघुवंश)

श्रीपुरुजी—ये पौरव वंश के प्रवर्तक आदि पुरुष थे। इनका गुरुजनों के प्रति बड़ा आदर भाव था। जिस समय इनके पिता राजा ययाति अपनी वृद्धावस्था के बदले पुत्रों से जवानी माँग रहे थे और सभी पुत्रों ने अस्वीकार कर दिया। तब राजाने अपने सबसे छोटे पुत्र पुरु से कहा। उस समय पुरु ने 'गुरोराज्ञागरीयसी' का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन किया है। यथा—

गुरोर्वै वचनं पुण्यं स्वर्ग्यमायुष्करं नृणाम्।
गुरुप्रसादात् त्रैलोक्यमन्वशासच्छतक्रतुः॥
गुरोरनुमतिं प्राप्य सर्वान् कामानवाप्नुयात्॥ (म० भा०)

अर्थ—गुरुजनों की आज्ञाका पालन मनुष्यों के लिये पुण्य, स्वर्ग तथा आयु प्रदान करने वाला है। गुरुके ही प्रसाद से इन्द्रने तीनों लोकों का शासन किया है। गुरु स्वरूप पिताकी अनुमति प्राप्त करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। यह कहकर पुरुने सहर्ष अपनी युवावस्था पिता को देकर बदले में उनकी वृद्धावस्था को स्वीकार कर लिया। जिससे कि महान यश के भागी हुये। इनको गुरुजनों की कृपा से परावर तत्व का ज्ञान था। इस कारण ये जगत्प्रपञ्च से सर्वथा अनासक्त रहे। श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ने इनको पितृ-भक्तरूप में स्मरण किया है। यथा—'तनय जजातिहिं जौबन दयऊ। पितु आज्ञा अघ अजस न भयऊ॥ पूरुजी के वंशमें बहुत से राजर्षि और ब्रह्मर्षि भी हुये हैं।

श्रीयदुजी—ये राजा ययाति के प्रथम पुत्र थे, जो देवयानी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। ये यादववंश के प्रवर्तक राजा हुए। इन्हीं के वंश में स्वयं भगवान श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव हुआ था ये बड़े धर्मज्ञ

तथा धर्मशील थे। यथा—अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम्। कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ।। (भा० ११।७।२५) तथा—यदोश्चधर्मशीलस्य'''' (भा० १०।१।२) यहा यदि कोई शका करे कि इन्होने तो पिता ययातिकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर दिया था जो कि अधर्म हैं। फिर इन्हें धर्मवित् वा धर्मशील कैसे कहा गया ? इसका समाधान यह है कि इन्होने मुख्यधर्म भगवद्भक्तिको प्राधान्य देकर सामान्य धर्म पित्राज्ञापालन को अस्वीकार किया था अतः अधर्म नही है। वास्तविक धर्म तो भगवद्भक्ति ही है। यथा—धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तो'''''''। और पिता की आज्ञा मानकर जरावस्था को स्वीकार करने से भगवद्भजनमें बाधा पड़ती। जरावस्था साधनोपयोगी नहीं कही गयी है। यथा—

> यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा,
> यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयोनायुषः।
> आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
> प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ।।(भर्तृहरि)

अर्थ—जब तक यह शरीर रूपी घर स्वस्थ है, जब तक बुढ़ापा दूर है, जब तक इन्द्रियों की शक्ति अबाधित है और जब तक आयु का क्षय नही हुआ है, विद्वान् मनुष्य को तभी तक अपने कल्याण के लिए महान् प्रयत्न करना चाहिए। क्योकि घर में आग लगने पर कुआं खोदने का उद्यम किस काम का ?

अतः पिता की आज्ञा नही माने। पुनः परम पिता परमात्मा की सेवा में दत्तचित्त यदुने यदि लौकिक पिता के वचन को नही माना तो कोई दोष नही। सामान्य धर्म से विशेष धर्म श्रेष्ठ है। पुनः राजा ययाति के आज्ञा पालन में यदुको महान् अनौचित्य यह दिखाई पड़ा कि मुझ पुत्र की युवावस्था से माता के साथ भोग विलास करना चाहते है जो कि सर्वथा धर्म के प्रतिकूल है। पुनः हरिवंश पुराण में वर्णन आता है कि श्रीयदुजी ने किसी ब्राह्मण को उसके अनिर्दिष्ट कार्य की पूर्ति का वचन दे दिया था। जरावस्था के अङ्गीकार करने पर वह कार्य सम्पादन असम्भव हो जाता इसलिये भी पिताकी आज्ञा नहीं माने। इसमें यदुजी की ब्रह्मण्यता प्रदर्शित होती है। पुनः यदि श्रीयदुजी ने एक पिता की आज्ञा नही मानी तो उसके प्रायश्चित्त के लिये सम्पूर्ण जीवन धर्माचरण में बिताया और इनकी धर्मशीलता का परम प्रमाण तो यह है कि स्वयं भगवान ने इनके कुल में जन्म लिया। श्रीयदुजी महाराज भगवान दत्तात्रेयजी से ज्ञान प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो गये थे।।

श्री गुह जी—ये भगवान श्रीरामजी के अत्यन्त प्रिय सखा हैं। जाति के निषाद एवं शृङ्गबेरपुर के राजा हैं। शिवपुराण में इनके पूर्व जन्म का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। कथा इस प्रकार से है—एक जङ्गल में गुरुद्रुह नाम का एक भील रहता था। जीवों की हिंसा करना उसका सहज कर्म बन गया था। उसी से वह परिवार का पालन पोषण करता था। महाशिवरात्रि का दिन था, वह प्रातःकाल ही शिकार की टोह में घर से निकल पड़ा, परन्तु दैवयोग से उस दिन उसे कुछ नही मिला। सन्ध्या हो गई।'घरके लोग भूखे बाट देखते होंगे, अतः अवश्यमेव कुछ लेकर ही लौटना चाहिये।' यह विचारकर वह भील एक जलाशय के समीप के बेल के वृक्ष पर चढ़ गया। उसके नीचे एक शिवलिङ्ग था। रात्रिके प्रथम प्रहर में एक हरिणी जल पीने के लिये जलाशय पर आई। भील हर्षित होकर अपना धनुष बाण सँभालने लगा। इसी में उसके शरीर के हिलने से कन्धे पर लटकती हुई जल भरी तूँबीसे कुछ जल छलक-

कर श्रीशिवलिङ्ग पर जा पड़ा तथा धनुष वाण सञ्चालन से विल्वपत्र भी टूटकर शिवलिङ्ग पर जा पड़ा।
इस अचानक सम्पादित हुये सुकृत से उस भील का वहुत सा पाप तत्काल नष्ट हो गया।

इतने में हरिणीकी दृष्टि व्याधपर गई। वह उसके अभिप्राय को समझकर वोली—व्याध ! मैं
अपने वच्चोंको अपनी वहिन को अथवा स्वामी को सौंपकर अभी आती हूँ, फिर तुम मुझे मारकर अपनी
उदर पूर्ति कर लेना। मैं शपथ पूर्वक कहती हूँ, मेरे वचनों का विश्वास करो। अकस्मात् सम्पन्न शिवार्चन
के पुण्य प्रभाव से व्याधने दया करके उस हरिणी को छोड़ दिया। थोड़ी देर वाद उसी हरिणी की वहन
दूसरी हरिणी वहीं जल पीने के लिये आई। इसके वध का उद्योग करते समय पुनः पूर्ववत् जल और
विल्वदल शिवलिङ्ग पर जा गिरा। इस हरिणीने भी व्याध से पहिली हरिणी के समान ही वार्ता की।
व्याध ने इसे भी छोड दिया। इतनेमे एक हृष्ट-पुष्ट हरिण जलाशय की ओर आता दिखाई पड़ा। पुनः
इसके भी वधोद्योग मे सहज शिवार्चन सम्पन्न हो गया। व्याध का अभिप्राय समझकर हिरणने भी यह
निवेदन किया कि मैं अभी-अभी अपने वच्चो को उनकी माता के हाथों सौपकर आता हूँ। व्याध यद्यपि
स्वयं वहुत भूखा था, परिवार के लोग अत्यन्त क्षुधार्त होकर इसके आने की वाट देख रहे थे, परन्तु श्रीशिव-
जीकी कृपासे उसके समस्त पाप नष्ट हो गये थे, हृदय शुद्ध हो गया था। अरे भाई ! शिव रात्रिके दिन
उसने व्रत एव शिवार्चन जो कर लिया था। फिर श्रीशिवजी भी तो आशुतोष और औढरदानी हैं। व्याध
ने दयापरवश हो मृग को भी छोड़ दिया।

निवास-स्थान पर पहुँचने पर जव मृग और दोनो मृगियाँ मिली तो परस्पर विचार विमर्शकर
उन्होंने यही निर्णय किया कि हम सव लोग मिलकर व्याधके पास चलें, क्योंकि सवने सत्य की सौगन्ध
खाई है। माता-पिता को जाते देख वच्चे भी साथ लग गये। इस मृग समूह को देखकर व्याध को वड़ा
ही हर्ष हुआ और धनुप पर वाण सन्धान करने का उपक्रम करने लगा। पुनः जल और विल्वदल शिव-
लिङ्ग पर गिरे। उस व्याध के पाप तो पहले के ही पूजन के प्रभाव से नष्ट हो गये थे। इस वार तो उसे
दया के साथ विवेक भी प्राप्त हो गया। व्याध को सहसा वड़ी ही आत्म ग्लानि हुई कि ये पशु होकर भी
कितने परमार्थ निष्ठ हैं और मैं मनुष्य होकर भी परमार्थ की कौन कहे स्वार्थ से भी विमुख रहा। उचित
रीति से मैं उदर पूर्ति करने मे भी असमर्थ रहा। धन्य हैं ये मृग, और मेरे जीवन को वार-वार धिक्कार
है। इस प्रकार ज्ञान सम्पन्न होने पर व्याध ने अपने वाणोको रोक लिया और कहा—श्रेष्ठ मृगो ! तुम
धन्य हो, तुम्हारा कल्याण हो, तुम जाओ। व्याध के ऐसा कहने पर भगवान शिवजीने तत्काल प्रगट होकर
अपने दिव्य स्वरूप का दर्शन कराया और प्रसन्न होकर सुदुर्लभा भक्ति का वरदान देकर वोले—व्याध !
एक दिन निश्चय ही भगवान श्रीराम तुम्हारे घर पर आवेंगे और तुम्हारे साथ मित्रता करेंगे। वे मृग
भी शिवजी का दर्शन कर दिव्यरूप धारणकर दिव्य शिव लोक को चले गये और वह भील ही कालान्तर
मे शृङ्गवेरपुर का राजा निषादराज गुह हुआ जिसकी श्रीरामजी में अविचल प्रीति थी। तभी तो कहा
गया है कि—शिव सेवा कर फल सुत सोई। अविरल भक्ति राम पद होई ॥ (रा०)

निषादराज गुह और श्रीरामजी के प्रथम मिलन की वड़ी मधुर कथा सन्त-महानुभाव इस प्रकार
वर्णन करते हैं—निषादराजके पितासे और चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजीसे वड़ी मित्रता थी।
वे समय-समय पर श्रीअयोध्या आया करते थे। जिस समय श्रीदशरथजी के यहाँ प्रभु का प्रादुर्भाव हुआ,
उस समय वे अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे। लाल की वधाई लेकर तो वे स्वयं आये थे और चारो कुमारों का

दर्शन कर परम सुख पाये थे। परन्तु एक तो स्वयं जराग्रस्त थे, दूसरे बालक गुह नित्य अयोध्या के लिये मचलता रहता था, और जब से उसने श्रीरामकी शोभा का वर्णन सुना है तब से तो वह विशेष उत्कण्ठित रहने लगा है श्रीअयोध्या जाकर भ्राताओं सहित श्रीराम का दर्शन करने के लिये। आज—कल करते-करते पांच वर्ष बीत गये। अतः गुह जब कुछ बड़े भी हो गये और उधर राजकुमार भी अवध की गलियो में विविध विनोद करते हुये विहरने लगे तब एक दिन वृद्ध पिताने गुह को श्रीअयोध्या जाने की आज्ञा दी। गुह के हर्ष का पारावार नही रहा। भेंट के लिये वन्य कन्द-मूल, फल-फूल तथा चारों राजकुमारो के लिये चार जोडी रुरुनामक मृग के चर्म की बनी हुई सुन्दर पनहियाँ बगलमें दबाये हुये गुह श्रीअयोध्या को चलपड़े हृदयमें अनेकानेक मधुर भावनाओं को सँजोये हुये। पिताजी के द्वारा सुने हुये राजकुमारोंके सौन्दर्य-माधुर्य का अनुचिन्तन करते हुये गुह श्री अवध आ पहुँचे।

मनमें विचार आया कि प्रथम श्रीसरजू स्नान कर लूँ फिर दरबार में चलूँ। अतः श्रीसरजू तट पर उपहार की पोटली रखकर ये स्नान करने लगे। तब तक क्या देखते हैं कि चार बालक उपहार-पोटली खोल रहे हैं। बालक बड़े सुघर थे, देखते ही मन मोह गया। अतः ऊपर से तो उन्हें मना करते है, परन्तु भीतर से यह हो रहा है कि खोल लो, ले लो, पहन लो, मैं तो आपके लिये ही लाया हूँ। हुआ भी ऐसा ही। गुह मना करते ही रहे बालकोने पोटली खोलली, पनहियाँ पहन ली और केलेके फललेकर खाते हुये सरजूतट पर विहरने लगे। गुह नाराज भी हो रहे थे और प्रसन्न भी। स्नानकर बाहर निकले। वस्त्र बदल कर बालकोके समीप पहुँचे, कुछ रीझे से, कुछ खीझे से पूछे—आप लोग किसके बालक है? आप लोगों को मालूम नही, मैं यह उपहार चक्रवर्ती महाराजकुमारों के लिये लाया था। बालक मधुर मुसक्यान पूर्वक बोल पड़े—ओ हो! तब तो हमारे लिये ही थी। गुह ने पूछा—तो क्या महाराज श्रीदशरथ राजकुमार आप ही हैं? बालकोके उत्तर देनेके पूर्व ही गुह का हृदय बोल पड़ा—गुह! सचमुच, महाराज श्रीदशरथ राजकुमार ये ही हैं, तुम्हारे परमाराध्य, प्रिय सखा ये ही है। तुम्हारे जीवन धन, प्राण—सर्वस्व यही हैं।

गुहके हृदयके कथन का ही समर्थन बालकोंने भी किया। वे बोले—सखा! महाराज कुमार हम ही हैं। गुह की आँखे सजल हो गयीं, हाथ जुट गये, शीस झुक गया, चरणों पर गिरने के पूर्व ही राजकुमारोने हाथों से थाम लिया। श्रीराम-लक्ष्मण ने दाहिना हाथ पकड़ लिया, श्रीभरत-शत्रुघ्न ने बायाँ हाथ पकड़ा और लिवाले चले अपने मित्र को महल की ओर। गुह गद्‌गद है कृपा को विचारकर। चक्रवर्ती जी चकित हैं, सख्य प्रेम को देखकर। राजकुमारोने पिताजी को प्रणाम किया, गुह ने भी साश्रुनयन, पुलकित तन विह्वलवाणी से हाथ जोड़कर अभिवादन किया। श्रीरामलाल ने अपने नये सखा का परिचय दिया, श्रीदशरथजी ने जैसे अपने पुत्रों को हृदय से लगाया वैसे ही गुह को भी हृदय से लगा लिया। श्रीदशरथजी ने देखा—लाल बड़े प्रसन्न हैं अपने इस सखासे, और सखाने भी तन-मन-प्राण न्यौछावर कर दिया है लाल के ऊपर। महाराज ने रोक लिया गुह को श्रीअयोध्या में, बहाना यह बनाया कि तुम यहां रहकर मेरे पुत्रों को धनुर्विद्या का अभ्यास कराते रहो, वनमें शिकार खेलना सिखाया करो। गुह के लिए तो मानो—'जनम रङ्क जनु पारस पावा।' सत्योपाख्यान ग्रन्थ में विस्तार से राजकुमारों का गुह के साथ वन-क्रीड़ा का प्रसङ्ग वर्णन किया गया है। यथा—

एक बार श्रीरामलालजी ने अनुज और सखाओं से कहा कि आज वन में जो प्रथम शिकार सामने आयेगा उस पर सर सन्धान मैं करूँगा। यदि दूसरा कोई वार करेगा तो मैं उसे पिताजी से कहकर

दण्ड दिलाऊँगा। सब लोग सजग हो गये। संयोग की बात, वन में पहुँचते ही एक सिंह सामने आ उठा। लोग जहाँ के तहाँ खड़े हो गए। श्रीराम सर-सन्धान में विलम्ब कर रहे थे, सिंह ऊपर टूटने ही वाला था, अनुज एवं अन्य सखा श्रीरामाज्ञा का पालन करते हुए अपने स्थान पर थे, गुह ने अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया, जो भी दण्ड मिले, मैं सह लूँगा, परन्तु मेरी आंख के सामने सिंह के द्वारा कोई अनिष्ट मुझे सह्य नहीं। इन्होंने तत्काल एक सांग चलायी। निशाना सही बैठा, सिंह मारा गया। श्रीराम के हृदय में भक्तवत्सलता उमड़ रही थी, अन्य सशंक हो रहे थे कि इन्होंने श्रीराम की आज्ञा का उल्लंघन किया, पता नहीं कौन सा दण्ड मिलेगा। निषादगुह प्रसन्न हो रहे थे अपने मित्र को सकुशल देखकर। लोग वन-विहार कर घर लौट आये। सबने देखा—श्रीरामलाल के श्रीमुख से गुह का गुणगान सुनकर चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी अपने हाथ का आभूषण गुह के हाथ में पहना रहे हैं, हृदय से लगा रहे हैं,तथा तुरन्त ही शृङ्गवेरपुर के राजा होने की घोषणा कर देते हैं। यथा—

एक बार शिकार को राम गये वन में तब आय के सिंह अड़ा।
भरतादिक संग सखा सकुचे सुनि के रघुनाथ के सौंह बढ़ा॥
समया पर सेवक ढीठ न जानि निषाद झपट्ट के सांग जड़ा।
शृङ्गबेर को राज बकस्स दिये पहिराय दियो निज हाथ कड़ा॥

'साकेत' महाकाव्य में राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरण गुप्त ने निषादराज गुह को श्रीराम विवाह में मिथिला जाने का प्रसङ्ग लिखा है। यद्यपि विवाहके बहुत वर्ष हो गए हैं, परन्तु निषादराज को मिथिला की मिठाइयां भूली नहीं हैं। वनवास के समय जब श्रीरामजी अपने प्रिय सखा निषादराज से मिले हैं तो इन्होंने श्रीजानकीजी से यह बात कही है। यथा—'भद्रे ! भूले नहीं मुझे आह्लाद वे। मिथिलापुरके राजभोग है याद वे॥ पेट भरा था किन्तु भूख तब भी रही।'''''''॥श्रीप्रियादासजी महाराज निषादराज गुह के प्रेम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

भीलन को राजा गुह राम अभिराम प्रीति भयो वनवास मिल्यो मारग में आइ कै।
करौ यह राज जू विराजि सुख दीजै मोको बोले चैन साज तज्यों आज्ञा पितु पाइकै॥
दारुण वियोग अकुलात दृग अश्रुपात पीछे लोहू जात वह सकै कौन गाइकै।
रहे नैन मूँदि रघुनाथ बिन देखौं कहा ? अहा प्रेम रीति मेरे हिये रही छाइ कै॥६५॥

शब्दार्थ—चैन=आनन्द। साज=साधक, राज्य। दारुण=कठोर। लोहू=खून।

भावार्थ—गङ्गाजीके तटपर स्थित शृङ्गवेरपुर के निवासी भीलों के राजा गुह का भगवान श्रीरामचन्द्रजी मे अलौकिक प्रेम था। जब भगवान् को वनवास हुआ तब उनके आने का समाचार सुनकर निषादराज मार्ग मे ही आकर मिले और यह प्रार्थना की कि—प्रभो ! शृङ्गवेरपुर का राज्य आपका ही है। आप यहा के शासक राजा बनकर विराजिए, मुझ दास को यही सुख दीजिए। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—सब सुखो का साज-समाज मैंने पिताजी की आज्ञा से त्याग दिया है, मैं तो नगर में प्रवेश भी नहीं कर सकता हूं। भगवान् के वनमे चले जाने पर निषादराजजी असह्य वियोग से अत्यन्त व्याकुल हो गए उनकी आंखो से निरन्तर अश्रुपात होता रहता था। बादमें रोते-रोते उनके नेत्रों से आंसुओं के बदले खून बहने लगा। उनकी इस अवस्था का वर्णन भला कौन कर सकता है। आपने अपने नेत्रो को बिल्कुल बन्द-

कर लिया। लोगोंके पूछने पर कहते कि—भला मैं अब श्रीरघुनाथजीके विना किसको देखूँ। वाह! धन्य है। निषादराजजीके प्रेमकी यह रीति मेरे हृदयमे बस गई है, बार—बार याद आती है।

व्याख्या—राम!अभिराम प्रीति—यही जीव का सच्चा स्वार्थ है परम परमार्थ है यथा—स्वारथ साँच जीव कहँ एहा। मन क्रम वचन राम पदनेहा।। सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम वचन रामपद नेहू।। (रामा०) अभिराम प्रीति से तात्पर्य केवल प्रेम से है, जो भगवानको अत्यन्त प्रिय है। यथा—रामहिं केवल-प्रेम पियारा। जानिलेहु जो जानन हारा।। इस केवल प्रेमका स्वरूप वर्णन करते हुए सुन्दरदासजी लिखते हैं कि—

प्रीति की रीति कछू नहिं राखत जाति न पांति नहीं कुलगारो।
प्रेम के नेम कहूं नहिं दीसत लाज न कानि लगो सब खारो।।
लीन भये हरि सों अभिअन्तर आठहुँ जाम रहै मतवारो।
सुन्दर कोउ न जानि सकै यह प्रेम के पन्थ को पैंड़ोइ न्यारो।।

भयो वनवास—इसका हेतु श्रीरामजी स्वयं बताते है। यथा—'आज्ञा पितु पाइकै।' वनवास का बहिरङ्ग हेतु तो देवमाया मोहिता कुटिला, कूबरी, चेरी मन्थरा के बहकावे में आकर श्री-भरत माता कैकयी का दशरथजी से श्रीराम राज्याभिषेक के शुभ अवसर पर मन-भावता वर मांगने का आश्वासन पाकर अपने पुत्र भरत के लिए राज्य तथा उसकी निर्विघ्न सिद्धि के लिए श्रीराम का वनवास ये दो वरदान हैं। परन्तु अन्तरङ्ग हेतु में तो भगवान की इच्छा ही मुख्य है अर्थात् भगवान श्रीराम स्वयं बन जाना चाहते थे अतः देवमाया, मन्थरा, कैकयी और दो वरदानों को निमित्त बनाकर भगवान ने निज इच्छा ही पूर्ण की। और इस प्रकार की इच्छा के भी दो कारण है—१-गौण, २-प्रधान। गौण कारण तो है दुष्ट-दमन, साधु-परित्राण, अधर्म का नाश, धर्म की संस्थापना आदि। प्रधान कारण है विरहरूपी मन्दराचल से भरत सिन्धु को मथकर सर्वजन हिताय प्रेमामृत को प्रकट करना। यथा—

प्रेम अमिय मन्दर बिरह, भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपा सिंधु रघुवीर।। (रा०च०मा०)

मिल्यो मारग में आइकै—श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरित मानस में भक्त-भगवान के इस मिलन का बड़ा ही मधुर वर्णन किया है। यथा—

चौ०—सीता सचिव सहित दोउ भाई। शृङ्गबेरपुर पहुंचे जाई।।
यह सुधि गुह निषाद जबपाई। मुदित लिये प्रियबन्धु बोलाई।।
लिए फल मूल भेंटभरि भारा। मिलन चलेउ हियहरष अपारा।।
करि दण्डवत भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे।।
सहज सनेह विवश रघुराई। पूछी कुसल निकट बैठाई।।
नाथ कुसल पद पंकज देखे। भयउँ भाग भाजन जन लेखें।।
देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जन नीच सहित परिवारा।।

कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ। थापिय जन सब लोग सिहाऊ॥
कहेहु सत्य सब सखा सुजाना। मोहिं दीन्ह पितु आयसु आना॥

दो०— बरष चारि दस वास बन, मुनि व्रत वेष अहार।
ग्राम वास नहिं उचित सुनि गुहहिं भयउ दुख भार॥

चौ०— तब निषाद पति उर अनुमाना। तरु सिंसुपा मनोहर जाना॥
लै रघुनाथहि ठाउँ देखावा। कहेउ राम सब भांति सुहावा॥
गुह सँवारि सांथरी डसाई। कुस किसलय मय मृदुल सुहाई॥
सुचि फल मूल मधुरमृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि पानी॥

दो०— सिय सुमन्त्रभ्राता सहित कन्दमूल फल खाइ।
सयन कीन्ह रघुवंश मणि पाय पलोटत भाइ॥

प्रभु के शयन कर जाने पर पहरे मे बैठे हुये श्रीलक्ष्मणजी के पास जाकर निषादराज गुहने जो हृदयोद्गार प्रगट किये हैं उसमें उनके हृदय का श्रीराम प्रेम मूर्तिमान हो उठता है। यथा—

चौ०— सोवत प्रभुहिं निहारि निषादू। भयउ प्रेम वस हृदय विषादू॥
तन पुलकित जल लोचन बहई। बचन सप्रेम लखन सन कहई॥
भूपति भवन सुभाव सुहावा। सुरपति सदन न पटतर पावा॥
मनिमय रचित चारु चौबारे। जनु रति पति निज हाथ सँवारे॥

दो०— सुचि सुविचित्र सुभोगमय, सुमन सुगन्ध सुवास।
पलंग मञ्जु मनि दीप जहँ सब विधि सकल सुपास॥

चौ०— विविध वसन उपधान तुराई। छीरफेन मृदु विसद सुहाई॥
तहँ सिय राम सयन निसि करहीं। निजछवि रतिमनोजमद हरहीं॥
ते सियराम साथरीं सोये। श्रमित वसन विनु जाहिं न जोये॥
मातु पिता परिजन पुरवासी। सखा सुसील दास अरु दासी॥
जोगवत जिन्हहिं प्रानकी नाईं। महि सोवत तेइ राम गुसाईं॥
पिता जनक जग विदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥
रामचन्द्र पति सो वैदेही। सोवत महि विधिवाम न केही॥
सिय रघुवीर कि कानन जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू॥

दो०— कैकयनन्दिनि मन्दमति कठिन कुटिल पन कीन्ह।
जेहिं रघुनन्दन जानकिहि सुख अवसर दुख दीन्ह॥

चौ०— भइ दिनकर कुल विटप कुठारी। कुमति कीन्ह सब विस्व दुखारी॥
भयउ विषाद निषादहिं भारी। राम सीय महि सयन निहारी॥

परमाचार्य श्रीलक्ष्मणजी ने निषादराज के विषाद का समाधान किया। भैया ! कर्मकाण्डकी दृष्टि से—'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥' ज्ञान काण्ड की दृष्टि

से—'देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाही ॥ उपासना काण्ड की दृष्टि से—'भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल। करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल ॥ अतः- 'सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रत होहू ॥

प्रातः काल श्रीराम ने मन्त्रीवर्य सुमन्त को समझा बुझाकर विदा किया और स्वयं मुनि वेष धारण कर गङ्गा पार हुये। प्रभु ने देखा कि निषादराज गुह भी समस्त राज-काज, कुटुम्ब-परिवार को छोड़ कर संग चलने को प्रस्तुत हैं तो उन्हें समझाया, घर पर रहने का अनुरोध किया। जब निषादराज जी ने अत्यन्त दीन होकर, अधिक नहीं तो कमसे कम चार दिन तक सेवा का सौभाग्य मिलनेकी प्रार्थना किया तो प्रभु ने दयार्द्र होकर संग चलने की अनुमति दे दी। यथा—'सहज सनेह राम लखि तासू। संग लीन गुह हृदय हुलासू ॥' फिर आगे चलकर श्रीरामजीने इन्हें वहुत-वहुत वोध देकर घर को लौटा दिया। इनका मन तो नहीं था परन्तु—'राम रजायसु सीस धरि भवन गवन तेइ कीन्ह ॥, निषाद राज प्रभु के कहने से घर वापस आ गये परन्तु नित्य प्रति स्वयं तथा स्वकीय जनों द्वारा प्रभुका कुशल समाचार लेते रहते थे और पत्र द्वारा श्रीअयोध्या पहुँचाया करते थे। यथा—'सुनी मैं सखी मङ्गल चाह सुहाई। सुभ पत्रिका निषाद राज की आज भरतपँह आई ॥' (गी०)

श्रीभरतलालजी का चतुरङ्गिनी सेना के साथ चित्रकूट गमन सुनकर श्रीराम सखा निषादराज गुह सशंक हो उठते हैं। अपने वीरों को समुत्साहित करते हुये स्वयं प्राणों की बाजी लगाने को तैयार हो जाते हैं। यथा—'तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे ।।' करुणानिधान भगवान ने ही परिस्थिति सँभाला, नहीं तो न जाने क्या होता। गुहने युद्ध का बाजा वजाने की ज्योंही आज्ञा दी, बाईं दिशामें छींक भई। एक वृद्धने सकुन विचारकर कहा—'भरतहि मिलिअ न होइहिं रारी।'बात गुहको भी जँच गई। युद्ध स्थगित कर दिया। श्रीभरत के शील-स्वभाव को समझे बिना युद्ध करना उचित नहीं है। निषादराज ने वड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से श्रीभरत के भाव की परीक्षा किया। वह तीन प्रकार की भेंट सामग्री लेकर मिलने जाते है। यथा—१- कन्दमूल (सात्विक) २-खग-मृग (राजस) ३- मीन पीन पाठीन पुराने (तामस) परन्तु भावमूर्ति भरत तो त्रिगुणातीत पुरुप है, उन्होने किसी भेंट पर भी दृष्टिपात न करके—'राम सखा सुनि स्यन्दन त्यागा। चलेउ उतरि उमगत अनुरागा ।।'

यद्यपि निषाद राजने—'गाउँ जाति गुह नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहार माथ महिलाई ।।' परन्तु श्रीभरत ने इस पर भी ध्यान नहीं दिया। वे तो श्रीराम सखाको हृदय से लगाकर ऐसे सुखी हुये मानो भैया लक्ष्मण से मिल रहे हों। देवताओं ने निषादराज के भाग्य को सराहा। यथा—'धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहि तेहिं वरिसहिं फूला ।।' परन्तु—निषादराज को अपनी भूल पर वड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे श्रीभरत के सील-सनेहको देखकर सुधि बुधि खो बैठे। परस्पर कुशल प्रश्न हुआ। निपादराज का भ्रम दूर हो गया। उन्होंने देश, काल, परिस्थिति के अनुसार सवकी सुव्यवस्था की। प्रातःकाल श्री-राम सखा ने चार दण्ड में सबको गंगा पार किया और श्रीचित्रकूट तक के मार्ग दर्शनका कार्य भी किया।

निषाद राज को प्रभु के निवास स्थान का पता था। जिस समय श्रीचित्रकूट पहुँच कर भरतजी श्रीकामतानाथ का दर्शन कर प्रेम विभोर होकर प्रभु की कुटी के सम्बन्ध में जिज्ञासा किये तो उस समय का वर्णन इस तथ्य को प्रमाणित करता है। यथा—

चौपाई—तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥
नाथ देखिअहि विटप विशाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला॥
ए तरु सरित समीप गुसाईं। रघुवर परन कुटी जहँ छाई॥
तुलसी तरुवर विविध सुहाये। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लखन लगाये॥
वट छाया वेदिका बनाई। सियँ निज पानि-सरोज सुहाई॥ आदि

श्रीचित्रकूट पहुँचनेपर श्रीराम भाई भरत की ही तरह सखा निषादसे भी मिले। निषादराजजीके प्रेमकी महिमा तो तब प्रगट हुई जब इन्होंने श्रीरामके साथ ही गुरुदेव वशिष्ठजी को प्रणाम किया। यद्यपि ये आये थे मुनि के साथ ही। परन्तु श्रीराम का दर्शन करते ही इन्हे एकदम आत्म विस्मृति हो गई। इन्हें ऐसा लगा कि हम तो नित्य श्रीप्रभु के साथ रहते हैं और मुनिजी आज आये हैं, अतः प्रभुके साथ ही ये भी—'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरिते दण्ड प्रणामू॥' मुनिराज पहचान चुके थे अब राम सखा को। अतः—राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥ उस समय इनके भाग्य को देखकर देवता कहते हैं—

रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरिसहिं फूला॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ वशिष्ठ सम को जग माहीं॥
जेहिं लखि लखनहुते अधिक, मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥ (रा० च० मा०)

श्रीचित्रकूटसे विदा होने पर निषादराज को बड़ाभारी वियोग व्यापा है। यथा—विदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदय बड़ बिरह विषादू॥ श्रीप्रियादासजी भी लिखते हैं—दारुण वियोग०॥ पाछे लोहू जात—गाइकै—प्रेम में अश्रुपातकी ही अवर्णनीय महिमा है, यहाँ तो आँखोंसे रक्तका प्रवाह चलने लगा। भला इस प्रेम का वर्णन कौन कर सकता है। आँखों में घाव हो गया। उपचारके लिये वैद्योंने पट्टी बाँधी। परन्तु इन्होने तो नेत्र अच्छे होने पर भी पट्टी नहीं खोला। हेतु बताते हैं—रघुनाथ बिनु देखौं कहा—यथा—गोपी वाक्य—

बिछुरे पिय के जगसूनो भयो अब का करिये औ परेखिये का।
सुख छाँड़ि के संगम को तुम्हारे इन तुच्छन को अवलेखिये का॥
हरिचन्द जू हीरन को व्यवहार कै कांचन को लै परेखिये का।
जिन आंखिन सों तब रूप लख्यो उन आँखिनसों अब देखिये का॥

दृष्टान्तसूरदासजी का—मेरी आँखें पुनः फूट जायें॥ प्रेम रीति—यह कि प्रियतमके विरहमें जीना दूभर हो जाता है। यथा—

जासुसंग सुख लहि रहौं, सारे दुख बिसराइ।
ता प्रियतम के विरह में यह तन छुटत न हाइ॥
आंखड़िया झाइं परी, पन्थ निहारि निहारि।
जीभड़िया छाले पड़े, नाम पुकारि पुकारि॥ (मीरा)

चौदह वरष पीछे आये रघुनाथ नाथ साथ के जे भील कहैं आए प्रभु देखिये ।
बोल्यो 'अब पाऊँ कहाँ ?' होति न प्रतीति क्यों हूँ प्रीति करि मिले राम कहि मोको पेखिये ।
परसि पिछाने लपटाने सुख सागर समाने प्राण पाये मानो भाग भाल लेखिये ।
प्रेम की जू बात क्यों हूँ बानी में समात नाहिं अति अकुलात कहौ कैसे कै विशेखिये ।।६६।।

शब्दार्थ—पिछाने=पहचाने । समाने=मग्न हो गए ।

भावार्थ—वनवासकी लीला समाप्त करके चौदह वर्षोंके बाद पुष्पक विमान पर बैठकर ज श्रीरघुनाथजी आए, तब आपके साथी भीलोंने कहा कि-प्रभु पधारे है उनका दर्शन कीजिए। पर श्रीनिषा राजको विश्वास नही हो रहा था । वे वियोगसे व्याकुल होते हुए बोले—मैं फिरसे प्रभु श्रीरामको पाउ ऐसा मेरा भाग्य कहाँ ? इतनेमें श्रीरामचन्द्रजी आगए और प्रेमसे मिलकर बोले कि-मैं आगया, मुझे देखिए निषादराजने भगवान्के श्रीअंगको स्पर्श करके पहचाना और प्रभुसे लिपट गए । स्पर्शसे प्राप्त दिव्य सुख सागरमें डूब गए । उनके गए हुए प्राण मानों पुनः आ गए । निषादराज ने अपने को परम सौभाग्य शाली माना । श्रीप्रियादसजी कहते हैं—ऐसे विलक्षण प्रेमकी वात किसी प्रकारसे वाणीसे वर्णन करने नही आती है । अलौकिक प्रेमको देखते ही उसे शब्दोसे प्रकट करनेमें वाणी विह्वल हो जाती है, फि कहो प्रेमकी विशेषता कैसे कही जाय ।।६६।।

व्याख्या—प्रीति करि ·····पेखिये—सेवकोंके कहनेपर भी निषादराज को प्रतीति नहीं हुई । तव सेवकोंने जाकर प्रभुसे निवेदन किया । तव प्रभु स्वय निषादराज जी के समीप आकर व प्रेमसे बोले—मित्रवर ! मैं आपके सामने खड़ा हूँ और आपने नेत्र वन्द किये हैं । अव तो आप नेत्र खोल कर दर्शन करें । अहाहा ! प्रेमकी कैसी अद्भुत महिमा है कि कोई तो कहता है कि प्रभो ! मुझे दर्श दो । परन्तु दर्शन नहीं होता और यहाँ प्रभु स्वयं कहते है—मोको पेखिये । परन्तु अव भी निषादराज व पूर्ण प्रतीति नहीं हुई । क्योकि चौदह साल वहुत होते हैं, फिर जङ्गल पहाड़ मे भटकना, जहाँ तहाँ व जल पीना, प्रभु के स्वर पहचाने से लगते तो थे, परन्तु पहाड़का पानी लगनेसे कुछ वदला-बदला सा लगत था । अतः तव भी आँख नही खोले । परन्तु जव प्रभुने वार-वार कहा कि सचमुच मैं आपका मित्र रा ही हूँ तव निषादराजजी ने प्रथम चरण स्पर्श किया । एक पन्थ दो काज होगे । प्रणाम का प्रणाम औ पहचान की पहचान । परसि पिछाने—श्रीचरण कमलो की कोमलता ने सत्यता का परिचय दिया । फि तो निषादराजजी चरणों में लिपट गये । श्रीचरणो में पड़नेपर आँख पर वँधी पट्टी की गाँठ ऊपर प गई, दीखने लगी । तव प्रभु ने अपने श्रीकरकमलोसे उनकी पट्टी खोली । आज चौदह वर्ष के वा निषादराजने प्रभु का दर्शन किया ।

सुख सागर समाने—क्योंकि—जो अति आतप व्याकुल होई । तरु छाया सुख जा सोई ।। (रा०) प्राण पाये—जैसे श्रीदशरथ जी—सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे । मृतक सरीर प्राण ज भेंटे ।। इससे जनाया गया कि प्रभु वियोग में प्राणान्तक कष्ट था । प्रभु प्राणों के भी प्राण है । यथा— **प्राण प्राण के जीव के जिव सुख के सुख राम ।।** (रामा०) **'स उ प्राणस्य प्राणः' 'नित्यो नित्यानां चेतन श्चेतनानां'** (उपनिषद्) **भालभाग लेखिये**—इससे जनाया गया कि निषादराज पूर्व निराश हो गये थे कि अव प्रभु के दर्शन इस जीवन में नही होने के । तभी तो कहते थे कि—'अव पाउँ कहा' प्रभु के आने प भी प्रतीति नही होती थी । इन्होने समझ लिया था कि—'सव सुख सुकृत सिरान हमारा । (रा०) परन्तु जव प्रभु के दर्शन हुए तो समझे कि अभी हमारा सौभाग्य शेष है ।

प्रेम की जू वाल—

चौ०— प्रेम बात कछु कही न जाई। ऊलटी चाल तहां सब भाई॥
प्रेम बात सुनि बौरा होई। तहां सयान रहै नहि कोई॥
तन मन प्रान तिही छिन हारै। भली बुरी कछुवै न विचारै॥
ऐसो प्रेम उपजि हैं जबहीं। 'हित ध्रुव' बात बनैगी तबहीं॥
प्रेम की छटा बहुत विधि आही। समुझिलई जिन जैसीचाही॥ (ध्रुवदास)

बानी में सम्हाल नाहिं—देवर्षि श्रीनारदजी ने प्रेम को अनिर्वचनीय बताया है। यथा—'अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम्।' 'मूकास्वादनवत्।' कविरत्न सत्यनारायणजी लिखते हैं कि—

जानत सब कुछ प्रेम-स्वाद मुख बरनि न आवत।
जदपि परम वाचाल मूक बनि भाव बतावत॥
विद्यावश तत्वनि के भेद प्रभेद बताये।
गूंगे कौ गुर खाय जगत बैठ्यौ सिरनाये॥

अति अकुलात—'प्रेम प्रेम सब कोउ कहै, कठिन प्रेम की फांस। प्रान तरफि निकरै नही, केवल चलत उसास॥ (भ०व०टि०) प्रेम में व्याकुलता का बड़ा ही सरस चित्रण श्रीभारतेन्दुबाबू हरिश्चन्द्र ने किया है। यथा—

व्याकुल ही तड़पौं बिन प्रीतम कोउ तो नेक दया उर लाओ।
प्यासी तजौं तन रूप सुधा बिनु पानिय पीको पपीहै पिलाओ॥
जीय में हौंस कहूं रहि जाय न हा 'हरिचन्द' कोउ समझाओ।
आवै न आवै पियारो अरे कोउ हाल तो जाय के मेरी सुनाओ॥

श्रीनिषादराज की माता ने प्रभु का निमन्त्रण किया। परन्तु श्रीप्रभु को श्रीभरत मिलनकी चटपटी थी अतः कहे कि—माताजी! अभी तो मुझे श्रीअवध जाने की त्वरा है। क्योकि 'बीते अवधि जाउँ जौं, जियत न पावौं बीर।' इस समय मुझे क्षमा करें, फिर कभी देखा जायगा। संयोगकी बात, उस वृद्धा के मन का मनोरथ मन मे ही रह गया। वह पुनः श्रीराम को बुलाने की सोचती ही रही कि अचानक वैकुण्ठ पधारगई। परन्तु भगवानका विरद है—'राम सदा सेवक रुचि राखी।' अतः यही वृद्धा श्रीकृष्णावतार मे फल बेचने वाली मालिन हुई, तब श्रीकृष्ण रूप में इसकी अभिलाषा पूर्ण किये।

अपनी चिरकामनाओ को सँजोए हुए मालिन नित्य-प्रति नन्दपौरि पर 'फल लेलो फल' की आवाज लगा जाती और यशोदा की गोद में लाल को निहार कर अपने नेत्रों को निहाल कर जाती। वह इस द्वार से निराश, खाली हाथ कभी नही जाती। कभी मैया यशोदा और कभी बाबा नन्द अपने लाला के लिए फल लेते और मालिन उन्हे देकर अत्यन्त हर्षित होती, परन्तु एकअभिलाषा उसके हृदयको आन्दोलित करती रहती कि काश! किसी दिन कन्हैया मुझसे फल मांगता। उन भाववश्य भगवानसे कैसे रहा जाता? एक दिन मालिन ने आवाज लगायी—'फल लो जी फल।' लाल मचल पड़े मैया! यदि तूं कहे तो आज मैं फल खरीद लाऊं। मैया ने हँसकर कहा—लाला! पैसे भी पास में हैं कि वैसे ही खरीदोगे? कृष्ण ने अपने बाल सुलभ स्वभाव से जेब मे हाथ डाला तो उसमे एक भी पैसा नही था। कैसी अद्भुत

बात है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की ऐश्वर्याधिष्ठात्री जिनकी चरणसेविका हैं, उनके पास एक पैसा नहीं। वस्तुतः वह परमात्मा सर्वैश्वर्यवान होकर भी प्रेमियों का ऋणी है अतः प्रेमियों के यहां तो बिना दाम के ही उनकी टहल बजाते है। मां हँस गयीं। लाल ने तुरन्त दूसरी तरकीव सोच ली, अन्न की ढेरी लगी थी। मां के देखते-देखते अंजुली में अन्न भरकर फल खरीदने चले। यह कौन जा रहा है फल लेने? तो श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि 'ययो सर्वफल प्रदः' अर्थात् जो सबको सभी साधनोंका फल देने वाला है। भगवान सबको फल देने वाले हैं परन्तु प्रेमियों से तो वह स्वयं प्रेम फल लेते है। नन्हें नन्हें हाथ, शिथिल अंजुली ठुमक-ठुमक चाल, मालिनकेपास पहुँचते-पहुंचते सब धान्य गिर गया। दो-चार दाने अंगुली के गवों में अटके थे, वही ले जाकर मालिन की डालीमें डाल दिये। उसकी डलिया महादिव्य मणि रत्नों से आपूरित हो गई। विश्वम्भर के लिये एक डलिया भर देना कौन बड़ी बात है? एक बात और बड़ी महत्व की यह है कि मालिन ने अभी फल दिया नहीं, सोचा भर है, संकल्प भर किया है और भगवानने उसके फलदान का फल पहले ही प्रदान कर दिया।

इसी प्रकार जीव जब कर्म करके भगवान को कर्म फल के समर्पण की बात सोचता है, तभी दयामय प्रभु कृपा करके उसे फल का भी फल प्रेम-भक्ति प्रदान कर देते हैं। मालिन तो लालके रूप सुधा सागर में निमग्न हो गई और लाल खड़े है फलकी प्रतीक्षा में। अरे भाई! मालिनको भी तो कम प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी थी। अब लाल को कहना पड़ रहा है—मालिन! मुझे फल देदो। दो चार वार कहने पर उसे सुधि भई। लाल ने एक चतुर खरीदार की तरह पूछा—अरी तेरे फ़लों का क्या भाव है? इतना कहना था कि मालिन के हृदय में वात्सल्य सिंधु उमड़ पड़ा। उसने कहा—लाल! ये तो वात्सल्य भाव के फल हैं। इन्हें धन-धान्य से नही खरीदा जा सकता है। लालने कहा कि तो फिर कैसे दोगी? उसने अपने दोनों हाथ आगे बढ़ाते हुए कहा—लाल! इसके लिये तो तुमको मेरी गोदी के बैठकर मुझे मैया कहना पड़ेगा। मालिन का मनोरथ पूर्ण करने के लिये तो लाल आज कृतसंकल्प हैं ही, उसके यह कहते ही वह योगीन्द्र-मुनीन्द्र दुर्लभ पादारविन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मदनमोहन आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र चट से मालिन की गोद में बैठकर बोले—'मैया! मोंय फल देदे।' मालिन को भाव समाधि लग गई। उसे जो सुख मिला, वह वाणी से वर्णन करने का विषय नहीं है।

श्रीकागभुसुण्डिजी कहते है कि—'प्रभु वचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ॥ सो सुख जानै मन अरु काना। नहि रसना पहिं जाइ बखाना॥ (रामा०) जब मालिन सावधान हुई तो बड़े प्यार से पूछा—लाल! फल काहे में लोगे? हाथ तो तुम्हारे अत्यन्त छोटे हैं। चतुर चूड़ामणि ने चट अपनी झिगुली फैला दी मालिन के आगे। जय हो प्रेमदेव की? ब्रह्मा-शिवादि भी जिनके सामने झोली पसारते हैं वही आज मालिन के सामने अपनी झिगुड़ी फैलाये खड़ा है। मालिन अच्छे-अच्छे फलों से झिगुली भरदी। लाल ने कहा—अरी! तू बेर नहीं लाई है क्या? एक बात स्मरण रखने की है लाल को फलों में बेर बहुत अच्छे लगते है। यथा—लाल को भावै गुड़ गांड़ा औ बेर॥ (परमान्ददास)

मालूम है लाला को बेर इतने अच्छे क्यों लगते हैं? अरे भाई! शवरी के यहां जो पाये थे, तभी से इनको बेर का चस्का लग गया है। मालिन ने धन्य माना अपने बेरों को, जिनको प्रभु ने स्वयं मांगकर लिया। भक्त और भगवान दोनों पूर्ण काम हो, दोनों दोनों का ध्यान करते हुए अपनी-अपनी राह लिये। फलों को झिगुली में भरे हुये लाल मैया यशोदा के पास पहुँचे। मैया ने बहुत से फलों को देखकर पूछा—लाला! तू अनाज तो थोड़े ही ले गया फिर इतने फल कैसे लाया? लाल ने अपनी तोतली

वाणी से सब बातें बनादीं। मैया ने कहा—क्यों रे कन्हैया ! मैंने तो इतना जप तप किया, तब अनुष्ठान किया, तब मैया बन पायी और इस मालिन को तूने चार बेर पर ही मैया बना दिया। लाल ने कहा कुछ नहीं, केवल मुस्करा भर दिये। मुस्कराने का हेतु यह था कि भला मैया को क्या मालूम कि उसका मेरे ऊपर कितना मूलधन और कितना ब्याज बढ़ा हुआ था, तब यह मैया पद पायी है ॥

श्रीरामजी जब शृङ्गवेरपुर से चले तो सखा निषादराज को भी पुष्पक विमान पर बैठाकर श्रीअयोध्या लिवा लाये। श्रीराम राज्याभिषेक महोत्सव सम्पन्न होने के कुछ दिन बाद सबको बिदाई हुई। प्रभु ने तो सबका ही बड़ा समादर किया, परन्तु निषादराज का विशेष। यथा—

> पुनि कृपालु लिये बोलि निषादा। दीन्हे भूषन बसन प्रसादा ॥
> जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम वचन धर्म अनुसरेहू ॥
> तुम मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता ॥

प्रभु ने निषादराज को 'भरत सम भ्राता' कहकर सम्मान की पराकाष्ठा दिखाई। क्योंकि श्री-भरतलाल से बढ़कर कोई श्रीराम प्रेमी नहीं। यथा—'भरत सरिस को राम सनेही। जग जपु राम राम जपु जेही ॥ (रामा०) श्रीभक्तमालजी के भक्ति-सुधास्वाद तिलक कर्ता श्रीरूपकलाजी श्रीनिषादराज के सम्बन्ध मे लिखते हैं कि—जिस समय श्रीराघवेन्द्र सरकार श्रीरामजी लंका विजयकर श्रीभरद्वाज जी के आश्रम मे पहुंचे और अपने श्रेष्ठ दूत श्रीहनुमानजीको श्रीअयोध्या श्रीभरतलालजी को अपने शुभागमन की सूचना देने के लिये भेजा तो मित्र वत्सल प्रभु ने अपने सखा निषादराज को भी सूचित करने के लिये श्रीहनुमानजी से कहा। संयोग की बात, जिस समय श्रीहनुमानजी शृङ्गवेरपुर पहुंचे, उस समय द्रुमिल नामक राक्षस को, जो श्रीअवधवासियों को कष्ट देने के लिए कटिबद्ध था, निषादराज ने शृङ्गवेरपुर में ही यह विचार कर रोक लिया था कि इसको श्रीप्रभु की पुरी अयोध्या जाने से पहले ही बीच में ही यम-द्वार दिखा दूँ। फिर तो अपने तीन सहस्र धनुर्धरों को साथ लेकर तीन दिन से निषादराज द्रुमिल से संग्राम कर रहे थे।

उस समय तक निषादराज द्रुमिल राक्षस की सात हजार सेनाको मार चुके थे अभी तीन हजार राक्षस शेष थे, इधर निषादराज भी थक चले थे। ठीक उसी समय श्रीहनुमानजी पहुँच गये और स्थिति समझकर जोर से गर्जन किया। जिससे कि निषादराज का बलसंवर्द्धन हो कि मैं श्रीराम-दूत पहुंच गया। श्रीहनुमानजी की हांक सुनते ही राक्षस अधमरे हो गये। केशरी किशोर ने उन्हे लांगूल मे लपेटकर आकाश मे चक्र-वात मण्डल में फेंक दिया। इधर निषादराज ने द्रुमिल के साथ मल्लयुद्ध करके उसको पृथ्वी पर पटक कर, उसकी छाती मे शस्त्र चुभा दिया जिससे उसका प्राणान्त हो गया। इसके अनन्तर दोनों श्रीराम प्रेमी परस्पर मिले। तत्पश्चात् निषादराज से स्वामी के आगमन का शुभ सन्देश कहकर श्रीहनुमानजी तो श्रीभरतलालजी के समीप चले गये और श्रीनिषादराजजी श्रीभरद्वाज आश्रम को प्रभु से मिलने के लिए प्रस्थान किये ॥ शेष कथा पूर्ववत् ही है।

श्रीमान्धाताजी—महाराज इक्ष्वाकु के वंश में एक युवनाश्व नामके परम प्रतापी राजा हुए। राजा युवनाश्वके सौ रानिया थी। परन्तु सन्तान किसी के भी नही थी। इसलिए राजा युवनाश्व दुःखी होकर अपनी सभी रानियो के साथ वन मे चले गये। वहां ऋषियों ने कृपा करके राजासे पुत्र प्राप्ति के लिये इन्द्र देवता का यज्ञ कराया। एक दिन राजा युवनाश्व को रात्रि के समय बड़े जोर की प्यास लगी। वह यज्ञशाला मे गये। किन्तु वहां देखे कि ऋषि लोग सो रहे हैं। तब जल मिलने का कोई और उपाय न देखकर उन्होने वह मन्त्र से अभिमन्त्रित जल ही पी लिया। जब प्रातःकाल ऋषियों को मालूम

हुआ तो उन लोगो ने भगवदिच्छा को ही प्रधान माना। इसके बाद प्रसव का समय आने पर युवनाश्व की दाहिनी कोख फाड़कर एक बालक उत्पन्न हुआ। उसे रोते देखकर ऋषियों ने कहा—यह बालक दूध के लिए रो रहा है। अतः किसका दूध पीयेगा ? तब इन्द्र ने कहा—मेरा पियेगा—'मा धाता' बेटा ! तू रो मत।' यह कहकर इन्द्र ने अपनी तर्जनी ऊँगली उसके मुँह में डाल दी। ब्राह्मणों और देवताओं के प्रसाद से युवनाश्व को भी मृत्यु नही हुई। वह जंगल मे ही तपस्या करके मुक्त हो गये। इन्द्र ने उस बालक का नाम रखा त्रसदृस्यु। क्योंकि रावणादि दस्यु (लुटेरे) उससे भयभीत रहते थे। और इन्द्र ने जो जन्म के समय कह दिया था—'मां धाता' अतः बालक मान्धाता नाम से भी जगत में प्रसिद्ध हुआ। मान्धाताजी चक्रवर्ती राजा हुए। भगवान के तेज से तेजस्वी होकर उन्होने अकेले ही सातों द्वीप वाली पृथ्वी का शासन किया। वे यद्यपि आत्मज्ञानी थे, उन्हें कर्मकाण्ड की कोई विशेष आवश्यकता नही थी। फिर भी उन्होने बड़ी-बड़ी दक्षिणा वाले यंज्ञोसे यज्ञपुरुष प्रभुकी आराधना किया। परमयोगी मुचुकुन्दजी इन्ही के पुत्र थे।

श्रीपिप्पलादजी—ये महर्षि दधीचि के पुत्र थे। जिस समय देवताओं की याचना पर श्रीदधीचिजी ने अपनी अस्थियां उनको प्रदान की। ऋषि-पत्नी सुवर्चा उस समय आश्रम से कहीं बाहर गई हुई थी। जब वे आश्रम में आई और देवताओं की स्वार्थपरता से पतिकी मृत्यु का समाचार उन्होंने सुना तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और उस पतिव्रता ने पतिलोक जाने का विचार कर पवित्र लकड़ियों द्वारा एक चिता तैयार किया। उसी समय श्रीशिवजी की प्रेरणा से आकाशवाणी हुई कि—प्राज्ञे ! ऐसा साहस मत करो, तुम्हारे उदर में मुनि का तेज वर्तमान है। तुम उसे यत्नपूर्वक पहले उत्पन्न करो, पीछे तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करना। क्योंकि शास्त्र का ऐसा आदेश है कि गर्भवती को सती नही होना चाहिये। उसे सुनकर वह मुनि पत्नी क्षण भर के लिए विस्मय में पड़ गयी। परन्तु उस सती साध्वी सुवर्चा को तो पतिलोक की प्राप्ति ही अभीष्ट थी, अतः उसने अपने उदर को विदीर्ण कर दिव्य स्वरूपधारी अपने पुत्र को पीपल के समीप रख दिया और स्वय स्वामी मे चित्त लगाकर अग्नि को प्रणाम कर चिता में प्रवेश किया और पति सहित दिव्यलोक को चली गई।

पीपल के वृक्षों ने उस बालक का पालन किया था इसलिए आगे चलकर वह पिप्पलाद नाम से प्रसिद्ध हुआ। ये भगवान शिव के अंश से प्रादुर्भूत हुए थे। पिप्पलादजी ने उसी अश्वत्थ के नीचे लोकों की हित कामना से महान तप किया था। वह स्थल आज भी पिप्पल तीर्थ एव अश्वत्थ तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है। (मा०पु०,शि०पु०) प्रश्नोपनिषद् मे वर्णन आता है कि भरद्वाज पुत्रसुकेशा, शिविकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्रोत्पन्न सौर्यायणी, कोसलदेशीय अश्वलायन, विदर्भनिवासीभार्गव और कत्यऋषि के प्रपौत्रकवन्धी—ये सवके सव परब्रह्मकी खोज करतेहुए हाथमे समिधालेकर भगवान पिप्पलाद ऋषिके पास गये। तब श्रीपिप्पलादजी ने उन लोगों को श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करतेहुए तपकरनेकोकहा। आपका कथन है कि—'तेषामेव ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषुसत्य प्रतिष्ठितम्,। (प्रश्न०) अर्थ—जिनमें तप और ब्रह्मचर्य है, जिनमें सत्य प्रतिष्ठित है उन्ही को ब्रह्मलोक मिलता है॥

श्रीनिमिजी—ये महाराज इक्ष्वाकु के पुत्र थे और महर्षि गौतम के आश्रम के समीप वैजयन्त नामक नगर वसाकर वहां का राज्य करते थे। एक बार निमिने एक सहस्र वर्ष मे समाप्त होने वाले एक यज्ञ का आरम्भ किया और उसमे श्रीवशिष्ठजी को ऋत्विज के रूप में वरण किया। श्रीवशिष्ठजी ने कहा कि पांच सौ वर्ष के यज्ञ के लिए इन्द्र ने मुझे पहले ही वरण कर लिया है। अतः

इतने समय तक तुम ठहर जाओ। राजाने कुछ उत्तर नहीं दिया, इससे वशिष्ठजी ने यह समझकर कि राजा ने उनका कथन स्वीकार कर लिया है, इन्द्र का यज्ञ कराने चले गये। विचारवान निमि ने यह सोचकर कि शरीर तो क्षणभङ्गुर है, अतः विलम्ब करना उचित नही है, उसी समय महर्षि गौतमादि अन्य होताओ द्वारा यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। इन्द्रका यज्ञ समाप्त होते ही, 'मुझे निमि का यज्ञ कराना है' इस विचार से वशिष्ठ जी तुरन्त ही आ गये। राजा उस समय सो रहे थे। यज्ञ मे अपने स्थान पर गौतम को होता का कर्म करते देखकर वशिष्ठजी ने सोते हुये राजा को शाप दे दिया कि इसने मेरी अवज्ञा करके सम्पूर्ण कर्मका भार गौतम को सौपा है, इसलिये यह देह हीन हो जाय॥ (वि० पु०)

श्रीमद्भागवत में शाप के वचन ये हैं—निमि को अपनी विचार-शीलता और पाण्डित्य का बड़ा घमण्ड है, इसलिये इसका शरीर पात हो जाय। वशिष्ठजीने शाप दिया है, यह जानकर राजानिमि ने भी उनको शाप दे दिया कि गुरुने मुझसे विना वातचीत किये अज्ञानता पूर्वक मुझ सोये हुये को शाप दिया है इसलिये इनका देह भी नष्ट हो जायगा। इस प्रकार शाप देकर राजा ने शरीर छोड दिया। (वि० पु०) श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजी ने कहा है कि निमि की दृष्टि में गुरु वशिष्ठ का शाप धर्मके प्रतिकूल था। इसलिये उन्होने भी शाप दिया कि आपने लोभवश अपने धर्म का आदर नही किया, इसलिये आपका भी शरीर पात हो जाय। महर्षि गौतम आदि ने निमि के शरीर को तैल आदि मे रखकर उसे यज्ञ की समाप्ति तक सुरक्षित रक्खा।

यज्ञ की समाप्ति पर जव देवता लोग अपना भाग ग्रहण करने के लिये आये तव ऋत्विजो ने कहा कि यजमान को वर दीजिये। देवताओं के पूछने पर कि क्या वर चाहते हो, निमि ने सूक्ष्म शरीर के द्वारा कहा कि देह धारण करने पर उससे वियोग होने में वहुत दुःख होता है। इसलिये मैं देह नहीं चाहता। समस्त प्राणियो के लोचनों पर हमारा निवास हो। देवताओ ने यही वर दिया। तभी से लोगों की पलके गिरने लगीं। (वि० पु०) श्रीमद्भागवत में इस प्रकार वर्णित है कि सत्रयाग की समाप्ति पर जव देवता आये तव मुनियोने उनसे प्रार्थना की कि यदि आप प्रसन्न हैं तो राजा निमि का यह शरीर पुनः जीवित हो उठे। देवताओं ने 'एवमस्तु' कहा। तव निमि ने कहा कि मुझे देह का वन्धन नहीं चाहिये। विचारशील मुनि लोग अपनी वुद्धिको पूर्णरूपसे श्रीभगवानमें ही लगा देते हैं और उन्हींके श्रीचरण कमलोका भजन करते हैं। एक न एक दिन यह शरीर अवश्य छूटेगा—इस भयसे भीत होनेके कारण वे इस शरीर का कभी संयोग ही नहीं चाहते हैं—वे तो मुक्त ही होना चाहते हैं। अतः मैं अव दुःख, शोक और भय के मूल कारण इस शरीरको धारण करना नहीं चाहता। जैसे जलमे मछली के लिये सर्वत्र ही मृत्यु के अवसर हैं वैसे ही इस शरीर के लिये सव कही मृत्यु है।

देवताओने आशीर्वाद दिया कि राजानिमि विना शरीरके ही प्राणियों के नेत्रोंपर अपनी इच्छा के अनुसार निवास करे। वे वहाँ रहकर सूक्ष्म शरीरसे भगवान का चिन्तन करते रहें। पलक उठने और गिरने से उनके अस्तित्वका पता चलता रहेगा। इसके वाद महर्षियोने यह सोचकर कि राजाके न रहने पर लोगों मे अराजकता फैल जायगी। निमिके शरीर का मन्थन किया, उस मन्थन से एक कुमार उत्पन्न हुआ। जन्म लेने के कारण उसका नाम 'जनक' हुआ, विदेह से उत्पन्न होने के कारण 'वैदेह' और मन्थन से उत्पन्न होनेके कारण उसी वालक का नाम 'मिथिल' हुआ। उसी ने मिथिला पुरी वसायी। यथा—'जन्मना जनकः सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः। मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता॥' (भा०) इस

वश के सभी राजा आत्मविद्याश्रयी अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होते आये हैं। मुनियों के आशीर्वादसे यह वंश सदासे योगी ज्ञानी और भक्त रहा है। इसी कुलमें श्रीशीरध्वज जनकके यहाँ आदिशक्ति श्रीसीताजी ने अवतार लिया था ॥

श्रीभरद्वाजजी—ये अङ्गिरस गोत्रीय उतथ्य ऋषि की स्त्री ममताके गर्भसे उतथ्यके भाई वृहस्पतिके वीर्यसे उत्पन्न हुये थे। ये मन्त्रद्रष्टा वैदिक ऋषि हैं। श्रीमद्भागवत में श्रीभरद्वाजजी की उत्पत्तिका प्रसङ्ग इस प्रकार है कि एक बार वृहस्पतिजीने अपने भाई उतथ्य की गर्भवती पत्नी से मैथुन करना चाहा। उस समय गर्भ में जो बालक (दीर्घतमा) था, उसने मना किया। किन्तु बृहस्पति जी ने उसकी बात पर ध्यान नही दिया। बल्कि उसे 'तू अन्धा हो जा' यह शाप देकर बल पूर्वक गर्भाधान कर दिया। उतथ्य की पत्नी ममता इस बात से डर गई कि कही मेरे पति मेरा त्याग न कर दें। इसलिये उसने वृहस्पतिजी के द्वारा होने वाले लड़के को त्याग देना चाहा। उस समय देवताओं ने गर्भस्थ शिशुके नाम का निर्वचन करते हुये यह कहा—'वृहस्पतिजी कहते है कि अरी मूढे! यह मेरा औरस है और मेरे भाई का क्षेत्रज—इस प्रकार दोनों का पुत्र (द्वाज) है, इसलिये तू डर मत, इसका भरण पोषण कर।

इस, पर ममता ने कहा—वृहस्पते! यह मेरे पति का नहीं, हम दोनो का ही पुत्र है, इसलिये तुम्ही इसका भरण पोषण करो। इस प्रकार आपस में विवाद करते हुये माता—पिता दोनों ही इसको छोड़कर चले गये। इसलिये इस बालक का नाम भरद्वाज हुआ। यथा—'मूढे भर द्वाजमिम भरद्वाज वृहस्पते। यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम् ॥ (भा०) माता-पिता के छोड़कर चले जाने पर मरुद्गण उस बालक को उठाकर ले गये और पालन पोषण किये। जब दुष्यन्त पुत्र भरत ने पुत्र कामना से मरुत्स्तोम यज्ञ किया तब मरुद्गण ने प्रसन्न होकर भरद्वाज को उनके सुपुर्द कर दिया। ये संसार से उपरत होकर तीर्थराज प्रयाग में निवास करते थे। इनका परिचय देते हुये श्रीमद् गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं कि—'भरद्वाज मुनि वसहिं प्रयागा। तिन्हहिं राम पद अति अनुरागा ॥ तापस समदम दया निधाना। परमारथ पथ परम सुजाना ॥ (रामा०)

वनवासके समय श्रीरामजी एक रात्रि इनके आश्रम में निवास किये थे। श्रीराम-भरद्वाज मिलन का बड़ा ही मधुर वर्णन श्रीराम चरित मानस में मिलता है। यथा—'तब प्रभु भरद्वाज पहिं आये। करत दण्डवत मुनिउर लाये ॥ मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानन्दरासि जनु पाई ॥ कुशल प्रश्नोपरान्त मुनिने प्रेम-पूर्वक षोडशोपचार विधि से श्रीराम का पूजन किया और अमृत सदृशसुमधुर कन्द-मूल, फल-अंकुर अर्पण किया। मुनिके द्वारा अर्पित फल-मूलों को पाकर सुख-सागर श्रीराम सुखी हुये और विश्राम धाम का श्रम दूर हो गया। तत्पश्चात्—"""" । 'भरद्वाज मृदुवचन उचारे ॥

आजु सुफल तप तीरथ त्यागू। आजु सुफल जपजोग विरागू ॥
सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकतआजू ॥
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी ॥
अब करि कृपा देहु वर एहू। निजपद सरसिज सहज सनेहू ॥
दोहा—करम वचन मन छांडि छल जब लगि जन न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार ॥

मुनि के प्रेम से सतृप्त श्रीरामने श्रीमुखसे मुनिका सुयश वखान किया। यथा—'तव रघुवर मुनि सुजस सुहावा ।। कोटि भांति कहि सवहिं सुनावा ।। सो वड़ सो सव गुन गन गेहू। जेहि मुनीस तुम आदर देहू ॥ इस प्रकार—'मुनि रघुवीर परस्पर नवहीं। वचन अगोचर सुख अनुभवहीं ॥

परमार्थ-पथ-परमसुजान महर्षि भरद्वाजजीसे श्रीरघुनाथजी ने जानेका मार्ग पूछा। मुनिने वड़ा ही भाव पूर्ण उत्तर दिया। यथा—'मुनिमन विहँसि राम सन कहही। सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहही।। आन्तरिक भाव यह कि आप के लिये कर्म-मार्ग, ज्ञान मार्ग, उपासना मार्ग, प्रेममार्ग—सभी मार्ग सुगम हैं आप किसो से भी चलकर भक्तो के पास पहुंचने में समर्थ हैं। फिर मुनि ने अपने चार शिष्यों को मार्ग-दर्शन के लिये भेजा। श्रीरामजी की ही तरह श्रीभरतलालजी भी चित्रकूट गमन के समय एक रात्रि मुनि के आश्रम मे रहे थे। श्रीभरत-तत्वको श्रीभरद्वाज जी ने पहचाना। यथा—तुम तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू ।।' श्रीभरतलालजी का सुजस वर्णन करते हुये मुनि की वाणी अघाती ही नही थी और अन्त में तो यहां तक कह डाला कि—

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं ॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखनराम सिय दरसन पावा ॥
तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा ॥

यह कहते-कहते मुनि को भाव समाधि लग गई। यथा—'भरत धन्य तुम्ह जस जग जयऊ। कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ ॥ तत्पश्चात् मुनि ने अपने तपो वल से विधि विसमय दायक विभव के द्वारा ससमाज श्रीभरतजी का आतिथ्य सत्कार किया। यथा—विधि विसमय दायक विभव मुनिवर तप वल कीन्ह ॥ मुनि प्रभाव जव भरत विलोका सव लघु लगे लोक पति लोका।।' (रामा०) वनवास की चौदह वर्ष की अवधि विताकर, लका विजय करके पुष्पक विमान से लौटते समय भी श्रीराम महर्षि भरद्वाजजी से मिलने का लोभ सवरण न कर सके। यथा—'तव प्रभु भरद्वाज पहिं गयऊ ।। नाना विधि मुनि पूजा कीन्ही। अस्तुति करि पुनि आशिष दीन्ही ॥ (रा०च०मा०)

श्रीभरद्वाजजी यद्यपि ब्रह्मर्षि वाल्मीकिजी के शिष्य हैं। ग्यारह हजार वर्षो तक भगवान सूर्य से वेद पढ़े हैं, वेद मन्त्रों के द्रष्टा हैं, स्मृतिकार हैं त्रिकालज्ञ-सर्वज्ञ है तो भी निरन्तर ब्रह्म-तत्व सम्वन्धी जिज्ञासा और उसके समाधान मे लगे रहते हैं। भगवत्कथा-श्रवण के वड़े रसिक है। एक वार का प्रसङ्ग श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी वर्णन करते हैं कि—

चौ०— एक वार भरि मकर नहाये। सव मुनीस आश्रमन्हि सिधाये ।।
जाग वलिक मुनि परम विवेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी ।।
सादर चरन सरोज पखारे। अति पुनीत आसन वैठारे ।।
करि पूजा मुनि सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदु वानी ।।
नाथ एक संसय वड़ मोरे। करगत वेद तत्व सब तोरे।।
कहत सो मोहि लागत भय लाजा। जौं न कहउँ वड़ होइ अकाजा।।

दो०— संत कहहिं असि नीति प्रभु, श्रुति पुरान मुनि गाव।
होइ न विमल विवेक उर गुरु सन किये दुराव ।।

चौ०— राम कवन प्रभु पूछउँ तोहीं। कहिअ बुझाइ कृपा निधि मोहीं।
एक राम अवधेश कुमारा। तिन्ह कर चरित विदित संसारा॥
नारि विरह दुख लहेउ अपारा। भयउ रोष रन रावन मारा॥

दो०— प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्वज्ञ तुम कहहु विवेक विचारि॥

मुनि की इस प्रश्न विधि पर श्रीयाज्ञवल्क्यजी हँस गये और उनकी तत्व जिज्ञासा की भूरि-भूरि सराहना किये। यथा—

जाग बलिक बोले मुसकाई। तुम्हहि विदित रघुपति प्रभुताई॥
राम भगत तुम मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मै जानी॥
चाहहु सुनै रामगुन गूढ़ा। कीन्हेउ प्रश्न मनहुं अति मूढ़ा॥
तात सुनहु सादर मन लाई। कहऊँ राम की कथा सुहाई॥

श्रीराम चरित मानस में श्रीतुलसीदास जी इसी याज्ञवल्क्य-भरद्वाज सम्वाद से ही श्रीराम-चरित्र वर्णन प्रारम्भ करते हैं॥

श्री दक्ष जी—'दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भुवः' (भा०) अर्थात् दक्षजी श्रीब्रह्माजी के अंगूठे से उत्पन्न हुये। स्वायम्भुव मनु की कन्या। प्रसूती दक्षपत्नी हुईं। प्रजापति दक्ष ने क्षीर सागर के उत्तर तट पर स्थित होकर देवी जगदम्बिका को पुत्री रूप में प्राप्त करने की इच्छा तथा उनके प्रत्यक्ष दर्शन की कामना से उन्हें हृदय मन्दिरमें विराजमान करके कठिन तप किया। उनकी सात्विक आराधनासे सन्तुष्ट होकर पराम्बा ने दर्शन देकर पुत्री होने का वचन दिया, साथ ही यह भी कह दिया कि यदि कभी मेरे प्रति तुम्हारा आदर भाव घट जायगा, तव उसी समय मैं अपने शरीर को त्याग कर अपने स्वरूप में लीन हो जाऊँगी। दक्ष यह सोचकर वहुत प्रसन्न रहने लगे कि देवी शिवा मेरी पुत्री होने वाली है।

सृष्टि विस्तारार्थ व्रह्माजी की आज्ञा से दक्ष प्रजापति ने पञ्चजन प्रजापति की असिक्नी नाम की कन्या को पत्नी रूप में स्वीकार कर हर्यश्व संज्ञक दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। पिता की आज्ञा से उत्तम सृष्टि के उद्देश्य से वे हर्यश्व गण नारायण सरोवर पर जाकर तप करने लगे। इन्हें अधिकारी जानकर देवर्षि नारदजी ने आत्मतत्वका उपदेश देकर निवृत्ति परायण वना दिया। तत्पश्चात् दक्षने शवलाश्व संज्ञक एक हजार पुत्र उत्पन्न किये परन्तु श्रीनारदजी ने इन्हे भी पूर्ववत् ही पर-मार्थ पथका पथिक वना दिया। अवकी वार दक्षने कुपित होकर श्रीनारदजीको शाप दे दिया कि आजसे तीनों लोकों में विचरते हुये तुम्हारा पैर कहीं स्थिर नही रहेगा। नारदजी ने इसे भगवान की इच्छा ही मानकर शाप शिरोधार्य कर लिया।

श्रीदक्षजी ने प्रसूति के गर्भ से चौवीस कन्याये उत्पन्न करके उन्होने वड़ी प्रथम तेरह कन्याएँ धर्म को व्याह दी, शेष ग्यारहमें से एक अग्नि को, एक शिव को, एक पितृगण को व्याह दी और अन्य आठ मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वशिष्ठ, भृगु—इन आठ प्रजापतियों को व्याह दी। प्रसूति की कन्याओं द्वारा विशाल वंश परम्परा त्रिलोकी मे फैल गई। प्रजा की वृद्धि का कार्य जैसा दक्ष द्वारा हुआ, ऐसा किसी से न हुआ। इसलिये व्रह्माजी ने इन्हें प्रजापतियो का नायक वना दिया। यथा— 'देखा विधि विचारि सव लायक। दक्षहिं कीन्ह प्रजापति नायक॥'

अति प्राचीनकाल में एक बार विश्वस्रष्टाओं ने एक यज्ञ किया था जिसमें समस्त परमर्षि, देवता, मुनि और अग्नि आदि अपने-अपने अनुयायियों सहित आकर उपस्थित हुये। जब सूर्य के समान तेजस्वी दक्ष उस समय वहाँ आये तो दक्ष को देखकर उनके तेज से प्रभावित और हर्षित चित्त होकर श्रीशिवजी और ब्रह्माजी को छोड़कर अन्य सभी देवगण, ऋषिगण आदि सदस्यगणों ने अपने आसनो से उठकर सम्मान किया। दक्ष ब्रह्माजी को प्रणाम कर, उनकी आज्ञा पाकर उनके दिये हुए आसन पर बैठ गये। दक्षने यह देखकर कि शिवजी आसनपर बैठे ही रहे, उठकर उन्होंने सम्मान नही किया और उनके इस व्यवहार से अपना अपमान समझकर क्रूर दृष्टि से उनकी ओर देखा और उस महासभा में ही उन को बहुत दुर्वचन कहे और पछताने लगे कि मैंने केवल ब्रह्माजी के कहने से ही ऐसे पुरुष को अपनी सुन्दरी साध्वी भोली-भाली कन्या देदी। दुर्वचन कहकर दक्ष ने श्रीशिवजी को शाप भी दिया कि देवयज्ञों में इन्द्र उपेन्द्र आदि देवगणों के साथ यह यज्ञ का भाग न पावे। श्रीशिवजी कुछ भी न बोले। शाप देकर अत्यन्त क्रुद्ध हो दक्ष सभा मे निकलकर अपने स्थान को चले गये।

यह जानकर कि दक्ष ने शाप दिया है, नन्दीश्वर को बड़ा ही क्रोध हुआ और उन्होंने दक्ष तथा उन ब्राह्मणों को, जिन्होने दक्ष के कुवाक्यों का अनुमोदन किया था, घोर प्रतिशाप दिया कि यह दक्ष देहाभिमानी है, देह ही को आत्मा समझता है, अविद्या को विद्या जानता है। विषय सुखवासनाओं में आसक्त होकर कर्मकाण्ड मे रत रहता है। अतएव यह जड़ पशु है, पशुओ के समान यह स्त्री लम्पट हो और इसका मुख शीघ्र बकरे का हो। यह सदा तत्वज्ञान से विमुख रहे। इस प्रकार शापा-शापी होने के बाद श्रीशिवजी भी अपने गणों सहित वहां से चल दिये। कालान्तर में दक्ष ने रुद्र का अपमान करने के लिए ही बृहस्पति सव नामक यज्ञ किया। (देखिये छप्पय १० सती-प्रसङ्ग) यज्ञ मे शिव का अपमान देख-कर सती ने शरीर त्याग कर दिया। सती-तन-त्याग सुनकर श्रीशिव के गणो ने दक्ष का यज्ञ विध्वंस कर दिया। शिवजी का अपमान करने वाले देवताओं तथा सदस्यों को समुचित दण्ड दिया। गणनायक वीर-भद्र ने दक्ष के सिर को मरोड़कर धड़ से अलग कर यज्ञ की दक्षिणाग्नि में डाल दिया, मानो इससे होम-कुण्ड की पूर्णाहुति की। अन्त में यज्ञशाला को जलाकर शंभु-गन कैलाश को लौट आये।

श्रीब्रह्माजी की सलाह से सभी देवता ब्रह्माजी को भी साथ लेकर कैलाश पर जाकर स्तुति प्रार्थना करके भगवान शिव को प्रसन्न किये। श्रीशिवजी ने कहा—

नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये।
देव मायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया॥ (भा०)

अर्थ—प्रजापते! भगवानकी मायासे मोहितहुए दक्ष जैसे ना समझोंके अपराधकी न तो मैं चर्चा करता हूँ और न याद ही। मैंने तो केवल सावधान करनेके लिए ही थोड़ा-सा दण्ड दे दिया है। तत्पश्चात् शिवाज्ञानुसार दक्ष के धड़ से बकरे का सिर जोड़ दिया गया। श्रीशिवजी की कृपा से दक्ष सोकर जागे हुए के समान जी उठे। दक्ष का हृदय शुद्ध हो चुका था, श्रीशिव के प्रति श्रद्धा का सिंधु उमड पड़ा और बड़े ही विनीत भाव से उन्होने शिव की स्तुति की। इसके बाद पुनः यज्ञारम्भ किया गया, जिसमें यज्ञ-पुरुष भगवान विष्णु ने साक्षात् प्रकट होकर दक्ष को ज्ञानोपदेश देते हुए शिव-ब्रह्मा तथा स्वय में तात्विक एकता का निरूपण किया। सबने भगवान की स्तुति की। यज्ञ सानन्द सम्पन्न हुआ।

मैंने इस शरीर से शिव का अपमान किया है।' यह विचारकर ग्लानि में भरकर प्रजापति दक्ष ने अपना वह शरीर त्यागकर प्रचेता गण की मारिषा नाम की पत्नी के गर्भ से पुनः जन्म लिया। इन्होने

ज़न्म लेते ही अपनी कान्तिसे समस्त तेजस्वियों का तेज छीन लिया। श्रीब्रह्माजी ने इन्हें पुन. प्रजापतियों के नायक पद पर अभिषिक्त कर दिया। ये कर्म करने में बड़े दक्ष थे इसी से इनका नाम दक्ष हुआ। भगवदाराधन पूर्वक इन्होंने सृष्टि का विस्तार एवं संरक्षण किया॥ (भा०)

श्रीशरभङ्गजी—परम तपस्वी श्रीशरभङ्गजी ने एक वार एक सहस्र वर्ष तक ऐसा कठिन तप किया कि इनके शिर से अग्नि की ज्वाला निकलने लगी। देवराज इन्द्र भयभीत हो गये और उन्होंने महर्षिका तप भङ्ग करने के लिये गन्धर्वराज विश्वावसु को भेजा। वहुत सी अप्सराओं को सग लेकर गन्धर्वराज ने मुनि के आश्रम में आकर यथा सम्भव वहुत प्रयत्न किया। परन्तु मुनि को तपसे च्युत करने में समर्थ नहीं हो सके॥ तव इन्द्रने त्रिभुवन मोहन कामदेवको यह कार्य सौंपा। कामने भी अपनी करोड़ों कलायें दिखाईं परन्तु सब व्यर्थ। तव अन्त में पञ्चवाण ने कुसुमसायक का प्रयोग किया। काम के इस सुमन-शर की महिमा वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदास जी लिखते हैं कि—'सूल कुलिस असि अँगवनि हारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥ (रामा०) परन्तु समर्थ शरभङ्गजी ने अभिमन्त्रित करके एक कुश काम की ओर फेंक दिया, उससे कामका शर भङ्ग अर्थात् व्यर्थ हो गया। उसी दिन से इनका नाम शरभङ्ग प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने अपने महान तप से ब्रह्मलोक एवं इन्द्रलोक को जीत लिया था। वनवास काल में भगवान श्रीराम इनके आश्रम पर भी आये थे।

श्रीमद्वाल्मीकि रामायण में वर्णन आता है कि श्रीरामचन्द्रजी ने शरभङ्गजी के आश्रम में यह अद्भुत चरित्र देखा कि अपने हरे घोड़े जुते हुए विचित्र रथ पर सवार इन्द्र आकाश में दीप्तिमान है। देवाङ्गनाओं से सेवित हैं। देवता-गन्धर्व और वहुत से सिद्ध महर्षि उनकी स्तुति कर रहे थे और वह शरभङ्गजी से वात-चीत कर रहे हैं। श्रीरामजी को आते हुए देखकर इन्द्र वहां से यह सोचकर चल दिए कि हमे वे देख न पावे। रावणवध होने पर मैं समीप से उनका दर्शन करूँगा। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी शरभङ्गजी के आश्रममें आये और स्वागत आदि हो जाने पर मुनिसे इन्द्रके आगमन का कारण पूछा ? उन्होंने यों वताया कि मैंने अपनी उग्र तपस्या से ब्रह्मलोक को जीत लिया है। इन्द्र मुझे ब्रह्मलोक ले जानेके लिए आये थे, परन्तु जब मुझे मालूम हुआ कि नरश्रेष्ठ आप थोड़ी ही दूर पर हैं तब मैंने यह निश्चय किया कि आप सरीखे प्रिय अतिथि, पुरुषसिंह धर्मिष्ठ महात्मा के दर्शन विना ब्रह्मलोक को न जाऊँगा।

श्रीरामचरित मानस में यह प्रसङ्ग इस प्रकार वर्णित है—

चौ०— पुनि आये जहँ मुनि सरभंगा। सुन्दर अनुज जानकी संगा॥

दो०— देखि राम मुख पंकज मुनिवर लोचनभृंग।
सादर पान करत अति, धन्य जन्म सरभंग॥

चौ०— कह मुनि सुनु रघुवीर कृपाला। शङ्कर मानस राजमराला॥
जात रहेउँ विरंचि के धामा। श्रवन सुनेउँ वन ऐहहिं रामा॥
चितवत पन्थ रहेउँ दिनराती। अव प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥
नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्हीं कृपा जानि जन दीना॥
सो कछु देव न मोहिं निहोरा। निजपन राखेउ जन मनचोरा॥
तवलगि रहहु दीनहित लागी। जबलगि मिलौं तुम्हहिं तनुत्यागी॥
जोगजग्य जपतप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति वर लीन्हा॥
येहिविधि सररचि मुनि सरभंगा। बैठेहृदय छाड़ि सब संगा॥

दो०— सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हिय वसहु निरन्तर सगुन रूप श्रीराम।।

चौ०—अस कहि जोग अगिनि तनुजारा। राम कृपा वैकुण्ठ सिधारा।।

श्री संजयजी—ये विद्वान् गावल्गण नामक सूतके पुत्र थे, धृतराष्ट्र के मन्त्री तथा श्रीकृष्ण के परम भक्त थे। धर्म के पक्षपाती थे। यही कारण है कि धृतराष्ट्रके मन्त्री होकर भी पाण्डवों से सहानुभूति रखते थे और धृतराष्ट्र एवं धृतराष्ट्र पुत्रों को अधर्म से रोकने के लिये कड़े से कड़े वचन कहने मे हिचकते नहीं थे। ये 'अप्रियस्य च पथ्यस्य श्रोता वक्ता च दुर्लभः' के ज्वलन्त उदाहरण थे। इन्हें भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूपका सम्यक् ज्ञान था। ये वारम्वार धृतराष्ट्र से श्रीकृष्ण को भगवान कहकर उनकी उपासना करने का आग्रह करते। इस पर धृतराष्ट्र ने इनसे पूछा कि 'श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं'—इस वात को तुमने कैसे जान लिया और मैं उन्हें इस रूप में क्यों नहीं पहचान सका? इसके उत्तर में सञ्जयने वेदव्यासजी के सामने इस वात को कहा है कि मैं कभी कपटका आश्रय नहीं लेता, मिथ्या धर्म का आचरण नही करता, तथा ध्यान योग के द्वारा मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है इसलिये मुझे श्रीकृष्ण के स्वरूप का ज्ञान हो गया है। भगवान वेदव्यासजी ने सञ्जय के इस कथन का समर्थन किया।

संजय ने भगवान श्रीकृष्ण के कुछ नामोंकी वड़ी सुन्दर व्याख्या करके धृतराष्ट्रको सुनाई। इससे सञ्जय के शास्त्रज्ञान का भी अनुमान होता है। भगवान वेद व्यासजी की कृपा से इन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त थी। ये परोक्ष की वात देखने की कौन कहे मनमे सोची हुई वातको भी जानने में समर्थ थे। इन्होंने धृतराष्ट्र को सम्पूर्ण महाभारत युद्धका विवरण सांगोपांग सुनाया है। भगवद्गीता का उपदेश भी जिस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुन को दिया, वह सव इन्होंने भी अपने कानों से सुना। इतना ही नही देवताओं के लिये भी सुदुर्दर्श भगवान के विश्वरूप तथा चतुर्भुज रूप का दर्शन भी इन्होने किया। गीतोपदेश तथा भगवत्स्वरूप दर्शन की स्मृति में सञ्जयको अलौकिक सुखानुभूति होती। यथा—

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्। केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः। विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः।।(गी०)

महाभारत युद्ध में विजय के सम्वन्ध में संजय ने यह घोषणा पूर्व ही कर दी थी कि—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।(गी०)

सञ्जय का सिद्धान्त है—

यतः सत्य यतो धर्मो यतोह्रीरार्जवं यतः। ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः।।(म०भा०)

अर्थ—जहाँ सत्य, धर्म, ईश्वर विरोधी कार्य करने में लज्जा, और हृदय की सरलता होती है, वहीं श्रीकृष्ण रहते हैं और जहां श्रीकृष्ण रहते हैं, वही निस्सन्देह विजय है।

श्रीशमीकजी—परम तपस्वी श्रीशमीकजी वनमे गौओं के रहने के स्थान में वैठते थे और गौओ का दूध पीते समय वछडों के मुखसे जो फ़ेन निकलता था उसी को पीकर निरन्तर तपमे निरत रहते थे। ये परमशान्त, दान्त, तितिक्षु, क्षमाशील सन्त थे। वनमें शिकार खेलनेके लिये गये हुये राजा परीक्षित

भूख-प्यास से व्याकुल होकर इनके आश्रम में आये। परन्तु मौन व्रत लेकर समाधिमें स्थित होने के कारण ऋषि द्वारा राजा का समयोचित समुचित सत्कार न हुआ। क्षुधार्त, तृषार्त, अतः हत विवेक राजा परीक्षितने मुनिकी स्थितिको विना समझे ईर्ष्या और क्रोधके वशीभूत हो धनुषकी कोरसे ऋषिके गलेमें मृतक सर्प को डालकर घर चले आये। जब ऋषिकुमार शृङ्गी को यह पता चला तो राजाके व्यवहार से क्षुभित होकर उसने शाप दे दिया कि—'आज से सातवें दिन राजा परीक्षित को तक्षक नाग डस लेगा।' जिस समय ब्रह्मर्षि शमीक को यह सब मालूम हुआ तो उन्होंने अपने पुत्रका अभिनन्दन नहीं किया। उनकी दृष्टि मे परीक्षित शाप के योग्य नही थे। उन्होने कहा—मूर्ख वालक! तूने थोड़ी-सी गलती के लिये इतना बड़ा शाप देकर वहुत बड़ा अपराध किया। तुझे भगवत् स्वरूप राजाको साधारण मनुष्यों के समान नही समझना चाहिये। राजा ईश्वर का अंश होता है। यथा—'नराणां च नराधिपः'।

जिस समय राजाका रूप धारण करके भगवान पृथ्वी पर नही दिखाई देंगे उस समय अराजकता वश निरंकुश प्रजा-मनमाना आचरण करने लग जायगी। तव उनके अपराधोके साथ हमारा कोई सम्बन्ध न होने पर भी वह हम पर लागू होगा। सम्राट् परीक्षित तो वड़े ही यशस्वी और धर्म धुरन्धर हैं। उन्होंने बहुत से अश्वमेध यज्ञ किये हैं और वे भगवान के प्यारे भक्त हैं। वेही राजर्षि भूख-प्यास से व्याकुल होकर हमारे आश्रम पर आये थे, वे शाप के योग्य कदापि नही थे। इस ना समझ वालक ने हमारे निष्पाप सेवक राजाका अपराध किया हैं, सर्वात्मा भगवान कृपा करके इसे क्षमा करे। महामुनि शमीक को पुत्र के अपराध पर वड़ा पश्चात्ताप हुआ। राजा परीक्षित ने जो उनका अपमान किया था, उस पर तो उनका ध्यान ही नहीं गया। यही साधु पुरुषों के स्वभाव की विशेषता है। तत्पश्चात् महर्षि शमीक ने अपने गौर मुख नाम वाले परम संयमी शिष्य द्वारा राजा को शाप की सूचना भेजी तथा स्वयं राजा की मङ्गलकामना की। (भा०) (विशेष देखिये श्रीपरीक्षित का प्रसङ्ग छप्पय १४)

श्री उत्तानपाद जी—ये स्वायम्भुव मनुके पुत्र एवं परम भागवत श्रीध्रुवजी के पिता हैं। (विशेष देखिये श्रीध्रुवजी का प्रसङ्ग)

श्री याज्ञवल्क्य जी—ये ब्रह्माजी के अवतार है। एक समय की वात है कि ब्रह्माजी एक यज्ञ कर रहे थे। ब्रह्माजी की पत्नी सावित्रीजी को आने में देर हुई और शुभ मुहूर्त वीता जा रहा था। तव इन्द्रने एक गोप-कन्या को लाकर कहा कि इसका पाणि ग्रहण कर यज्ञ आरम्भ कीजिये। परन्तु ब्राह्मणी न होने के कारण उसको ब्रह्माने गौ के मुख मे प्रविष्ट कर योनि द्वारा निकाल कर ब्राह्मणी वना लिया, क्योकि ब्राह्मण का और गौ का कुल शास्त्र में एक माना गया है। फिर विधिवत उसका पाणिग्रहण कर उन्होने यज्ञारम्भ किया। यही गायत्री है। कुछ देर में सावित्री जी वहां पहुँचीं और ब्रह्मा के साथ यज्ञ में दूसरी स्त्री को वैठे देखकर उन्होने ब्रह्माजी को शाप दिया कि तुम मनुष्यलोक में जन्म लो और कामी हो जाओ। अपना सम्वन्ध ब्रह्मा से तोड़कर वह तपस्या करने चली गयी। कालान्तरमें ब्रह्माजी ने चारण ऋषि के यहाँ जन्म लिया और वहाँ याज्ञवल्क्य नाम हुआ। तरुण होने पर वे शाप वशात् अत्यन्त कामी हुये जिससे पिता ने उनको घर से निकाल दिया। पागल सरीखे भटकते हुये वे चमत्कारपुर में शाकल्य ऋषि के यहाँ पहुँचे और वहां उन्होंने वेदाध्ययन किया। एक समय आनर्त्त देशका राजा चातुर्मास्य व्रत करने को वहां प्राप्त हुआ और उसने अपने पूजा पाठके लिये शाकल्यको पुरोहित वनाया। शाकल्य ऋषि नित्यप्रति अपने यहां का एक विद्यार्थी पूजा पाठ करने को भेज देते थे।

एक वार याज्ञवल्क्यजी की वारी आई। यह पूजा आदि करके जव मन्त्राक्षत लेकर आशीर्वाद देने गये तव वह राजा विषय में आसक्त था, अतः उसने कहा कि यह लकड़ी जो पास ही पड़ी है, इसपर अक्षत डाल दो। याज्ञवल्क्यजी अपमान समझकर क्रोधमें आ, आशीर्वाद के मन्त्राक्षत काष्ठपर छोड़कर चले गये, दक्षिणा भी नही ली। मन्त्राक्षत पड़ते ही काष्ठ में शाखापल्लव आदि हो गये। यह देखकर राजाको वहुत पश्चात्ताप हुआ कि यदि यह अक्षत मेरे शिरपर पड़ते तो मैं अजर अमर हो जाता। दूसरे दिन राजाने शाकल्यजीको कहला भेजा कि आज भी उसी शिष्यको भेजिये। परन्तु इन्होंने कहा कि उसने हमारा अपमान किया है, इसलिये हम नही जायँगे। तव शाकल्यने कुछ दिन और विद्यार्थियों को भेजा। राजा विद्यार्थियोंसे दूसरे काष्ठ पर आशीर्वाद छुड़वा देता। परन्तु किसीके मन्त्राक्षतसे काष्ठ हरा-भरा न हुआ। यह देख कर राजा ने स्वयं जाकर आग्रह किया कि आप याज्ञवल्क्य को ही भेजें। परन्तु इन्होंने साफ जवाव दे दिया। शाकल्य को इस पर क्रोध आ गया और उन्होने कहा कि—**'एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्। पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत्॥'** (स्कन्द पुराण) अर्थ—गुरु, जो शिष्य को एक भी अक्षर प्रदान करता है, पृथ्वी में कोई ऐसा द्रव्य नही है, जो शिष्य देकर उससे उऋृण हो जाय।

उत्तर में याज्ञवल्क्य जी ने कहा—**'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथे वर्तमानस्य परित्यागो विधीयते॥** (स्क० पु०) अर्थ—जो गुरु अभिमानी हो, कार्य-अकार्य (क्या करना उचित है, क्या नही) को नही जानता हो, ऐसा दुराचारी, चाहे वह गुरु ही क्यों न हो, उसका परित्याग कर देना चाहिये। तुम हमारे गुरु नही, हम तुम्हें छोड़कर जाते है। यह सुनकर शाकल्य ने अपनी विद्या लौटा देने को कहा और अभिमन्त्रित जल दिया कि इसे पीकर वमन कर दो। याज्ञवल्क्यजी ने वैसा ही किया। अन्न के साथ वह सव विद्या उगल दी। विद्या निकल जाने से वे मूढ़बुद्धि हो गये। तव उन्होने हाटकेश्वरमें जाकर सूर्य की वारह मूर्तियाँ स्थापित करके सूर्य की उपासना की। बहुत काल वीतने पर सूर्यदेव प्रकट हुये और वर मांगने को कहे। याज्ञवल्क्यजीने प्रार्थना किया कि मुझे चारों वेद साङ्गोपाङ्ग पढ़ा दीजिये। सूर्यने कृपाकरके इन्हे वह मन्त्र बतलाया जिससे वे सूक्ष्म रूप धारणकर सकें और कहा कि तुम सूक्ष्म शरीर से हमारे रथ के घोड़के कानमें बैठ जाओ, हमारी कृपासे तुम्हें ताप न लगेगा। मैं वेद पढ़ाऊँगा, तुम वैठे-वैठे सुनना॥ इस प्रकार याज्ञवल्क्यने सूर्यसे साङ्गोपाङ्ग चारों वेद पढ़ा। (स्कन्द पुराण)

श्रीमद्भागवतमें इनकी कथा इस प्रकार है—याज्ञवल्क्यजी ने ऋग्वेद संहिता वाष्कल मुनिसे, और वाष्कल ने पैल से सुनी। पैलने श्रीव्यासजी से पढी थी। इसी प्रकार यजुर्वेद सहिता व्यासजीने अपने शिष्य वैशम्पायन जी से कही, वैशम्पायनजी से याज्ञवल्क्य ने पढी थी। एक वार वैशम्पायन जी को ब्रह्म-हत्या लगी। हत्या लगनेका प्रसङ्ग इप्रसकार से है कि एकवार समस्त ऋषियोने किसी विषयके सम्वन्धमें विचार करनेके लिये सुमेरु पर्वत पर एक सभा करनेका निश्चय किया। उसमें यह नियम किया कि जो ऋषि उस सभा में सम्मिलित नही होगा, उसको सात दिनके लिये ब्रह्महत्या लगेगी। उस दिन वैशम्पायनजी के पिताका श्राद्ध था, इसलिये वे अपनी नित्य क्रिया के लिये अँधेरे ही मे उठकर स्नानको जाने लगे तो एक वालक पर उनका पैर पड़ा और वह मर गया। इस वालहत्याके शोकसे वे सभा में न जा सके। इस प्रकार एक तो उन्हे वालहत्या लगी, दूसरे ब्रह्महत्या। इन्ही दोनो हत्याओं के निवारणार्थ वैशम्पायनजीने अपने सव शिष्योंसे प्रायश्चित्त करने को कहा। (मा० पी०) तव उनके शिष्य चरकाध्वर्यु ने हत्या दूर करने वाले व्रत का आचरण किया।

उस समय याज्ञवल्क्यजीने गुरु श्रीवैशम्पायनजी से कहा—भगवन् ! ये चरकाध्वर्यु ब्राह्मण तो बहुत ही थोड़ी शक्ति रखते है। इनके व्रत पालन से लाभ ही कितना है ? मैं अकेला ही आपके प्रायश्चित्त के लिये बहुत ही कठिन तप करूँगा। यह सुनकर वैशम्पायनजी रुष्ट होकर बोले—मुझे ब्राह्मणों का अपमान करने वाले ऐसे शिष्य से कोई प्रयोजन नही है। तुमने अब तक मुझसे जो कुछ अध्ययन किया है, उसका शीघ्रसे शीघ्र त्याग कर दो और यहाँ से शीघ्र चले जाओ। याज्ञवल्क्यजी ने यजु श्रुतियों को वमन कर दिया, और वहाँ से चल दिये। उन वमन रूप से पड़े हुये यजुर्वेद के अत्यन्त सुरम्य मन्त्रों को देखकर अन्यान्य मुनियोंने लोलुपतावश तीतरका रूपधर कर ग्रहण कर लिया। तीतर रूप इसलिये धारण कर लिये कि ब्राह्मण रूपसे वमन को कैसे निगलेंगे ? यही कारण है कि वह अत्यन्त मनोहर यजुः शाखा तैत्तिरीय शाखा कहलाई। तत्पश्चात् याज्ञवल्क्यने, वैशम्पायन भी जिनको न जानते हों, ऐसी यजुः श्रुतियों की प्राप्तिके लिये सूर्य भगवान की आराधना की। इनकी उपासना से प्रसन्न होकर भगवान् सूर्य ने अश्व रूप धारण कर उनकी कामनानुसार उन्हें वैसी ही यजुः श्रुतियाँ प्रदान की। जिनसे याज्ञवल्क्यजी ने पन्द्रह शाखाओं की रचना की। वही वाजसनेय शाखाके नाम से प्रसिद्ध है। वाजसनेयी संहिता के आचार्य होने से इनका एकनाम वाजसनेय भी हुआ।

एक वार मोक्षवित् जनक के पिता देवरातजीने यज्ञ किया। अध्वर्यु कर्म में जो प्रायश्चित्त आदि रहता है, उसे वैशम्पायनजी करा रहे थे। उसके करने में कुछ त्रुटि हो जाने से यज्ञ में कुछ न्यूनता मालूम पड़ी। उस समय याज्ञवल्क्यजीने वैशम्पायनजी को टोका। तव जनक तथा वैशम्पायन दोनोंने इनसे प्रार्थना की कि उसकी पूर्ति करा दें। याज्ञवल्क्यजीने अपने वेदोसे उस त्रुटि की पूर्ति कराई। यज्ञ समाप्त होनेपर देवरातजी ने जव वैशम्पायन को दक्षिणा दी तव याज्ञवल्क्य जी ने उसका विरोध किया और कहा कि यह सव दक्षिणा हमको मिलनी चाहिये न कि वैशम्पायन को। क्योंकि यज्ञ की पूर्ति तो हमने अपने वेदों से करायी है। अन्त में महर्षि देवल ने वह दक्षिणा दोनों में आधी-आधी वँटवा दी। याज्ञवल्क्यजीने उनके कहने से स्वीकार कर लिया। (मा० पी०)

एक वार देवरातजी के पुत्र मोक्षवित् राजा जनक ने ब्रह्मनिष्ठ ऋषियोंका समाज एकत्र किया और एक सहस्र सवत्सा गौओं को समलङ्कृत कर यह प्रतिज्ञा की कि जो ऋषि ब्रह्मनिष्ठ हो वह हमारे प्रश्नों का उत्तर दे और इन गौओं को ले जाय। सब ऋषि सोचने लगे कि ब्रह्मनिष्ठ तो हम सभी हैं, तव दूसरों का अपमान करके हममें से कोई एक इन गायों को कैसे ले जाय। इतने में याज्ञवल्क्य जी आये और उन्होने यह कहते हुये कि मैं ब्रह्मनिष्ठ हूँ अपने शिष्यों को आज्ञा दी कि इन गौओं को आश्रम पर ले जाओ। मैं इनके प्रश्नों का उत्तर दूँगा। इस पर अन्य सब ब्रह्मनिष्ठ ऋषि विगड़ गये। तव इन्होने सबको परास्त किया। राजा जनक याज्ञवल्क्यजीके शिष्य हो गये। (मा० पी०)

श्रीतुलसीदासजी ने भी इन्हें परम विवेकी कहा है। यथा—'जागवलिकमुनि परम विवेकी। (रामा०) सूर्य भगवान से समस्त वेद-ज्ञान प्राप्त होने के वाद लोग आप से वड़े उत्कट प्रश्न किया करते थे। आपने सूर्य भगवान से शिकायत की, तब उन्होने वर दिया कि जो कोई तुमसे अतिप्रश्न करेगा तथा तुमसे वाद-विवाद करके तुम्हारे निश्चित किये यथार्थ सिद्धान्त पर भी वितण्डावाद करेगा, उसका सिर फट जायगा। वर्णन आया है कि शाकल्य ऋषिने याज्ञवल्क्यजी का उपहास किया तो उनका सिर फट गया था। तभी से सब लोग इनसे प्रश्न करने में डरने लगे। इन्होंने श्रीकागभुसुण्डिजीसे श्रीरामचरित

श्रवण किया है और महर्षि भरद्वाजजी को सुनाया है। यथा—तेहि सन जागवलिक पुनिपावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥ (रा० च० मा०)

निमि अरु नौ योगेश्वरा पादत्राण की हौं शरण॥
कवि, हरि, करभाजन, भक्ति रतनाकर भारी।
अन्तरिक्ष अरु चमस अनन्यता पधति उधारी॥
प्रबुध प्रेम की राशि, भूरिदा आविरहोता।
पिप्पल द्रुमिल प्रसिद्ध भवाब्धि पार के पोता॥
जयन्ती नन्दन जगत के त्रिविध ताप आमय-हरण।
निमि अरु नौ योगेश्वरा पादत्राण की हौं शरण॥१३॥

शब्दार्थ—पादत्राण=चरणरक्षक, पादुका, खड़ाऊँ, जूता। करभाजन=कर=हाथ+भाजन=पात्र, करपात्री। रत्नाकर=रत्नोंका समूह या स्थान, समुद्र। अनन्यता=एकनिष्ठा, सर्वथा एकमें अनुराग रखने वालोंका भाव। पधति=पद्धति, प्रणाली, रीति, परिपाटी, मार्ग। उधारी=उद्धार किया। प्रसिद्ध किया, प्रचार किया। रासि=ढेर, समूह। भूरिदा=भूरि=अधिक,+दा=दाता, बहुत देने वाला। भवाब्धि=भव=संसार+अब्धि=समुद्र, संसारसागर। पार के=उस पार जानेके लिए। पोता=पोत, जहाज। नन्दन=पुत्र, आनन्ददायक। त्रिविधताप=दैहिक, दैविक, भौतिक दुःख। आमय=रोग, चोट, मानसिक काम क्रोधादि।

भावार्थ—मैं राजा निमिजी और नव योगीश्वरों की चरणपादुकाओंकी शरणमें हूँ। कवि, हरि और करभाजनजी भक्तिके अथाह समुद्र हैं। अन्तरिक्ष और चमसजी वैष्णव उपासनामें अनन्यता की परिपाटीको चलानेवाले हैं। प्रबुधजी प्रेमकी राशि हैं। आविर्होताजी ज्ञान और भक्तिके उदार दाता हैं। पिप्पलजी और द्रुमिलजी प्राणियोंको भवसागरसे पार करनेवाले प्रसिद्ध जहाज हैं। श्रीऋषभदेवजीकी पत्नी जयन्ती देवी को आनन्दित करनेवाले उनके ये नवपुत्र संसारके तीनों प्रकारके तापोंको तथा मानसिक रोगों को हरनेवाले हैं॥१३॥

व्याख्या—निमिजी—इनका चरित पूर्व छप्पय में आ चुका है।

नव योगीश्वर—ये श्रीऋषभ देवजी के पुत्र है। इनके नाम—'कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः। आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः॥ (भा०) ये महाभागवत एव भागवत धर्म विज्ञाता हुये। 'पादत्राण की हौं शरण'—यथा—श्रीभरतलालजी—'मेरे सरन रामहिं की पनही।' श्रीनिषादराजजी—'सुमिरि राम पद पंकज पनही।' (रा० च० मा०)

दृष्टांत—श्रीवेङ्कटनाथजी का—शेषावतार श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजीके पवित्र सम्प्रदाय मे श्रीवैष्णव जगतके महान आचार्य श्रीवेङ्कटनाथ का प्राकट्य विक्रम संवत् १३२५ में विजयादशमी के दिन हुआ था। ये बहुत बड़े विद्वान्, प्रचारक, महानभक्त तथा परम आदर्श चरित

महात्मा थे। इनकी वढ़ती हुई प्रतिष्ठासे जलने वाले कुछ लोग इनसे द्वेष करते थे और सदा यही सोचा करते थे कि किसी प्रकार इनकी प्रतिष्ठा भङ्ग हो। एक दिन कुछ इर्ष्यालु लोगों ने मिलकर आपके द्वार पर जूतों की माला लटका दी। वह इतनी नीची थी कि वाहर निकलते ही उसका सिर में लगना अवश्यम्भावी था। जव श्रीवेङ्कटनाथजी अपनी कुटी से वाहर निकले तो उन्होंने इस कुकृत्य को देखा, परन्तु मनमें किञ्चित् क्षोभ नही हुआ। वड़ी शान्ति पूर्वक वाहर निकल आये और यह कहने लगे-

'कर्मावलम्वकाः केचित् केचिज्ज्ञानावलम्बकाः। वयं तु हरिदासानां पादत्राणावलम्वकाः॥'

अर्थात् कोई कर्म मार्ग का आश्रय लेते हैं और कोई ज्ञान मार्ग का। परन्तु हमें तो एकमात्र भगवद् भक्तों की पनहियाँ ही सहारा है। इन शब्दों को सुनकर आस-पास के लोग वहुत प्रभावित हुये, और जिन लोगों ने यह कुकृत्य किया था, उनको वड़ी ग्लानि हुई और वे आकर आपके चरणों में पड़कर क्षमा माँगे। (सत्कथाङ्क)

भावुक भक्त तो श्रीहरि एवं हरिदासों के पाद-त्राणों के प्रति भी आराध्यवत् अत्यन्त आदर वुद्धि रखते हैं। जैसे श्रीभरतलालजी—

चौपाई—प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं। सादर भरत सीस धरिलीन्हीं॥
भरत मुदित अवलम्व लहे ते। अस सुख जस सियराम रहे तें॥

पुनः दो०— सुनि सिख पाइ असीस वड़ि, गनक वोलि दिन साधि।
सिंहासन प्रभु पादुका वैठारे निरुपाधि॥
नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदय समाति।
माँगि माँगि आयसु करत, राजकाज वहुभाँति (रा० मा०)

तथा-मदनमोहन सूरदासजी—'सन्तन की पानहीं को रक्षक कहाऊँ मैं॥' (भक्तमाल) यही 'पादत्राण की हौं शरण' का वास्तविक अभिप्राय है! यह नहीं कि—'दास पनहियन के वनें, तकत रहैं नित घात। अवसर पाइ वजार में, वेंचि मिठाई खात॥'

दृष्टान्त—पनहियाँ भक्त का—एक आदमी का तकियाकलाम था—वह वात—वात में कहा करता था कि 'हम आपकी पनहियों के दास हैं।' तथा स्वभाव से वड़ा कंजूस था। एक वार उसके मित्रो ने उससे वड़ा आग्रह किया कि 'तुम हम लोगों की दावत करो। उसने वात मान ली, सवको निमन्त्रित कर दिया। लोग निर्दिष्ट समय पर वड़े ठाठ—वाट से वढ़िया धोती, वढ़िया कुर्ता और वढ़िया जूता पहन-पहन कर आये। उसने सवको मकान की दूसरी मंजिल पर ले जाकर वैठाया। गद्दा-तकिया लगा दिया। स्वयं नीचे आकर सवके जूतों को समेटकर दुकानपर ले जाकर वेंच दिया और उसकी कीमत से हलवाई की दुकान से वढ़िया-वढ़िया मिठाई मोल ले आया। मित्र-मण्डली मिठाई खाती और सराहती जाती थी। यह हाथ जोड़कर वड़ी विनम्रता से कहता—'यह सव आप लोगों की पनहियन की कृपा है।' लोग इस कथनको मित्रकी शालीनता समझते, निरभिमानता समझते। जव सव लोग खा-पीकर चलने को प्रस्तुत हुये तो देखें—जूता नदारत। पूछते, वह वही पूर्व का वाक्य दुहराता - मैंने तो पहले ही कहा कि 'यह सव आप लोगों की पनहियन की कृपा है।' धीरे-धीरे वात स्पष्ट हुई। मित्रों को

अपनी-अपनी गांठ से पैसा खर्च कर अपने जूते छुड़ा लाये, लेने के देने पड़े । अच्छी मुँह की खानी पड़ी ।
अपना-सा मुँह लेकर घर गये ।।

अनन्यता पद्धति—यथा—

सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त ।।(रामा०)

भूरिदा—यथा-तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदाजना ।। (भा०)

अर्थ—प्रभो ! आपकी लीला-कथा अमृत स्वरूप हैं, तप्त प्राणियों के लिये तो वह जीवन सर्वस्व है । वड़े-वड़े ज्ञानी महात्माओं, भक्त कवियों ने उसका गान किया है, वह समस्त पाप-ताप तो मिटाती ही है, साथ ही श्रवण मात्र से परम मङ्गल, कल्याणका दान भी करती है । वह परम सुन्दर, परम मधुर, विस्तृत भी है । जो आपकी उस लीला-कथा का गान करते हैं, वास्तव में भूलोक में वही सवसे वड़े दाता हैं ।

जयन्ती—इन्द्रकी कन्या, ऋषभदेवजी की पत्नी, नव योगीश्वरों की माता । 'त्रिविध ताप' यथा—'दैहिक दैविक भौतिक तापा । राम राज नहिं काहुहिं व्यापा ।। (रामा०) दैहिक ताप—वह सारे कष्ट जो मिथ्या आहार-विहार और देह-संसर्ग से उत्पन्न होते हैं, दैहिक ताप कहलाते है । जैसे ज्वर, अतिसार आदि । दैविक ताप—वह सब कष्ट जो आकाशीय ग्रहों की गति के कारण, अग्नि, जल वायु या पृथ्वी के उपद्रवों के कारण अथवा अनेक तरहके संक्रामक रोगों के कारण होते हैं, दैविक ताप कहलाते है । भौतिक ताप—वह समस्त कष्ट, जो कीट पतङ्गादि सूक्ष्म प्राणियों से लेकर आवागमन शील प्रेतों और पितरों के आक्रमण से होते हैं, भौतिक ताप कहलाते हैं ।

श्री निमि और नव योगीश्वर संवाद—एकवार की वात है—महाराज निमि वडे-वड़े ऋषियो के द्वारा एक महान यज्ञ करा रहे थे । पूर्वोक्त नव-योगीश्वर स्वच्छन्द विचरण करते हुये उनके यज्ञ मे जा पहुँचे । सूर्य के समान तेजस्वी, परमानुरागी इन नव-योगीश्वरों को देखकर राजा निमि और ऋत्विज आदि व्राह्मण सवके सव स्वागतमें खड़े हो गये । प्रेम तथा आनन्द से भरकर विधि पूर्वक इनकी पूजा की । ततपश्चात् श्रीनिमिजी ने कहा—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः । तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रिय दर्शनम् ।।

अर्थ-भगवन्! जीवोंके लिये मनुष्य शरीरका प्राप्त होना दुर्लभ है । यदि यह प्राप्त भी हो जाता है तो प्रतिक्षण मृत्यु का भय सिर पर सवार रहता है । क्योकि यह क्षणभंगुर है । इसलिये अनिश्चित मनुष्य जीवन मे भगवान के प्यारे और उनके प्यार करने वाले भक्तजनों का, सन्तों का दर्शन तो और भी दुर्लभ है । हम आप-लोगोसे यह जानना चाहते है कि जीवके परम कल्याणका स्वरूप क्या है और उसका साधन क्या है ? तथा कृपा करके भागवत धर्मों का भी वर्णन कीजिये । (भा०)

श्रीनिमिजी के प्रश्न का अभिनन्दन करते हुये श्री कविजी वोले—

मन्येऽकुतश्चिद् भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धे रसदात्मभावाद् विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ।। (भा०)

अर्थ—राजन् ! भक्तजनों के हृदय से कभी दूर न होने वाले अच्युत भगवान के चरणो की नित्य निरन्तर उपासना ही इस संसार में परम कल्याण—आत्यन्तिक क्षेम है और सर्वथा भय शून्य है । ऐसा मेरा निश्चित मत है । देह-गेहादि तुच्छ एवं असत् पदार्थो में अहंता एवं ममता हो जाने के कारण जिनकी चित्तवृत्ति उद्विग्न हो रही है, उनका भय भी इस उपासना का अनुष्ठान करने पर पूर्णतया निवृत्त हो जाता है ।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥ (भा०)

अर्थ—कल्याण कामी पुरुष शरीर से, वाणी से, मन से इन्द्रियो से, बुद्धि से, अहंकार से, अनेक जन्मों अथवा एक जन्म की आदतों से स्वभाववश जो जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान नारायण के लिये ही है—इस भाव से उन्हें समर्पण कर दे ॥

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥(भा०)

अर्थ—संसार में भगवान के जन्म की और लीला की बहुत-सी मङ्गलमयी कथाएं प्रसिद्ध हैं, उनको सुनते रहना चाहिये । उन गुणों और लीलाओं का स्मरण दिलाने वाले भगवान के बहुत से नाम भी प्रसिद्ध है । लाज संकोच छोड़कर उनका गान भी करते रहना चाहिये । तथा सर्वत्र आसक्ति शून्य होकर विचरण करते रहना चाहिये ।

खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किंचभूतं प्रणमेदनन्यः ॥(भा०)

अर्थ—राजन् ! यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशायें,वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सबके सब भगवान के शरीर हैं । ऐसा समझ कर अनन्य भक्त प्राणी मात्र को प्रणाम करता है ।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥(भा०)

अर्थ—जैसे भोजन करने वाले को प्रत्येक ग्रास के साथ ही तुष्टि, पुष्टि, और क्षुधानिवृत्ति—ये तीनों एक साथ हो जाते हैं । वैसे ही जो मनुष्य भगवान की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजन के प्रत्येक क्षण में भगवान के प्रति प्रेम, अपने प्रेमास्पद प्रभु के स्वरूपका अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं से वैराग्य—इन तीनों की ही एक साथ ही प्राप्ति होती जाती है ।

भगवद्भक्तों के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर श्रीहरि ने कहा—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

अर्थ—आत्मस्वरूप भगवान समस्त प्राणियों में आत्मा रूप से, नियन्ता रूप से स्थित हैं और साथ ही समस्त प्राणी और समस्तपदार्थ आत्म स्वरूप भगवान में स्थित हैं । इस प्रकार का जिसको अनुभव है, उसे उत्तम भागवत समझना चाहिये ।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्म सुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लव निमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्य ॥(भा०)

अर्थ—बड़े-बड़े देवता और ऋषि मुनिभी अपने अन्त.करणको भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूंढते रहते हैं—भगवान के ऐसे चरणकमलों से आधे क्षण, आधे पल के लिये भी जो नही हटता, निरन्तर उन चरणों की सन्निधि और सेवा में संलग्न रहता है। यहां तक कि कोई स्वयं उसे त्रिभुवन की राज्य लक्ष्मी दे तो भी वह भगवत्स्मृतिका तार नही तोड़ता है, उस राज्य लक्ष्मी की ओर ध्यान नहीं देता, वही पुरुष वास्तव में भगवद्भक्त वैष्णवो में अग्रगण्य है।

श्रीनिमिजी की जिज्ञासा पर श्रीकरभाजनजी ने चारों युगों के ध्येय स्वरूपों का वर्णन करते हुए कलियुग में भगवन्नामसङ्कीर्तन को सर्वश्रेष्ठ और सर्वसुलभ साधन बताया है। यही कारण है कि सत-युग, त्रेता और द्वापर की प्रजा चाहती है कि हमारा जन्म कलियुग में हो। आपका कथन है कि कलियुग में भगवत्परायणभक्त बहुत होगे। यथा—

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्। कलौ खलु भविष्यन्ति नारायण परायणा.॥ (भा०)

भगवच्छरणागति की महिमा वर्णनकरते हुए श्रीकरभाजन जी कहते है कि—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

अर्थ—राजन्! जो मनुष्य 'यह करना बाकी है, वह करना आवश्यक है'—इत्यादि कर्म वास-नाओं अथवा भेद बुद्धि का परित्याग करके सर्वात्मभाव से शरणागत वत्सल, प्रेम के वरदानी भगवान मुकुन्दकी शरण में आ गया है, वह देवताओ, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटम्बियों और अतिथियों के ऋण से उऋण हो जाता है। वह किसी के अधीन, किसी के बन्धन में नहीं रहता॥

श्रीअन्तरिक्षजी ने मायाका विशद विवेचन किया है। दृश्यमान जगत की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय माया के ही कार्य हैं। यथा—'एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्त कारिणी॥' माया से मोहित होकर ईश्वरांग, चेतन, अमल, अविनासी, सहज सुखराशि जीव अनेक प्रकारकी कामनाओंसे युक्त होकर अनेकों कर्म, अकर्म विकर्म करता है और उनके अनुसार शुभकर्म का फल सुख और अशुभ कर्म का फल दुःख भोगता है और विविध योनियो में जन्म लेकर इस संसार में भटकने लगता हैं। यथा—'कर्माणि कर्मभिः कुर्वन् सनिमित्तानि देहभृत्। तत्तत् कर्म फलं गृह्णन् भ्रमतीह सुखेतरम्॥

श्रीचमसजी ने विमुख जीवों का अध.पतन वर्णन करते हुए उन्हें साधु-पुरुषों की दया का पात्र बताया है। यथा—

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः॥

अर्थ—यह शरीर मृतक शरीर है इसके सम्बन्धी भी इसके साथ ही छूट जाते है। जो लोग इस शरीर से तो प्रेम की गांठ बांध लेते हैं और दूसरे शरीरों में रहने वाले अपने ही आत्मा एवं सर्वशक्तिमान भगवान से द्वेष करते हैं, उन मूर्खो का अधःपतन निश्चित है। 'तेऽनुकम्प्या भवादृशाम्। अर्थात् वे आप जैसे साधु पुरुषों की दया के पात्र हैं।

भगवान की दुरत्यया माया से पार पाने के लिए उपाय निरूपण करते हुए श्रीप्रबुद्धजी कहते हैं कि—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् । शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः । अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः॥

अर्थ—इसलिये जो परम कल्याण का जिज्ञासु हो, उसे गुरुदेव की शरण लेनी चाहिये। गुरुदेव ऐसे हों जो शब्द ब्रह्म-वेदों के पारदर्शी विद्वान् हों, जिससे वे आश्रित को ठीक-ठीक समझा सके, तथा साथ ही परब्रह्म में परिनिष्ठित तत्वज्ञानी भी हों, ताकि अपने अनुभव के द्वारा प्राप्त हुई रहस्य की बातों को बता सके। उनका चित्त शान्त हो, विशेष व्यावहारिक प्रपञ्च में प्रवृत्त न हों॥ जिज्ञासु को चाहिये कि गुरु को ही अपना परम प्रियतम आत्मा और इष्टदेव माने। उनकी निष्कपट भावसे सेवा करे और उनके पास रहकर भागवत-धर्म की—भगवान को प्राप्त कराने वाले भक्ति-भाव के साधनों की क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करे। इन्हीं साधनों से सर्वात्मा और भक्तों को अपने आत्मा का दान करने वाले भगवान प्रसन्न होते है। संत-सद्गुरु समाश्रित साधक को चाहिये कि वह स्वयं राशि-राशि पापों को नष्ट करने वाले भगवान श्रीहरि के महा-मङ्गलमय नामों का स्मरण करे और एक दूसरे को स्मरण करावे। (भा०)

इस प्रकार साधन भक्ति का अनुष्ठान करते करते प्रेम भक्ति का उदय हो जाता है। जिससे शरीर में निरन्तर प्रेम के अष्टसात्विक भाव रोमांच आदि बने ही रहते है। यथा—स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्। भक्त्या सञ्जातया भक्त्या विभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥ जो इस प्रकार भागवत-धर्मो की शिक्षा ग्रहण करता हैं, उसे उनके द्वारा प्रेमलक्षणा-भक्ति की प्राप्ति हो जाती है और वह भगवान नारायण के परायण होकर उस माया को अनायास ही पार हो जाता है जिसके पंजे से निकलना बहुत ही कठिन है।

श्रीनिमिजी के कर्मयोग के सम्बन्ध मे जिज्ञासा करने पर श्रीआविर्होताजीने भगवत्सेवा-पूजारूप कर्म को परम कल्याण-दायक बताया है। यथा—

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥

अर्थ—जो पुरुष चाहता हैं कि शीघ्रसे शीघ्र मेरे ब्रह्मस्वरूप आत्माकी हृदय ग्रन्थि—मैं और मेरे की कल्पित गांठ खुल जाय, उसे चाहिए कि वह वैदिक और तान्त्रिक दोनों ही पद्धतियों से भगवान की आराधना करे। आराधना–विधि का संकेत करते हुए कहते हैं कि—

साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्ति स्वमन्त्रतः। पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासो विभूषणैः॥
गन्धमाल्याक्षत स्रग्भि धूप दीपोपहारकैः। साङ्ग सम्पूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम्॥

अर्थ–अपने अपने उपास्यदेवके विग्रहकी हृदयादि अङ्ग, आयुधादि उपाङ्ग और पार्षदोंके सहित मूलमन्त्र द्वारा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क स्नान, वस्त्र, आभूषण, गन्ध, पुष्प, अक्षत (तिलकालङ्कार में, अन्यथा नहीं–'नाक्षतैरर्चयेद् विष्णु'') अर्थात् दधि-अक्षत के तिलक, माला, धूप, दीप और नैवेद्य आदि से

विधिवत् पूजा करे तथा फिर स्तोत्रो द्वारा स्तुति करके सपरिवार भगवान श्रीहरि को नमस्कार करे। ऐसा करने से वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। यथा—'अचिरान्मुच्यते हि सः' ॥ (भा०)

श्रीपिप्पलायनजीने भगवत्स्वरूप का निरूपण करते हुये भगवद् भक्ति का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। यथा—

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या चेतो मलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः॥

अर्थ—जब भगवान कमलनाभ के चरणकमलों को प्राप्त करने की इच्छा से तीव्र भक्ति की जाती है, तब वह भक्ति ही अग्नि की भाँति गुण और कर्मो से उत्पन्न हुये चित्त के सारे मलों को जला डालती है। जब चित्त शुद्ध हो जाता हैं, तब आत्मतत्व का साक्षात्कार हो जाता है—जैसे नेत्रो के निर्विकार होने से सूर्य के प्रकाश की प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है।

श्रीद्रुमिलजीने श्रीनिमिजीके पूछने पर भगवान के विविध अवतारों का वर्णन किया है (देखिये छप्पय ५ अवतार कथायें) आपका कहना है कि—भगवान अनन्त हैं। उनके गुणभी अनन्त हैं। जो यह सोचता है कि मैं उनके गुणों को गिन लूँगा, वह मूर्ख है, बालक है। यह तो सम्भव है कि कोई किसी प्रकार पृथ्वी के धूलि कणोको गिन ले परन्तु समस्त शक्तियों के आश्रय भगवान के अनन्त गुणो का कोई कभी किसी प्रकार पार नही पा सकता है। यथा—

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ताननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित् कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः॥ (भा०)

पद पराग करुणा करौ नेता नवधा भगति के॥
श्रवण परीक्षित सुमति व्यास सावक सुकीरतन।
सुठि सुमिरन प्रहलाद पृथु पूजा कमला चरनन मन॥
बन्दन सुफलक सुवन दास्यदीपत्ति कपीश्वर।
सख्यत्वे पारत्थ समर्पन आतम बलिधर॥
उपजीवी इन नाम के एते त्राता अगति के।
पद पराग करुणा करौ नेता नवधा भगति के॥१४॥

शब्दार्थ—पद पराग=चरण कमल रज। नेता=नायक, सरदार, प्रवर्तक, आचार्य, अगुआ। नवधा=नौ प्रकार की। श्रवन=[कथा कीर्तन] सुनना। सावक=पुत्र, शिशु। कीर्तन=जीभ से भगवत के नाम और गुणोंका सप्रेम उच्चारण, गायन। सुठि=सुन्दर। सुमिरण=स्मरण, मनमें याद करना। पूजा=आराधना, अर्चना, श्रद्धा सम्मान एवं समर्पणके भावोंको प्रकट करने का कार्य। वन्दन=प्रणाम,

स्तुति। सुवन=पुत्र। दीपत्ति=दीप्ति, द्युति, प्रकाश, प्रभा। कपीश्वर=कपि=वानर+ईश्वर=स्वामी, हनूमानजी। सख्यत्वे=मित्रतामें, सख्य रसमें। समर्पन=समर्पण, निवेदन, अच्छी प्रकार से सदाके लिए देना। आतम=आत्मा, मन अपनपौ। उपजीवी=आश्रित। त्राता=रक्षक। अगति=दुर्दशा, नरक, विमुखता।

भावार्थ—श्रवण आदि नव प्रकारकी भक्तिके जो मुख्य आचार्य हैं, वे अपने चरणकमलोकी रज देते हुए हम दयनीय दासों पर करुणा (तरस-दया) करे। बुद्धिमान् परीक्षितजी श्रवणभक्तिके तथा व्यास पुत्र शुकदेवजी कीर्तनभक्तिके, सुन्दर रूपसे स्मरण करने वालोंमें प्रह्लादजी, अष्टयाम भगवच्चरणसेवनमें मन देनेवालोंमें लक्ष्मीजी और विधि समेत पूजन भक्तिमें पृथुजी प्रधान है। वन्दन भक्तिमें श्वफल्क पुत्र अक्रूरजी और दास्यभक्तिको प्रकाशित करने वालोमें हनूमानजी सर्वश्रेष्ठ हैं। सख्यरसके उपासकोंमें अर्जुन और सर्वस्व समेत आत्मसमर्पण करनेवालोमें राजा वलि अग्रगण्य हैं। मैं नवधा भक्तिके इन आचार्योंके नामके आश्रित हूँ अर्थात् इनका नाम लेकर जीविका चलाता हूँ, जीवन धारण करता हूँ। ये जीवोंको नरक-विमुखता आदि दुर्गतियोंसे बचाते हैं। इनश्रेष्ठ भागवतोंकी कृपासे ही नवधा भक्तिका आचरण सम्भव है ॥१४॥

व्याख्या—पद्—पराग—देखिये 'चरण रेणु आसाधरी' (छप्पय ९)

नवधा भक्ति—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ (भा० श्रीप्रहलाद वाक्य)

जैसा—यथा—श्रीकृष्णश्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने,
प्रह्लादस्मरणे ऽङ्घ्रिपद्मभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपति र्दास्ये च सख्ये ऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने वलिरभूत् कैवल्यमेते विदुः ॥

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराजारामजी को नवधा भक्ति के नव आदर्श ये हैं—

नवधा भक्ति निधान ये राम प्राण प्रिय भक्त दश ॥
श्रवण समीर कुमार कीरतन कुश लव निर्भर।
शुचि सुमिरन रत भरत चरण सेवन अंगदकर ॥
पूजन शवरी शुभ सुमन्त्र वन्दन अधिकारी।
लखन दास्य सुग्रीव सख्य सुख लूटचो भारी ॥
आत्म समर्पण गीध पति कृत अपूर्व करि लिये यश।
नवधा भक्ति निधान ये राम प्राण प्रिय भक्त दश ॥ (श्रीरूपकलाजी)

श्रीपरीक्षितजी

श्रवण रसिक कहूँ सुने न परीक्षितसे पानहू करत लागी कोटि गुणी प्यास है।
मुनिमन माँझ क्यों हूँ आवत न ध्यावत हूँ वही गर्भमध्य देखि आयो रूप रास है ॥

कही शुकदेव जू सों टेव मेरी लीजै जानि प्रान लागे कथा नहीं तक्षक को त्रास है।
कीजिये परीक्षा उर आनी मति सानी अहो वानी विरमानी जहां जीवन निरास है ॥६७

शब्दार्थ—पान=पीना, कथा श्रवण। प्यास=पीने—सुनने की इच्छा। तक्षक=सांप। सानी=सन गई, रम गई। विरमानी=रुकी, विराम हुआ।

भावार्थ—जो भगवान का गुणानुवाद सुनकर अपूर्व सुख का अनुभव करते हैं, ऐसे श्रवण-रसिक भक्त अनेकों हैं पर परीक्षितके समान श्रवण-रसिकभक्त सुनने में नही आए। वे जैसे जैसे कथा रूपी अमृत का कर्णपुटों से पान करते थे, वैसे ही वैसे उनकी प्यास अर्थात् कथा-श्रवण की अभिलाषा करोड़ों गुनी बढ़ती जाती थी। समाधि लगाकर निरन्तर ध्यान करने पर भी मुनियों के हृदय में जो भगवान नही आते है, उन्ही रूप के समूह भगवान श्रीकृष्णचन्द्र का दर्शन परीक्षितजी ने अपनी माताके गर्भ में ही किया था। श्रीमद्भागवत की कथा श्रवण करतेहुए उन्होने शुकदेवजीसे कहा कि—आप हमारी टेव को जान लीजिए, मेरे प्राण कथा में लीन हो रहे हैं, मुझे सांप के डसने का भय बिल्कुल नहीं है। आप चाहें तो परीक्षा ले कर देखले। शुकदेवजी ने मन में मान लिया कि राजा की बुद्धि कथा में लीन हो गई है, राजा की श्रवण-निष्ठा अनुपम है। सातवें दिन कथा कहकर जैसे ही शुकदेवजी की वाणी ने विश्राम किया वैसे ही राजा ने शरीर त्याग दिया ॥६७॥

व्याख्या—श्रवण—देखिये 'उबटनौ श्रवण कथा' (कवित्त ३) श्रवण रसिक—यथा—

जिनके श्रवण समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरिनाना।
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम कहँ गृह रूरे॥

जैसे श्रीहनुमानजी—'प्रभु चरित्र सुनिबे को रसिया'। (हनुमान चालीसा)

यत्र यत्र रघुनाथ कीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
वाष्पवारि परिपूर्ण लोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥

पुनः— जयति रामायण-श्रवण संजात रोमांचलोचन-सजल-सिथिल वानी॥ (विनय)

श्रीसनकादिजी—

'आसा वसन व्यसन यह तिन्हही। रघुपति चरित होइ तहँ सुनही॥ श्रीशौनकजी। (देखिये छप्पय १०) भगवत-भागवत यश सुनकर तृप्त हो जाने वालोको अरसज्ञ कहा गया है। यथा—रामचरित जे सुनत अघाही। रस विशेष जाना तिन नाही॥ (रामा०) रसिक श्रोता को पाकर आचार्य गुह्यातिगुह्य रहस्य को भी कह देते हैं। यथा—

श्रोता सुमति सुसील सुचि, कथा रसिक हरिदास।
पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास॥ (रामा०)

पुनः— ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥ (भा०)

पुनः— अन्यमना दृगलोल पदच्छेदक असमञ्जस।
अस्थित अधीर श्रुतिमन्द पलक झपकै निद्राबस॥

प्रश्नप्रसङ्ग न मिलै मधुर अनुमोदन अक्रिय।
वादि रसिकरस छहर अनभिज्ञ अलापत प्रियाप्रिय ॥
रसिकअनन्य विशालमति बातकहत अनुभव सुकृत।
दसदोष रहित श्रोता मिलै उज्ज्वल रस बरसै अमृत ॥ (पुरानी टिप्पणी)

श्रोता दो प्रकार के होते है—१-प्रवर, २-अवर। प्रवराश्चातको हंसः शुको मीनादयस्तथा। अवरा वृकभूरुण्डवृषोष्ट्राद्याः प्रकीर्तिताः ॥ (स्क०पु०) प्रवर (श्रेष्ठ)=चातक, हंस, शुक, मीनादि। अवर (अधम)=वृक,भूरुण्ड, वृष और ऊंट आदि। चातक—जो केवल इष्ट विषय ग्रहण करे। शुक-जो वक्तासे सुनकर अपनी सुन्दर वाणीसे दूसरोंको सुनावे। मीन—जो मौन होकर रसास्वादन करे। वृक—जो बीच-बीच में बोलकर रस भंग करते है। भूरुण्ड—जो दूसरे से सुनकर जैसा का तैसा दूसरों को सुनाते है परन्तु स्वयं आचरण में नहीं लाते। वृष—जो सरस नीरस सबको समान समझे। ऊँट—जो रस से प्रेम न करके नीमवद् कटुक भावों को ही पसन्द करते है। संक्षेप में—आलस्य रहित होकर प्रेमपूर्वक कथा सुनने वाले उत्तम श्रोता को पाकर वक्ताके हृदय में सुन्दर-सुन्दर भाव-तरंगें उठती हैं और कथा में आकर ऊँघने वाले श्रोता तो स्वयं कथा के रसास्वादन से वंचित होते ही है, वक्ता का मन भी उदास कर देते है। इस पर—

दृष्टान्त—खारी कथा का—एक सेठानी नित्य नियम से कथा सुनने जाया करती थीं, परन्तु सेठजी कभी नहीं जाते थे। उलटे सेठानी से कहते कि क्या धरा है कथा में, जो कि तुम रोज-रोज जाती हो। सेठानी मन ही मन भगवान से प्रार्थना करती कि यह भी कथा सुनने लगें। सेठानी ने एक दिन एक उपाय रचा। उत्सव का दिन था, उसने बढिया-बढिया पदार्थ बनाये। सेठजी भोजन करने बैठे तो उन्हे स्वाद आया, बोले—आज तो रसोई में बड़ी मिठास है। सेठानी ने कहा—इसमें क्या मिठास है? मिठास तो असल मे भगवान की कथा में है। उस मिठास के सामने तो इन भोजनों में मानों कुछ भी मिठास नहीं है। सेठ ने कहा—यदि ऐसी बात है तो आज मैं भी कथा सुनने चलूँगा। सेठजी को बैठे-बैठे ऊँघने का अभ्यास था अतः समाज में न बैठकर एकान्त में अकेले कथा सुनने बैठे। आखिर झपकी आ ही गयी। सेठजी मुँह खोलकर खर्राटे लेने लगे।

तब तक एक कुत्ता आकर इनके मुँह में लघुशङ्का कर गया। निद्रा भङ्ग हुई तो इन्हें मुँह का स्वाद खारा-खारा सा लगा। घर जाने पर सेठानी ने पूछा— कैसी कथा लगी? सेठ ने कहा—तुमने तो कहा था कि कथा बड़ी मीठी होती है, परन्तु हमें तो खारी-खारी सी लगी। सेठानी ने पूछा—कहा बैठे थे? इन्होंने बताया-सबसे दूर, अलग। सेठानी समझ गई। उसने बात सँभाल ली। उसने कहा—सेठ जी! प्रथम-प्रथम और उसमे भी दूर बैठने से तो कथा खारी ही लगती है, रोज-रोज जाकर समीप से सुने तो मीठी लगने लगती है और नित्य सुननेपर तो ऐसी मीठी लगने लगती है कि छोड़ी नहीं जाती। दूसरे दिन जब सेठजी कथा सुनने गये तो सेठानी समीप बैठी और जब इनको नींद आई तो सबकी आंख बचाकर सेठानी ने इनके मुँह में दो बतासे डाल दिया। आज सेठ ने सराहना की। इसी प्रकार सेठानीने दो-चार दिन ऐसे ही किया, फिर तो सेठ को कथा सुनने का चस्का लग गया।

दूसरा दृष्टांत—ठाली-ठाली का—एक बनिया कथा सुननेके लिए गया। वक्ता के समीप ही जाकर बैठा। थोड़ीदेर बाद उसको नीदआगई। उसीमे टाली-ठाली कहकर लठिया चलाया, सो वक्ता महोदय के सिर में जालगी। कथा में विघ्न हो गया। लोगों ने पूछा—तुमने यह क्या किया?

उसने वहुत ही सकुचित होकर कहा—पञ्चो! हमारे परचून की दुकान है, सो एक गाय रोज चावल, दाल के वोरे मे मुँह मार जाती है, मुझे नीद में ऐसा लगा कि मैं दुकान पर वैठा हूँ, गैया आई है और मैं उसे भगाने लगा। लोग हँस गये और वोले कि प्रथम तो कथा में आकर सोवो नही, यदि सोनेका अभ्यास सिद्ध ही हो गया हो तो समीप मत वैठो और यदि समीप ही वैठना हो तो लठिया संग मत लाया करो। कथामें सोना ठीक नही।

तीसरा दृष्टांत—होडल के वनियाँ का—इसको भी कथा में वैठें-वैठे ऊँघने का अभ्यास था और वैठता वक्ता के समीप ही। लोग समझावुझाकर हार गये परन्तु इसने न तो सोना छोड़ा, न समीप वैठना छोड़ा और न कथा में आना छोड़ा। एक दिन कथा मे जाने का समय हो गया था, उसी समय कपड़े का एक ग्राहक आगया। वह एक रूपये का दस गज मांगता था, यह नव गज देता था। सौदा पटा नही। यह लड़के को दुकान पर वैठाकर चला आया। मनमे सौदे की लगी रही। कथा में वैठते ही नीद आगई। स्वप्न में लेन देन प्रारम्भ हुआ। इसने ग्राहक से कहा—न तेरे दस गज, न मेरे नव गज, साढ़े नव गज का लेलो। वात तै हो गई। श्रीव्यासजी को किसी सेवक ने नया दुपट्टा दिया था। उसका कोर भूल रहा था। उस वनियें ने ग्राहक को देने के लिये हाथ बढ़ाया तो व्यासजी का दुपट्टा हाथ लगा, उसी को फाड़ दिया। लोगों ने उसे वहुत फटकारा। तात्पर्य यह कि ऐसे श्रोता ठीक नही। श्रोता को रसिक होना चाहिये।

श्रीपरीक्षितजी परम रसिक श्रोता हैं। पाँच दिन तक एक आसन से वैठे हुये अखण्ड अहर्निश कथा श्रवण मे निमग्न चित्त श्रीपरीक्षितजी से छठें दिन श्रीशुकदेवजी ने पूछा—राजन्! क्या आप को भूख नही लगती? प्यास नही लगती? निरन्तर वैठे रहने पर भी श्रम का अनुभव नही होता? अरे! ये दुर्निवार वाधाये तो बड़े-वड़े योगियों को भी वाधित करती रहती है। यथा— 'छुधापीर सहि सकै न योगी।' इसको सवसे वड़ा कष्ट कहा गया है। यथा—'वासुदेव जरा कष्टं, कष्टं निर्धन जीवनम्। पुत्रशोकं महाकष्टं कष्टात्कष्टतरं क्षुधा॥ स्पष्टार्थ—एक राजाके दरवार में चार दुःखी मनुष्य पहुँचे। उनसे पूछा गया कि आप लोगों को क्या दुःख है तो उन चारों ने उपर्युक्त चार वाते बताई। (अथवा यों भी इस श्लोक की संगति लगाते हैं कि राजा ने अपने दरवार के पण्डितों से पूछा कि सबसे बड़ा दुःख क्या है तो इस पर पण्डितों ने उपर्युक्त श्लोक कहा था)

इसकी निवृत्तिके लिये कितने-कितने अन्न खा डाले गये, जल पी डाले गये परन्तु यह ज्यों की त्यों वनी रही। फिर कोई महायोगीश्वर यदि इन वाधाओं पर विजय भी प्राप्त कर ले तो कोई वात नहीं, आप एक राजा, अपार सुख-भोग में पले, फिर भी आपने इन पर कैसे विजय पाली? श्रीपरीक्षितजी ने कहा—'नैषातिदुः सहा क्षुन्मा त्यक्तोदमपि वाधते। पिवन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरि कथामृतम्॥' (भा०) अर्थ—भगवन्! अन्न की तो वात ही क्या, मैंने जल का भी परित्याग कर दिया है। फिर भी वह असह्य भूख-प्यास (जिसके कारण मैंने मुनि के गले में मृत सर्प डालने का अन्याय किया था) मुझे तनिक भी नही सता रही है, क्योकि मैं आपके मुख कमल से झरती हुई भगवान की सुधामयी लीला-कथा का पान कर रहा हूँ।

पानहूँ''' ''प्यास हैं—यही उत्तम श्रोता का लक्षण है। 'मुनि '' ''''ध्यावत हूँ'—यथा—'जिति पवन मन गो निरस कर मुनि ध्यान कवहुंक पावही॥ (रा०च०मा०) 'वही गर्भ''''रूप रास है'—

(कथा आगे लिखी जानी है।) इससे जनाया गया कि श्रीपरीक्षितजी का मुनियों से भी सौभाग्य विशेष है। क्योंकि जहां मुनियों के हृदय में प्रयत्न करने पर भी, भावनात्मक मूर्ति की भी स्फूर्ति नहीं होती, वहां इनको सहज ही साक्षात् रूपराशि भगवान के दर्शन हुये। 'नहीं तक्षकको त्रास है'—यथा—'भगवंस्तक्षकादिभ्योमृत्युभ्यो न बिभेम्यहम्। प्रविष्टो ब्रह्म निर्वाणमभयं दर्शितं त्वया॥ (भा०) अर्थ—भगवन्! तक्षक से मृत्यु को प्राप्त होने का भय अब मुझे नहीं है। क्योंकि अब तो मैं आपके द्वारा प्रदर्शित परम निर्भय ब्रह्मानन्द पद को प्राप्त हो गया हूं।

श्रीपरीक्षित जी पर भगवान का परमानुग्रह—भगवान श्रीकृष्णने अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर को उनका वह राज्य जो धूर्तोंने छल से छीन लिया था, वापस दिलाया, तथा द्रौपदी के केशों का स्पर्श करने से जिनकी आयु क्षीण हो गयी थी उन दुष्ट राजाओंका वध कराया। साथ ही युधिष्ठिर द्वारा उत्तम सामग्रियों से तथा वेद मन्त्र द्रष्टा ब्राह्मणों-पुरोहितों से तीन अश्वमेध यज्ञ कराये। इस प्रकार युधिष्ठिर के पवित्र यश को सौ यज्ञ करने वाले इन्द्रके यश की तरह सब ओर फैलाकर भगवान श्रीकृष्ण ने वहां से जाने का विचार किया। फिर तो पांडवों से विदाली, श्रीव्यासादि ब्रह्मर्षियों की वन्दना कर तथा उनके द्वारा अत्यन्त सम्मानित होकर सात्यकि और उद्धव के साथ द्वारका जाने के लिये रथ पर सवार हुये। उसी समय उन्होंने देखा कि अर्जुन-कुमार अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा भय से विह्वल होकर दौड़ी चली आ रही है। श्रीकृष्णके समीप आकर उत्तरा बोली—देवाधिदेव! जगदीश्वर! आप मेरी रक्षा कीजिये। प्रभो! आप महायोगी हैं, सर्वशक्तिमान हैं। यह प्रलयाग्नि के समान दहकता हुआ लोहे का वाण मेरी ओर दौड़ा आ रहा है। स्वामिन्! यह मुझे भले ही जला डाले परन्तु मेरे गर्भ को नष्ट न करे—ऐसी कृपा कीजिये।

भक्तवत्सल भगवान श्रीकृष्ण जान गये कि द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने पाण्डवों के वंशको निर्वीज करनेके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया है। उसने पांच वाण पाण्डवों पर भी चलाये थे। भक्त दुःख कातर प्रभुने अपने अनन्य प्रेमियों पर वहुत वड़ी विपत्ति आयी जान कर अपने महास्त्र सुदर्शन चक्र से तो पाण्डवों की रक्षाकी और स्वयं अंगुष्ठ प्रमाण शरीर धारण कर महायोगेश्वर श्रीकृष्ण गदा लेकर उत्तरा के गर्भ में प्रविष्ट हो गये। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि 'वही गर्भमध्य देखि आयो रूपरास हैं।' गर्भस्थ शिशु परीक्षित ने देखा कि उसकी आंखों के सामने सहसा एक ज्योतिर्मय पुरुष प्रकट हो गया है। वह देखने में तो अंगूठे भर का है, परन्तु उसका स्वरूप वहुत ही निर्मल है। अत्यन्त सुन्दर श्याम शरीर है, विद्युत् वर्ण पीताम्बर धारण किये हुये है, सिर पर स्वर्ण-मुकुट झिलमिला रहा है, वड़ी ही सुन्दर लम्वी-लम्वी चार भुजाएँ है। कानों में तपाये हुये स्वर्ण के सुन्दर कुण्डल है, आखों में लालिमा है, हाथमें लूके के समान प्रज्वलित गदा लेकर उसे वार-वार घुमाता जा रहा है और स्वयं शिशुके चारो ओर घूम रहा है। जैसे सूर्य अपनी किरणों से कुहरे को भगा देते हैं वैसे ही श्रीकृष्ण ने अपनी तेजोमयी गदा के द्वारा ब्रह्मास्त्र के तेज को शान्त कर दिया। भला भगवान के अमित तेज के समक्ष ब्रह्मास्त्र का अस्तित्व ही क्या?

इस प्रकार श्रीकृष्णने परीक्षितजी की रक्षा किया। शुभसमय में परमभागवत परीक्षित का जन्म हुआ। महाराज युधिष्ठिरने ब्राह्मणों से मङ्गलवाचन एवं जात कर्म संस्कार करवाये तथा दान-मानादि से ब्राह्मणों को परम सन्तुष्ट किया। श्रीयुधिष्ठिरजी के जिज्ञासा करने पर ब्राह्मणोंने बालकका

भविष्य कथन किया। ब्राह्मणों ने कहा—भगवान ने इस बालकके प्राण बचाये हैं अतः इसका नाम विष्णु रात होगा। निस्सन्देह यह बालक संसार में बड़ा यशस्वी होगा तथा यह होगा भगवान का परम भक्त। यह मनुपुत्र इक्ष्वाकु के समान प्रजापालक, भगवान श्रीरामके समान ब्रह्मण्य और सत्यप्रतिज्ञ, शिवि के समान दाता और शरणागत वत्सल होगा। दुष्यन्त पुत्र भरतके समान यज्ञ करने वाला, अर्जुन के समान धनुर्धर, अग्नि के समान दुर्धर्ष, समुद्र के समान दुस्तर, सिंह के समान पराक्रमी, हिमाचल के समान आश्रयार्ह, पृथ्वीके समान तितिक्षु एवं माता-पिताके समान सहनशील होगा। इसमें ब्रह्माके समान समता, शिवके समान कृपालुता होगी। विष्णुके समान प्राणिमात्रका पालन करने वाला होगा। रन्तिदेव के समान उदार, ययाति के समान धार्मिक, बलिके समान धैर्यवान, प्रह्लाद के समान भगवन्निष्ठ होगा। मर्यादा का उल्लङ्घन करने वालो को यह दण्ड देगा। यह पृथ्वी माता और धर्म की रक्षा के लिये कलियुग का भी दमन करेगा। ब्राह्मण कुमारके शापसे तक्षकके द्वारा अपनी मृत्यु सुनकर यह समस्त आसक्तियो को छोड़कर भगवान के चरणो की शरण लेगा। श्रीशुकदेवजो के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करके गङ्गा तटपर शरीर छोड़कर निश्चय ही अभय पद प्राप्त करेगा।

बालक विष्णुरात गर्भमें जिस पुरुषका दर्शन पाचुका था उसका स्मरण करता हुआ लोगो में उसीकी परीक्षा करता रहता था कि देखें इनमें से कौनसा वह है? किसी को पीत वस्त्र धारण किये हुये देखता तो घुटुरुवन चलकर उसके पास जाता, धोती का छोर पकड़ लेता, बड़ी उत्सुकता से ऊपर देखता, परन्तु यह देखकर कि यह तो वह पुरुष नही है, फिर उसे छोड़कर आकर दादा युधिष्ठिर की गोद में बैठ जाता। इसी से आगे चलकर इस बालक की परीक्षित नाम से प्रसिद्धि हुई।

भगवानके स्वधाम गमन का वृत्तान्त सुनकर निश्चलमति श्रीयुधिष्ठिर ने स्वर्गारोहण का विचार किया। अत. सब प्रकार से सुयोग्य पौत्र परीक्षित को सार्वभौम सम्राट् पदपर प्रतिष्ठित कर उन्मत्त का सा रूप बनाकर उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया। छोटे भाइयों एवं द्रौपदी ने भी महाराज युधिष्ठिर का अनुसरण किया और भगवान श्रीकृष्णके चरण कमलोंका चिन्तन करते हुये सभी परम पद को प्राप्त हो गये।

पाण्डवोके महाप्रयाण के पश्चात् परम भक्त राजापरीक्षित श्रेष्ठ ब्राह्मणों की शिक्षाके अनुसार पृथ्वी का शासन करने लगे। ज्योतिर्विद ब्राह्मणो के द्वारा पूर्व वर्णित समस्त सद्गुण उनमें विद्यमान थे। एक बार दिग्विजय करते समय उन्होने देखा कि शूद्रके रूप में कलियुग राजा का वेष धारणकर के गोरूप धारिणी पृथ्वी एव वृषभ रूपधारी धर्मको पाँवकी ठोकरों से मार रहा है। वह कमलतन्तु के समान श्वेत रंगका बैल एक पैर से खड़ा काँप रहा था तथा शूद्र की ताड़ना से पीड़ित और भयभीत होकर मूत्र त्याग-कर रहा था। धर्मोपयोगी दूध, घी आदि हविष्य पदार्थो को देने वाली वह गाय भी बार-बार शूद्र के पैरो से ठोकरें खाकर अत्यन्त दीन हो रही थी। इनकी दुर्दशा देखकर करुण-हृदय महाराज परीक्षितने इन्हे सान्त्वना दी और अधर्म के कारण रूप कलियुग को मारने के लिये तीक्ष्ण तलवार उठाई। श्रीपरी-क्षितजीकी सामर्थ्यमे परिचित कलियुग ने तुरन्त ही राजचिह्न फेंककर, भय से विह्वल होकर उनके चरणों मे अपनासिर रख दिया। शरणागत रक्षक परीक्षित ने उसके वध का निश्चय छोड़ दिया और उसके रहने का स्थान नियत कर दिया—द्यूत, मद्यपान, स्त्रीसङ्ग और हिंसा। कलियुग के प्रार्थना करने पर एक स्थान और दे दिया—सुवर्ण (धन)। इसलिये कल्याण कामी पुरुष को इन पाँचों स्थानों का सेवन कभी नही करना चाहिये। धर्म और पृथ्वी अपने समस्त दुःख शोकों से मुक्त होकर स्वस्थ हो गये।

एक दिन शिकार खेलने के प्रसङ्गमें ब्राह्मणकुमार से शाप मिलने की कथा पूर्व शमीकजीके प्रसङ्ग में लिखी जा चुकी है। राजधानी में पहुँचने पर राजा परीक्षित को अपने उस निन्दनीय कर्म के लिये वड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे अत्यन्त उदास हो गये और सोचने लगे—मैंने निरपराध एवं अपना तेज छिपाये हुये ब्राह्मण के साथ अनार्य पुरुषों के समान वड़ा नीच कर्म किया। यह बड़े खेद की बात है। अवश्य ही उन महात्माके अपमानके फलस्वरूप शीघ्रसे शीघ्रमुझपर कोई घोर विपत्ति आवेगी। मैं भी ऐसा ही चाहता हूँ क्योंकि उससे मेरे पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा और फिर कभी मैं ऐसा काम करने का दुःसाहस नही करूँगा। इस प्रकार वे चिन्ता कर ही रहे थे कि उन्हें गौरमुख नाम के ब्राह्मणकुमार से शाप की बात मालूम हुई। श्रीपरीक्षित जी ने इसे भगवान का मंगल विधान माना और सहज ही सबओर से आसक्तियों का त्याग करके भगवान श्रीकृष्ण के चरण कमलों की सेवा कोही सर्वोपरि मानकर आमरण अनशन व्रत लेकर वे गङ्गातट पर बैठ गये राज—काज का भार अपने पुत्र जनमेजय को सौंप दिया।

उस समय त्रिलोकी को पवित्र करने वाले बड़े-बड़े महानुभाव ऋषि-मुनि अपने शिष्यों के साथ वहाँ पधारे। श्रीपरीक्षितजीने सबका सत्कार किया और अपने भाग्य को सराहा। तत्पश्चात् श्री परीक्षित जी उन महामुनियों से श्रेय-साधन के सम्बन्ध में पूछ ही रहे थे कि उसी समय भगवान श्रीशुक-देवजी वहाँ आ पहुँचे। राजाने शुकदेवजी को सिर झुकाकर प्रणाम किया और उनकी पूजा की। तदनन्तर यह जिज्ञासा की कि मनुष्यमात्र के लिये, विशेषकर जो पुरुष सर्वथा मरणासन्न है, उसे क्या करना चाहिये ? श्रीशुकदेवजी महाराजने परीक्षित जी के प्रश्न का अभिनन्दन करते हुये, उन्हें परम अधिकारी जानकर श्रीमद्भागवत महापुराण को सात दिनमें सुनाया। राजर्षि परीक्षित ने उनका सम्पूर्ण उपदेश बड़े ध्यान से श्रवण किया और श्री शुकदेवजी की पूजा-स्तुति करके उनकी आज्ञालेकर मौन होकर अन्तरात्मा को परमात्मा के चिन्तन में समाहित करके ध्यान मग्न हो गये।

उधर ऋषिकुमारकी प्रेरणासे तक्षकनाग राजा परीक्षित को डसने के लिये चला। रास्ते में उसने कश्यप नाम के एक ब्राह्मण को देखा। कश्यप सर्पविष की चिकित्सा करने में बड़े निपुण थे। वे राजा के शाप की बात सुनकर, मन्त्र बल से राजा को जीवितकर प्रचुर-धन पाने के लोभ से आ रहे थे। तक्षक ने इनके मन्त्र-प्रभाव की परीक्षा लिया। एक बहुत बड़े हरे-भरे वृक्ष को तक्षक ने डँसा, वह वृक्ष तत्काल ही भस्म हो गया। परन्तु वाहरे कश्यप! मन्त्र की शक्ति से इन्होंने पुनः भस्म को वृक्ष रूप में परिणित कर दिया। तक्षक डर गया और ब्राह्मण को बहुत-बहुत धन देकर वापस कर दिया। बहुत से नागोको उसने ब्राह्मण का रूप धरकर राजा के पास जाने को प्रेरित किया और स्वयं अत्यन्त छोटा सा रूपधरकर एक फल में प्रवेशकर गया। ब्राह्मण रूपधारी नागों ने जाकर राजाको पत्र-पुष्प, फल—मूल अर्पण किया। उन्ही फल-फूलों के साथ तक्षक नाग राजा परीक्षितके पास पहुँचकर स्व-स्वरूप में प्रगट होकर उन्हें डस लिया और आकाश मार्ग से अमरावती को चला गया। तक्षक के विषकी ज्वाला से परीक्षित का शरीर सबके सामने ही जलकर राख हो गया। परन्तु राजर्षि परीक्षित तो तक्षक के डसने के पहिले ही ब्रह्म में स्थित हो चुके थे।

परम हंस श्रीशुकदेवजी

गर्भते निकसि चले वनहीं में कीयो बास व्याससे पिता को नाँहि उत्तरहु दियो है।
दशम श्लोक सुनि गुनि मति हरि गई लई नई रीति पढ़ि भागवत लियो है॥

रूप गुन भरि सह्यो जात कैसे करि आए सभा नृप ढरि भीज्यो प्रेमरस हियो है।
पूछे भक्त भूप ठौर ठौर परे भौंर जाय गाय उठे जबै मानो रंगझर कियो है ॥६८॥

शब्दार्थ—दशम = दशवां स्कन्ध श्रीभागवत। गुनि = विचार कर। मनन कर। ढरि = कृपा करके, चल करके। भौंर = चक्कर। रंगझर = परमानन्द की झड़ी।

भावार्थ—परमहंस श्रीशुकदेवजी माता के गर्भ से जन्म लेते ही वन को चल दिये और वहीं रहकर भजन करने लगे। वात्सल्य प्रेमवश पुत्र ! पुत्र !! पुकारने पर भी वेदव्यास सरीखे पिता को जिन्होंने उत्तर भी नहीं दिया था, वे ही शुकदेव व्यासशिष्यों द्वारा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के श्लोको को सुनकर मोहित हो गए। श्लोकों के अर्थ का मनन करके उनकी बुद्धि भगवान के गुणानुवादो में रम गई। विचित्र बात तो यह हुई कि—पुकारने पर उत्तर न देकर जिनकी उपेक्षा की थी, उन्ही के समीप आकर उनकी शिष्यता स्वीकार की और श्रीमद्भागवत को पढ़ा। श्रीकृष्णके अद्भुत रूप और गुणो से शुकदेवजीका हृदय भर गया। प्रतिक्षण बढ़ने वाले भावोंका भार कैसे सहा जाय फिर आप गङ्गातट पर आत्मोद्धार के निमित्त राजा परीक्षित द्वारा आयोजित ऋषियों की सभा में पधारे। कृपावश उनका हृदय राजा का उद्धार करने के लिए पसीज गया। भक्तभूप राजा परीक्षितने सात दिनों में ही अपने उद्धार का उपाय पूछा—जिसे सुनकर ऋषि लोग जहां-तहां विचारने लगे, पर वे दुविधा के चक्कर में पड़ गए। कुछ भी निर्णय न कर सके। तब शुकदेवजी भाव विभोर होकर भगवद् गुणानुवाद गा उठे, उस समय ऐसा लगा मानो वे भक्तिरस के आनन्द को निरन्तर वर्षा कर रहे हैं ॥६८॥

व्याख्या—गर्भ ते निकसि चले—श्री आनन्द वृन्दावन चम्पू में श्रीराधिकाजी के द्वारा लालित-पालित एक लीलाशुक का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। कवि कर्णपूरजी कहते है कि एकवार श्रीराधाजी ने मणिमय पिंजरे मे से तोते को निकाला और अपने करतल पर बैठाकर उसे पके अनार के दाने खिलाने लगी। उसकी चोंच के निकट अनार का दाना देते हुये श्रीकृष्ण के अनुराग से सहसा हृदय भर गया। क्योकि शुककी नासिका को देखकर उन्हें श्रीकृष्ण की नासिका का स्मरण हो आया। प्रेम से हृदय विह्वल हो उठा। वे बोली—हे शुक ! 'श्रीकृष्ण कहो, श्रीकृष्ण कहो।' तोता बार-बार 'श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण' कहने लगा। उस समय श्रीराधिकाजी को सहसा महानुराग प्रकट हो गया और विह्वलता में उनके मुख से यह पद निकला, जिसे वे तोते को पढ़ाने लगीं और स्वयं गाने लगीं —

दुरापजन वर्तिनी रतिरपत्रपाभूयसी,
गुरूक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीव दौस्थ्यं गता।
वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये,
न जीवति तथापि किं परमदुर्नरोऽयं जनः ॥(आ०वृ०च०)

अर्थ—अत्यन्त दुष्प्राप्य पुरुष में प्रीति रखने वाली बुद्धि निर्लज्ज होकर गुरुजनों की विष वर्षा से दुःखपूर्ण स्थिति को प्राप्त हो गयी है, शरीर परवश है, तथा उत्तम कुल में जन्म हुआ है। ऐसे दुःखों से घबराकर प्राणी को मर ही जाना चाहिये, किन्तु यह जी रहा है।

उस परम चतुर शुक ने सुनते ही यह श्लोक कण्ठ कर लिया और अपने पक्षी स्वभावानुसार 'कृष्णं, कृष्ण' कहता हुआ श्रीकिशोरीजी के कर कमल से सहसा आकाश में उड़ता हुआ श्रीनन्दनन्दन श्रीकृष्ण के कर कमल पर वैठ कर वही पद गाने लगा। उसे सुनकर श्रीकृष्ण को परमाह्लाद हुआ। होना भी चाहिये। क्योंकि परमाह्लादिनी सार श्रीराधिका का हृदयोद्गार जो ठहरा। फिर इस पद के उत्तर में श्रीकृष्ण ने भी एक पद अपने प्रिय सखा कुसुमासव (मनसुखा) को सम्बोधित कर शुक को सुनाया—

न वन गमने नाप्यासङ्गे वयस्यगणैः समं,
न च मुरलिकानादे मोदो न धेनु गणावने।
इममश्रृणवं यावत्कीरोत्तमाननिःसृतं,
कमपि दयितालापं गाढ़ानुरागभरालसम्॥ (आ०वृ०च०)

अर्थ—हे सखे! जव से इस सुन्दर-शुकके मुख से निकले हुये प्रगाढ़ अनुराग से भरे किसी प्रिय आलाप को सुना है, तव से न वन गमन में आनन्द मिलता है, न एकान्त में वैठने में सुख मिलता है। सखाओं के साथ में भी आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। न वंशी वजाने में सुख प्रतीत होता है, न गौओं के साथ वन जाने में ही रस आता है अर्थात् इस शुक की वाणी सुनने के सिवा और कुछ भी मुझे अच्छा नहीं लगता है।

लीला-शुक ने श्रीकृष्ण के इस हार्दिक भाव को श्रीराधिकाजी को सुनाकर उनके हृदय को परमाह्लादित कर दिया भगवल्लीला-रहस्य-विज्ञ विद्वज्जनों का कथन है कि—रस-भावना-प्रवीण, युगल-गुणगान कुशल लीला शुक ही श्रीशुकदेवजी के रूप में प्रादूर्भूत हुये। आपके प्राकट्य के सम्बन्ध में कथा आती है कि एक वार देवर्षि नारदजी चतुर्दश भुवनों में परिभ्रमण करते हुये कैलाश पर्वत पर पहुँचे। संयोग की वात, उस समय श्रीशिवजी पुण्य सलिला गङ्गाजी में स्नान कर रहे थे। (कोई-कोई कहते है-कि अपने मित्र कुवेरजी से मिलने गये थे। कहीं-कहीं शिवजी के समाधि में स्थित होने का वर्णन आया है,) श्रीपार्वती जी ने देवर्षि का स्वागत सत्कार किया। कुशल-क्षेम के उपरान्त श्रीनारदजी ने पूछा—सुमङ्गले! सदाशिव स्नेह तो करते हैं न? तुम तो उनकी मनसा, वाचा, कर्मणा सादर, सप्रेम परिचर्या करती हो न? परस्पर किसी प्रकार का पर्दा तो नहीं है न? क्योंकि देवि! प्रेम में परदा वड़ा ही अनुचित है। यथा—

प्रीति तहां परदा नहीं, परदा तहां न प्रीति। प्रीति करै परदा करै, तुलसी यह अनरीति॥
जल पय सरिस विकाइ, देखहु प्रीतिकी रीति भलि। विलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि॥

श्रीपार्वतीजी ने भगवान भूत भावन के अपने प्रति सहज सनेह की प्रशंसा किया। श्रीनारदजी ने कहा—धन्यवाद है इस दिव्य दाम्पत्य को। अच्छा गिरिजे! क्या तुम यह वता सकती हो कि शिवजी के गले में जो मुण्डों की माला है वह किसकी है? श्रीपार्वती जी चुप हो गईं। कुछ देर वाद वोलीं—मुनिवर्य! यह तो मुण्डमाली ने कभी वताया ही नहीं। श्रीनारदजी ने कुछ व्यङ्ग के स्वर में—यह कैसा प्रेम? कहकर वहां से रमते राम हुये। श्रीपार्वती जी को शिवपर सन्देह हो गया। वे कोप भवन में चली गईं। तव तक श्रीशिवजी भी आगये। पार्वती को न देखकर दास दासियों से पूछे। उनके वताने पर जव

गिरिराज कुमारी के पास गये तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ इनकी अभूतपूर्व अवस्था देखकर। जब बहुत मनुहारि करने पर पार्वतीजी ने रहस्य खोला तो श्रीशिवजी हँस गये और बोले—क्या मेरी अनुपस्थिति में नारदजी आये थे ? 'वह तो अभी अभी गये हैं' यह कहकर पार्वतीजी ने सब बात ब्योरेवार बतायीं तथा मुण्डमाल का विवरण पूछा। श्रीशिवजी ने कहा—प्रिये ! कुछ मुण्ड तो तुम्हारे हैं और कुछ अन्य प्रेमी भक्तों के हैं। जब जब तुम्हारा शरीर छूटता है, तब तब मैं अत्यन्त प्रेम होने के कारण तुम्हारे मुण्ड को अपनी माला में पिरो लेता हूँ। श्रीपार्वती यह सुनकर गम्भीर हो गईं कि इसका अर्थ हुआ कि मैं मरती हूं और शंभु अविनाशी हैं। फिर वे हाथ जोड़कर बोलीं कि प्रभो ! जब आपका मुझपर इतना प्रेम है तो मुझे भी अपनी ही तरह अमर क्यों नहीं बना देते हैं जिससे कि हमारा आपसे कभी वियोग हो ही नहीं।

श्रीशिवजी ने प्रथम तो अत्यन्त गोपनीय कहकर अपनी अमरता के रहस्य को छिपाना चाहा, परन्तु अन्त में—'गूढौ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं ॥' इस शास्त्रवचन को प्रमाण मानकर श्रीपार्वतीजीको अमर कथा सुनानेको प्रस्तुत हो गये। कैलाशपर गणोंकी तथा और भी अन्यान्य लोगों की भीड़ देखकर श्रीशिवजी पार्वती को लेकर एक परम एकान्त स्थल में चले गये, जिसे वर्तमान मे 'अमरनाथ' तीर्थ कहते है। वहां भी पहुंचकर शिवने सर्वप्रथम बड़े जोर का डमरूनाद किया, जिससे कि अन्य जीव-जन्तु वहां से पलायन कर जांय। क्योंकि सर्व साधारण इस रहस्य-बोध के अधिकारी नहो हैं। इसके बाद शङ्कर ने पार्वती को सावधान किया कि मन, बुद्धि, चित्त लगाकर श्रवण करो। प्रमाद नही करना, मैं ध्यान मे स्थित होकर समाधि की भाषा में वर्णन करूँगा। श्रीपार्वतीजी बड़े ही मनोयोग से सुननेलगी शिवजी ध्यानावस्थित हो वर्णन कररहे थे। भगवानकी बड़ी विचित्र लीला है। श्रीपार्वती-जी कथामृतके माधुर्य मे एक दम आत्मविभोर हो गईं।

उसी समय एक शुक, जो प्रथम डमरूवादनके समय अण्डेमें ही स्थित था, इसलिए वहांसे भाग नही सका था, कथामृत से पोषित होकर अण्डा फोडकर बाहर निकला और हुँकारी भरने लगा। कथा समाप्त होने पर जब शिवजी को बाह्यज्ञान हुआ तो पार्वती को ध्यानस्थ देखे। शिवजी विस्मय में पड़ गये कि आखिर हुँकारी कौन भर रहा था ? पूछने पर पार्वतीजी मारे संकोच के कुछ बोल नहीं सकी। श्रीशिवजी ने जब ध्यानपूर्वक देखा तो उन्हें एक शुक पक्षी दिखायी पडा। पक्षी को अनधिकारी समझकर रुद्र देवता हाथ मे त्रिशूल लेकर उसे मारने के लिए दौड़े। बेचारा शुक भगा और जाकर श्रीव्यास-पत्नी वटिकाके मुख मार्गसे उदरमें प्रवेश कर गया। तबतक श्रीशिवजी वहां पहुँचगये और व्यासजी से बोले—आपके यहा मेरा चोर आया है आप उसे बाहर करें मैं मारूँगा। जब श्रीव्यासजी को समस्त वृत्तान्त मालूम हुआ तो हँसकर बोले कि आखिर आप हैं तो भोलेनाथ ही। आप कहते हैं कि उस रहस्य को जान लेनेपर प्राणी अमर हो जाता है। फिर भला आप उसे अब कैसे मार सकते हैं? क्या आप अपने से अपनी स्थापित मर्यादा को भग करेंगे ? क्या ब्राह्मणी का पेट फाड़ेंगे ? श्रीशिवजी प्रसन्न मन आशीर्वाद देकर वहा से लौट आये। यह शुक वही श्रीजी के लीला शुक हैं।

महाभारत मे श्रीव्यासजी का मेरु पर्वत के शिखर पर जाकर उत्तम पुत्रकी कामना से कठिन तपस्या करने एव श्रीशिवजी के वरदान देने का प्रसङ्ग आया है। यद्यपि श्रीव्यासजी स्वयं परम समर्थ हैं, इनके कृपा कटाक्ष से कितने सन्तानहीन उत्तम सन्तान प्राप्त किये है, परन्तु लोकसंग्रह के लिए आपने

स्वयं सन्तान के लिए तप करके यह आदर्श स्थापित किया कि कामना रखने वालो को इस प्रकार साधन निरत होना चाहिए। स्कन्दपुराण के अनुसार जाबालि मुनिकी कन्या चेटिका, जिसका दूसरा नाम पिङ्गला भी था, व्यासजीकी पत्नी थी। उन्हीं के गर्भ से श्रीशुकदेवजी का प्राकट्य हुआ। श्रीशुकदेव जी बारह वर्ष तक माता के गर्भमें रहे। यदि यहां कोई शंका करे कि तब तो इनके द्वारा माता को बड़ा कष्ट हुआ होगा। तो इसका समाधान यह है कि सन्त जहां रहते हैं वहां फूल की तरह रहते है।

दृष्टांत—एक सन्त का—एक साधु-सेवी स्थान था। किसी उत्सव विशेषका समय था। सम्पूर्ण स्थान सन्त-वैष्णवोसे भरा पड़ा था। एकसन्त आये और स्थानके महन्तजीसे आसन लगानेके लिए स्थान पूछे। महन्तजी बड़े असमञ्जसमें पड़ गये। यहां साधु सेवा होती है अतः इन्कार नही किया जा सकता और खाली स्थान कही नजर नहीं आता है। अतः महन्तजी ने एक उपाय किया—अपने चेला के हाथ एक कटोरा जल से परिपूर्ण भरकर सन्तजी के पास भेजा। जिसका तात्पर्य यह था कि जैसे कटोरे में एक बूँद भी जल रखने की जगह नहीं है वैसे ही स्थान में एक आसन की भी गुन्जायश नही है। संत बड़े दूरदर्शी थे उन्होंने जल से भरे कटोरेमें एक सुगन्धित फूल डालकर फिर महन्तजीके पास भेज दिया। जिसका तात्पर्य यह है कि जैसे जल भरे कटोरे में जलकी समाइत भले नही हो परन्तु फूल तो रह सकता है। फूल से जल को कोई विक्षेप नही है प्रत्युत जल की शोभा है तथा जल सुवासित हो जाता है। ऐसे ही सन्त की रहनी फूलवत होती है। महन्तजी तुरन्त सन्तजी का अभिप्राय समझ गये और बुलाकर अपने आसन को थोड़ा समेट कर अपने पास ही आसन लगवाये। ऐसे ही श्रीशुकदेवजी फूलवत् माता के गर्भ में रहे। अतः माता को कोई कष्ट नही था।

उन्होंने गर्भमें ही सारेवेद, वेदाङ्ग, पुराण, धर्मशास्त्र और मोक्ष-मार्गको श्रवण करके हृदयङ्गम कर लिया और अक्षुण्ण रूप से आत्म-परमात्म चिन्तन मे निमग्न रहने लगे। भगवान वेदव्यास तथा अन्य ऋषियों द्वारा गर्भ से बाहर निकलने के लिए आग्रह किये जाने पर उनका बस एक ही उत्तर था कि—गर्भ में जीव का ज्ञान जागृत रहता हैं, विषयों से वैराग्य होता है, भगवान में अनुराग होता है। परन्तु गर्भ से बाहर निकलते ही पूर्वकथित सभी वार्तायें व्यर्थ हो जाती है, विपरीत होजाती है। यथा—'भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहिं माया लपटानी॥ (रा०च०मा०) जिससे जीव का अधःपतन हो जाता है अतः मैं तो गर्भ में ही रहना चाहता हूँ। तब श्रीव्यासजी ने माया पति भगवान श्रीकृष्ण का स्मरण किया। भगवान ने स्वयं वहा आकर आश्वासन दिया कि गर्भ से बाहर आने पर भी आपको माया नहीं व्यापेगी। तब श्रीशुकदेवजी माताके उदरसे बाहर निकले। परन्तु अन्य संस्कारकी कौन कहे नालोच्छेदन भी नही हुआ और ये भजन के लिए वन की ओर चल पड़े। पुत्र-विरह-कातर श्रीव्यासजी के बुलाने पर भी लौटना तो दूर रहा बोले तक नहीं। यथा—

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरह कातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूत हृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥ (भा०)

देखिये कवित्त १–'द्रुमनि प्रवेश कियो।'

श्रीव्यासजी ने पुनः भगवान से कहा। परन्तु अब की बार प्रभु ने साफ जवाब दे दिया कि मैंने तो गर्भ से बाहर निकालने का वचन दिया था सो पूरा हुआ, अब आप जाने और आपका काम जाने।

असल में बात यह थी कि भगवान तो कृपा करके संसारोन्मुख जीव को भजनोन्मुख करते हैं तो फिर भला भजनोन्मुख को क्यों लौटाने लगे। प्रश्न—जब स्वयं भगवान ने आश्वासन देकर इनको माया से निर्भयकर दिया था, तब फिर ये माया से इतने भयभीत क्यो ? समाधान—यहां यह उपदेश दिया गया है कि निर्भयता का आश्वासन पाने पर भी माया से सतत् सावधान ही रहना चाहिए। आश्वासन के बलपर प्रमाद करना उचित नहीं हैं। अत. समस्त आसक्ति को छोड़कर वन को चल पड़े।

जिस समय श्रीव्यासजी श्रीशुकदेवजी को पुकारते समय पीछे-पीछे पुत्रप्रेम-परवश हो चले जा रहे थे, उस समय वन के एकान्त सरोवर में स्नान करने वाली देवाङ्गनाओं ने नग्न, षोडशवर्षीय, परम मनोज्ञ श्रीशुकदेवजी को देखकर तो वस्त्र धारण नही किया, परन्तु वस्त्र पहने हुए वयोवृद्ध व्यासजी को देखकर उन्होंने लज्जावश कपड़े पहन लिए। इस आश्चर्य को देखकर जब व्यासजी ने उन स्त्रियो से इसका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'आपकी दृष्टि में तो अभी स्त्री-पुरुष का भेद बना हुआ है, परन्तु आपके पुत्र की शुद्ध दृष्टि में यह भेद नही है। यथा—

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः॥ (भा०)

श्रीव्यासजी को बोध हो गया कि ऐसे समदर्शी पुत्र के लिए भला लौकिक सम्बन्ध क्या महत्व रखते हैं। अतः लौट आये। परन्तु श्रीव्यासजी की आसक्तिकम नही हुई। यदि यहां कोई शंका करे कि व्यासजी सरीखे ज्ञानवान के लिये इतना पुत्र मोह उचित नही है तो इसका समाधान यह है कि प्राकृत पुत्र-मोह पतनकारी है, परन्तु भगवान ही यदि पुत्ररूप में प्रगट हों तो उनमें आसक्ति महामङ्गलकारी है। भगवान में तो येनकेन प्रकारेण प्रेम होना चाहिये। श्रीशुकदेवजी साक्षात् ब्रह्म स्वरूप है। यथा— 'योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्म रूपिणे।' (भा०)

श्रीव्यासजी ने विचार किया कि ऐसे योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा, परमहंसों के चित्त को यदि आकृष्ट किया जा सकता है तो भगवान के अचिन्त्यानन्त सौन्दर्य-माधुर्य एवं मङ्गलमय परम दिव्य गुणावलियो के द्वारा ही यथा—आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकी भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥ (भा०) अतः उन्होने श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मदनमोहन आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रजी की रूप माधुरी का दिग्दर्शन कराने वाला एक श्लोक अपने शिष्यों को सिखाया और आज्ञा दिया कि जब वे वनमें कुश-समिधा, फल, फूल-मूल लेने को जायें तो अत्यन्त सुमधुर स्वर से इसे गाया करें। श्लोक इस प्रकार है—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं,
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैः,
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥ (भा०)

अर्थ—श्रीकृष्ण ग्वाल बालोके साथ वृन्दावन में प्रवेश कर रहे हैं, उनके सिरपर मयूर पिच्छ हैं और कानों पर कनेर के पीले-पीले पुष्प, शरीरपर सुनहला पीताम्बर और गलेमें पाँच प्रकार के सुगन्धित

पुष्पों की वनी वैजयन्ती माला है। रङ्गमञ्च पर अभिनय करते हुये श्रेष्ठ नटका सा क्या ही सुन्दर वेष है ? वाँसुरी के छिद्रों को वे अपने अधरामृत से भर रहे है। उनके पीछे-पीछे ग्वाल वाल उनकी लोकपावन कीर्तिका गानकर रहे हैं। इस प्रकार वैकुण्ठसे भी श्रेष्ठ वह वृन्दावन उनके चरणचिह्नों से और भी रमणीय वन गया है।

जव श्रीशुकदेवजीको यह श्लोक कर्ण गोचर हुआ तो इनका निर्गुण निराकर निर्विशेष ब्रह्मानन्द में निमग्न मन सहज ही श्रीकृष्ण के रूप-सुधा-सिन्धु में अवगाहन करने के लिये मचल पड़ा। परन्तु वुद्धि को रूपके ही अनुरूप गुणोंको भी जिज्ञासा हुई अतः रूप-निरूपण सुनकर भी एकदम नहीं आकृष्ट हुये। श्रीव्यासजीने इस मर्म को समझा अतः शिष्यों को श्रीकृष्ण-गुणोत्कर्ष-ज्ञापक एकश्लोक सिखाया। यथा—

अहो वकीयं स्तन कालकूटं जिघांसया पाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥ (भा०)

अर्थ—अहो ! पापिनी पूतना ने अपने स्तनोमें हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्ण को मार डालने की नीयत से उन्हें दूध पिलाया था, उसको भी भगवानने वह परम गति प्रदान की, जो धाय को मिलनी चाहिये। उन भगवान श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और कौन दयालु है जिसकी शरण ग्रहण करें। यह श्लोक सुनकर श्रीशुकदेवजीके मनने वरवस ब्रह्म सुख को वराक समझकर श्रीपरमहंसाचार्यजी को श्रीव्यासजी के समीप आने के लिये विवश कर दिया। उन्होंने प्रथम तो सुन्दर स्वर लहरियों से लुव्ध-मुग्ध मृग की तरह उन गाने वाले ब्राह्मण वटुओंके समीप आकर इन श्लोकों को पुनः पुनः आग्रह करके गवाया और स्वयं भी सुधि वुधि खोये हुये उनके स्वरमें स्वर मिलाते हुये गाया। पश्चात् यह मालूम होने पर कि इनके श्रीसद्गुरुदेवजी ने ऐसे अठारह हजार श्लोकों की परमहंससंहिता वनायी है, श्रीशुकदेवजीने उनसे उनके गुरुजी का परिचय पूछा और यह जानकर कि वह तो हमारे पिताजी ही हैं वड़े ही उत्कण्ठित हुये उनके दर्शन के लिये तथा विशेषकर श्रीमद्भागवत महापुराण का अध्ययन करने के लिये।

इस तथ्य को आपने स्वयं स्वीकार किया है। यथा—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोक लीलया। गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥ (भा०)

अर्थ—राजन् ! मेरी निर्गुण स्वरूप परमात्मा में पूर्ण निष्ठा है। फिर भी भगवान श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओने वलात् मेरे हृदय को अपनी ओर आकर्षितकर लिया है। यही कारण है कि मैंने इस पुराण का अध्ययन किया है। श्रीसूतजी कहते हैं कि—

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् वादरायणिः। अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजन प्रियः ॥ (भा०)

अर्थ—भगवद्भक्तों के अत्यन्त प्यारे, श्रीव्यासनन्दन शुकदेवजीने भगवानके गुणोसे आकृष्ट चित्त होकर इस विशाल ग्रन्थ का अध्ययन किया।

यद्यपि श्रीशुकदेवजी स्वयं व्रह्म स्वरूप हैं तथा पिता श्रीव्यासजी से उन्होंने व्रह्म सम्मित श्रीमद्भागवत महापुराण एवं अन्यान्य समस्त निगमागम का सम्यक्-अध्ययन किया है, फिर भी पिताकी

आज्ञा से आप धर्म की निष्ठा तथा मोक्ष का परम आश्रय पूछने के लिये मिथिलानरेश के पास गये। वस्तुतः यहाँ श्रीशुकदेवजी को शिक्षा-दीक्षा के लिये नहीं, बल्कि प्राप्त ज्ञान की परीक्षा के लिये भेजा गया था। जब श्रीशुकदेवजी मिथिला पहुँचकर राज-महलमें प्रवेश करने लगे तो द्वारपालों ने उन्हें कठोर वाणी द्वारा डाँटकर भीतर जाने से रोक दिया। वे शान्त चित्त वहीं खड़े हो गये, उनके मन में किसी प्रकारका खेद वा क्रोध नही हुआ। रास्ते की थकावट और सूर्य की धूप, तथा भूख और प्यासका उन्हें कोई ध्यान नहीं था। कुछ देर बाद एक दूसरे द्वारपाल ने बड़ी विनम्रता पूर्वक प्रणामकर आपका यथा विधि पूजन किया और महल की दूसरी कक्षा में पहुँचा दिया। समदृष्टि श्रीशुकदेवजी वहाँ पचहुँकर एकान्त स्थल में बैठकर आत्म चिन्तन करने लगे। तब तक राजमन्त्री आया और इन्हे महल की तीसरी कक्षा के प्रमदा वन मे पहुंचा दिया। वहाँ खूब सजी हुई पचास प्रमुख वाराङ्गनायें इनकी सेवा पूजा में लग गईं। उन्होंने अपने विविध हाव-भाव-विलास दिखलाये, परन्तु सर्वथा विशुद्धान्तःकरण श्रीशुकदेवजी तो समभाव से मोक्षतत्त्व का विचार ही करते रहे। रात्रि में विश्राम करने के लिये रत्नजटित दिव्य पलङ्ग जिस पर बहुमूल्य विछौने बिछे थे, दिया गया। ये रात्रि का प्रथम प्रहर ध्यान में व्यतीत कर द्वितीय प्रहर में यथोचित निद्रा लिये और ब्रह्मवेला मे पुनः उठकर नित्य कृत्य से निवृत्त होकर परमात्मचिन्तन में लग गये।

तदनन्तर प्रातः काल मन्त्रियों सहित राजा जनक पुरोहित को आगे करके आये और सर्वतो भद्र नामक रत्नजटित आसन पर विराजमान कराकर शास्त्र विधि से पूजन किये। परस्पर कुशल प्रश्नोपरान्त श्रीशुकदेवजी की तत्व जिज्ञासा का समाधान करते हुये श्रीजनकजी ने कहा—ब्रह्मन्! इस जगत में ब्राह्मण होने का जो फल है और मोक्षका जो स्वरूप है उसीमें आप की स्थिति है। आपको ज्ञान प्राप्त हो चुका है, आपकी बुद्धि भी स्थिर है, आप सुख दुःख में कोई अन्तर नहीं समझते हैं अतः मैं तथा दूसरे मनीषी पुरुष भी आपको अक्षय एवं अनामय मोक्षमार्ग में स्थित मानते हैं। राजा जनक की यह बात सुन कर श्रीशुकदेवजी एक दृढ़ निश्चय पर पहुँच गये और बुद्धि के द्वारा आत्मा में स्थित होकर स्वयं अपने आत्मास्वरूप का साक्षात्कार करके कृतार्थ हो गये एवं आनन्दमग्न हो बड़ी शान्ति का अनुभव करते हुये उत्तर दिशा की ओर चल दिये।

आये सभा नृपछवि—जिस समय श्रीपरीक्षितजी ऋषि कुमार के द्वारा प्राप्त अपने शाप की बात सुनकर गङ्गातट पर आमरण अनशन का व्रत लेकर बैठ गये, उस समय वहाँ पर बड़े-बड़े देवर्षि, ब्रह्मर्षि और राजर्षि राजा पर अनुग्रह करके आये। सबका यथोचित सत्कार करने के बाद श्रीपरीक्षितजी ने हाथ जोड़कर पूछा—विप्रवरो ! आप सभी विद्वान् परस्पर विचार करके बताइये कि सबके लिये सब अवस्थाओं में और विशेष कर थोड़े ही समयमें मरने वाले पुरुषों के लिये अन्तः करण और शरीरसे करने योग्य विशुद्ध कर्म कौन सा है ? 'बहुमत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो' नाना मुनियोंके नाना। मत। जब कोई निश्चित निर्णय नहीं हो सका तब श्रीनारदजीने कहा कि अच्छा, अब मैं उपाय करता हूँ। यह कहकर श्रीनारदजी श्रीशुकदेवजी के पास गये और बोले—आप-सा अद्वितीय वक्ता और परीक्षित-सा अधिकारी श्रोता—दोनों का संयोग दुर्लभ है। इस समय अवसर है आप वहां पधार कर उनको कृतार्थ करें।

उधर श्रीशुकदेवजी भी आनन्दभार से भारायमान हो रहे थे अतः तुरन्त चल पड़े। उनका वेप अवधूत का था, अवस्था सोलह वर्ष की थी, सर्वाङ्ग अत्यन्त सुघर-सलोने सुगठित और सुडौल थे, श्याम

वर्ण था। वे शरीर की छटा एवं मधुर मुस्कान से वड़े ही मनोहर जान पड़ते थे। वच्चों और स्त्रियों ने उन्हें घेर रखा था। वर्णन आया है कि कोई-कोई चपल बालक श्रीशुकदेवजी के ऊपर धूल, कङ्कड़ फेक देते थे, परन्तु वे केवल मुस्करा कर रह जाते। वच्चों की देखा देखी श्रीनारदजी ने भी एक फूल फेंक दिया तो श्रीशुकदेवजी ने उनको कर्री दृष्टि से देखा। श्रीनारदजी सहम गये और पूछे कि बालकों को धूल कङ्कड़ फेंकने पर भी आप नहीं बोलते और मुझे आंख तरेरते हैं। क्या वात है? श्रीशुकदेवजी ने कहा कि नारदजी! वे तो अनभिज्ञ है अतः उनकी भूल क्षम्य है, परन्तु आप तो जान बूझकर नादान वन रहे हैं। यह उचित नही है।

श्रीशुकदेवजी ने राजापरीक्षित को सात दिन में भागवत सुना कर परम-पद का अधिकारी वना दिया। प्राणिमात्र को परम श्रेय पथका निर्देश करते हुये आप कहते हैं कि—

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥ (भा०)

अर्थ—इसलिये हे परीक्षित! जो अभय पद को प्राप्त करना चाहता है, उसे तो सर्वात्मा सर्व शक्तिमान् भगवान श्रीकृष्ण की ही लीलाओं का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये॥ परमहंसचर्या का वर्णन करते हुये श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैर्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपवर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किंपुरुधान्नपात्र्या दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः॥
चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान् कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥(भा०)

अर्थ—जव जमीन पर सोने से काम चल सकता है, तव पलंग के लिये प्रयत्न करने से क्या प्रयोजन। जव भुजाएँ भगवान की कृपा से अपने को स्वयं ही मिली है,तब तकियों की क्या आवश्यकता। जव अञ्जलि से काम चल सकता है तव वहुत से बर्तन क्यों बटोरें। जव वृक्षकी छाल पहन कर या दिगम्वर, (वस्त्रहीन) रह कर भी जीवन धारण किया जा सकता है तो वस्त्रों की क्या आवश्यकता॥ पहनने को क्या रास्तों में चिथड़े नहीं है? भूख लगने पर दूसरों के लिये ही शरीर धारण करने वाले वृक्ष क्या फल-फूल की भिक्षा नही देते? जल चाहने वालों के लिये क्या नदियाँ बिल्कुल सूख गईं? रहने के लिये क्या पहाड़ों की गुफाएँ बन्द करदी गईं? अरे भाई? सव न सही, क्या भगवान भी अपने शरणागतों की रक्षा नही करते। ऐसी स्थिति में बुद्धिमान लोग भी धन के नशे मे चूर घमण्डी धनिकों की चापलूसी क्यों करते है? कीर्तन भक्ति के परमाचार्य श्रीशुकदेवजी कीर्तन की महिमा का वर्णन करते हुये कहते हैं कि—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥ (भा०)

अर्थ—इसी श्लोक का भाषानुवाद करते हुये श्रीमद्गोस्वामी श्रीतुलसी दासजी कहते हैं कि—

कृतजुग त्रेता द्वापर पूजामख अरु जोग। जो गति होइ सो कलि हरिनाम ते पावहिं लोग॥
(रा०च०मा०)

श्री प्रह्लादजी

सुमिरन सांचो कियो लियो देखि सबही में एक भगवान कैसे काटै तरवार है।
काटिबो खडग जल बोरिबो सकति जाकी ताहिको निहारैं चहुं ओर सो अपार है॥
पूछे ते बतायो खम्भ तहां ही दिखायो रूप प्रगट अनूप भक्तवाणी ही सों प्यार है।
दुष्ट डारयौ मारि गरे आंतै लई डारि तऊ क्रोधको न पार कहा कियोयों बिचार है॥९९॥

शब्दार्थ—सकति=शक्ति, सामर्थ्य।

भावार्थ—भक्तवर प्रह्लादजी ने सच्चे हृदय से भगवान् का सच्चा स्मरण किया। उन्होंने देख लिया कि एक ही भगवान चराचर में सर्वत्र विराजमान हैं, अब भला उन्हें तलवार कैसे काट सकती थी। जिसकी शक्ति से तलवार में काटने की और जल में डुबाने की शक्ति है उसी भगवान को तलवार तथा जल में देखते थे इसलिए उन्हे तलवार कैसे काटे और जल कैसे डुबावे, वे अपने तथा संसार में चारो ओर अपार-अनन्त भगवन्तको ही देखते थे। जब हिरण्यकशिपु ने पूछा—तेरा रक्षक भगवान कहां है? प्रह्लादजीने कहा—वह सर्वत्र है। हिरण्य कशिपुने कहा—तो इस खम्भे में क्यों नही दीखता है? प्रह्लादजी ने कहा—मुझे तो इस खम्भे में भी दिखाई पड़ता है। यह सुनकर उसने क्रोधवश खम्भे में बड़े जोर से घूसा मारा। तब खम्भे से ही प्रकट होकर भगवान ने अपना अनुपम रूप दिखाया। क्योंकि भगवान को तो भक्तवाणी से ही प्यार है। फिर भगवान ने हिरण्यकशिपु को मार डाला, उसके पेटको फाड़कर उसकी आतें अपने गले में डाल ली। फिर भी आपका क्रोध शान्त नही हुआ। पता नहीं, अब और कौन-सा कार्य करने का विचार है॥९९॥

व्याख्या—जिस समय भगवान विष्णु से भाई हिरण्याक्ष के वध का बदला लेने के लिये अमरत्व की कामना से हिरण्यकशिपु तपस्या कर रहा था, उस समय इन्द्रकी प्रेरणा से दो ऋषि पक्षीका वेष धारण करके उसके पास आये और 'नमो नारायणाय' का उच्चारण करने लगे। दो चार बार सहन करने के पश्चात् उसे क्रोध आ गया और वह धनुष बाण उठाकर उन्हें मारने दौड़ा। वे पक्षी तो मिले नही, परन्तु क्रोध होने से तपस्या में विघ्न पड़ गया। हिरण्यकशिपु घर लौट आया और पत्नी से उसने समाचार कहा—कहते समय नारायण मन्त्र का उच्चारण किया। उसका प्रभाव गर्भ पर पड़ा इसी से प्रह्लाद जैसे भक्त कयाधू के गर्भ में आये। पत्नी की प्रेरणा से हिरण्यकशिपु पुनः तप करने चला गया। (सत्कथाङ्क)

हिरण्य कशिपु के चले जाने पर देवताओं को अवसर मिला, उन्होने दैत्यों की राजधानी पर आक्रमण कर दिया। उत्साह दायक नायक के अभाव में दैत्यो का साहस छूट गया और वे प्राण बचाकर दिशा-विदिशाओं मे भाग गये। देवताओं ने दैत्येन्द्रपुरी को मन माना लूटा और देवराज इन्द्रने हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधू को बन्दी बना लिया। दैववश देवर्षिनारदजी उधर आ निकले और देखा कि सुरराज बलात् दैत्यराज की पत्नी को स्वर्ग लिये जा रहे है, उन्होने कहा—सुरपते! इस निरपराध सती साध्वी अबला का तिरस्कार मत करो, इसे छोड़ दो, तुरन्त छोड़ दो। इन्द्र ने कहा—इसके पेट में देव द्रोही हिरण्यकशिपु का अत्यन्त प्रभावशाली वीर्य है। प्रसव पर्यन्त यह मेरे पास रहेगी, बालक हो जाने पर उसे मारकर मैं इसे छोड़ दूंगा। श्रीनारदजीने कहा—इसके गर्भ में भगवान का परम प्रेमी भक्त, अत्यन्त बलवान और निष्पाप महात्मा है। तुममे उसको मारने की शक्ति नही है। श्रीनारदजी के वचनका विश्वास कर इन्द्रने कयाधू को छोड़ दिया और भक्त जननी जानकर उसकी परिक्रमा करके स्वर्ग चले गये।

श्रीनारदजी कयाधू को अपने आश्रम पर लिवा ले गये और कहे कि जब तक तुम्हारा पति तपस्या करके घर लौट नही आता है तव तक तुम यहीं रहो। कयाधू ऋषि की आज्ञा शिरोधार्य कर वही रहने लगी। परम दयालु श्रीनारदजी ने गर्भस्थ भक्त वालक को लक्ष्य करके कृपा करके उसे भागवत धर्म का रहस्य और विशुद्ध ज्ञान दोनों का उपदेश दिया। फलस्वरूप कयाधू को तो कालान्तर में वह ज्ञानोपदेश भूल गया परन्तु प्रह्लाद को उसकी स्मृति सदैव बनी रही। ये गर्भ से ही भगवान का स्मरण करते रहे। तभी तो श्रीप्रियादास जी कहते है कि सुमिरन साचो कियो०। यहां एक वात वड़ी महत्वपूर्ण है कि माता की जीवनचर्या का गर्भस्थ शिशुपर भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। सात्विक वातावरण में रहकर मुनि का उपदेश सुनने वाली दैत्य पत्नी कयाधूका गर्भस्थ वालक भी सात्विक संस्कारो से युक्त हो गया। दृष्टान्त सुभद्रा का—जव इनके गर्भ में अभिमन्यु थे, उस समय श्री अर्जुनजी इन्हें बीरता की, युद्ध कौशल की ओज पूर्ण कथायें सुनाया करते थे। उसी प्रसङ्ग में अर्जुन ने इन्हें चक्र-व्यूह-भेदन रहस्य भी सुनाया था, जिसका संस्कार वीर अभिमन्यु को गर्भ में ही पड़ गया था जो कि आगे चलकर महाभारत के युद्ध में काम आया।

हिरण्यकशिपुके तपसे प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने उसे वरदान दिया। वह लौटकर अपने घर आया यथावसर मङ्गल मूहुर्त में कयाधू ने भक्त शिरोमणि प्रह्लाद को जन्म दिया। दैत्य-वालक होकर भी प्रह्लादजी दैवी सद्गुण सम्पत्तिसे युक्त थे वे वड़ेही सन्तसेवी थे, ब्राह्मण-भक्त,सौम्यसुभाव,सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय और सर्वभूत सुहृद थे। इनके गुणों पर मुग्धहोकर भगवान वेद-व्यासजी लिखते हैं कि जैसे भगवानके गुण अनन्त हैं, वैसेही प्रह्लादके श्रेष्ठ गुणोंकी भी कोई सीमा नही है। भगवान श्रीकृष्णके परमानुग्रहभाजन श्रीप्रह्लादजी वचपनसे ही खेल-कूद छोड़कर भगवानके ध्यानमें तन्मय हो जाया करतेथे। हरसमय 'श्रीहरि' 'नारायण' 'कृष्ण' 'गोविन्द'आदि नामोंकाउच्चारण करतेहुए प्रेममें विभोर रहा करते थे। दैत्योंकी प्रकृति के प्रतिकूल इनके इसआचरणको देखकर हिरण्यकशिपु शङ्कित हुआ और समझा-बुझाकर अपने स्वभावके अनुकूल वनाने का सामान्य प्रयत्न भी किया परन्तु जव उसका कोई भी प्रभाव पड़ते न देखा तो उसने गुरु शुक्राचार्य के पुत्र शण्ड और अमर्क को बुलाकर विधिपूर्वक उपनयन संस्कार कराकर गुरुकुल में ले जाकर आसुर-धर्म-कर्म की शिक्षा देने का आदेश दिया। श्रीप्रह्लादजी अव नित्य प्रति पाठशाला में पढ़ने जाने लगे।

एक दिन प्रह्लाद गुरुकुल में जा रहे थे। रास्ते में एक कुम्हार का घर पडता था। प्रह्लाद ने देखा कुम्हारी हाथ में तुलसी का माला लिये हुये 'राम, राम' कहती हुई अवांकी परिक्रमा कर रही थी। श्रीप्रह्लादजी को उसका यह कर्म कुछ अस्वाभाविक सा लगा अतः पूछ ही वैठे। कुम्हारी ने कहा—दैत्येन्द्र नन्दन! मेरे कच्चे वर्तनों के ढेर में एक विल्ली ने वच्चा दिया था, मैंने सोचा था कि इनका अवां लगाते समय मैं उस पात्र को वचा दूंगी, जिसमें विल्लीके वच्चे है, परन्तु रात्रि में अवां लगाते समय मुझे इस वात का ध्यान नहीं रहा। वह घड़ा भी अवे में लग गया। जब अवां की आग धधकी तो मुझे इस वात का स्मरण हुआ, परन्तु अव तो सिवा भगवान के स्मरण के और कोई उपाय सम्भव नहीं, और न सफल ही हो सकता है अतः मैं उन विल्ली के वच्चों की प्राण रक्षा के लिये श्रीराम-नाम का स्मरण कर रही हूं। भगवान के नाम की अनन्त महिमा है यथा—

सोचसंकटनि सोच संकट परत जर जरत प्रभाव नाम ललित ललाम को।
बूड़िऔ तरति बिगरी औ सुधरति वात होत देखि दाहिनो सुभाउविधि बाम को॥

भागत अभाग अनुरागत विराग भाग जागत आलसी तुलसीहू से निकाम को।
धाई धारि फिरि के गोहारि हितकारी होति आई मीचु मिटति जपत राम नाम को ।। (कवितावली)

श्रीप्रह्लादजी ने अपने वाल स्वभाव वश कहा—कुम्हारी ! मेरे पिताजी तो कहते हैं कि भगवान मैं ही हूँ। यथा—ईश्वरोऽहं"""(गीता) समस्त देवी देवता तक मुझसे भय खाते हैं। तव तू उन्हें छोड़कर दूसरे भगवान को क्यों भजती है ? कुम्हारी ने कहा—आपके पिता अपने मन से वने वनाये नकली भगवान हैं। आपके पिता में यह सामर्थ्य नहीं कि जलती हुई अवाँ की अग्नि से विल्ली के वच्चों को वचा सकें। यह सामर्थ्य तो एक मात्र परम पिता परमात्मा में ही है और वह परमात्मा हैं भगवान श्रीराम। कुम्हारी का उत्तर वड़ा ही निर्भीकता पूर्ण है। वह यह डर नहीं करती कि अपने पिता की अवज्ञा पर कहीं राजकुमार रुष्ट न हो जायें, राजा अप्रसन्न न हो जायें। वह तो प्रभु विश्वास के वल पर निर्भय हो गई है। यथा—'तुलसिदास रघुवीर वाहु वल सदा अभय काहू न डरै।' निर्भय होना दैवी सम्पत्ति का प्रथम गुण रत्न है। यथा—'अभयं सत्वसंशुद्धिः ~।' (गी०) कुम्हारी के वचन सुनकर श्रीप्रह्लादजी की श्रीरामनाम में वड़ी निष्ठा हो गई, साथ ही यह भी कहे कि कुम्हारी ! अवाँ मेरे सामने खोला जाय। यदि तुम्हारी वात सत्य हुई तो मैं भी तुम्हारी तरह श्रीरामभक्त वन जाऊँगा अन्यथा पिताजीसे तुमको दण्ड दिलाऊँगा, जो तुमने, उनके राज्य में रहकर भी उनके लिये अपमान के वचन कहा है। कुम्हारी के विश्वास की विजय हुई। भगवत्कृपा से विल्ली के वच्चे जीवित निकले। उनको किञ्चित् मात्र भी आँच नहीं लगी थी। भक्त प्रह्लाद की निष्ठा और भी दृढ़ हो गई।

परम प्रतिभाशाली प्रह्लाद गुरुजी का पढ़ाया हुआ पाठ पढ़ लेते, पूछने पर ज्यों का त्यों सुना देते परन्तु वह पाठ उनको रुचता नहीं। वे तो स्वयं एवं साथ के दैत्य वालकों को भी लेकर अपना अधिकांश समय भगवत्स्मरण-चिन्तन में ही विताते थे। एक दिन हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को वड़े प्रेम से गोद मे लेकर पूछा—वेटा ! वताओ तो सही, तुम्हें कौन सी वात अच्छी लगती है ? प्रह्लादजी ने कहा—

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरि माश्रयेत ।। (भा०)

अर्थ—पिताजी ! संसार के प्राणी 'मैं' और 'मेरे' के झूठे आग्रहमें पड़कर सदा ही अत्यन्त उद्विग्न रहते हैं। ऐसे प्राणियो के लिये मैं यही ठीक समझता हूँ कि वे अपने अधः पतन के मूल कारण, घास से ढँके हुये अँधेरे कूएँ के समान इस घर को छोड़कर वनमें चले जायें और भगवान श्रीहरिकी शरण ग्रहण करे। यह सुनकर हिरण्यकशिपु हँस गया और वोला—जान पड़ता है कि गुरुजी के घरपर विष्णुके पक्षपाती कुछ ब्राह्मण वेष वदलकर रहते हैं। वे वालकों को वहका देते हैं, तभी तो यह वालक इस प्रकार वोल रहा है। हिरण्यकशिपुने शण्डामर्क को सावधानी रखने की आज्ञा देकर प्रह्लाद को पुनः गुरुकुल भेज दिया। अव की वार शण्डामर्क ने वड़े मनोयोग से प्रह्लाद को राजनीतिका अध्ययन कराया, जिससे इनकी पारमार्थिक वुद्धि पर स्वार्थ का आवरण पड़ जाय।

कुछ दिन वाद जव गुरु जी ने देखा कि प्रह्लाद ने साम, दाम, दण्ड, भेद सम्वन्धी सारी वातें जान ली है तव वे उन्हें लेकर प्रथम उनकी मां के पास गये। मां ने वड़ा प्यार किया और सुन्दर

वस्त्राभूषणों से सजाकर पिता के पास भेजा। विनयावनत होकर चरणों में प्रणाम करते हुये पुत्र को उठाकर दैत्येन्द्र ने हृदय से लगा लिया, शिर सूँघा, आशीर्वाद दिया और आनन्द में भर कर पूछा—वेटा प्रह्लाद! अपने अधीत विषयों में से कोई अच्छी सी वात हमें सुनाओ। प्रह्लादजी ने कहा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्ति श्चेन्नवलक्षणा। क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥ (भा०)

अर्थ—पिताजी! श्रवण, कीर्तनादि भेद से जो भगवान की नवधा भक्ति है, यदि यह भगवान के प्रति समर्पण के भाव से की जाय तो मैं उसी को उत्तम अध्ययन मानता हूँ। यह सुनकर हिरण्य कशिपु के क्रोध का पारावार नहीं रहा और उसने गुरुपुत्रों को वहुत डाँटा कि तुम निश्चय ही ब्राह्मण हो अतः साधु—ब्राह्मणों का पक्ष करते हो। मेरी किञ्चित् भी परवाह न करके मेरे पुत्र को तुमने सर्वथा निस्सार शिक्षा दी है। पुरोहित पुत्रों ने सौ सौ सौगन्ध खाकर कहा कि आपका वालक न तो हमारे विगाड़ने से विगड़ा है न अन्य के विगाड़ने से। इसका तो यह जन्म जात स्वभाव है। व्यर्थ हमें दोष न लगाइये।

जव हिरण्यकशिपुने प्रह्लादजी से इस सम्वन्ध में पूछा तो उन्होंने पुनः भगवत्तत्व का निरूपण करते हुये पिता से भी भगवद्भजन करने का अनुरोध किया। इतना सुनना था कि क्रोधान्ध हिरण्यकशिपुने पुत्रस्नेह को तिलाञ्जलि देकर प्रह्लाद को अपनी गोद से उठाकर भूमि पर पटक दिया और अपने आज्ञाकारी असुरों से उन्हें मार डालने को कहा। असुरराज के आदेश से दुर्दान्त दैत्यों ने श्रीप्रह्लादजी को मारने के लिये विविध उपाय किये परन्तु सब व्यर्थ गये, जैसे भाग्य हीन के सब उद्योग-धंधे व्यर्थ हो जाते हैं।

यथा—पासनि सों बाँधि कै अगाधनीर बोर राखे तीर तरवारन सों मारि मारि हारे हैं।
गिरि ते गिराइ दियो डरपे न नेकु तब मदमतवारे भारे हाथी तर डारे हैं॥
फेरे सिर आरे लै अगिनि मांझ जारे और पूँछ मीड़ गातन लगाये नाग कारे हैं।
भाँवते के प्रेम में मगन कछू जाने नाहिं ऐसे प्रह्लाद पूरे प्रेम मतवारे हैं॥

तथा—व्याल कराल महा विष पावक मत्त गयन्द हुँ के रद तोरे।
साँसति संकि चली डरपे हुते किंकर ते करनी मुख मोरे॥
नेकु विषाद नहीं प्रहलादहि कारन केहरि के वल होरे।
कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखि है राम तो मारि है को रे॥ (कवितावली)

पर्वत भेदी अस्त्र-शस्त्र भक्त के शरीर का स्पर्श होते ही टुकड़े-टुकड़े हो गये, मतवाले हाथियों ने कुचलने के वजाय सूँड़ से उठाकर सिर पर विठा लिया, विषधर सर्प गलेकी हारमाला वन गये, मृगेन्द्र श्वानवत् पूँछ हिलाते हुए चरणों में लोट गये, शूली सिंहासन हो गयी, पर्वत से गिराये जाने पर कठोर पृथ्वी कोमल सुमन शय्या हो गई, पर्वत के नीचे दवाये जाने पर पहाड फूलों की गेंद हो गये। लाखों मन लकड़ियों के ढेर में अग्नि लगाई गई। लपटें आकाश को चूम रही थी हिरण्यकशिपु की वहन होलिका जिसे अग्नि में न जलने का वरदान मिला था अग्नि स्तम्भन विद्या जानती थी। वह इन्हें गोद में लेकर

बैठी अग्नि-महल के बीच। परन्तु आश्चर्य, होलिका भस्म हो गई, और प्रह्लाद के लिये वह हुतवहज्वाला चन्दन पङ्क बन गई। हिरण्यकशिपु हक्का-बक्का-सा देख रहा था। उससे रहा नहीं गया, उसने पूछा— प्रह्लाद ! तुम्हें ताप नहीं लग रहा है ? प्रह्लादजी ने कहा—

रामनाम जपतां कुतोभयं सर्वतापशमनैक भेषजम्।
पश्य तात ! मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ॥

अर्थ—हे पिताजी ! समस्त तापों की एक महौषधि श्रीरामनाम को जपने वाले को भय कहां ? आप स्वयं देख लें, मेरे शरीर के समीप आकर अग्नि भी शीतल हो जाती है ॥ विष मिश्रित भोजन अमृत भाव को प्राप्त हो गया। वर्णन आया है कि हिरण्यकशिपु ने प्रह्लादको अँधेरी कोठरी में बन्दकर दिया और खाना-पीना भी बन्द करा दिया। उस समय वैकुण्ठ में जब श्रीलक्ष्मीजी भगवान को भोजन परोस कर लाईं तो भगवान ने खाने से इन्कार कर दिया। पूछने पर बोले कि मेरा प्रिय भक्त भूखा है तो मैं भला कैसे खा सकता हूँ ? यह कहते-कहते भगवान के नेत्रों में प्रेमाश्रु छलछला आये और श्रीलक्ष्मी-जी को साथ लेकर भोग का थाल लिये हुये प्रह्लादजी के पास आये। उस समय वे ध्यानावस्थित थे। प्रभु ने स्वयं चैतन्य कर उन्हें अपनी गोद में बिठाकर प्रसाद पवाया। भक्त युगल सरकार का दर्शनकर एवं उनके श्रीकर कमल से परम दिव्य प्रसाद पाकर कृतार्थ हो गया। हिरण्यकशिपु के दण्ड को वरदान माना।

असुर राज ने एक दूसरा उद्योग किया। अग्निसे तपाकर लाल किये हुये लौह स्तम्भमें प्रह्लाद जी को बांधने की आज्ञा असुरों को दे दी। प्रह्लाद को स्तम्भ के सम्मुख खड़ा करा दिया गया। उन्होंने एकबार खम्भे पर दृष्टिपात किया तो देखा कि एक चींटी उस पर चढ़ी चली जा रही है। भक्त का हृदय उमड़ पड़ा, भगवान की कृपा का साक्षात्कार कर। वे 'प्यारे, प्यारे' कहते हुये स्वयं उस स्तम्भ से जा लगे मानो साक्षात् भगवानसे भेंट रहे हों। हिरण्यकशिपु ने अनेक मायावादी दैत्यों से माया का प्रयोग कराया, परन्तु वे सब व्यर्थ गईं उलटे उन दुष्टों को ही जा लगी। तभी तो कहा है गया कि—'मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परै सुरराया।।' अपने समस्त प्रयत्न व्यर्थ जाने पर हिरण्य कशिपु ने पुरोहित से कहा—

त्वर्यतां त्वर्यतां हे हे सद्यो दैत्यपुरोहिताः।
कृत्यां तस्य विनाशाय उत्पादयत मा चिरम् ॥(विष्णु पुराण)

अर्थ—अरे अरे पुरोहितो ! जल्दी करो, जल्दी करो, इसके नष्ट करने के लिये कृत्या को उत्पन्न करो। अब देरी न करो। पुरोहितों ने एक बार पुनः प्रह्लादजी को समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु कोई प्रभाव पड़ता न देखकर क्रोधित होकर आग की भयानक लपटों के समान प्रज्वलित शरीर वाली कृत्याको उत्पन्न किया। परन्तु क्या—'सीम किचांपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू ॥ (रामा०) कृत्या प्रह्लाद के दुर्धर्ष वैष्णव तेज से पराभूत होकर लौटी और उसने स्वप्रयोग कर्ता शण्डामर्क को ही मार डाला। सर्वभूत सुहृद श्रीप्रह्लादजी भला अपने गुरुजनों का अमङ्गल कैसे देख सकते थे। उन्होंने इनकी प्राण रक्षा के लिये तत्काल भगवान से प्रार्थना की कि हे प्रभो ! यदि मैं प्राणिमात्र में आपका दर्शन करता होऊँ, तो मेरे इस सत्य के प्रभाव से ये पुरोहित जीवित हो जायँ यह कहकर प्रह्लादजी ने उनका

स्पर्श किया। वे तुरन्त जीवित हो गये और गद्गद होकर कृतज्ञता पूर्ण हृदय से आशीर्वाद देते हुये बोले—

दीर्घायुरप्रतिहतो बलवीर्य समन्वितः। पुत्र-पौत्रधनैश्वर्यैर्युक्तो वत्स भवोत्तमः॥(वि०पु०)

अर्थ—वत्स ! तू परम श्रेष्ठ है। तू दीर्घायु हो। अप्रतिहत हो, बलवीर्य से, पुत्रपौत्रादि से, एवं धनैश्वर्यादि से सम्पन्न हो।

हिरण्य कशिपु चिन्तित हो उठा अपने प्रयत्नों को विफल होते हुये देखकर। पुरोहित पुत्रों ने समझाया कि प्रायः अवस्थाकी वृद्धि के साथ-साथ गुरुजनों की सेवा से बुद्धि सुधर जाया करती है अतः इस बालक को वरुणपाश से आबद्ध कर पुनः पाठशाला भेजा जाय। असुरेन्द्र ने अनुमति दे दी। पुरोहित श्रीप्रह्लादजी को पुनः अर्थ, धर्म,काम-इन तीन पुरुषार्थों की शिक्षा देने लगे। परन्तु भक्त शिरोमणि तो अपनी राम-धुन में ही लगे रहते। अध्ययन काल में बीच-बीच में अवकाश मिलने पर जब दैत्य बालक प्रह्लादजी को खेलने के लिये बुलाते तो ये अपनी अमृतोपमवाणी से स्वयं उन्हें आकर्षित कर अपने पास बुलाकर भगवद्भजन का उपदेश देने लगते। यथा—

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह। दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥ (भा०)

अर्थ—मित्रो ! इस संसार में मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। इसके द्वारा अविनाशी परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु पता नहीं कब इसका अन्त हो जाय। इसलिये बुद्धिमान पुरुष को बचपन में ही भगवान की प्राप्ति कराने वाले साधनों का अनुष्ठान कर लेना चाहिये। लौकिक सुख तो प्रारब्ध के अनुसार सर्वत्र वैसे ही मिलते रहते हैं जैसे बिना किसी प्रकार का प्रयत्न किये, निवारण करने पर भी दुःख मिलते हैं। इसलिये व्यर्थ ही आयु का व्यय करने वाले साँसारिक सुखों का प्रयत्न छोड़कर अपने-अपने हृदय में विराजमान् हृदयेश्वर भगवान का भजन करो। प्रह्लादजी का प्रवचन सुनकर दैत्य बालकों ने उसी समय से, निर्दोष होने के कारण उनकी बात पकड़ ली।

एक दिन गुरुजी गृहस्थी के काम से कहीं बाहर गये हुये थे, बालकवृन्द प्रह्लाद को घेर कर बैठ गये और बोले—मित्रवर ! तुम्हारी बातें हमें बड़ी अच्छी लगती हैं। कुछ सुनाओ तो। श्रीप्रह्लादजीने भगवान के अचिन्त्यानन्त सौन्दर्य-माधुर्य का नख-शिख वर्णन कर दैत्य बालको को इसी स्वरूप का ध्यान करने को कहा ! फिर क्या था ? सबने भीतर से पाठशाला की किवाड़ें बन्द कर ली और अपने-अपने आसन पर सिद्धासन से बैठकर भगवानका ध्यान करने लगे। थोड़ी ही देर बाद सबको समाधि लग गई। उधर जब गुरु शण्डामर्क आये तो उन्होने पाठशाला में सन्नाटा देखा। बड़े विचार में पड़े कि आखिर बात क्या है जो कि बच्चे पाठ नहीं याद कर रहे हैं। जब निकट आये तो देखे कि भीतर से जंजीर बन्द है; खिड़की की राह से झांक कर देखा तो सब समाधिस्थ थे। सोचे कि अच्छा मौका है, चलकर दैत्येन्द्र को दिखाऊँ कि देखिये प्रह्लाद अपने तो बिगड़े ही हैं सखाओं को भी बिगाड़ दिये। इनकी दृष्टि मे भक्ति करना, जप-ध्यान करना बिगड़ना है। यथा—मीरा गिरिधर हाथ बिकानी लोग कहैं बिगड़ी।' पुरोहितों ने दरबार में आकर शिकायत किया। हिरण्यकशिपु ने देखने के लिये अपने प्रधान मन्त्री को भेजा।

इधर श्रीप्रह्लादजी की समाधि खुली, तब इन्होंने सबको चैतन्य किया और बोले कि भाइयो ! अब मेरा विचार है कि हम सब लोग मिलकर कीर्तन करें। बालकों ने सहर्ष प्रस्ताव का समर्थन किया और ताली बजा-बजाकर नृत्यपूर्वक कीर्तन करने लगे। अद्‌भुत सुख मिला। 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥' की मङ्गलध्वनि से सम्पूर्ण नगर गुंजायमान हो उठा। इतने में हाथी पर सवारहोकर प्रधानमन्त्री आया। परन्तु यह क्या? कीर्तन सुनकर हाथी के भी पैर थिरक उठे और वह भी प्रेमोन्मत्त होकर नाचने लगा। मंत्री भी कीर्तन के प्रभाव से वञ्चित नहीं रहा, उसे भी ऐसा प्रेमरङ्ग लगा कि हाथीसे उतरकर लाज-संकोच छोड़कर नाच-नाचकर कीर्तन करने लगा। जब बहुत देर हुई और मन्त्रीमहोदय नहीं लौटे तो हिरण्यकशिपुने दूसरे, तीसरे, चौथे—इस प्रकार क्रमशः कई कर्मचारियों को भेजा परन्तु सबकी वही दशा।

किसी ने जाकर दरबार मे जब यह सूचना दी तब वह असुर-शिरोमणि स्वयं ही सबका निरीक्षण करने चला कि देखें तो कैसा है कीर्तन का जादू ? कहावत है—'जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोलै' कीर्तनकी ध्वनि कानमें पड़ते ही हिरण्यकशिपुका मनमयूर भी मचल उठा नाच-नाचकर कीर्तन करनेको। असुर को अपने आप पर ही सन्देह होने लगा और वह तुरन्त ही वहां से भाग खड़ा हुआ कि कहीं मेरी भी यही दशा न हो जाय। इस पर दृष्टांत मथुरा के चौबों का—देखिये छीत स्वामी का प्रसङ्ग (छप्पय १४६) उसने समझ लिया कि निश्चय ही इस समय कीर्तन का प्रभाव बड़े जोर का है, जो भी आयेगा, अवश्यमेव प्रभावित हो जायगा। अभागा कान बन्द कर वहां से भागा। श्रीप्रह्लादजीने संग के सखाओं से कहा—भैया ! मेरे पिताजी के डर से कोई भगवान का नाम नहीं लेता तो चलो हम लोग आज नगर कीर्तन करें। इससे बहुत लोग तो भय छोड़कर नाम लेने लगेंगे और जो नही भी लेंगे वह सुनेंगे तो। भगवानका नामतो सुननेसे भी लाभदायक है। यथा—'जाकर नाम सुनत सुभ होई।' 'कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके।' बालकोंने बड़े उत्साहसे नगर कीर्तन किया। पूरा शहर कीर्तनमय हो गया। परन्तु जब कीर्तनकारी असुर राज के महल के समीप पहुँचे तो उनकी हिम्मत छूट गई। बालकों को भयभीत जानकर प्रह्लादजी ने उनको हृदय से लगाकर विदा कर दिया और स्वयं भी शान्तिपूर्वक घर चले आये।

अत्यन्त नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर चुपचाप सन्मुख खड़े प्रह्लादजी से हिरण्यकशिपु ने कड़ककर पूछा—मूर्खबालक ! मेरे तनिक से क्रोध करने पर लोकपाल भी कांप उठते हैं फिर तूने किसके बलबूते पर निडर की तरह मेरी आज्ञाके विरुद्ध काम किया है ? प्रह्लादजी ने सर्वशक्तिमान भगवानकी अचिन्त्य शक्ति का स्वरूप निरूपण करते हुए पिता से क्रोध-परित्याग की प्रार्थना किया। अपने पुत्रकी इन स्वभाव विरुद्ध बातोको सुनकर दुष्ट दैत्यने निश्चय करलिया कि इसे अब अपने ही हाथोंसे मार डालना चाहिए। फिर तो दांत पीसकर बोला मूढ़मते! मैं तेरा वध करूँगा। कहां है वह तेरा सहायक? वह अब तुझे आकर बचाये तो जानूं। प्रह्लाद—मैं आपसे यह पूछता हूँ कि वह कहां नही है? यथा—'देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहां जहां प्रभु नाही ॥ हरि व्यापक सर्वत्र समाना।' (रामा०) वह तो जैसे हममें हैं वैसे ही आप मे भी वर्तमान हैं और वैसे ही आपकी इस खड्गमें तथा सर्वत्र व्याप्त हैं। हिरण्य० तो क्या-वह इस खम्भे में भी है ? प्रह०—हां।

इतना सुनतेही वह दुष्ट हाथमें खड्ग लेकर सिंहासनसेकूदपड़ा और बड़ेजोरसे उस खंभेमें घूंसा मारा। भक्त के वचन को पूर्ण करनेके लिये भक्तवत्सल भगवान खम्भ से ही प्रकट हो गये। विशेप देखिये

छप्पय ५ श्रीनृसिंहावतार की कथा। श्रीप्रियादासजी कहते हैं—'भक्तवाणी ही सों प्यार है'—भगवान ने चारों युगों में भक्तों के वचन को सत्य किया है। देखिये—छप्पय ५२। भक्त के वचन को रखने के लिए भगवान प्रह्लाद की ऊँगली के इशारे पर नाचे। प्रह्लादजी ने अंगुली के संकेत से कहा था कि भगवान हममें, तुममें, खड्ग में, और खम्भ में अर्थात् सबमें है, तो भगवान भी जहां जहां भक्त की अँगुली जाती वहीं वहीं से प्रगट होने के लिए तैयार हो जाते। क्योंकि भक्त वाणी०।

दुष्ट डार्‌यो मारि—हिरण्यकशिपु ने ब्रह्माजी से ऐसा वरदान मांग लिया था कि मृत्यु के लिये किञ्चित् अवकाश ही नहीं रह गया था। परन्तु परम प्रवीण प्रभुने मार्ग निकाल ही लिया। उसने मांगा था—न जमीन पर मरूँ न आकाश में, तो भगवान ने अपनी जांघों पर गिरा लिया। उसने मांगा था—न दिन में मरूँ न रात में। भगवान ने संध्या समय में मारा। उसने मांगा था—न मनुष्य से मरूँ न पशु से। भगवान ने नृसिह रूप धारण कर मारा। उसने मांगा था—मैं आपकी सृष्टि के प्राणियो से न मरूँ तो भगवान 'आप प्रगट भये विधि न बनाये।' उसने मांगा था—न मैं सूखे आयुधों से मरूँ न गीले। भगवान ने नखों से विदीर्ण कर डाला, नख न सूखे ही कहते वनते है क्योंकि बढ़ते हैं, न गीले ही कहते वनते हैं क्योंकि काटने में कष्ट नही होता है। उसने मांगा था—मैं बारह महीनों में नहीं मरूँ। भगवान ने उसे पुरुषोत्तम मास में मारा। भगवान ने उसके सभी वरदान सुरक्षित रखतेहुऐ उसे मारा और अपनी बातके समर्थनमे उसी से हामी भरवाकर मारा। उससे पूछे—देखो, तुम्हारी कोई शर्त अधूरी तो नही रहीं ? उसने कहा—नही। भगवान ने कहा—अव मार डालूँ तो कोई हर्ज तो नही। उसने 'मौनं सम्मति लक्षणम्' मौन से स्वीकृति देदी।

गरे आँतें लई डारि—कारण १—सिंह स्वभाव, २—भागवत अपराधके कारण क्रोध-वश। ३—इस शरीर से भक्तशिरोमणि का जन्म हुआ है। इस नाते से भी, ४—भगवान के आंत निकालनेका एक हेतु यह भी है कि कहीं इन आतोंमें कोई और प्रह्लाद तो बीजरूपमें नहीं है। तत्पश्चात् श्रीनृसिंहभगवान हिरण्यकशिपुकी राजसभामें ऊँचे सिंहासनपर जाकर विराजमान हो गये। सिंहासनपर वैठकर भगवान ने आसुरी सम्पदा का शोधन किया। इस पर वैठकर हिरण्यकशिपु ने न जाने कौन-कौन से अत्याचार किये थे। तो भला इसकी शुद्धि किये बिना इस पर कैसे अपने भक्त को वैठाते। अतः प्रथम स्वयं वैठकर उसकी शुद्धि करदी। पुनः भक्त तो प्रभु प्रसाद पट भूषण धरहीं, अतः वैठकर उसे प्रसाद वना दिया। 'अव भोगे रोग भयं' वाली समस्या नहीं रही। 'क्रोध को न पार'—यद्यपि दुष्ट मार डाला गया परन्तु प्रभु का क्रोध अभी शान्त नही हुआ। बात यह है कि बड़ों को प्रथम तो क्रोध होता नही और जव होता भी है तो उनके स्वरूपानुरूप क्रोधभी बहुत होता है और वह जल्दी शान्त नहीं होता है। 'कहा कियो यों विचार है'—भगवान ने विचार किया था कि हिरण्यकशिपु के साथ ही सारी सृष्टि को भी समाप्त करदूँ और पुनः अब सृष्टि रचना नही करूँगा। क्योंकि संसारी लोग हमारे भक्तों को कष्ट देते हैं। ब्रह्मादिक सृष्टि के अधिकारियों को चिन्ता पड़गयी कि तव तो हमारा अधिकार, पद, महकमा आदि ही खत्म हो जायेगा। फिर तो ब्रह्मादिक सभी लोकपाल, दिग्पालों ने भगवान की पथक्-पृथक् स्तुति की। परन्तु तव भी शान्त नही हुआ।

डरे शिव अज आदि देख्यो नहीं क्रोध ऐसो आवत न ढिग कोऊ लछिमी हूँ त्रास है।
तब तो पठायो प्रहलाद अहलाद महा अहो भक्ति भाव पग्यो आयो प्रभु पास है।

गोद में उठाइ लियो शीस पर हाथ दियो हियो हुलसायो कही वाणी विनयरास है।
आई जग दया लगि परचो श्रीनृसिंहजू को अरचो यों छुटावो करचो माया ज्ञान नास है।१००

शब्दार्थ—अह्लाद=आनन्द, सुख। लगि परचो=उलझ पड़े, अरुझि गए। अरचो=हठ कियो।

भावार्थ—नृसिंह भगवान्के अति भयंकर रूपको देखकर ब्रह्माजी आदि सभी देवगण भयभीत हो गए। उन्होने आज तक ऐसा क्रोध नही देखा था। डरके मारे कोई भी उनके समीप नही आता था। यहाँ तक कि लक्ष्मीजीको भी उनके पास आने में भय लगता था। तब ब्रह्माजीने उनका क्रोध शान्त करनेकेलिए प्रह्लादजीको उनके समीप भेजा। नृसिंहजीके दर्शनोसे प्रह्लादजी को अति प्रसन्नता हुई,वे भक्ति-भावमे निमग्न नृसिंहजीके पास पहुँचे। भगवान्ने प्रह्लादको गोदमें उठा लिया और उनके शिर पर हाथ फेरा। प्रभुके करकमलका कोमल स्पर्श पाकर उनका हृदय आनन्दित हो गया। वे विनम्रता पूर्वक प्रभुकी स्तुति करने लगे। फिर 'वर माँगो' ऐसा नृसिंह भगवान्के कहनेपर प्रह्लादजीको संसारी जीवोंपर दया आ गई। उन्होने भगवान् के श्रीचरणोमें लगकर यह वर माँगा कि—आप मायासे बँधे जीवोको छुड़ाइये। मायानेही लोगोके ज्ञानका नाश कर दिया है। इस वरको पानेकेलिए प्रह्लादजीने मचलकर हठ किया।१००

व्याख्या—लछिमी हू त्रास है—श्रीशिव ब्रह्मादिकोने श्रीनृसिंह भगवानका क्रोध शान्त करने के लिये श्रीहरिप्रिया लक्ष्मीजी का आश्रय लिया। देवताओके कहने पर श्रीलक्ष्मीजी मनाने के लिये आइँ तो, परन्तु श्रीनृसिंहभगवान ने एक घुड़की इनको भी दिया और कर्री दृष्टि से देखा। इसलिये कि यह सब खुराफात तुम्हारे ही कारण हुई है। मेरे भक्त को इतना दुःख भोगना पड़ा। मेरे पार्षदों को मेरे हाथ से मरना पड़ा आदि। लक्ष्मीजी भगी। कही कही ऐसा भी वर्णन आता है कि श्रीलक्ष्मी जी ने डरके मारे यह कहकर इनकार कर दिया कि मेरे पति तो भगवान विष्णु है फिर मैं नृसिहजीके पास कैसे जाऊँ? तब अन्तमें सब लोगों ने श्रीप्रह्लादजी को ही प्रभुके पास भेजा। श्रीप्रह्लाद जी वडे ही आनन्दित हो भक्ति भाव से भरकर प्रभुके पास आये। अरे भाई! सिंह अन्य के लिये चाहे जितना भयानक हो परन्तु सिंह-शावक को भला सिंह से क्या भय? यही कारण है कि जहाँ ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी तक को त्रास है वहाँ बालक प्रह्लाद अति ही निर्भय है।

गोद में उठाइ लियो—जैसे वात्सल्यरस पूर्ण पिता अपने लाड़िले वेटा को देखते ही गोद मे उठा लेता है। श्रीरामनाम लेने पर पिता हिरण्यकशिपुने खीझकर इन्हें गोद से फेक दिया था तो कृपा करके जगत् पिता ने अपनी गोद में उठाकर सम्मान किया। प्राकृत गोद छूटी तो अप्राकृत गोद मिली—'सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ।' भगवान ने वडा प्यार किया श्रीप्रह्लादजी का। श्रीप्रह्लादजी भी अवोध वालक की तरह श्रीनृसिंह भगवान की दाढ़ीमूँछ पकड़ लेते, उनको खींचते, मुँह खोलकर दाढें गिनने लगते, गलेमें हाथ डालकर झूलजाते-ऐसी विविध बाल-लीला करते। भगवानने पूछा—प्रह्लाद! तुझे डर नही लगता है? प्रह्लादजीने कहा—प्रभो! आपके इस भयानक मुख, लपलपाती हुई जिह्वा, सूर्यके समान तेजस्वी नेत्र, चढ़ी हुई भौहों, पैनी दाढ़ों, आँतों की माला, खून से लथ पथ गरदन के बालो वर्छे की तरह सीधे खड़े कानों, दिग्गजों को भी भयभीत करने वाले सिंहनाद एवं शत्रुओ को विदीर्ण करने वाले आपके इननखो को देखकर मुझे तो तनिक भी भय नहीं हो रहा है। यथा—

नाहं विभेम्यजित तेऽति भयानकास्यजिह्वार्क नेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् ।
आन्त्रस्रजः क्षतजकेसर शङ्कुकर्णान्निर्ह्रादभीत दिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥ (भा०)

श्रीप्रह्लादजीने बड़ी विनम्रतापूर्वक भगवान की बड़ी स्तुति की । प्रभुने प्रसन्न होकर मनभावता वर मांगने को कहा । परन्तु प्रह्लादजीने बालक होने पर भी वर-याचना को प्रेम-भक्ति में विघ्न समझकर भगवान से कहा—प्रभो ! जो सेवक अपनी कामनाओं को पूर्ण करने के लिये आप की सेवा करता है वह सेवक नही, वह तो लेन देन करने वाला बनियाँ है यथा—'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥' (भा०) मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी है । फिर भला क्या लेना और क्या देना ? जव भगवान ने प्रह्लादजी से मांगने का बहुत आग्रह किया तो वे वोले—मेरे वरदानि-शिरोमणि स्वामी ! यदि आप मुझे मुँह मांगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदय में कभी किसी कामना का वीज अंकुरित ही न हो । मेरे नाथ ! आप से मैं एक वर और मांगता हूँ । आपके स्वरूप को विना जाने मेरे पिताजीने आपसे एवं आप का भक्त होने से मुझसे भी द्रोह किया । मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि वे इस महदपराध से मुक्त हो जायें । श्रीनृसिंह भगवान ने कहा—निष्पाप प्रह्लाद ! जिसकुल में तुम्हारे जैसा महाभागवत पुत्र उत्पन्न होगा उसकी तो इक्कीस पीढ़ियाँ तर जाती है, फिर पिता के तरने की तो बात ही क्या है । प्रह्लाद ! तुमतो मेरे सभी भक्तों के आदर्श हो । यथा—'भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक् ॥' (भा०) तदनन्तर भगवानने प्रह्लादकी इच्छा न होनेपर भी एक मन्वन्तर पर्यन्त पिता के पद पर प्रतिष्ठित होकर मुनियों की आज्ञाके अनुसार दैत्यों का शासन करने का अनुरोध किया ।

आई जगदया...... नाही हैं—जगतके जीवोपर दया करके श्रीप्रह्लादजीने भगवान से प्रार्थना किया कि प्रभो ! आपकी माया अत्यन्त प्रबल है । साधारण पुरुषोंकी कौन कहे । बड़े बड़े ज्ञानियोके ज्ञानका नाशकर मोह में डाल देती है । यथा—'जो ज्ञानिन्हकर चित अपहरई । बरिआई विमोह मन करई ॥' अतः आप कृपाकरके इस मायाका सर्वथा नाशकर दीजिये । श्रीभगवान ने कहा कि मायानाश करने पर तो कुछ रह ही नहीं जायगा, सृष्टि ही समाप्त हो जायगी । प्रपञ्च तो माया से ही भासमान है । अतः ऐसा नही हो सकता । हाँ, जो तुम्हारा स्मरण करेगा, उसे हमारी माया नहीं व्यापेगी । श्रीप्रह्लादजीने करुणापरवश हो भगवान से प्रार्थना किया कि प्रभो ! ससार के समस्त जीवों को आप अपने वैकुण्ठ लोक में वास दे । भगवानने हँसकर कहा—प्रह्लाद ! सब लोग वैकुण्ठ जाना नही चाहते तो फिर मैं कैसे ले जाऊँ ? प्रह्लादजी को यह वात समझमें नही आई कि भला वैकुण्ठ कौन नहीं जाना चाहेगा ? भगवान ने कहा—यदि हमारी वात पर विश्वास न हो तो जाओ सवसे पूछ आओ । तव ये जव सर्व प्रथम अपने ही कुल के वृद्धों से पूछने गये तो वे लोग इन्हीं को डाँटने लगे कि पिता को तो मरवाकर वैकुण्ठ ले ही गया अव हम लोगों का भी सत्यानाश करवाना चाहता है । हम नहीं जायँगे वैकुण्ठ । जिससे भी पूछते, वही लगभग यही उत्तर देता । एक सूकर को अत्यन्त गन्दे कीचड़ में पड़ा देखकर श्रीप्रह्लादजीने विचारा कि इससे अधिक दुःखी तो संसार में कोई होगा नही । यह तो अवश्य ही चलने को प्रस्तुत हो जायगा । अतः बड़ी आशा से उससे पूछे तो उसने कहा कि पहले यह बताओ—वैकुण्ठ में ऐसी मुलायम कीच है ? या नहीं, प्रह्लादजीने कहा—भला वैकुण्ठ में कीचका क्या काम । वहाँ तो सव परम दिव्य मणिमय भूमि है । सूकरने साफ जवाव दिया—मैं नहीं जाता वैकुण्ठको । प्रह्लादजी हैरान रह गये और यही निष्कर्ष निकाले कि जो जीव जिस भी योनि में है, मोहवश उसी में सुख मान लेता है । मरना कोई नही चाहता ।

दृष्टांत—बुढ़िया का—अपनी वृद्धावस्थाके कष्टों से व्याकुल होकर बुढ़िया रोज मौत को बुलाती और यमराजको दोष देती कि मुझे क्यों नही बुला लेते हैं। एक दिन मुहल्लेके छोटे-छोटे बालक एक चुहियाको झोली में रख कर लाये और बोले—दादी! तू रोज-रोज मौतको बुलाती थी,ले आज हम लोग ले आए है। बुढियाने गिड़गिडा कर कहा—बेटा ! जहां से ले आया है वहीं इसे कर आओ, अभी मैं ऐसी बूढी नही भई हू जो आज ही मरू ।

दूसरा दृष्टान्त—लकड़हारे का—वह अत्यन्त गरीव था। जंगल से लकड़ी काट कर वेच कर जीविका चलाता था। एक दिन वड़े परिश्रम से लकड़ियाँ एकत्रित कर भारी वण्डल वांधा। उटाने लगा तो बोझ भारी होनेसे उठता नहीं था, लोभवश लकड़ी निकालता नहीं था। भूख-प्यास अलग सता रही थी। थका-मांदा लकड़हारा ऐसें जीवन से मरना ही अच्छा समझ कर उसने अत्यन्त अधीर होकर मृत्यु देवता को पुकारा। वे आ भी गये और जव पूछें कि किस लिये बुलाया है तो उसने हाथ जोड़कर कहा—आप कृपा करके यह मेरा लकड़ी का गट्ठर मेरे सिर पर उठवा दीजिये। यह है प्राणियों को जिजीविषा॥

श्रीनृसिह भगवान ने अपने विलम्वसे प्रगट होने के कारण प्रह्लाद से क्षमा मांगी यथा—

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत् क्वेमाः प्रमत्तकृत दारुण यातनास्ते ।
नालोकितं विषममेतदभूतपूर्वं क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः ॥(नृ०)

क०—वोले प्रभु प्यारे प्रिय कोमल तिहारे अङ्ग असुर ने मारे मम नाम एक गाने में।
गिरि ते गिराये पुनि जल में डुबाये हाय अग्नि में जलाये कमी राखी न सताने में॥
उर से लगाय लपटाय कहैं वार वार करुणा सरूप वने करुणा दिखाने में।
मञ्जुल मुखारविन्द चूमि चूमि कहैं प्रभु छमा करो पुत्र मोहिं देर भई आने में॥

श्रीनृसिह भगवान इतना कहकर अन्तर्धान हो गये। भगवान की आज्ञा के अनुसार प्रह्लादजी ने पिता की अन्त्येष्टि क्रिया की। इसके वाद श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने उनका राज्याभिषेक किया। प्रह्लादजी ने अपने शासन काल में आसुरी अनीतियों का उन्मूलन कर न्याय की प्रतिष्ठा की। आपकी न्याय प्रियता के सम्वन्व में महाभारत मे एक प्रसङ्ग आता है कि पांचाल प्रदेशकी सत्कुलोत्पन्ना, सर्वगुण सम्पन्ना,कुमारी केशिनी ने किसी सत्कुलोद्भव वर से ही व्याह करने का संङ्कल्प किया था। वैसे तो उसके सौन्दर्य पर मोहित होकर वड़े-वड़े महाराजकुमारों के प्रस्ताव आये थे परन्तु उसने सवको ठुकराकर महर्षि अङ्गिराके पुत्र सुधन्वा से विवाह करने का निश्चय कर लिया था। इसके वाद प्रह्लाद के पुत्र विरोचन ने जाकर कुमारी केशिनी के समक्ष अपने को सुधन्वासे श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए अपनी विवाहेच्छा प्रकट की। केशिनी ने अपना निश्चय सुनाते हुये विरोचन से इस सम्वन्ध में सुधन्वा से विचार विमर्श करने को कहा। दोनों कुमारी केशिनी के यहाँ ही इस विषय पर वाद-विवाद किये परन्तु किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुंच सके। तव दोनों ने किसी अन्य न्यायाधीश से ही इसका निर्णय लेना उचित समझा। सुधन्वा ने न्याय प्रिय प्रह्लाद को ही, जो कि विरोचन के पिता थे, इसका निर्णय कराने के लिये न्यायाधीश चुना। दोनो कुमारों में शर्त यह हो गई कि विजित (हारा हुआ) व्यक्ति विजेता के चरणों में अपने प्राण समर्पित कर देगा। समस्या प्रह्लाद के सामने प्रस्तुत की गई। प्रह्लाद ने पुत्र स्नेह की अपेक्षा सत्यपालन को गौरव

देते हुए विरोचन को सम्बोधित करके कहा—विरोचन ! अङ्गिरा मुझ से श्रेष्ठ है, सुधन्वाकी माता तेरी माता से श्रेष्ठ है, और सुधन्वा तुझसे श्रेष्ठ है। अतः सुधन्वा ने तुझको जीत लिया, अब सुधन्वा ही तेरे प्राणों का स्वामी है। प्रह्लादजी की इस न्याय प्रियता पर प्रसन्न होकर सुधन्वा ने विरोचन को शर्त के वन्धन से मुक्त कर दिया।

एकवार प्रह्लादजी श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा कर रहे थे। उसी समय श्रीसनकादिकजी मिलने आए। द्वारपाल से अपने आगमन की सूचना भेजी तो प्रह्लादजी ने कहा कि कह दो—अभी सेवा में है। यह सुनकर श्रीसनकादि मुनीश्वर चले गये। वे कृपा करके आये थे परन्तु उनका समुचित सत्कार न होने से प्रह्लादजी से भागवत अपराध वन गया। परिणाम स्वरूप वुद्धि विपरीत हो गई। भगवान की सेवा करते-करते मनमें यह धारणा वनी कि अहो हो ! इनकी क्या पूजा करना, जिन्होने मेरे पूज्य पिता को मार डाला, ताऊ-चाचा को मार डाला। हम दैत्यों का खोज-खोज कर संहार करते ही रहते हैं। इनसे तो लड़ाई करके वदला लेना चाहिये। फिर तो तुरन्त ही सेवा छोड़कर युद्ध के लिये तैयार हो गये। युद्ध के मारू बाजे वजने लगे। समस्त दैत्य योद्धा एकत्रित हो गये। वैकुण्ठ पर धावा वोल दिया गया। भगवान विष्णु को जव यह समाचार मिला तो वे हैरान होकर रह गये, समझ में नही आ रहा था कि भला, प्रह्लाद ने ऐसा क्यों किया ? मैं उनसे कैसे लड़ूँगा ? तव प्रभु ने श्रीनारदजी का स्मरण किया। नारदजी तत्काल प्रगट हो गये। भगवान ने कहा—नारदजी ! आपका चेला वदल गया है। आप ही वताइए—मेरा क्या दोष है ? एक वार जिसको गोद मैं वैठाकर प्यार किया है, उसके ऊपर मैं अस्त्र-शस्त्र भला कैसे चला सकता हूँ ? अतः आप जाकर प्रह्लाद को समझाइए। श्रीनारदजी प्रह्लादजी के पास आये। शिष्यने गुरुदेव को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। गुरुदेव नारद ने आशीर्वाद देकर जव स्थिति पूछी तो इन्होने सव सही-सही वता दिया। श्रीनारदजी ने कहा—वेटा प्रह्लाद ! तुम्हारी वुद्धि तो ऐसी नहीं होनी चाहिए। तुम तो भक्तो के आदर्श हो। तुमसे निश्चय ही कोई महदपराध हो गया है। तत्पश्चात् श्रीनारदजी ने ध्यान धर कर देखा तो उन्हें सव वात मालूम हुई। तव श्रीनारदजी ने प्रह्लाद को श्रीसनकादि ऋषियों की प्रार्थना करने को कहा। गुरु की आज्ञा मानकर प्रह्लादजी ने एकाग्रचित्त हो उनका ध्यान करते हुए स्तवन किया। संत-स्मरण, संस्तवनके प्रभाव से वुद्धि शुद्ध हो गई। तव तो श्रीप्रह्लादजीको वड़ा पश्चात्ताप हुआ और युद्ध का निश्चय छोड़कर गुरु और गोविन्दके चरणों में वारम्वार प्रणाम कर अपराध क्षमा कराकर घर आये। यह है महदपराध का दुष्परिणाम, एवं सन्त-स्मरण का सुपरिणाम—दोनों का ज्वलन्त उदाहरण। श्रीप्रह्लादजी को श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ने भक्त-शिरोमणि के रूपमें स्मरण किया है। यथा—'नामजपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत शिरोमणि भे प्रह्लादू॥' इनके प्रेम की प्रशंसा करते हुए श्रीतुलसी दासजी लिखते हैं कि—

आरतपाल कृपाल जो राम जेहीं सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े।
नाम प्रतापमहामहिमा अँकरे किये खोटेउ छोटेउ बाढ़े॥
सेवक एकते एक अनेक भये तुलसी तिहुं ताप न डाढ़े।
प्रेम वदौं प्रहलादहिं को जिन पाहनते परमेश्वर काढ़े॥१॥
काढ़िकृपान कृपा न कहूं पितु काल कराल विलोकि न भागे ः
राम कहां? सव ठाउँ हैं, खम्भ में ? हां, सुनि हांक नृकेहरि जागे॥

बैरि बिदारि भये विकराल कहे प्रहलादहि के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति भई तुलसी तबतें सब पाहन पूजन लागे ॥२॥

अंतरजामिहुँ ते बड़े बाहिरजामी हैं राम जे नाम लिये तें।
धावत धेनु पेन्हाइ लवाइ ज्यों वालक बोलनि कानि किये तें ॥
आपनि बूझिकहैं तुलसी कहिवे की न बावरि बात बिये ते।
पैंज परे प्रहलादहुं के प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिये तें॥

धन्य प्रह्लाद ! भगवान श्रीरामने तो शिला से मुनि पत्नी अहल्या को प्रगट किया, परन्तु तुमने तो खम्भ से भगवान को ही प्रगट कर लिया।

श्रीअक्रूरजी

चले अकरूर मधुपुरी ते विसूर नैन चली जलधारा कब देखौं छबिपूर को।
सगुन मनावै एक देखिबोई भावै देह सुधि बिसरावै लोटैं लखि पगधूर को ॥
वन्दन प्रवीन चाह निपट नवीन भई दई शुकदेव कहि जीवन की मूर को।
मिले रामकृष्ण झिले पाइ के मनोरथको खिले दृगरूप कियो हियो चूर-चूर को॥१०१॥

शब्दार्थ—विसूर=चिन्ता। छविपूर=शोभा पूर्ण, सुन्दर। झिले=सन्तुष्ट-प्रसन्न हुए।

भावार्थ—भगवान कृष्ण और बलराम को लिवा लाने के लिए जब कंस ने अक्रूर को मथुरा से भेजा, तब ये प्रेमातुर होकर नन्द गोकुल को चले। प्रेमचिन्तित अक्रूरजी के नेत्रों से आंसुओं की धारा बह चली। मार्ग मे जाते हुए वे सोच रहे थे कि कब मैं शीघ्र जाकर शोभाधाम श्यामसुन्दर को देखूंगा। वे मन ही मन यही मना रहे थे कि मुझे जो यह शुभ शकुन हो रहे हैं, इनका फल प्रभु दर्शन ही हो। उन्हें दर्शनों के अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा नही लग रहा था। उन्हें अपने शरीर की सुध-बुध नहीं थी। गोकुल मे घुसते ही जब उन्हे धूलि में वज्र-ध्वज-अंकुश-कमल युक्त श्रीकृष्ण के चरणचिन्ह दिखाई पड़े तब वे सहसा रथ से कूद पडे और वहीं व्रजरज में लोटने लगे। वन्दनभक्ति में परमप्रवीण श्रीअक्रूरजी के हृदय में बिल्कुल नई प्रेममयी एक अभिलाषा प्रकट हुई। श्रीशुकदेवजी ने श्रीभागवत में उस उत्कण्ठा का वर्णन किया है। जो भक्तों के जीवन में भक्तिरूपी प्राणों के लिए संजीवनी बूटी है। बलराम और कृष्ण दोनों भाई बड़े प्रेम से अक्रूरजी से छाती लगाकर मिले। अक्रूरजीने मार्ग में जितने मनोरथ किए थे, वे सभी पूर्ण हो गए। प्रभु की रूप-माधुरी से उनके नेत्र आनन्द से खिल उठे। अक्रूरजी ने अपने हृदय को प्रेमार्द्र करके प्रभु में लीन कर दिया।

व्याख्या—श्रीअक्रूरजी—ये यदुवंशान्तर्गत सात्वत वंशीय यादवश्रेष्ठ श्वफल्क के पुत्र थे। इनकी माता का नाम गान्दिनी था। इनका दूसरा नाम दानपति भी था। कुल-कुटुम्ब के नाते से ये श्रीकृष्ण के चाचा, वसुदेवजी के छोटे भाई लगते थे। ये नवधा-भक्ति में वन्दन भक्तिके परमादर्श है, आचार्य हैं। कंस के अत्याचार से उत्पीडित होकर बहुत से यादव तो मथुरा छोडकर जहां-तहां चले गए, परन्तु देश-कालवित् श्रीअक्रूरजी समयकी प्रतीक्षा करते हुए कंसके दरबार में ही बने रहे, जैसे रावण

की लङ्का में भक्तराज विभीषण। भगवान का प्रादुर्भाव जानकर भी, भगवद्दर्शन की प्रबल लालसा होने पर भी कंस के भय से मन मारकर रह जाते थे। जब कंस के भेजे हुए बहुत से दुष्ट दैत्य मार डाले गये और श्रीनारदजी के द्वारा कंसको यह निश्चय हो गया कि नन्द-यशोदानन्दन श्रीकृष्ण उनके पुत्र न होकर वस्तुतस्तु श्रीवसुदेव-देवकी के पुत्र है और रोहिणी-पुत्र बलराम भी वसुदेव-नन्दन ही हैं और इन्हीके हाथों हमारी मृत्यु है, तब उसने श्रीकृष्ण-बलराम को छल से मार डालने का निश्चय किया। उसने एक धनुष-यज्ञ की रचना की और उसको देखने के बहाने से श्रीकृष्ण और बलराम को बुलवाकर अपने वज्रकाय मल्लों द्वारा उन्हें मरवा डालने की सोची। फिर क्या था, बड़े ही आदरपूर्वक यादवों में श्रेष्ठ श्रीअक्रूर जी को अपने समीप बुलाकर कुटिल कंस उनका हाथ अपने हाथ में लेकर सौहार्द दिखलाते हुए बोला—अक्रूरजी! अब आप जल्दी से जल्दी बलराम और कृष्ण को यहां ले आइये। उनसे केवल इतनी ही बात कहियेगा कि वे लोग धनुष-यज्ञ के दर्शन और यदुवंशियों की राजधानी मथुरा की शोभा देखने के लिये यहां आ जायँ।

भगवान के दर्शन का योग जानकर श्रीअक्रूरजी कंस की आज्ञा से बड़े प्रसन्न हुए। क्योंकि इन को भगवद्दर्शन की प्रबल लालसा तो चिरकाल से ही थी। समय आने पर भगवान ने स्वयं संयोग बना दिया। वस्तुतः भगवान साधन-साध्य नहीं है वह तो कृपा साध्य ही हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल ही वे रथ पर सवार होकर नन्दबाबा के गोकुल की ओर चल दिये। मार्गमें परम भाग्यवान अक्रूरजी विचारते जाते कि मैंने ऐसा कौन-सा शुभ कर्म किया है, ऐसी कौन-सी श्रेष्ठ तपस्या की है अथवा किसी सत्पात्र को ऐसा कौन-सा महत्वपूर्ण दान दिया है जिसके फलस्वरूप आज मैं भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन करूँगा। अवश्य ही आज मेरे सारे अशुभ नष्ट हो गये। आज मेरा जन्म सफल हो गया क्योंकि आज मैं भगवान के उन श्रीचरणकमलों में नमस्कार करूँगा, जो बड़े-बड़े योगी-यतियों के भी केवल ध्यान के ही विषय है। यथा—

किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः। किं वाथाप्यर्हते दत्तं यद् द्रक्ष्याम्यद्य केशवम्॥
ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः। यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम्॥ (भा०)

जब मैं उन्हें देखूँगा तब सर्वश्रेष्ठ पुरुष बलराम तथा श्रीकृष्ण के चरणों में नमस्कार करने के लिये मै तुरन्त रथ से कूद पड़ूँगा, उनके चरण पकड़ लूँगा। उन दोनों के साथ ही उनके बनवासी सखा एक एक ग्वाल-बाल के चरणों की भी वन्दना करूँगा। मेरे अहोभाग्य! जब मैं उनके चरण कमलों में गिर जाउँगा तब वे अपना करकमल मेरे सिर पर रख देंगे। मैं उनके चरणों में हाथ जोड़कर विनीत भाव से खड़ा हो जाऊँगा। वे मुस्कराते हुए दया भरी स्निग्ध दृष्टि से मेरी ओर देखेंगे तो मै परमानन्द में मग्न हो जाऊँगा। वे मुझे अपना जानकर अपनी विशाल भुजाओं से पकड़कर अवश्यमेव अपने हृदय से लगा लेंगे। अहा! उस समय मेरी तो देह पवित्र होगी ही, वह दूसरों को पवित्र करने वाली भी बन जायेगी। जब वे मुझे 'चाचा अक्रूर' इसप्रकार कहकर सम्बोधन करेंगे तब मेराजीवन सफल हो जायगा। कभी-कभी श्रीअक्रूरजी अपने को कंस का दूत विचारकर हताश भी होजाते थे। यथा—

आवत नगीच ज्यों ज्यों जीवन जगत श्याम त्यों त्यों चितचैन की मंजूस मृदु खोले है।
कबहूं कुठाम वास जानि के गलानि करैं कबहूं हुलास हिय आनन्द अतोले है॥

कबहूँ विचारें कंसदूत लखि त्यागें नहीं कहत 'विहारी' मन भांति भांति बोले हैं।
प्रेम के समुद्र तरें तरणी अक्रूरजी की भाव के भँवर परी डगमग डोले हैं॥

पुनः विचारते हैं कि—

तारे गीध गनिका उबारे गज व्याध सबै अन्तर न राख्यो अजामील उतपाती सों।
सरन गहे जो दीन बाँह गहि लेत ताकी ऐसी बानि गावत पुरान भाँति भाँती सों॥
कहत 'विहारी' है प्रतीति मोहि मोहन की रीझत सनेह पै न छोह जाति पाँती सों।
मानि लैहैं भेद तो भगाय देहैं दूर और पाय लैहैं प्रेम तो लगाय लैहैं छाती सों॥

सगुनमनावें—श्रीअक्रूरजी जब निराश होने लगते हैं तो शुभशकुन उनको धैर्य बँधाते। तब वे हर्षोल्लसित होकर कहउठते—अहो! मैं श्रीमुकुन्द के श्रीमुख कमलका अवश्यमेव दर्शन करूँगा क्योंकि हरिन मेरी दायी ओर से निकल रहे हैं। आज निश्चय हो मेरा मङ्गल प्रभात है क्योंकि आज मुझे प्रातः काल से ही अच्छे-अच्छे शकुन दीख रहे हैं। श्वफल्कनन्दन अक्रूर मार्ग में इसी चिन्तन में डूबे-डूबे रथ से सूर्य के अस्ताचल पर पहुँचते-पहुंचते स्वयं भी नन्द-गाँव पहुँच गये। यहां एक प्रश्न होना स्वाभाविक है कि मथुरा से नन्दगाँव कोई बहुत दूर नही है, सवारी रथ की थी, चले प्रातः काल से थे, फिर नन्दगाँव पहुँचने मे सन्ध्या कैसे हो गई? समाधान—सावधान व्यक्ति तो पैदल भी अतिशीघ्र पहुँच सकता है परन्तु श्रीअक्रूरजी तो प्रेम में ऐसे विभोर हो रहे थे कि—'दिशि अरु विदिश पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेऊँ कहाँ नहि बूझा॥' श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि 'देह सुधि विसरावैं।' ऐसी दशा में सन्ध्या तक पहुँचना आश्चर्य का विषय नही है, आश्चर्य तो यह है कि यह नन्दगाँव पहुँच कैसे गये? मथुरा से नन्द-गाँव के लिये रथ चलाते। दिशा भूल जाती, चले जाते आगरा की ओर। फिर किंचित् सावधान होते तो लौटते तब तक पुन प्रेमावेश हो जाता, चले जाते दिल्ली की ओर। कभी लौटकर मथुरा ही चले जाते। कभी भगवान के चरण चिह्नों को देखकर लोटने लग जाते तो लोटते ही रहते। अतः पहुँचने में विलम्ब स्वाभाविक है।

लोटैं लखिपगधूर को—नन्दगाँव की सीमा में पहुँचने पर वज्राङ्कुशध्वजाम्भोजादि असाधारण चिह्नों से चिह्नित श्रीकृष्णके चरणचिह्नों का दर्शन करते ही अक्रूरजीको हृदयमें इतना आह्लाद हुआ कि वे अपने को संभाल नहीं सके। सजलनयन पुलकिततन श्रीअक्रूरजी रथ से कूदकर उस धूलि में लोटने लगे और कहने लगे—अहो! यह हमारे प्रभुके चरणों की रज है।

मिले राम कृष्ण......चूरको—श्रीअक्रूरजीके मनोरथोंको पूर्ण करने के लिये श्री-बलराम और कृष्ण गोदोहन का व्याज बनाकर गोष्ठ में जा रहे थे कि रास्ते में ही अक्रूरजी मिले। दोनों भाइयों को देखते ही परम भागवत अक्रूरजी उनके चरणों में साष्टाङ्ग लोट गये। श्रीकृष्ण—बलरामने अपनी विशाल भुजाओंसे उठाकर उनको हृदय से लगा लिया। तत्पश्चात् उनका एकहाथ श्रीकृष्णने पकड़ा और दूसरा बलरामजीने। दोनों भाई उन्हे घर लिवा लाये और उनका बड़ा स्वागत सत्कार किया। अक्रूरजीके आगमन का हेतु जानकर बड़े आनन्दित हुये।

दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीकृष्ण और बलराम अक्रूरजीके साथ वायु के समान वेग वाले रथपर सवार होकर मथुरा को प्रस्थान किये। उस समय व्रज में विरह की बाढ़ आ गई थी। श्रीअक्रूरजी भी

व्रजगोपियोंकी विरह-व्याकुलतासे अत्यन्त विकल हो गये, अतः प्रातः कालिक नित्य कृत्य पूर्ण करने मे असमर्थ रहे। जंब श्रीकृष्ण-वलराम को लेकर चले तो कुछ दूर जाने पर विचार आया कि रथको रोककर श्रीजमुनातटपर अपने अवशेष नियमपूर्ण कर लूँ। फिर तो श्रीअक्रूरजीने ऐसा ही किया। दोनो भाई रथपर विराजमान थे, स्वयं श्रीयमुनाजी में स्नान करने लगे। उस समय भगवानने कृपा करके अक्रूरजी को अपने ऐश्वर्य रूप का दर्शन कराया। अत्यन्त प्रेम की प्रवलता में अक्रूरजी श्रीकृष्ण-वलराम की भगवत्ता भूलकर चिन्ता करने लगजाते कि दुष्ट कंस इन सुघर-सलोने वालकों को मार डालेगा। इस भ्रम को दूर करने के लिये ही भगवानने ऐश्वर्य-प्रकाश लीला की। अक्रूरजी ज्यों ही डुवकी लगाये तो उन्होने देखा कि दोनों भाई एक ही साथ जल के भीतर वैठे हुये हैं। मनमें विचार आया कि मैं तो इनको रथ पर वैठा आया था, यहाँ कैसे आ गये? परन्तु जव जलसे वाहर सिर निकालकर देखातो वे दोनों रथ पर भी विराजमान थे। वड़ा विस्मय हुआ। पुनः डुवकी लगाये तो फिर उन्होने भगवानको अनन्त ऐश्वर्यो से युक्त देखा। श्रीअक्रूरजी को वोध हो गया अतः भगवानके श्रीचरणकमलों में प्रणामकर हाथ जोड़कर गद्गद स्वर से स्तुति करने लगे।

भगवान श्रीकृष्णने हँसकर पूछा—चाचाजी! आपने कोई अद्भुत वस्तु देखी है क्या? क्योंकि आप अत्यन्त चकपकाये से जान पड़ते हैं। श्रीअक्रूरजीने कहा—प्रभो! अद्भुताद्भुत आपका दर्शनकर लेनेपर कौन सा अद्भुत दर्शन शेष रह जाता है? यह कहकर अक्रूरजीने पुनः रथ चलाया और अति शीघ्र मथुरा पहुँच गये। इनकी वड़ी इच्छा थी कि प्रभु को पहले घर लिवाले चलें। परन्तु श्रीभगवानने उन्हे समझाया कि चाचाजी! पहले मैं इस यदुवंशियोंके द्रोही कंस को मारकर फिर दाऊ भैयाके साथ आपके घर आऊँगा तथा अपने सभी सुहृद्-स्वजनों का प्रिय करूँगा। श्रीकृष्ण को उनके अभीष्ट स्थान पर पहुँचाकर अक्रूरजी अपने घर गये। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण वलराम और उद्धवजी के साथ अक्रूरजीकी अभिलाषा पूर्ण करने के लिये उनके घर गये। अक्रूरजीके हर्ष का पारावार नहीं रहा। उन्होंने विधि पूर्वक उन लोगों की पूजास्तुति की। इसके वाद भगवान श्रीकृष्णने मुसकराकर अपनी मधुर वाणीसे उन्हें परमाह्लाद प्रदान करते हुये कहा—

त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो वन्धुश्च नित्यदा। वयं तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजाहिवः ॥१॥
भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः। श्रेयस्कामै र्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः ॥२॥
न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः। ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥३॥

अर्थ—हे तात! आप हमारे गुरु—हितोपदेशक और चाचा हैं। हमारे वंशमें अत्यन्त प्रशंसनीय तथा हमारे सदा के हितैपी हैं। हम तो आपके वालक हैं और सदा ही आपकी रक्षा पालन और कृपाके पात्र हैं ॥१॥ अपना परम कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको आप जैसे परम पूजनीय और महाभाग्यवान सन्तोंकी सर्वदा सेवा करनी चाहिए। आप जैसे सन्त देवताओं से भी वढ़कर है, क्योकि देवताओमें तो स्वार्थ रहता है और सन्तों में नही ॥२॥ केवल जलके तीर्थ (नदी, सरोवर आदि) ही तीर्थ नही हैं, केवल मृत्तिका और शिला आदि की वनी हुई मूर्तियाँ ही देवता नही हैं। उनकी तो वहुत दिनों तक श्रद्धासे सेवा की जाय, तव वे पवित्र करते हैं, परन्तु आप सरीखे सन्त पुरुष तो अपने दर्शन मात्र से ही पवित्र कर देते हैं ॥३॥ इसलिए आपको मैं अपने परम प्रिय पाण्डवों का कुशल मङ्गल जानने के लिए हस्तिनापुर भेज रहा हूँ। आपके द्वारा समाचार जानकर मैं उन सुहृदोके सुखका सम्पादन करूंगा।

भगवानकी आज्ञा शिरोधार्य कर अक्रूरजी ने हस्तिनापुर जाकर सभी लोगों से यथोचित रीतिसे मिलकर, वहाँ कुछ दिन रह कर, वहां के मर्मको समझकर पांण्डवों को सान्त्वना एवं कौरव श्रेष्ठ धृतराष्ट्र को सदुपदेश देकर तथा कौरव-पाण्डव विद्रोह का अन्तिम परिणाम जानकर सबसे विदा होकर मथुरा लौट आये और श्रीकृष्ण-बलरामसे वहांका समस्त वृत्तान्त कह सुनाए। श्रीकृष्णकी द्वारका लीलामें भी अक्रूरजी साथ रहे। जिस समय शतधन्वा ने सत्राजित को मारकर उनकी स्यमन्तक मणि ले लिया और जब श्रीकृष्ण ने शतधन्वा को मार डालने का निश्चय किया तो शतधन्वा डरके मारे मणि अक्रूरजी के पास रख कर भाग गया। उस समय अक्रूरजी भी, यह भय करके कि कहीं कृष्ण मुझे शतधन्वाका पक्षपाती समझ कर विरोध न करें, वे द्वारका छोड़कर काशी चले गये। अक्रूरजी के जाते ही द्वारका में बड़ा अनिष्ट और अरिष्ट होने लगा। तब प्रजाके अनुरोध पर श्रीकृष्णने अक्रूरजी को काशीसे बुलवाया। इनकी ऐसी महिमा थी कि ये जहां भी रहते, वहीं सुभिक्ष, सुख सुपास होता॥ भगवान ने इन्हे निर्भय करके द्वारकापुरी में बसाया और अन्त में अपने धाम ले गये॥

श्री बलिजी

दियो सरबसु करि अति अनुराग बलि पागि गयो हियो प्रहलाद सुधि आई है।
गुरु भरमावैं नीति कहि समुझावैं बोल उर में न आवैं केती भीति उपजाई है॥
कह्यो जोई कियो सांचो भाव पन लियो अहो दियो डर हरिहूं ने मति न चलाई है।
रीझे प्रभु रहे द्वार भये बस हारि मानी श्रीशुक बखानी प्रीति रीति सोई गाई है॥१०२॥

शब्दार्थ—भरमावैं=बहकावैं। चलाई=हटाई, डुलाई।

भावार्थ—राजा बलिने बड़े प्रेमके साथ वामन भगवानको अपना सर्वस्व अर्पणकर दिया। इनका हृदय भक्तिभाव में मग्न हो गया। इन्हे अपने पिता के पिता भक्तवर प्रह्लादकी याद आ गई कि—उन्होंने कितने संकट सहे थे, अभी मेरे ऊपर वैसा एक भी संकट नहीं आया है नीतिका उपदेश दे-देकर गुरु शुक्राचार्यभी बहकाने और समझाने लगे कि—ये भिक्षुक ब्रह्मचारी नहीं है, ये तो साक्षात् विष्णु हैं, ये विराट्रूप धारण करेंगे और तुम्हारा सर्वस्व ले लेंगे। जहां जीविका नष्ट हो रही हो, वहां झूठ बोलने में भी पाप नहीं होता है। ये बाते बलिकी समझ में नही आईं। तब शुक्राचार्यजी ने भय दिखाया कि ये तुम्हे पृथ्वी पर नही रहने देंगे, नरक में डाल देंगे। परन्तु राजा बलि ने जो तीन पग पृथ्वी दान करने की प्रतिज्ञा की थी, वे उसी पर डटे रहे और उन्होने उसे पूर्ण भी किया। राजा बलिने प्रेमभाव से परिपूर्ण प्रण को धारण किया था। फिर पृथ्वी और स्वर्ग को दो पगों से नाप कर भगवान ने कहा कि—तीसरा पग कहां रक्खूँ। तुमने तीन पग भूमि देने की प्रतिज्ञा की थी वह पूरी नहीं हुई अतः असत्य भाषण के पाप से अब तुम्हे नरक में जाना पड़ेगा। इस प्रकार भगवान् के धमकाने पर भी राजाकी बुद्धि चलायमान नहीं हुई। राजा ने कहा—भगवन्! तीसरा पग मेरे शिरपर रखिये। राजाकी इस आत्मसमर्पण भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान इनके द्वारपाल बने। अपनी हार मानकर भगवान बलिके आधीन हो गए। उनकी भक्ति की रीतिको श्रीशुकदेवजी ने श्रीभागवत में वर्णन किया है।

व्याख्या—ये श्रीप्रह्लादजी के पुत्र महादानी विरोचन के पुत्र थे। स्कन्दपुराणमें इनके पूर्व-जन्म की कथा आती है। वह संक्षेप में इस प्रकार है—प्राचीनकाल में देवताओं और ब्राह्मणों की निन्दा करने वाला एक महापापी जुआरी था। वह सदा ही परायी स्त्रियों में आसक्त रहने वाला था। एक दिन उसने कपट पूर्ण जूए के द्वारा बहुत धन प्राप्त किया। फिर अपने हाथों से स्वस्तिकाकार पान का बीड़ा बनाकर तथा गन्ध मालाआदि सामग्री जुटा कर एक वेश्या को भेंट देने के लिये वह उसके घरकी ओर दौड़ा। रास्ते में वह गिर पड़ा। उसे मूर्छा आ गई। मूर्छा दूर होने पर पूर्व जन्म के किसी पुण्य के प्रभाव से उसके मन में सद्बुद्धि उत्पन्न हुई। वह वैराग्य को प्राप्त हुआ। पृथ्वी पर पड़े हुए गन्ध, पुष्पादिको उठाकर उसने समीपस्थ शिवजीकी सेवा में समर्पित कर दिया। जीवन में केवल यही एक पुण्य उसके द्वारा सम्पन्न हुआ था। मरने पर यमराजके सामने पहुँचने पर चित्रगुप्तसे सुनकर कि यही एक पुण्य जीवन भर में किया है, उसने कहा कि मैं पहले यही पुण्यफल ही भोगूँगा। फल स्वरूप इसे तीन घड़ी के लिये इन्द्रका पद प्राप्त हुआ। इन्द्रपद प्राप्त होने पर इसने तीन घड़ी तक दान ही दान किया। ऐरावत अगस्त्य को, उच्चैः श्रवा घोड़ा विश्वामित्र को, कामधेनु वशिष्ठ को, चिन्तामणि गालव मुनि को, कल्पवृक्ष कौण्डिन्य मुनिको और भगवान शङ्कर की प्रसन्नता के लिये अनेक प्रकार के रत्न तथा सर्वस्व ऋषि मुनियों को दान कर दिया। तीन घड़ी बीत जाने पर वह स्वर्ग से चला आया। वही जुआरी अपने महादानके पुण्य से बिना नरक भोगे ही विरोचन का पुत्र बलि हुआ। (विशेष देखिये छप्पय ५—बलि-वामन प्रसङ्ग)

दियो सरवसु—श्रीबलिजी आत्म समर्पण भक्ति के आचार्य हैं। इन्होने अहंतास्पद ऐश्वर्य ममतास्पद शरीर दोनों ही भगवान को अर्पण कर दिया। समर्पण ऐसा ही होना चाहिये। यथा—'मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर। तेरा तुझको सौपते, क्या लगता है मोर॥' श्रीभरतलालजी भी कहते हैं—'सम्पति सब रघुपति कै आही।' सर्वस्व दान करने वाले विरले होते हैं। देखिये श्रीरघुजी का सर्वस्वदान प्रसङ्ग छप्पय १२। अधिकारी पात्र को पाकर दाता को सर्वस्वदान की श्रद्धा होती है। जैसे श्रीविश्वामित्रजीको महाराजश्रीदशरथजी सर्वस्व देनेके लिये प्रस्तुत हैं। यथा—'मांगहु भूमि धेनु धन कोसा। सरवस देउँ आज सहरोसा॥' (रामा०) श्रीबलिजी ने दबाव पूर्वक सर्वस्व दिया हो सो बात नहीं और न तो किसी लौकिक, पारलौकिक लाभ लोभ से ही। अति अनुराग पूर्वक दिया। यह उत्तम दान की विधि है। अश्रद्धापूर्वक दिया गया दान व्यर्थ होता है। यथा—अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥' (गी०)

प्रह्लाद सुधि आई है—अति अनुरागका हेतु बताते हैं कि इन्हें उस समय अपने दादा श्रीप्रह्लादजी की याद आ गई। याद यह कि ये मेरे दादाजी के इष्ट देव हैं। उनके ऊपर इनकी अपार कृपा रही है। वे इन्हें ही अपना सर्वस्व करके मानते थे। इनका निरन्तर यशोगान करते रहते थे। उन्हीं के नाते मेरे ऊपर भी कृपा करने आये हैं। प्रभु ने अपने 'प्रणत कुटुम्ब पाल रघुराई।' इस विरद को चरितार्थ कर दिया आदि आदि। "दियो डर········चलाई है"—भगवान ने नरक का भय दिया। बलि जी ने कहा—आपका दर्शन करके भी नरक में जाना हमारी समझ में नहीं आता है। जैसे बालि ने कहा था—'प्रभुअजहूँ मैं पापी, अन्तकाल गति तोरि॥' (रामा०) श्रीकुन्तीजी कहती हैं कि—'भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥' (भा०) अर्थ—आपका दर्शन हो जाने पर फिर जन्म मृत्यु के चक्कर में नही आना पड़ता है। तो भला बलिजी भगवान का दर्शन करके भी नरक में कैसे जा सकते हैं।

रीझे प्रभु रहे द्वार भगवान ने प्रसन्न होकर वलिजी से वर मांगनेको कहा। वलिजी ने विचार किया कि अभी-अभी जिसने स्वयं हमसे ही याचना की है। उनसे क्या मांगना है ? मैं कदापि इनसे नहीं मांगूगा। तब श्रीविन्ध्यावलीजी ने फटकारा कि अभी भी मोह गया नहो ? दानीपने का अभिमान दूर नही हुआ ? अरे ! प्रभु ने कृपा करके आपका यश वढ़ाने के लिये प्रभुता का प्रयोग न कर दान के मिस आपका सर्वस्व स्वीकार किया तो आप उन्हें भिक्षुक ही मान वैठे। मांग लो क्योंकि—'पुनि न वनहिं अस अवसर आई।' (रामा०) भला भगवान कव इतना प्रसन्न होने लगे ? आज वानक वना है अतः मांगलो। श्रीवलिजीने यह वरदान मांगा कि सदा सर्वदा हमें आपका दर्शन होता रहे। मैं जिधर भी देखूँ, उधर आप दिखाई पड़ें। भगवान तो इनके प्रेम में वँध गये थे। अतः इनको मनोवाञ्छित वर प्रदान किया।

वर्णन आता है कि सुतल लोकमें वलिजीके राज-प्रासादमें वावन द्वार थे। भगवान उनके वावनों दरवाजोंपर खड़े रहते थे। वड़ी सजगदारी रखनी पड़ती थी। पता नही किस-दरवाजेसे वलिजी निकलेंगे तो उन्हे मेरा दर्शन होना चाहिए। वहुत दिन हो गये। भगवान वलि के यहां से लौटे नहीं, तव श्रीलक्ष्मीजी को चिन्ता हुई। वे पता लगाते-लगाते सुतल लोक गईं। वहां जाकर इन्होंने भगवानकी स्थिति देखी तो इनको तरस आया। उस दिन रक्षा-वन्धन का पुण्य पर्व था। श्रीलक्ष्मीजी नें श्रीवलिजी को भाई मानकर रक्षा वांधी और दक्षिणा में सव दरवाजो को वन्द कर देने की याचना की। जिससे प्रभु को निश्चिन्त होकर एक ही द्वार पर रहना पड़े। भगवान स्वयं सर्वथा छूटना नही चाहते थे, प्रेमका वन्धन जो था, इसी से लक्ष्मीजी ने भी सर्वथा छोड़ देने की दक्षिणा भी नही मांगी। तभी से प्रभु श्रीवलिजी के द्वार पर द्वारपाल वने हुए अद्यावधि विराजमान हैं। यह भी कथा आती है कि भगवान का दर्शन करने श्रीप्रह्लादजी नित्य आते थे और दर्शन करके चले जाते थे। एक दिन भगवान ने कहा कि प्रह्लाद ! अकेले मन नही लगता है अतः यहीं रहो, मत जाओ। हम तुम-दोनों वैठकर सत्सङ्ग करेंगे। प्रह्लादजी ने प्रभु की वात मानली और वह भी द्वारपर वैठकर आज तक प्रभु का सत्सङ्ग कर रहे हैं आज भी मकानों के मुख्य द्वारपर जो दो वैठकों के वनाने की विधि है उसमें से एक तो भगवानके लिये और एक प्रह्लादजीके लिए वनायी जाती है।

हारि मानी—भगवान तीन जगह विपक्षियों से प्रश्नोत्तर में हार गये हैं। यथा—'वलि वाली, काली निकट, हारे स्याम सुजान। का अचरज नित हारहीं भक्तन सों भगवान॥ 'वलिसे हारे'—भगवान ने एक पग भूमि न देने पर वलि को प्रतिज्ञा भ्रंशरूप दोष के कारण नरक का भय दिया। वलि जी ने भगवान के श्रीमुख से ही धन से धनी के वड़ा होने का निर्णय कराकर जव आत्मसमर्पण किया तो भगवान संकुचित हो गये। 'वालि से हारे'—वालि को फटकारते हुए भगवान श्रीराम ने कहा—'मम भुज वल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥ (रामा०) श्रीरामजी के मुख कमल का दर्शन करते हुए वालि ने वड़ी विनम्रतापूर्वक पूछा—'प्रभु अजहूँ मैं पापी, अन्तकाल गति तोर।' श्रीरामजी तुरन्त ही अपनी प्रतिज्ञा भुलाकर वालि के सिर पर अपना करकमल फेरते हुए शरीर रखने का आग्रह करने लगे। 'कालिय (नाग) से हारे'—भगवान श्रीकृष्ण नें जव कालिय नाग के रोदपूर्वक किए गए उग्र दशन पर आक्षेप किया तो उसने कहा—प्रभो ! मैं आपसे एक वात पूछता हूँ। एक पंसारी की दुकान है। उसमें वहुत से वर्तनों में उसने पृथक्-पृथक् वस्तुएँ रख रखी हैं। तो जव वह किसी वर्तन में हाथ डालेगा तो उसमे जो रखा है वही तो उसे मिलेगा। मेरे नाथ ! उसी प्रकार इस सृष्टि में आपने जिसको

जो गुण-स्वभाव दिया है उससे वैसेही उपलब्धि भी तो होगी। हम सर्पोको आपने अत्यन्त तामसी बनाया ही है, तो इसमें मेरा क्या दोष? भगवान श्रीकृष्ण चुप हो गये।

श्रीवलिजी जोरावर भक्त हैं, इसी से इनके सामने प्रभु ने प्रभुता विसारकर दीनताको अंगीकार किया। यथा—

> ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।
> निज प्रभुता विसारि जन के वस होत सदा यह रीति॥
> विस्वम्भर श्रीपति त्रिभुवन पति वेद विदित यह लीख।
> बलि सों कछु न चली प्रभुता वरु ह्वै दिज मांगी भीख॥ वि०)

हरि प्रसाद रस स्वाद के भक्त इते परमान।
शङ्कर, शुक, सनकादि, कपिल, नारद, हनुमाना॥
विष्वक्सेन, प्रह्लाद, बलि, भीषम जगजाना।
अर्जुन, ध्रुव, अम्बरीष, विभीषण महिमाभारी॥
अनुरागी अक्रूर सदा उद्धव अधिकारी।
भगवन्त भुक्त अवशिष्ट की कीरति कहत सुजान॥
हरि प्रसाद रस स्वाद के भक्त इते परमान॥१५॥

शब्दार्थ—हरिप्रसाद=भगवद्भुक्तावशेष, भगवानकी जूठनि।। परमान=प्रमान, सबूत, प्रमाणित, मान्य। भुक्त अवशिष्ट=भोजन करने से वचा हुआ। सुजान=अच्छी प्रकार से जानने वाले, विज्ञानी।

भावार्थ—भगवानको अर्पणकरके प्रसादके रसका स्वादलेनेवाले ये सोलहभक्त परमश्रेष्ठ है। शंकरजी, शुकदेवजी, सनकादिक, कपिलजी, नारदजी, हनुमानजी, विष्वक्सेनजी, प्रह्लादजी, वलिजी, अम्वरीषजी, भीष्मजी, अर्जुनजी, ध्रुवजी, विभीषणजी, अक्रूरजी और उद्धवजी इनको सम्पूर्ण जगत जानता है, इनकी बड़ी भारी महिमा है। ये सभी सर्वदा प्रसाद के अधिकारी हैं। ये भगवत्प्रसाद की महिमाको भली भांति जानते हैं और उसका वर्णन करते रहते हैं। भगवान का भोग लगाकर प्रसाद इन्हें अवश्य अर्पण करना चाहिए॥१५॥

व्याख्या—**हरि प्रसाद**—भगवान का प्रसाद भगवान के समान ही महा महिमामय होता है। यथा—

> प्रसादं जगदीशस्य अन्न पानादिकं च यत्। ब्रह्मवन्निर्विकारं यथा विष्णुस्तथैवतत्॥

जैसे भगवान का दर्शन, स्पर्श, समागम महा-मङ्गलकारी है वैसे ही प्रसाद भी। यथा—

यह दिव्य प्रसाद प्रिया प्रिय को।
दरशत ही मन मोद बढ़ावत परसत पाप हरत हिय को॥
पावत परम प्रेम उपजावत भुलवत भाव पुरुषतिय को।
'भगवत रसिक' भावतो भूषण तिहिक्षण होत युगल जिय को॥

भगवत् प्रसाद की महिमा वर्णन करते हुये अनन्य रसिक श्रीहरिरामजी व्यास कहते हैं कि—

हमारी जीवन मूरि प्रसाद।
अतुलित महिमा कहत भागवत मेटत सब प्रतिवाद॥
जो षटमास व्रतनि कीनें फल सो एक सीथ के स्वाद।
दरसन पापनसात खात सुख परसत मिटत विषाद॥
देत लेत जो करै अनादर सो नर अधम गवाद।
व्यास प्रीति परतीति रीति सों जूठन ते गुननाद॥

भक्त जैसे भगवदाश्रय से माया को जीतते हैं वैसे ही भगवत्प्रसाद-सेवन करके भी माया को जीत लेते हैं। यथा—

त्वयोपभुक्तस्रगन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः। उच्छिष्टभोजिनोदासास्तवमायां जयेमहि॥ भा०))

महर्षि वाल्मीकिजी कहते है कि—प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुवासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥ तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभुप्रसाद पट भूषण धरहीं॥ राम बसहु तिनके मन माहीं॥ (रा०च०मा०) पुनः—पाद्मे—

नैवेद्यमन्नं तुलसी विमिश्रं विशेषतः पादजलेन सिक्तम्।
योऽश्नाति नित्यं पुरतो मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम्॥

अर्थ—भगवान के सामने समर्पित, तुलसी से मिश्रित और विशेष रूप से चरणामृत से भोगा हुआ नैवेद्य का अन्न जो नित्यखाता है वह करोड़ों यज्ञो के पुण्यको प्राप्त करता है।

रसस्वाद—भगवत्प्रसाद-रस का परम दिव्य स्वाद होता है, जिसका अनुभव प्रसादनिष्ठ भक्तोको होता है। उनकी जिह्वापर पड़ते ही उन्हें ज्ञान हो जाता है कि यह वस्तु अर्पित है अथवा अनर्पित। निष्ठावान भक्तोंको तो यहाँ तक अनुभव होता है कि यह अमुक ठाकुरका भोग-प्रसाद है, और यह अमुक ठाकुरका।

दृष्टान्त—श्रीराधावल्लभी सूरदास का—इनका नियम था कि केवल श्रीराधावल्लभलालजी का प्रसाद पाते थे, अन्यत्र का नही। एक दिन एक सज्जन इनको निष्ठा का चमत्कार देखने के लिये एक से लड्डू बनवाये और उसमें से कुछ तो श्रीबाँकेविहारीजी को भोग लगवाये तथा कुछ श्रीराधावल्लभलालजी को। तत्पश्चात् दो-दोलड्डू दोनो प्रसादोंमें से निकालकर सूरदासजीको

देते हुये बोले—सूरदासजी ! श्रीराधावल्लभलालजी का प्रसाद लीजिये । इन्होंने बड़े आदर के साथ प्रसाद लिया और उसमें से दो लड्डू तो पा गये और दो छोड़ दिये। पूछने पर कारण बताये कि दो तो श्रीराधावल्लभजी के प्रसाद थे अतः पालिया परन्तु दो श्रीविहारीजीके हैं। सो आप पावें। परीक्षक महानुभाव के आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। यह है हरिप्रसाद रसस्वादका चमत्कार ॥ ऐसे ही श्रीरसिकमुरारीजी को सन्तोंके चरणामृतके दिव्य स्वाद का अनुभव होता था। देखिये कवित्त ३८५॥

भक्त इते परमान—यथा—पाद्मे—'बलिर्विभीषणो भीष्मः कपिलो नारदोऽर्जुनः। प्रह्लादो जनको व्यासः, अम्बरीषः पृथुस्तथा ॥ विष्वक्सेनोध्रुवोऽक्रूरो सनकाद्याः शुकादयः। वासुदेवप्रसादान्नं सर्वे गृह्णन्तु वैष्णवाः ॥

कीरति कहत सुजान—एक बार श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी श्रीजगन्नाथपुरी गये हुये थे। भगवानका दर्शन करने गये तो पुजारीजीने आपको भगवत्प्रसादी माला पहिनाई एवं प्रसादान्न प्रदान किया। संयोगसे उस दिन एकादशीका व्रत था अतः महाप्रभुजी विचार में पड़ गये कि यदि अभी पा लेता हूँ तो व्रत-भङ्ग होता है और नहीं पाता हूँ तो प्रसाद का निरादर होता है। आदरणीय दोनों हैं; एकादशी हरिवासर है और यह हरि प्रसाद है। फिर तो श्रीआचार्य पाद भगवत प्रसाद को हाथ में लिये ही उसकी महिमाका वखान करने लगे और जब द्वादशी आ गई तो तुरन्त पा लिये ॥

दृष्टांत—श्रीशिवजीका—एक बार श्रीनारदजी वैकुण्ठमें गये तो भगवान श्रीलक्ष्मीनारायणने प्रसन्न होकर इनको प्रसाद दिया। श्रीनारदजीने तुरन्त पा लिया और अत्यन्त आनन्द में भरे हुये नृत्य गान करते हुये कैलाश आये। आज देवर्षिको अत्यन्त हर्षित देखकर श्रीशिवजीने पूछ ही तो दिया—नारदजी ! आज आपने क्या पा लिया है जो बड़े ही आनन्दित हो रहे हैं ! श्रीनारदजीने कहा—देवदेव ! आज मैंने अभी अभी भगवत्प्रसाद पाया है, इसीसे चित्तमें वहुत ही आह्लाद हो रहा है। श्रीशिवजीने कहा—नारदजी ! आप तो हमारे परममित्रों में है। फिर आपने हमको भी प्रसाद क्यो नहीं दिया ? यह कहते हुये शिवजीने नारदजी के हाथ पर दृष्टि डाली तो उन्हें अँगुली में प्रसादकण लगा दिखाई दिया, फिर तो श्रीशिवजी नारदजीकी अँगुलियों को चाटने लगे और आनन्द में भरकर नृत्यगान करने लगे। तव तक श्रीपार्वतीजी आ गई। शिवको आनन्द मग्न होकर ताण्डवनृत्य करते देखकर पार्वतीजीने जव इसका हेतु पूछा तो भगवान शिवने रहस्य का स्पष्टीकरण किया। पार्वतीजीने कहा—आप अकेले ही पागये, हमको भी क्यों नहीं दिये ? श्रीशिवजीने भावावेश में कह दिया कि भगवत्प्रसाद का सर्वसाधारण को अधिकार नहीं है। यह बात श्रीपार्वतीजी को लग गई। फिर तो उन्होंने नीलाचल क्षेत्र (जगदीशपुरी) में जाकर दस हजार वर्ष तक कठिन तप करके भगवान को प्रसन्न किया और यह वरदान मागा कि सभी लोग आपके प्रसाद के अधिकारी हों। भगवान ने 'एवमस्तु' कहा।

भगवत्प्रसादकी पावनता के सम्वन्ध में श्रीवृन्दावनके अनन्य रसिक श्रीहरीराम व्यासजी कहते हैं कि—'स्वान प्रसादहिं छीगयो, कौआ गयो बिटारि। दोऊ पावन व्यास के, कह भागौत विचारि ॥ अपनी इस निष्ठा को श्रीव्यासजीने निवाहा भी। भांगिन की टोकरी में से निकालकर पकौड़ी प्रसाद पाना इसका प्रमाण है। श्रीव्यासजीकी प्रसाद निष्ठाके सम्बन्धमें श्रीहित ध्रुवदासजी लिखते हैं कि—'प्रेम मगननहिं गन्यो कछु, वरनावरन विचार। सवन मध्य पायोप्रगट, लै प्रसाद रस सार ॥'

ध्यान चतुर्भुज चित,धर्यो तिन्हैं शरण हौं अनुसरौं ।
अगस्त्य,पुलस्त्य,पुलह,च्यवन,वशिष्ठ, सौभरि,रिषि ।
कर्दम, अत्रि, ऋचीक, गर्ग, गौतम सुव्यास शिषि ॥
लोमश भृगु दालभ्य अङ्गिरा शृङ्गि प्रकासी ।
माण्डव्य, विश्वामित्र, दुर्वासा, सहस अठासी ॥
जाबालि जमदग्नि मायादर्श, कश्यप,परबत,पराशर पद रज धरौं ।
ध्यान चतुर्भुज चित धर्यौ तिन्हैं शरण हौं अनुसरौं ॥१६॥

शब्दार्थ—ध्यान=चिन्तन, स्मृति, वाह्य इन्द्रियों के प्रयोग के विना मनमें लाना । । अनुसरौ=अनुसरण करूं, गमन करूं,जाऊं । प्रकाशी=प्रकाशयुक्त, प्रकाश करने वाले । मायादर्श=मायाका दर्शन करने वाले, मार्कण्डेय । पर्वत=मरीचि के पुत्र, एक ऋषि ।

भावार्थ—जिन भक्तोंने भगवानके चतुर्भुज रूपका ध्यान अपने हृदय में धारण किया, मैं उनकी शरण मे हूँ । वे हमारे सब प्रकार से रक्षक हैं। अगस्त्यजी, पुलस्त्यजी, पुलहजी, च्यवनजी, वशिष्ठजी, सौभरिजी, कर्दमजी, अत्रिजी, ऋचीकजी, गर्गजी, गौतम जी, व्यासजी के शिष्य, लोमशजी, भृगुजी, दालभ्यजी, अङ्गिराजी, ऋष्यशृङ्गजी, माण्डव्यजी, विश्वामित्रजी, दुर्वासाजी, शौनकादि अट्ठासी हजार, जावालिजी, यमदग्निजी, मार्कण्डेयजी, कश्यपजी, पर्वतजी और पराशरजी इनके चरणों की रज मैं अपनें शिर पर चढ़ाता हूं । ये ऋषिगण वड़े तेजस्वी हैं। मोह अन्धकार को दूर करने के लिए सदा ज्ञान-भक्ति का प्रकाश करते रहते हैं ॥१६॥

व्याख्या—ध्यान चतुर्भुज—

छप्पय—क्रीट मुकुट अरु तिलक माल राजत छवि छाजत।
पीत वसन तनु श्याम काम कोटिक लखि लाजत ॥
कण्ठ त्रिवलि श्रीवत्स सुभग सोहत मन मोहत ।
वैजन्ती वनमाल कौन उपमा कवि टोहत ॥
कर शङ्ख चक्र गदा पद्मधर रूप अमित गुण गरुड ध्वज।
गोविन्द चरण वन्दत सदा जय जय जय श्रीचतुर्भुज ॥

चितधर्यो—आलोड्य सर्व शास्त्राणि विचार्यैव पुनः पुन. ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥

अर्थ—समस्त शास्त्रों का मन्थन कर, उसके सार-सिद्धान्त पर विचार करने पर यही एक सिद्धान्त सुनिश्चित होता है कि भगवान नारायण का सदा-सर्वदा ध्यान करना चाहिये

शरण हौं अनुसरौं—भाव यह कि शरणागत सब प्रकार से रक्षणीय होता है,,चाहे वह कैसा भी क्यों न हो । शरणागत की योग्यता-अयोग्यता, गुण-दोष, पाप-पुण्य की परीक्षा नहीं की जाती

है। उसका त्याग नही किया जाता है, उसे तो प्राणवत् प्यार किया जाता है। यथा—'शरण गये प्रभु ताहु न त्यागा। विश्वद्रोह कृत अघजेहिं लागा ॥' 'शरणागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि। ते नर पांवर पापमय तिन्हहिं विलोकत हानि ॥' 'जो सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं ॥ इत्यादि वचन प्रमाण हैं।

श्री अगस्त्य जी—प्राचीन काल की बात है। एक समय इन्द्रने वायु और अग्निदेवको दैत्यों का नाश करने की आज्ञा दी। आज्ञानुसार इन्होंने वहुत से दैत्यों को भस्म कर डाला, कुछ जाकर समुद्र मे छिप रहे। तव इन्होने अशक्त जानकर उनकी उपेक्षा कर दी। परन्तु वे दैत्य दिन भर समुद्र मे छिपे रहते और रात्रि मे निकल कर देवता, ऋषि मुनि, मनुष्यादिकों का नाश किया करते थे। तब इन्द्र ने फिर अग्नि और वायुको आज्ञा दी कि समुद्रका शोषण कर लो। ऐसा करने में करोड़ों जीवों का नाश देख कर इस आज्ञा को अनुचित जानकर उन्होने समुद्र का शोषण करना स्वीकार नही किया। इस पर कुपित होकर इन्द्रने शाप दे दिया कि तुम दोनों एक मनुष्य का स्वरूप धारण कर पृथ्वी पर धर्मार्थ-शास्त्र रहित योनि से जन्म लेकर मुनियों की वृत्ति धारण करते हुये जाकर रहो और जव तक तुम वहां चुल्लू से समुद्र को पी नहो लोगे तव तक तुम्हे मर्त्यलोक में ही रहना पड़ेगा। इन्द्रका शाप होते ही उनका पतन हुआ और उन्होने मर्त्य लोक में आकर जन्म लिया।

उन्ही दिनों की बात है कि उर्वशी मित्र देवता के यहां जा रही थी, वे उसको उस दिन के लिये वरण कर चुके थे। रास्ते में उसे जाते हुए देखकर उसके रूप पर आसक्त हो वरुण देवता ने उसको अपने यहां बुलाया। तब उसने कहा कि मैं मित्र को वचन दे चुकी हूँ। वरुण ने कहा कि वरण शरीर का हुआ है, तुम मन मेरे में लगा दो और शरीर से वहां जाना। उसने वैसा ही किया। मित्र को यह पता लगने पर उन्होंने उर्वशी को यह शाप दिया कि तुम आज ही मर्त्यलोक में जाकर पुरूरवा की स्त्री हो जाओ। मित्र ने अपना तेज एक घट में रख दिया और वरुण ने भी उसी घट में अपना तेज रखा। उन्ही दिनों राजा निमि के शापसे श्रीवशिष्ठजी देह रहित हुये थे।(देखिये निमिजी का प्रसङ्ग छप्पय १३) तवउन्होंने ब्रह्माजी से जाकर प्रार्थना की कि देहहीन की संसारी क्रिया नष्ट हो जाती है और 'तनबिनु वेद भजन नहिं वरना।' अतः हमको देह दीजिये। तब ब्रह्माजी ने आज्ञा दी कि मित्रावरुण से जो तेज जायमान है, उसमें जाकर तुम निवेश करो, तुम अयोनि रहोगे। श्रीवशिष्ठजी ने ऐसा ही किया। इधर वायु सहित अग्निदेव भी उसी घट से श्रीवशिष्ठजी के पश्चात् चतुर्बाहु, अक्षमाला-कमण्डलुधारी अगस्त्य रूप से प्रगट हुये। (प० पु०)

श्रीअगस्त्यजी ने विदर्भराजकुमारी लोपामुद्राको पत्नी रूपमें वरण कर वानप्रस्थ विधानसे मलय पर्वत पर जाकर वड़ी दुष्कर तपस्या की। अपने महान तप के प्रभाव से इन्होंने समुद्र को सोख लिया था। कथा इस प्रकार है—देवताओं से हारकर कालेय दैत्यगण जब समुद्र में छिप गये और नित्य रात्रिमें बाहर निकलकर ऋषियों मुनियों आदिको खा डाला करते थे, देवता समुद्रके भीतर जाकर युद्ध नही कर सकते थे। तव ब्रह्मादि देवताओं ने यह सम्मत कर कि अगस्त्यजी ही समुद्रशोषण मे समर्थ है, सब उनके पास चमत्कार पुर नामक क्षेत्र में गये और उनसे समुद्र शोषण की प्रार्थना की। उन्होंने कहा कि एक वर्ष की अवधि हमें दी जाय, इसमें योगिनियों के विद्यावल के आश्रित होकर हम समुद्रका शोषण कर लेगे। आप सब एक वर्ष वीतने पर यहां आवें तब मैं आपका कार्य करूँगा। तब देवता चले गये और महर्षि अगस्त्यने

यथोक्त विधि से विशोषिणीनामक विद्या का आराधन प्रारम्भ किया। एक वर्ष में वह प्रसन्न हो गयी और वरदान देने को उपस्थित हुई। अगस्त्यजी ने मांगा कि आप मेरे मुख में प्रवेश करें जिससे मैं समुद्रका शोषण कर सकूं। तत्पश्चात् देवता भी आये और अगस्त्यजी ने जाकर समुद्र को सहज ही में पीलिया॥ (स्कन्दपुराण)

महाभारत और पद्मपुराण मे भगवान विष्णु की सलाह से देवताओं की प्रार्थना सुनकर श्री-अगस्त्यजी का तुरन्त समुद्र तट पर उनके साथ जाना और समुद्र को देखते-देखते चुल्लू लगाकर पीजाना लिखा है। समुद्र-शोषण की एक कथा यह भी प्रसिद्ध है कि एक वार समुद्र एक टिटिहरीके अण्डेको वहा ले गया तव वह पक्षी समुद्र को सुखा डालने का संकल्प करके अपनी चोचमें समुद्र का जल भर-भरकर वाहर उलीचने और वाहरसे रेत ला-लाकर समुद्र में डालने लगा। दैवयोगसे महर्षि अगस्त्य वहाँ पहुंच गये। सव वृत्तान्त जानने पर उन्हें दया आ गई और उन्होंने "श्रीरामायनमः, श्रीरामभद्रायनमः, श्रीराम चन्द्राय नम" कहकर समुद्र को सोख लिया।

ऐसा भी सुना जाता है कि एकवार आप समुद्र तटपर वैठकर पूजन कर रहे थे। समुद्र आपकी पूजनसामग्री वहा ले गया तव आपने कुपितहोकर यह कहतेहुये कि 'क्या तुमने मुझे टिटिहरी समझ रक्खा है? मैं अभी तुम्हारी करनी का फल देता हूँ।' समुद्रको सोख लिया था। महाभारतके अनुसार तो ये समुद्र का जल पीकर पचा गये। वहुत दिन तक समुद्र सूखा पड़ा रहा। फिर जव भगीरथजी गङ्गाजी को लाये हैं तो गङ्गाजी ने समुद्रको भर दिया। आनन्द रामायणके अनुसार मुनिने समुद्र को पीकर सुखा दिया। फिर लघुश का करके भर दिया। इसीसे समुद्र का जल खारा हो गया।

'सूर्यनित्य सुमेरु गिरिकी परिक्रमा करते हैं।' देवर्षि नारदजी कौतुकवश यह कहते हुये विन्ध्याचल से सुमेरु गिरि की भूरि-भूरि प्रशंसा कर वहाँ से चलते भये। विन्ध्याचलने अमर्ष मे भरकर सूर्यसे कहा कि हमारी भी प्रदक्षिणा किया करो। उन्होने कहा कि जगतके ईश्वर ने जो मार्ग मेरे लिये वना रक्खा है, उसीपर मैं चलता हूँ। उसमें यदि सुमेरुकी परिक्रमा हो जाती है तो मैं क्या करूं? यह सुनकर विन्ध्य कुपित हो सूर्य और चन्द्रमा की गति रोकने को वढ़ चला। विन्ध्य की वृद्धिसे चन्द्र-सूर्य की गति मे अवरोध पड़ने लगा, सृष्टि में हाहाकार मच गया। देवता घवड़ाकर अगस्त्यजीके पास गये और उनसे प्रार्थना की कि आप ही उसके वेगको रोकें। वे स्त्रीके सहित विन्ध्याचलके पास आये और कहा कि मैं एक कार्य से दक्षिण दिशा को जाता हूँ. मुझे जाने की राह दो और जव तक मैं न लौटूं, तुम और नही वढ़ना। उसने आज्ञा मान ली। अगस्त्यजी दक्षिण से फिर लौटे ही नही। (म० भा०)

मणिमती नगरी में इल्वल नामक दैत्य रहता था, वातापि उसका छोटा भाई था, एक वार इल्वलने एकतपस्वी व्राह्मणसे इन्द्रके समान पराक्रमी पुत्र की अभिलाषा की, परन्तु व्राह्मणने अस्वीकार कर दिया। तव से उस दैत्यने साधु व्राह्मणो से वैर वांध लिया। वह मायावी दैत्य अपने छोटे भाई को ही मायासे राँधकर विविध खाद्य सामग्री तैयार करता। किसी व्राह्मण को निमन्त्रण दे आता और जव वह व्राह्मण भोजन कर लेता तो वह अपने भाई का नाम लेकर वुलाता। इल्वल में ऐसी शक्ति थी कि वह जिस किसी भी प्राणी को नाम लेकर वुलाता, वह यमलोक से भी पुनः शरीर धारण करके प्रगट हो जाता था। फल स्वरूप इल्वल के वुलाने पर वातापि उस व्राह्मण का उदर विदीर्ण कर निकल आता, व्राह्मण मर जाता। उसने यही छल श्रीअगस्त्यजी से भी किया। परन्तु परम समर्थ श्रीअगस्त्यजीने तो

उसे पचा ही डाला। जव इल्वल को यह वात मालूम हुई तो वह क्रोध में भरकर मुनि को खाने दौड़ा तव मुनिजी ने उसे अपनी हुंकार मात्र से भस्म कर दिया। (म० भा०)

एक वार श्रीअगस्त्यजी सूर्यके पास गये। वे उठकर महर्षि का सम्मान नहीं किये। मुनि लौट आये और शेपाचल पर जाकर मुनिमण्डली के वीच में वोले—यदि मैं सत्य ही श्रीरामजीका दास हूँ। यदि मेरी श्रीरामनाम में अनन्यनिष्ठा है तो मेरा यह उत्तरीय कोटि सूर्यके समान प्रकाशवान हो जाय। ऐसा ही हुआ। सूर्य का तेज मन्द पड़ गया, वे वहुत ही लज्जित हुये। विधाता विस्मय में पड़गये। लोक जलने लगे। तव ब्रह्माजीने आकर प्रार्थना किया तो मुनि ने अपना तपस्तेज संवरण कर लिया। (राम रसिकावली)

एक वार श्रीअगस्त्यजी श्रीरामतत्व सुनने की अभिलाषा से श्रीशेषभगवान के पास गये। वहाँ और भी ऋषि-महर्षि वैठे थे श्रीशेषजीने कहा कि मैं तो धरा के भार से आक्रान्त हूँ, कैसे तत्त्वोपदेश करूँ? श्रीअगस्त्यजीने कहा—भगवन्! आप इस पृथ्वी को मेरे दण्ड पर स्थित कर दीजिये। ऐसा कहकर मुनिने सवको सुनाते हुये कहा—यदि हमारा श्रीराम नाम में विश्वास है तो यह ब्रह्माण्ड दो दण्ड तक मेरे ब्रह्मदण्ड पर अवस्थित रहे। ऐसा ही हुआ। तव श्रीशेषजीने सवका सम्वोधन करते हुये कहा—आप लोगों ने श्रीरामनामका प्रभाव देखा। यही सवसे वड़ा तत्वज्ञान है। विश्वास पूर्वक भगवन्नाम का आराधन समस्त मङ्गलों का मूल है। (राम रसिकावली)

भगवान शङ्कर तथा श्रीसनकादिकजी भी श्रीअगस्त्यजीके यहाँ सत्सङ्ग करने जाया करते थे। यथा—एक वार त्रेता जुग माहीं। संभु गये कुंभज ऋषि पाहीं॥ संग सती जगजननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी॥ राम कथा मुनिवर्ज वखानी। सुनी महेस परमसुख मानी। पुनः—रहे तहाँ सनकादि भवानी। जहँ घट सम्भव मुनिवर ज्ञानी॥ राम कथा मुनिवर वहु वरनी। ग्यान जोनि पावक जिमि अरनी॥ (रामा०) भगवान श्रीरामजी के दरवार में इन्होने श्रीरामजीके जिज्ञासा करने पर वहुत सी पौराणिक कथायें सुनाई थी।

वनवास काल में भगवान श्रीरामजी श्रीजानकीजी एवं श्रीलक्ष्मणजीके सहित इनके आश्रम पर भी गये थे। जिसका वड़ा ही मधुर वर्णन श्रीरामचरित मानस में श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने किया है। आपके स्नेह—सुजान शिष्य श्रीसुतीक्ष्णजी प्रभु के शुभागमन का मङ्गलसमाचार सुनाते हैं। जिसे सुनकर आप प्रेम विह्वल हो जाते हैं। यथा—

चौ०—सुनत अगस्ति तुरत उठि धाये॥ हरि विलोकि लोचन जल छाये॥
मुनिपद कमल परे द्वौ भाई। रिषि अति प्रीति लिये उर लाई॥
सादर कुशल पूछि मुनिज्ञानी। आसन वर वैठारे आनी॥
पुनिकरि वहुप्रकार प्रभु पूजा। मोहि सम भाग्यवन्त नहिं दूजा॥
जहँ लगि रहे अपर मुनि वृन्दा। हरखे सवविलोकि सुखकन्दा॥

दो०—मुनि समूह महँ वैठे, सनमुख सवकी ओर।
शरद इन्दु तन चितवत, मानहुँ निकर चकोर॥ (रामा०)

भगवान श्रीरामजी ने मुनि श्रेष्ठ श्रीअगस्त्यजी से राक्षसवध का मन्त्र (उपाय) पूछा। श्रीराम के इस ललित नरलीलाभिनय पर मुग्ध होकर मुनि मुस्करा उठे। अहा! देखो तो सर्वज्ञ सर्व समर्थ होकर भी कैसे अज्ञ से बनकर दुष्ट-दमनोपाय हमसे पूछ रहे हैं। मुनि ने प्रथम भगवान श्रीरामका ऐश्वर्य वर्णन किया तत्पश्चात् लीला-सम्पादनार्थ पंचवटी में निवास करने को कहा। प्रभु को प्रसन्न एवं वरदानोन्मुख जानकर श्रीअगस्त्यजीने भक्त वांछा कल्पतरु भगवान से यह प्रार्थना की कि—'यह वर मागहुँ कृपा निकेता। बसहु हृदय श्री अनुज समेता।। अविरल भक्ति विरति सतसंगा। चरण सरोरुह प्रीति अभंगा।।' (रामा०) आप मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। आप के द्वारा रचित 'अगस्त्य संहिता' को 'मन्त्र संहिता' भी कहते हैं। उसमें भगवदुपासना सम्बन्धी बहुत से मन्त्रों का सांगोपांग विवेचन किया है। सप्तर्षि मण्डल में भी आप विराजते हैं।

श्री पुलस्त्य जी—ये ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं। श्रीब्रह्माजी के कानों से इनकी उत्पत्ति है। यथा—'पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः।' (भा०) इनकी पत्नी का नाम गौ था। उनके गर्भ से इनके द्वारा वैश्रवण (कुबेर) का जन्म हुआ था। इन्होंने अपने आधे शरीर से विश्रवा नामक पुत्र उत्पन्न किया था। ये इक्कीस प्रजापतियों में एक प्रजापति हैं। ये भगवान के परत्व को जानने वालों में हैं। (म० भा०) श्रीमद्भागवत में श्रीकर्दम-कन्या हविर्भू का पुलस्त्यपत्नी होना पाया जाता है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के अनुसार राजर्षितृणविन्दु ने अपनी कन्या इनको सौंप दी थी। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर महर्षि ने आशीर्वाद दिया कि तूने मेरी वेदध्वनि सुनकर गर्भ धारण किया है अतः तुझे मैं अपने तुल्य पुत्र देता हूँ। जिसका नाम विश्रवा होगा। वस्तुतस्तु विश्रवाजी बड़े चरित्रवान हुये। इनके भरद्वाज-पुत्री देव वर्णिनी से वैश्रवण (कुबेर) पुत्र हुये। जो देवताओं के धनाध्यक्ष हैं। महर्षि पुलस्त्य के विचार—

परं ब्रह्म परं धाम योऽसौ ब्रह्म तथा परम्।
तमाराध्य हरिं याति मुक्तिमप्यतिदुर्लभाम्।। (वि० पु०)

अर्थ—जो पर ब्रह्म परमधाम और पर स्वरूप हैं, उन हरि की आराधना करने से मनुष्य अति दुर्लभ मोक्षपद को भी प्राप्त कर लेता है। तीर्थ सेवन के सम्बन्ध में आपका कथन है कि—

अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते।। (प० पु०)

अर्थ—हे राजेन्द्र! जो स्वभाव से क्रोध हीन, सत्यवादी, दृढ़तापूर्वक उत्तमव्रतों का पालन करने वाला तथा सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मभाव रखने वाला है, उसे तीर्थ सेवन का फल प्राप्त होता है।

श्री पुलह जी—'पुलहो नाभितो जज्ञे' श्रीब्रह्माजी की नाभि से श्रीपुलहजी का प्रादुर्भाव हुआ है। श्रीकर्दम-कन्या गति इनकी पत्नी हैं। ये अलकनन्दा गङ्गा के तट पर जप और स्वाध्याय में लगे रहते हैं। यह भी एक प्रजापति हैं। स्वयं भगवदाराधन करते हुए दूसरों को भी भगवद्भक्ति का उपदेश देते हैं। यथा—

ऐन्द्रमिन्द्रः परं स्थानं यमाराध्य जगत्पतिम्।
प्राप यज्ञपतिं विष्णुं तमाराधय सुव्रत।। (वि० पु०)

हे सुव्रत ! जिन जगत्पति की आराधना से इन्द्र ने अत्युत्तम इन्द्रपद प्राप्त किया है, तू उन यज्ञ पति भगवान विष्णु की अराधना कर ॥

श्री च्यवन जी—ये भृगुजीके पुत्र हैं। इनकी माता का नाम था पुलोमा। जब ये माताके गर्भमें थे। तब एकबार श्रीभृगुजी स्नान करने गये हुये थे, उसी समय पुलोमा नामका ही एक दैत्य आश्रम को सूना देखकर भृगु पत्नी को हर ले गया। उस समय वह गर्भ, जो अपनी माता की कुक्षि में निवास कर रहा था, अत्यन्त रोप के कारण योगवल से माता के उदर से च्युत होकर वाहर निकल आया। माता के उदर से च्युत होकर गिरे हुये उस सूर्य के समान तेजस्वी गर्भ को देखते ही वह राक्षस तत्काल जल कर भस्म हो गया। च्युत होने के कारण ही उसका नाम च्यवन पड़ा। इस प्रकार भृगु के परम तेजस्वी पुत्र च्यवन का जन्म हुआ। ये निरन्तर तप में निरत रहते थे। इनका आश्रम नर्मदाजी के तट पर था। एक वार मनुपुत्र राजा शर्याति अपनी लाड़िली वेटी सुकन्या एवं और भी सेना एवं सेवक समाजको साथ लेकर वन में घूमते-घूमते च्यवन ऋषि के आश्रम पर जा पहुंचे। सुकन्या अपनी सखियों के साथ वन की शोभा देखती हुई एक वाँबी के समीप जाकर उसमें जुगनू की तरह चमकती हुई दो ज्योतियों को देखकर, वाल सुलभ चपलता वश एक कांटे द्वारा उनको वेध दिया। फलस्वरूप उनसे रक्त की धार वह चली। उसी समय राजा के सैनिकों का मल-मूत्र रुक गया। राजर्षि शर्यातिजी ने तुरन्त ही सवसे पूछा कि किसी ने महर्पि च्यवन का अपराध तो नही किया है ? तव सुकन्या ने अपने पिता से डरते-डरते अनजान मे दो ज्योतियों को काँटे से छेदने का वृत्तान्त कहा। यह सुनकर शर्याति घवरा गये और उन्होने वाँबी के पास जाकर स्तुति-प्रार्थना करके वाँवी मे छिपे हुये च्यवन मुनिको प्रसन्न किया। नेत्र चले जाने का च्यवन मुनि ने खेद प्रकट किया तो राजाने उनकी सेवा के लिये अपनी कन्या सुकन्या ही उन्हें समर्पित कर दी और उनकी अनुमति लेकर स्वयं अपनी राजधानी को लौट आये।

सुकन्या वड़ी सावधानीसे मुनिकी सेवा करती हुई उन्हें प्रसन्न करने लगी। कुछ काल वाद उनके आश्रम पर दोनों अश्विनी कुमार आये। च्यवन मुनि ने उनका यथोचित सत्कार किया और कहा कि आप दोनों समर्थ हैं, अतः मुझे तरुणी स्त्रियों के लिये परम स्पृहणीय सुन्दर, युवावस्था का रूप प्रदान कीजिये, फिर मैं भी आपको यज्ञ में सोमरस का भाग दूंगा। वैद्य शिरोमणि अश्विनी कुमारों ने दिव्य औषधियों से एक कुण्ड तैयार करके उसमें मुनि को स्नान करने के लिये कहा। च्यवन मुनि के साथ अश्विनी कुमारों ने भी कुण्ड में प्रवेश किया। डुवकी लगाकर कुण्ड से वाहर निकलने पर जब सुकन्या ने देखा कि एक-सी आकृति वाले सूर्य के समान तेजस्वी तीन-पुरुष वाहर निकले तो उसने अपने पति को न पहचान कर अश्विनी कुमारों की शरण ली। उसके पातिव्रत्य पर प्रसन्न होकर उन देव वैद्यों ने उसके पति को वतला दिया और स्वयं स्वर्ग को चले गये।

कालान्तर में जब राजा शर्याति यज्ञ करने की इच्छा से च्यवन मुनि के आश्रम पर आये और वहाँ उन्होंने अपनी कन्या को एक सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष के पास वैठे देखा तो वड़े विस्मित हुये। सुकन्या के प्रणाम करने पर भी उसे आशीर्वाद नहीं दिये तथा यह अनुमान करके कि इसने वयोवृद्ध महा-मुनि च्यवन को छोड़कर किसी पर पुरुष को स्वीकार कर लिया है, उसके इस आचरण को लोक-वेद के विरुद्ध एवं पिता और पति दोनों कुलों को कलङ्कित करने वाला वतलाते हुये वहुत फटकारे। तव सुकन्या ने मुसकरा कर कहा—पिता जी ! ये आप के जामाता स्वयं भृगुनन्दन च्यवन ही हैं। फिर उसने

मुनि के तरुण होने का सब प्रसङ्ग कह सुनाया। तब शर्याति बड़े ही प्रसन्न हुए और उन्होंने पुत्री को हृदय से लगा लिया। तत्पश्चात् श्रीच्यवन ने राजा शर्याति से सोमयज्ञ का अनुष्ठान करवाया और सोमपान का अधिकारी न होने पर भी अपने प्रभाव से अश्विनी कुमारों को सोमपान कराया। इस पर चिढ़कर देवराज इन्द्रने शर्यातिको मारनेके लिये वज्र उठाया। महर्षि च्यवन ने वज्र के साथ उनके हाथ को वहीं स्तम्भित कर दिया। तब सब देवताओं एवं इन्द्र ने भी अश्विनीकुमारों को सोमभाग देना स्वीकार कर लिया।

श्रीवशिष्ठजी—'प्राणाद्वशिष्ठ सञ्जातो' अर्थात् श्रीब्रह्माजी के प्राण से श्रीवशिष्ठजी उत्पन्न हुए। इन्द्रियोंको वशमें करनेके कारण इनकानाम वशिष्ठ पड़ा। श्रीकर्दम प्रजापतिकी परम साध्वी कन्या अरुन्धती इनकी धर्मपत्नी हैं। देवताओं के लिये भी दुर्जेय काम क्रोध श्रीवशिष्ठजी की तपस्या से सदा के लिये पराभूत होकर इनके चरण दबाते रहते हैं। यथा—

ब्रह्मणो मानसः पुत्रो वशिष्ठोऽरुन्धती पति.। तपसा निर्जितौ शश्वदजेयावमरैरपि॥
कामक्रोधावुभौ यस्य चरणौ संववाहतुः। इन्द्रियाणां वशकरो वशिष्ठ इति चोच्यते॥(म०भा०)

श्रीब्रह्माजीने इन्हे सूर्यवंशकी पुरोहिताई सौपी। पौरोहित्य कर्मको निन्द्य समझकर जब अस्वीकार करदिए तब श्रीब्रह्माजीने सूर्यवंशका भविष्य वर्णन करतेहुए इस वंशमें स्वयं भगवान श्रीरामके प्रादुर्भाव का प्रसङ्ग कहा। तब तो श्रीवशिष्ठजी ने सहर्ष इस कार्य को स्वीकार कर लिया। यथा—'उपरोहित्य कर्म अति मन्दा। वेद पुराण स्मृति कर निन्दा॥ जब न लेहुँ मैं तब विधि मोही। कहा लाभ आगे सुत तोही॥ परमातमा ब्रह्म नररूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा॥ तब मैं हृदय विचारा, जोग जग्य व्रत दान। जाकहुं करिअ सो पैहउँ धर्म न एहिसम आन॥ (रा०च०मा०)

श्रीवशिष्ठजी सरीखे समर्थ सद्गुरु को पाकर सूर्यवंश कृतकृत्य हो गया। इनका अमोघ आशीर्वाद निरन्तर दु.खों का दलनकर महा-मङ्गलोंका सृजन करता रहता था। यथा—भानुवंश भे भूप घनेरे। अधिक एकते एक बड़ेरे। जन्म हेतु सब कहँ पितु माता। कर्म सुभासुभ देइ विधाता॥ दलि दुःख सृजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जग जाना॥

श्रीवशिष्ठजी विधि गति को रोकने में समर्थ थे यथा—सो गोसाइँ विधि गति जेहि छेकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥ प्रमाण—१. वैवस्वत मनुकी इलानाम की कन्या को सुद्युम्न नाम का पुत्र बना देना तथा सुद्युम्न को श्रीशिव के विहारवन में पहुँचने पर स्त्रीत्व को प्राप्त हो जाने पर पुनः पुंस्त्व प्रदान करना। देखिये—वैवस्वत मनु का प्रसङ्ग (छप्पय १२) २. कृत्तिवास रामायण के अनुसार अंशुमानजी के पुत्र दिलीप के दो रानियां थीं। श्रीदिलीपजी अपने पूर्वजों (सगर पुत्रों) के उद्धारार्थ श्रीगङ्गाजी को धरातल पर लाने के लिए तप करने के लिए हिमालय पर चले गये। वहीं उनका देहावसान हो गया। कोई वंशधर पुत्र नहीं था। रानियों ने श्रीवशिष्ठजी से निवेदन किया तो आपने उन्हें परस्पर सम्भोग की आज्ञा दी। फलस्वरूप बड़ी रानी से एक पुत्र हुआ तो परन्तु पुरुष संयोग के बिना ही उत्पन्न होने के कारण उसके शरीर में अस्थि नहीं थी।. वह श्रीवशिष्ठजी के आशीर्वाद से हो गई। यही बालक

आगे चलकर राजा भगीरथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिनके तप से सन्तुष्ट होकर श्रीगङ्गाजी इस धरा धाम पर आई।

३—मानस मयंककार कहते है कि महाराज रघुजी की जन्मकुण्डली में ऐसा योग पड़ा था कि विवाहकाल में सातवी भांवर पूर्ण होते ही रघुजी का सिर फट जायगा। इसी डर से इनके पिता दिलीप जी (ये दिलीप, अंशुमान पुत्र दिलीप से दूसरे हैं) इनका विवाह नहीं करते थे। जब श्रीवशिष्ठजी को यह मालूम हुआ तो उन्होंने विवाह की आज्ञा देदी और विवाह के समय अन्य वैवाहिक कृत्य हो जाने पर जब भांवरी पड़ने लगी, उस समय जब आगे आगे वर और पीछे-पीछे दुलहिन घूमती हुई चार भावरें कर चुके, तब वशिष्ठजी ने भांवरी रोककर अपना पूजन कराया और पूजोपरान्त जब रघुजी ने प्रणाम किया तब श्रीवशिष्ठजी ने चिरञ्जीव होने का आशीर्वाद दिया। तत्पश्चात् उन्होंने भांवरका क्रम बदल दिया। अर्थात् अबकी बार आगे-आगे दुलहिन और पीछे-पीछे बर—इसप्रकार चले और गिनतीमें भी चारके बाद पांच, छैः, सात न कहकर एक, दो, तीन कहे। इस प्रकार सात भांवर पड़ भी गईं परन्तु सात की गिनती नहीं आने पाई और इधर आशीर्वाद का अमोघ बल था अतः विधि की गति रुक गई।। ४—श्रीदशरथ-जी महाराज के पुत्र नहीं हुए। उनको आशीर्वाद दिया। साठ हजार वर्ष की अवस्था में चार पुत्र हुए। यथा—'धरहु धीर होइहैं सुतचारी। त्रिभुवन विदित भगत भय हारी॥' (रामा०)

एक बार राजा विश्वामित्र अपनी अपार चतुरङ्गिणी सेना को संग लेकर पृथ्वी का परिभ्रमण करने निकले। नगरों, नदियों, पर्वतों, जंगलों और आश्रमों को देखते हुए वे वशिष्ठजीके आश्रममें पहुँचे। कुशल प्रश्न करनेके पश्चात् मुनिने राजा को अतिथि-सत्कार ग्रहण करनेको निमन्त्रित किया और अपनी कपिलागऊ को बुलाकर सबकी रुचि के अनुसार भोजन प्रस्तुत करके उनका यथोचित सत्कार करने की आज्ञा दी। कपिलाके चमत्कार पूर्ण सत्कारसे चमत्कृत होकर राजाने कोटि अलंकृतगऊ तथा औरभी अनेक रत्नों का लालच देकर कहा कि कपिलागऊ हमको दे दीजिये। मुनिने कहा—मैं इसे किसी प्रकार नहीं दूंगा, यह मेरा धन है, सर्वस्व है, जीवन है। यथा-एतदेवहि मे रत्नमेतदेव हि मे धनम्। एतदेव हि सर्वस्व-मेतदेव हि जीवितम् ॥' (वा०रा०) राजा विश्वामित्र उसे बलपूर्वक ले चले, कपिला उनसे छुड़ाकर मुनि के पास आकर रोने लगी। मुनि ने कहा कि ये राजा है, बलवान हैं, क्षत्रिय है, मैं वृद्ध ब्राह्मण हूं। तुम यदि अपने को छुड़ा सको तो छुड़ाकर यहां रहो। तब मुनि का आशय समझकर कपिला ने अपने रोम-रोम से असंख्य सेना उत्पन्न करके उसने राजा की सब सेना नष्ट करदी। तब विश्वामित्र के सौ पुत्रों ने क्रोध में भरकर श्रीवशिष्ठजी के ऊपर आक्रमण किया। परन्तु मुनि की एक हुँकार मात्रसे राजा के सौ पुत्र और रथ-घोड़ा-सेना सब भस्म हो गये। राजा पख कटे पक्षी के समान अकेला रह गया।

उन्हें वैराग्य हो गया। फिर तो राज्य एक पुत्र को देकर तप करके उन्होंने शिवजी को प्रसन्न कर यह वर मांगा कि साङ्गोपाङ्ग मन्त्र तथा रहस्य के साथ धनुर्वेद आप मुझे दें। देव-दानव-महर्षि-यक्ष-गन्धर्वादि सभी के जो कुछ अस्त्र हों, वह सब मुझे मालूम हो जायँ। शिवजी ने 'एवमस्तु' कहा। इन्हें पाकर अभिमान से राजा ने मुनि के आश्रम में जाकर उसे क्षण भर में ऊसर के समान शून्य कर दिया। ऋषियों को भयभीत देखकर मुनि ने अपना ब्रह्मदण्ड उठाया और राजा को ललकारा। राजा की समस्त विद्या ब्रह्मदण्ड के सामने कुछ काम न दे सकी। समस्त अस्त्रों के व्यर्थ चले जाने पर राजा ने ब्रह्मास्त्र चलाया, परन्तु उसे भी मुनि ने ब्रह्मदण्ड से शान्त कर दिया। श्रीवशिष्ठजी के प्रत्येक रोमकूप से किरणों

के समान अग्निकी ज्वालायें निकलने लगी ब्रह्मदण्ड उनके हाथमें कालाग्निके समान प्रज्वलित था। मुनियों ने उनकी स्तुतिकर विनय की कि आप अपना तेज अपने तेज से शान्त करें और अपना अस्त्र हटायें, प्राणी मात्र उससे पीडित हो रहे हैं। उनकी विनय सुनकर उन्होने दण्डको शान्त किया। पराजित राजा विश्वामित्र लम्बी साँस लेते हुये अपनेको धिक्कारने लगे। यथा—'धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्॥' और ब्रह्मतेजकी प्राप्तिके लिए तपस्या करने चले गये। अन्तमें श्रीवशिष्ठजीके द्वारा ही इन्हे ब्रह्मर्षिपद प्राप्त हुआ। विशेष देखिये श्रीविश्वामित्रजीका प्रसङ्ग।

एकबार श्रीवशिष्ठजी श्रीविश्वामित्रजीके आश्रम पर पधारे। विश्वामित्रजीने उनका स्वागत सत्कार तो किया ही आतिथ्यमें अपनी एक सहस्र वर्षकी तपस्या का फल भी अर्पित किया। कुछ समय बाद श्रीविश्वामित्रजी श्रीवशिष्ठजीके अतिथि हुये। श्रीवशिष्ठजीने भी उनका यथोचित सत्कार किया और उन्हे अपनी आधी घड़ी के सत्सङ्गका पुण्य अर्पित किया। परन्तु श्रीवशिष्ठजीके इस प्रतिदानसे विश्वामित्रजीको सन्तोष नही हुआ। बात-बात में तप और सत्सङ्ग के ऊपर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो गया। दोनो ब्रह्मविद् ठहरे, उनके विवादका निर्णय सहज सम्भव नही। अन्ततोगत्वा दोनों ही महानुभाव एकमत होकर इसका निर्णय करानेके लिये पातालमे श्रीशेषजीके पास गये। पाताल पहुँचने पर दोनों महर्षियोंकी बात शेषजीने सुनली और बोले—आपमें से कोई अपने प्रभाव से इस पृथ्वी को कुछ क्षण अधर में रोके रहे तो मेरा भार कम हो और मैं स्वस्थ होकर विचार करके निर्णय दूँ। महर्षि विश्वामित्रजीने हाथमे जल लेकर सङ्कल्प किया कि मेरे एक सहस्र वर्ष के तपोबल से धरा आकाश में स्थित रहे। परन्तु यह सम्भव नही हो सका। तब श्रीवशिष्ठजीने अपने आधी घड़ी के सत्सङ्ग के पुण्य-बल से दो घड़ी तक पृथ्वीको शेषजीके फणसे ऊपर अधर मे टिकाये रक्खा। श्रीशेषजीने कहा—अब कहने-कहानेको कुछ शेष नही रहा आप दोनो स्वयं समझ लीजिये। श्रीविश्वामित्रजी श्रीवशिष्ठजी के चरणों में पड़ गये।

चिरकालकी प्रतीक्षाके बाद वह शुभ समय आया, जबकि स्वयं भगवान श्रीराम चतुर्व्यूह रूपसे श्रीअयोध्याधिपति चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजीके यहाँ पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुये। जातकर्मादि संस्कार करानेके लिये श्रीगुरुदेवजी बुलाये गये। श्रीवशिष्ठजीने सर्वप्रथम श्रीरामलालजी का दर्शन किया। यथा—'गुरु वशिष्ठ कहँ गयउ हँकारा। आयउ द्विजन्ह सहित नृप द्वारा॥ अनुपम बालक देखेन्हि जाई। रूपरासि गुन कहिन सिराई॥' (रामा०) इसी लाभ-लोभ से तो इन्होने सूर्य वंशकी पुरोहिताई स्वीकार की थी। मुनिके सौभाग्यका क्या कहना है कि परात्परब्रह्म जिनके शिष्य हैं, सेवक हैं, यजमान है। मंगलभवन अमंगलहारीके मङ्गल के लिये श्रीवशिष्ठजी नित्य आशीर्वाद देने राजमहलमें आते और अपने परमाराध्यका दर्शनकर निहाल हो जाते। युग-युग की साधनाका सुफलपाकर कृतकृत्य हो जाते।

श्रीवशिष्ठजी कर्म, ज्ञान, उपासना—तीनों में ही परम निष्णात थे। तीनोपर इनका समान अधिकार था परन्तु भक्तिके प्रति विशेष आदर भाव था। यथा—

चौ०—जप तप नियम योग निजधर्मा। श्रुति सम्भव नाना शुभ कर्मा॥
ग्यान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥
आगमनिगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तब पद पकज प्रीति निरन्तर। सब साधन कर यह फल सुन्दर॥

छूटइमल कि मलहिं के धोये। घृत कि पाव कोउ वारि बिलोये॥
प्रेम भगति जलबिनु रघुराई। अभिअन्तर मल कबहुं न जाई॥
सोइ सर्वज्ञ तज्ञ सोइ पण्डित। सोइ गुनगृह विज्ञान अखण्डित॥
दक्ष सकल लच्छन युत सोई। जाकें पद सरोज रति होई॥ (रा० च० मा०)

और यही वर भी माँगा है। यथा—'नाथ एक वर मागउँ, राम कृपा करि देहु। जन्म जन्म प्रभु पद कमल, कबहुँ घटै जनि नेह॥' (रामा०)

श्रीसौभरिजी—जगत्प्रपञ्चसे सर्वथा विरक्त परम तपस्वी सौभरिजी एक वार यमुनाजल में डुबकी लगाकर तपस्या कर रहे थे। वहाँ एक मत्स्यराजको अपनी अनेक पत्नियोंके साथ विहार करते हुये देखकर ब्राह्मण सौभरि के मन में भी विवाह करने की इच्छा जागृत हो उठी। यह है विषयों की प्रवलता। विषयों का तो ध्यान मात्र करने से उनमें आसक्ति हो जाती है। यथा—'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।' (गी०) फिर दृग्गोचर होनेपर तो कहना ही क्या है। सौभरिजीका मन आतुर हो उठा और उन्होंने राजामान्धाताके पास आकर उनकी पचास कन्याओंमें से एक कन्या माँगी। महाराज मान्धाता विचार में पड़ गये। वे सोचने लगे कि इन परम वयोवृद्ध ऋषिके साथ मैं किशोरी कन्या को कैसे व्याहूँ और यदि अस्वीकार कर देता हूँ तो ऋषि के कोप का भाजन बनना पड़ेगा। राजाकी—'धर्म सनेह उभयमति घेरी। भइ गति साँप छछुन्दर केरी॥' (रामा०) फिर राजाने युक्ति सोची कि यदि स्वयम्वर विधिका आश्रय लिया जाय तो मुझे इन्कार भी नही करना पड़ेगा और कोई कन्या इन्हे वरेगी भी नहीं। अतः मान्धाताजीने कहा—ब्रह्मन्! कोई कन्या आपको स्वयम्वरमें चुन ले तो आप उसे ले लीजिये। परम ज्ञानवान सौभरिजी मान्धाताजीका अभिप्राय समझ गये और उन्होने अपने मन में निश्चय किया कि मैं अपने को ऐसा सुन्दर बनाऊँगा कि राजकन्याएँ तो क्या देवाङ्गनाएँ भी मेरे लिये लालायित होंगी। ऐसा सोचकर समर्थ सौभरिने वैसा ही किया। फिर तो उन पचासों राजकन्याओंने एक सौभरिको ही वरण किया। ऋग्वेदी सौभरिने उन सभी का पाणिग्रहण कर लिया और पचास पत्नियोंके साथ पचास रूप धारण करके, अपने अपार तपोवल से परम दिव्य विविध सुखसाधनोंकी सृष्टि करके, उनसे युक्त होकर अपनी पत्नियों के साथ विहार करने लगे। सप्तद्वीपवतीपृथ्वी के स्वामी महाराज मान्धाता भी श्रीसौभरिजीके गार्हस्थ्य के लोकोत्तर सुखैश्वर्य को देखकर चकित हो गये। इस प्रकार सौभरिजीने वहुत वर्षोतक विषयोपभोग किया परन्तु विषय वासना शान्त नही हुई, उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। (देखिये ययातिजी का प्रसङ्ग)

ऋग्वेदाचार्य सौभरिजी एकदिन स्वस्थचित्त से बैठकर अपनी स्थिति पर विचार कर रहे थे तो उन्हे अपने इसपतनपर वड़ी ही आत्मग्लानि हुई। वे मनही मन सोचने लगे कि'अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य। अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात् प्रच्यावितं ब्रह्मचिरं धृतं यत्॥' (भा०) अर्थ—अहो! मैं तो वड़ा भारी तपस्वी था मैंने भली भाँति उत्तम व्रतों का अनुष्ठान भी किया था। परन्तु मेरा यह अधः पतन तो देखो। मैंने दीर्घ काल से अपने ब्रह्मतेज को अक्षुण्ण रक्खा था, परन्तु जलके भीतर विहार करती हुई एक मछली के संसर्गसे मेरा वह ब्रह्मतेज नष्ट हो गया। तत्पश्चात् श्रीसौभरिजीने मुमुक्षु जनों को चेतावनी दिया कि—

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि ।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत्प्रसङ्गः ॥(भा०)

अर्थ—जिसे मोक्षकी इच्छा है,उस पुरुषको चाहिये कि वह भोगी प्राणियों का सङ्ग सर्वथा छोड़ दे और एक क्षण के लिये भी अपनी इन्द्रियों को वहिर्मुख न होने दे। अकेला ही रहे और अपने चित्त को सर्व शक्तिमान भगवान में ही लगा दे। यदि सङ्ग करने की आवश्यकता ही हो तो भगवान के अनन्य प्रेमी निष्ठावान् महात्माओं का ही सङ्ग करे ॥ इस प्रकार विचार कर उन्होंने पुनः विरक्त होकर संन्यास ले लिया और घर छोड़कर वन में चले गये। अपने पतिको ही सर्वस्व माननेवाली उनकी उन पत्नियों ने भी उनके साथ ही वन की यात्रा की। वहां जाकर परम संयमी सौभरिजी ने कठिन तपस्या के द्वारा अपने आपको परमात्मा में लीन कर दिया। उनकी पत्नियों ने भी उन्हीं का अनुगमन किया।

श्री कर्द्दम जी—'छायायाः कर्दमो जज्ञे' अर्थात् ब्रह्माजी की छाया से श्रीकर्दमजी उत्पन्न हुये। जब ब्रह्माजी ने प्रजापति कर्दम को सृष्टि विस्तार की आज्ञा दी तो उन्होंने सर्व प्रथम स्वरूपानुरूप धर्मपत्नी की प्राप्ति के लिये सरस्वती नदी के तट पर बिन्दु सरोवर तीर्थ में दस हजार वर्षों तक तपस्या के द्वारा शरणागत वरदायक श्रीहरि की आराधना की। भगवान ने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया। प्रभु की परम मनोहर मूर्ति का दर्शन कर कर्दमजी को बड़ा हर्ष हुआ, उन्होने सानन्द हृदय से साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर प्रेम-प्रवण चित्तसे हाथ जोड़कर अत्यन्त सुमधुर वाणी से भगवान की स्तुति की। भगवान ने कहा—जिसके लिये तुमने आत्म संयमादि के द्वारा मेरी आराधना की है, तुम्हारे हृदय के उस भाव को जानकर मैंने पहले से ही उसकी व्यवस्था कर दी है। परम यशस्वी सार्वभौम सम्राट महामानवमनु परसों अपनी धर्मशीला भार्या शतरूपाके साथ अपनी रूप-यौवन, शील और सद्गुण सम्पन्ना कमल लोचना कन्या को लेकर आयेंगे। प्रजापते ! वह सर्वथा आप के स्वरूपानुरूप है। मनुजी वह कन्या आपको अर्पण करेंगे। उससे सृष्टि का विस्तार करने वाली नौ कन्याएँ होगी तथा सांख्य शास्त्र का प्रचार करने के लिये मैं भी अपने अंश-कला से आपके वीर्यका आश्रय लेकर आपकी पत्नी देवहूति के गर्भ से अवतीर्ण होऊँगा। यह कह कर भगवान अन्तर्धान हो गये।

इधर मनुजी भी महारानी शतरूपाके साथ सुवर्ण जटित रथ पर सवार होकर तथा परमसाध्वी, मुनि वृत्तिशीला कन्या देवहूति को भी बिठाकर भगवान के बताये संकेतानुसार निश्चित समय पर शान्ति परायण महर्षि कर्दमके आश्रम पर पहुँचे। अग्निहोत्र से निवृत्त परम तेजस्वी मुनि श्रेष्ठ कर्दमको मनुजी ने प्रणाम किया। श्रीकर्दमजी ने आशीर्वाद देते हुये यथोचित आतिथ्य सत्कार किया। और आगमनका कारण पूछा। मनुजीने अत्यन्त विनम्रता पूर्वक निवेदन कन्या-'यह मेरी कन्या—जो प्रियव्रत और उत्तान-पाद की वहिन है, स्वभाव से ही राजसुख भोगो से विरक्त है, अवस्था, शील और गुण आदिमें अपने योग्य पति पाने की इच्छा रखती है। जबसे इसने नारदजी के मुख से आपके शील, विद्या, रूप और गुणो का वर्णन सुना है, तभी से आपको अपना पति बनाने का निश्चय कर चुकी है। द्विजवर ! मैं बड़ी श्रद्धा से आपको यह कन्या समर्पित करता हूं, आप इसे स्वीकार कीजिये। विद्वन् ! जो पुरुष अपने अभीप्सित एवं स्वयं प्राप्त हुये भोग का प्रथम निरादर करके, बाद में फिर किसी कृपण के आगे हाथ पसारता है उसका बहुत फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है और दूसरो के तिरस्कार से मानभङ्ग भी होता है। इस पर—

दृष्टान्त-बनावटी विरक्त का—पूजा– प्रतिष्ठाके लोभसे एक वेषधारी एक गाँवके बाहर वृक्ष के नोचे धूनी लगाकर बैठ गया। गाँव के लोगों को जब यह पता चला तो वे लोग महात्माका दर्शन करने आये तथा श्रद्धानुरूप भेंट भी लाये। परन्तु बाबाजी तो दूरसे ही सबको फटकारते। खबरदार! मेरे पास कोई भी कुछ भी नही लाना। अपने राम तो खाक-विभूति से ही मस्त रहते हैं। यह सुनकर लोगों को और भी आकर्षण होना और लोगों को आर्कषित देखकर महात्माजी और भी त्याग-वैराग्य की धौंस दिखाते। रात में गुप-चुप कुछ खा लिया करते थे। एक मनचले के मनमें परीक्षा की बात आई। उसने बाजार से खूब कुरकुरी, ताजी, बादामी रंग की जलेबी खरीदा और लेकर बाबाजी के पास चला। हिम्मत करके पास जाकर उसने जलेबी सामने धरकर स्वीकार करने की प्रार्थना की। अपने पूर्वाभ्यास के अनुसार उन्होने ऊपर से बहुत त्याग दिखाया, परन्तु भीतर से मन ललचाने लगा जलेबियों को देखकर। बाबाजी के डांटने फटकारने पर भी वह जलेबी वहीं छोड़कर चला गया। सन्ध्या का समय था, थोड़ा-थोड़ा अन्धेरा भी हो चला था, वह कुछ दूर जाकर छिप रहा बाबाजी का तमाशा देखने को। इधर जब इन्होंने देखा कि वह तो चला गया तो तुरन्त ही जलेबी धूनी की राख में गाड़ दिया। जब आने-जाने वालों की भीड़ खत्म हो गई तो रात्रि के एकान्त में धूनी से जलेबी निकाल-निकालकर उसकी राख झाड़-झाड़कर खाना आरम्भ किया। खाने की धुन में ध्यान नही रहा कि कोई देखता न हो। तब तक वह छिपा हुआ व्यक्ति धीरे-धीरे दबेपाँव बाबाजी के समीप आ गया और बोला—बाबा! तैंने जलेबी खाई तो परन्तु किरकिरी करके खाई। बाबाजी का मस्तक लज्जा से झुक गया। दृष्टांत का तात्पर्य यह कि चाही हुई वस्तु मिलने पर तो स्वीकार कर ही लेना चाहिये।

श्रीकर्दमजी ने स्वीकृति तो दे दी परन्तु एक शर्त पर। वह यह कि जब तक इसके सन्तान नही हो जायेगी, तब तक मैं गृहस्थ धर्मानुसार इसके साथ रहूँगा, इसके पश्चात् भगवान के बताये हुये परमधर्म भगवदाराधनको ही मैं अधिक महत्व दूँगा। महाराज मनुजी ने ब्राह्म विधिसे देवहूतिका विवाह कर्दमजी से कर दिया और दहेज में भूरि-भूरि बहुमूल्य वस्त्राभूषण एवं अन्य आवश्यक वस्तुएं प्रदान किया और मुनि की आज्ञा लेकर वहां से अपने स्थान को चले आये।

मनु-पुत्री देवहूति ने काम-वासना, दम्भ, द्वेष लोभ, मदादि का त्यागकर बड़ी सावधानी और लगन के साथ सेवा में तत्पर रहकर विश्वास, पवित्रता, गौरव, संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुर भाषणादि गुणों से अपने परम तेजस्वी पतिदेव को सन्तुष्ट कर लिया। बहुत काल व्यतीत होने पर सेवापरायण देवहूति के मनमें सन्तान की अभिलाषा जागृत होने पर परम तपोधन श्रीकर्दमजी ने तपने तपोबलसे स्वयं दिव्य स्वरूप धारण कर तथा देवहूति को भी दिव्यरूप प्रदान कर, सहस्रों दास दासियों से सेवित एवं समावृत होकर योग-प्रभाव-विनिर्मित दिव्य विमान पर विराजमान होकर देवहूति के साथ बहुत वर्षो तक विहार किया। तत्पश्चात् देवहूति को सन्तान प्राप्ति के लिये समुत्सुक देखकर श्रीकर्दमजी ने अपने स्वरूप के नौ विभाग किये और नवों स्वरूपों से उनके गर्भ में अपना तेज स्थापित किये। इससे देवहूति के नौ कन्याएं पैदा हुईं। श्रीकर्दमजी अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार सन्यास ग्रहण करने को समुद्यत हुये। पतिदेव के हार्दिक अभिप्राय को जानकर देवहूति ने बड़ी विनम्रता पूर्वक कन्याओं को योग्य वरों के हाथों में सौंपने तथा वन चले जाने पर अपने आधार के लिये एक पुत्र की प्रार्थना किया। तब कृपालु मुनि कर्दम को भगवान विष्णु का वह कथन याद हो आया जिसमें कि उन्होने स्वयं को मुनि-पुत्र होने का संकेत किया था। श्रीकर्दमजीने देवहूतिको आश्वासन दिया—प्रिये! अधीर न हो, तुम्हारे गर्भमें अविनाशी

भगवान विष्णु शीघ्रही पधारेंगे। अब तुम संयम नियम दान और तपादिके द्वारा श्रद्धापूर्वक भगवानका आराधन करो। पतिवचन विश्वासिनी देवहूति प्राणपण से भगवदाराधनमे लग गई। इधर कर्दमजीने श्रीब्रह्माजीके आदेशानुसार अपनी कला नामकी कन्या मरीचिको, अनसूया अत्रि को, श्रद्धा अङ्गिराको, हविर्भू पुलस्त्यको, गति पुलहको, क्रिया क्रतुको, ख्याति भृगुको, अरुन्धती वशिष्ठको, और शान्ति अथर्वा को समर्पण कर दिया। ये ऋषि लोग श्रीकर्दमजीकी आज्ञा लेकर अति आनन्दपूर्वक अपनी-अपनी पत्नियों के साथ अपने-अपने आश्रम को चले गये।

इधर परम मङ्गल मुहूर्त आनेपर साक्षात् देवाधिदेव भगवानविष्णु श्रीकर्दमजीके वीर्यका आश्रय लेकर देवहूति के गर्भ से श्रीकपिलरूप में प्रगट हुए। देवताओं ने दुन्दुभियां बजाईं, पुष्पवृष्टि की। ब्रह्मादिकों ने ऋषिदम्पति के सौभाग्य की सराहना करते हुये श्रीकपिल भगवान की स्तुति किया। श्रीकर्दमजी ने पुनः पूर्व प्रतिज्ञा का स्मरण कर श्रीकपिल भगवान की आज्ञा लेकर उनकी परिक्रमा की और प्रसन्नता पूर्वक वन को चले गये। वहा परम भक्तिभाव के द्वारा सर्वान्तिर्यामी सर्वज्ञ श्रीवासुदेव में चित्त लगाकर उन्होने परम पद प्राप्त कर लिया। श्रीकपिलदेव भगवान-भी माता देवहूति को तत्व-ज्ञान का उपदेश देकर गङ्गा-सागर-सङ्गम पर जाकर भजन में प्रवृत्त हो गये। देवहूतिजी भी भगवान के श्रीचरणकमलो का अनुचिंतन करती हुई भगवद्धाम को प्राप्त हुईं।

श्रीअत्रिजी—'अक्ष्णोऽत्रिः' (भा०) अर्थात् श्रीब्रह्माजीके नेत्रों से श्रीअत्रिजी का प्रादुर्भाव हुआ। श्रीब्रह्माजीके द्वारा सृष्टि रचना का आदेश मिलने पर श्रीअत्रिजी अपनी सहधर्मिणी सतीशिरोमणि श्रीअनसूयाजी के साथ तप करने के लिये ऋक्ष नामक कुलपर्वत पर गये और वहां जाकर प्राणायाम के द्वारा चित्त को वश मे करके सौ वर्ष तक केवल वायु पीकर, एक पैर से खड़े होकर कठोर तप करते रहे। इनकी एक मात्र अभिलाषा थी कि सम्पूर्ण जगत के ईश्वर प्रसन्नहोकर मुझे अपने ही समान सन्तान प्रदान करें। इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) इनके आश्रम पर आये। मुनि ने विह्वल होकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर अति मधुरवाणी से उनकी स्तुति की तत्पश्चात् जिज्ञासा की कि—मैंने तो केवल जगदीश्वर भगवानका ही चिन्तन किया था, फिर आप तीनों ने यहाँ पधारने की कृपा कैसे की ? मैंने जिनको बुलाया था, वे आपमें से कौन हैं ? श्रीअत्रिजीके इन सरल वचनोंको सुनकर त्रिदेव हँसकर बोले—प्रिय महर्षे ! तुम जिस जगदीश्वर का ध्यान करते हो, वह हम तीनों ही हैं। तुम्हारे यहाँ हमारे ही अंश स्वरूप तीन जगद्विख्यात पुत्र उत्पन्न होंगे और तुम्हारे सुन्दर यशका विस्तार करेंगे। कालान्तर मे ब्रह्माजीके अंशसे चन्द्रमा, विष्णुभगवानके अंशसे योगवेत्ता दत्तात्रेयजी और शिवजीके अंशसे दुर्वासाजी अत्रिजी के पुत्र रूप मे प्रगट हुये। श्रीअत्रिजी ब्रह्मज्ञानियोमें श्रेष्ठ माने जाते हैं। (भा०)

एक बार देवासुर संग्राममे राहुने अपने वाणोंसे चन्द्रमा और सूर्यको घायल कर दिया था जिससे सब ओर घोर अन्धकार छा गया था। फिर तो अन्धकार में फँसे हुये देवता लोग कुछ सूझ न पड़ने के कारण एक बारगी बलवान दैत्योके हाथसे मारे जाने लगे। तब वे भागकर तपोधन-श्रीअत्रिमुनिकी शरण मे जाकर अपनी स्थिति निवेदन किये। देवताओ की प्रार्थना पर अत्रिजीने अपनी तपस्यासे उस युद्ध भूमि मे प्रकाश फैलाया और सम्पूर्ण जगत का अन्धकार दूर किया उन्होंने दिनमें सूर्य बनकर एव रात्रिमें चन्द्रमा बनकर आलोक प्रदान किया। इतना ही नही, इन्होंने अपने प्रचण्ड तेज से दैत्यों को दग्धकर दिया, जिससे देवता बडी सुगमता पूर्वक उन पर विजय पा गये। श्रीअत्रिजीने चन्द्रमा और सूर्य को अपना तेज देकर तेजोमय बनाया (म० भा०)

वनवास काल में श्रीरामजी ससीय एवं सानुज श्रीअत्रिजी के आश्रम पर भी गये थे। यथा—

चौ०—अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयऊ। सुनत महामुनि हर्षित भयऊ॥
पुलकित गात अत्रि उठिधाये। देखि राम आतुर चलि आये॥
करत दण्डवत मुनि उर लाए। प्रेम वारि द्वौ जन अन्हवाए॥
देखि राम छवि नयन जुड़ाने। सादर निज आश्रम तब आने॥
करि पूजा कहि बचन सुहाये। दिये मूल फल प्रभु मन भाए॥

सो०—प्रभु आसन आसीन, भरि लोचन सोभा निरखि।
मुनिवर परम प्रवीन, जोरि पानि अस्तुति करत॥ (रा०च०मा०)

स्तुति करनेके बाद श्रीअत्रिजीने भगवान श्रीरामजीसे यह वर मांगा—'विनती करि मुनि नाइ-सिर, कह करजोरि वहोरि। चरनसरोरुह नाथ जनि कवहुं तजै मति मोरि॥' (रामा०) श्रीअनसूयाजीने श्रीजानकीजी को अपने अमोघ आशीर्वादके साथ-साथ दिव्य वस्त्राभूषणोपहार प्रदान किये तथा पाति-व्रत्य धर्म की शिक्षा दी। (श्रीअनसूयाजीका विशेष चरित देखिये छप्पय ६६ में) जब भगवान श्रीरामजी इनसे अन्यत्र जानेके लिये विदा माँगे तो इनको वियोग व्याप गया। यथा—'केहि विधि कहौ जाहु अब स्वामी। कहहु नाथ तुम अन्तरजामी॥ अस कहि प्रभु विलोकि मुनि धीरा। लोचन जल बह पुलक शरीरा॥' इनके भावको देखकर भगवान श्रीरामजी मनही मन बहुत प्रसन्न हुये॥ श्रीअत्रि आदि ऋषियों के भावसे भावित होकर श्रीरघुनाथजी श्रीचित्रकूट में सदा-सर्वदा निवास करते हुये भक्तों को अभिमत प्रदान करते रहते हैं। यथा—'चित्रकूट सबदिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत। रामनाम जप जापकहि तुलसी अभिमत देत॥' (दो०)

अत्रि-अनसूयाका आध्यात्मिक अर्थ—अ+त्रि=अत्रि अर्थात् त्रिगुणातीत, जीवही अत्रि है और अत्रि की ही सहधर्मिणी अनसूया (अन्+असूया=अदोष दर्शिनी वृत्ति यथा 'न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि। नान्यदोषेषु रमते सानसूयाप्रकीर्तिता॥' (अत्रिस्मृति) अर्थ—जो गुणियों के गुण का खण्डन नही करता, किसीके थोड़े से भी गुणों की प्रशंसा करता है, दूसरे के दोष देखने में मन नहीं लगाता है, उसके इस भावको अनसूया कहते हैं। अर्थात् त्रिगुणातीत पुरुषमें ही अनसूया वृत्ति का उदय होता है और जो स्वयं अत्रिहोकर अनसूया से युक्त हैं वहाँ भगवान स्वतः जाते है। उसके यहाँ भगवान जगत्पिता होकर भी उसके पुत्र बन जाते हैं।

श्रीऋचीकजी तथा श्रीयमदग्निजी—देखिये परशुरामावतार छप्पय ५ और राजा गाधिका प्रसङ्ग छप्पय १२॥

श्रीगर्गजी—'गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां सुमहातपाः॥' (भा०) अर्थ—श्रीगर्गाचार्य जी यदुवंशियोंके पुरोहित थे और थे बड़े तपस्वी। श्रीवसुदेवजीने इन्हें अपने पुत्रों का नाम करण संस्कार करने के लिये गोकुल भेजा था। श्रीगर्गाचार्यजी का दर्शनकर श्रीनन्दवावाके हर्षका ठिकाना नहीं रहा। उनके चरणों में साष्टाङ्गदण्डवत् प्रणामोपरान्त श्रीनन्दजीने विधि पूर्वक आचार्य चरण का पूजन किया और उनके शुभागमनसे अपना अहोभाग्य माना। तत्पश्चात् अपने दोनों बालकों को मुनिके चरणोंमें प्रणाम कराकर इनका नामकरणादि संस्कार करने की प्रार्थना की। मुनि तो इसी निमित्त आये ही थे।

परन्तु कंस को कहीं यह आभास न हो जाय कि वसुदेवजीके पुरोहित ने नन्दात्मज का समयोचित संस्कार कराया है अतः हो न हो, ये वसुदेव पुत्र ही हैं, वह दुष्ट इनके अनिष्ट का उद्यम करने लगेगा, अतः श्रीगर्गजी ने एकान्त गोशाला में स्वस्तिवाचन पूर्वक बालकों का द्विजाति समुचित संस्कार कर दिया। इसी व्याज से श्रीगर्गाचार्यजी ने श्रीवलराम-कृष्ण के ऐश्वर्य का भी वर्णन कर दिया जिससे कि आगेकी लोकोत्तर लीलाओं मे किसी प्रकार का सन्देह न हो। भगवानके अतिमानुषी चरित्रों को देखकर श्रीगर्गजीके वचनो को याद कर लेने पर सहज ही सन्देह का समाधान हो जाता था।

श्रीगर्गजीका श्रीकृष्ण लीला में बड़ा महत्व पूर्ण योगदान रहा है। समस्त नन्दव्रज कुमारिकायें श्रीकृष्ण को ही पतिरूप मे प्राप्त करने के लिये श्रीकात्यायिनी देवी का पूजन कर रही थी। परन्तु उनके माता-पिता तो लोक व्यवहार के अनुसार अपनी कन्याओं को अन्यत्र ही व्याहना चाहते थे। बड़ी कठिन समस्या थी। श्रीगर्गाचार्यजी ने इसको बड़ी बुद्धिमानीसे सुलझाया। जिस समय श्रीब्रह्माजी मोहवश गोपबालक-वत्सों को हर ले गये थे और स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ही अनेक-अनेक वालक और वत्स बनकर विविध विनोद कर रहे थे, उस समय श्रीगर्गाचार्यजी ने लीला के अनुकूल परिस्थिति विचार कर व्रजमें आकर सबको यह चेतावनी दिया कि ग्रहस्थिति के अनुसार अगले बारह वर्षो तक विवाह मुहूर्त नहीं मिलने वाले हैं अतः इसी वर्ष कुमार-कुमारिकाओका विवाह संस्कार सम्पन्न हो जाना चाहिए। सब लोगों ने श्रीगर्गजी की बात मानकर उपर्युक्त वरों के साथ अपनी कन्याओंका विवाह कर दिया। जो कि वस्तुतस्तु अनेक रूप में श्रीकृष्ण ही थे। इस प्रकार सभी गोपियां श्रीकृष्ण की स्वकीया ही हुईं। श्रीगर्गाचार्यजी ने स्वरचित 'गर्ग संहिता' में भगवान श्रीकृष्णकी अति मधुर रसमयी लीलाओं का बड़ी ही मधुरता के साथ वर्णन किया है।

श्री गौतमजी—शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता के मूर्तिमान स्वरूप महर्षि गौतमजी की भगवान में अन्यतम निष्ठा थी। कहते है कि एकवार श्रीब्रह्माजी ने एक अत्यन्त रूपवती कन्या उत्पन्न की, जिसका नाम अहल्या रक्खा। समस्त देवगण उसके रूप पर मोहित थे। यह देख ब्रह्माजी ने कहा कि जो सबसे पहले तीनों लोकोंकी परिक्रमा करके आवेगा उसको यह लोक सुन्दरी कन्या व्याही जायेगी। इन्द्रादि समस्त देवता अपने-अपने वाहनो पर चले। गौतमजी ने अपने शालग्राम भगवान की परिक्रमा करली और ब्रह्माजी के पास गये। इधर देवगण जहां जाते वहां आगे महर्षि गौतम को देखते थे। सबने इनका आगे होना स्वीकार किया। अतः वह कन्या गौतमजीको मिली।

अध्यात्म रामायण मे ऐसा भी प्रसङ्ग मिलता है कि ब्रह्माजी ने इस कन्या को गौतमजी के पास धरोहर रक्खी। बहुत काल बीत जाने पर जब ब्रह्माजी पुनः इनके पास आये तो इनका परम वैराग्य देखकर, इनके ब्रह्मचर्य से सन्तुष्ट होकर वह लोक सुन्दरी सेवा परायणा कन्या परम तपोधन गौतमजी को ही दे दी। यथा-'तस्मै ब्रह्मा ददौ कन्यामहल्यां लोकसुन्दरीम्। ब्रह्मचर्येण सन्तुष्टः शुश्रूषण परायणाम्॥' (अ०रा०) इन्द्रको यह बहुत बुरा लगा। क्योंकि वह तो उसे अपनी ही सोचे बैठे थे। समझते थे कि यह हमें छोड दूसरे को नहीं मिल सकती क्योंकि हम देवराज हैं। उसके रूपलावण्य पर मुग्ध होकर वह नित्य प्रति उसके साथ रमण करने का अवसर ताकते रहते थे।

एक दिन मुनि के कहीं बाहर चले जाने पर वह गौतमजी का रूप धारण कर आश्रम में आये। वाल्मीकि रामायण मे ऐसा भी वर्णन है कि मुनिवेश धारी इन्द्र ने अहल्या से कहा कि प्रार्थी ऋतुकालकी प्रतीक्षा नही करता, मैं तुम्हारे साथ संगम चाहता हूँ अहल्या ने समझलिया कि यह मुनि के वेष में इन्द्र

है, फिर भी उस मूर्खा ने देवराज के प्रति कुतूहल होने के कारण उसने उनकी बात स्वीकार की। यथा— **मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन। मतिं चकार दुर्मेधा देवराज कुतूहलम् ।।** पुन कृतार्थ मनसे उसने इन्द्र से कहा—हे देवराज ! मैं कृतार्थ हुई। आप शीघ्र यहां से चले जाइये। महर्षि गौतम से मेरी और अपनी भी सब तरह से रक्षा करना। यथा—कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ।। (वा०रा०) अहल्या के साथ समागम कर वे शीघ्रतासे वहांसे चल दिये। आश्रमसे शीघ्र बाहर निकल जाने की चिन्ता में इन्द्र अपना रूप धारण करने को भूल गये। इसी समय मुनि भी वहां लौट आये। आश्रम से अपना रूप धारण किये हुए पुरुष को बाहर निकलते देख मुनिने कुपित होकर पूछा—रे दुष्टात्मन् ! रे अधम ! मेरे रूपको धारण करने वाला तू कौन है ? सच सच बता, नही तो मैं तुझे अभी भस्म कर दूंगा। तब इन्द्रने कहा—मैं कामके वशीभूत देवराज इन्द्र हूं, मेरी रक्षा कीजिये। मैंने बड़ा घृणित कार्य किया है। तब महर्षि ने क्रोध से उनको शाप दिया कि हे दुष्टात्मन् ! तू योनि लम्पट है, इसलिये तेरे शरीर मे सहस्र भग हो जायँ।

देवराज को शाप देकर मुनि आश्रम में आए। देखा कि अहल्या भय से कांपती हुई हाथ जोड़े खड़ी है। महर्षि ने उसको शाप दिया कि—दुष्टे ! तू मेरे आश्रम में शिला में निवास कर। यहां तू निराहार रहकर आतप, वर्षा और वायु को सहती हुई तपस्या कर और एकाग्रचित्त से श्रीरामका ध्यान कर। यह आश्रम सब जीव जन्तुओं से रहित हो जायगा। हजारों वर्षो के बाद श्रीराम जब आकर तेरी आश्रय भूतशिला पर अपने चरण रक्खेंगे तब तू पाप मुक्त हो जायगी और उनकी पूजा स्तुति आदि करने पर तू शाप से मुक्त होकर फिर मेरी सेवा पायेगी। शाप देकर मुनि हिमालय के उस शिखर पर चले गये जहां सिद्ध और चारण निवास करते है। जब भगवान श्रीरामजी महर्षि विश्वामित्रजी के साथ मिथिलापुरी को जा रहे थे उस समय—

चौ०— आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जन्तु तहँ नाहीं ।।
पूछा मुनिहि शिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कहा विशेषी ।।
दो०— गौतम नारी शापवस, उपल देह धरि धीर।
चरण कमल रज चाहती, कृपा करहु रघुवीर ।।
छ०— परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तप पुंज सही·····।।(गा०च०मा०)

सत्योपाख्यान में वर्णन आया है कि उस समय गौतमजी भी वहां आ पहुँचे और भगवान श्रीराम जी की स्तुति कर अहल्या को साथ लेकर चले गये। यथा— 'संस्तूय रघुनाथं सा पत्या सह गता पुनः ।।'

श्रीगौतमजी न्यायशास्त्र के प्रवर्तक ऋषि हैं। कहा जाता है कि महर्षि वेदव्यासने इनके सिद्धांत का खण्डन किया था इसलिये इन्होंने उनका मुख न देखने की प्रतिज्ञा की थी। बाद में जब वेदव्यासजी ने इनको प्रसन्न किया तब इन्होने पैरमें नेत्र उत्पन्न करके उनको देखा और अपनी प्रतिज्ञा भी दृढ़ रक्खी। इसी कारण से इनका एक नाम अक्षपाद भी पड़ गया। (शब्द कोश)

एक समय बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा। ऋषियोंको अन्न जलकी बड़ी चिन्ता हुई। सब संत्रस्त होकर गौतमऋषिके आश्रमपर जाकर ठहरे। जब सुसमय हुआ तब वे लोग अपने-अपने आश्रमोंको जाना चाहे। परन्तु परमसन्तसेवी महर्षि गौतमने जाने नहीं दिया। वरञ्च वहीं निवास करने को कहा। तब

उन ऋषियोंने आपसमें सम्मत करके एक मायाकी गाय रचकर मुनिके खेत में खड़ी कर दी और स्नान करके मुनिके आते ही बोले कि गाय खेत चरे जाती है। इन्होने जैसे ही हांकने को हाथ उठाया, वह माया की गाय गिरकर मर गई। तब वे सब इनको गोहत्याका दोष लगाकर वहांसे चलते भये। मुनिने ध्यान धरकर देखा तो सब चरित्र जान गये और यह शाप दिया कि तुम लोग जहां जाना चाहते हो,वह देश नष्ट भ्रष्ट हो जायगा। मुनिके द्वारा दण्डित उन ऋषियों का स्थान ही शापके कारण दण्डकारण्य हो गया। जब श्रीरामजी वहां पदार्पण किये तो उस शाप की निवृत्ति भई। यथा—'दण्डक पुहुमि पांय परसि पुनीत भई उकठे विटप लागे फूलन फरन ॥ (गी०)

श्रीव्यास–शिष्य—जैसे मणियोंके समूहमे से विभिन्न जातिकी मणियाँ छाँटकर अलग अलग करदी जाती हैं। वैसे ही भगवान वेद व्यासने मन्त्रसमुदायमेसे भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके अनुसार मन्त्रों का संग्रह करके उनसे ऋग्, यजुः साम और अथर्व—ये चार सहिताएँ बनायी और अपने चार शिष्यों को बुलाकर प्रत्येकको एक-एक सहिताकी शिक्षा दी। उन्होने 'वह् वृच' नामकी पहली ऋक् सहिताको पैलको, 'निगद' नाम की दूसरी यजु संहिता वैशम्पायनको, सामश्रुतियों की 'छन्दोग संहिता' जैमिनि को और सुमन्तु को 'अथर्वाङ्गिरस संहिता' का अध्ययन कराया। समस्त पुराणों का सूतजी को एवं श्रीमद्भागवतका श्रीशुकदेवजीको अध्ययन कराया। आगे चलकर इन शिष्योके शिष्य-प्रशिष्य वहुत हुये ॥

श्रीलोमशजी—ये चिरञ्जीवी महर्षि हैं। शरीर पर वहुत-वहुत रोम होनेसे इनको लोमश कहते है। द्विपरार्ध व्यतीत होनेपर जब ब्रह्माकी आयु समाप्त होती है तो इनका एक रोम गिरता है। यद्यपि ब्रह्माजीकी आयु वहुत वड़ी है। उनका एक कल्प (हजार चतुर्युगी) का दिन होता है और इतनी ही वड़ी रात्रि भी होती है। इसप्रकार तीस दिन का महीना, और बारह महीने के साल के हिसाव से ब्रह्माजीकी सौवरस की आयु है, लेकिन श्रीलोमशजीकी दृष्टिमे मानो रोज-रोज ब्रह्माजी मरते ही रहते हैं। एक वार तो अपनी दीर्घायुष्यता से अकुलाकर इन्होने भगवान से मृत्युका वरदान मांगा। प्रभुने उत्तर दिया कि यदि 'जल-ब्रह्म' की वा ब्राह्मणकी निन्दा करो तो उस महापातक से आप भले ही मर सकते हो, अन्यथा आपके यहाँ कालकी दाल नही गलने वाली है। इन्होने कहा-कि अच्छा! आश्रम में जाकर मैं ऐसा ही करूँगा। मार्गमे इन्होंने थोडा सा जल देखा, जो कि शूकर के लोटने से अत्यन्त गँदला हो गया था। वही पर इन्होने देखा कि एक स्त्री, जिसके गोदमे दो वालक थे, पहले एक वालक को स्तनपान करा-कर, फिर अपना स्तन धोकर तव दूसरे वच्चे को स्तन पिला रही है। श्रीलोमशजीने इसका कारण पूछा तो उसने कहा कि यह एक पुत्र तो ब्राह्मणके तेजसे है, और वह दूसरा नीच जाति के मेरे पति से जन्मा है। अत एव मैंने ब्राह्मणोद्भव वालकको धोये स्तनका दूध पिलाया है।

श्रीलोमशजीका नियम था कि वह नित्य ब्राह्मणका चरणोदक लेते थे। आज उन्होंने अभी नही लिया था। दूसरा जल वा दूसरा ब्राह्मण मिला नहीं, अतः उन्होने उसीजलसे उसी ब्रह्मवीर्य्यसे उत्पन्न वालकका चरणामृत ले लिया। उसी देशकालमें प्रभु प्रकट हो गये और वोले कि तुमने जव ऐसे जलको भी आदर दिया और ऐसे ब्राह्मणके चरण सरोज की भी भक्ति की तो तुम भला जल वा विप्रके निन्दक कव हो सकते हो। मैं तुमसे अति प्रसन्न हूँ और आशीर्वाद देता हूँ कि विप्र प्रसाद से तुम चिरजीव ही वने रहोगे। तभी तो कहा गया है कि—'हरितोषन व्रत द्विज सेवकाई॥' 'पुण्य एक जग महँ नहि दूजा। मन क्रम वचन विप्रपद पूजा॥' (रामा०)

श्रीलोमशजी इतने दीर्घायु होकर भी शरीरकी क्षणभङ्गुरता का निरन्तर अनुसन्धान करते हुयें सर्वथा अपरिग्रह पूर्वक सदा-सर्वदा हरिचिन्तन में तल्लीन रहते हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराणमें एक कथा आती है कि एक बार देवराज इन्द्रने अपनेको अमरमानकर एक वड़ा विशाल महल बनवाना प्रारम्भ किया। वेचारा विश्वकर्मा पूरे सौ वर्ष तक करनी-वसूली चलाता रहा परन्तु तब भी जब निर्माण कार्यका पर्यवसान उसे नही दीख पड़ा तो घबराकर वह मन ही मन ब्रह्माजीकी शरण गया। ब्रह्माजीने भगवानसे प्रार्थना किया। भगवान एक ब्राह्मण बालकका रूप धारणकर इन्द्रके पास पहुँचे और पूछे–देवेन्द्र ! आपके इस निर्माणकार्यमें कितने विश्वकर्मा लगे है और कब तक यह पूर्ण होगा ? इन्द्रतो आजतक एक ही विश्वकर्माको जानते थे। यह प्रश्नसुनकर कुछ चकराकर पूछे—क्या विश्वकर्मा भी कई है ? तब बालकरूपधारी भगवानने इन्द्र से सृष्टि का आनन्त्य वर्णन करते हुये नीचे जाते हुये दो सौ गजलम्बे चौड़े चीटोके समुदायकी ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया और कहा कि ये सब पहले कभी इन्द्र हो चुके है। पुण्य क्षीण होने पर अब इस गति को प्राप्त है। इन्द्र के पाँवके नीचेकी धरती खिसक गई। भगवान यह कह ही रहे थे कि महर्षि लोमश भी सिरपर एक चटाई रक्खे वहाँ आ पहुँचे। वस्तुतस्तु भगवानने उनका स्मरण किया था। इन्द्रने यथोचित सत्कार किया। तदनन्तर भगवानने जब मुनिसे सिरपर चटाई रखने एवं वक्षः स्थल पर के रोमरिक्त स्थान के रहस्य को जानने की इच्छा की तो मुनिने वड़ी शान्ति पूर्वक कहा–जीवन क्षणभंगुर है। इस थोड़ी सी आयु के लिये संग्रह–परिग्रह तथा कुटिया आदि बनाने की कौन खटपट करे। यह चटाई ही मुझे पर्याप्त छाया दे देती है। मैंने अपनी आँखों से नजाने कितने इन्द्र और ब्रह्मा का विनाश देखा है। इनकी मृत्यु पर मेरा एक रोम गिर जाता है। यही विचारकर, समस्त जगत्प्रपञ्च से मुँह मोड़कर, भगवन्नामका एक मात्र सहारा लेकर, पर्यटन करता रहता हूँ। इन्द्र ने निर्माण कार्य बन्द कर दिया।

एक बार श्रीलोमशजीने श्रीनारदजीसे पूछा—आप कहाँ से आ रहे हैं। श्रीनारदजीने कहा—मैं नित्यप्रति श्रीअयोध्या जाता हूँ भगवान श्रीरामका दर्शन करने। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने भी लिखा है—'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा।। दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं। देखि नगर विराग विसरावहिं।।' (रामा०) श्रीलोमशजी कागभुसुण्डिजी की तरह श्रीनारदजी कोभी ब्रह्मज्ञानका उपदेश करने लगे। श्रीनारदजीको यह उपदेश नही रुचा। भगवान से शिकायत किये तब भगवानने इन्हें भी श्रीमार्कण्डेयजीकी तरह मायाका दर्शन कराया। ये माया के प्रलयपयोधिमें डूबतेउतराते वैकुण्ठमें पहुँचकर भगवान विष्णुसे रक्षा की प्रार्थना किये तो भगवान विष्णुने कहा—हम तो ऐक ब्राह्माण्ड के पालक हैं और यह माया अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक श्रीरामजी की है अतः आप श्रीरामजी की शरण ग्रहण करे। जिस भी ब्रह्माण्डमे लोमशजी पहुँचे वहाँ यही आदेश हुआ, तव भटकतेभटकते जब श्रीअयोध्या पहुँचे तो इन्होंने प्रथम श्रीसरजूजी मे स्नान किया तव श्रीरघुनाथजीका दर्शन हुआ। 'त्राहि त्राहि' कहकर चरणोंमें पड़े तव मायासे छूटे। फिर तो इन्होने खूब श्रीरामजीका यश गाया। जो लोमशरामायणके नामसे प्रसिद्ध है। श्रीरूपकलाजीने एक बार श्रीकृष्ण की बाललीला देखकर मोहित होनेपर तथा एक बार स्वेच्छा से मायाका प्रभाव देखने की इच्छा करने पर माया दर्शनका प्रसङ्ग वर्णन किया है।

श्रीभृगुजी—'भृगुस्त्वचि' (भा०) अर्थात् श्रीब्रह्माजीकी त्वचा से श्रीभृगुजी का जन्म हुआ। ये इक्कीस प्रजापतियोंमें एक प्रजापति है, सप्तर्षिमण्डल के एक ऋषि हैं, परम तपस्वी हैं। इन्होने एक बार त्रिदेवोंकी परीक्षाली-थी। देखिये मूल मङ्गलाचरण दोहा ३।। तथा एक वार भगवान विष्णु को शाप दिया था। देखिये क० २५।।

श्रीदाल्म्यजी—विप्रवर श्रीदाल्म्यजीने भगवान श्रीदत्तात्रेयजीसे भक्ति-योग की शिक्षा पाई थी इनकी साधनासे सन्तुष्ट होकर भगवान श्रीहरिने दर्शन दिया था। इन्होंने धर्म-ज्ञान-वैराग्य-भक्ति प्रतिपादक, संहिता-ग्रन्थका प्रणयन किया था जिसे 'दाल्भ्य संहिता' कहते हैं। इनकी परम भागवतों में गणना की जाती है। यथा—

प्रह्लादनारदपराशर पुण्डरीक व्यासाम्वरीषशुकशौनक भीष्म 'दाल्म्यान्'।
रुक्माङ्गदार्जु नवशिष्ठविभीषणादीनेतानहं परमभागवतान्नमामि॥

श्रीअङ्गिराजी—'अङ्गिरा मुखतो' (भा०) अर्थात् श्रीब्रह्माजीके मुखसे इनकी उत्पत्ति हुई है। ये ब्रह्माजीके सभासद हैं। इन्हींके पुत्र वृहस्पतिजीका देवताओंने पौरोहित्यके पदपर वरण किया था। देवर्षि नारदजी के उपदेश से भक्ति तत्व का ज्ञान प्राप्तकर श्रीअङ्गिराजी अलकनन्दागङ्गाके तटपर नित्य स्वाध्याय, जप, तपादि साधनों द्वारा भगवान श्रीहरिकी आराधना करते रहते हैं। एक बार इन्होने स्वर्ग में जाकर अथर्ववेदके मन्त्रोसे देवेन्द्रका पूजन किया था। इससे भगवान इन्द्रने प्रसन्न होकर इनको यह वर दिया कि—ब्रह्मन्! आप इस अथर्व वेदमें अथर्वाङ्गिरसनामसे विख्यात होगे और आपको यज्ञ भाग भी प्राप्त होगा। इस प्रकार ये एक वैदिक ऋषि एवं यज्ञिय देवता हैं। (म० भा०)

इन्होने महर्षि शौनक को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था। इनके विचार से यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचन से, न वुद्धि से और न वहुत सुनने से ही प्राप्त हो सकता है। यह कृपा करके जिसको स्वीकार कर लेता है, उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। क्योकि यह परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है। यथा—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न वहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु ं स्वाम्॥' (मुण्डक०) आपका कथन है कि कार्य कारण स्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तम को जान लेने पर इस जीवात्मा के हृदय की गाँठ खुल जाती है। सम्पूर्ण संशय मिट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। यथा—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशया'। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥' (मुण्डक०)

श्रीश्रृङ्गी ऋषिजी—इनके जन्मकी कथा इस प्रकार से है कि एक बार विभाण्डक मुनि एक कुण्डमें समाधि लगाये वैठे थे। उसी समय उर्वशी अप्सरा उधर से आ निकली। उसे देखकर उनका वीर्य स्खलित हो गया, जिसे जलके साथ एक प्यासी मृगी पी गई। उस मृगी से इनका जन्म हुआ। माता के समान इनके सिरपर भी एक सीग था अतः इनका नाम ऋष्यश्रृङ्ग पड़ा। ये सदा वनमें अपने पिता विभाण्डक के पास रहनेके कारण किसी स्त्री वा पुरुष को नही जानते थे। इस प्रकार इन्हे ब्रह्मचर्य पूर्वक रहते, अग्नि और पिताकी सेवा करते वहुत काल वीत गया। उसी समय अंगदेशमें रोमपाद नामक प्रतापी राजा हुये। उनके राज्यमें वडा भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। प्रजा भूखों मरने लगी। राजाने सुविज्ञ वेदज्ञ ब्राह्मणोसे अपने कर्मोका, जिनके कारण राज्य मे वर्षा नही हो रही है, प्रायश्चित्त पूछा। उन ब्राह्मणोंने राजा को यह उपाय वताया कि आप जैसे वने तैसे विभाण्डकमुनिके पुत्र ऋष्य श्रृङ्गको यहाँ ले आइये और उनका सत्कार करके यथा विधि उनके साथ अपनी कन्या शान्ताका विवाह कर दीजिये।

राजा चिन्तित हुये कि ऋषिको कैसे यहाँ लाया जाय? वहुत सोच विचारकर उन्होने अपने पुरोहित और मन्त्रियोंसे कहा कि आप लोग जाकर ऋषि कुमार को ले आवें। परन्तु उन लोगो ने

निवेदन किया कि हम लोग वहाँ जानेमें विभाण्डक ऋषिके शापसे डरते हैं। अतः स्वयं न जाकर किसी अन्य उपाय से उनको यहाँ ले आयेंगे जिससे हमको दोष न लगे। मन्त्री और पुरोहितोंने निर्विघ्न कृत कार्य होने का यह उपाय बताया कि रूपवती वेश्याएँ सत्कार पूर्वक भेजी जायँ। वे अपने कौशलसे ले आवेंगी। राजाने वैसा ही उपाय करने को कहा। वेश्याएँ भेजी गईं। आश्रमके निकट पहुँचकर वे धीर ऋषि पुत्रके दर्शन का प्रयत्न करने लगीं। ऋष्य शृङ्गने आजतक स्त्री, पुरुष, नगर वा राज्यके अन्य जीवोको कभी नहीं देखा था। दैव योग से वे एकदिन उस जगह पहुँचे जहाँ वेश्याएँ टिकी हुई थी। तब मधुर स्वरसे गाती हुई वे सब उनके पास आकर बोलीं कि आप कौन है? और किस लिये इस निर्जन वनमें अकेले फिरते हैं। उन्होने अपना पूरा परिचय दिया और उनको अपने आश्रमपर लिवाले जाकर अर्घ्य—पाद्य, फल—मूलसे उनका सत्कार किया। वेश्याओं ने भी उनको तरह-तरह की मिठाइयाँ यह कहकर खिलाई कि ये हमारे यहाँ के फल हैं, इनको चखिये। फिर उनका आलिङ्गनकर वे विभाण्डकजीके भयसे झूठ—मूठ व्रतका बहाना बनाकर वहाँ से चलीं आयी। वेश्याओंके चले जाने से ऋष्यशृङ्गजी उदास हो गये।

दूसरे दिन वे फिर वहाँ पहुँचे, जहाँ पहले दिन मनको मोहने वाली उन वेश्याओसे भेंट हुई थी। इनको देखकर वेश्याएँ प्रसन्न हुई और इनसे बोली कि आइये, आप हमारा भी आश्रम देखिये, यहाँ की अपेक्षा वहाँ इससे भी उत्तम फल मिलेंगे और अधिक उत्तम सत्कार होगा। ये वचन सुनकर वे साथ चलने को राजी हो गये और वेश्याएँ उनको अपने साथ ले आयी। उन महात्मा के राज्य में आते ही सहसा जलकी बहुत वर्षा हो गयी,जिससे प्रजा सुखी हुई। वर्षा होने से राजा जान गये कि मुनि आ गये। राजाने उनके पास जाकर दण्डवत् प्रणामकर उनका अर्घ्य—पाद्यादि द्वारा यथा विधि पूजन किया और उनसे वर मांगा कि वे एवं उनके पिता छलसे लाये जानेके कारण राजापर कोप न करे। फिर राजा उन्हें अपने रनिवासमें ले गये और अपनी पुत्री शान्ताका विवाह उनसे कर दिये। ऋष्य शृङ्ग वही शान्ताके साथ रहने लगे। (वा० रा०)

अङ्गनरेश रोमपादजी श्रीअयोध्यानरेश महाराज श्रीदशरथजीके मित्र थे। श्रीवशिष्ठजीकी आज्ञा के अनुसार राजा दशरथ पुत्रेष्टियज्ञ कराने के लिये ऋष्यशृङ्ग को लेने अङ्गदेश गये। श्रीरोमपाद जीने मित्रभावसे उनका सत्कार किया और उनके अभिप्राय को जानकर ऋष्यशृङ्ग से शान्ता सहित उनके साथ जानेका अनुरोध किया। वे राजी हो गये और उनके साथ श्रीअयोध्या आकर मङ्गलमुहूर्तमें पुत्रेष्टियज्ञ का शुभारम्भ किया गया, जिसमें अग्निदेव साक्षात् प्रकट होकर दिव्य चरु प्रदान किये जिसको पाकर रानियोंने गर्भ धारण किया। यथा—'शृङ्गी रिषिहि वसिष्ठ बोलावा। पुत्र काम सुभ यज्ञ करावा॥ भगति सहित मुनि आहुति दीन्हे। प्रगटे अगिनि चरूकर लीन्हे॥' (रा० च० मा०)

श्रीमाण्डव्यजी—देखिये श्रीविदुरजीका प्रसङ्ग छप्पय ६॥

श्रीविश्वामित्रजी—जन्म प्रसङ्ग—देखिये छप्पय ५ परशुरामावतार॥ तप करके ब्रह्मर्षिपद पाने की प्रवृत्ति—देखिये इसी छप्पय में श्रीवशिष्ठजीका प्रसङ्ग। ब्रह्मतेजकी प्राप्ति के लिये विश्वामित्रजीने एक हजार वर्ष तक कठिन तप किया तब ब्रह्माजीने आकर कहा कि इस तपस्याके प्रभावसे हम तुम्हें राजर्षि समझते हैं। ये पुनः तपमें जुट गये। परन्तु अबकी बार का तप राजा त्रिशंकुको सशरीर स्वर्ग भेजने में खर्च हो गया। अयोध्यानरेश त्रिशंकुने सदेह स्वर्ग जाने की कामना से गुरु वशिष्ठ से यज्ञ

करानेको कहा। परन्तु इसे विधि-विधान के प्रतिकूल जानकर वशिष्ठजीने अस्वीकार कर दिया। तब त्रिशंकु श्रीवशिष्ठपुत्रोंके पास गये, परन्तु वे भी इन्कार कर गये। तब राजाने किसी अन्य पुरोहित को वरण करने की धमकी दी तो वशिष्ठ पुत्रोंने कुपित होकर राजाको चाण्डाल हो जाने का शाप दे दिया। अब चाण्डाल भाव को प्राप्त राजा त्रिशंकु श्रीविश्वामित्रजीकी शरण गये। विश्वामित्रजीने राजाको आश्वासन देकर उनका यज्ञ कराने के लिये ऋषि-मुनियों को आमन्त्रित किया।

श्रीवशिष्ठजीके पुत्र एवं महोदय नामके ऋषिने इनका निमन्त्रण अस्वीकार किया तो ये शाप देकर उन्हें भस्मकर दिये और आगत ऋषियों द्वारा यज्ञ आरम्भ कर दिये। परन्तु विधि पूर्वक अनुष्ठान होने पर भी देवता यज्ञ भाग लेने के लिये नही आये। तब ये अपने तपोबल से त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग भेजने लगे। परन्तु त्रिशंकु की अनधिकार चेष्टा पर खीझकर देवराज इन्द्र ने उसे स्वर्ग से ढकेल दिया। तब विश्वामित्र जी राजाको अन्तरिक्षमें ही रोककर अपने तपोबल से दूसरे स्वर्ग की ही सृष्टि करने लगे। यह देखकर ऋषि-मुनि-देवताओंने आकर अनुनय विनयकर इनको इस कार्य से निवृत्त किया। विश्वामित्रजीको अपने इस तपक्षय से बड़ी ग्लानि हुई और वे उस स्थान को छोड़कर पुष्कर तीर्थमें जाकर तप करने लगे। उन्हीं दिनों राजा अम्बरीषका यज्ञियपशु इन्द्र द्वारा चुरा लिये जानेपर पुरोहितोंने जबउसके प्रतिनिधि रूपसे किसी पुरुष पशुको लानेकी आज्ञा दी तो राजा अम्बरीष महर्षि ऋचीकके मझले पुत्रशुनः शेष को एक लाख गौ एवं एक करोड़ स्वर्ण मुद्रा में खरीदकर घरकी ओर ले चले। रास्ते में पुष्कर तीर्थ पड़ा। यहाँ अपने मामा विश्वामित्र को तप निरत देखकर शुनः शेप अपनी प्राणरक्षा के लिये इनकी शरणमें गया। विश्वामित्रजी ने दयार्द्र होकर अपने तपोबल से शुनः शेप को इस विपत्ति से बचाया। यज्ञ-देवता इन्द्र और उपेन्द्रने बिना बलि लिये ही राजाको पूर्णकाम होने का वर दे दिया और शुनः शेप को दीर्घायु होने का वर दिया। एक बार का तप ऐसे चला गया।

विश्वामित्रजीने पुनः एक हजार वर्ष तक कठिन तप किया तो ब्रह्माजीने आकर इन्हें ऋषि पद प्रदान किया। पुनः तपमें लगे। परन्तु अबकी बार का तप मेनका अप्सरा के मोह जाल में फँस जाने से नष्ट हो गया। तब वे पुष्कर छोड़कर हिमांचल पर जाकर तप करने लगे। एक हजार वर्ष बीतने पर ब्रह्माजी इन्हे 'महर्षि' कहकर चले गये। इन्होने फिर तप प्रारम्भ किया। अबकी बारकी इनकी कठिन तपश्चर्याको देखकर इन्द्रने भयभीत होकर रम्भा अप्सराको तपभंग करने के लिये भेजा। इसे देखकर महर्षि विश्वामित्रको काम का संचार तो नहीं हुआ परन्तु क्रोध हो गया। इन्होंने उसे पाषाण हो जाने का शाप दे दिया। तप नष्ट हो गया इससे इनको बड़ा क्षोभ हुआ। अब इन्होंने निश्चय किया कि जब तक हमे ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त होगा तब तक चाहे अनन्त वर्ष बीत जायँ, मैं बिना खाये-पीये, बिना श्वाँस लिये खडे होकर तप करूँगा। ऐसा दृढ निश्चयकर ये पूर्व दिशा में जाकर एक हजार वर्षतक घोर तप किये। बीच-बीच में उनपर बहुतसे विघ्नोंका आक्रमण हुआ परन्तु काम-क्रोधादि इनके मनमें नहीं घुसने पाये। व्रत पूर्ण होने पर ज्यों ही अन्न भोजन करना चाहा, इन्द्रने विप्ररूप धरकर उस अन्नको माँग लिया, इन्होने सहर्ष दे दिया और पुनः श्वांस खीचकर तपमें लग गये। इनके मस्तकसे अग्निकी ज्वालाएँ निकलने लगीं। सब देवता डरकर ब्रह्माजी के पास दौड़े कि आप शीघ्र उनके मनोरथ को पूर्ण करें। अब उनमें कोई विकार नही है।

श्रीब्रह्माजीने आकर इन्हें ब्रह्मर्षि पद प्रदान किया। सभी देवताओं एवं ऋषियोंने भी इसे स्वीकार किया। परन्तु श्रीवशिष्ठजी अब भी इन्हें अधिक से अधिक महर्षि कहते। श्रीविश्वामित्रजी यह

नहीं समझ पाते कि अब हममें क्या कमी है। परिणाम यह हुआ कि इनके मनमें पुराना वैर पुनः भड़क उठा और अन्ततोगत्वा ये वशिष्ठजी को मार डालने का निश्चयकर रात्रिके सुनसानमें अवसर की प्रतीक्षा में आश्रमके समीप छिप रहे। उसी समय श्रीअरुन्धतीजीने कहा—प्रभो! देखिये, कैसी निर्मल ज्योत्स्ना छिटक रही है। श्रीवशिष्ठजीने कहा—जैसे आजकल विश्वामित्रजीकी तपस्या का तेज समस्त दिशा-विदिशाको आलोकितकर रहा है। श्रीअरुन्धतीजी परोक्षमें श्रीवशिष्ठजीके श्रीमुख से विश्वामित्रजी की प्रशस्ति सुनकर विस्मित होकर पूछीं—नाथ! तो फिर आप उन्हें ब्रह्मर्षि क्यों नही मान लेते हैं? श्रीवशिष्ठजीने मुसकराकर कहा—देवि! उनमें अब विकार तो कोई नहीं रहा, परन्तु अस्त्र-शस्त्रोंका धारण करना उन्होंने नही छोड़ा है। जो ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध है। श्रीविश्वामित्रजी यह सब सुन रहे थे। उन्हें अब अपनी भूल मालूम हुई। वड़ा पश्चात्ताप हुआ। अहो! धिक्कार है मुझे, जो कि मैंने ऐसे महा-पुरुषके प्रति दोष बुद्धि करके वध तकका दुःसङ्कल्प कर डाला। फिरतो विश्वामित्रजी अपने सभी अस्त्र-शस्त्र उतार फेंके और दौड़कर श्रीवशिष्ठजी के चरणों में साष्टाङ्ग दण्डवत् पड़ गये। श्रीवशिष्ठजी वेदिकासे उतरकर 'उठिये ब्रह्मर्षिजी' यह कहते हुये इन्हें दोनो हाथोंसे उठाकर हृदय से लगा लिये।

भगवान श्रीरामजीने इन्हें भी श्रीवशिष्ठजीकी ही तरह गुरु का गौरव प्रदान किया है। ये श्रीगङ्गाजीके तटपर स्थित सिद्धाश्रम (विहार प्रान्त में, वर्तमान में जिसे बक्सर कहते हैं।) में वास करते हुये जप, योग, यज्ञादि द्वारा भगवान की आराधना करते थे। उन दिनों राक्षसेन्द्र रावणका बल पाकर मारीच, सुवाहु प्रभृति राक्षस इनके आश्रममें भी बहुत उपद्रव करते थे। यद्यपि ये शापके द्वारा उनको नष्ट करने में समर्थ थे। परन्तु इससे तप हानि विचारकर मुनिजीने मनमें यह निश्चय किया कि भूभारहरणार्थ स्वयं भगवान श्रीराम अवतार लेकर अब किशोर वय में प्रवेश कर चुके हैं। अतः चलूँ श्रीअयोध्या चलकर प्रभुका दर्शन करूँ और श्रीदशरथजीसे उनको माँगलाऊँ अपने यज्ञकी रक्षाके लिये। फिर क्या था। मुनि तुरन्त चल पड़े श्रीअवध को, मनमें विविध मनोरथ करते हुये। इसका वड़ा ही सुन्दर चित्रण श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजीने गीतावली रामायण में किया है। यथा—

आजु सकल सुकृत फल पाइहौं।
सुखकी सींव अवधि आनन्द की अवध विलोकि हौं पाइहौं॥
सुतनि सहित दशरथहि देखिहौं प्रेम पुलकि उर लाइ हौं।
रामचन्द्र मुखचन्द्र सुधा छवि नयन चकोरनि प्याइहौं॥
सादर समाचार नृप बूझिहैं हौं सब कथा सुनाइहौं।
तुलसी ह्वै कृत कृत्य आश्रमहि राम लखन लै आइहौं॥

भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवानने मुनिके सभी मनोरथ पूर्ण किये। श्रीअयोध्या पहुँचनेपर श्रीदश-रथजीने इनका वड़ा स्वागत-सत्कार किया। यथा—'चरन पखारि कीन्हि अति पूजा। मो सम आज धन्य नहि दूजा॥ विविध भाँति भोजन करवावा। मुनिवर हृदय हर्ष अति पावा। पुनि चरननि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह विसारी॥ मगन भये देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥' (रामा०) और आगमनका हेतु पूछा। जब श्रीविश्वामित्रजीने अपना अभीष्ट निवेदन किया तो श्रीदशरथ जीने प्रथम तो पुत्र स्नेह वश श्रीराम, लक्ष्मणको देनेमें अपनी असमर्थता वताई, परन्तु वादमें श्रीवशिष्ठ जीके समझाने पर—'सौंपे भूप रिषिहि सुत, बहु विधि देइ असीस। जननी भवन गये प्रभु, चले नाइ पद सीस॥' (रामा०)

यज्ञ में विघ्न करने वाले राक्षसों का संहार कर श्रीरामजी ने मुनियो को निर्भय किया। श्री-विश्वामित्रजी ने अपने चिरकालिक तप से अर्जित समस्त शास्त्र-ज्ञान एवं शस्त्रास्त्र-रहस्यों को श्रीरामजी को प्रदान कर उन्हें सफल किया। तत्पश्चात् मिथिलापुरी में धनुष यज्ञ का महान आयोजन सुनकर युगलराजकुमारों को साथ लेकर वहाँ के लिये प्रस्थान किये। श्रीराम ने शम्भु के कठिन कोदण्ड का खण्डन कर विश्वविजय के साथ-साथ श्रीजानकीजी को भी प्राप्त किया। श्रीविश्वामित्रजी की आज्ञासे श्रीअयोध्याको यह शुभ-सन्देश भेजा गया। श्रीदशरथजी बारात लेकर आये श्रीरामव्याहके लिये, परन्तु व्याह हो गया उनके चारो राजकुमारोंका। आनन्दका पारावार नहीं है। श्रीदशरथजी महर्षि विश्वामित्र केचरणो मे प्रणाम करते हुये इस समस्त सुख का श्रेय उन्ही को देते हैं। यथा—वार-वार कौसिक चरन सीसनाइकह राउ। यह सब सुख मुनिराजतव, कृपाकटाक्षपसाउ॥ (रामा०) मिथिला से बारात विदा होने पर श्रीविश्वामित्रजी भी श्रीअयोध्या आये। श्रीदशरथजीके सद्भाव एवं श्रीरामजीके प्रेमानुरोधसे कुछ दिन तक श्रीअवध रहकर पुन: आश्रमको चले आये। श्रीवशिष्ठजी ने इनकी वड़ी महिमा गाई है। यथा-मुनिमन अगम गाधि सुत करनी। मुदित वशिष्ठ विपुल विधि वरनी॥ ये ऋग्वेदके बहुत से मन्त्रों के द्रष्टा हैं।

श्रीदुर्वासाजी—महर्षि अत्रिजीके तपसे सन्तुष्ट होकर भगवान शिव ही दुर्वासा रूपसे उनके पुत्र वने थे। रुद्रावतार थे अतः स्वभाव में रौद्रता स्वाभाविक थी। परन्तु थे परम समर्थ। पुराणों मे आपकी वड़ी विलक्षण कथाये मिलती हैं। पूर्व श्रीअम्वरीषजी एवं द्रौपदीजीके प्रसङ्ग में इनका स्मरण किया जा चुका है। एक प्रसंग यहाँ भी प्रस्तुत किया जा रहा है। एकवार ये यह कहते हुये घूम रहे थे कि—मैं दुर्वासा हूँ दुर्वासा। मुझे निवास करनेके लिए एक स्थान चाहिए। परन्तु याद रखना—मुझे तनिकसे भी अपराध पर क्रोध आ जाता है। भला, जानबूझकर कौन विपत्ति बुलाने लगा? तीनों लोकोंमें किसी ने भी अपने यहाँ रखने का साहस नहीं किया। अन्तमें घूमते-घामते श्रीद्वारका पहुचे। सवके परमाश्रय भगवान श्रीकृष्णने इन्हें आदर पूर्वक वुलाकर अपने निजसदनमें वास दिया। कभी तो ये हजारों मूर्तियोंका भोजन अकेले ही खा जाते थे, कभी एक वालकको तरह थोड़ा पाकर ही रह जाते थे। कभी दिन मे वाहर निकल जाते तो दिन भर लौटते ही नही। भोजन धरा ही रह जाता था। कभी आधी रात को भोजन माँगते। सर्व समर्थ प्रभुने सव व्यवस्था की। एकदिन इन्होने अपने ठहरने के स्थान में आग लगा दी। सव कुछ जलकर भस्म हो गया। और अपने दौड़े-दौडे श्रीकृष्णके पास आकर वोले—मैं अभी-अभी खीरखाना चाहता हूं। श्रीकृष्णका सकेत पाते ही महारानी श्री रुक्मिणीजी तुरन्त स्वर्णथाल में खीर परोसकर लाई। दुर्वासाजी थोड़ी सी खाकर श्रीकृष्णसे वोले—अव इस जूठी खीरको तुरन्त अपने अङ्गों में पोत लो और रुक्मिणीजीको भी पोत दो। भगवान ने वैसा ही किया।

तदनन्तर मुनिजी ने श्रीरुक्मिणीजीको एक रथ में जोतकर, उस पर स्वयं सवार होकर, जिस तरह सारथी घोड़ाको चाबुक मारता है उसी तरह कोड़े मारते हुए रथ चलाने लगे। रथ राजमार्गसे जा रहा था। भयवश किसी को कुछ कहनेका साहस नही हो रहा था। श्रीरुक्मिणीजी अत्यन्त श्रमित होकर जब पृथ्वी पर गिर पड़ीं तो ये रथ से कूदकर दक्षिण दिशा की ओर भागने लगे। पीछे-पीछे श्रीकृष्णभी दौड़े और कहते जा रहे थे कि—'भगवन्! प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये।' तव दुर्वासा खड़े हो गये और वोले—वासुदेव! तुमने कोध को जीत लिया है। अब मैं तुमको प्रसन्न होकर वर देता हूँ कि तुम सम्पूर्ण विश्व को प्रिय होओगे, तुम्हारी अक्षयकीर्ति होगी। तुमने पूरे शरीर में खीर लगायी है अतः तुम्हारा

शरीर समस्त अस्त्र-शस्त्रोंसे अभेद्य रहेगा। किन्तु तुमने पैरके तलवे में खीर क्यों नहीं लगायी? बस, केवल ये तुम्हारे पादतल निर्भय नहीं बन सके। तत्पश्चात् श्रीरुक्मिणीजी से बोले—कल्याणी! तुमको रोग तथा जरा नहीं स्पर्श करेगी। तुम्हारी अङ्गकान्ति कभी म्लान नहीं होगी। इतना कहकर महर्षि अन्तर्धान हो गये। श्रीरुक्मिणीजी को साथ लेकर श्रीकृष्ण घर आये तो देखा कि मुनि के द्वारा जलायी अथवा नष्टकी हुई सभी वस्तुएँ सुरक्षित है। ऐसे ही आपके अनेकों चरित्र हैं।

अट्ठासी हजार ऋषि—ये ऋषिगण श्रीशौनकजी के साथ रहते थे।

श्रीजाबालिजी—यह एक ब्रह्मर्षि हैं। ये धर्म और नीति में बड़े ही निपुण थे, चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी इनसे मन्त्रणा लिया करते थे। ये उनके यहाँ मन्त्रि-पद पर प्रतिष्ठित थे। श्रीमद्वाल्मीकि रामायण में वर्णन आता है कि जब श्रीभरतलालजी श्रीरामजीको मनाने चित्रकूट गये थे तो ये भी साथ थे। वहाँ पर इन्होंने बड़े ही चातुर्यपूर्ण ढंगसे श्रीरामजीके श्रीमुखसे परमार्थका विवेचन सुननेकी लालसासे स्वार्थको प्राधान्य देते हुये श्रीरामसे घर लौटनेका आग्रह किया है। नीति-प्रीति-परमार्थ स्वार्थ सुजान श्रीरामजीने मुनि के भाव को जानकर बड़े ही शास्त्रानुमोदित ढंग से परमार्थ का निरूपण किया है।

श्रीयमदग्निजी—इनका चरित्र पूर्व आ चुका हैं। देखिये परशुरामावतार (छ०५) आपका कथन है कि जब से जिनके हृदयमें मंगलधाम श्रीहरि वसने लगते हैं, तभीसे उनके लिये नित्य उत्सव हैं, नित्य लक्ष्मी और नित्य मंगल है। यथा—**नित्योत्सवस्तदातेषां नित्यश्रीर्नित्यमङ्गलम्। येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनं हरिः॥** (पाण्डव गीता)।

श्रीमार्कण्डेयजी—(मार्कण्डेय)जी—ये मृकण्डऋषिके पुत्र हैं। कहा जाता है कि पहले मृकण्ड ऋषिके कोई सन्तान नहीं थी, परन्तु इनको इस बातकी कोई चिन्ता भी नहीं थी। ये निरन्तर तप, स्वाध्यायादिमें लगे रहते थे। एकदिन प्रातःकाल ये ज्यों ही कुटी से बाहर निकले, एक स्त्री ने इनको देखकर मुँह फेर लिया और बड़बड़ाने लगी कि आज सवेरे-सबेरे निःसन्तानका मुख देखा है, पता नहीं क्या होने वाला है? श्रीमृकण्डऋषिको यह देख-सुनकर बड़ी ग्लानि हुई और तब इन्होंने पुत्रकी कामनासे पत्नी सहित कठिन तप करके भगवान आशुतोषको प्रसन्न किया। श्रीशिवजीने दर्शन दिया और पुत्रका योग न होने पर भी एक पुत्रका वरदान दिया, परन्तु साथ ही यह भी कह दिया कि इस बालककी आयु केवल सोलह वर्षकी है। पिता-माताको पुत्र-प्राप्ति से-जहाँ अपार हर्ष हुआ वहाँ उसकी अल्पायु विचार कर दुःख भी बहुत होता था। श्रीमृकण्डऋषिने अपने पुत्र मार्कण्डेयके सभीसंस्कार समय-समय पर किये। मार्कण्डेयजी विधि पूर्वक वेदों का अध्ययन करके तप और स्वाध्यायसे सम्पन्न हो गये। इन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत ले रक्खा था।

जब इनकी आयुका सोलहवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ तो पिता-माता अत्यन्त उदास रहने लगे। जब मार्कण्डेयजी को उदासी का कारण ज्ञात हुआ तो वे बोले—पिताजी! जब भगवान शिवजीने कृपा करके आपके भाग्यमें पुत्र न होने पर भी पुत्र प्रदान किया तो क्या वे मेरी अल्पायुको दीर्घायु नहीं कर सकते हैं? आप दुःखी न हों। मैं भगवान शङ्करको प्रसन्न करके योगियों के लिये भी दुर्जेय मृत्यु को जीतकर मरण भय से सर्वथा मुक्त हो जाऊँगा। तदनन्तर श्रीमार्कण्डेयजी माता-पिता की आज्ञा और आशीर्वाद लेकर श्रीशिवाराधनमें लग गये। निश्चित समयपर काल आया, उस समयये मृत्युञ्जय-स्तोत्र द्वारा श्रीशिवजी

का स्तवन कर रहे थे। कालको देखकर स्तोत्र-पाठ करते हुये अधीर होकर शिवलिङ्ग से लिपट गये। भगवान शिवजी को भक्तकी विकलता देखी नहीं गई। वे तत्काल ही प्रगट होकर क्रोधमें गरजकर मेघके समान गर्जना करते हुये कालकी छाती मे लात मारे। महाकाल जो ठहरे। श्रीशिवजीने इन्हे अजर अमर होने का वर दिया।

तपस्या करते-करते श्रीमार्कण्डेयजी को छः मन्वन्तर व्यतीत हो गये। सातवें मन्वन्तर मे इन्द्र को भय हुआ और इनके तपमें विघ्न डालने के लिये ऋतुराज वसन्त और कामदेव के साथ पुञ्जिकस्थली नामकी अप्सरा को भेजा। परन्तु श्रीनारायण परायण श्रीमार्कण्डेयजी पर इनका कुछ भी प्रभाव नही पडा। विशेष बात तो यह थी कि शिवजीने कामको जीता पर क्रोधने धर दवाया। श्रीनारदजीने काम क्रोध दोनो को जीता तो अहकार ने दवोच लिया, परन्तु इनको न काम व्याप सका, न क्रोधाभिभूत ही हुये और न अहकार के ही शिकार हुए। एकरस अपने स्वरूप में स्थित वने रहे। भगवान नर-नारायणने प्रसन्न होकर दर्शन दिया। ऋषिने पूजा स्तुति की। उन्होंने वर मांगने को कहा। तव ऋषिने कहा कि आपके दर्शन से वढकर क्या है जो मैं मांगू तथापि मैं आपकी उस अद्भुत मायाको देखना चाहता हूँ जिससे मोहित होकर सभी लोक एवं लोकपाल अद्वितीय वस्तु ब्रह्म में अनेकों प्रकार के भेद-विभेद देखने लगते हैं। 'तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी यह कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये।

एकदिन सन्ध्यासमय पुण्य भद्रानदीके तटपर वैठे ऋषि भगवानकी उपासनामें तन्मय हो रहे थे। उसी समय अकस्मात् वड़े जोर की आँधी चलने लगी और जलकी घोर वर्षा हुई। चारों समुद्रोने उमड़कर सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल को डुबो दिया। पृथ्वी ही नही आकाश, स्वर्ग आदि सव डूव गये। केवल महामुनि ही वचे। ज्ञानी होने पर भी मुनि व्याकुल और भयभीत हो गये। उस समय वे पागल और अन्धे के समान जटा फैलाकर यहाँसे वहाँ और वहाँ से यहाँ भाग-भागकर प्राण वचाने की चेष्टा कर रहे थे। प्रचण्ड लहरों और वायु के थपेड़ो से व्याकुल कभी नीचे डूवते, कभी ऊपर उतराते, अमितकाल तक गोते खाते रहे। एक समय उन्होने एक छोटासा टापू देखा, जिस पर एक छोटा सा फूला-फला नवपल्लव युक्त वट वृक्ष था। इसके ईशान कोणकी शाखा पर पत्र पुटपर एक परम मनोहर श्याम वर्ण वालकको देखाकि सुन्दर अङ्गुलि युक्त दोनों हाथोसे अपने चरणकमलाङ्गुष्ठको मुँहमें डाले पी रहा है। मुनिको वडा ही आश्चर्य हुआ। उन्होंने उस वालकको प्रणाम किया। यथा—

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं वालं मुकुन्दं शिरसा नमामि॥

वालकको देखकर मुनिको परम आनन्द प्राप्त हुआ। उनकी सारी थकावट और पीड़ा मिट गई। उनका हृदय कमल और नेत्र प्रफुल्लित हो उठे। 'तुम कौन हो ?' यह पूछने के विचार से जव मुनि वालक के निकट गये तो निकट जाते ही वे उसकी श्वास के साथ उदर में चले गये। वहाँ उदर में मुनिने ब्रह्माण्डको पूर्ववत् ज्योंका त्यों देखा। मोहित होकर कुछ निश्चय न कर सकेकि वास्तवमें यह क्या है ? तव तक पुनः उस दिव्य शिशु के श्वासके द्वारा वाहर निकलकर फिर उसी प्रलय सागर में गिर पड़े और अव फिर उन्होने वटके पत्रपुटमें लेटे हुये, मुस्क्यान और तिरछी चितवनसे अपनी ओर देखते हुये वालमुकुन्द को देखा। मुनि उस छवि को हृदय मन्दिरमें वसा करके उसका आलिङ्गन करने के लिये ज्यो ही आगे वढ़े त्यों ही भगवान अन्तर्धान हो गये। प्रलय दृश्य क्षणभर मे गायव हो गया और मुनिने

देखा कि मैं तो पहले के समान ही अपने आश्रम मे वैठा हूँ। भगवान की इस जगन्मोहिनी मायासे मुक्त होने के लिये मुनिने माया पति भगवानकी शरण ली। उनका चित्त दयामय भगवान मे निश्चल हो गया। उसी समय भगवान शङ्कर भगवती पार्वतीजीके साथ नन्दीपर सवार होकर आकाश मार्ग से विचरण करते हुये उधर ही आ निकले।

जब भगवती पार्वतीने मार्कण्डेय मुनिको ध्यानमें मग्न देखा तो उनका हृदय वात्सल्य स्नेह से उमड़ पडा और वे श्रीशिवजीसे वोली—भगवन्! आप कृपा करके इस ब्राह्मणको अभीप्सित वर प्रदान करे। ऐसे महाभागवतका दर्शन करने, वार्तालाप करने तथा मनोवाञ्छित प्रदान करने के लिये भगवान शिव उनके पास गये। परन्तु उस समय मुनिकी समस्त मनोवृत्तियाँ भगवद्भाव में तन्मय थी इसलिये वे यह भी नहीं जान सके कि मेरे सामने स्वयं भगवान गौरी शङ्कर पधारे है। तव श्रीशिवजी अपनी योगमायासे मार्कण्डेयमुनिके हृदयमे प्रवेश करके दर्शन दिये। हृदयमें अकस्मात् भगवान नारायण की जगह श्रीशिवजी की स्फूर्ति होनेसे मुनिका ध्यान छूट गया। आँख खोलकर देखे तो सामने श्रीशिव-पार्वती विराजमान हैं। मुनिने चरणों में प्रणामकर विधि पूर्वक पूजा स्तुति की। श्रीशिवजीने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा तब मुनि ने यह वर माँगा कि भगवान मे, उनके शरणागत भक्तों मे और आपमें मेरी अविचल भक्ति सदा सर्वदा बनी रहे। आशुतोष, औढर दानी भगवान शिव मुनि को मनभावता वरदान देकर वहाँ से चले गये। भृगुवंश शिरोमणि मार्कण्डेयजी अव भी भक्तिभाव भावित हृदयसे भगवानका चिन्तन करते हुये पृथ्वी पर विचरण किया करते है। (भा०)

श्रीकश्यपजी—ये ब्रह्मपुत्र महर्षि मरीचिके पुत्र तथा दक्ष प्रजापतिके जामाता है। इनके द्वारा सृष्टि का वहुत विस्तार हुआ है। देवता-दैत्य, दानव-मानव, पशु-पक्षी आदि सभी इनकी ही सन्तानें है। वामनावतार में भगवान ने इन्हे पिताका गौरव प्रदान किया। एक कल्प मे ये श्रीदशरथ-कौसल्या भी हुये थे तव स्वयं भगवान श्रीराम अपने अंशों सहित इनके पुत्र वने थे। यथा—कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहँ मैं पूरव वर दीन्हा।। ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसल पुरी प्रगट नर भूपा। तिन्हके गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुल तिलक सो चरिउ भाई॥ (रा० च० मा०) एक समय की वात है—राजा अङ्गके साथ स्पर्धा हो जाने के कारण पृथ्वीकी अधिष्ठात्री देवी अपने लोक धर्म धारण रूप शक्तिका परित्याग करके अदृश्य हो गई। उस समय विप्रवर कश्यपने अपने तपोवल से इस पृथ्वी को थाम रखा था। इनका भगवानके श्रीचरण कमलोंमें अविचल अनुराग है। यही कारण है कि सृष्टि रचनामे सलग्न रहने पर भी इन्हें माया नहीं व्यापती।।

श्रीपर्वतजी—इनकी देवर्षियोंमें गणना है। महाभारतमें इनका और श्रीनारदजी का अनेक स्थलों पर साथ-साथ वर्णन पाया जाता है। श्रीनारदजीको ही तरह यह भी विचरण शील स्वभाव के हैं। अद्भुत रामायण मे कथा आती है कि एक वार श्रीनारदजी और श्रीपर्वतजी—दोनों मित्र साथ-साथ विचरते हुये श्रीनगरके राजा अम्वरीषजीके यहाँ गये। राजाने इनका वड़ा स्वागत सत्कार किया। और अपनी लाडिली वेटी, जिसका नाम श्रीमती था, उसको वुलाकर मुनिके चरणों में प्रणाम कराकर, उसके भाग्यके सम्वन्धमे जिज्ञासाकी। दोनों ही मुनि श्रीमती के सुन्दर रूप एवं शुभ लक्षणों पर मोहित होकर उसको पृथक्-पृथक् राजा से माँगने लगे। राजा का यह उत्तर मिलने पर कि कन्या जिसको जयमाल पहिना दे वही ले जाय, दोनों पृथक्-पृथक् भगवानके यहाँ गये और दोनोने ही उनसे सव वृत्तान्त कहकर अपना-अपना मनोरथ प्रकट किया। नारदजीने पर्वत ऋषि का मुख वन्दरका सा और पर्वतने नारदमुनि

का मुख लंगूर का सा कर देने के लिये पृथक्-पृथक् प्रार्थना की और साथ ही यह भी प्रार्थना की कि राजकुमारी को ही वह रूप दीख पड़े, दूसरे को नहीं।

भगवानने दोनों से 'एवमस्तु' कहा। तत्पश्चात् दोनों ही राजाके यहां गये। राजाने कुमारी से कहा कि दोनों ऋषियों में से जिसे चाहो उसे जयमाल पहिना दो। कन्या जयमाल लिये खड़ी है। उसे वहाँ एक बन्दर, एक लंगूर और एक सुन्दर धनुष-बाण धारी पुरुष दीख पड़े। ऋषि कोई न देख वह ठिठक कर रह गई। सकोच का कारण पूछे जाने पर उसे जो दीख रहा था वह उसने कह दिया और जयमाल धनुष धारी पुरुष (भगवान श्रीराम) के गले में डाल दिया। भगवान उसे लेकर अन्तर्धान हो गये। इस रहस्य को न समझकर दोनो ऋषि भगवानके पास गये और उपालम्भ दिये। भगवान ने कहा कि हम भक्त पराधीन हैं, तुम दोनों ही हमारे भक्त हो, अतः हमने दोनों का कहा किया। ऋषियों को जब यह मालूम हुआ कि ये ही कन्या को ले गये। दोनो ने ही उनको शाप दिया कि—मम अपकार कीन्ह तुम भारी। नारि विरह तुम होव दुखारी॥ कपि आकृति तुम कीन्ह हमारी। करि हैं कीस सहाय तुम्हारी॥ बादमें जब इन्हे आत्मस्वरूप का ज्ञान हुआ है तो ये बहुत ही पश्चात्ताप किये हैं और भगवान से शापके मिथ्या हो जाने की प्रार्थना किये हैं। परन्तु भगवान ने शाप को अपनी इच्छा कहकर दोनो को समझा-बुझाकर विदा किया।

श्रीपराशरजी—ये ब्रह्मर्षि वशिष्ठजी के पौत्र, महर्षि शक्तिजीके पुत्र एव भगवान वेद-व्यासजीके पिता हैं। इनकी माताका नाम अदृश्यन्ती था। इन्होने बारह वर्षो तक माताके गर्भमें ही रह कर वेदाभ्यास किया था। इनके द्वारा रचित 'पराशर स्मृति' में धर्माधर्म का बड़ा विवेक पूर्ण निर्णय किया गया है। धर्म के सम्बन्ध में इनका कथन है कि जो मनुष्य परमदुर्लभ मानव जन्म को पाकर भी काम परायण हो दूसरों से द्वेष करता है और धर्म की अवहेलना करता है वह महान् लाभसे वञ्चित रह जाता है। यथा—'यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुष्यं द्विषते नरः। धर्मावमन्ता कामात्मा भवेत् सखलु वञ्च्यते॥ (म० भा०) भगवत्स्मरणकी महिमा वर्णन करते हुये कहते हैं कि—'प्रातर्निशि तथा सन्ध्यामध्याह्नादिषु संस्मरन्। नारायणमवाप्नोति सद्यः पापक्षयान्नरः॥ (विष्णु०) अर्थ—प्रातःकाल, साय काल, रात्रिमें अथवा मध्याह्न मे, किसी भी समय श्रीनारायणका स्मरण करनेसे पुरुषके समस्त पाप तत्काल क्षीण हो जाते हैं।

अठारह पुराण

साधन साध्य सत्रह पुरान फल-रूपी श्रीभागवत॥
ब्रह्म, विष्णु, शिव, लिङ्ग पद्म, स्कन्द, बिस्तारा।
वामन, मीन, बराह, अग्नि, कूरम, ऊदारा॥
गरुड, नारदी, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त श्रवण शुचि।
मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड कथा नाना उपजै रुचि॥
परम धर्म श्रीमुख कथित चतुःश्लोकी निगम सत।
साधन साध्य सत्रह पुरान फलरूपी श्रीभागवत॥१७॥

शब्दार्थ—साधन=कार्य सिद्ध करनेकी क्रिया, उपकरण, सामग्री, उपाय, उपासना। साध्य=साधन करने योग्य, इष्ट, ईश्वर, सरल, प्रतिपाद्य। पुराण=देखो दोहा तीन। विस्तारा=विस्तार, फैलाव, अधिकता। ऊदारा=उदार, दाता, श्रेष्ठ, ऊँचा। रुचि=प्रेम, आसक्ति, तवियत। श्रीमुख=विष्णुमुख। कथित=वर्णित, कहा हुआ। चतुः श्लोकी=जिसमें चार श्लोक हैं। निगमसत=निगम=वेद, मार्ग+सत=सत्व, सारभाग, मूल तत्व।

भावार्थ—ये ब्रह्मपुराण आदि सत्रह पुराण साधन हैं और श्रीमद्भागवत पुराण साध्य है, पुराणोंमें यह फलरूप है। इन सभी पुराणों मे विशेषतया श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखसे परम धर्म कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें चतुः श्लोकी सभी वेदोंका सार है। अठारहों पुराण विस्तृत हैं, उदार हैं। इनके सुनने से अन्तःकरण पवित्र होता है, इनमे अनेक प्रकारकी कथाओं का वर्णन है। जिनसे इष्ट देवमें रुचि उत्पन्न होती है ॥१७॥

व्याख्या—फल रूपी श्रीभागवत—यथा—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिवत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥ (भा०)

हे रस भावना प्रवीण रसिकजन! यह श्रीमद्भागवत वेदरूप कल्पवृक्षका पका हुआ फल है। श्रीशुकदेवरूप तोतेके मुखका सम्वन्ध हो जाने से यह परमानन्दमयी सुधासे परिपूर्ण हो गया है। इस फल में छिलका, गुठली, रेशा आदि त्याज्य अंश तनिक भी नहीं है। यह मूर्तिमान रस है। जव तक शरीरमें चेतना रहे, तव तक इस दिव्य भगवद्रसका निरन्तर वार—वार पान करते रहो। यह पृथ्वी पर ही सुलभ है। श्रीसनकादिकजी कहते हैं कि—

वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा। अत्युत्तमा ततो भाति पृथग्भूता फलाकृतिः॥

श्रीमद्भागवतकी कथा वेद और उपनिषदों के सारसे वनी है। इसलिये उनसे अलग, उनकी फल रूपा होने के कारण यह वड़ी ही उत्तम जान पड़ती है। यहाँ यदि कोई यह शंका करे कि वेद, उपनिषद और पुराणों से ही प्रादुर्भूत यह भागवती कथा उनसे श्रेष्ठ क्यों? समाधान—जिस प्रकार रस वृक्ष की जड़ से लेकर शाखाग्र पर्यन्त रहता है, किन्तु इस स्थिति में उसका आस्वादन नही किया जा सकता है। वही जव अलग होकर फलके रूपमें आ जाता है तव ससार में सभीको प्रिय लगने लगता है। दूध में घी रहता ही है किन्तु उस समय उसका अलग स्वाद नही मिलता है। वही जव उससे अलग हो जाता है तव देवताओंके लिये भी स्वाद वर्धक हो जाता है। खाँड़ ईखके ओर-छोर और वीच मे भी व्याप्त है तथापि अलग होने पर उसकी कुछ और ही मिठास होती है। उसी प्रकार यह भागवतीकथा वेदादिकों से 'पृथग्भूता, फलाकृतिः' होने से विशेष माधुर्य गुणवाली है। यथा—

आमूलाग्रं रसस्तिष्ठन्नास्ते न स्वाद्यते यथा। स भूयः सम्पृथग्भूतः फले विश्वमनोहरः॥
यथा दुग्धे स्थितसर्पिर्न स्वादायोपकल्पते। पृथग्भूतं हि तद्गव्यं देवानां रस वर्धनम्॥
इक्षूणामपि मध्यान्तं शर्करा व्याप्य तिष्ठति। पृथग्भूता च सा मिष्टा तथा भागवती कथा॥(भा० मा०)

अठारहों पुराणो के नाम सूक्ष्म रीति से इस प्रकार है—मद्वयं भद्वयं शैवं वत्रयं ब्रत्रयं तथा। अनापलिंग कू स्कानि पुराणानि पृथक्-पृथक् । अर्थ—मअक्षर से प्रारम्भ होने वाले दो—मत्स्य पुराण, मार्कण्डेय पुराण, भकार वाले दो-भागवत, भविष्य, शिवपुराण, वकारवाले तीन-वामन, वराह, विष्णु, व्रवाले तीन-ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, अ-अग्नि, ना-नारद, प-पद्म, लि-लिङ्ग, ग-गरुड़, कू-कूर्म, स्कन्द पुराण ।

पुराणो का लक्षण श्रीमद्भागवत में इस प्रकार है—सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च । वशोवंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ॥ (भा०) अर्थ—सर्ग (महत्तत्व, अहकार, पचतन्मात्रा, पचमहाभूत, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और मनकी उत्पत्ति) विसर्ग (जीवोसे अनुगृहीत सूक्ष्म रचनाके वासनामय चर और अचर सृष्टि की रचना) वृत्ति, रक्षा (अच्युत भगवानके अवतार की चेष्टा) मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था (प्रलय) हेतु और अपाश्रय-पुराणोके ये दशलक्षण हैं ।

अष्टादशपुराणोका सार-सिद्धान्त-अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् । परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥ अव सभी पुराणो की श्लोक संख्या कहते हैं—१. ब्रह्म पुराण—दस हजार २. विष्णु पुराण—तेइस हजार, ३. शिव पुराण—चौवीस हजार, ४. लिङ्ग पुराण—ग्यारह हजार, ५—पद्म पुराण—पचपन हजार, ६. स्कन्द पुराण—इक्यासी हजार, ७. वामन पुराण—दस हजार, ८. श्रीमत्स्य पुराण—चौदह हजार, ९ वाराह पुराण—चौबीस हजार, १०. अग्नि पुराण—पन्द्रह हजार, ११. कूर्म पुराण—सत्रह हजार, १२. गरुड पुराण—उन्नीस हजार, १३. नारद पुराण—पच्चीस हजार, १४. भविष्य पुराण—चौदह हजार पाँच सौ, १५. ब्रह्मवैवर्त पुराण—अठारह हजार, १६. मार्कण्डेयपुराण नौ हजार पांच सौ, १७. ब्रह्माण्ड पुराण—बारह हजार, १८. श्रीभागवत पुराण—अठारह हजार। सम्पूर्ण संख्या चारलाख होती है । परम धर्म—देखिये छप्पय ६ ।

चतुः श्लोकी—श्रीब्रह्माजी की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान ने उन्हें अपना दर्शन दिया, अपने निर्गुण-सगुण स्वरूपों का ज्ञान दिया, सृष्टि रचने की सामर्थ्य दी और सृष्टि करते हुए भी संसार मे लिप्त न हो, इसके लियेचतु श्लो की का उपदेश दिया । यथा—

ज्ञानं परम गुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम् ।सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ।
यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः। तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥
अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत् परम्। पश्चादहंयदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ।
ऋतेऽर्थंयत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि । तद्विद्यादात्मनो मायांयथाऽऽभासो यथातमः ॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु । प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ।
एतावदेव जिज्ञास्य तत्त्व जिज्ञासुनात्मनः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥(भा०)

अर्थ—श्रीभगवान् ने कहा—अनुभव, प्रेमाभक्ति तथा साधनों से युक्त अत्यन्त गोपनीय अपने स्वरूप का ज्ञान मैं तुम्हे कहता हूँ तुम उसे सुनकर ग्रहण करो। जितना मेरा विस्तार है, मेरा जो लक्षण है, मेरे जितने और जैसे रूप, गुण, और लीलाएँ हैं—मेरी कृपासे तुम उनका तत्त्व ठीक-ठीक वैसा ही अनुभव करो। सृष्टिके पूर्व केवल मैं ही मैं था । मेरे अतिरिक्त न स्थूल था न सूक्ष्म और न तो दोनोंका

कारण अज्ञान। जहाँ यह सृष्टि नहीं है वहां मैं ही मैं हूँ और इस सृष्टि के रूप में जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं ही हूं और जो कुछ बच रहेगा, वह भी मैं ही हूँ। वास्तव में न होने पर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझ परमात्मा में दो चन्द्रमाओं की तरह मिथ्या ही प्रतीत हो रही है अथवा विद्यमान होने पर भी आकाश मण्डल के नक्षत्रों मे राहु की भाँति जो मेरी प्रतीति नहीं होती, इसे मेरी माया समझना चाहिये। जैसे प्राणियोंके पञ्चभूत रचित छोटे-बड़े शरीर में आकाशादि पञ्च-महाभूत उन शरीरोंके कार्य रूपसे निर्मित होने के कारण प्रवेश करते भी हैं और पहलेसे ही उन स्थानों और रूपों में कारण रूप से विद्यमान रहने के कारण प्रवेश नही भी करते हैं, वैसे ही उन प्राणियों के शरीरकी दृष्टिसे मैं उनमें आत्माके रूपसे प्रवेश किये हुए हूँ और आत्म दृष्टिसे अपने अतिरिक्त और कोई वस्तु न होने के कारण उनमें प्रविष्ट नहीं भी हूँ। 'यह ब्रह्म नही, यह ब्रह्म नही'—इस प्रकार निषेधको पद्धति से और 'यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है'—इस अन्वयकी पद्धति से यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित है। वही वास्तविक तत्व हैं। जो आत्मा अथवा परमात्मा का तत्व जानना चाहते हैं, उन्हें केवल इतना ही जानने की आवश्यकता है। निगम सत-देखिये-फलरूपी श्रीभागवत की व्याख्या।

अठारहस्मृतियाँ

दशआठ स्मृति जिन उच्चरी तिनपद सरसिजभालमों ॥
मनुस्मृति अत्रेय, वैष्णवी, हारीतक, यामी।
याज्ञवल्क्य, अङ्गिरा शनैश्चर, सांवर्तक नामी ॥
कात्यायनि, साण्डिल्य, गौतमी, वाशिष्ठी, दाखी।
सुर-गुरु, आतातापि, पराशर, क्रतुमुनि भाखी ॥
आशा पास उदार धी परलोक लोक साधन सो।
दश आठ स्मृति जिन उच्चरी तिन पद सरसिज भाल मो ॥१८॥

शब्दार्थ—स्मृति=धर्मशास्त्र, मुनि प्रणीत शास्त्र विशेष, संहिता, अनुभव और संस्कारसे उत्पन्न ज्ञान, याद। उच्चरी=उच्चारण की, कही, रची बनाई। सरसिज=कमल। भाल मो=भाल=मस्तक+मो=मम, मेरे। दाखी=दाक्षी, दक्ष स्मृति। भाखी=भाषी, कही। आशा=पाने की इच्छा, तृष्णा, लालच। पाश=वन्धन, फाँस। उदारधी=श्रेष्ठ एवं शुद्ध बुद्धि।

भावार्थ—जिन अठारह ऋषियों ने स्मृतियों की रचना की, उनके चरण-कमलों में मैं अपना मस्तक रखता हूँ। आशा तृष्णाके वन्धनसे छुड़ानेके लिए उदार बुद्धिवाले ऋषियोनेये स्मृतियाँ बनाई हैं। ये इसलोक में उन्नति तथा परलोक में कल्याण का साधन है ॥१८॥

व्याख्या—'स्मृतिस्तु धर्मसंहिता' अर्थात् वर्णधर्म, आश्रम धर्म, राजधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म, परलोकधर्म, विधि धर्म, निषेध धर्म, तथा इनके साधन-साध्यका जिसमे साङ्गोपाङ्ग, वर्णन किया गया है उसे स्मृति कहते हैं। स्मृतियाँ अठारह हैं।

१—मनुस्मृति—इसके रचयिता मनुजी हैं। २—आत्रेयस्मृति-श्रीअत्रिजीने रचा है। ३—वैष्ण-
वस्मृति भगवान विष्णु द्वारा निर्मित है। ४—हारीतस्मृति—इसके निर्माता श्रीहारीत मुनि हैं। ५—
याम्य स्मृति-यह यम (धर्मराज) द्वारा रची गई है। ६—याज्ञवल्क्यस्मृति—इसके प्रणेता महर्षि याज्ञ-
वल्क्यजी हैं। ७—आङ्गिरस स्मृति-श्रीअङ्गिराजीकी रचना है। ८—शनैश्चर स्मृति—सूर्यपुत्र शनिकृत
है। ९—सांवर्तक स्मृति—यह महर्षि अङ्गिराके पुत्र श्रीसंवर्त प्रणीत है। १०—कात्यायन स्मृति-श्रीका
त्यायन मुनि विरचित है। ११-श्रीशाण्डिल्य स्मृति—प्रसिद्ध 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' प्रणेता, श्रीमद्भागवत
तत्ववेत्ता, परम भागवत महर्षि शाण्डिल्यके द्वारा इसका प्रणयन हुआ है। श्रीशाण्डिल्यजी महर्षि देवल
के पुत्र थे, शंख और लिखित के पिता थे तथा श्रीनन्दगोपके पुरोहित थे। इन्होने श्रीकृष्ण के प्रपौत्र वज्र
नाभजी को व्रजका रहस्य बताया था। १२—गौतम स्मृति—श्रीगौतमजीकी कृति है। १३—वशिष्ठ
स्मृति—श्रीवशिष्ठजीने इसका प्रणयन किया है। १४—दाक्ष्य स्मृति—प्रजापति दक्ष द्वारा रचित है।
१५—बार्हस्पत्य स्मृति—श्रीबृहस्पतिजी की रचना है। १६—आतातप स्मृति—श्रीशातातपजीने रचा है।
१७—पाराशर स्मृति—श्रीपराशर मुनि प्रणीत है। १८-क्रतु स्मृति-श्रीक्रतु मुनि कृत है।

आशा पाश—'आशा हि परमं दुःख' (भा०) 'तुलसी अदभुत देवता आशा देवी नाम। सेये शोक समर्पई, विमुख भये अभिराम ॥ (दो०) जे लोलुप भये दास आसके ते सब ही के चेरे। प्रभु विश्वास आसजिन जीती ते सेवक हरि केरे ॥ (वि०) मोर दास कहाइ नर आसा। करइत कहहु कहा विश्वासा ॥ (रा० च० मा०) तब लगि जोगी जगत गुरु, जब लगि रहै निरास। जो जगकी आसा भई, जगगुरु जोगी दास ॥ इसीलिये कहा गया है कि—पावैं सदा सुख हरि कृपा संसार आसा तजि रहै ॥ (वि०) ये स्मृतियाँ जीवको आशा पाससे मुक्त करने वाली हैं।

श्रीराम सचिव

पावैं भक्ति अनपायिनी जे राम सचिव सुमिरन करैं ॥
धृष्टी, विजय, जयंत नीति पर शुचि सुविनीता।
राष्टर वर्धन निपुण, सुराष्टर परम पुनीता ॥
अशोक सदा आनन्द धर्मपालक तत्ववेता।
मन्त्रीवर्य सुमन्त्र चतुर्जुग मंत्री जेता ॥
अनायास रघुपति प्रसन्न भवसागर दुस्तर तरैं।
पावैं भक्ति अनपायिनी जे राम सचिव सुमिरन करैं ॥१९॥

शब्दार्थ—नीतिपर=नीतिपरायण, नीतियुक्त, नीति=आचार=पद्धति, राजा प्रजाके लिए निर्धारित व्यवस्था, राजनीति। शुचि=पवित्र। तत्ववेत्ता=रहस्यको जानने वाले। मन्त्रीवर्य=सभी मन्त्रियों में श्रेष्ठ। चतुर्युग=चारो युग। जेता=विजयी, जीतने वाले। अनायास=विना श्रमके, सहज। रघुपति=रामचन्द्र। भवसागर=संसारसागर, आवागमन, जन्ममृत्युका चक्र। दुस्तर=जिसको पार करना कठिन हो, विकट। अनपायिनी=स्थिरा, अचला। सचिव—मन्त्री।

भावार्थ--जो लोग भगवान् श्रीरामके इन आठ मन्त्रियों का स्मरण करते हैं वे श्रीरामजीकी अचल भक्ति पाते हैं, उनपर प्रभु अपने आप ही प्रसन्न हो जाते है और वे जन्म मृत्युके कठिन चक्र से छूट जाते हैं, संसारसागरसे पार हो जाते है। धृष्टिजी, विजयजी जयन्तजी, राष्ट्रवर्धन, सुराष्ट्र, अशोक, धर्मपालक और सुमन्त्रजी ये नीति परायण, पवित्र, सुशील, परमचतुर, आनन्दमय और रहस्यके ज्ञाता हैं। सुमन्त्रजी चारों युगोके मन्त्रियोंमें विजयी और श्रेष्ठ हैं।

व्याख्या—श्रीराम सचिव—यथा--'धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः। अशोको धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित्' ॥ (वा० रा०) यहाँ श्रीनाभाजीने मन्त्रियोंके नाम निर्देशके साथ-साथ उनके गुणों का भी उल्लेख किया है। यथा—नीति पर—मन्त्रियोंको नीतिमान् होना चाहिये। क्योंकि—'राज कि रहइनीति बिनु जाने।' पुनश्च--सचिवधर्म रुचि हरिपद प्रीती। नृप हित हेतु सिखव नित नीती ॥ (रा० मा०) शुचि-स्वधर्म निष्ठ। यथा—अस विचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धर्म न डोले ॥ विनीत-विनय शील। परमपुनीत-सदाचरण परायण। तत्ववेत्ता-परमार्थवित्। यथा-तुम पण्डित परमारथ ज्ञाता।' आदि। इन ऋषियोंके सौभाग्य का क्या कहना है, जोकि भगवान श्रीरामके समीप विराजते हैं, सम्मुख विराजते है। स्वयं नीति-प्रीति परमार्थ-स्वार्थ के परम विज्ञाता होकर भी श्रीरामजी इनसे मन्त्रणा करते हैं।

श्रीसुमन्त्रजी—श्रीनाभाजीने इनको चारों युगोंके, भूत, वर्तमान, भविष्य के सभी मंत्रियों में मूर्धन्य कहा है। ठीक भी है। जिनकी मन्त्रणाओ पर मुग्ध होकर चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी आत्मवत् मानते थे तथा स्वयं भगवान श्रीरामजी जिनका पितृवत् सम्मान करते थे यथा—राम सुमंत्रहिं आवत देखा। आदर कीन्ह पिता सम लेखा ।। (रामा०) उन सुमन्त्रजीको चतुर्युगमन्त्रि-मूर्धन्य कहना उचित ही है। श्रीदशरथजी किसीभी कार्य को, जबतक उसे सुमन्त्रजी का समर्थन नहीं प्राप्त हो जाता था तब तक कार्यान्वित नहीं करते थे। जिस समय श्रीदशरथजी पुत्रके विना जीवनको विफल मानकर अत्यन्त ग्लानि कर रहे थे उस समय श्रीसुमन्त्रजीने श्रीसनत्कुमार जी के श्रीमुखसे सुने हुये कथा प्रसङ्गको सुनाकर जिसमें उन्होने यह बात निश्चय पूर्वक कही थी कि श्रीऋष्यशृङ्गके द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ कराये जाने पर श्रीदशरथजी को चार त्रिभुवन विदित भक्तभयहारी पुत्र होंगे, महाराजकी चिन्ता दूर की थी। यथा—'सुमन्त्रस्यवचः श्रुत्वा हृष्टो दशरथोऽभवत्।'

मनमें श्रीरामराज्याभिषेक की अभिलाषा होने पर श्रीदशरथजी गुरुदेव श्रीवशिष्ठजीकी अनुमति लेकर तथा सुमन्त्रजीका भी सहर्ष समर्थन पाकर अभिषेक की तैयारी करने लगे। दैव प्रेरणासे कैकेयी के द्वारा विघ्न हुआ। श्रीअवधमें हर्ष का ओर--छोर नही था। प्रजाहर्षोल्लासमें भरी हुयी श्रीराम-राज्याभिषेक दर्शन की प्रतीक्षा में थी। परन्तु आश्चर्य ! सूर्योदय हो गया, किन्तु श्रीदशरथजी के दर्शन नही हुये। पता लगाने पर मालूम हुआ कि अभी शयन-कक्षसे बाहर ही नही निकले। आश्चर्य की सीमा नही रही। प्रश्न यह था कि 'जागेउ अजहुँ न अवध पति कारन कवन विशेष।' और उन्हें जगाने के लिये किसको भेजा जाय ? सर्व साधारण का तो शयनागार तक प्रवेश हो नहीं सकता। अतः सब लोगों ने मिलकर श्रीसुमन्त्रजी को ही भेजा। क्योंकि ये महाराज के परम अन्तरङ्ग थे। यथा--'जाहु सुमंत्र जगावहु जाई। कीजिय काज रजायसु पाई ॥ श्रीसुमन्त्रजी महलमें प्रवेश किये। यद्यपि उन्हें स्थिति का कुछ भी पता नही था परन्तु श्रीदशरथजी एवं कैकेयी--दोनों की दशा देखकर ही जान गये कि रानीने

कुछ कुचाल किया है। यथा—'लखि कुचाल कीन्ह कछु रानी।' यह सुमन्त्रजीकी दूरदर्शिता है। श्रीदश-रथजी का सङ्केत पाकर श्रीसुमन्त्रजी श्रीरामजी को बुलालाते हैं, स्थिति स्पष्ट हो गयी।

श्रीराम माता-पिताकी आज्ञा शिरोधार्यकर श्रीजानकीजी एवं लक्ष्मणको साथले वनको चले। श्रीसुमन्त्रजी राजा की आज्ञानुसार श्रीराम-जानकी एव लक्ष्मणजीको रथपर बैठाकर ले चले। सम्पूर्ण श्रीअयोध्या की प्रजा श्रीरामप्रेमवश रथके साथ दौड़चली। प्रथमविश्राम तमसातटपर हुआ। श्रीरामने समझा बुझा-कर प्रजा-जनोंको लौटाना चाहा परन्तु वे लौटने को प्रस्तुत नही थे। तब श्रीरामजीने सबके सो जानेपर श्रीसुमन्त्रजीसे खोजमारकर (जिसमें रथके चिन्होंका पता न लग सके) रथ हांकनेको कहा। इन्होंने प्रभुकी आज्ञाका पालन किया। श्रीअयोध्यावासी विलाप-कलाप करते हुये घर लौट आये। इधर रथ श्रीगङ्गातट पर स्थित शृङ्गवेरपुर पहुँच गया। श्रीराम सखा निषादराज गुहने प्रभुका स्वागत-सत्कार किया। रात्रि भर प्रभु गङ्गातटपर निवास किये। प्रातः कालनित्य कृत्यसे निवृत्त होकर वटकादूध मंगाकर-'अनुज सहित सिर जटा बनाये। देखि सुमन्त्र नयन जल छाये॥' श्रीसुमन्त्रजीके श्रीरामप्रेम का प्रकाश यहीं से होता है। प्रभु को तापसवेष बनाये देखकर सुमन्त्रजीकी व्यथा का पार नही रहा। वे श्रीदशरथजी का सन्देश सुनाते हुये श्रीरामजीके चरणों मे पड़कर एक अबोध बालक की तरह फफक-फफक कर रोने लगे। यथा--'करि विनती पायन परेउ दीन बाल जिमि रोइ॥

श्रीसुमन्त्रजीने बहुत प्रयत्न किया श्रीरामजी को लौटाने का, परन्तु जब उन्हें लौटाने में समर्थ नहीं हो सके तो श्रीजानकीजीको लौटाने का प्रयत्न किये। परन्तु यहाँ भी उन्हें निराशा ही हाथ लगी। उस समय की इनकी दशाका वर्णन करते हुये श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—'सुनिसुमंत्र-सिय सीतल बानी। भयउ विकलजनु फणि मणि हानी॥ नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहिन सकइ कछु अति अकुलाना॥' अन्तमें श्रीसुमन्त्रजी जब प्रभुको लौटाने मे सफल मनोरथ नही हो सके तो स्वयं भी प्रभुके साथ चलने को प्रस्तुत हो गये और इसके लिये प्रभुसे बहुत अनुनय विनय किये। यथा –'जतन अनेक साथ हित कीन्हे। उचित उतर रघुनन्दन दीन्हे॥' आखिर सुमन्त्रजी को लौटना पड़ा। क्योंकि—'मेटि जाइ नहि राम रजाई। कठिन करमगति कछु न बसाई॥ अतः—राम लखन सिय पद सिर नाई। फिरेउ बनिक जिमि मूर गंवाई॥' (रामा०)

श्रीरामजी गङ्गापारकर आगे को प्रस्थान किये। सखा निषादराज साथ लग गये। परन्तु चार दिनके बाद प्रभुने उन्हे भी वापस कर दिया। जब निषादराज लौटकर शृङ्गवेर पुर आये तो देखे सुमन्त्र जी मूर्च्छित पृथ्वी पर पड़े है। यथा—'राम राम सिय लखन पुकारी। परेउ भूमितल व्याकुल भारी॥' निषादराजजीने समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु श्रीसुमन्त्रजी विरहके प्राबल्य मे समझने की स्थिति में थे नहीं। अतः निषादराजने जैसे तैसे उन्हे रथमें बैठाकर अपने चार सेवकों द्वारा श्रीअवध पहुँचाने की व्यवस्था की। सुमन्त्र के सोच का पारावार नहीं है। यथा—सोच सुमन्त्र विकल दुख दीना। धिगजीवन रघुबीर विहीना। रहिहि न अंतहुँ अधमसरीरू। जसु न लहेउँ बिछुरत रघुबीरू॥ भये अजस अघ भाजन प्राना। कवन हेतु नहिं करतपयाना॥ अहह मंद मन अवसर चूका। अजहुँन हृदय होत दुइ टूका॥ मींजि हाथ सिर धुनि पछिताई। मनहु कृपन धन रासि गंवाई॥ आदि।

श्रीसुमन्त्रजी इस समस्याका समाधान नहीं कर पा रहे हैं कि श्रीराम रहित मुझे देखकर लोग क्या कहेंगे? अथवा जब समस्त नगरवासी, माताये, महारानी श्रीसुमित्राजी, कौसल्याजी तथा महाराज

श्रीदशरथजी पूछेंगे तो मैं क्या कहूँगा ? मैं कौन सा मुँह लेकर कहूँगा कि—'गे वन राम लखन वैदेही।' हा ! महाकष्ट है ? 'हृदय न विदरेउ पंक जिमि विछुरत प्रीतम नोर। जानत हौ मोहिं दीन्ह विधि यम यातना शरीर।।' इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुये श्रीसुमन्त्रजीका रथ तमसा नदी के तटपर आ गया। इन्होने निपादों को विदा किया और स्वयं अन्धकार हो जाने पर श्रीअवधमें प्रवेश किये और रथको द्वार पर छोड़कर महलमें प्रवेशकर गये। श्रीसीतारामलक्ष्मणके सन्देशको सुनकर श्रीदशरथजी जलके विनामीनको तरह अत्यन्त व्याकुल हो गये। यद्यपि श्रीसुमन्त्रजी को भी कम क्लेश नहीं है। यथा—'मैं आपन किमि कहौं कलेशू। जियत फिरेउँ लै राम सन्देसू।।' तथापि इन्होने परिस्थितिकी गम्भीरता को समझकर स्वयं धैर्य धारणकर श्रीदशरथजी को वहुत समझाया। यथा—

चौ०—सचिव धीर धरि कह मृदुवानी। महाराज तुम पण्डित ज्ञानी।।
वीर सुधीर धुरंधर देवा। साधु समाज सदा तुम सेवा।।
जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन वियोगा।।
कालकरम वस होहिं गुसाईं। बरबस रात दिवसकी नाईं।।
सुखहरषहिं जड़ दुखविलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं।।
धीरज धरहु विवेक विचारी। छाड़िअ सोच सकल हितकारी।।

श्रीसुमन्त्रजीने अपना कर्तव्य पालन किया, समझाया। श्रीदशरथजीने अपना प्रेम-प्रण पालन किया-प्राणों को प्रभु-संग पठाया। श्रीसुमन्त्रजी ऐसे ग्लानि-ग्लानि-शोक के वश हुये कि चौदह वर्ष तक उन्होने मुँह नही दिखाया। महाराजका स्वर्गवास हुआ, भरतजी आये, और्ध्वदेहिक कृत्य हुआ, भरत सभा हुई, सव लोग चित्रकूट गये, महाराज जनक आये, सव कुछ हुआ, परन्तु सुमन्त्रजीका पता नही है। जव श्रीरामजी वनवाससे लौटे तभी सुमन्त्रजीने घरसे वाहर पाँव दिया। यथा—'तव मुनि कहेउ सुमन्त्र सन, सुनत चलेउ हरषाइ। रथ अनेक वहुवाजि गज तुरत सँवारे जाइ।। जहँ तहँ धावन पठइ पुनि मङ्गल द्रव्य मँगाइ। हरष समेत वशिष्ठपद पुनिसिर नायउ आइ।।' (उत्तरकाण्ड) ऐसे महाभागवत थे श्रीसुमन्त्र जी, तभो तो श्रीनाभाजी कहते हैं कि—'मन्त्रीवर्य सुमन्त्र चतुर्युग मन्त्री जेता।'

श्रीराम सहचर वर्ग

शुभ दृष्टि वृष्टि मोपर करौ जे सहचर रघुवीरके।।
दिनकर सुत हरिराज बालि वछ केशरि औरस।
दधिमुख द्विविद मयन्द रिच्छपति समको पौरस।।
उल्का सुभट सुषेन दरीमुख कुमुद नील नल।
सरभरु गवय गवाच्छ पनस गँधमादन अतिबल।।
पद्म अठारह यूथपाल राम काज भट भीर के।
शुभ दृष्टि वृष्टि मोपर करौ जे सहचर रघुवीर के।।२०।।

शब्दार्थ—दिनकर सुत=सूर्यपुत्र सुग्रीव। हरिराज=वानरराज। वालिवच्छ=वालिवत्स,अंगद। केशरी=हनूमानजी के पिता। औरस=पुत्र, समान जाति की विवाहिता स्त्री से उत्पन्न पुत्र। पौरुष=पौरुष, पराक्रम, साहस। यूथपाल=सेनापति, यूथ=समूह+पाल=रक्षक। भट=योद्धा। भीर=भीड़, समूह, सकट। शुभदृष्टि=कृपादृष्टि। सहचर=मित्र, साथ चलने वाले, सखा, सेवक।

भावार्थ—श्रीरामचन्द्रजीके ये जो सखागण हैं वे हमारे ऊपर मंगलकारिणी कृपादृष्टि की वर्षा करें सूर्य के पुत्र वानरराज सुग्रीवजी, वालिपुत्र अङ्गदजी, केशरीके पुत्र हनुमानजी, दधिमुखजी, द्विविदजी, मयन्दजी, जिनके समान कोई साहसी और वलवान नही है ऐसे रीछो के राजा जाम्ववानजी, श्रेष्ठ योद्धा उल्कामुखजी, सुषेणजी, दरीमुख, कुमुद, नल, नील, शरभ, गवय, गवाक्ष, पनस और महावलवान् गन्धमादन आदि अठारह पद्म जो सेनापति हैं ये संकटके समय भक्तोंके तथा श्रीरामजी के कार्यको करने वाले महान वीर हैं ॥२०॥

व्याख्या—शुभ...... करौ—महत्पुरुषो के कृपा-कटाक्षावलोकन मात्र से ही जीव के जन्म-जन्म के पाप पुञ्ज क्षणमात्र में ही भस्मीभूत हो जाते हैं। यथा—पाप पुञ्ज वहु जन्मकृत, होत तुरत जरि छार। जव चितवत करिके कृपा हरिजन परम उदार। (सन्तवाणी) अतः शुभ दृष्टि० ॥ श्री सुग्रीवजी का चरित्र पूर्व आ चुका है।

श्रीअङ्गद जी—महावलशाली वानरराज वालि पिता और सुषेण वानर की कन्या तारा मातासे श्रीअङ्गदजीका प्रादुर्भाव हुआ था। इनको वालिने श्रीरामजीके कर-कमलोमें सौपा था। यथा—'यह तनय मम सम विनय वल कल्याणप्रद प्रभु लीजिये। गहिवाँह सुर-नर नाह आपन दास अङ्गद कीजिये।श्रीअङ्गदजीके वचनोसे तो यह सिद्ध होता है कि वालिने केवल हाथ ही नही पकड़वाया था वल्कि इन्हें श्रीरामजी की गोद में डाल दिया था। यथा—मरती वेर नाथ मोहि वाली। गयउ तुम्हारे कोछे घाली। इस प्रकार श्रीअङ्गदजी श्रीरामजीके गोद लिये हुये (दत्तक) पुत्र हुये। यही कारण हैकि श्रीराम जी ने मित्र सुग्रीव को यदि राज्य दिलाया तो पुत्र अंगद को युवराज वनाया। यथा—'राज दीन्ह सुग्रीव कहँ, अङ्गद कहँ युवराज ॥' श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने इन्हें वड़भागी कहा है। यथा-वड़भागी अङ्गद हनुमाना। चरन कमल चांपत विधिनाना।' (रा० च० मा०)

श्रीसीता-शोध एवं श्रीराम-रावण संग्राम में श्रीअङ्गदजी का वडा महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सत्य तो यह है कि श्रीअंगदजी अपनी सेवा निष्ठा के प्रभाव से श्रीहनुमानजीके साथ स्मरण किये जाते है। यथा—'वड़भागी अंगद हनुमाना।' 'अंगद हनुमत अनुचर जाके।' 'अंगद हनूमन्त वल सींवा। 'त्राहि-त्राहि अंगद हनुमाना।' आदि। श्रीराम सेवा परायण अंगदजी जव देखते है कि अवधि भी वीत गई और श्रीजानकीजी का पता भी नही मिला तो वे वहुत ही दुःखी होते हैं। यथा—'कह अंगद लोचन भरि वारी। दुहु प्रकार भइ मृत्यु हमारी। इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गये मारिहि कपिराई।' श्रीअंगदजी का दु.ख देखकर श्रीजामवन्तजी ने समझाते हुये कहा—तात! दुःख मानने की कोई वात नही है, हम लोग तो वडे वड़भागी हैं जो कि सगुण ब्रह्म श्रीरामचरणारविन्दानुरागी हैं। यथा—'हम सव सेवक अति वड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।' श्रीअंगदने कहा...जाम्ववानजी! हम अपनेको वडभागी तो तव माने, जव इस शरीर से श्रीराम सेवा सम्पन्न हो अथवा श्रीराम कार्य में देह-प्राणका विसर्जन ही हो जाय। वडभागी तो वस्तुतम्तु श्रीजटायूजी हैं जिन्होंने प्रभु सेवा में शरीर समर्पित कर दिया। यथा—'कह अंगद विचारि मन माही। धन्य जटायू सम कोउ नाहीं। राम काज कारन तनु

त्यागी। हरिपुर गयउ परम बड़भागी।' श्रीअंगदजी की यह जटायुजी की चर्चा बड़ी सामयिक थी। क्योंकि उसी समय गिरिकन्दरा से बाहर निकलकर गीधराज जी का बड़ा भाई सम्पाती जीवन से निराश इन सभी वानरों को खाने की भूमिका बना रहा था। परन्तु जब उसने जटायुजी का प्रसंग श्रवण किया तो उसे वानरों के प्रति बड़ी सहानुभूति हो गई और उसने श्रीजानकी जी का पूरा पता एवं प्राप्त करने का उपाय भी बता दिया। जिससे वानरों के शरीर में पुनः नव जीवन का संचार हो गया।

समुद्रकी विशालता एवं गम्भीरता को विचार कर वानर एक क्षण के लिये पुनः हतोत्साहसे हो जाते हैं तो श्रीअंगदजी उन्हे साहस दिलाते हुए स्वयं समुद्र पार जाने को उद्यत हो जाते है। यथा—'अंगद कहइ जाउँमैं पारा। जिय संसय कछु फिरती बारा।' जामवन्त कह तुम सबलायक। पठइअ किमि सब हो कर नायक ।। श्रीहनुमानजी के द्वारा सब कार्य सम्पन्न हुआ। श्रीअंगदजीने उस समय बड़ाभारी उत्सव मनाया। किष्किन्धा आने पर इन्होंने सभी बानरोको मधुवन के फल खाने, एवं मधुपान करनेकी छूट कर दी। जबकि सुग्रीवजीके उस प्राण-प्रियबाग मे प्रवेश करने में देवता भी भय खाते थे। यथा—'तब मधुबन भीतर सब आये। अंगद संमत मधुफल खाये ।।' श्रीरामजी ने असंख्य-असंख्य वानर-भालुओकी सेना लेकर लका पर चढ़ाई कर दी। सेना का पड़ाव सुबेल गिरिपर पड़ा। श्रीरघुनाथजीने आगे के कार्य-क्रम के लिये मन्त्रियों से परामर्श किया। श्रीजाम्बवानजी ने कहा—'मन्त्र कहउँ निजमति अनुसारा। दूत पठाइअ बालि कुमारा।। उस समय भगवान श्रीरामजी ने जो कुछ कहा है उससे श्रीअंगदजी की गौरव-गरिमा का प्रकाशन होता है। यथा—

चौ०—बालितनय बुधि बल गुण धामा। लंका जाहु तात मम कामा ।।
बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मै जानत अहऊँ ।।
काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई ।।

यहाँ पर श्रीप्रभु ने 'रिपुसन करेहु बतकही सोई।' यह कह कर श्रीअंगदजी को सर्वाधिकार देकर भेजा है। श्रीअंगदजी रावण के दरबार में एकदूत बनकर नही, बल्कि श्रीरामके प्रतिनिधि बनकर जाते हैं। श्रीअंगदजी ने आगे चलकर इस अधिकार का प्रयोग भी किया है। प्रभुकी आज्ञा को शिरोधार्य कर श्रीअंगद जी लंका मे प्रवेश किये। राक्षसेन्द्र रावणके पुत्र से मार्ग में कुछ विवाद हो गया। परम-स्वाभिमानी बालि-पुत्र अंगदजीने—'गहि पद पटकेउ भूमि भवाँई।' उसके प्राण पखेरू उड गये। रावणके दरबार में पहुँचते ही इनके दुर्धर्षतेज से हतप्रभ होकर उसके सभी सभासद उठ खडे हुए। यथा—'उठे सभासद कपिकहँ देखी। रावन उर भा क्रोध बिसेषी।।' इसके पश्चात् अगद-रावण सवाद बैठकबाजी (युक्ति द्वारा एक दूसरे को पराजित करने)का बेजोड़ नमूना है। श्रीअंगदजी ने रावण को तीन प्रकारसे समझाया। प्रथम तो बातोंसे-यथा—'अब शुभ कहा सुनहु तुम मोरा। सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा ।। दसनगहहु तृन कण्ठ कुठारी। परिजन सहित संग निज नारी ।। सादर जनक सुता करि आगे। एहिविधि चलहु सकल भय त्यागे ।। प्रणतपाल रघुवंशमणि, त्राहि-त्राहि अब मोहि। आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करेंगे तोहि।' (रा०च०मा०) परन्तु दुर्बुद्धि रावण ने इनके सदुपदेशकी उपेक्षाकी तथा भगवान श्रीरामजी की निन्दाकी। तब—

श्रीअंगदजी ने दूसरी प्रकार—हाथों से समझाया। यथा—'जब तेहिं कीन्ह राम कै निन्दा। क्रोधवन्त अति भयउ कपिन्द्रा ।। कट कटान कपि कुंजर भारी। दोउ भुजदण्ड तमकि महि मारी ।।'

श्रीअंगदजीके प्रवल भुजण्ड के आघातसे पृथ्वी डोल गई, रावण का सिंहासन डगमगा गया। वह लुढ़क कर पृथ्वी पर गिर पड़ा। श्रीअंगदजी ने वड़ी शीघ्रता से उसके चार मुकुट उठाकर श्रीराम के पास भेज दिये। रावण जैसे तैसे अपने को सँभालकर पुनः सिंहासन पर जा वैठा। परन्तु इतने पर भी जब उसे ज्ञान नहीं हुआ तव श्रीअंगदजीने तीसरा उपाय किया। कहावत है—'लातका प्राणी दान से नहीं मानता।' अंगदजीने भी अव इसे लात से ही समझाने का निश्चय किया। यथा—'समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा मांझ प्रन करि पद रोपा॥ जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं राम सीता मैं हारी॥ यह प्रतिज्ञा श्रीअंगदजीने दूताधिकार से नहीं वल्कि श्रीप्रभु के द्वारा प्राप्त विशेषाधिकार से की है। यहाँ श्रीअंगदजी का प्रतिनिधित्व प्रमाणित होता है। कितना अपार विश्वास है श्रीप्रभु में अंगदजी का। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—'तेहि समाज कियो कठिन प्रन जेहिं तौल्यो कैलास। तुलसी प्रभु महिमा कहौं (कि) सेवक को विस्वास॥'

मेघनादके समान करोड़ों योद्धा मिलकर भी, एक वार दो-वार, तीन वार जोर लगाकर भी श्रीअंगदजीका पाँव नहीं उठा सके। श्रीशिवजी कहते है—'तृनते कुलिस कुलिस तृन करई। तासुदूत पन कहु किमिटरई॥' श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—भूमिन छाँड़त कपिचरन देखत रिपुमद भाग। कोटिविघ्नते संतकर मन जिमि नीति न त्याग॥' श्रीअंगदजीने रावणको ललकारा। तव वह भी इनका पांव उठाने को झुका ही था कि इन्होने व्यङ्ग किया—'गहत चरन कह वालि कुमारा। मम पद गहे न तोर उवारा॥ गहसि न राम चरण सठ जाई। सुनत फिरा मन अति सकुचाई॥' इस प्रकार रिपुवल को धर्षित करके वालिकुमार श्रीअंगदजीने हर्षमें भरे हुये आकर श्रीरामजीके चरणों में प्रणाम किया।

श्रीरामजीने अपने प्रिय भक्त अंगदके वल-पराक्रमको प्रकाशित करने के लिये अत्यन्त सम्मान पूर्वक अपने समीप वैठाकर कौतूहल पूर्वक पूछा—भैया अंगद! महावलवान् राक्षसेन्द्र रावणके चार मुकुट तुम्हे किस प्रकार प्राप्त हुये, जिन्हे यहाँ फेंक दिया था? श्रीअंगदजीने इस प्रश्न के उत्तर में अपनी अप्रतिम प्रतिभाका परिचय दिया। यथा—'सुनु सर्वज्ञ प्रणत सुखकारी। मुकुट न होहिं भूपगुन चारी॥ साम दान अरु दण्ड विभेदा। नृप उर वसहिं नाथ कह वेदा॥ नीति धर्मके चरन सुहाये। अस जियँ जानि नाथ पहिं आये॥ धर्म हीन प्रभु पद विमुख काल विवस दससीस। तेहि परिहरि गुण आये सुनहु कोसलाधीस॥ परम चतुरता श्रवन सुनि विहँसे राम उदार। समाचार पुनि सव कहे गढ़के वालि कुमार॥ (रामा०) युद्ध में भी श्रीअंगदजी का पराक्रम परम प्रशंसनीय रहा।

श्रीअंगदजीके अनुरागका दर्शन तो उस समय होता है जव श्रीरामराज्याभिषेकोपरान्त सभी सखाओं की विदाई होती हैं। सवको यथोचित वस्त्राभूषणोसे समलङ्कृत कर ससम्मान विदा किया जा रहा हैं। परन्तु—'अंगद वैठ रहा नहिं डोला। देखि प्रीति प्रभु ताहि न वोला॥' जव सव लोग विदा हो गये—

दो०—तव अंगद उठिनाइ सिरु सजल नयन कर जोरि।
अति विनीत वोले वचन मनहुँ प्रेमरस वोरि॥

चौ०—सुनुसर्वज्ञ कृपा सुखसिन्धो। दीन दयाकर आरत वन्धो॥
मरती वेरनाथ मोहिं वाली। गयउ तुम्हारेहि कोछे घाली॥
असरनसरन विरद संभारी। मोहिं जनि तजहु भगत हितकारी॥
मोरे तुम्ह प्रभु गुरु पितुमाता। जाउँ कहां तजि पदजलजाता॥

तुम्हहि विचारि कहहु नरनाहा। प्रभुतजि भवन काज मम काहा ॥
बालक ज्ञान बुद्धि बलहीना। राखहु सरन नाथ जनदीना ॥
नीचि टहल गृह की सब करिहऊँ। पदपंकज विलोकि भव तरिहऊँ ॥
असकहि चरन परेउ प्रभु पाही। अब जनि नाथ कहहु गृहजाही ॥

दो०—अंगद वचन विनीत सुनि रघुपति करुणासींव।
प्रभु उठाइ उरलायऊ सजलनयन राजीव ॥
निज उरमाल वसनमणि बालितनय पहिराइ।
बिदाकीन्ह भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ ॥ (रामा०)

चौपाई—अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा। फिरि फिरि चितव रामकी ओरा ॥

जिस समय सबको पहुंचाकर श्रीभरतादिक लौट रहे थे उस समय श्रीअंगदजीने अत्यन्त प्रेम-कातर होकर श्रीहनुमानजीसे कहा—'कहेहु दण्डवत प्रभु सैं तुम्हहिं कहउँ कर जोरि। बार-बार रघुनाथ कहिं सुरति कराएहु मोरि ॥' (रामा०) श्रीअङ्गदजी के प्रेम का स्मरण करके भगवान श्रीरामजी भाव मग्न हो जाते है। यथा—'अस कहि चले वालि सुत फिरि आयउ हनुमन्त। तासुप्रीति प्रभुसन कही मगन भये भगवन्त ॥' (रा०च० मा०)

केशरी औरस—एक मतवाला हाथी ऋषियोंके आश्रममें जाकर बहुत ऊधम मचाता, आश्रम उजाड़ देता, वस्तुएँ सब नष्ट भ्रष्ट कर देता। तब महात्माओने वानरराज केशरी से कहा तो इन्होंने हाथी को पकड़कर ऊपर आकाशमें फेंक दिया जो चक्रवात में फँसकर नीचे गिरा ही नही। तब ऋषियों ने वरदान दिया कि आपको महाबली पुत्र होगा। यही कारण है कि श्रीहनुमानजीभी लंकाके युद्धमें वहुत से राक्षसों को ऊपर आकाश में उछाल दिये जो आजतक भ्रमवात में चक्कर काट रहे है। यथा—

जे रजनीचर वीर विशाल कराल विलोकत काल न खाये।
ते रनरोर कपीश किशोर बड़े बर जोर परे फँग पाये ॥
लूम लपेटि अकाश निहारि कै हाँकि हठी हनुमान चलाये।
सूखिगे गात चले नभ जात परे भ्रम वात न भूतल आये ॥ (क०)

श्रीहनुमानजी का चरित्र पूर्व आ चुका है। देखिये छप्पय ६।

श्रीदधिमुखजी—ये श्रीसुग्रीवजीके मामा थे। चन्द्रमा के अंश से उत्पन्न हुये थे। यथा—सौम्यः सोमात्मजश्चात्र राजन् दधि मुखः कपिः (वा०रा०)

श्रीद्विविदजी—मयन्दजी—ये दोनों अश्विनीकुमारोंके पुत्र हैं। यथा—'मैन्दश्च द्विविदश्चोभौ वलिनावश्विसम्भवौ ॥' (वा० रा०) श्रीजाम्ववान्‌जीकी कथा पूर्व आ चुकी है।

श्रीसुषेनजी—ये धर्मके पुत्र है। यथा—सुषेणश्चात्र धर्मात्मा पुत्रो धर्मस्य वीर्यवान् ॥ (वा० रा०)

श्रीनील-नलजी—नीलजी अग्निके पुत्र हैं। यथा—पुत्रो हुतवहस्यात्र नीलः सेनापतिः स्वयं ॥ नलजी विश्वकर्मा के पुत्र थे यथा—विश्वकर्मा त्वजनयन्नलं नाम महाकपिम् ॥ (वा० रा०) नलने

श्रीरामजीने कहा है कि हमारे पिताने हमारी माताको वरदान दिया था कि तुम्हारा पुत्र हमारे ही समान उत्पन्न होगा। अतएव हम पिताके समान सब कुछ बनाने मे चतुर हैं। एक ही माता से उत्पन्न होने के कारण पिता भिन्न होने पर भी दोनों भाई कहे गये हैं। यथा—'नाथ नील नल कपि द्वौ भाई।' आनन्द रामायणमे कथा है कि मुनियो के शालग्राम को जलमें फेंक दिया करते थे। त्रिकालज्ञ महर्षियोंने भावी समुद्र बन्धन रूप कार्यको देखकर शापके व्याजसे ऐसा वरदान दिया कि पाषाण तुम्हारे स्पर्श मात्रसे जल मे नही डूबेगा। वरन् तैरेगा। यथा—समुद्र वचन—'नाथ नीलनल कपि द्वौ भाई। लरिकाइँ रिपि आसिप पाई॥ तिन्हके परस किये गिरि भारे! तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥' बात सत्य निकली। नल-नीलने पाच दिनमें ही सौयोजन विस्तीर्ण समुद्रपर दस योजन की चौड़ाई का सुन्दर एवं सुदृढ़ सेतु बनाकर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। यथा—'बाधा सेतु नील नल नागर। राम कृपा जस भयउ उजागर॥' रावणने श्रीअङ्गदजीसे नलनील का उपहास करते हुये कहा था कि—'शिल्पकर्म जानहिं नल नीला।' तो युद्ध में इन दोनों शिल्पियों ने रावण की खोपड़ी की भी मरम्मत की थी। यथा—'तब नल नील सिरन्हि चढ़ि गयऊ। नखन्हिलिलार विदारत भयऊ॥ ये दोनों विन्ध्याचल निवासी और दस-दस करोड़ वानरोंके यूथपति थे। श्रीसुग्रीवजीके मन्त्री थे।

श्रीशरभजी—ये पर्जन्यदेवके पुत्र थे। यथा-शरभं जनयामास पर्जन्यस्तु महाबलः॥(वा०रा०)

श्रीगवय—गवाक्षजी—ये यमराजके पुत्र थे। यथा—पुत्रा वैवस्वतस्याथ पञ्च कालान्तकोपमा.। गजो गवाक्षो, गवयः शरभो गन्धमादनः॥ (वा० रा०)

श्रीगन्धमादनजी—ये कुवेर के पुत्र थे। यथा—धनदस्य सुतः श्रीमान् वानरोगन्धमादनः। (वा० रा०) पद्म अठारह यूथपाल—यथा—'अस मैं श्रवन सुना दसकन्धर। पद्म अठारह यूथप बन्दर॥' असख्यवानर-भालु वीरों में अठारह पद्म यूथपति थे और इन अठारह पद्म यूथपतियों के ऊपर छप्पय मे वर्णित सुग्रीवादि अठारह यूथपालपति थे। यद्यपि ये सभी अपने को श्रीरामजीका दास ही मानते थे परन्तु श्रीरामजी इन्हे अपना सखा मानते थे। यथा—'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ बेरे॥ ममहित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहुं ते मोहिं अधिक पियारे॥' (रा०च०मा०)

जे सहचर—कहकर जनाया गया कि ये और इनके अतिरिक्त और भी जो सहचर (सखा) हैं वे सब मेरे ऊपर कृपा दृष्टि की वृष्टि करें। श्रीरामरसायन ग्रन्थमें श्रीअयोध्या के भी अठारह सखाओं का उल्लेख पाया जाता है। यथा—

सुन्दर, शेखर, वीरसेन, मणिभद्र निहारौं।
तेजरूप, रसिकेश, कलाधर, हृदय विचारौं॥
बाणरूप, रस रास, मनोहर और गुणाकर।
मानद पुनि पत्रीश बहुरि वनपाल, गदाधर॥
रमनेश, पद्मकर, शीलनिधि रसिकविहारी जानिये।
रघुवीर सखा ये अष्टदश अन्तरङ्ग पहिचानिये॥

नव नन्दजी

व्रज बड़े गोप पर्जन्य के सुतनीके नवनन्द ॥
धरानन्द, ध्रुवनन्द, तृतिय उपनन्द सुनागर।
चतुर्थ तहाँ अभिनन्द, नन्द, सुख सिन्धु उजागर ॥
सुठि सुनन्द पशुपाल, निर्मल निश्चय अभिनन्दन।
कर्मा धर्मानन्द अनुज वल्लभ जग बन्दन ॥
आस पास वा बगर के जहँ विहरत पशुप सुछन्द।
व्रज बड़े गोप पर्जन्य के सुतनीके नव नन्द ॥२१॥

शब्दार्थ—व्रज=गायोंके रहनेका स्थान, श्रीकृष्णकी लीलाभूमि' चौरासी कोश मथुरा मण्डल। नागर—चतुर। उजागर=प्रसिद्ध, दीप्तिमान्, चमकीले। पशुपाल=गायोंके पालक, पशुओंके रक्षक। निर्मल=दोष रहित, पवित्र। वा=उस। वगर=गायोंके बाँधनेका स्थान, टोला, महल। पशुप=गोप, ग्वाल। सुछन्द=स्वच्छन्द, स्वतन्त्र, अपनी इच्छानुसार।

भावार्थ—व्रजमण्डलके सबसे बड़े माननीय गोप पर्जन्यजीके अति सुन्दर एवं सुशील नौ पुत्र थे, वही नवनन्द हैं। धरानन्दजी ध्रुवनन्दजी, तीसरे परमचतुर उपनन्दजी और चौथे अभिनन्दजी थे। प्रसिद्ध यशस्वी तथा सुखके सागर नन्दजी थे। पशुओंके पालक आनंदप्रद निर्मल और निश्चल बुद्धिवाले सुनन्दजी थे। विश्ववन्दनीय कर्मानन्दजी, और धर्मानन्दजी तथा उनके छोटे भाई वल्लभजी थे। जहाँ गायोंके चरनेका स्थान है वहाँ उसीके आस-पास स्वच्छन्दतासे ये गोप विचरते रहते थे ॥२१॥

व्याख्या—व्रज—व्रजभूमि मोहिनी मैं जानी।
मोहन कुञ्ज मोहन वृंदावन मोहन यमुना पानी ॥
मोहननारि सकल गोकुल की बोलत अमृत बानी।
जै श्रीभटके प्रभु मोहन नागर मोहन राधारानी ॥

श्रीपर्जन्यजी—यदुवंशमें सर्वगुण सम्पन्न एक देवमीढ़ नामके राजा हुये। वे श्रीमथुराजी में निवास करते थे। उनके दो पत्नियाँ थीं, पहली क्षत्रिय वर्ण की, दूसरी वैश्य वर्ण की। उन दोनों रानियोके क्रम से यथा योग्य दो पुत्र हुये। एकका नाम था शूरसेन, दूसरे का नाम थो पर्जन्य। माता-पिता दोनों क्षत्रियवर्ण होने से श्रीशूरसेनजी क्षत्रिय रहे। परन्तु पर्जन्य जी का जन्म वैश्य वर्णकी माता से हुआ था अतः 'मातृवद् वर्णसङ्कर:' इस न्यायसे वैश्य जाति को प्राप्त होकर इन्होने गोपालन वृत्ति विशेष को अपनाया। ये वड़े ही भगवत-भागवत सेवी थे। साधु ब्राह्मणों में इनकी अपार श्रद्धा थी। ये अपने औदार्य गुणसे परम प्रशंसनीय थे। ये यश में प्रह्लाद, प्रतिज्ञामें ध्रुव, महिमा में पृथु, शत्रुओके प्रति भीष्म, मित्रोंके प्रति शङ्कर, गौरव में ब्रह्मा तथा तेजमें श्रीहरि के तुल्य थे। पर्जन्य (मेघ) की तरह प्राणिमात्रके लिये मंगलकारी होकर इन्होने अपनें पंर्जन्य नाम को चरितार्थ कर दिया था। इनके समान

ही इनकी परम भागवती पत्नी ने भी सर्व शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न होकर अपने 'वरीयसी' इस नाम को सार्थक किया था। ये समस्त गोपों के राजा थे। इनके परम भाग्यशाली उपनन्दादि नव पुत्र थे।

श्रीनन्दजी—श्रीगोपाल चम्पूमें वर्णन आता है कि श्रीपर्जन्यजीने श्रीवसुदेव आदि राजाओं एवं श्रीगर्गाचार्य आदि ब्राह्मणों की सभा करके अपने ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र श्रीउपनन्दजी को राजतिलक दे दिया। परन्तु श्रीउपनन्दजी ने पूर्व विधि के अनुसार ही अपने मझले भाई श्रीनन्दजी को ही गोकुलके राजा के रूप में सम्मानित कर दिया। श्रीनन्दजी भी सलाह के बहाने विशेष रूपसे श्रीउपनन्दजीकी आज्ञा का ही पालन करते हुये प्राणवत् प्रजा का पालन करते थे। सुमुख गोपकी कन्या श्रीयशोदा नन्दरानी के रूप मे सुशोभित हुई। श्रीनन्द-यशोदा का दिव्य दाम्पत्य परमसुखावह था। व्रजराज श्रीनन्दजी सब प्रकार की समृद्धियोंसे सम्पन्न थे, परन्तु उनके पुत्र नही था। अवस्था भी ढल गयी थी। चौथापन चुनौती दे रहा था। श्रीउपनन्द आदि वृद्ध गोपों ने परस्पर परामर्श करके एक पुत्रेष्टि यज्ञ का आयोजन किया। सबने यज्ञ पुरुष से गोपराजनन्द के लिये पुत्र प्रदान करने की प्रार्थना की।

उधर बाहर यज्ञ हो रहा था, इधर अन्तःपुरमें श्रीनन्दजी यशोदासे कह रहे थे—महरि! यद्यपि मनमें पुत्रकी कामना है और पुत्रेष्टि यज्ञ में मेरा विश्वास भी है, परन्तु मन में जिस प्रकार के पुत्र की अभिलाषा है, और हमारे हृदयमे जिसकी स्फूर्ति भी होती रहती है, कर्म के फलस्वरूप उसे प्राप्त करने की आशा दुराशा मात्र है। श्रीयशोदाजी ने बड़ी उत्कण्ठा के साथ जब उस सङ्कल्पित शिशुके सम्बन्धमें जिज्ञासा की तो श्रीनन्दजी कहने लगे—

> श्यामश्चञ्चल चारु दीर्घ नयनो बालस्तवाङ्कस्थले,
> दुग्धोद्गारि पयोधरे स्फुटमसौ क्रीडन् मयालोक्यते॥
> स्वप्नस्तत् किमु जागरः किमथवेत्येतन्न निश्चीयते।
> सत्यं ब्रूहि सधर्मिणि स्फुरति किं सोऽयं तवाप्यन्तरे॥

अर्थ—मैं देखता हूँ, दिव्यातिदिव्य नीलमणि सदृश श्यामसुन्दरवर्ण एक बालक, जिसके चञ्चल, मनोहर नेत्र अत्यन्त विशाल हैं, तुम्हारी गोद में स्थित होकर तुम्हारे दुग्धस्रावी पयोधरोंका दुग्धपानकर रहा है और भाँति-भाति के खेल कर रहा है। उसे देखकर मैं अपने आपको खो देता हूँ। सोता हूं या जागता, कुछ भी पता नही चलता। यशोदे! सत्य बताओ—क्या कभी तुमने भी स्वप्नमें इस बालक को देखा है? आनन्द विह्वल होकर गद् गद कण्ठ से श्री यशोदा बोली—व्रजराज! सचमुच मैं भी ठीक ऐसे ही बालक को सदा अपनी गोद मे खेलता देखती हूं। तदनन्तर श्रीनन्द-यशोदा इसे श्रीहरि कृपा समझकर, दोनो ने तन, मन, वचनसे श्रीहरि-चरण-शरणापन्न होकर एक वर्षके लिये भगवानको अत्यन्त प्रिय द्वादशी के दिन यथा विधि व्रत करने का नियम लिया और व्रत आरम्भ कर दिया। व्रतानुष्ठान सर्वाङ्गपूर्ण सम्पन्न हुआ। एक दिन श्रीयशोदाजी ने स्वप्नकीभांति यह अनुभव किया कि वह पहले स्वप्न मे देखा हुआ बालक एक विद्युत वर्णा बालिकाके साथ नन्द हृदयसे निकलकर उनके हृदय में प्रवेश कर रहा है। बस, तभी से यशोदा के गर्भ-लक्षण प्रकट होने लगे और आठ महीने के बाद भाद्र मासकी कृष्णाष्टमीके दिन आनन्दकन्द श्रीगोविन्द का प्राकट्य हुआ। बड़ा भारी उत्सव मनाया गया। यत्र तत्र सर्वत्र 'नन्दके आनन्दभयो जै कन्हैयालाल की' यह मङ्गल ध्वनि छा गई। श्रीनन्दजी तो वात्सल्यरस के साकार स्वरूप है। अपने लालके प्रति इनका प्रेम दिन-दूना, रात चौगुना-सौगुना बढ़ने लगा। ये रात दिन अपने लालकी

मंगल कामनाके लिये विविध जप-तप-पूजा-पाठ, व्रतोपवासों का अनुष्ठान करते रहते थे। जब गोकुलमें कंस के कारण नित्य प्रति अनेक प्रकार के उपद्रव होने लगे तो ये अपने सम्पूर्ण समाज को लेकर बरसाने के समीप आकर बस गये। गाँव का नाम पड़ा नन्दगाँव।

एकबार नन्दबाबाने कार्तिक शुक्ल एकादशी का उपवास किया था। दिनभर भगवान की सेवा पूजा मे लगे रहे रात्रि में गोपो के संग श्रीहरिनाम कीर्त्तन करते हुये जागरण किये। रात्रि अभी अधिक शेष थी, ये स्नान करने चल पड़े। श्रीयमुनाजी में प्रवेश करते ही जल के देवता वरुण के दूत उन्हें पकड़ कर अपने स्वामी के पास ले गये। श्रीनन्दबाबाको न देखकर गोपोमें बड़ी खलबली मच गई। वे श्रीकृष्ण एवं बलरामका नाम ले लेकर विलाप करने लगे। सर्वज्ञ श्रीकृष्ण व्रजवासियोंको सान्त्वना देकर श्रीयमुना में कूदकर वरुणलोक पहुँच गये। वरुणदेवताने श्रीकृष्णकी बड़ी पूजा की और उनका दर्शनपाकर अपने जीवन और जन्म को सफल माना तथा दूतों की धृष्टताके लिये क्षमा-याचना की। इसके बाद भगवान श्रीकृष्ण अपने पिताको लेकर व्रज में चले आये और व्रजवासी बन्धुओंको आनन्दित किये। श्रीनन्दबाबा को वरुणका ऐश्वर्य तथा अपने लाला का प्रभाव देखकर बड़ा विस्मय हुआ। ऐसे ही एकबार नन्दबाबा बे गोपो के सहित शिवरात्रि के अवसर पर अम्बिका वन की यात्रा की। वहाँ एक बड़ा भारी अजगर रहता था। उसने सोये हुये नन्दजी को पकड़ लिया। जब वे चिल्लाये तो भक्त वत्सल भगवान ने वहाँ पहुंचकर अपने चरणोसे उस अजगर को छूकर उसका उद्धार किया और अपने पिता की रक्षा की।

जब अक्रूरजी के साथ श्रीकृष्ण और बलराम मथुरा चले गये और पुन. स्वयं नही लौटे परन्तु श्रीनन्दबाबाको विवश होकर पुनः व्रजको लौट आना पड़ा। श्रीकृष्णकी लीलाओं का संस्मरण ही उनके जीवन का एकमात्र सम्बल रह गया था। जिस समय श्रीउद्धवजी श्रीश्यामसुन्दर का सन्देश लेकर व्रज आये और श्रीनन्दबाबासे मिले उस समय जब ये अपने लालकी एक-एक लीलाओं की यादकर करके ऊधवसे श्रीकृष्ण की कुशल पूँछने लगे तब वे तो इनके लोकोत्तर वात्सल्य स्नेह को देखकर चकित हो गये। प्रेमकी कैसी अद्भुत महिमा है कि श्रीकृष्ण के अनेकों अति मानुष्य चरित्रों को अपनी आँखोसे देखकर भी श्रीनंदबाबा तो उन्हें अपना लाल ही मानते हैं। तभी तो जगत पिता ने भी अपने सर्वैश्वर्यको भुलाकर इनका पुत्र बनकर विविध विनोद किया।

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमपरे भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म॥

समस्त व्रजवासी गण

बाल वृद्ध नर नारि गोप हौं अर्थी उन पादरज॥
नन्दगोप उपनंद ध्रुव धरानंद महरि जसोदा।
कीरतिदा वृषभानु कुँवरि सहचरि मन मोदा॥
मधुमङ्गल सुबल सुबाहु भोज अर्जुन श्रीदामा।
मण्डल ग्वाल अनेक श्याम-सङ्गी बहुनामा॥
घोष निवासिनकी कृपा सुर-नर बांछित आदि अज।
बाल वृद्ध नर नारि गोप हौं अर्थी उन पाद रज॥२२॥

शब्दार्थ—महरि=[महर=] जमींदारो और वैश्योमें श्रेष्ठ, उसकी स्त्री। यशोदा=नन्द पत्नी, यश देनेवाली। घोप=गोपोकी वस्ती, व्रजमण्डल। आदि अज=ब्रह्मा आदि देव। अर्थी=स्वार्थी, चाहने वाला।

भावार्थ—ब्रह्मा आदि सभी देव तथा ऋषिमुनि जिन व्रजमण्डलके निवासियोकी कृपाको चाहते हैं उन वालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी गोपी ग्वालोकी चरणरजको मै अपने शिरपर चढाना चाहता हूँ। नन्दगोप, उपनन्द, ध्रुवनन्द, धरानन्द, नन्दजीकी पत्नी यशोदाजी, कीर्ति देनेवाली वृपभानुकी पत्नी कीर्तिजी, वरसानेके राजा वृपभानुजी, वृपभानुकुमारी श्रीराधिका, प्रसन्नचित्ता सखियाँ, मधुमङ्गल, सुवल, सुवाहु, भोज, अर्जुन, श्रीदामा और सम्पूर्ण ग्वालमण्डली जिनके अनेक नाम हैं जो श्याम सुन्दर श्रीकृष्ण चन्द्रके साथी है, इन सवके पदकी धूरिका चाहनेवाला हूँ ॥२२॥

व्याख्या—श्रीयशोदाजी—श्रीनन्द-यशोदा श्रीकृष्णके नित्य पिता-माता हैं। तथापि लीलाकालमें अन्य भगवद्विभूतियोका भी पिता-माता के रूपमें प्रतिष्ठित होना पाया जाता है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें प्रसङ्ग आता है कि वसुओ में श्रेष्ठ तपोधन द्रोणही श्रीनन्दजी के रूप में तथा उनकी पत्नी परम तपस्विनी धरा ही श्रीयशोदाजीके रूपमें प्रकट हुई थीं। इन दोनोंने श्रीहरिको पुत्र रूप में पाने का वरदान पाया था। वात वस्तुतस्तु यह हैं कि नित्य पिता-माता नन्द-यशोदा में ही इनका अंश भी समाया रहता है। वात्सल्य रसकी अप्रतिम प्रतिमा श्रीयशोदा के सुख सौभाग्यका कौन वर्णन कर सकता है जिनके पुत्र रूप मे प्रगट हुये स्वयं भगवान परमानन्द कन्द श्रीकृष्णचन्द्र।

श्रीनारदजी कहते है—

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वं,
गत्वा कीदृग्विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव।
न शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं,
तत्पूर्णं ब्रह्म भूमौ विलुठति विलपन् क्रोडमारोढुकामः॥

अर्थ—अरी यशोदे! तुझसे हम क्या कहें, अकेली तूने ही न जाने कितने पुण्यक्षेत्रों में जाकर किन-किन विधियो द्वारा कितने-कितने पुण्य किये हैं अरी! जिनकी कृपा कटाक्षको इन्द्र, ब्रह्मा और महादेव कोई भी प्राप्त नही कर सके वह पूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण तेरी गोदमें चढ़ने के लिये रोता हुआ पृथ्वी पर लोट रहा है। तू धन्य है।

श्रीमद्गोस्वामीतुलसीदासजी कहते हैं—

(माता) लै उछंग गोविन्द मुख बार बार निरखै। पुलकित तनु आनँदघन छन छनमन हरषै॥
पूछत तोतरात बात मातहि यदुराई। अतिसय सुख जाते तोहि मोहि कहु समुझाई॥
देखत तुव वदन कमल मन अनन्द होई। कहै कौन रसन मौन जानै कोइ कोई॥
सुन्दर मुख मोहि देखाउ इच्छा अति मोरे। मम समान पुण्य पुंज बालक नहि तोरे॥
तुलसी प्रभु प्रेम विबस मनुज रूप धारी। वालकेलि लीला रस व्रजजन हितकारी॥
(कृष्णगीतावली)

श्रीयशोदाजीके वात्सल्यकी वलिहारी है। 'जासु त्रासडर कहुँ डर होई।' उन्हें ही वह हाऊ का भय दिखाती है। यथा—

पद—खेलन दूर जात कित कान्हा।
आज सुन्यो बन हाऊ आयो तुम नहिं जानत नान्हा॥
यह लरिका अबहीं भजि आयो लेहु पूछि किन ताहि।
कान काटि वह लेत सबनिके लरिका जानत जाहि॥
चलहु वेग सवरे जैये भजि अपने अपने धाम।
सूरदास यह वात सुनत ही बोलि लिये वलराम॥

वालकृष्ण भी अपनी मैया यशोदा पर कितना प्यार करते हैं, वह वर्णन नहीं किया जा सकता है। कथा आती है जव मैया यशोदाने लालको ऊखलमें बांध दिया था। श्रीनन्दनन्दनके संस्पर्श से यमलार्जुन का उद्धार हुआ। जब उन दोनों वृक्षों के गिरने का शब्द नन्दबाबाको सुनाई पड़ा तो वे अथाई परसे दौड़े दौड़े आये। जव उन्हें सव वृत्तान्त मालूम हुआ तो वे लालको गोदमें उठा लिये, श्रीयशोदा पर वहुत नाराज हुये और अन्तमें यह कहे कि देखो महरि! हमें तुमसे कोई प्रयोजन नहीं है। यदि लालको इस प्रकार प्रताड़ित करोगी तो मैं इसे लेकर कहीं तीर्थमें चला जाऊँगा। यथा—'यास्यामितीर्थमद्यैव कण्ठे कृत्वा तु वालकम्। अथवा त्वं गृहाद्गच्छ त्वया मे किं प्रयोजनम्॥' (ब्र० वै० पु०) यहकर श्रीनन्दवावा लाल को लेकर पुनः अथाई पर चले गये। इधर मैया को बहुत पश्चात्ताप हुआ। वे अपने को धिक्कारने लगीं। हाय! मेरे हाथ नहीं कट गये। जेवरी नहीं जल गई। आदि आदि। मैयाके दुःखका पारावार नहीं था। उधर वालकृष्ण मैयाके स्नेह से आकृष्ट हुये। लीलाविहारीने लीला ठानी। बोले—वावा! वड़े जोर की भूख लगी है। वावा ने तुरन्त एक गोपसे कहा—जारे, अपने घर से दूध तो लेआ। ग्वाल बोला—वावा! अभी हाल लाया। यह कहकर जव वह गोप चलने लगा तो श्रीवालकृष्ण बोले—ना वावा, मैं तो मैया का दूध पीऊँगा। वावा वोले—क्यों लाला—मैंने तो तेरे ही लिये तेरी मैया को छोड़ा और तू उसी का पक्ष लेता है। लाल वोले—ना वावा, मैं तो मैया का ही दूध पीऊँगा और मैया की गोदी में जाऊँगा। तव तक वहाँ यशोदा की भेजी हुई एक ग्वालिन आई। वह अथाई के नीचे से सव वात सुन रही थी। श्यामसुन्दर का रुखजानकर झट से उसने गोदमें लेने के लिये हाथ उठाया। लाल लपककर तुरन्त गोदमें आ गये। मैया यशोदाने आगे वढ़कर लालको अपनी गोदमें लेकर मुह चूमा। यह है मैया और कन्हैया का परस्पर का भाव।

श्रीकृष्ण-वलराम श्रीअक्रूरजीके साथ मथुरा जा रहे हैं। मैया यशोदा का हृदय विदीर्ण हो रहा है। वह करुणक्रन्दन करते हुये कहती हैं—

पद—यशोदा वार-वार यों भाखै।
है कोउ व्रजमें हितू हमारो चलत गोपालहिं राखै॥
कहा काज मेरे छगन मगन को नृप मधुपुरी बुलाये।
सुफलक सुत मेरे प्राण हतन को काल रूप ह्वै आये॥
वरु ए गोधन हरौ कंस सव मोहि वंदिलैमेलौ।
इतनो ही सुख कमल नैन मो अँखियन आगे खेलौ॥

बासर बदन विलोकतजीऊँ निसि निज अंकम लावौं।
तेहि बिछुरत जौं जिऊँ करमवस तौ हँसि काहि बुलावौं॥
कमलनैनगुन टेरत टेरत अधर बदन कुम्हिलानी।
सूर कहाँ लगि प्रगट जनाऊँ दुखित नन्द की रानी॥

श्रीकृष्ण-बलराम मथुरा चले गये। संगमें श्रीनन्द बाबा भी गये थे। परन्तु राम-कृष्ण तो वहीं रह गये। अकेले नन्द बाबा घर लौट आये केवल श्याम सुन्दर की सुधियों को सँजोए हुये। मैंया ने देखा—लाल नहीं आये। हृदय चीत्कार कर उठा—प्रियपति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है? दुखजल निधि डूबी का सहारा कहाँ है? लखमुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ। वह हृदय दुलारा नैन तारा कहाँ है? पलपल जिसके मैं पन्थको देखती थी। निशि दिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती॥ उर पर जिसके है सोहती मुक्त माला। वह नव नलिनीसे नैन वाला कहाँ है? सहकर कितने ही कष्ट और संकटों को। वह यजन कराके पूजिके निर्जरों को॥ वह सुवन मिला है जो मुझे यत्न द्वारा। प्रियतम वह मेरा कृष्ण प्यारा कहाँ है? (प्रिय प्रवास)

मैंया बाबा का स्नेह श्रीकृष्ण मथुरेश, द्वारकेश होने पर भी नही भूल सके। यथा—

ऊधो मोहिं व्रज बिसरत नाहीं।
वृन्दावन गोकुलतन आवत सघन तृणन की छाहीं॥
प्रात समय माता यशुमति अरु नन्द देखि सुख पावत।
माखन रोटी दह्यो सजायो अति हित साथ खवावत॥ (सू० सा०)

सूर्य ग्रहणके समय कुरुक्षेत्र मे श्रीनन्द यशोदा एवं समस्त व्रजवासियों से श्रीकृष्ण का मिलन हुआ। मैंया यशोदा श्रीकृष्ण को द्वारकानाथ समझकर मिलने में हिचक रहीं थी। तब श्रीकृष्ण स्वयं ललककर मैंयाके पास जाकर बोले—

अबहँसि भेटहु कहि मोहिं निजसुत बाल तिहारो हौं नन्ददोहाई।
रोम पुलकि गदगद तनु तिहि छिन जलधारा नैननि दरसाई॥
मिले सुतात मात बन्धू सब कुशल कुशल करि प्रश्न चलाई।
सूरदास प्रभु कृपा करी अब चितहिं धरे पुनिकरी बड़ाई॥ (सू० सा०)

श्रीकीरतिदा-वृषभानुकुँवरि—श्रीराधा—भगवान के लीला सम्पादनार्थ गोलोक से वसुदामगोप ही श्रीवृषभानु गोप होकर इस भूतल पर आये और पितरों की मानसी कन्या कलावती ही रानी कीर्तिदा हुई। इन्हीं दिव्य दम्पति श्रीकीर्तिदा वृषभानुजीके यहाँ भगवानकी परमाह्लादिनी सार स्वरूपा श्रीराधा स्वेच्छासे पुत्री रूपमें प्रगट हुई। श्रीराधाकृष्ण-युगल तत्वतः 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' हैं। परन्तु भक्तों को परम प्रेम रस का आस्वादन कराकर उन्हें परमानन्द प्रदान करने के लिये नित्य युगल स्वरूपमे विराजमान होकर विविध रसमय केलि विलास किया करते हैं। प्रेमकी परमावधि श्रीराधा-माधव एक होकर भी दो रूपों में विहार करते हैं और दो रूपो मे विहार करते हुये भी एक हैं। यथा—

प्रेयांस्तेऽहं त्वमपि च मम प्रेयसीति प्रवाद,
स्त्वंमे प्राणा अहमपि तवास्मीति हन्त प्रलापः।
त्वं मे ते स्यामहमिति च यत् तच्चनो साधु राधे,
व्याहारे नौ नहि समुचितो युष्मदस्मत्प्रयोगः ॥

अर्थ—(भगवान श्रीकृष्ण श्रीराधाजी से कहते है) मैं प्रियतम हूँ और तुम मेरी प्रियतमा हो यों कहना केवल किवदन्ती मात्र है। तू मेरे प्राण है मैं तेरे प्राण हूँ—यह कहना भी प्रलाप ही करना है। तू मेरी है और मैं तेरा हूँ—यह भी कोई साधु प्रयोग नही है। हम दोनों में कभी तू और मैं का किसी प्रकार भी कोई भेद सूचित हो, यह उचित नही। अर्थात् हम दोनों में कभी कोई भेद है ही नहीं।

व्रज लीला में श्रीराधा-माधव की अनादि अनिर्वचनीय प्रीति जन्म से ही देखी जाती है। कीर्ति रानी ने अनुपम लावण्य मूर्ति लली को जन्म दिया है। वरसाने ही नही सम्पूर्ण व्रजमण्डल, वस्तुतस्तु समस्त व्रह्माण्ड परमोल्लसित है। वधाइयाँ वज रही है, दान दक्षिणा, भेट न्यौछावरे हो रही हैं। भला वृषभानु वावा और कीर्तिरानी का सुख कौन वर्णन कर सकता है। तब तक एकाएक श्रीकीर्ति रानी की दृष्टि लली के नेत्रों पर पड़ी। देखा, नेत्र वन्द है। वहुत काल तक प्रतीक्षा करने के वाद भी नेत्र नही खुले। मैया चिन्तित हो गई, वावा उदास हो गये, लोगों को भी जव यह मालूम हुआ तो सवके मुखों पर कुछ म्लानता सी छागई। वहुत उपाय करने पर भी नेत्र वन्द ही रहे। लोग किंकर्तव्य विमूढ़ हो रहे थे। तव तक श्रीनन्दरानी अपने लाल को गोद में लिए हुये लली की वधाई लेकर श्रीवृष भानुजी के घर आई। श्रीकीर्तिरानी के हर्ष का ठिकाना नही रहा, जव उन्होंने देखा कि मेरी लाड़िली ने यशोदा नन्दन को देखते ही किलकारी मारकर आँखे खोल दी। इस प्रकार श्रीराधा जीने लीला काल में भी सर्व प्रथम श्रीकृष्ण को ही देखा। परमाह्लादिनी राधाने अपने वाल-विनोद से माता-पिता एवं समस्त परिजन पुरजनों को परम आनन्द प्रदान किया।

धीरे-धीरे वड़ी होकर जव वे सखियों के साथ व्रज की वीथियों एवं यमुना पुलिन आदि स्थलों पर खेलने जाने लगीं तो एक दिन उन्हें अचानक श्रीश्यामसुन्दर मिल गये। श्रीसूरदासजी कहते है कि—'सूरश्याम देखतही रीझे नैन नैन मिलिपरी ठगौरी ॥' फिर तो वे पूछ ही वैठे—'वूझत श्याम कौन तूँ गोरी। कहाँ रहति काकी है वेटी देखी नहीं कहूँ व्रज खोरी ॥' श्रीराधाने कहा—'काहे को हम व्रज तन आवति खेलति रहति आपनी पौरी। सुनति रहति श्रवणनि नन्द ढोढा करत रहत माखन दधि चोरी ॥' श्रीनन्दनन्दन ने कहा—'तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलौ संग मिलि जोरी। सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि वातन भुरइ राधिका गोरी ॥' तत्पश्चात् श्रीश्यामसुन्दर पुनः खिरकमे मिलने का सकेत कर सखा मण्डल मेंजा मिले। इधर श्रीराधा भी घर चली आई। उससमयके श्रीराधा भावका चित्रण करते हुये श्रीसूरदासजी लिखते हैं कि—

नागरि मनहिं रही अरुझाइ।
अति विरह तन भई व्याकुल घर न नेकु सुहाइ ॥
श्याम सुन्दर मदन मोहन मोहिनी सी लाइ।
चित्त चंचल कुँवरि राधा खानपान भुलाइ ॥

कबहुँ बिलपति कबहुँ विहँसति सकुचि बहुरि लजाइ।
मातु पितु को त्रास मानति मन बिना भइ बाइ॥
जननिसों दोहिनी माँगति वेगि दैरी माइ।
सूर प्रभु को खिरक मिलिहौं गए मोहिं बुलाइ॥

एवं प्रकारेण श्रीराधा-माधव का मधुर-मिलन कभी गोदोहन के व्याज से खिरक में तो कभी जल भरने के व्याज से यमुना पुलिन पर होता रहता है। देखिये कवित्त श्रीरसखानजी का—'एरी आज काल०' पृष्ठ ३२-क० ४ को व्याख्या मे। श्रीप्रिया प्रियतमसें परस्पर प्रेमकी होड़ लगी रहती है। देखिये श्रीहित हरिवंशजी का पद—'जोई जोई प्यारो करै०, पृष्ठ ३२—क०४ की व्याख्या मे।

श्रीहितकुल भूषण श्रीवृन्दावन दासादि रसिक महानुभावों ने श्रीलाडसागर आदि ग्रन्थो में श्रीराधा-माधवके विवाह का वड़ा ही भाव पूर्ण वर्णन किया है। ब्रह्मवैवर्त पुराणमें भी श्रीब्रह्माजी के द्वारा इस मङ्गलमयी लीला का सम्पादन होना वर्णित है। कथा आती है कि एक दिन श्रीनन्दबाबा अपने वालकृष्ण को साथ लेकर भाण्डीर वनमें गौओं की देख भाल करने गये। गायो की गणना तथा पर्यवेक्षण करके बाबा बालक को गोदमें लेकर एक वृक्षमूल के पास बैठ गये। इतने में चारो ओर से काली घटाएँ छा गयी, वर्षा के साथ वड़े जोर-जोर से हवा चलने लगी। यह सब देखकर नन्दजी को वड़ा भय हुआ। उसी समय श्रीकृष्ण वर्षा-विजली के भयसे रोने लगे। उन्होने पिताके कण्ठ को जोर से पकड लिया। तब और उपाय न देखकर व्रजेश्वर एकान्त मनसे नारायणका स्मरण करने लगे। इसी समय वहाँ एकाएक नित्य किशोरी श्रीराधा प्रगट हो गयी। उस निर्जन वनमे उन्हे देखकर प्रथम तो श्रीनन्दजी को वड़ा विस्मय हुआ, परन्तु वाद मे श्रीगर्गजीके वचनों का स्मरणकर और उन्हे नित्य श्रीहरिप्रिया जानकर अञ्जलि बाँधकर प्रणाम किया और भक्ति का वरदान मागा। दूसरे ही क्षण भगवान की लीला शक्तिसे मोहित होकर पुनः माधुर्य भावसे भावित होकर, भय भीत श्रीकृष्ण को राधा के हाथ मे दे दिया।

श्रीराधा श्रीकृष्णचन्द्र को लेकर गहन वन में प्रविष्ट हो गई। वहाँ श्रीराधाजी के स्मरण करते ही परम दिव्य रास मण्डल प्रगट हो गया। सहसा नन्द-सुवन श्रीकृष्ण राधाकी गोदसे अन्तर्हित हो जाते हैं और जब वह अकचकाकर देखने लगती है तो वह कोटि-कोटि कन्दर्पदर्पदलनपटीयान नित्य किशोर श्रीकृष्ण उन्हे पुष्पमयी शय्या पर विराजमान दीख पड़े। रासेश्वरी उस परम मनोहर रूप को देखकर मोहित हो गई। परस्पर प्रेमावलोकन पूर्वक अतीत का स्मरणकर श्रीराधा-माधव प्रणयवार्ता करते हुये भाव-सिन्धु में निमग्न होने ही वाले थे कि इसी बीच श्रीब्रह्माजी श्रीहरिके सामने आये। आज युगल-चरणारविन्दों का दर्शन कर श्रीब्रह्माजीने पुष्कर तीर्थमे की गई साठ हजार वर्ष की तपस्या को सफल माना। स्तुति-प्रणामोपरान्त श्रीब्रह्माजी अविचल प्रेम लक्षणा भक्ति का वरदान पाकर कृतार्थ हुये। इसके वाद भगवानकी इच्छा शक्तिसे प्रेरित होकर विधाता ने विधि पूर्वक वेदमन्त्रों द्वारा श्रीराधा-माधव का विवाह कराया। दक्षिणा मे श्रीब्रह्माजी ने युगल के श्रीचरणकमलों में प्रेम मागा। श्रीब्रह्माजी के चले जाने पर युगलने विविध प्रेम-क्रीडाएँ की। इसके वाद श्रीकृष्ण पुनः वाल रूप हो जाते हैं और श्रीराधा उन्हे लेकर मैया यशोदाके पास आती है। इसी प्रकार 'एक प्राण द्वै देही।' श्रीराधा-माधव का नित्य विहार होता रहता है।

श्रीयुगलके नित्य विहार के सम्वन्ध में रसिक महानुभावों का तो कथन है कि मधुपति श्रीलाल-जी सृष्टि आदि की बात तो दूर रही, अपने नारदादि भक्तोंका भी तनिक ध्यान नही करते, श्रीदामा आदि सुहृदों से भी नही मिलते, अपने पितृ वर्ग नन्द-यशोदा आदि की स्नेह वृद्धि को भी सकुचितकर देते हैं, परन्तु अगाध मधुर रस सुधा सिन्धु के स्वरूप प्रेम की परमावधि श्रीप्रियाजी को एक मात्र जानते हुये निरन्तर कुञ्जवीथी की उपासना करते रहते है। यथा—'दूरे सृष्ट्यादि वार्ता न कलयति मनाङ् नारदादीन्स्वभक्तांश्श्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्न मिलति हरति स्नेह वृद्धि स्वपित्रोः। किन्तु प्रेमैकसीमां मधुर रससुधा सिन्धु सारैरगाधां श्रीराधामेव जानन्मधुपतिरनिशं कुञ्जवीथीमुपास्ते ॥' (श्रीराधासुधा०)

श्रीव्रजकी रसोपासना में श्रीकृष्णप्राणाधिका श्रीराधा श्रीकृष्णाराधिका होने के साथ-साथ श्रीकृष्णाराध्या विशेष हैं। यथा—

ब्रह्म मै ढूढ़्यौ पुरानन गानन वेदरिचा सुनी चौगुनी चायन।
देख्यों सुन्यौं न कहूँ कितहूँ वह कैसो स्वरूप है कैसो सुभायन ॥
हेरत हेरत हारि थक्यों 'रसखानि' बतायो न लोग लुगायन।
देख्यों दुरचौ वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन ॥

पुनश्च—चाँपत चरन मोहन लाल ।
प्रयङ्क पौढ़ी कुँवरि राधा नागरी नव बाल ॥
लेत कर धरि परसि नैननि हरषि लावत भाल ।
लाइ राखत हृदै सों तब गनत भाग विशाल ॥
देखि पिय की अधीनता भई कृपा सिन्धु दयाल ।
व्यास स्वामिनि लिये भुज भरि अति प्रवीन कृपाल ॥ आदि

वैसे तो रसिक महानुभावों की भावनानुसार श्रीप्रिया-प्रियतम का वियोग कभी होता ही नही। ये तो नित्य निकुंज विहारी हैं। परन्तु पौराणिक कथा प्रसङ्गों में वियोग का भी उल्लेख पाया जाता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में कथा आती है कि एक बार गोलोक में श्रीकृष्ण विरजा देवी के समीप थे। श्री राधाको यह ठीक नहीं लगा। श्रीराधाको क्षुभित जानकर विरजा वहाँ नदी रूप होकर प्रवाहित हो गई। श्रीराधाने प्रणय कोपसे श्रीकृष्ण के पास जाकर उनसे कुछ कठोर शब्द कहा। सुदामाने इसका विरोध किया। इस पर लीलामयी श्रीराधाने उसे असुर होने का शाप दे दिया। सुदामा ने श्रीकृष्ण वियोग की सम्भावना से व्यथित होकर श्रीराधा से कहा—तुम्हें मालूम नही, मैं प्यारे श्रीकृष्ण का नित्य सखा हूँ, सदा संग रहने वाला हूँ। मैं उनके वियोग में भला कैसे रह सकता हूँ? तुमने बिना विचारे शाप दे दिया है अतः मैं भी तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम भी मानवी रूपमें प्रगट होकर सौ वर्ष का वियोग सहोगी। इसी शाप के फल स्वरूप श्रीकृष्णके मथुरा और द्वारिका चले जाने पर श्रीराधा को इतने दीर्घ काल का महा वियोग भी सहना पड़ा। फिर कुरुक्षेत्रमें पुनः मिलन हुआ। यथा—

पद—राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव माधव राधा कीट भृङ्ग गति होइ गई ॥

माधव राधा के रंग राँचे राधा माधव रंग रई।
माधो राधा प्रीतिनिरन्तर रसना कहि न गई॥
विहँसि कह्यो हम तुम नहिं अन्तर यह कहि ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव ब्रज विहार नित नई नई॥

दो०—बन्दौं राधा के परम पावन पद अरविन्द।
जिनको मृदु मकरन्द नित चाहत स्याम मिलिन्द॥

सहचरी (श्रीललितादिक सखियाँ)—श्रीराधा-माधव की इच्छा शक्ति ही उनकी प्रिय सखियाँ है। इच्छा शक्ति के आनन्त्य से सखियाँ भी अनन्त हैं॥

यथा—'रजकन उडुगन बूँदघन आवत गिनती माहिं। कहत जोइ थोरी सोई, सखियन संख्या नाहिं॥' (सभा मण्डल) परन्तु इनमें अष्ट सखी प्रधान हैं।

१—श्रीललिताजी—रसिक महानुभावों ने इन्हे आचार्य रूप कहा है। यथा—'आचारज ललिता सखी रसिक हमारी छाप।' इनके पिता श्रीविशोकजी, तथा माता श्रीशारदाजी हैं। इनका प्राकट्य भाद्रपद, शुक्ल, छठ को हुआ। यथा—वरष गाँठ ललिता लली, वरन सुनाऊँ वैन। भादौं सुदि छठि छवि भरी, सब उर आनन्द दैन॥ (चाचा वृन्दावन दास जी) इनकी तन द्युति गोरोचन के सदृश है। मयूर पुच्छ प्रभ वस्त्र धारण करती हैं। ये युगल की ताम्बूल सेवा करती है। (भारतेन्दु ग्रन्थावली में 'सुरभानु' पिता और 'सत्यकला' माता का नाम आया है।)

२—श्रीविशाखाजी—परम भाग्यवान श्रीपावनजी इनके पिता तथा श्रीसुदक्षिणाजी इनकी माता हैं। श्रीराधाष्टमी के दिन ही इनका भी प्राकट्य है। यथा—वर्ष गाँठ सुविशाखा लखी। मंगल मे मंगल रह रखी॥ भादो सुदि आठै तिथि महा। दुगुनो मंगल कहिये कहा॥ यह विद्युत वर्णा हैं तथा तारावली के वर्ण का वस्त्र धारण करती हैं। कर्पूरादि की सेवा करती हैं। (गुणभानु पिता, गुणकला माता—(भारतेन्दु ग्रन्थावली)

३—श्रीचित्राजी—इनके पिता का नाम श्रीचतुरजी एवं माता का नाम श्रीचर्चिका है। इनका प्राकट्य भाद्रपद, शुक्ल, दशमी को हुआ है, यथा—धर्मभानु सुभगा घरनि, बेटी लेखाचित्र। वरस गाँठ दशमी सुदी, भादौ मास पवित्र। (चा० वृ०) यह कुंकुम वर्णा हैं। तथा काच प्रभ वस्त्र धारण करती है। युगल की वस्त्र सेवा इनकी प्रधान परिचर्या है। (रुचिभानु पिता, रुचि कला माता—भा० ग्र०)

४—श्रीइन्दुलेखाजी—इनके पिता का नाम श्रीसागरजी तथा माता का नाम श्रीवेलाजी है। भादो सुदी एकादशी इनकी प्राकट्य तिथि है। यथा—भादौं सुदि एकादशी, बाढ्यो अतिशय रंग। इन्दुलेखा को जन्म दिन सब मन गौन उमंग॥ (चा० वृ०) हरताल प्रभ इनके शरीर की कान्ति है। दाडिम (अनार) पुष्प के समान वस्त्र धारण करती हैं। ये अपने अद्भुत नृत्य गान से श्रीप्रिया-प्रियतम को रिझाती रहती है। (पिता वरभानु, माता वरकला—भा० ग्र०)

५—श्रीचम्पकलताजी—इनके पिता श्री आरामजी एवं माता श्रीवाटिकाजी हैं। इनका प्राकट्य राधाष्टमी के दिन ही है। यथा—अब वरनौं चम्पकलता वरसगाँठ सुखदानि॥ सुदि

भादौ अष्टमी पुनीत । सुदन गाइये मंगल गीत ॥ (चा० वृ०) इनके शरीर का वर्ण चम्पा पुष्प के समान है । ये श्रीप्रिया प्रसाद भूत नीलाम्बर धारण करती है । और श्रीप्रिया-प्रियतम को चँवर डुलाने की सेवा करती है । (पिता चन्द्रभानु, माता चन्द्रकला—(भा०ग्र०)

६—श्रीरंगदेवीजी—इनके पिता का नाम श्रीआरामजी एवं माता का नाम श्रीकरुणा जी है। इनका प्राकट्य भाद्रपद पूर्णिमा को है । यथा—भादौ पूनौ तिथि ललित जनम घोष इक संग । रंगदेवी अरु सुदेवी, बरष गाँठ भरी रंग ।। (चा० वृ०) कमल केसर के समान इनके शरीर का वर्ण है । जवा-पुष्प-प्रभ वस्त्र धारण करती हैं तथा श्रीप्रिया प्रियतम को आभूषण धारण कराने की सेवा करती हैं । (पिता धर्मभानु, माता धर्मकला—भा०ग्र०,

७—श्रीतुंगविद्याजी—यह पिता श्री पौष्करजी तथा माता-मेधाजी की लाड़िली बेटी हैं । इनकी जन्म तिथि भाद्रपद, शुक्ल, तृतीया है । यथा—भादौ सुदि तृतीया तिथि भली । वरषगाँठ तुंग विद्या लली ।। (चा० वृ०) इनका गौर वर्ण है और पाण्डु वर्ण का वस्त्र धारण करती हैं । यह अपने गीत वाद्य कौशल से श्री प्रिया-प्रियतम की प्रसन्नता का सम्पादन करती हैं । (पिता सुभानु, माता सुष्ठुकला —भा० ग्र०)

८—श्रीसुदेवीजी—ये श्री रङ्गदेवीजी की यमज वहन है । इनके शरीर की कान्ति तपाये हुये स्वर्ण के समान है । यह लाल रंग की साड़ी पहनती है तथा श्रीप्रिया-प्रियतम की जल सेवा करती हैं । (पिता उदधिभानु, माता कमला—भा० ग्र०)

एक वात यहाँ स्मरण रखने की है—सभी सखियाँ सव प्रकार की सेवा में प्रवीण है और यथा समय करती भी हैं परन्तु एक एक सेवा इनकी प्रधान सेवा है । सखियों का सेवा में बड़ा उल्लास है ।

यथा—सखी चहुँ ओर फिरैं चकडोरि सी सेवा को भाव बढ्यौ मनमाहीं ।
सौंज सिंगार नई नई आनत वानत नैकहुँ हारत नाहीं ॥
प्रेम पगी तिहि रगरंगी निरखैं तिनकौं तनकौ न अघाहीं ।
और सवाद लगै ध्रुव फीको रहै, विविं रूप के छत्र की छाहीं ॥ (रस मुक्तावली)

मधुमंगलजी (मनसुखा)—ये पौर्णमासी देवी के पौत्र और श्रीसांदीपनिजी के पुत्र थे तथा भगवान श्याम सुन्दर के प्रिय नर्म सखा थे । भगवान के प्राकट्य से पूर्व ही श्री पौर्णमासी देवी इन्हे लेकर व्रज में चली आई थीं । अपने विविध व्यंग विनोदों द्वारा सखा श्याम सुन्दर के मन को सुख पहुँचाने से इनका नाम मनसुखा भी था । सखा मण्डल मे मनसुखा के बिना श्रीकृष्ण को अच्छा ही नही लगता था । मनसुखा की विनोद-विधि बड़ी विलक्षण होती थी । एक वार की वात है—श्रीश्याम सुन्दर अपने प्रिय सखाओ के साथ वैठकर भोजन कर रहे थे । श्रीयशोदा मैया बड़े ही स्नेह से सवको परस रही थी । व्यंजन विविध नाम को जाना ।' सव लोग खाने लगे परन्तु मनसुखा नही खा रहे थे । वह तो छत की ओर टकटकी लगाकर देख रहे थे । यशोदा जी ने पूछा—क्यों लाला मनसुखा ! तू खा क्यो नही रहा है, ऊपर क्यों देख रहा है ? मनसुखा ने कहा मैया ! मैं यह देख रहा हूँ कि कहीं छत न गिर जाय, नहीं तो ये सभी दव जायँगे । यशोदा ने झुँझला कर कहा—सब दवेंगे तो तू क्या वच जायगा ? मनसुखा वोला—हाँ मैया ! मैं वच जाऊँगा । यशोदा ने कहा—सो कैसे ? मनसुखा नें कहा—

जैसे मैं तस्मई से बच गया हूँ। यशोदा अब समझीं। बोली—जा दारी के—मैंने तो तस्मई को तस्मई रसोई समझकर और तुझे ब्राह्मण विचार कर नहीं दिया तो तू इतना नखरा कर रहा है। मन-सुखा ने कहा—मैया ! क्या प्रमाण है कि मैं ब्राह्मण हूँ। यशोदा ने कहा कि तू जनेऊ पहने है। मनसुखा ने तुरन्त जनेऊ को निकाल कर बाहर कर दिया और बोला—अब तो मैया, मैं ब्राह्मन नहीं रहा, अब तो तस्मई देगी। सखा मण्डल मे कह कहा मच गया। यशोदा ने बड़े प्रेम से उसे भी खूब तस्मई दी।

एक दिन श्रीश्यामसुन्दर ने सखाओं से कहा कि कल वन-भोजन होगा। सब लोग अपने-अपने घर से बढ़िया-बढ़िया सामान ले चलना। फिर क्या था। दूसरे दिन सबकी मैया ने अपने-अपने बालको को विविध प्रकार के मिष्ठान्नादि बाँध दिये। बेचारे मधु मंगल की दादी पूर्णमासी एक तो बूढ़ी थी दूसरे गरीब ब्राह्मणी थी। वह बहुत बनाव नही बना सकी। ऐसे ही कुछ मठरी-बठरी बांध दिया। बेचारे मधु मगल उदास थे। सब लोग खूब उछलते कूदते जा रहे थे। संयोग की बात सुबल सखा खूब बढ़िया बेसनी लड्डू अँगोछी में बांधे, कन्धे पर लकुटी में लटकाये मस्ती से गाते हुए जा रहे थे। पीछे पीछे चल रहे थे मधुमंगल। उन्हें कौतुक सूझा। उन्होने रास्ते मे एक झोली कनैल के गोटे (फल) तोड़ लिये और बडी सावधानी से सुबल की गठरी से एक लड्डू निकालते और एक कनैल का गोटा उसमें रख देते इस प्रकार उन्होने धीरे धीरे सब लड्डू निकाल लिये और उसकी जगह पर कनैल के गोटे बाँध दिये। सुबल बिल्कुल जान नही पाये। अन्त मे जब वन मे गोष्ठी भई सब ने अपने अपने बाल भोग निकाले तो सुबल की पोट मे से तो कनैल के गोटे निकले। तब तो वह रोने लगे। उनकी सारी शेखी रफू चक्कर हो गई। इधर मधुमगल हँस हँस कर, सबको दिखा-दिखाकर लड्डुओं का भोग लगाने लगे। सभी समझ गये कि सब इसी की करतूति है, नही तो इसको भला लड्डू कहां मिलै। फिर सबने मिल जुलकर खाया। ऐसे ही मनसुखा के अनेक चरित्र व्रज मे प्रसिद्ध हैं।

मण्डल ··· बहुनाम्ना—यथा—'कनिष्ठ सखा'—ये सदा सेवा भाव से श्रीश्यामसुन्दर के साथ रहते हैं। इनमें से कुछ के नाम ये हैं—विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, वरूथप, मिलिन्द, कुसुमापीड, मणिबन्ध, करन्धम, मरन्द, चन्दन, कुन्द, कलिन्द, कुलिक। 'पीठमर्द' (अतिधृष्ट) सखा—श्रीदामा, सुदामा, दाम, किंकिणी, तोक-कृष्ण, अंग, भद्रसेन, विलासी, पुण्डरीक, विटकाक्ष, प्रियकर। 'प्रिय नर्म सखा'—सुबल, अर्जुन, गन्धर्व, वसन्त, उज्ज्वल, कोकिल, सनन्द, विदग्ध। ये बड़े ही दिल्लगी बाज हैं। 'विदूषक'—मधुमगल, पुष्पांक, हंस। ये बड़े मसखरे हैं। 'विटसखा'—कडार, भारती, गन्धवद वेध। ये बात बनाने में बड़े निपुण हैं। 'चेटक सखा'—भंगुर, भृंगार, संधिक, ग्रहल। ये मिलन कराने वाले हैं। 'दास सखा'—रक्तक पत्रक आदि। देखिए अगला छप्पय। 'बाल सखा—पल्लव, मंगल, फुल्ल, कोयल, कपिल। ये अपनी बाल-सुलभ चेष्टाओ द्वारा श्रीश्यामसुन्दर को रिझाते हैं। 'पान खिलाने वाले'—सुविलास, विशालाक्ष, रसाक, रस शाली, जम्बुक। 'जल पिलाने वाले'—पयोद, वारिद। वस्त्र धारण कराने वाले'—सारग, बकुल। 'अत्तर लगाने वाले'—प्रेमकन्द। शृंङ्गारी—मकरन्द। 'चन्दन, पुष्पहार की सेवा करने वाले'—सुमन, कुसुमोल्लास, पुष्पहास, हर। कमल, विमल आदि पीढ़ा खड़ाऊँ की सेवा करते हैं। विशारद, तुंग, नीतिसार, मनोरम, वावदूक आदि निकुञ्ज विहार के उपयोगी सखा हैं। मधुरराव, सुविचित्र राव बन्दी है। चन्द्रहास, शिवचन्द्र नृत्य-प्रवीण हैं। सुखद, सुधाकर, सारंग मृदङ्ग प्रवीण हैं। सुधाकण्ठ, कलकण्ठ गान प्रवीण हैं। सारंग, रसद, विलास नाट्य कला प्रवीण हैं। चित्र विचित्र चितेरे हैं।

घोष निवासी—श्रीब्रह्मा जी भी इनके भाग्य की सराहना करते हैं। यथा—'अहोभाग्य महोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्। यन्मित्र परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्' (भा०) अर्थ—अहो! नन्द आदि व्रजवासी गोपों के धन्य भाग्य है। क्योंकि वास्तव मे उनके अहोभाग्य हैं। परमानन्द स्वरूप सनातन परिपूर्ण ब्रह्म आप उनके अपने सगे-सम्बन्धी और सुहृद हैं। घोष ···अज-सुर नर-मुनि, ब्रह्मादिकी तो बात ही क्या, स्वयं भगवान इनके प्रेमानुग्रह की अभिलाषा करते हैं। यथा—भगवद्वाक्य—'ते ते ब्रह्मादयो देवा वाञ्छन्ति मदनुग्रहम्। अहं तु तासां गोपीनां प्रेमानुग्रह वाञ्छकः।' पुनश्च—व्रज व्रजराज व्रजेन्द्रसुव, गोपी गाय गुवाल। कृपारूप सब विभुअहै, छन महँ करत निहाल।' (संतवाणी) बाल······ पादरज—श्रीब्रह्मादिक भी इनके चरणरज की अभिलाषा करते हैं। यथा—'षष्ठि वर्ष सहस्राणिमया तप्तं पुरातपः। नन्दगोप व्रजस्त्रीणा पादरेणूपलब्धये।' (टी०भा०) अर्थ-(श्रीब्रह्माजी कहते है-) श्रीव्रजगोपियो की चरणरज को प्राप्त करने के लिये मैंने पूर्व साठ हजार वर्ष तक तप किया था। पुनश्च—

तद् भूरि भाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां,
यद् गोकुलेऽपिकतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द,
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुति मृग्यमेव॥ (भा०)

अर्थ—प्रभो! इस व्रज भूमि के किसी वन में विशेष करके गोकुल में किसी भी योनि में जन्म हो जाय, यही हमारे लिये बड़े सौभाग्य की बात होगी। क्योंकि यहां जन्म हो जाने पर आपके किसी न किसी प्रेमी के चरणों की धूलि अपने ऊपर पड़ ही जायगी। प्रभो! आपके प्रेमी व्रजवासियों का सम्पूर्ण जीवन आपका ही जीवन है। आप ही उनके जीवन के एकमात्र सर्वस्व है। इस लिये उनके चरणों की धूलि मिलना आपके ही चरणों की धूलि मिलने के समान है। और आपके चरणों की धूलि को तो श्रुतियां भी अनादि काल से अब तक ढूंढ़ रहीं है।

श्रीकृष्ण के षोडश सखा

व्रजराज सुवन सँग सदन बन अनुग सदा तत्पर रहैं॥
रक्तक, पत्रक और पत्रि सबही मन भावैं।
मधुकण्ठौ, मधुवर्त, रसाल, विशाल सुहावैं॥
प्रेमकन्द, मकरन्द, सदा आनन्द चन्द्रहासा।
पयद, बकुल रसदान, सारदा, बुद्धि प्रकासा॥
सेवा समय बिचारि कैं चारु चतुर चित की लहैं।
व्रजराज सुवन संग सदन बन अनुग सदा तत्पर रहैं॥२३॥

शब्दार्थ—सदन=घर। अनुग=सेवक, अनुचर। चारु=सुन्दर। चतुर=बुद्धिमान्। लहैं=जानें, पावैं।

भावार्थ—व्रजमण्डलके राजा नन्दजीके पुत्र श्रीकृष्णके साथ घरमें तथा वनमें ये सेवक सदा सेवामें तत्पर रहते हैं। रक्तक पत्रक और पत्री ये सबके मनको प्रिय लगते हैं। मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल, विशाल, प्रेमकन्द, मकरन्द, सदानन्द, चन्द्रहास, पयद, वकुल, रसदान, शारद और बुद्धिप्रकाश ये सुन्दर सुशील एवं परमचतुर सखागण भगवान् की इच्छाके अनुसार जिस सेवा का जो समय है एवं जब जो सेवा उचित है उसको विचारकर करते हैं। ये उनके प्यारे सोलह सखा हैं। मैं इनकी चरण रजका अर्थी हूँ।

व्याख्या—व्रजराज ... ... तत्पर रहैं—भाव यह कि ये सब समय सब प्रकारकी सेवा करते हैं। यथा—

सखा सखी अरु तोता मैना कोकिल मोर मयूरी।
जूता छाता पगड़ी लकुटी बनिकै करत हजूरी॥
घर में भोजन शयन संग बन विहरैं मन बहलावैं।
जसि सेवा चाहैं श्रीठाकुर तसि करि कै सिर नावैं॥ (भ० व० टि०)

रक्तक आदि का सखा रूपमें संग रहकर सेवा करना तो प्रसिद्ध ही है। वनमें ये अन्य रूपों से भी प्यारे श्याम सुन्दर की सेवा करते हैं। जैसे रक्तक लाल चन्दन कुंकुम, केसर वनकर, पत्रक तमाल-वृक्ष, पलाशवृक्ष वनकर, पत्रि रग विरंग की चिड़िया वनकर तथा ताल आदि के वृक्षवनकर, मधुकण्ठ कोयल वनकर, मधुवर्त भ्रमर वनकर, रसाल आम्र कटहल वनकर, विशाल सभी सुख एवं सुखदायक वस्तुओं का विस्तार वनकर अथवा विशाल वड़े-वड़े शाल के वृक्ष वनकर अथवा शाल-दुशाले वनकर; प्रेमकन्द कन्द विशेष वनकर, मकरन्द पुष्प रस, कुन्द पुष्प वनकर,सदानन्द आनन्द प्रकाशक वस्तु वनकर, चन्द्रहास चन्द्रमा की किरण वनकर, पयद मेघ वनकर, वकुल मौलसिरीका पेड़ वनकर रसदान रसमय पदार्थ वनकर, शारद शंखाहुली जड़ी वनकर एवं वुद्धि प्रकाश ब्राह्मी बूटी वनकर सेवा करते हैं।

सेवा समय विचारिकै—भाव यह कि पृथक्-पृथक् समय को सेवाएँ भी पृथक्-पृथक् होती हैं एवं सेवा का प्रकार भी पृथक् होता है। सेवकको इस वातकी सावधानी रखनी पड़ती है। लकीर का फकीर वनकर विना विचारे की गई सेवा सेव्य और सेवक दोनोंके लिये संकट कारिणी होती है।

दृष्टान्त-एक गँवार का—एक गाँवमें एक महानुभावके घर उनके गुरुजी आये। दिन गर्मी का था। उन्होने श्रीगुरुजीके लिये स्नान-पान के लिये शीतल जलकी व्यवस्था की। नये-नये घड़े और सुराहियों में जल भरा रहता। हर कार्य शीतल जलसे होता। एक गवाँर ने जव यह देखा तो उसने संकल्प किया कि हम भी अपने गुरुजीकी इसी प्रकार से सेवा करेंगे। संयोग की वात उसके गुरुजी सर्दी के दिनो मे आये। फिर तो उसने खूब नये-नये घड़े और नई सुराहियाँ मगाईं। उनमे जल भरकर रख दिया। जव भी जरूरत पड़ती सुराही का शीतल जल देता। वयोवृद्ध गुरुजी को मुश्किल पड़ गई। वे वहुत समझाते कि वेटा! आज कल तो गर्मजल प्रयोग मे लेना चाहिये। ठण्ड वैसे ही पड़ रही है और फिर इसमे ठण्डा पानी—यह ठीक नही। चेला वोला—नहीं गुरुजी। मैंने देखा है—अमुक वावूजी ने अपने गुरुजी की इसी प्रकार सेवा की थी। फिर भला मेरी क्या कुछ कम निष्ठा है आप मे। मैं तो उनसे

भी अधिक सेवा करने वाला हूँ। आप कहें तो जल में थोडी वरफ भी डाल दे। गुरुजी जैसे तैसे ज
बचाकर वहाँ से भगे। यह है अविचार की सेवा। ऐसा नही होना चाहिये।

चारु चतुर चित्तकी लहैं—चतुर सेवक स्वामी के मन की जान कर विना कहे ह
मनोऽनुकूल सेवा सम्पन्न कर देते हैं। यह उत्तम सेवक का लक्षण है। यथा—

रुचिलै शुचि सेवा करै सेवक कहिये सोय।
तन मन धन अर्पन करै, रहै अपनपौ खोय॥
रहै अपनपौ खोय द्रवै तब हरि गुरु देवा।
अनमांग्यौ सब मिलै गूढ़ गुन जानै भेवा॥
संचित क्रिय प्रारब्ध कर्म दुख जाय सबै मुचि।
भगवत रसिक कहाय क्रिया त्यागै अपनी रुचि॥

सदा तत्पर रहैं—भाव यह कि ये सेवा के महत्वको जानते है। इनकी सेवामें निष्ठ
है अतः सब समय सेवा के लिये समुत्सुक बने रहते हैं। यथा—सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम चरनरति
अति अधिकाई॥ प्रभु मुख कमल विलोकत रहहीं। कबहुं कृपालु हमहिं कछु कहहीं॥ (रा०च०मा०)

सप्तद्वीप के भक्त

सप्तदीप में दास जे ते मेरे सिरताज॥
जम्बू और पलच्छ सालमलि बहुत राजरिषि।
कुश पवित्र पुनि क्रौंच कौन महिमा जानै लिषि॥
साक विपुल विस्तार प्रसिध नामी अति पुहकर।
पर्वत लोकालोक ओक टापू कंचन धर॥
हरिभृत्य बसत जे जे जहाँ तिनसों नित प्रति काज।
सप्त दीप में दास जे ते मेरे सिरताज॥२४॥

शब्दार्थ—सप्त=सात। दीप=द्वीप, टापू, वह भूमि जिसके चारों ओर पानी हो। ताज=
मुकुट। सिरताज=शिरोमणि, सर्वश्रेष्ठ पुरुष। विपुल=अधिक। ओक=स्थान, आश्रम। कंचनधर=
सोनेका पर्वत, सुमेरु। हरिभृत्य=भगवान्के भक्त।

भावार्थ—जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप और शाल्मलिद्वीपमें बहुतसे ऋषिराज भक्त है। कुशद्वीप और
क्रौंचद्वीप ये अति पवित्र है यहाँ के भक्तोंकी महिमा कौन जान सकता है। शाकद्वीप और पुष्करद्वीप
इनका बहुत विस्तार है और इनके नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। लोकालोक पर्वत, सुमेरुपर्वत एवं अन्य द्वीप
समूहोमें जो भगवान्के सेवक निवास करते हैं, उनसे हमारा नित्य ही प्रयोजन है। सातों द्वीपोंमें जो
भगवान्के दास है, वे मेरे शिरके मुकुट हैं।

व्याख्या—सप्तद्वीप—श्रीप्रियव्रतजीके रथके पहियेसे जो लीकें बनीं, वे ही सात समुद्र हुये और उनसे एक ही भूमण्डल सप्तद्वीपों में विभक्त हो गया। (विशेष देखिये छ० १० श्रीप्रियव्रतजी का प्रसङ्ग) जम्बूद्वीप—इसका विस्तार एक लाख योजन है। इसमें ग्यारह सौ योजन ऊँचा और उतने ही विस्तार वाला विशाल जामुन का वृक्ष है अतः इस द्वीपका नाम भी जम्बूद्वीप पड़ गया। यह अपने ही समान परिमाण और विस्तार वाले खारे जलके समुद्र से परिवेष्टित है। श्रीप्रियव्रतजीके पुत्र आग्नीध्रजी इसके अधिपति हैं। प्लक्षद्वीप—इसका विस्तार दोलाख योजन है। यह खारे समुद्र को चारों ओर से परिवेष्टित किये है। इसमें ग्यारह सौ योजन ऊँचा और इतने ही विस्तार वाला सुवर्णमय प्लक्ष (पाकर) का वृक्ष है। इसी कारण इसका नाम प्लक्ष द्वीप हुआ। यह अपने ही समान परिमाण और विस्तार वाले इक्षु रस के समुद्र से घिरा हुआ है। श्रीप्रियव्रत पुत्र इध्मजिह्वजी इसके अधिपति हैं। शाल्मलिद्वीप—इसका विस्तार चार लाख योजन है। यह इक्षुरस के समुद्र को चारो ओर से परिवेष्टित किये हैं। इसमे प्लक्ष द्वीपके पाकर के ही समान शाल्मली (सेमर) का वृक्ष है। कहते हैं, यही वृक्ष अपने वेदमय पखो से भगवान की स्तुति करने वाले पक्षिराज गरुड़जी का निवास स्थान है तथा यही इस द्वीप के नाम करण का भी हेतु है। यह अपने ही समान परिमाण और विस्तार वाले मदिरा के सागर से घिरा है। श्रीप्रियव्रत पुत्र यज्ञ-बाहु इसके अधिपति हैं।

कुशद्वीप—मदिरा के समुद्र से आगे, उसको चारो ओर से घेरे हुये आठ लाख योजन विस्तार कुशद्वीप है पूर्वोक्त द्वीपो के समान यह भी अपने ही समान विस्तार वाले घृतके समुद्र से घिरा हुआ है। इसमें भगवान का रचा हुआ एक कुशोंका झाड़ है। उसी से इसद्वीपका नाम कुशद्वीप हुआ। श्रीप्रियव्रत-पुत्र महाराज हिरण्यरेता इसके अधिपति हैं।

क्रौञ्चद्वीप—घृत समुद्र के आगे उसके चारों ओर उससे द्विगुण परिमाण वाला अर्थात् सोलह लाखयोजन विस्तारवाला क्रौञ्चद्वीप है। यह अपने ही समान विस्तार वाले दूधके समुद्र से घिरा हुआ है। यहाँ क्रौञ्चनाम का बहुत बड़ा पर्वत है। उसी के कारण इसकानाम क्रौञ्चद्वीप हुआ है। श्रीप्रिय-व्रत पुत्र घृतपृष्ठ इसके अधिपति हैं।

शाकद्वीप—क्षीर समुद्र के आगे उसके चारों ओर बत्तीस लाख योजन विस्तार-वाला शाकद्वीप है जो अपने ही समान परिमाण वाले मट्ठे के समुद्र से घिरा है। इसमें शाक नामका एक बहुत बड़ा वृक्ष है। उसकी मनोहर सुगन्धसे साराद्वीप महकता रहता है। इसीसे इस द्वीप को शाकद्वीप कहते हैं। श्री-प्रियव्रतपुत्र मेधातिथि जी इसके अधिपति हैं।

पुष्कर द्वीप—मट्ठे के समुद्र से आगे उसके चारों ओर उससे दुगुने विस्तार वाला पुष्कर द्वीप है, जो अपने ही समान विस्तार वाले मीठे जल के समुद्र से घिरा है। वहाँ अग्नि की शिखा के समान देदीप्यमान लाखों स्वर्ण मय पंखड़ियों वाला एक बहुत बड़ा पुष्कर (कमल) है। जो ब्रह्माजी का आसन माना जाता है। इसीसे इस द्वीप का नाम पुष्कर द्वीप पड़ा। श्रीप्रियव्रतपुत्र वीतिहोत्र इसके अधिपति हैं।

लोकालोक पर्वत—मीठे जलके समुद्र से आगे नव करोड़ छयानवे लाख पचास हजार योजन के बाद लोकालोक पर्वत है। यह सूर्य आदि से प्रकाशित एवं अप्रकाशित भूभागों के बीचमें है। इससे इसका नाम लोकालोक पर्वत पड़ा। इसे परमात्माने त्रिलोकीके बाहर उसके चारो ओर सीमा के

रूप में स्थापित किया है। यह इतना ऊँचा और लम्वा है कि इसके एक ओर से तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाली सूर्य से लेकर ध्रुव पर्यन्त समस्त ज्योतिर्मण्डल की किरणें दूसरी ओर नही जा सकती हैं। यह साढ़े वारह करोड़ योजन विस्तार वाला है।

कंचनधर द्वीप—मीठे जलके समुद्र से आगे एक करोड़, सत्तावन लाख, पचास हजार योजन भूमि के उपरान्त काञ्चनी भूमि है, जो दर्पण के समान स्वच्छ है। यहाँ देवकोटि के लोग रहते हैं। इसका विस्तार आठ करोड़ उनतालीस लाख योजन है। (भा०)

हरिभृत्य……… काज—भाव यह कि हमारे समस्त श्रेय (परमार्थ) और प्रेय (स्वार्थ) का सम्पादन इन्ही से होता है। अतः ये ही मेरे सर्वस्व हैं, शिरोमणि हैं। इन्हीं से मेरा एक मात्र प्रयोजन है। यथा—'जोगी जती तपी तासों मेरो कछु काज नाहि प्रीति परतीति रीति मेरी मति हरी है।' (भक्ति० वो०) तथा—भूत भविष्य लोक चौदह में भये होंहि हरि प्यारे। तिन-तिन सों व्यवहार हमारो अभिमानिन ते न्यारे॥' (भगवत रसिकजी)

जम्बू द्वीपके भक्त

मध्यद्वीप नवखण्ड में भक्त जिते मम भूप॥
इलावर्त, अधीस संकर्षन, अनुग सदाशिव।
रमनक, मछ, मनुदास, हिरण्य, कूरम, अर्जम इव॥
कुरु बराह भूभृत्य वर्ष हरि सिंह प्रहलादा।
किंपुरुष, राम, कपि, भरत, नरायन बीना नादा॥
भद्रासु ग्रीवहय, भद्रस्रव, केतु, काम, कमला अनूप।
मध्य दीप नवखंडमें भक्त जिते मम भूप॥२५॥

शब्दार्थ—मध्यद्वीप=बीचका द्वीप, जम्बूद्वीप। अधीस=अधिपति, स्वामी। मछ=मत्स्य। वीनानादा=वीणावादक, नारद।

भावार्थ—सब द्वीपोंके मध्यका जो जम्बूद्वीप है उसके नौ खण्ड हैं उन में जो भक्त निवास करते हैं वे हमारे राजा हैं, हम उनकी प्रजा हैं। इलावर्त खण्डके स्वामी भगवान् श्रीसंकर्षण हैं और उनके मुख्य सेवक शंकरजी है। रमणकखण्डके अधीश्वर श्रीमत्स्य भगवान् हैं उनके सेवक मनुजी हैं। हिरण्यखण्डमें भगवान् श्रीकूर्मजी आराध्य है और अर्यमा उनके पुजारी हैं। कुरुखण्डके अधीश श्रीवाराहभगवान् हैं और उनकी सेवा करनेवाली पृथ्वी देवी हैं। हरिवर्षखण्डमें श्रीनृसिंह भगवान् विराजते हैं और उनके सेवक प्रह्लादजी हैं। किम्पुरुषखण्डके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी है और उनकी सेवामें हनुमानजी तत्पर रहते हैं। भरतखण्डमें श्रीनरनारायण भगवान् आराध्यदेव है, उनकी पूजा करने वाले नारदजी हैं। भद्राश्वखण्डमें हयग्रीव भगवान् है और भद्रश्रवाजी उनके पुजारी हैं। केतुमालखण्डके अधिपति भगवान् कामदेव है और कमलादेवी उनकी सेविका हैं।

व्याख्या—मध्यद्वीप नवखण्ड—सातों द्वीपों के मध्य में स्थित जम्बू द्वीप के अधिपति महाराज आग्नीध्र के नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल नाम के नौ पुत्र हुए। राजा आग्नीध्र ने जम्बू द्वीप का विभाग करके उन पुत्रों के समान नाम वाले नौ वर्ष (भूखण्ड) बनाये और उन्हें एक-एक पुत्र को सौंप दिया। इन नवों वर्षों में परमपुरुष भगवान वहाँ के लोगों पर अनुग्रह करने के लिए अपनी विभिन्न मूर्तियों से विराजमान रहते हैं। इन समस्त वर्षों मे भारतवर्ष श्रेष्ठ है। देवता भी भारतवर्ष में उत्पन्न हुए मनुष्यों की महिमा का गान करते हैं। यथा—

> अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
> यैर्जन्मलब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्द सेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥ (भा०)

अर्थ—अहा! जिन जीवों ने भारतवर्ष में भगवान की सेवा के योग्य मनुष्य जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है? अथवा इन पर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं? इस परम सौभाग्य के लिये तो हम भी निरन्तर तरसते रहते हैं॥ देवता यह अभिलाषा करते हैं कि अब तक स्वर्ग सुख भोग लेने के बाद हमारे पूर्वकृत यज्ञ, प्रवचन, और शुभ कर्मो से यदि कुछ भी पुण्य बचा हो तो उसके प्रभाव से हमें इस भारतवर्ष में भगवान की स्मृति से युक्त मनुष्य जन्म मिले। क्योंकि श्रीहरि अपना भजन करने वाले का सब प्रकार से कल्याण करते हैं। यथा—

> यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम्।
> तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्मनः स्याद् वर्षे हरिर्यद्भजतां शंतनोति॥ (भा०)
> पुनश्च—गायन्ति देवा किलगीतकानि धन्यास्तु ये भारत भूमि भागे।
> स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषः सुरत्वात्॥

श्वेत द्वीप के भक्त

श्वेत द्वीप में दास जे श्रवण सुनौ तिनकी कथा॥
श्रीनारायण बदन निरन्तर ताही देखैं।
पलक परै जो बीच कोटि जमजातन लेखैं॥
तिनके दरशन काज गये तहँ बीणाधारी।
श्याम दई कर सैंन उलटि अब नहिं अधिकारी॥
नारायण आख्यान दृढ़ तहं प्रसङ्ग नाहिन तथा।
श्वेत द्वीप में दास जे श्रवण सुनौ तिनकी कथा॥२६॥

शब्दार्थ—बदन=मुख। निरन्तर=लगातार। जम जातन=यम की यातना, महान कष्ट। कर=हाथ। सैन=संकेत, इशारा। उलटि=वापस जाइए। अधिकारी=योग्यपात्र। आख्यान=कथन, वर्णन, कथा। प्रसंग=प्रकरण, बात।

भावार्थ—श्वेत द्वीप में निवास करने वाले भगवान के भक्तों की कथा कान लगाकर सुनिये। ये श्रीनारायण भगवान के मुखारविन्द का निरन्तर दर्शन करते रहते है। यदि कभी पलक पड़ने भरका भी व्यवधान हो जाय तो उसे वे करोड़ों नारकीय कष्टों के समान मानते है। किसी समय नारदजी इन भक्तों का दर्शन करने के लिये गये। नारदजी इन्हें ज्ञानोपदेश करना चाहते थे। श्रीनारायण भगवान ने हाथ से सकेत किया कि यहा से लौट जाओ क्योंकि ये रूप माधुरी में आसक्तजन तुम्हारे उपदेशों के अधिकारी नहीं है अर्थात् इन्हे ज्ञान चर्चा सुनने की इच्छा नही है। यहाँ भगवान की प्रेमापरा भक्ति में ही निष्ठा है अतः दूसरे ज्ञान प्रसंगों को यहां चर्चा ही नहीं है।

व्याख्या-श्वेतद्वीप—यह भगवान नारायण का अनिर्वचनीय धाम है। इसकी स्थिति क्षीरसागर के उत्तर भाग में है। विद्वानों ने इस द्वीप को मेरुपर्वत से बत्तीस हजार योजन ऊँचा बताया है। यहाँ के निवासी दिव्य रूप दिव्य अङ्ग कान्ति, दिव्य शक्ति, दिव्य ज्ञान एवं दिव्य गुणों से युक्त होते है। ये सर्वथा काल बाधा से रहित होकर भक्ति भाव से युक्त होकर निरन्तर अनन्त गुणगणमहार्णव परमेश्वर को अपने हृदय में धारण किये रहते हैं। साधारण प्राणियों को तो इनका दर्शन ही नही होता है। क्योकि प्रलय काल में सूर्य की जैसी प्रभा होती है वैसी ही इस द्वीप में रहने वाले प्रत्येक पुरुष की प्रभा होती है। (म० भा०) श्रीनारायन ... देखें—नेत्रों की एवं नेत्रवालों के जीवन की सफलता इसीमें है कि वे जी भरकर भगवान के मंजुल मुखारविन्द का दर्शन करें। यथा—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेश सुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्त कटाक्षमोक्षम्॥ (भा०)

अर्थ—(गोपियां आपस में बातचीत करती हैं) अरी सखी! हमने तो आंखवालों के जीवन की और उनकी आँखों की बस यही—इतनी ही सफलता समझी है, और तो हमें कुछ मालूम ही नही है। वह यही कि जब श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और गौर सुन्दर बलराम ग्वाल बालो के साथ गायों को हाककर वन में ले जा रहे हों या लौटाकर व्रज में ला रहे हों, उन्होंने अपने अधरों पर मुरली धर रक्खी हो और प्रेम भरी तिरछी चितवन से हमारी ओर देख रहे हों, उस समय हम अपने नेत्र पुटों से उनकी मुख माधुरी का पान करती हों। पुनः निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौ उरगारी॥' 'होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भवमोचन॥' 'निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइ हौ।' 'करहु सुफल सबके नयन सुन्दर बदन देखाइ।' आदि। रा० च० मा०)

निरन्तर नाहीं देखौं—भाव यह है कि जिनके नेत्रों को प्रभु के रूप रस का चस्का लग गया है उनको बिना देखे चैन नहीं पड़ती। उनके दर्शन-लोभी नेत्र मना करने पर भी नही मानते। यथा—

अँखियन इहई टेव परी।
कहा करौ वारिज मुख ऊपर लागति ज्यों भ्रमरी॥
चितवति रहति चकोर चन्द्र ज्यों विसरति नाहिं घरी।
यद्यपि हटकि हटकि राखति हौं तद्यपि होति खरी।
गड़ि जु रहीं वारूप जलधि में प्रेम पियूष भरी।
सूर तहां नग अंग परस रस लूटति निधि सिगरी॥ (सू० सा०)

पलक ······ लेखें—प्रेमियों को देशान्तर, वनान्तर रूप स्थूल विरह तो तो दा[illegible] थ्या—पलकान्तर रूप सूक्ष्म विरह भी असह्य होता है। यथा—

पद—देखन देति न बैरिनि पलकें।
निरखत बदन लालगिरिधरको बीच परति मानो वज्र की सलकें॥
वनते जु आवत वेनु बजावत गोरज मंडित राजत अलकें।
माथे मुकुट श्रवन मनि कुण्डल ललित कपोलन झाई झलकें॥
ऐसो मुख देखन को सजनी कहा कियो यह पूत कमलकें।
नन्ददास सब जड़न की यह गति मीन मरति माये नहिं जलकें॥

पलकों के निमेषोन्मेष से प्यारे श्याम सुन्दर के दर्शन में बाधा पड़ने पर गोपियो ने भी विधाता को बहुत कोसा है यथा—जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥ (भा०) अर्थ—(ऐसा जान पड़ता है कि) इन नेत्रो की पलको को बनाने वाला विधाता-मूर्ख है। पुनश्च—

दो०—बड़ो मन्द अरविन्दसुत, जिहि न प्रेम पहिचानि।
पियमुख निरखत दृगन को पलक रची विच आन॥

क०—मंजुमोर मुकुट निकट घुघुरारी लटैं झूमि झूमि कुण्डल कपोलनि मैं झलकें।
वारिज बदन रस रूप को सदन लखि दमकें रदन भरि भरि छवि छलकें।
कानन छुअत कोए ऐन मैन कोटि मोहे शोभासर लखि लखि मनमीन ललकें॥
देखिवे को श्यामघन देतो दृग रोम रोम सो न कियो विधि औ अविधि करी पलकें॥

प्रेमी समस्तदुःसह दुःख सहर्ष सहने को प्रस्तुत रहता है, परन्तु प्रियतम का एक क्षण का भी वियोग उसे असह्य होता है। यथा—'सब दुख दुसह सहावहु मोही। लोचन ओट राम जनि होही॥' (रा० च० मा०) प्रियतम के विरहमे एक-एक पलक कल्प के समान हो जाता है। यथा—'बिन देखे छिन कल न परत है पलभर कलप बिहात।' (चत्रभुजदास) 'त्रुटियुंगायते त्वामपश्यताम्।' (भा०) अर्थ—गोपियाँ कहती हैं—तुम्हे देखे बिना हमारे लिये एक-एक क्षण युगके समान हो जाता है। पुनश्च—

युगायितं निमेषेण चक्षुषाप्रावृषायितम्। शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्द विरहेण मे॥ (शिक्षाष्टक)

अर्थ—श्रीगोविन्दके विरह मे मुझे एक निमेष युगके समान हो जाता है, नेत्र पावसऋतु हो जाते हैं, जगत शून्य हो जाता है।

तिनके ······ वीणाधारी—यहाँ श्वेत द्वीपवासी भक्तो की महिमा दिखाई गई है कि देवर्षिवर्य्य श्रीनारदजी भी उनके दर्शनार्थ जाते हैं। 'श्याम' ··· 'अधिकारी'—भगवान नारायणने श्री नारदजी को हाथके इसारे से ही लौट जाने का संकेत किया। प्रश्न होगा कि दर्शनके लिये भगवानने इन्हे क्यो मना किया ? इसका समाधान यह है कि श्रीनारदजी को केवल दर्शन ही नही करना था, इनके मनमें श्वेत द्वीप वासियों को ज्ञान का उपदेश देने की भी इच्छा थी। जैसा कि आगे स्पष्ट है—'गये नारद विलासी उपदेश आसा लागी है।' सर्वज्ञ प्रभु ने जान लिया, अतः बोले—'अब नहिं अधिकारी'-भाव यह कि ये पूर्णरूपेण प्रेम लक्षणा भक्ति प्राप्त कर चुके हैं, जो ज्ञान का परम एवं चरम फल है, अतः ये अब ज्ञानोपदेश के अधिकारी नही रहे। व्रज-गोपियो ने भी उद्धवजी से यही कहा था। यथा—

ऊधो जी सूधो गहो वह मारग ज्ञान की तेरी जहाँ गुदरी है।
कोऊ नहीं सिख 'मानि' हैं ह्याँ इक श्याम की प्रीति प्रतीति खरी है॥
ए ब्रजवाला सबै इकसी 'हरिचन्द' जू मण्डली ही बिगरी है।
एक जु होयँ तो ज्ञान सिखाइय कूपहि में यहाँ भाँग परी है॥

'नहि अधिकारी' में एक मधुर व्यङ्ग भी है। वह यह कि नारद जी ! आप इन प्रेमियों को उपदेश देने के अधिकारी नहीं हैं। आप तो वहाँ उपदेश दीजिये जो प्रेम शून्य हों। 'दई कर सैन' में संकेत यह है कि प्रेमियोंको कोरे ज्ञान का उपदेश देने वालों से मैं बात नहीं करता। 'तहँ प्रसङ्ग नाहिन तथा'—का भाव यह है कि प्रेम की जैसी प्रतिष्ठा श्वेत द्वीप वासियों के हृदय में है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

श्वेतदीप वासी सदा रूप के उपासी गये नारद विलासी उपदेश आसा लागी है।
दई प्रभु सैन जिनि आवो इहि ऐन दृग देखैं सदा चैन मति गति अनुरागी है॥
फिरे दुःख पाइ जाइ कही श्रीवैकुण्ठनाथ साथ लिये चले लखो भक्ति अंग पागी है।
देख्यो एक सर खगरह्योध्यान धरि ऋषि पूछैं कहो हरि कह्यो बड़ो बड़भागी है॥१०३॥

शब्दार्थ—विलासी=आनन्दशील, कौतुकी। ऐन=घर, धाम। चैन परमानंद।

भावार्थ—श्वेतद्वीपमें निवास करने वाले भक्तजन सर्वदा भगवान्‌के रूपकी उपासना करते हैं। रूपमाधुरीका दर्शन ही उनका साधन और साध्य है। अपने उपदेशोंसे सभीको कृतार्थ करतेहुए सर्वदा सर्वत्र विचरनेवाले कौतुकी श्रीनारदजी एक बार श्वेतद्वीपको गए। वहाँके भक्तोंको उपदेश देनेकी आशा लगी थी। भगवान्‌ने इशारा किया कि उपदेश देनेकी इच्छासे यहाँ मत आओ। यहाँके भक्त लोग सदा परमानन्ददायक रूपका दर्शन करते रहते हैं। उनकी बुद्धि मेरे रूपमें अत्यन्त आसक्त है। मन ही मन दुःखी होकर नारदजी लौट आए और वैकुण्ठधाममें जाकर वैकुण्ठनाथजीसे सब बात कही। तब भगवान्‌ने कहा—हम तुम्हे साथ लेकर चलें और देखे कि किस प्रकार उन भक्तोंके रोम-रोममें भक्ति रम रही है! दोनों श्वेतद्वीपको पहुँचे तो वहाँ क्या देखा कि एक सरोवरके तटपर एक पक्षी ध्यान लगाये बैठा है। नारदजीने पूछा—भगवन् ! यह पक्षी इस प्रकार कैसे बैठा है। भगवान्‌ने कहा—यह बड़ा ही भाग्यशाली है क्योंकि भक्तिमें पूर्णरूपसे लीन है॥१०३॥

व्याख्या—रूपके उपासी—यथा—लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥ निदरहिं सरित सिन्धु सर भारी। रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी॥ (रा० च० मा०) रूपासक्ति पर देखिये दृष्टान्त धनुर्दास जी एवं फ़कीर और शाहज़ादे का (कवित्त १४)

पद—पिय मुख देखत ही पै रहिये।
नैननि को सुख कहत न आवै जा कारन सब सहिये॥
सुनहु गोपाल लाल पाइँ लागौं भली पोच लै बहिये।
हौं आसक्त भई या रूपहि बड़े भागते लहिये॥
तुम बहु नायक चतुर शिरोमणि मेरी बाँह दृढ़ गहिये।
परमानन्द स्वामी मन मोहन तुमहींतें निरबहिये॥

नारद विलासी—श्रीनारद जी बड़े ही कौतुक प्रिय हैं। अतः इनका नाम ही कौतुकी मुनि पड़ गया है। यथा—'मुनि कौतुकी नगर तेहि गयऊ। पुरवासिन्ह सब पूछत भयऊ ॥' पुन.—'नारद समाचार सब पाये। कौतुक ही गिरि गेह सिवाये ॥' (रामा०)

उपदेश आसा लागी हैं—श्रीनारदजी को उपदेश देने का भी बड़ा चस्का है। रीति तो यह है कि जिज्ञासु आचार्य के पास जाकर तत्व जिज्ञासा करे। परन्तु श्रीनारद जी तो स्वयं ही अधिकारी के पास पहुँच कर उपदेश देते हैं। दक्ष पुत्र, ध्रुव, प्रह्लाद, पार्वती जी आदि इसके प्रमाण हैं। यह इनकी परम कृपालुता है। तभी तो श्री भगवत रसिक जी ने कहा है—गुरु नारद सों मिलें अकिंचन पर उपकारी ॥'

दृग देखैं अनुरागी हैं—अर्थात् इन्होंने जीवन का फल पा लिया है। अब इन्हें कुछ साधन-साध्य शेष नहीं रहा है। निरन्तर नेत्रों से भगवद्दर्शन, कानों से भगवत्कथा श्रवण, जिह्वा से नामोच्चारण, मति गति की हरि रूप में तन्मयता, प्रभु पदपद्मों में परमानुराग—यही तो जीवन का परम फल है। यथा—

> सियराम सरूप अगाध अनूप विलोचन मीननि को जलु है।
> श्रुति रामकथा, मुख रामको नाम हिए पुनि रामहिं को थलु है ॥
> मति रामहिं सो गति रामहिं सो रति राम सों रामहिं को बलु है।
> सबकी न कहैं तुलसी के मते इतनो जगजीवन को फलु है ॥ (कवितावली)

फिरे दुखपाइ—दुख इस बात का हुआ कि श्रीनारद जी एवं श्रीनारद जी के उपदेश का सर्वत्र समादर होता है परन्तु यहां उनको महत्व नहीं दिया गया। एक बात यहाँ स्मरण रखने की है कि श्रीनारायण भगवान के मन में श्री नारदजी वा श्रीनारदजी के उपदेश के प्रति कुछ ऊपेक्षाभाव नहीं है बल्कि प्रेम के परतत्व को विचारकर उनको निवारण किया। भला प्रेम मतवाले ज्ञान को कैसे समझ सकेंगे। परन्तु श्रीनारद जी ने तो इसे अपनी उपेक्षा ही समझी और—'जाइ कही श्रीवैकुण्ठ नाथ श्रीवैकुण्ठनाथजीसे कहने का भाव यह कि समस्त वेद-शास्त्र-पुराणादिकों में श्रीवैकुण्ठ एवं श्रीवैकुण्ठनाथ की बडी महिमा गाई गई है यथा—'जद्यपि सब वैकुण्ठ बखाना। वेद पुराण विदित जग जाना ॥' अतः नारद जी ने विचारा कि अवश्यमेव ये श्वेत द्वीप वासी नारायण जी से बड़े होंगे, क्योंकि उनका इतना सुजस प्राप्त नहीं होता है। अतः इनसे उनकी शिकायत करूँगा तो ये उनको धमकायेंगे कि आपने देवर्षि जी को अपने धाम जाने तक नहीं दिया। परन्तु श्रीवैकुण्ठनाथजी ने भी श्वेत द्वीप वासी भगवान नारायण का ही समर्थन किया।

तब तो श्रीनारद जी ने मनमें विचार किया कि मालूम पड़ता है कि सब ठाकुरों की एक ही पंचायत है। क्योंकि सब एक ही स्वर से बोल रहे है। बात भी यही है। वस्तुतस्तु भक्तजन हिताय एक ही भगवान अनन्त नाम-रूप को स्वीकार कर अपने अनन्त दासों को अनन्तानन्त सुख दे रहे हैं। तभी तो कहा गया है-'संत संत सब एक हैं, ठाकुर ठाकुर एक। जो दोउन सों हित करै, सोई जान विवेक ॥' श्रीनारदजी को विश्वास नहीं हो रहा है कि भला उन्हे कैसा प्रेम प्राप्त है कि मेरे उपदेशकी उनको आवश्यकता नहीं रही। भगवान विष्णु श्रीनारदजी के अभिप्रायको जानकर बोले—नारदजी ! यदि आपको उनके

प्रेम की प्रतीति नहीं हो रही है तो चलिये, मै आपको उनका प्रेम दिखाऊँ। 'भक्ति अंग पागी है'— भाव यह कि उनके रोम रोम में भक्ति समाई हुई है, तो भला वे आपके उपदेश को कहां धारण करेंगे। जैसा कि व्रज गोपियों ने उद्धव जी से कहा था—'ऊधव तुम भये वौरे पाती लैकें आये दौरे जोग कहां राखें यहां रोम-रोम स्याम हैं।' पुनश्च—'नाहिन रह्यो हिय मे ठौर। नन्द नन्दन अछत कैसे आनिये उर और॥' 'वड़ो बड़भागी है'—भगवान के चरण कमलों मे अनुराग रखने वाले बड़भागी है। यथा— 'सोइ गुनग्य सोई वड़ भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥' और बड़े अनुरागी वड़े बड़भागी है।

बरष हजार बीते भये नहीं चित चीते प्यासोई रहत ऐपै पानी नहीं पीजिये।
पावै जो प्रसाद तब जीभ सो सवाद लेत लेत नहीं और याकी मति रस भीजिये॥
लीजै बात मानि जलपान करि डारि दियो लियो चोंच भरि दृग भरि बुधि धीजिये।
अचरज देखि चख लगे न निमेष किहूँ चहुं दिशि फिरचौ अब सेवा याकी कीजिए॥१०४॥

शब्दार्थ—चहूँ दिशि फिरचौ=परिक्रमा की। चितचीते=मनके सोचे हुए, इच्छित। निमेष=पलक।

भावार्थ—इस भक्त पक्षी को इसी प्रकार ध्यान करते हुए एक हजार वर्ष वीत गये है परन्तु अभी इसके मन की अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई है। पानी में रहते हुए भी यह प्यासा रहता है परन्तु पानी नहीं पीता है। इसकी ऐसी निष्ठा है कि जब इसे प्रसाद मिले तभी जीभ से उसका स्वाद लेता है। विना प्रसाद के कभी कुछ भी ग्रहण नहीं करता है। इस प्रकार इसकी बुद्धि प्रसाद रस में मग्न हो गई है। मेरी इस बात को मान लीजिए। नारदजी को प्रकट दिखाने के लिये भगवान ने जलपान कर शेष जल उसके सामने रख दिया। तुरन्त उसने चोंच भरकर पी लिया। भगवत्प्रसाद के स्वाद से उसके नेत्रों में आनन्द के आंसू आ गए और बुद्धि भी विभोर हो गई। इस आश्चर्य को देखकर नारदजी टकटकी लगाकर उस भक्त पक्षी का दर्शन करने लगे। फिर उसके चारों ओर फिरकर उसकी परिक्रमा की और कहने लगे कि अव तो हम यही रहकर कुछ काल इसकी सेवा करेंगे॥१०४॥

व्याख्या—**भये नहीं चित चीते**—भाव यह कि इसका प्रसादी अन्न-जल ही लेने का प्रण है और वह भी अनायास जब विना किसी प्रयत्न के मिले तव ग्रहण करता है। जैसा कि आगे कहते है—पावै जो प्रसाद०। परन्तु इसे प्रसाद सहज सम्भव हो नहीं सका, यही कारण हैं कि भूखा प्यासा होने पर भी, जल में रह कर भी यह पानी नहीं पीता है। पावै जो प्रसाद ⋯⋯ रस भीजिए—देखिये छप्पय १५ हरि प्रसाद रस स्वाद के०। 'लीजै वात मानि'—इससे जनाया गया कि श्रीनारद जी को पक्षी की इस निष्ठा पर विश्वास नहीं हुआ। क्योंकि कहावत है—प्यास न जाने धोबी घाट। भूख न जाने जूठा भात॥ नींद न जाने टूटी खाट। इश्क न जाने जात कुजात॥ तव भगवान को जोर देकर कहना पड़ा। परन्तु तब भी श्री नारदजी जव मानने को प्रस्तुत नहीं हुये तो भगवान ने प्रतीति के लिये जल-पान करि डारि दिये। 'चोंच भरि, दृग भरि, बुधि धीजिये—' भगवान के सभी वचन चरितार्थ हुये। यह प्यासा है और प्रसादी ही लेता है—भगवान के इस कथनानुसार पक्षी ने तुरन्त चोंच भर लिया। 'सवाद लेत⋯⋯ रस भीजिये'—इस कथनानुसार भगवत् प्रसादी जलपान कर, उसके लोकोत्तर दिव्य स्वाद का अनुभवकर पक्षी की आँखों में प्रेमाश्रु छलछला आये, और वह विभोर हो गया।

अचरज देखि—का भाव यह कि ऐसी अनन्य निष्ठा, ऐसा [illegible] ऋषियों, मुनियोंको भी दुर्लभ है, जो इस पक्षी को प्राप्त है। 'चख लगै न ······ दीजिये' से [illegible] गया कि अब श्रीनारदजी को भगवान नारायण और श्रीवैकुण्ठनाथजी के वचनों से पूर्ण विश्वास हो गया। अब उनकी उपदेश की बुद्धि जाती रही। अब तो उनकी महिमा विचारकर उनके प्रति [illegible] भावना जागृत हो गई।

चलो आगे देखौ कोऊ रहै न परेखौ भाव भक्ति करि लेखौ गए द्वीप हरि गाइये।
आयो एक जन धाय आरती समय विहाय खैंचि लिये प्राण फिरि वधू याकी आइये॥
वहीइन कही, पति देख्यो नहीं मही परयो हरयो याको जीव तन गिरयो मन भाइये।
ऐसे पुत्र आदि आये सांचे हितमें दिखाए फेरिकै जिवाए ऋषि गाए चित लाइये॥१०५॥

शब्दार्थ—परेखो=परीक्षा, परखो, परिचय—प्रतीक्षा करो। विहाय=विताकर।

भावार्थ—भगवान्ने कहा—अभी और आगे चलो, अभी और देखो, अभी और प्रतीक्षा करो। जिससे कि यहाँके भक्तोंका परिचय प्राप्त करनेकी, परीक्षा की कोई बात शेप न रह जाय। यहाँ के भक्तो की भक्तिका विचित्र भाव देखो और फिर उस पर विचार करो। श्रीवैकुण्ठनाथ और नारदजी श्वेतद्वीप मे और आगे गए। वहाँ एक मन्दिरमे भगवान्के नाम और लीलाओंका गान हो रहा था। मन्दिरमे आरती हुई। थोडी देर बाद एक भक्त दौडकर आये, जब उन्हे यह मालूम हुआ कि आरती हो गई, मंदिर वन्द हो गया। हम दर्शनोंसे वचित रह गए। इस पश्चात्तापने उसके प्राण खीच लिए, वह निर्जीव होकर गिर पडा। पीछे से उसकी स्त्री भी आई और इसने भी वही पूछा कि क्या आरती हो गई? तो उन लोगोंने फिर भी वही बात कही, जो इसके पतिसे कही थी कि—हाँ, आरती हो गई। तुम्हारा पति भी आरती का दर्शन नही कर सका। देखती नही हो, वह निर्जीव होकर पृथ्वी पर पड़ा है। फिर तो आरती अदर्शन जन्य दुखने इसके भी प्राणो को हर लिया। इसका भी शरीर निश्चेष्ट होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। इसी प्रकार उसके पुत्र आदि भी आए। दर्शनोंके वियोगमें वे भी सभी निष्प्राण हो गए। रूप माधुरी देखे विना उनके मनको मरण ही अच्छा लगा, जीवन प्रिय नहीं लगा। उनका दर्शनोका यह प्रेम नारदजीको अति प्रिय लगा। वे सभी भगवत्प्रेममे सच्चे दिखलाई पड़े। भगवान्ने नारदजीको सच्चे प्रेमका दर्शन कराया। कुछ समय बाद जब आरती होने लगी तब सभी भगवत्कृपासे जीवित होकर दर्शनानन्द में विभोर हो गए। व्यास आदि ऋषियोने इन चरित्रोंका गान किया है, इनका चिन्तन कीजिए॥१०५॥

व्याख्या—चलौ आगे देखौ—भाव यह कि अभी आप एक पक्षी की ही निष्ठाको देखकर चकित हो रहे हैं. आगे चलिये तो इससे भी आगे अर्थात् बड़े-बडे निष्ठावानो के दर्शन होगे। 'कोऊ ······ परेखो'—तात्पर्य यह कि अभी तो आपने केवल प्रह्लाद निष्ठा का दर्शन किया है, आगे चलकर यहा के भक्तों की और भी अन्य निष्ठाओं का दर्शन कर-लीजिये, जिससे कि फिर कभी किसी विषयमें सन्देह न हो। क्योंकि भगवत-भागवतोके प्रति संदेह होना ठीक नही है। यथा—अस संशय आनत उर माही। ज्ञान विराग सकल गुनजाही॥ (रा० च० मा०) 'संशयात्मा विनश्यति' 'नायं लोकोऽस्तिन

परो न सुखं संशयात्मनः ॥' (गीता) 'हरि गाइये' भगवान के श्रीमुखके वचन है—'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये नच । मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥' अतः लोग भगवान् का नाम गुणगान कर रहे थे । पूर्व पक्षीके ध्यान धरने का प्रसंग कहा गया है, यहाँ नाम-गुणगान और आगे आरती दर्शन का प्रसङ्ग आता है । इससे जनायो गया कि श्वेतद्वीप में सभी प्रकार की निष्ठावाले भक्त हैं । परन्तु साध्य सबका एक है—श्रीनारायण बदन निरन्तर ताही देखें ।

आरती—भगवान की आरती के दर्शन की बड़ी महिमा है । यथा—'कोटयो ब्रह्महत्यानाम-गम्यागमकोटयः । दहत्यालोकमात्रेण विष्णोः सारात्रिकं मुखम् ॥ (स्कन्द पुराण) अर्थ—विष्णु के आरती सहित मुखके दर्शन मात्र से करोड़ों ब्रह्महत्याओं और करोड़ों अगम्यागमनों के पापों का नाश हो जाता है । पुनश्च—

हरति सब आरती आरती राम की ।
दहन दुख दोष निर्मूलिनी काम की ॥
सुभग सौरभ धूप दीप वर मालिका ।
उड़त अघ-विहँग सुनि ताल कर तालिका ॥
भक्त हृदि भवन अज्ञान तम हारिनी ।
विमल विग्यानमय तेज विस्तारिनी ॥
मोह--मद--कोह--कलि--कंज हिम जामिनी ।
मुक्ति की दूतिका देह दुति दामिनी ॥
प्रणत-जन-कुमुद-वन इन्दु-कर-जालिका ।
तुलसि अभिमान महिषेस बहु कालिका ॥ (वि०)

खैंचि लिये प्राण—यह निष्ठा की पराकाष्ठा है । जिसके ऊपर कि देह और प्राण को न्यौछावर कर दिया । नहीं तो देह और प्राण सर्वाधिक प्रिय हैं । यथा—'देह प्राण ते प्रिय कछु नाही ।' 'सबके देह परम प्रिय स्वामी ।' परन्तु प्रेमी तो अपने प्रेम-प्रण पर इनको तृणवत् त्याग देता है । यथा—'बन्दउँ अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम पद । बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तनु तृण इव परिहरेउ ॥' (श्रीदशरथ) 'श्रवण वियोग सुनि तनक न रह्यो गयो, भयो वपु न्यारो अहो यही साँचो पन है ॥' (भ० मा०) (कुन्तीजी) प्रेमियों का तो यह सिद्धान्त होता है कि—'सो तन राखि करब मैं काहा । जेहि न प्रेम पन मोर निवाहा ॥ (रामा०)

मन भाइये—श्रीभगवान, नारदजी एवं टीकाकार श्रीप्रियादासजी-तीनों को ही यह निष्ठा बहुत भाई । 'फेरि कै जिवाए'—श्रीनारदजीने भगवानसे प्रार्थना की कि प्रभो ! ऐसे अनुरागियों को तो पुनः जीवनदान मिलना चाहिये, मेरे मन में, इनके सत्सङ्ग की बड़ी लालसा है । तब भगवानने कहा कि अच्छा, आप जोर-जोर से इनके कान के पास जाकर कहिये कि—'उठो, आरती हो रही है, दर्शन करो ।' श्रीनारदजी ने ऐसा ही किया । तब सभी जी उठे । 'चित लाइये'—का भाव यह कि ऐसे भक्तों का ध्यान करना चाहिये एवं उनकी निष्ठाओं को हृदयङ्गम करना चाहिये ।

अष्ट कुल नाग

उरग अष्टकुल द्वारपाल सावधान हरिधाम थिति ।।
इलापत्र, मुख अनन्त अनन्त कीरति विस्तारत ।
पद्म, संकु पन प्रगट ध्यान उरते नहिं टारत ।।
अशुकम्बल, वासुकी अजित आज्ञा अनुवरती ।
करकोटक, तक्षक सुभट सेवा सिर धरती ।।
आगमोक्त शिव संहिता 'अगर' एक रस भजन रति ।
उरग अष्टकुल द्वारपाल सावधान हरिधाम थिति ।।२७।।

शब्दार्थ—उरग=उर=छाती के वल+ग=गमन करने वाला। सर्प। अष्टकुल=आठ वंश द्वारपाल=द्वार का पहरेदार। ड्योढ़ीवान। स्थिति=स्थिति, निवास। अनुवरती=अनुवर्ती, अनुयायी अजित=जो कभी हारा न हो, अजेय, भगवान विष्णु। आगमोक्त=शास्त्रों मे कहा गया। एक रस= एक समान, अनन्य।

भावार्थ—सर्प भक्तों के आठ वंश हैं। ये भगवान के द्वारपाल है। प्रभु की सेवा में सदा सावधान रहते हैं। भगवान के धाम मे इनकी स्थिति है। इलापत्र जी और अनन्त मुख वाले शेष जी अनन्त भगवान की अनन्त कीर्ति का विस्तार करते रहते हैं। पद्म और शंकु, इनका प्रण प्रसिद्ध है। ये हृदय से भगवान के रूप का ध्यान कभी नही टालते हैं। अशु कम्वल और वासुकी, ये भगवान के आज्ञाकारी है। कर्कोटक और तक्षक, ये बड़े वीर हैं, सेवा रूपी भूमिको सदा अपने सिर पर धारण करते हैं। शिव सहिता नामक आगम में इनका वर्णन है। श्रीअग्रजी का कथन है कि इन सर्प भक्तों की भजन में सदा एक रस प्रीति रहती है।

व्याख्या—अष्ट कुल नाग श्रीकश्यप प्रजापति की पत्नी कद्रू की सन्तान है। परन्तु इन्होने माता कद्रू की तमोगुणी प्रकृति का अन्धानुकरण न कर अपने पिता श्रीकश्यप जी के सात्विक स्वभाव का अनुसरण कर भगवान के भजन में मन लगाया। अतः भगवान ने प्रसन्न होकर इन्हें अपने वैकुण्ठ लोक मे द्वारपाल के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है 'एक रस भजन रति'—यह विशेष वात है क्योकि एक रस प्रीति का निर्वाह अत्यन्त कठिन कहा गया है। यथा—

अगिनि आँच सहवो सुगम, सुगम खड्ग की धार।
नेह निवाहव एक रस महा कठिन व्यवहार ।।
तुलसी जप तप नेम व्रत, सव सवहीते होय।
नेह निवाहव एक रस, जानत विरलो कोय ।।

स्वभाव से ही चन्चलमन एक एक क्षण में न जाने कितनी कलायें दिखाता है, तो भला ऐसे मन से एक रस साधन हो ही कैसे सकता है। पूज्यपाद श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास जी मन की हरकतों से ऊव कर भगवान से प्रार्थना करते हैं कि—

दीन बन्धु सुख सिन्धु कृपाकर कारुणीक रघुराई ।
सुनहु नाथ मन जरत त्रिविधजुर करत फिरत बौराई ।।
कबहुँ जोगरत भोग निरत सठ हठ वियोग वस होई ।
कबहुँ मोह वस द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई ।।
कबहुँ दीनमति हीन रङ्कतर कबहुँ भूप अभिमानी ।
कबहुं मूढ़ पण्डित बिडम्बरत कबहुंधर्मरत ज्ञानी ।
कबहुं देव जग धन मय रिपुमय कबहुं नारि मय भासै ।।
संसृति सन्निपात दारुन दुख बिनु हरि कृपा न नासै ।।
संजम जप तप नेम धर्म व्रत बहु भेषज समुदाई ।
तुलसिदास भवरोग राम पद प्रेम हीन नहि जाई ।।

एक बात स्मरण रखने की हैं कि वैसे तो सर्प तमोगुणी सृष्टि का प्राणी है, परन्तु इनमें नेह निष्ठा और समर्पण बहुत उच्चकोटि का होता है । इनकी नेह निष्ठा—यथा—

तुलसी मनि निज दुति फनिहि व्याधहि देउ दिखाइ ।
बिछुरत होइ न आधरो, ताते प्रेम न जाइ ।।

भावार्थ--श्रीतुलसीदास जी कहते है कि मणि के लोभ से सर्प को मारने के लिये आये हुये व्याध को मणि अपने प्रकाश से भले ही सर्प को दिखलादे, और इस प्रकार उसकी मृत्यु में सहायक वन कर शत्रु का काम करे, परन्तु इससे क्या मणि के प्रति सर्प का अनुराग कम हो जाता है ? क्या मणि के वियोग में अन्धा नहीं हो जाता ? अर्थात् वह अन्धा हो जाता है और उसका मणि से प्रेम नहीं हटता । यह सर्प का मणि के प्रति आदर्श प्रेम है । प्रेमी जन इस प्रकार के प्रेम की आकांक्षा करते हैं । यथा–मनुजी–

मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना ।
मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना ।। (रामा०)

श्रीतुलसीदास जी—'राम कबहुं प्रिय लागि हो जैसे नीर मीन को । सुख जीवन ज्यों जीव को मनि ज्यों फणि को हित ज्यों धन लोभ लीन को ।। (वि०) समर्पण यथा—

बिबि रसना तनु स्याम है, बंक चलनि बिष खानि ।
प्रेम वचन सुनि मंत्र मुख सीस समरपत आनि ॥

भावार्थ—सर्प के दो जीभें हैं, काला शरीर है, टेड़ी चाल हैं, तथा विष की खानि होता हैं । परन्तु सपेरे के मुख से प्रेम पूर्वक मन्त्रोच्चारण एवं महुअर बाजे के शब्द को सुनकर स्वयं प्रेमवश होकर अपना सिर सौंप देता है । तात्पर्य यह है कि यद्यपि सर्प में अनेक अवगुण हैं । परन्तु दो गुण भी हैं और ये गुण है बड़े महत्वपूर्ण । उपासना में भी इन्हीं दो गुणों की विशेष अपेक्षा होती है । ये अष्टकुल नाग अपनी इस नेह निष्ठा को भगवान के श्रीचरणारविन्दों में लगाकर आत्म समर्पण पूर्वक निरन्तर भजन-साधन में लगे रहते हैं ।

इति श्रीभक्तमालपूर्वार्द्ध सम्पूर्ण

श्रीसीतारामार्पणमस्तु

श्रीरामानन्द पुस्तकालय श्रीसुदामाकुटी वृन्दावन को श्रीभक्तमाल आदि भक्ति साहित्य प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग देनेवाले महानुभावोंकी

नामावली

१११११) श्रीकाशीराम वृन्दावन
१००१) श्रीनिखिलभाई सुमन्तराय त्रिवेदी वड़ौदा
१००१ श्रीरोहितभाई हरिलाल जोगी अहमदाबाद
५०५) श्रीमनोहरजी पटवारी
५०१) श्रीराधाबाई माता लक्ष्मणदास वृन्दावन
५०१) श्रीरामकुमारजी (कलकत्ता)
५००) श्रीज्ञानचन्दजी पंजाब
५००) श्रीरुक्मिणी बहन वृन्दावन
२५१) श्रीचन्द्रकान्ता शर्मा वृन्दावन
२५०) श्रीबाबूलालजी धानुका
२५०) श्रीश्यामसुन्दरजी धानुका
२५०) श्रीकमला सोमानी
२०१) श्रीभगतजी सुदामाजी दिनाज नगर पंजाब
२०१) श्रीहरीरामजी सोमानी
२०१) श्रीहरीदासजी सराफ वृन्दावन
२०१) श्रीमती तारा बहन अमृतलाल वड़ौदा
२०१) श्रीरघुनाथप्रसाद महन्त
२०१) श्रीबालाप्रसाद दुबे
१०२) श्रीकृष्णादासी
१०२) श्रीराधादासी
१०१) श्रीमदनलाल शर्मा
१०१) श्रीगोवर्धन दास
१०१) श्रीविमली सोमानी
१०१) श्रीविहारीजी महाराज
१०१) श्रीश्याम सुन्दर अग्रवाल
१०१) श्रीरूपा कृष्णादेवी
१०१) श्रीमती रामवतीबाई
१०१) श्री-श्रीजी वृन्दावन
१०१) श्रीकैलाशनाथ
१) श्रीशान्ता बहन समन्तराय त्रिवेदी वड़ौदा
श्रीकुसुमबाई
१) श्रीभिवानीदासी

१०१) श्रीरामनिवासजी झुनझुनवाला
१०१) श्रीजानकी पचीसिया
१०१) श्रीरतनीदेवी सुखानी
१०१) श्रीदाऊजीका मन्दिर वृन्दावन
१०१) श्रीकरतानी देवी
१०१) श्रीकुसुमकेला
१०१) श्रीभगवती झुनझुनवाला
१०१) श्रीराधाबाई मोर
१०१) श्रीमदनजी लखोटिया
१०१) श्रीगुलाबी बाई मन्त्री
१०१) श्रीकान्ताबाई जटिया
१०१) श्रीउमा अग्रवाल
१०१) श्रीद्वारकादासजी ब्यानी
१०१) श्रीबीजियाबाई वृन्दावन
१०१) श्रीविमला सोनी
१०१) श्रीपूरनमलजी सोमानी
१०१) श्रीलक्ष्मीबाई अग्रवाल
१०१) श्रीकृष्णादेवी केजड़ीवाल
१०१) श्रीमती मञ्जु महेश्वरी
१०१) श्रीहनुमानजी धानुका
१०१) श्रीरामेश्वरजी अग्रवाल
१०१) श्रीमती धानुका
१०१) श्रीराजकुमारी राठी
१०१) श्रीरामकुमारजी राठी
१०१) श्रीआनन्दलालजी बाजोरिया
१०१) श्रीनथमलजी पोद्दार
१०१) श्रीगोविन्द बाहुका
१०१) श्रीरुक्मिणी बाहुका
१०१) श्रीजानकी देवी ब्यानी
१०१) श्रीजमुनादेवी काबरा
१०१) श्रीपद्मादेवी केडिया
१०१) श्रीराधाबाई वृन्दावन

१०१) श्रीकश्मीरीजी पलवल
१०१) ,, कलावती अग्रवाल
१०१) श्रीसखीदेवी अग्रवाल
१०१) श्रीचमेलीदेवी गनेड़ीवाल
१०१) श्रीमती कमला सोमानी
१०१) श्रीशङ्करलाल राठी
१०१) श्रीहनूमान सोमानी
१०१) श्रीहरीरामजी सावू
१०१) श्रीशान्तिदेवी कानोडिया
१०१) श्रीरोहिलसोमानी
१०१) श्रीभगवती वाई पटवारी
१०१) श्रीभगवतीवाई पटवारी
१०१) श्रीचांददेवी करनानी
१०१) श्रीभगवती पेढी वाला
१०१) श्रीसीतादेवी मन्त्री
१०१) श्रीरघुनन्दनजी डालमिया
१०१) श्रीकेदारमलजी मन्त्री
१०१) श्रीदुर्गा प्रसादजी नेवर
१०१) श्रीरावतमलजी करनानी
१०१) श्रीमती शारदा सोमानी
१०१) श्रीरतनमन्त्री
१०१) श्रीराधेश्यामजी गगड
१०१) श्रीमङ्गलचन्दजी सावू
१०१) श्रीसीतारामजी सावू
१०१) श्रीश्यामसुन्दर अग्रवाल
१०१) श्रीइन्द्रकुमारजी करनानी
१०१) श्री श्रीजी वरसाना
१०१) श्रीरामेश्वर कल्याणी

५१) श्रीजीओजी रानी मान
५१) श्रीमतीगीतादेवी
५१) श्रीरामस्वरूप पानवाले
५१) श्रीकेदारनाथ शर्मा
५१) श्रीश्यामलाल केथरी
५१) श्रीश्यामकथरी निम्वार्क कोट
५१) श्रीभगवानदास प्रताप वाजार वृन्दावन
५१) श्रीरामकृष्ण अग्रवाल
५१) श्रीशिवनाथ
५१) ,, आत्माराम गौतम
५१) ,, वृन्दावनीजी
५१) ,, वुद्धदेव जी
५१) ,, रामकुमार झुनझुन वाला
५१) ,, सपनादेवी वंगाली
५१) ,, पुष्पादेवी वंगाली
५१) ,, गीता पटवारी
५१) ,, भगवती पटवारी
५१) ,, माताजी
५१) ,, शारदादेव ठाकुर
५१) ,, राधा शर्मा
५१) ,, कमला वहन गोविन्द लाल त्रिवेदी
५१) ,, गोपीवहन निखिल भाई त्रिवेदी
५१) ,, पूर्णिमा वहन रोहित भाई जोशी अहमदावाद
५१) ,, अनिलभाई शाह अहमदावाद
५१) ,, ललिता वहन आशा भाई पटेल वड़ोदा
५१) ,, शारदाप्रसाद श्रीवास्तव
२१) ,, वृन्दावन चन्द सेवाकुञ्ज वृन्दावन

१६६५० रु० कुल योग

इन सभी भक्तोंको सधन्यवाद भक्तमाल पूर्वार्द्ध की एक-एक प्रति भेंट की गई। प्रकाशक